भारतीय दर्शन का इतिहास

(Bhartiya Darshan Ka Itihas)

भाग–३

लेखक

डॉ० एस० एन० दासगुप्त

अनुवादक

ए० यू० वसावड़ा



राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर–४

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की
विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित ।

प्रथम संस्करण · १९७४

मूल्य–१८.००

प्रकाशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
ए–२६/२, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर–४

मुद्रक
शर्मा ब्रदर्स इलैक्ट्रोमैटिक प्रेस, अलवर

प्रस्तावना

भारत की स्वतन्त्रता के बाद इसकी राष्ट्रभाषा को विश्वविद्यालय शिक्षा के माध्यम के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख था। किन्तु हिन्दी मे इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध नही होने से यह माध्यम-परिवर्तन नही किया जा सकता था। परिणामत: भारत सरकार ने इस न्यूनता के निवारण के लिए 'वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली आयोग' की स्थापना की थी। इसी योजना के अन्तर्गत १९६९ मे पाँच हिन्दी भाषी प्रदेशों मे ग्रन्थ अकादमियों की स्थापना की गयी।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी मे विश्वविद्यालय स्तर के उत्कृष्ट ग्रन्थ-निर्माण मे राजस्थान के प्रतिष्ठित विद्वानों तथा अध्यापको का सहयोग प्राप्त कर रही है और मानविकी तथा विज्ञान के प्राय सभी क्षेत्रो मे उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रन्थो का निर्माण करवा रही है। अकादमी चतुर्थ पचवर्षीय योजना के अन्त तक दो सौ से भी अधिक ग्रन्थ प्रकाशित कर सकेगी, ऐसी हम आशा करते है।

प्रस्तुत पुस्तक इसी क्रम मे तैयार करवायी गयी है। हमे आशा है कि यह अपने विषय मे उत्कृष्ट योगदान करेगी। इस पुस्तक की परिवीक्षा के लिए अकादमी डॉ नारायण शास्त्री द्रविड अध्यक्ष, दर्शन विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर के प्रति आभारी है।

खेतसिंह राठोड़
अध्यक्ष

गौरीशंकर सत्येन्द्र
निदेशक

प्राक्कथन

इस ग्रन्थ का दूसरा खण्ड कई वर्ष पूर्व सन् १९३२ मे प्रकाशित हुआ था। इस खण्ड के विलम्ब से प्रकाशित होने के अनेक कारणों में, एक यह भी है कि लेखक को अत्यधिक शिक्षण तथा शासन कार्य करना पड़ रहा है, और वह लगातार बीमार रहे है। साथ ही साथ दुःखपूर्ण घटना यह रही है कि अविश्रांत कार्य करने से एक आँख की ज्योति लुप्त हो जाने के कारण उन्हे बहुधा दूसरो की सहायता के अधीन रहना पड़ता है। प्रकाशन स्थान और कलकत्ता के बीच अधिक दूरी भी विलम्ब का एक कारण रही है। हर्षपूर्वक कहना है कि चतुर्थ खण्ड की पाण्डुलिपि अब तैयार हो गई है।

दक्षिणात्य ईश्वरवाद के विकास का शृंखलाबद्ध वर्णन प्रस्तुत किया जा सके, इसलिए लेखक ने इस खण्ड मे पाण्डुलिपियो को प्राप्त करने का अत्यधिक कष्ट किया है। अभी तक इस विषय मे जो भी ग्रन्थ प्रकाशित हुए है वे बहुत ही कम सख्या मे हैं और यह वर्णन इन अप्राप्य ग्रन्थो को बारंबार देखे बिना नही हो सकता था क्योकि सामग्री इन्ही ग्रन्थो से प्राप्त की जा सकती थी। वैष्णव सम्प्रदाय के शृंखलाबद्ध इतिहास की खोज तथा व्याख्या पर प्रकाश डाल सके ऐसा कोई भी ग्रन्थ अभी तक लिखा नही गया है। यह अधिक अच्छा होता कि वैष्णव धर्म के इतिहास को आलेखन करने मे तमिल तथा तेलगु ग्रन्थों का उपयोग भी किया जाता जिससे प्रचलित भाषा के आधार पर यह इतिहास, सस्कृत-ग्रन्थ की कमी को पूरा कर सके। किन्तु लेखक ने जहाँ तक हो सका सस्कृत ग्रन्थो का ही आधार लिया है। यह मर्यादा तीन कारणो से माननी पडी, प्रथम तो यह था कि लेखक को दक्षिण भारत की सभी विभिन्न भाषाओ का ज्ञान नहीं है, दूसरा इन सभी ग्रन्थो का यदि अवलोकन कर सामग्री का उपयोग भी किया होता तो यह ग्रन्थ इच्छित लक्ष्य से कही अधिक बडा हो जाता, तीसरा, प्रचलित भाषा के ग्रन्थों की सामग्री का यदि उपयोग कर भी लिया जाता तो भी आस्तिक दार्शनिक सिद्धान्तो की मूलभूत समस्याओ मे जोकि प्रस्तुत ग्रन्थ मे दिए गए विवेचन है, कोई महत्त्वपूर्ण वृद्धि नही होती। विशुद्ध दार्शनिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो इस ग्रन्थ मे प्रस्तुत की गई कुछ सामग्री अनवसर कही जा सकती है। किन्तु इस ग्रन्थ मे तथा प्रकाशित होने वाले दूसरे ग्रन्थ मे, भक्ति-दर्शन से सम्बन्धित, धार्मिक विकृति की अवज्ञा करना अशक्य था क्योकि वह दक्षिण भारत मे प्रमुख रूप से प्रचलित थी, और इस विकृतावस्था ने मध्ययुग के ही निकटतम भूतकाल के मानव के मानस पर भी प्रभाव डाला है और आज भी वह भारतीय धर्मों का एक महत्त्वपूर्ण अग है। भारत मे नैतिकता ही नही किन्तु धर्म भी दर्शन का अग रहा है। मान्यताओं से सम्बन्धित भाव या संवेग, धर्म का एक महत्त्वपूर्ण गुण है इसलिए, दक्षिण भारत मे

प्रभृत प्रधान दर्शन प्रणाली का विवेचन करते समय भक्ति के इस विकृत विकास पर बल दिए बिना नही रहा जा सकता था। लेखक इसलिए आशा करता है, कि जो लोग भक्ति या धार्मिक भावना के अग के विशेष विवेचन की अपेक्षा नही करते या वे जो वैष्णव धर्म के सार रूप भक्ति के सवेगों पर अत्याधिक बल दिया देखना चाहते है, वे दोनों उसे क्षमा प्रदान करेगे। लेखक ने दर्शन के हित को सामने रखकर मध्य मार्ग अपनाने का प्रयत्न किया है जो अवश्य ही, इस ग्रन्थ मे वर्णित विचारधाराओ मे अनुस्मृत वैष्णव प्रणाली की धार्मिक भावना मे व्याप्त है।

लेखक ने आल्वारो -का जिनकी रचनाएं तामिल मे है—वर्णन कर इस ग्रन्थ की मर्यादा का अतिक्रमण किया है किन्तु यहाँ भी उसे यह महसूस हुआ कि आल्वारो के भक्ति दर्शन का विवेचन किए बिना, रामानुज तथा उनके अनुयायियो का वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण रहता। यद्यपि आल्वारो के अध्ययन के लिए मौलिक रचनाएँ तामिल भाषा मे प्राप्त है, किन्तु सौभाग्यवश इन रचनाओ का सस्कृत अनुवाद पाण्डुलिपि मे या प्रकाशित रूप मे प्राप्त है। तामिल लेखको के वर्णन मे हमने इन्ही ग्रन्थो का आधार लिया है।

पचरात्र रचनाओं के वर्णन में कठिनाईया आई क्याकि इस प्रणाली के अधिकाश ग्रन्थ अप्रकाशित हीहै, किन्तु सौभाग्य से इस प्रणाली का एक वृहत् ग्रन्थ लेखक को पाण्डु-लिपि मे मिल गया। पचरात्र सम्प्रदाय पर श्रोडर के सिवाय किसी ने महत्त्वपूर्ण कुछ भी नही लिखा है। यद्यपि रामानुज भाष्य के अनुवाद प्राप्य है, किन्तु उनके सम्पूर्ण दर्शन का उनके सम्प्रदाय के अन्य महत्त्वपूर्ण दार्शनिको के साथ सम्बन्ध बतलाने वाला कोई भी वर्णन प्राप्त नही है। रामानुज सम्प्रदाय के महान् विचारक वेकट, मेघनादारि तथा अन्य विद्वान जिनकी रचनाएं अभी तक अप्रकाशित है,---इनके सम्बन्ध मे लगभग कुछ भी नही लिखा गया है। इसी प्रकार विज्ञान भिक्षु के दर्शन पर भी कुछ नही लिखा गया है, और यद्यपि निम्बार्क भाष्य अनुवाद मे प्राप्त हे किन्तु निम्बार्क और उनके अनुयायियो के विचारों का सम्बन्ध बताने वाला कोई वर्णन प्राप्त नही है। लेखक को इसलिए व्याख्या करने के लिए तथा कालक्रम-शोधन के लिए पूर्णतया, प्रकाशित तथा अप्रकाशित अनेक ग्रन्थो पर निर्भर रहना पडा है। कालक्रम-शोधन आन्तरिक प्रमाण पर आधारित है, यद्यपि इस विषय पर जो भी प्रबन्ध इत्यादि प्रकाशित हुए है, लेखक ने हमेशा उनका उपयोग भी किया है। वर्णन का विषय अत्यन्त विस्तृत है विद्वान् पण्डित ही यह बता सकेंगे कि त्रुटियाँ रहते हुए भी कुछ सफलता प्राप्त हुई है, या नही।

एकेश्वरवादी विचार तथा भक्ति सिद्धान्त के महत्त्व को यद्यपि, ऋग्वेद की कुछ ऋचाओ तथा गीता, महाभारत और विष्णु पुराण जैसे पुरातन धार्मिक साहित्य मे पाया जा सकता है, तो भी आल्वारों—यामुन और रामानुज से लेकर तदनतर कालीन दाक्षिणात्य दार्शनिक लेखको के रूढिगत गीतों मे ही हमे ईश्वर से भावात्मक सम्बन्ध का एक विशिष्ट दर्शन मिलता है। विभिन्न वैष्णव लेखक तथा सन्तो की रचनाओ तथा

अनुभवों मे इस भावात्मक सम्बन्ध या भक्ति का अनेकधा स्वरूप प्रकट होता है। अपने-अपने दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में इन्हीं विभिन्न भक्ति के प्रकारों को प्रस्तुत ग्रन्थ मे तथा प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ मे प्रधान रूप से अध्ययन किया गया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ तथा चतुर्थ खण्ड को भारत के ईश्वरवाद का दर्शन माना जाय। यही दर्शन अंश रूप से विभिन्न शैव और शाक्त ईश्वरवाद के वर्णन में जारी रहेगा।

चतुर्थ खण्ड मे शंकर तथा उनके अनुयायियो और मध्व तथा उनके अनुयायियों के दर्शन के कटु सम्बन्ध का विवेचन प्रस्तुत किया जायगा। साथ ही साथ भागवत पुराण तथा वल्लभ तथा चैतन्य के अनुयायियों के ईश्वरवाद का वर्णन भी किया जायगा। आस्तिक दार्शनिको के मध्य मध्व के अनुयायियों में जयतीर्थ तथा व्यासतीर्थ का सूक्ष्म विचारक तथा तार्किक रूप मे एक महान् स्थान है। पांचवे खण्ड मे शैव तथा शाक्त विचारको के अलावा तंत्र, उनका दर्शन, व्याकरण, हिन्दू सौन्दर्यशास्त्र, तथा हिन्दू धर्म-शास्त्र का वर्णन किया जायगा। इस प्रकार यह आशा की जाती है कि पाँचवे खण्ड की समाप्ति कर लेने पर लेखक, सस्कृत भाषागत हिन्दू विचार का सम्पूर्ण सर्वेक्षण कर चुकेगा और जो कार्य आज मे २० साल पहले उसने प्रारम्भ किया था, उसकी समाप्ति भी कर सकेगा।

उपसहार के रूप मे चार्वाक भौतिकवादियो पर एक अध्याय जोड दिया गया है क्योंकि पहले खण्ड मे इसका वर्णन लगभग छूट गया था।

लेखक डॉ० एफ० डब्लू० थॉमस के अतीव कृतज्ञ है जो आक्सफोर्ड मे सस्कृत के भूतपूर्व प्रधान अध्यापक तथा लेखक के सम्माननीय मित्र है, जो वृद्धावस्था के बावजूद विभिन्न कार्यों मे व्यस्त होते हुए भी, और लेखक के ज्ञानबंधु बने रहकर उन्हे पाण्डु-लिपि तैयार करने मे, तथा वर्ण-विन्यास, वाक्-पद्धति और विराम चिह्नो के विषय मे अनेक उपयोगी सलाह देते रहे। उनकी अनवरत सहायता के बिना प्रस्तुत ग्रन्थ मे अनेकों त्रुटियाँ रही होती। लेखक अपनी धर्म पत्नी डॉ श्रीमती सुरमादास गुप्त एम.ए., पी-एच. डी. (कलकत्ता तथा केम्ब्रिज) की अनवरत सहायता के लिए उनका विशेष रूप से आभारी है, उन्होने इस पुस्तक के तैयार करने के लिए अनेक पाण्डुलिपियाँ पढी। लेखक के एक ही नेत्र के सक्षम होने से जो कठिनाई बनी हुई थी उसे ध्यान मे रखते हुए यह खण्ड इस सहायता के बिना सम्पूर्ण होना अशक्य था।

डॉ. सतीन्द्रकुमार मुखर्जी एम.ए. पी-एच.डी. से समय-समय पर प्राप्त सहायता के लिए लेखक उनका भी आभारी है।

जून १६३६ —सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

विषय-सूची

अध्याय—१५

भास्कराचार्य का सम्प्रदाय

अध्याय—१६

पंचरात्र मत

अध्याय—१७

आलवार

अध्याय—१८

विशिष्टाद्वैत संप्रदाय का ऐतिहासिक एवं साहित्यिक सर्वेक्षण

अध्याय–१९

यामुनाचार्य का दर्शन

अध्याय बीसवां

रामानुज सम्प्रदाय का दर्शन

अध्याय इक्कीसवाँ

निम्बार्क-सम्प्रदाय की दर्शन-प्रणाली

अध्याय बाईसवाँ

विज्ञान भिक्षु का दर्शन

अध्याय तेईसवाँ

कुछ चुने हुए पुराणों के दार्शनिक विचार

परिशिष्ट

अध्याय १५

भास्कराचार्य का सम्प्रदाय

भास्कर का समय

उदयनाचार्य ने अपनी न्याय कुसुमाजलि की टीका में भास्कराचार्य के विषय में उल्लेख करते हुए कहा है कि उन्होने वेदान्त की त्रिदड शाखा के मतानुसार वेदान्त ग्रन्थों की टीका की है। उनकी मान्यतानुसार ब्रह्म मे विकासात्मक परिणाम होता है।[1] भट्टोजी दीक्षित ने भी, अपने तत्त्व विवेक टीका-विवरण नामक ग्रन्थ में, भास्कर भट्ट के विषय मे कहा है कि वे भेदाभेद-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं।[2] भास्कराचार्य, शंकराचार्य के बाद हुए, यह निर्विवाद सत्य है, यद्यपि उन्होने अपने ग्रन्थो में शकराचार्य के नाम का उल्लेख नही किया है फिर भी वे जिस प्रकार से उनका उल्लेख करते हैं इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होंने उपनी टीका शकराचार्य की ब्रह्मसूत्र की टीका के कुछ मुख्य सिद्धान्तो के खण्डन के हेतु लिखी है। वे टीका के प्रारम्भ में ही कहते है कि टीका लिखने का मुख्य हेतु, उन मतो का खण्डन करना है जो सूत्रो के सच्चे अर्थ को छिपा कर केवल अपने व्यक्तिगत मतो का मण्डन करते हैं। अन्य स्थानों पर भी वे मायावाद को स्वीकार करने वाले टीकाकारो के विरुद्ध कड़ी भाषा का उपयोग कर कहते है कि यह टीकाकार बौद्ध है।[3] वे शंकराचार्य का विरोध

---

[1] त्रिदड का अर्थ तीन दडो से है। मनु के अनुसार कुछ ब्राह्मणो में एक तथा कुछ में तीन दडो को धारण करने का नियम था।

प० विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी ब्रह्मसूत्र पर भास्कर की टीका की प्रस्तावना मे यह कहते है कि रामानुज, टक गुहदेव, भारुचि तथा यामुनाचार्य, जो रामानुज के गुरु थे उनके पहले के सभी ब्रह्मसूत्र के वैष्णव टीकाकार त्रिदडी थे। यह कथन अत्यंत रोचक है किन्तु अभाग्यवश वे यह नही बताते कि उन्होने यह किस प्रमाण के आधार पर कहा है।

[2] "भट्ट भास्करस्तु भेदाभेदवेदान्त-सिद्धान्तवादी"
प० विन्ध्येश्वरीप्रसाद ने अपनी भास्कर की टीका की प्रस्तावना मे भट्टोजी दीक्षित रचित 'वेदान्त तत्त्व टीका विवरण' से उद्धृत किया है।

[3] सूत्राभिप्राय-संवृत्यास्वाभिप्रायाप्रकाशनात्।
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येय तन्निवृत्तये। —भास्कर की टीका, पृ० १।

अवश्य करते थे किन्तु यह विरोध केवल शंकराचार्य के मायावाद–अर्थात् जगत् माया से उत्पन्न है और वह ब्रह्म का परिणाम नहीं है–तक ही सीमित था। किन्तु शंकराचार्य और भास्कराचार्य दोनो ब्रह्म को उपादान और निमित्त कारण मानने में एक मत हैं। शंकराचार्य इस सिद्धान्त का मण्डन इसलिए करते हैं, कि उनकी मान्यतानुसार ब्रह्म के सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं, किन्तु वे दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है, जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म में अनिर्वचनीय और असत् माया के संयोग से हुई है, और ब्रह्म जगत् से वस्तुतः भिन्न नही है, तो भी जगत् ब्रह्म का मायोपहित विवर्त है, माया रूप इस जगत् का ब्रह्म बीज रूप सत्य है। भास्कराचार्य का कहना है कि माया है ही नही, ब्रह्म ही अपनी शक्ति द्वारा जगत् रूप से परिवर्तित होता है। पंचरात्र में भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन है, उनकी मान्यतानुसार, वासुदेव जगत् का निमित्त और उपादान कारण है, भास्कराचार्य का यहाँ भागवत धर्म से भी ऐकमत्य है। पचरात्र के इस सिद्धान्त से उनका वे कोई विरोध नही पाते है।[1] वे केवल उनके जीववाद से सहमत नही है क्योंकि पचरात्र के मतानुसार जीव ब्रह्म से उत्पन्न है।[2]

यद्यपि हम निश्चित रूप से तो नहीं कह सकते, किन्तु यह संभव है कि भास्कराचार्य ब्राह्मणों के उस सप्रदाय के अनुयायी है, जो अन्य ब्राह्मणो के समान एक दड को धारण न कर तीन दड धारण करते थे, इसलिए उनकी वेदान्त सूत्र की टीका त्रिदडी ब्राह्मण सप्रदायानुवर्त्ती कही जा सकती है। साधन-चतुष्टय पर विवेचना करते हुए वे कहते हैं कि ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए आश्रम-धर्म उसकी रूढियो और उसके कर्मकाड का त्याग करना आवश्यक नही है। वे यह भी कहते हैं कि वेद भी तीन दंड धारण करने का आदेश देते है।[3]

और भी, 'ये तु बौद्ध-मतावलम्बिनो मायावादिनस्तेऽपि अनेन न्यायेन सूत्र कारेणैव निरस्ताः।' –वही २, २–२९।

अन्य स्थान पर शंकर महायान बौद्धवाद के ही विचारों का प्रतिपादन करते हैं ऐसा कहा गया है।

विगीतं विच्छिन्नमूलं माध्यमिक-बौद्धगाथितं मायावादं व्यावर्णयन्तो लोकान् व्यामोहयन्ति। –वही, १.४.२५।

[1] वासुदेव एवं उपादान-कारण जगतो निमित्तकारण चेति ते मन्यन्ते···
तदेतद् सर्वश्रुति प्रसिद्धं एव तस्मान्नात्र निराकरणीयं पश्यामः।
–भास्कर भाष्य, २, २–४१।

[2] वही।

[3] वही ३, ४–२६ और भी देखो पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद की प्रस्तावना।

माधवाचार्य अपने शंकर विजय ग्रन्थ मे शंकराचार्य और भास्कर भट्ट की भेंट का उल्लेख करते हैं किन्तु यह कितना विश्वसनीय है यह कहना कठिन है ।[1]

भास्कराचार्य ने शंकर-मत का खण्डन किया, और उदयनाचार्य ने भास्कर का उल्लेख किया है, इससे यह निश्चित है कि भास्कराचार्य आठवीं और दसवी शताब्दी के बीच रहे होंगे। पंडित विन्ध्येश्वरी प्रसाद, महाराष्ट्र में नासिक के पास डा० भाऊदासजी द्वारा पाए हुए ताम्र पत्र के आधार पर कहते हैं कि शांडिल्य गोत्र में उत्पन्न, कवि चक्रवर्ती त्रिविक्रम के पुत्र, कोई भास्कर भट्ट थे जिन्हे विद्यापति की उपाधि मिली हुई थी और वे शांडिल्य गोत्रोत्पन्न भास्कराचार्य के छठे पूर्वज थे, जो एक ज्योतिषी और सिद्धान्त शिरोमणि के रचयिता थे। वे ऐसा मानते हैं कि ज्येष्ठ विद्यापति भास्कर भट्ट ब्रह्म सूत्र के टीकाकार थे।[2] किन्तु उनका यह कथन साधक प्रमाण के अभाव मे स्वीकार नहीं किया जा सकता। दोनो के नाम मे समानता होने के अलावा कोई ऐसा निश्चित प्रमाण नही मिलता जो यह सिद्ध कर सके कि इन्ही विद्यापति भास्कर भट्ट ने ब्रह्म सूत्र की टीका लिखी है।[3] जो कुछ हम सम्भाव्य निश्चय के साथ यह कह सकते है वह इतना ही है कि भास्कराचार्य का काल मध्य आठवी शताब्दी और मध्य दसवी शताब्दी के बीच का है, बहुत सभव है कि उनका काल नवमी शताब्दी रहा हो क्योंकि वे रामानुजाचार्य से अनभिज्ञ थे।[4]

भास्कर और शंकर

ब्रह्म सूत्र २-१-१४ का अर्थ स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य और भास्कराचार्य,

---

[1] शंकर विजय, १५.८० ।

[2] पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद की प्रस्तावना ।

[3] हम संस्कृत साहित्य मे अनेको भास्कर के नाम सुनते है जैसेकि लोक भास्कर, भ्रान्त भास्कर, हरिभास्कर, भदन्त भास्कर, भास्कर मिश्र, भास्कर शास्त्री, भास्कर दीक्षित, भट्टभास्कर, पडित भास्कराचाय, भट्ट भास्कर, मिश्र, त्रिकाड मडन, लागाक्षी भास्कर, शांडिल्य भास्कर, वत्स भास्कर, भास्कर देव, भास्कर नृसिंह, भास्करारण्य, भास्करानन्दनाथ, भास्कर सेन ।

[4] वे अन्य लेखको के विषय मे बहुत कम उल्लेख करते हैं। उनका कथन है कि शांडिल्य भागवत सप्रदाय के महान् ग्रन्थाकार हैं। वे पाशुपत, शैव, कापालिक और काठक-सिद्धान्ती तथा पचाध्यायी इन चार प्रकार के महेश्वरों का वर्णन करते हैं। शास्त्र को उनका मुख्य ग्रन्थ मानते हैं। वे पचारात्रिको का भी उल्लेख करते हैं जिनसे वे अधिकतर सहमत हैं ।

छान्दोग्य उपनिषद् ६-१-१ प्रपाठक का दो भिन्न दृष्टिकोण से विवरण प्रस्तुत करते हैं।[1] वाचस्पति शंकराचार्य की उपरोक्त टीका को समझाते हुए कहते हैं कि, मिट्टी को मिट्टी रूप में जान लेने से मिट्टी से बना सब जान लिया जाता है, इसलिए नहीं–कि मिट्टी की वस्तुएँ मिट्टी ही हैं क्योंकि वास्तव में हर एक वस्तु भिन्न है। अगर ऐसा है तो हम मिट्टी की एक वस्तु जान लेने पर मिट्टी की दूसरी वस्तु को कैसे जान सकते हैं ? मिट्टी की वस्तुएँ वास्तव मे है ही नहीं, वे तथा जो, विकार रूप से दीखते हैं, शब्द प्रयोग मात्र (वाचारम्भणम्) हैं, केवल कोरा नाम हैं (नामधेयम्), उनके अनुरूप कोई लक्ष्य पदार्थ या विषय है ही नहीं; उनका अस्तित्व ही नही है।[2]

भास्कराचार्य के अनुसार इस पाठ का अर्थ यह है कि मिट्टी ही केवल सत्य है। भाषा की सार्थकता दो बातों पर आश्रित है, विषय और उनसे सूचित तथ्य तथा नाम पर, जो उन्हे सूचित करते हैं। कार्य हमारे व्यावहारिक आचरण तथा तत्सबंधित वस्तु और विषय का अधिष्ठान है, भाषा और नाम उन्ही का निर्देश करते हैं। कार्यकारण फिर कैसे एक हो सकते हैं ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि भाषा कार्य को ही निर्देश करती है और इसी से हमारा व्यवहार सभव है यह सत्य है, किन्तु कार्य वस्तुत. कारण के आविर्भाव, परिणाम और सत्ता की अवस्थाएँ मात्र हैं। अतः इस दृष्टि से कि कार्य आता जाता है, उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है, जबकि कारण निरन्तर एकसा ही रहता है और अपने सारे सत्य परिणामो का अधिष्ठान है, अतः यह कहा जा सकता है कि कारण ही केवल सत्य है–मिट्टी ही केवल सत्य है।

---

[1] तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्यः ब्र० सू० २–१–१४।
यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

–छान्दोग्य ६–१–१।

[2] भामती, ब्रह्म सूत्र २–१–१४।

राहु एक राक्षस है जो शरीर रहित केवल शीश ही है। उसका सारा शरीर मस्तक ही है। तो भी भाषा की सुविधा के लिए हम राहु का सिर (राहोः शिरः) ऐसा प्रयोग करते हैं। ठीक उसी प्रकार मिट्टी ही केवल सत्य है, और मिट्टी के बर्तन, घडा, शकोरा इत्यादि भाषा के प्रयोग मात्र हैं ऐसी कोई यथार्थ वस्तु या सत्ता ही नहीं जिनका कि वे नाम हो सकते हैं। उनकी सत्ता ही नही है वे विकल्प मात्र हैं, वाचा केवलं आरम्यते विकार-जातं न तु तत्त्वतोऽस्ति यतो नामधेयमात्रं एतत्···यथा राहोः शिरः शब्द-ज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प इति, तथा चावस्तुतया अनृतं विकार-जातम्।

कार्य कारण की ही एक अवस्था है और कारण से भिन्न और अभिन्न दोनों है।[1] कार्य अर्थात् नाम (नामधेय) सत्य है और श्रुति भी ऐसा ही कहती है।[2]

भास्कराचार्य शंकराचार्य के मत का खंडन इस प्रकार करते हैं, मायावादी, नाना रूप जगत् की सत्ता मानने वालों के विरोध में जो दलील देते हैं वे ही उनके विरोध में भी दी जा सकती है क्योंकि वह अद्वैत की सत्ता मानते हैं। जो व्यक्ति श्रुति का श्रवण और तत्त्वचिंतन करता है वह स्वयं प्रथम अविद्या से अभिभूत होता है और अगर इस अविद्या के कारण उसका द्वैत ज्ञान मिथ्या है तो उसका अद्वैत ज्ञान भी उसी कारण-वश मिथ्या माना जा सकता है। समस्त ब्रह्म ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि यह भी जगत् के ज्ञान की तरह मिथ्या ज्ञान है। वे आगे फिर ऐसी दलील देते हैं कि जिस प्रकार स्वप्नार्थ और शब्द के मिथ्या ज्ञान द्वारा, अच्छे बुरे का किसी और अर्थ का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार अद्वैत मतवादी उपनिषद् ग्रन्थो के शब्दार्थों के मिथ्या ज्ञान द्वारा ही सच्चा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु यह तर्क मिथ्या-सादृश्यानुमान पर आधारित है। जब कोई कुछ स्वप्नों के भले-बुरे परिणाम के बारे में निर्णय करता है तब वह बिना किसी आधार के ऐसा नहीं करता, क्योंकि उसके निर्णय का आधार विशेष प्रकार के स्वप्नो के अनुभव ही हैं। और स्वप्नानुभव तथ्य है जो अपनी विशेषता रखते हैं। शश-विषाण (खरगोश के सींग) की तरह केवल मिथ्या नहीं हैं। शश-विषाण के दृष्टान्त के आधार पर कोई किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकता। वर्णों का भी अपना आकार और रूप है और इनका सर्वसाधारण की मान्यतानुसार, विशेष ध्वनि से सम्बन्ध है। यह भी मानी हुई बात है कि भिन्न देशों मे भिन्न-भिन्न वर्णों का उपयोग एक ही ध्वनि के सूचन में किया जा सकता है। पुनः अगर कोई किसी भूल से भय का अनुभव करके मर जाता है तो वह केवल असत् या मिथ्या वस्तु के कारण नहीं मरता, क्योंकि वह सचमुच डरा था, उसकी मृत्यु का कारण भय था, जो किसी यथार्थ वस्तु की स्मृति से उत्तेजित हुआ था। भय के अनुभव में मिथ्यात्व केवल इतना ही था कि डराने वाली जिस वस्तु का भय हुआ वह उस समय उपस्थित नहीं थी। इस प्रकार हम ऐसा कोई भी दृष्टान्त नहीं प्रस्तुत कर सकते, जिससे हम यह सिद्ध कर सके कि मिथ्या-ज्ञान या केवल

---

[1] वागिन्द्रियस्य उभयमारम्भण विकारो नामधेयम् ··उभयमालम्ब्य वाग्व्यवहारः प्रवर्तते घटेन उदक आधारेऽति मृण्मयं इत्यस्य इदं व्याख्यान कारणमेव कार्यात्मना घटवदवतिष्ठते · कारणस्यावस्थामात्रम् कार्यं व्यतिरिक्ता-व्यतिरिक्तं शुक्ति-रजत-वदागमापायिधर्मित्वाच्च अनृतम् अनित्यमिति च व्यपदिश्यते।

—भास्कर भाष्य, २-१-१४।

[2] अथ नामधेय सत्यस्य सत्यमिति·· इत्यादि। —वही।

मिथ्यात्व से सच्चाई या सच्चे ज्ञान तक पहुँच सकते हैं। पुनः शास्त्र जगत् का मिथ्यात्व कैसे प्रतिपाद कर सकते हैं ? अगर श्रवण से प्राप्त सारा ज्ञान मिथ्या है तो सारी भाषाएँ भी मिथ्या हो जाती हैं और तब शास्त्र को भी मिथ्या ही मानना होगा।

इसके अतिरिक्त यह अविद्या भी क्या है यदि कोई इसका वर्णन नहीं कर सकता तो कोई इसे दूसरे को कैसे समझा सकता है ? और यह कथन कि अविद्या विविध आचार-व्यवहार से पूर्ण आनुभविक जगत् के ठोस एव मूर्त्त रूप में अभिव्यक्ति पाकर भी अनिर्वचनीय बनी रहती है, अत्यन्त निरर्थक है।[1] जो इस प्रत्यक्ष तथा अनुभव व्यावहारिक जगत् के रूप में अभिव्यक्त होगा, वह अनिर्वचनीय है यह कथन कितना अर्थहीन विषयक है।[2] अगर वह अनादि है तो वह नित्य अवश्य है और तब मोक्ष प्राप्ति असंभव है। वह सत् और असत् दोनों नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा कहना परस्पर विरोधी है। वह केवल अभाव रूप भी नहीं हो सकता क्योंकि जो असत् है वह बंधन का कारण भी नहीं हो सकता है। अगर वह बधन का कारण है तो वह भाव रूप अवश्य है, और तब ब्रह्म में द्वैत उत्पन्न होने का दोष आए बिना नहीं रह सकता। इसलिए मायावादी का सिद्धान्त मिथ्या प्रमाणित होता है।

सत्य तो वास्तव में यह है कि जिस प्रकार दूध दही के रूप मे जमता है वैसे ही ईश्वर ही स्वय अपनी इच्छा, ज्ञान और अनन्त से अपने आपको जगत् रूप में परिणमित करता है। ईश्वर निरवयव होते हुए भी, जगत् के रूप से परिणमित होता है इस कथन में कोई असंगति नहीं है, क्योंकि वह अपनी विभिन्न शक्तियों को अपनी इच्छा से रूपांतरित कर ऐसा परिणाम ला सकता है। ईश्वर की दो शक्तियाँ हैं। भोग्य शक्ति द्वारा वह भोग्य सृष्टि बना है और भोक्त-शक्ति द्वारा भोक्ता जीव बना है। यह सब होते हुए भी वह स्वयं अपने आप मे अपरिणामी और निर्मल है। केवल अपनी शक्ति के रूपातरण से वह भोक्ता और भोग्य रूप जगत् में परिणमित होता है। सूर्य अपने बिम्ब में से जैसे किरणों को प्रसारित कर फिर अपने में समेट लेता है फिर भी सूर्य ही बना रहता है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर जगत् का निर्माण और समाहरण करता है।[3]

---

[1] यस्याः सर्वमिद कृत्स्न व्यवहाराय कल्पते
निर्वक्तुं सा न शक्येति वचनं वचनार्थकम्।

—भास्कर भाष्य।

[2] यस्याः कार्यं इदकृत्स्न व्यवहार्यं कल्पते।
निर्वक्तुं सा न शक्येऽति वचनं वचनार्थकम्।

—भास्कर भाष्य।

[3] भास्कर भाष्य, २-१-२७ तथा १-४-२५।

भास्कराचार्य के भाष्य में उपलब्ध दर्शन

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भास्कराचार्य के मतानुसार, जीव और जड़ जगत्, स्वय ब्रह्म की अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा उसके परिणाम मात्र हैं। यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाता है कि जगतत् और जीव ब्रह्म से भिन्न हैं या अभिन्न ? भास्कराचार्य उत्तर देते हैं कि भेद में अभेद धर्म विद्यमान है (अभेदधर्मश्च), लहर समुद्र से भिन्न भी है और अभिन्न भी। लहरें समुद्र की शक्ति की अभिव्यक्ति हैं इसलिए जो सागर अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति की दृष्टि से भिन्न दीखता है वस्तुतः वह अपनी शक्ति से अभिन्न है। ठीक इसी प्रकार एक ही अग्नि प्रकाशक या दाहक के रूप मे भिन्न-भिन्न है। इसलिए जो एक है वह नाना रूप भी है, जो है वह न तो नितान्त एक रूप है न नितान्त भिन्न रूप है।[1]

जीव ईश्वर से वस्तुतः भिन्न नहीं है वरन् उसका मात्र अंश है, जैसे अग्नि-स्फुलिंग, अग्नि के अंश हैं। किन्तु ईश्वरांश जीवों की यह विशेषता है, कि वे ब्रह्म से एक होते हुए भी अनादिकाल से अविद्या, इच्छा और कर्मों के प्रभाव में रहे हैं।[2] जिस तरह आकाश सब जगह एक सा ही है तो भी मठ या घर के अन्तर्गत आकाश, महत् आकाश नहीं है। एक दृष्टिकोण से वह अखंड आकाश का अंश कहा जा सकता है, अथवा जिस प्रकार वायु पंच प्राण के रूप में भिन्न-भिन्न जैविक में व्यापार करती है, ठीक इसी प्रकार जीव भी एक अर्थ मे ईश्वर के अंश कहे जा सकते हैं। शास्त्र, जीव को ज्ञान और मुक्ति प्राप्त करने का आदेश देते हैं, वह युक्ति संगत है और योग्य भी है, क्योंकि जीव की परमात्मा, ब्रह्म, या ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा ही मुक्ति का कारण है तथा सांसारिक वस्तुओं की अभिलाषा ही बंध का कारण है।[3] जीव, अविद्या, इच्छा और कर्म से अभिभूत होने के कारण अणुरूप है और जिस प्रकार चंदन लेप का एक अंश सारे वातावरण को सुगंधित बना देता है इसी प्रकार जीव भी स्वभाव में रहते हुए सारे शरीर को चेतन कर देता है। वह स्वभाव से चेतन है केवल

---

[1] अभेद-धर्मश्च भेदो यथा महोदधेरभेदः स एव तरंगाद्यात्मना वर्तमानो भेद इत्युच्यते, नहि तरंगादयः पाषाणादिषु दृश्यन्ते तस्यैव ताः शक्तयः शक्ति-शक्तिमतोश्च अनन्यत्वमन्यत्व चोपलक्ष्यते यथाग्नेर्दहन प्रकाशनादिशक्तयः···तस्मात् सर्वम् एकाने-कात्मक नात्यतमभिन्नं भिन्नं वा।

—भास्कर भाष्य २–१–१८।

[2] वही, १–४–२१।

[3] रागोहिपरमात्म विषयो यः स मुक्तिहेतुः विषय-विषयो य. स बंधहेतुः।

भास्कर भाष्य।

अन्य विषयों के ज्ञान के संबंध में ही उन की उपस्थित पर वह निर्भर है।[1] जीव का स्थान हृदय में है और हृदय के चर्म द्वारा वह सारे देह के सम्पर्क में रहता है। यद्यपि वह बन्धनयुक्त है, अविद्या इत्यादि से प्रभावित है और अणुरूप है, तो भी अंततोगत्वा वह अणुरूप नहीं है क्योंकि वह ब्रह्म से अभिन्न है। बुद्धि, अहकार, पंच इंद्रियाँ और पच प्राण से प्रभावित होकर जीव पुनर्जन्म के चक्र में फँसता है। अणुरूप होना और बुद्धि इत्यादि के सम्पर्क मे रहना जीव का स्वभाव नहीं है किन्तु जहाँ तक वह सम्बन्ध विद्यमान है वहां तक, जीव के कर्तृत्व पूर्णतया सत्य है, किन्तु इन कर्तृत्व का मूल, अत में ईश्वर स्वय ही है। ईश्वर ही हम से सारे कर्म कराता है, वही हम से सत्कर्म कराता है और हमारे अतर में रहता हुआ हमारे सारे कर्मों का नियन्त्रण भी करता है।

मनुष्य को प्रत्येक आश्रम में शास्त्रोक्त कर्म करना चाहिये, वह कभी भी उस अवस्था पर नहीं पहुच सकता जहा वह शास्त्रोक्त कर्म के बधन से ऊपर उठ जाता हो।[2] अतः शकराचार्य का यह कथन ठीक नहीं है कि उच्च ज्ञान का अधिकारी जीवन के धर्म तथा शास्त्रोक्त कर्म और आचार से परे है या जिन लोगों के वास्ते शास्त्रो मे जो कर्मकाड निर्दिष्ट किये गये वे उच्च ज्ञान के अधिकारी नहीं हैं। दूसरे शब्दों में शंकराचार्य का यह कथन कि कर्म और ज्ञान मे कही भी समुच्चय नहीं है यह असत्य है। भास्कराचार्य यह अवश्य मानते है कि नित्य नैमित्तिक कर्म, ब्रह्म को परम सत्य का दर्शन नहीं करा सकते, तो भी ज्ञान-समुच्चित कर्म परम श्रेय, ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति करा सकते हैं। ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति हमारा धर्म है। हम शास्त्र के आदेशानुसार ही इसे स्वीकारते हैं क्योंकि शास्त्र यहा पर हमे विधि देता है, आत्मा जानने योग्य है इत्यादि (आत्मा वा अरे दृष्टव्य:), इसलिये शकराचार्य का यह कथन ठीक नहीं है कि शास्त्रोक्त नित्य नैमित्तिक कर्म हमे अधिक से अधिक पापरहित बनाकर

---

[1] वही २-३-१८, २२, २३।

[2] भास्कर भाष्य, १-१-१।

ब्रह्म सूत्र, एक अर्थ में मीमासा सूत्र से ग्रथित है जिसका अनुकरण करना आवश्यक है, क्योंकि कर्मकाण्ड का पालन करने के पश्चात् ही ब्रह्म-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, इसलिये ब्रह्म-ज्ञान कर्मकाण्ड की आवश्यकता हटा नहीं सकता, तथा ब्रह्म सूत्र कोई उच्च तथा भिन्न लोगो के ही लिये है इस विचार को मान्य रखते हुए भास्कर उपवर्ष या उपवर्षाचार्य का अनुसरण करते है तथा उन्ही की मीमांसा-सूत्र की टीका का उल्लेख करते है तथा उन्हे इस प्रणाली के संस्थापक कहते है।

–वही १-१-१ तथा २-२-२७ और भी देखो १-१-४। आत्म ज्ञानाधिकृतस्य कर्मभिर्विनापवर्गानुपपत्ते ज्ञानेन कर्म समुच्चीयते।

वेदान्त के अध्ययन का अधिकारी ही बनाते हैं। भास्कराचार्य यह कहते हैं कि शास्त्रोक्त कर्म करना हमारे लिये उतना ही आवश्यक है जितना मुक्ति के लिये ज्ञान प्राप्त करना है।

भास्कराचार्य ज्ञान और चैतन्य के बीच विशेषत. आत्म-चैतन्य और ज्ञान के बीच भेद मानते हैं। ज्ञान का अर्थ विषय-ज्ञान है जो इन्द्रिय, मनस् और विषय के सम्बध से प्रकाश और स्मृति और सस्कार की अतः क्रिया से प्राप्त होने वाला अनुभव है। ज्ञान स्वतः चालित नही है, वह सहकारी सम्बध से इंद्रियादि-व्यापार-जनित कार्य है। (जिससे) जब कभी ऐसे सहायक सम्मिलित होकर इन्द्रियो को सचालित करते हैं तब विषय-ज्ञान होता है। भास्कराचार्य इसलिये कुमारिल के मत से स्पष्ट विरोध करते है।[1] कुमारिल के मतानुसार ज्ञान वह भाव पदार्थ है जो प्रत्यक्ष नही हो सकता किन्तु बुद्धि-व्यापार के कारक के रूप मे अनुमान-गम्य है यह स्वत. प्रज्ञात नही है। अगर हम इस प्रकार प्रत्यक्ष बुद्धि-व्यापार को समझाने के लिये अप्रत्यक्ष भाव पदार्थ को अनुमान द्वारा मान ले तो हमें इस भाव-पदार्थ को समझाने के लिये दूसरे भाव-पदार्थ की सत्ता स्वीकार करनी पडेगी और इस तरह अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। तदुपरान्त प्रत्यक्ष बुद्धि-व्यापार को समझाने के लिये अप्रत्यक्ष भाव पदार्थ को अनुमान द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता। क्योंकि अगर वह पदार्थ प्रत्यक्ष नही हो सकता तो, बुद्धि-व्यापार के साथ उसका सम्बंध भी प्रत्यक्ष नही हो सकता, फिर उसका अनुमान कैसे किया जा सकता है ? इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव-गम्य है अन्य कोई अप्रत्यक्ष भाव पदार्थ इसका कारण नही है। ज्ञान (सवेदना) अनेको सहायकों की सबधित क्रियाओ का प्रत्यक्ष कार्य है। विषय-ज्ञान, आत्म-चैतन्य से नितान्त भिन्न है, क्योकि आत्म-चैतन्य नित्य है और हमेशा रहता है, जबकि विषय-ज्ञान, तत्सबधी सहायक परिस्थितियो पर आश्रित है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भास्कराचार्य का प्रामाण्यवाद स्वतन्त्र है विषय-ज्ञान (सवेदना) के बारे में न्याय से इनकी युक्ति है किन्तु वह न्याय से भिन्न भी है क्योकि वे जीव को निरन्तर आत्म-चैतन्य मानते है। शकराचार्य के प्रमाण्यवाद से भी यह भिन्न है क्योकि विषय-ज्ञान उपाधियुक्त चैतन्य नही है किन्तु अन्य प्रकार का ज्ञान है।[2]

---

[1] ज्ञान क्रिया कल्पनायां प्रमाणाभावात्—आलोकेंद्रिय मनः संस्कारेषु हि सत्सु सवेदनमत्पद्यते इति तदभावे नोत्पद्यते, यदि पुनरपर ज्ञानं कल्प्यो तस्याप्यन्यत् इति अनवस्था न च ज्ञान-क्रियानुमाने लिंगमस्ति, सवेदनमिति चेन्न, अगृहीत संबधत्वात्।

–भास्कर भाष्य १–१–१।

[2] केचिदाहुः आत्मा प्रमाण्य मिंद्रिय द्वारोपाधि निर्गम विषयेषु वर्तते—तदिदमसम्यम् दर्शन—आलोकेंद्रियादिभ्यो ज्ञानमुत्पद्यमान– चान्यदिति युक्तं। –भास्कर भाष्य।

यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि वेदान्त परिभाषा के रचियता धर्मराजाध्वरीन्द्र के मत से विपरीत भास्कराचार्य, मनस् को ज्ञानेन्द्रिय मानते हैं।[१] ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य के विषय में भास्कराचार्य का यह मत है कि सत्य-ज्ञान स्वतः प्रमाणित है, मिथ्या-ज्ञान परतः प्रमाणित है।[२]

जैसा कहा गया है, तदनुसार भास्कराचार्य के मत से मुक्ति केवल ज्ञान से प्राप्त नहीं होती है, ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करते हुए हमें शास्त्रोक्त धर्म का आचरण करना आवश्यक है क्योंकि ज्ञान और कर्म में विरोध नहीं है। धर्म को त्याग देंगे तो मुक्ति नहीं मिलेगी।[३] मुक्तावस्था में अखंड निरन्तर सुख का ज्ञान होता है।[४] मुक्त चाहे तो शरीर इंद्रिय आदि से सम्पर्क रखे या न रखे।[५] वह सर्वज्ञ सर्व-शक्तिमान है और सब जीवों से और ईश्वर स्वयं से अभिन्न है।[६] मुक्त होने के लिये ब्रह्म के प्रति राग आवश्यक है जिसका स्वरूप विशद करते हुए उसे (समाराधना) भक्ति कहा है और भक्ति का अर्थ ईश्वर का ध्यानादि से परिचर्या करना कहा है। भक्ति किसी प्रकार का ईश्वर के प्रति प्रेम या भाव नहीं है जैसाकि वैष्णव-संप्रदाय मे माना है, किन्तु वह ध्यान है।[७] यहां एक प्रश्न उठ खड़ा हो सकता है कि अगर ब्रह्म ही जगत् रूप मे परिणत हुआ है तो ध्यान किसका किया जाय ? क्या हम जगत् का ध्यान करें ? भास्कराचार्य उत्तर में कहते हैं कि ब्रह्म जगद् रूप में परिणत होने पर विलीन नहीं होता एव जगत ब्रह्म का ही परिणाम है इसका अर्थ केवल यही है कि जगत् ब्रह्ममय है, जड़ नहीं है। जगत् चिन्मय अभिव्यक्ति है और चिन्मय परिणाम है, जो जड रूप से दीखता है वह वास्तव में चिन्मय है। जगत् रूप में परिणत ब्रह्म, जो अनेक शक्ति-सम्पन्न है और इसके अलावा भी जो निष्प्रपंच ब्रह्म है वह अपने अंतर्यामी रूप से परे है, भक्ति ध्यान इसी का करना चाहिये। नानात्व रूप से अभिव्यक्त जगत्, अन्त मे अपने मूल स्रोत निष्प्रपंच ब्रह्म में वापस मिल जाएगा, शेष में कुछ भी नहीं बचेगा। जड़ रूप जगत् चैतन्य में पानी के नमक के कण की तरह घुल-मिल जायगा।[८] यह

---

[१] वही २-४-१७।

[२] वही १-४-२१।

[३] वही ३-४-२६।

[४] वही ४-४-८।

[५] वही ४-४-१२।

[६] मुक्तः कारणात्मानं प्राप्तः तद्वदेव सर्वज्ञानः सर्वशक्तिः।

—भास्कर भाष्य ४-४-७।

[७] वही ३-२-२४।

[८] वही, २-२-११, १३, १७।

पर ब्रह्म, जिसका ध्यान करना कहा गया है, वह सद्-लक्षण और बोध-लक्षण है।[1] वह अनन्त और असीम है। ब्रह्म को सत्, चित् और अनन्त रूप कहा गया हैं किन्तु ये उक्त पद किन्हीं तीन भाव पदार्थों को सूचित नहीं करते, ये ब्रह्म के गुण हैं और अन्य सभी गुणों की तरह अपने द्रव्य से अलग नहीं रह सकते। क्योंकि द्रव्य गुण बिना नहीं रह सकता, और न गुण द्रव्य के बिना। द्रव्य गुण अपने धर्म के कारण भिन्न पदार्थ नहीं बन जाता।[2]

भास्कराचार्य जीवनमुक्त स्थिति को नहीं मानते, क्योंकि जहां तक शरीर है वहां तक संचित कर्मानुसार गति और आश्रम-धर्म पालन करना ही पड़ता है। साधारण बद्ध पुरुष से, ज्ञानी का भेद यही रहता है कि बद्ध अपने को कर्ता इत्यादि मानता है, ज्ञानी ऐसा नहीं सोचता। अगर कोई जीवन-काल में मुक्त हो जाए तो वह सबके मन को जान सकता है। मुक्तावस्था में जीव निःसंबंध हो जाता है या जैसाकि भास्करा-चार्य कहते हैं वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हो जाता है, इस बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता, जीवन काल में मुक्ति मिल ही नहीं सकती क्योंकि जहां तक मनुष्य जीवित है वहा तक उसे आश्रम-धर्म पालन करना पड़ेगा। ईश्वर की पहचान और उसके प्रति सबल ध्यान केन्द्रित करना मानव के लिए आवश्यक है ताकि उसे मृत्यु के उपरान्त मुक्ति प्राप्त हो सके।[3]

---

[1] वही ३–२–२३।

[2] न धर्मं धर्मि-भेदेन स्वरूपभेद इति; नहि गुणरहितं द्रव्यमस्ति, न द्रव्य रहितो गुणः।
—वही, ३–२–२३।

[3] भास्कर भाष्य ३–४–२६।

अध्याय १६

पंचरात्र मत

पंचरात्र की प्राचीनता

पचरात्र सिद्धान्त वास्तव मे बहुत प्राचीन है जिसका ऋग्वेद के पुरुष सूक्त से संबन्ध है। वह एक दृष्टि से भविष्य के समस्त वैष्णव संप्रदायो की नीव है। शतपथ ब्राह्मण में ऐसा कहा गया है कि परम पुरुष नारायण ने, समस्त नरो से परे बनने की एवं सबसे एक होने की इच्छा प्रकट की, तब उनको पचरात्र यज्ञ का दर्शन हुआ जिसे करके, वे अपना ध्येय पा सके।[1] ऐसा हो सकता है कि 'पुरुषो ह नारायण:' के ये विशेष नाम आगे जाकर नर और नारायण नामक दो ऋषियो में परिणत हो गए हो। पाठ का अर्थ यह भी हो सकता है कि नारायण नाम का एक पुरुष पचरात्र यज्ञ करके महान् देवता बन गया। बेंकट सुधी ने अपने १६००० पक्तियो से युक्त सिद्धान्त रत्नावली नामक ग्रन्थ में, शास्त्र प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि, नारायण सर्वश्रेष्ठ देव है और शिव, ब्रह्मा, विष्णु इत्यादि देव उसके अधीन है।[2] सिद्धान्त रत्नावली के चतुर्थ अध्याय में ऐसा कहा है कि नारायण शब्द उपनिषद् के ब्रह्मन् शब्द का सूचक है। महाभारत (शाति पर्व ३३४ अध्याय) में उल्लेख है कि नर नारायण, स्वयं, अपरिणामी ब्रह्म की, जो सारी सत्ता की आत्मा है, उपासना करते हैं, और तब भी उन्हे सबसे महान् कहा गया है। बाद के अध्याय मे ऐसा उल्लेख है कि एक राजा, नारायण का अनन्य भक्त था जो सात्वत धर्मविधि के अनुसार उनकी उपासना करता था।[3] वह उनका इतना अनन्य भक्त था कि उसने अपना सब कुछ राजपाट, धनराशि इत्यादि को नारायण की ही देन मान लिया था। वह अपने घर मे पचरात्र अनुयायी साधुओ को सम्मान और आश्रय देता था। इन साधुओ ने राजा के आश्रय में रहकर यज्ञ किया पर वे नारायण के दर्शन नही कर सके इससे बृहस्पति क्रुद्ध हो गए। कुछ सन्तों ने इस वृतान्त को इस प्रकार कहा कि जब ऋषि कठोर तपस्या

---

[1] शतपथ ब्राह्मण, १३, ६, १।

[2] सिद्धान्त रत्नावली हस्तलिखित है। अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है।

[3] सात्वत सहिता नामक प्राचीन पचरात्र संहिता प्राप्त है, जिसका उल्लेख शीघ्र ही किया जायगा।

के बाद भी ईश्वर दर्शन न कर सके तब स्वर्ग से एक संदेश आया कि महानारायण श्वेत द्वीपवासियों को ही साक्षात्कार प्रदान करते हैं, जो इंद्रीयहीन हैं, जिन्हे भोजन की आवश्यकता नहीं होती और जो एकेश्वरवादी भक्त हैं। ये सम्त श्वेत द्वीप के लोगों के अपार सौन्दर्य से चकाचौंध हो गए अतः उन्हे न देख सके तब वे तपस्या करने लगे। तत्पश्चात् वे उन्हें दृष्टिगोचर हो पाए। श्वेत द्वीपवासी मंत्र जप द्वारा देवता की अराधना करते थे और उन्हें भेंट अर्पित करते थे। इसके बाद स्वर्ग से फिर संदेश आया कि वे श्वेत द्वीपवासियों को देख पाए हैं इसी में उन्हें सतोष मान लेना चाहिए और वापस घर लौट जाना चाहिए क्योंकि महेश्वर का बिना पूर्ण भक्ति के साक्षात्कार नही होता। नारद ने भी, ऐसा कहा जाता है, कि श्वेतद्वीप के विचित्र वासियो को दूर से देखा था। नारद फिर श्वेतद्वीप गए और वहाँ उन्होने अपने आराध्यदेव नारायण के दर्शन किए। नारायण ने उनसे कहा कि वासुदेव परम और अपरिणामी ईश्वर हैं, जिनके सकर्षण की उत्पत्ति हुई जो सब जीवो के अधिपति हैं, उनसे प्रद्युम्न हुए जो मनस् हैं, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध हुए जो अहकार हैं। अनिरुद्ध से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई जिनसे यह सारी सृष्टि प्रकट हुई। प्रलय के बाद वासुदेव से कर्मपूर्वक संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध पैदा होते हैं।

कुछ उपनिषद् वैष्णव उपनिषद् कहे जाते हैं जो पचरात्र ग्रन्थों के बाद रचे गए हैं। ये उपनिषद् इस प्रकार हैं: अव्यक्तोपनिषद् या अव्यक्त नृसिंहोपनिषद् जिसकी टीका वासुदवेन्द्र के शिष्य उपनिषद् ब्रह्म योगिन् ने की है, काली सन्तरणोपनिषद्, कृष्णोपनिषद्, गरुडोपनिषद्, गोपाल तापनी उपनिषद् गोपालोत्तर तापनी उपनिषद्, तारा सारोपनिषद्, त्रिपाद्विभूति महानाराण उपनिषद्, दत्तात्रेयोपनिषद्, नारायणोपनिषद्, नृसिंहतापिनी उपनिषद्, नृसिंहोत्तरतापिनी उपनिषद्, रामतापिनी उपनिषद्, रामोत्तरतापिनी उपनिषद्, रामरहस्य उपनिषद्, वासुदेवोपनिषद् जिनके टीकाकार उपनिषद् ब्रह्मयोगिन् हैं। ये सब उपनिषद्, अनावश्यक वर्णन, क्रिया कर्म और मंत्रो से भरे हैं। इनका पचरात्र ग्रन्थो से कुछ भी सम्बध नही है। इनमें से कुछ उपनिषदो को, जैसे कि नृसिंहतापिनी, गोपालतापिनी इत्यादि वैष्णव-सप्रदाय के गौडिय पथ वालो ने अपना लिया है।

पंचरात्र साहित्य का स्थान

यामुन अपने 'आगम प्रामाण्य' ग्रन्थ मे पचरात्र की विशिष्ठता की इस प्रकार विवेचना करते हैं। उनका कथन है कि भाषा द्वारा दिया हुआ उपदेश या तो स्वतः प्रमाण होता है या अन्य प्रमाणो की वैधता द्वारा सिद्ध होता है। सामान्य मनुष्य का उपदेश स्वतः सिद्ध नही होता। पचरात्र से सम्बन्धित विशिष्ट आनुष्ठानिक प्रक्रियाएँ प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा ज्ञेय नही हैं। केवल ईश्वर ही पंचरात्र का विशिष्ट उपदेश दे

सकते हैं क्योंकि उनका ज्ञान अमर्यादित है और जगत् की सारी वस्तुओं तक पहुंचता है। यद्यपि इस मत के विरोधी यह कहना चाहते हैं कि यदि प्रत्यक्ष के क्षेत्र के अंतर्गत सब वस्तुएं आ जाती है तो वे प्रत्यक्ष हैं ही नहीं एवं उसके उपरान्त यह तथ्य कि कुछ वस्तुएं अन्य वस्तुओं से बड़ी हैं यह सिद्ध नहीं करता कि कोई भी वस्तु जो बड़ी या छोटी होने की क्षमता रखती हो उसकी असीम क्षमता हो।[1] फिर भी यदि यह मान लिया जाए कि कोई व्यक्ति ऐसा भी है, जिसके प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमा असीम है। इससे ऐसा मानने को बाध्य नहीं होना पड़ता कि वह व्यक्ति पंचरात्र के कर्मकाण्ड के विषय मे उपदेश दे सके, और कोई भी ऐसा आगम प्राप्त नहीं है जो पंचरात्र में कहे कर्म-काण्ड का आदेश देता हो। यह निश्चित भी नहीं किया जा सकता कि पंचरात्र के रचनाकारो ने अपने ग्रन्थो को वेदों के आधार पर रचा है या उन्होंने अपने स्व-कल्पित विचारों को जन्म दिया और वे वेद पर आधारित हैं ऐसा कह दिया। यह तर्क किया जाए कि पंचरात्र मनुस्मृति इत्यादि ग्रन्थो के समान वेदों पर आधारित होने के कारण ही प्रमाण रूप है, किन्तु यह मिथ्या सिद्ध होता है जब हम यह पाते हैं कि स्मृति मे, जो वेद पर आधारित हैं, पंचरात्र का विरोध किया गया है। अगर ऐसा कहा जाय कि पंचरात्र कर्म-काण्ड के अनुयायी अन्य वेद अनुयायी ब्राह्मणों जैसे ब्राह्मण हैं तो विरोधी पक्ष का यह कहना है कि पंचरात्र के अनुयायी बाह्य रूप से ब्राह्मण होने का दिखावा करें किन्तु समाज उन्हें ऐसा नही मानता। सहज सामान्य ब्राह्मण, भागवत और पंचरात्र के अनुयायी ब्राह्मणों के साथ सामाजिक भोज में एक पंक्ति में नहीं बैठते। सात्वत शब्द ही निम्न जाति का द्योतक है[2] और भागवत और सात्वत शब्द पर्यायवाची है। ऐसा कहा जाता है कि पंचम जाति के सात्वत लोग राजाज्ञा से मंदिर में पूजा करते हैं और वे भागवत कहलाते हैं। सात्वत, आजीविका के लिए मंदिर में पूजा करते हैं और दीक्षा तथा मूर्ति पर चढ़ाई भेंट से अपना निर्वाह करते हैं, उनका अन्य ब्राह्मणों से कोई भी सम्बंध नही है इसलिए वे ब्राह्मण नही कहे जा सकते। ऐसा भी कहा जाता है कि जो व्यक्ति आजीविका मात्र के लिए पूजा

[1] अथ एकस्मिन् सातिशये केनाप्यन्येन
निरतिशयेन भवितव्यम् इति आहोस्वित्
समान जातीयेनान्येन निरतिशयदशाम्
अधिरूढ़ेन भवितव्यम् इति ॥
न तावद् प्रथमः कल्पः कल्पतेऽनुपलम्भतः।
नहि दृष्टं शरावादि व्योमेव प्राप्त वैभवम् ॥ —आगम प्रामाण्य, पृ० ३।

[2] मनु ऐसा कहते हैं :
वैश्यात् तु जायते व्रात्यात् सुधन्वाचार्य एव च।
मारुषश्च निजङ्घश्च मैत्र—सात्वत एव च ॥ —आगम प्रामाण्य, पृ० ८।

करता है उसके दर्शन से ही लोग अपवित्र हो जाते हैं जिनकी शुद्धि योग्य प्रायश्चित कर्म द्वारा ही हो सकती है। पंचरात्र ग्रन्थ निम्न कोटि के सात्वत और भागवत अपनाते हैं, इसलिए ये ग्रन्थ अप्रमाण और अवैदिक माने जाने चाहिएँ। अगर ये ग्रन्थ वेद पर आधारित हैं तो उनका विशेष प्रकार के कर्म-काण्ड के प्रति आग्रह होना अर्थ-हीन है इसी कारण से बादरायण भी ब्रह्मसूत्र में पचरात्र के दार्शनिक मत का खण्डन करते हैं।

ऐसा तर्क अवश्य किया जा सकता है कि पचरात्र की विधि ब्राह्मण अतर्गत स्मृति साहित्य की विधियों से मेल नही खाती किन्तु ऐसे विरोध महत्त्व नहीं रखते क्योंकि दोनों ही वेद पर आधारित हैं। जबकि ब्राह्मणोक्त स्मृति की प्रमाणता भी वेद पर आधारित है तो पचरात्र को न इन स्मृतियों की विधि से सामंजस्य करने की आव-श्यकता है न इन स्मृतियो को पचरात्र की विधि से।

प्रश्न यह उठता है कि वेद किसी एक व्यक्ति की वाणी है या नही। वेद मनुष्य की कृति है इस कथन के समर्थन में यह तर्क दिया जाता है कि वेद एक साहित्य होने के नाते निश्चित रूप से मनुष्य की कृति है। दैवी पुरुष, जो पाप-पुण्य के मूल को साक्षात् देखता है वह अपनी कृपा से मनुष्य के हित के लिये वेद की रचना कर उसकी विधि देता है। मीमासाकार भी यही मानते हैं कि सासारिक जीवन का व्यवहार, पाप-पुण्य से प्रभावित है। इसलिये दैवी पुरुष जिसने जगत् उत्पन्न किया है वह पाप-पुण्य के मूल को साक्षात् देखता है। संसार हमारे कर्मों के प्रभाव से तत्क्षण उत्पन्न नही होता और हमे यह मानना ही पडेगा कि कोई ऐसी सत्ता है जो हमारे कर्मों के फलो का उपयोग करके उसके योग्य जगत् की रचना करती है। समस्त शास्त्र भी ऐसे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर के अस्तित्त्व का समर्थन करते हैं। इसी ईश्वर ने, एक तरफ, वेदो की रचना की और मनुष्यों को सासारिक एव स्वर्ग सुख प्राप्त कराने योग्य कर्मों की विधि दी और दूसरी तरफ, ईश्वर भक्ति से परमानद की प्राप्ति, और ईश्वर के स्वरूप की अनुभूति प्राप्त कराने के लिये पचरात्र ग्रथों की रचना की। कुछ लोग ऐसे भी है जो रचना से प्राप्त रचयिता, या सर्जक के तर्कसंगत निष्कर्षों को ठीक नहीं मानते और वेदों को नित्य सनातन और अपौरुषेय मानते हैं। इस दृष्टि से जिन कारणो से वेद और सवाद्री स्मृतियाँ प्रमाण हैं, ठीक उन्ही कारणो से पंचरात्र भी प्रमाण है। किन्तु सत्य तो यह है कि वेदो से ही हम जान पाते हैं कि उनका रचयिता परम पुरुष है। उपनिषद् में जिसे परमेश्वर कहा है वही वासुदेव है और वे ही पंचरात्र के रचयिता हैं। आगे और भी तर्क दिये जाते हैं कि वेद का प्रयोजन विधि-निषेधात्मक कर्म की आज्ञा ही देना नही है किन्तु दिव्य पुरुष के रूप में परम सत्ता की प्रकृति का वर्णन करना भी है। इसलिये हमें पचरात्र की प्रमाणता को स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि वह अपना मूल, दैवी पुरुष नारायण और वासुदेव

में बताता है। यामुन तत्पश्चात् वराह, लिंग एवं मत्स्य पुराण, मनु संहिता और अन्य स्मृति के पाठों की और संकेत करते हैं। यामुन अपने 'पुरुष निर्णय' ग्रंथ में विशद् रूप से शास्त्रों के तर्क की विवेचना करते हुए यह बताने की कोशिश करते हैं कि उपनिषद् और पुराण में कहे गये महान दैवी पुरुष, नारायण ही हैं। यह दैवी सत्ता शैवो का शिव नही हो सकती, क्योंकि तीन प्रकार के शैव मतानुयायी अर्थात् कापालिक, कालमुख और पाशुपत एक दूसरे की विरोधी आचार प्रक्रिया का विधान करते हैं। यह संभव नही है कि शास्त्र इस प्रकार के विरोधी आचारो की आज्ञा दे। इनके कर्मकाड भी प्रकट रूप से अवैदिक हैं। ये कर्म-काण्ड रुद्र से उत्पन्न हुए हैं इससे यह सिद्ध नही होता कि यह रुद्र वही है जिसका उल्लेख वेदो मे है। ऐसा हो सकता है कि ये जिस रुद्र का उल्लेख यह करते हैं, वह कोई अन्य पुरुष भी हों। वे उन अनेक पुराणो का भी उल्लेख करते हैं जिनमे शैवो की निंदा की गई है। अगर पचरात्र मत वेदोक्त होता तो हम वेद मे उन पाठो को ढूंढ पाते जो पचरात्र का आधार हैं, इस तर्क के विरोध में यामुन का कथन है कि पचरात्र ग्रथ ईश्वर ने उन भक्तो के हित के लिए स्वय रचे हैं जो वेदोक्त बहुश्रम साध्य क्रियाओ से घबड़ा गये थे। इसलिये वेद मे पंचरात्र ग्र थो के समर्थक पाठ न पाये जाने का कारण समझा जा सकता है। जब शांडिल्य ने चारो वेदो मे अपने अभीष्ट हेतु को प्राप्त करने का कोई साधन नहीं पाया तब वे भक्ति की तरफ झुके, इसका कथन मतलब वेद की निंदा नही है। इसका अर्थ यही होता है कि पचरात्र मे अभीष्ट प्राप्त करने का साधन वेद से भिन्न है। पचरात्र, वेदोक्त कर्मकाण्ड के अलावा अपने विशेष कर्मकाण्ड की विधि बताते हैं, इससे वे अवैदिक सिद्ध नही होते। क्योंकि जहां तक हम यह प्रमाणित नही कर पाते कि पचरात्र अवैदिक है वहां तक पचरात्रोक्त विशेष विधि भी अवैदिक है ऐसा नही कह सकते अन्यथा यह तर्क चक्राकार दोष से बच नही सकता। यह गलत है कि पचरात्रोक्त विशेष कर्मकाण्ड वेदोक्त कर्मकाण्ड के सचमुच विरोधी है। यह भी गलत है कि बादरायण ने पचरात्र का खण्डन किया है। अगर उन्होंने ऐसा किया होता तो महाभारत में वे उसकी वकालत क्यो करते ? पचरात्र मत में चार व्यूहो को स्वीकार किया गया है इससे यह अर्थ नही निकलता कि वे अनेकेश्वरवादी हैं क्योंकि चार व्यूह, दैवी पुरुष वासुदेव की ही अभिव्यक्ति हैं। बादरायण के ब्रह्म सूत्रो का ठीक तरह से अर्थ किया जाय तो पता लगेगा कि वे, पंच-रात्र का विरोध नही करते अपितु उनका समर्थन हैं।

समाज के अति सम्माननीय लोग मूर्ति-पूजा में उन सब क्रिया-कलापो का पालन करते हैं जिन्हे पंचरात्र मे कहा है। विरोधी पक्ष का यह तर्क कि भागवत अब्राह्मण हैं, दोषयुक्त है, क्योकि भागवत वही चिन्ह धारण करते हैं जो अन्य ब्राह्मण धारण करते हैं। मनु ने पचम जाति को सात्वत कहा है इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि सब

शात्वत पंचम जाति के हैं। तदुपरांत, विरोधी पक्षो का सात्वत शब्द का अर्थ पचम है ऐसा मानना अनेकों शास्त्रो के विरुद्ध है क्योकि वे शास्त्र सात्वतो की प्रशसा करते हैं। कुछ सात्वत मूर्ति या मदिर बनाकर या मंदिर से सम्बधित अन्य कार्यों द्वारा जीवन निर्वाह करते हैं इससे यह परिणाम नही निकलता कि भागवतो का यही धर्म है। इस प्रकार यामुन ने अपने 'आगम प्रामाण्य' और 'काश्मीरागम प्रामाण्य' में यह सिद्ध करने की कौशिश की है कि पचरात्र वेद की तरह प्रमाण हैं क्योंकि उनका मूल उद्गम स्थान एक ही दैवी पुरुष नारायण हैं।[1]

दसवी शताब्दी से लेकर १७वी शताब्दी तक शैव और श्री वैष्णव दक्षिण में एक साथ रहे जहाँ शैव मतानुयायी राजाओं ने श्री वैष्णवो को सताया और उनके मंदिर के देवताओ की अवहेलना की और श्री वैष्णव पथी राजाओं ने शैवो और उनके मदिरो के देवताओ से भी उसी प्रकार का व्यवहार किया। इसलिए यह समझ में आता है कि ये भिन्न पथ के अनुयायी एक-दूसरे के खण्डन में व्यस्त रहते थे। इन विवाद-पूर्ण ग्रन्थो में 'सिद्धान्त रत्नावली' नामक एक ऐसा महत्वपूर्ण व विशद ग्रन्थ प्राप्त होता है जिसके रचयिता वेकट सुधी है। वे वेंकटनाथ के शिष्य थे और श्री शैल ताताचार्य के पुत्र और श्री शैल निवास के भाई थे। 'सिद्धान्त रत्नावली' चार अध्याय का ग्रन्थ है जिसमे ३००,००० से अधिक वर्ण है। वेंकट सुधी का जीवन-काल १४वी और १५वी शताब्दी था, उन्होंने कम से कम 'रहस्य त्रय सार' और 'सिद्धान्त वैजयन्ती' नामक दो ग्रन्थ और लिखे।

पचरात्र का सक्षिप्त वर्णन करने वाले अनेक ग्रन्थ लिखे गए है। इनमे गोपाल सूरि का 'पचरात्र रक्षा-सग्रह' अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रतीत होता है। गोपाल सूरि कृष्ण दैशिक के सुपुत्र थे और वेदान्त रामानुज के शिष्य थे, जो स्वय कृष्ण दैशिक के शिष्य थे। उनकी 'पचरात्र-रक्षा' पचरात्र के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थो वर्णित विभिन्न क्रिया-कलापो का वर्णन करती है।

ऐसा प्रतीत होता हैं कि बहुत से लेखक पचरात्र को वेद पर आधारित नहीं मानते थे यद्यपि श्री वैष्णव, पचरात्र को वेद जितना ही प्रामाणिक मानते थे।[2] सांख्य और योग की तरह इसे वेद के उप ग्रन्थ के रूप मे माना जाता था। यामुन के

---

[1] आगम प्रामाण्य में पृ० ८५ पर 'काश्मीरागम' का उल्लेख है इस ग्रन्थ में यामुन ने उन्हीं विषयो पर विवेचना की है जो 'आगम प्रामाण्य' में है, उपरोक्त ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति नही मिली है।

[2] वेंकटनाथ व्यास का उद्धरण देते हुए यो कहते हैं :

इदं महोपनिषद चतुर्वेदसमन्वितम्।
सांख्ययोगकृतान्तेन पंचरात्रानुशब्दितम्॥ —सेश्वर मीमासा पृ० १६।

कथनानुसार उन भक्तों के लिए जो विशाल वैदिक साहित्य का अध्ययन करने मे अक्षम थे इसमे वेदकी शिक्षाओं का संक्षेप था। मन्दिरों और मूर्तियो के निर्माण के सम्बन्ध में निर्देश मूर्ति-पूजा से सम्बन्धित अनेक क्रिया-कलापो का वर्णन तथा श्री वैष्णवो के कर्तव्य एव धर्मानुरूप कर्मकाण्डो का विशद रूप से वर्णन जैसे दीक्षा, नामकरण और धार्मिक चिह्नो का धारण आदि पचरात्र साहित्य के मुख्य विषय हैं। मूर्ति पूजा का प्रचलन स्पष्ट रूप से अवैदिक है किन्तु इसका प्रचार ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में था इसके अनेको प्रमाण प्राप्त हैं। इस विधि का उद्‌गम कैसे हुआ और भारत के किस जाति के लोग इसके मूल प्रवर्तक रहे यह कहना कठिन है। वेद के अनुयायी और मूर्ति पूजको के बीच सघर्ष लम्बे समय का है, तो भी हम यह जानते हैं कि ईसा के पूर्व २ शताब्दी मे भी भागवत सप्रदाय दक्षिण ही मे नही, उत्तर मे भी पूरी जीवित स्थिति मे था। बेसनगर के स्तम्भ के साक्ष्य से पता चलता है कि यूनानी लोग भी किस प्रकार भागवत धर्म में परिवर्तित किए गए थे। महाभारत मे भी सात्वत क्रिया कलापो का उल्लेख है–जिसके अनुसार विष्णु की पूजा की जाती थी और वहाँ पर पंचरात्र के व्यूह-सिद्धान्त का भी उल्लेख है। नारायणीय विभाग में पचरात्र-पूजा का स्थान श्वेत द्वीप है ऐसा सूचित किया गया है। वही से पचरात्र मत, भारत मे आया। लेकिन विद्वानो का प्रयत्न श्वेत द्वीप की भौगोलिक स्थिति को स्थिर कर पाने में अभी तक असफल रहा है।

पुराण एव स्मृति-साहित्य में भी ब्राह्मण सत्ता के साथ सघर्ष प्रकट रूप से पाया जाता है। इस प्रकार कूर्म पुराण के पन्द्रहवें अध्याय में भी यह कहा गया है कि पचरात्रो का जन्म, पूर्व जन्म में गो हत्या के महापाप के फलस्वरूप हुआ है एव वे पूर्ण रूप से अवैदिक हैं और शाक्त, शैव एवं पचरात्र के धर्म ग्रन्थ मानव को भ्रम मे डालने वाले हैं।[१] पराशर पुराण में भी यह कहा है कि पंचरात्र के अनुयायी शाप भ्रष्ट

किसी समय कभी पचरात्र वेदो का मूल माना जाता है और कई बार वेद को पचरात्र का मूल बताया जाता है। इस प्रकार वेकटनाथ उपरोक्त अनुसंधान में व्यास का उद्धरण देते हैं जिसमे पचरात्र वेदो का मूल है ऐसा कहा गया है 'महतो वेद वृक्षस्य मूल भूतो महान् श्रयम्' वे दूसरे अवतारण का उद्धरण देते हैं जिसमें वेद को पचरात्र का मूल माना गया है–'श्रुति मूलम् इद तंत्रं प्रमाण कल्प सूत्रवत्' दूसरी जगह वे पचरात्र को वेद का विकल्प कहते हैं–'अलाभे वेदमत्राणां पचरात्रो-दितेन वा।'

[१] का पाल गारुद शाक्त भैरव पूर्व-पश्चिम्।
पंचरात्र, पाशुपत्त तथा न्यानि सहस्त्रशः॥ –कूर्म पुराण, अध्याय १५।

हैं।[1] वसिष्ठ संहिता, सांब पुराण व सूत-संहिता आदि में उनको महापात की और पूर्णतः अवैदिक कहकर पूरी शक्ति से उनकी निंदा की गई है। उनके विरुद्ध दोष आरोप का अन्य कारण यह भी था कि वे पंचरात्री अपने सम्प्रदाय के अंतर्गत स्त्रियो एवं शूद्रों को भी प्रवेश देते थे। अश्वलायन स्मृति के अनुसार केवल जाति से बहिष्कृत व्यक्ति ही पचरात्रों के धर्म चिह्नों को स्वीकार करते हैं। बृहन्नारदीय पुराण के चौथे अध्याय में यहाँ तक कहा गया है कि पचरात्री के साथ वार्तालाप करने से नरक में जाना पडेगा। इसी प्रकार का निषेध कूर्म-पुराण मे भी पाया जाता है एव यह भी कहा है कि उनको (पचरात्रियों को) अत्येष्टि क्रिया में सम्मिलित नही किया जाना चाहिए। वायु-पुराण का समर्थन देते हुए श्री हेमाद्रि का कथन है कि यदि कोई ब्राह्मण पचरात्र में परिवर्तित हो जाता है तो, वह संपूर्ण वैदिक अधिकारों से च्युत हो जाता है। लिंग-पुराण भी उन्हे सर्वधर्म-बहिष्कृत कहते हैं। आदित्य और अग्नि पुराण भी जो पचरात्रो के साथ किसी भी प्रकार का सम्बध रखते हैं उनसे पूर्ण विरोध प्रगट करते हैं। विष्णु, सातापत, हारीत, बोधायन और यम सहिता भी पचरात्रियो और उनके साथ सम्बध रखने वालो से पूर्ण विरोध प्रकट करते हैं। फिर भी पचरात्री, वेद के अनुयायियो के प्रति मैत्री भाव रखते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि पचरात्री अल्प सख्या मे थे जिन्हे अपने रक्षण का भय रहता था और वैदिक धर्म-परायणों की निंदा करने की हिम्मत नही कर सकते थे। कुछ ऐसे भी पुराण हैं जैसे कि विष्णु पुराण, भागवत और महाभारत, जो उनके बहुत पक्ष मे हैं। यह विचित्र बात है कि पुराणों के कुछ भाग पचरात्र के पक्ष में है और कुछ कट्टरपन के साथ विपक्ष मे है। पचरात्रियो के अनुकूल पडने वाले पुराण हैं, विष्णु, नारदीय, भागवत, गरुड, पद्म और वराह जो सात्विक पुराण कहलाते हैं।[2] इस प्रकार स्मृतियो

(दीक्षित के तत्व कोस्तुभ से उद्धृत, किन्तु यही कुछ हेर फेर के साथ छपी प्रति मे १६वे अध्याय मे मिलता है)।

स्कद पुराण भी कहता है :

पचरात्रे च कापाले, तथा काल मुखेऽपिच।
शाक्ते च दीक्षिता यूय भवेत ब्राह्मणाधमाः॥

[1] द्वितीयं पांचरात्रे चा तंत्र भागवते तथा।
दीक्षिताश्च द्विजा नित्यं भवेयुः गर्हिता हरे.॥
(भट्टो जी दीक्षित के तत्व कौस्तुभ से उद्धृत) पाण्डुलिपि पृ० ४।

[2] प्रमाण संग्रह का ऐसा मत है :

वैष्णव नारदीयं च तथा भागवत शुभ।
गारुड च तथा पाद्म वाराह शुभ दर्शने
सात्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि च षट् पृथक्। –तत्व कौस्तुभ, पाण्डुलिपि पृ० १३।

में वासिष्ठ, हारीत, व्यास, पाराशर और काश्यप श्रेष्ठ मानी गई हैं।[1] 'प्रमाण संग्रह' नामक ग्रन्थ, पचरात्र के कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तो का उल्लेख करते हुए उनकी प्रमाणिकता, उपरोक्त पुराण और स्मृति द्वारा तथा महाभारत, गीता, विष्णु धर्मोत्तर, प्राजापत्य स्मृति, इतिहास समुच्चय, हरिवंश, वृद्ध मनु, शांडिल्य स्मृति और ब्रह्माण्ड पुराण के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न करता है।

पंचरात्र साहित्य

पचरात्र साहित्य विशाल है और उसके कुछ ही छपे हुए ग्रन्थ प्राप्त हैं। प्रस्तुत लेखक को बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह करने का अवसर मिला है, यहाँ उनका संक्षिप्त वर्णन करने का प्रयत्न किया जायगा यद्यपि इनका दार्शनिक दृष्टि से महत्व नही है। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण सहिता, सात्वत सहिता है। महाभारत, अहिर्बुध्न्य संहिता, ईश्वर सहिता और अन्य सहिताओं मे सात्वत का उल्लेख है। सात्वत सहिता मे हम ऐसा उल्लेख पाते हैं कि श्री भगवान् ने ऋषियो के लिए, सकर्षण से प्रार्थना किए जाने पर, पचरात्र शास्त्र का प्रवर्तन किया।[2] इस ग्रन्थ के २४ अध्याय हैं जो नारायण से उत्पन्न चार विभव देवताओ की पूजा-विधि, परिधान और आभूषण तथा अन्य विशेष प्रकार की पूजा, मूर्ति-स्थापना इत्यादि विषयो पर प्रकाश डालते हैं। ईश्वर सहिता में लिखा है कि एकायन वेद, जो समस्त वेदो के स्रोत हैं, वासुदेव के साथ उत्पन्न हुए और पुरातन काल से सब वेदो के मूल के रूप में स्थित रहे, उन्ही से आगे चलकर उद्भूत होने के कारण उनका नाम विकार-वेद पड़ा। जब ये वेद प्रकट हुए तब लोग अधिकतर ससारी हो गए थे अतः वासुदेव ने एकायन वेद को गुप्त कर लिया और कुछ ही चुने हुए व्यक्तियो के सामने, जैसे कि सन, सनत्सुजाति, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल और सनातन जो एकान्तिन कहलाते थे, इसे प्रकट किया। मरीचि, अत्रि, अगिरस, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु, वसिष्ठ, स्वयंभुव इत्यादि अन्य ऋषियों ने एकायन वेद नारायण से पढा, उसी आधार पर एक ओर पचरात्र साहित्य पद्य में लिखा गया तथा दूसरी ओर मनु एवं अन्य ऋषियों द्वारा अनेक धर्मशास्त्र लिखे गए। सात्वत, पौष्कर और जयाख्य तथा अन्य ऐसे पचरात्र ग्रन्थ सकर्षण के आदेशानुसार, एकायन वेद के मूल सिद्धान्तो के आधार पर लिखे गए, जो आगे जाकर लुप्त हो गए। शांडिल्य ने भी एकायन वेद के सिद्धान्त संकर्षण से सीखे और फिर उन्होने ऋषियों को सिखाया। नारायण द्वारा सिखाई गई एकायन वेद की अन्तर्वस्तु सात्विक का शास्त्र कहा गया है; और अन्य शास्त्र जो अशतः एकायन वेद पर आधारित हैं और

[1] उसी ग्रन्थ में पृ० १४।

[2] कांजीवरम् से प्रकाशित १६०२।

प्रशतः ऋषियों की अपनी रचनाएँ हैं, वे राजस शास्त्र कहे गए और जो केवल मनुष्य की कृतियाँ है, उनका नाम तामस शास्त्र पड़ा। राजस शास्त्र दो प्रकार के हैं; पंचरात्र और वैखानस। सात्वत, पौष्कर और जयाख्य, सम्भवतः ऋषियो द्वारा लिखे गए पंचरात्र के आदि ग्रन्थ है। इनमे से भी सात्वत सर्वोत्तम माना गया है क्योंकि इसमें नारायण और सकर्षण के बीच सवाद है।

ईश्वर सहिता मे २४ अध्याय हैं जिनमें से १६ अध्यायों में पूजा-विधि का वर्णन है। इसके बाद मूर्ति, दीक्षा, ध्यान, मत्र, शुद्धि, आत्म-निग्रह और एक यादव पर्वत की पवित्रता का एक-एक अध्याय में वर्णन मिलता है।[1] पूजा विधि के अध्याय में इत.स्ततः दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है जो श्री वैष्णव दर्शन और धर्म के आधार है।

हय शीर्ष सहिता चार विभागो मे लिखी गयी है। पहला विभाग प्रतिष्ठा काण्ड है जिसमे ४२ अध्याय है, दूसरा ३७ अध्यायो वाला सकर्षण है। लिंग नामक तीसरा भाग २० अध्यायो का है और चौथा जिसे सौरकाण्ड कहते हैं, ४५ अध्यायो का है।[2] सभी अध्यायों मे अनेक लघु देवों की मूर्ति-प्रतिष्ठा सम्बघी क्रिया, मूर्ति बनाने के प्रकार और अन्य कर्मकाड का वर्णन मिलता है। विष्णु तत्त्व सहिता में ३६ अध्याय हैं जिनमे मूर्तिपूजा-विधि, स्नान, वैष्णव-चिह्न और शुद्धि के विषय का ही विस्तार से उल्लेख है। परम सहिता में ३६ प्रकरण है जिनमे मुख्यत सृष्टि-प्रक्रिया, दीक्षा-विधि तथा अन्य पूजा-विधियो का वर्णन हुआ है।[3] दसवे अध्याय मे योग का उल्लेख है। यहां ज्ञान और कर्म योग की चर्चा है, ज्ञान योग को कर्म योग से श्रेष्ठ बताया गया है यद्यपि दोनों मे सह अस्तित्व माना गया है। ज्ञान योग अशत. व्यावहारिक दर्शन है जिसके द्वारा इन्द्रियों की समस्त प्रवृत्तियो का निरोध करने का प्रयास है। इसमें समाधि अर्थात् ऐकान्तिक एकाग्रता और प्राणायाम के अभ्यास का भी समावेश है। योग का प्रयाम जोडना अर्थात् अपने को किसी से आबद्ध कर देना, अर्थ में किया गया है। योग का अभ्यासी मन को ईश्वर मे एकाग्रत करता है और ऐकान्तिक समाधि द्वारा अपने को समस्त ससार-बधनों से मुक्त करता है। यहा कर्मयोग क्या है यह स्पष्ट नहीं किया गया है, सम्भवतः इसका अर्थ विष्णु-पूजा से है। पराशर संहिता में जो पाण्डुलिपि के रूप मे ही उपलब्ध है, ८ अध्याय है जिसमे ईश्वर के नाम-जप का विधान है।

---

[1] काजीवरम् से प्रकाशित १६२१।

[2] यह लेखक को पाण्डुलिपि प्रति मे ही मिलता है।

[3] यह भी हस्तलिखित ही मिला है।

पद्मसंहिता में ३१ अध्याय हैं जिसमें अनेक प्रकार के कर्मकाण्ड, मंत्रजप, भेंट, धार्मिक उत्सव इत्यादि का वर्णन है।[1] परमेश्वर संहिता मे १५ अध्याय है जिसमे मत्रो का ध्यान, यज्ञ कर्मकाण्ड-विधि और शुद्धि कर्मों का वर्णन है।[2] पौष्कर संहिता, जो प्राचीन ग्रन्थो मे से एक है, ४३ प्रकरण की है जिसमें मूर्तिपूजा के विविध प्रकार, अंत्येष्टि यज्ञ और कुछ दार्शनिक प्रसगों का उल्लेख है। ग्रन्थ के 'तात्वसंख्यान' नामक विशिष्ट अध्याय में कुछ दार्शनिक प्रसगो की चर्चा की गई है। फिर भी ये विशेष महत्व के नही है अत. इनको छोडा जा सकता है। प्रकाश संहिता में दो प्रकरण हैं; जिसका पहला प्रकरण 'परमतत्वनिर्णय' १५ अध्यायो वाला है और दूसरा 'परमतत्व-प्रकाश' कहलाता है जिसमे १२ अध्याय ही है।[3] महासनत्कुमार संहिता में कुल मिलाकर ४ अध्याय और ८० खण्ड हैं जिसमे सम्पूर्णत: पूजा-विधि का वर्णन है। यह वृहद् ग्रन्थ है जिसमे १०,००० पद्य हैं। इस ग्रन्थ के ब्रह्म-रात्र, शिवरात्र, इन्द्ररात्र और ऋषिरात्र नामक चार अध्याय हैं। अनिरुद्धसंहिता महोपनिषद् के ३४ अध्याय है जिनमे अनेक कर्म-काण्ड, दीक्षा विधि, प्रायश्चित-कर्म, मूर्ति-स्थापना और मूर्ति निर्माण की विधि दी हुई है।[4] काश्यप संहिता में १२ प्रकरण है जिसमे मुख्यत विष और मन्त्रोच्चारण द्वारा विष के निवारण का उल्लेख है। विहगेन्द्र संहिता मे अधिकाश मत्रो का ध्यान और यज्ञ बलि का उल्लेख २४ अध्यायो मे किया गया है। १२वें अध्याय मे पूजा विधि के अतर्गत विस्तार के साथ प्राणायाम या प्राणो के नियमन के बारे मे उल्लेख है। सुदर्शन संहिता मे ४१ अध्याय है जिसमे मत्र जप और प्रायश्चित का समावेश है। अगस्त्य संहिता में ३२ प्रकरण है, वसिष्ठ में २४, विश्वामित्र मे २६ और विष्णु संहिता मे ३० अध्याय है। ये सब हस्तलिखित हैं और न्यूनाधिक रूप मे आनुष्ठानिक पूजा विधि का ही वर्णन करते हैं। विष्णु संहिता साख्य मत से अधिक प्रभावित है और पुरुष को सर्वव्यापी मानती है। इसमे पुरुष की गत्यात्मक सक्रियता प्रतिष्ठित हुई है जिससे ही प्रकृति का विकास सभव है। पच इन्द्रियो की पाँचो शक्तियां विष्णु की शक्ति मानी गई है। विष्णु की शक्ति के स्थूल और सूक्ष्म दोनो ही रूप होते है। अपने पर रूप मे वह चित् शक्ति रूप है, विश्व की शक्ति है, कारण शक्ति है, जिसके द्वारा चैतन्य विषय को ग्रहण करता है तथा वह सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान् भी है। सूक्ष्म रूप में, ये पाँचो शक्तिया ईश्वर की सूक्ष्म देह बनी हुई हैं। विष्णु संहिता के १३वें अध्याय में योग और उसके छह सहायक षडगयोग का वर्णन है और यह भी बताया गया है कि किस प्रकार योग-मार्ग

---

[1] यह भी हस्तलिखित ही प्राप्त है।

[2] यह भी हस्तलिखित ही प्राप्त है।

[3] यह भी हस्तलिखित ही प्राप्त है।

[4] यह भी हस्तलिखित ही प्राप्त है।

द्वारा मक्ति प्राप्त हो सकती है। इसे भागवत योग की सज्ञा दी गई है। यहा पर हमें ध्यान में रखना चाहिये कि जीव को इस मत में सर्वव्यापी माना है जो श्री वैष्णव मत के विरुद्ध है। योग के अष्टांगमार्ग की बहुधा अनुशंसा की गई है जिसे की वैष्णव सम्प्रदाय के आरम्भिक अनुयायी जब, तब उपयोग में लाते रहे, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। मार्कण्डेय संहिता में ३२ प्रकरण हैं जिसमें १०८ संहिताओं का उल्लेख है और ९१ संहिताओं की सूची दी गई है।[1] यह अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ हैं जिसे रामानुज, सौम्य जामातृ मुनि तथा अन्य आचार्यों ने अपनाया है। हिरण्यगर्भ संहिता के ४ अध्याय हैं।

जयाख्य तथा अन्य संहिताओं का तत्वदर्शन

पचरात्र साहित्य वस्तुतः विशाल है, किन्तु इस साहित्य का अधिकांश भाग कर्म-काण्ड के विस्तृत विवरणो से पूर्ण है उसमें दर्शन का अश बहुत कम है। प्राप्त सहिताओं में है जिनमे दर्शन का कुछ अंश मिलता है वे केवल जयाख्य सहिता, अहिर्बुध्न्य सहिता, विष्णु सहिता विहगेन्द्र-संहिता, परम सहिता और पौष्कर संहिता है। इनमें से भी जयाख्य और अहिर्बुध्न्य सहिताएँ विशेष महत्त्वपूर्ण है।

जयाख्य, आरम्भ मे इस सिद्धान्त को लेकर चलता है कि केवल यज्ञ, दान, वेदाध्ययन और शुद्धिकर्म द्वारा कोई भी स्वर्ग या बधन से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जबतक हम पर-तत्त्व को नही पहचानते, जो सर्वव्यापक, नित्य, स्वसंवेद्य, शुद्ध चैतन्य है और जो अपनी इच्छा के अनुरूप अनेक रूप धारण कर सकता है, तब-तक मुक्ति की आशा व्यर्थ है। यहां पर तत्त्व हमारे हृदय में वास करता है और स्वरूप से निर्गुण है यद्यपि वह गुणो से आवृत (गुण गुह्य) है और नामरहित (अनामक) है।

अनेक ऋषि गधमादन पर्वत पर शाडिल्य के पास पहुँचे और उनसे जिज्ञासा की कि परमतत्त्व किस प्रकार जाना जा सकता है। शांडिल्य उत्तर देते हुए बोले कि यह ज्ञान परम गुह्य और प्राचीन है, वह उन्ही आस्तिको को दिया जा सकता है जिनमें उत्कट गुरु-भक्ति है। सर्व प्रथम इस ज्ञान का उपदेश श्री विष्णु ने नारद को दिया। भगवान विष्णु ही हमारे प्राप्य हैं और वे शास्त्र द्वारा ही पाए जा सकते हैं और शास्त्र गुरु से ही सीखे जा सकते है। इसलिए गुरु ही परमतत्व की प्राप्ति के लिए मूल एवं प्रथम साधन हैं जो शास्त्र अध्यापन द्वारा ऐसा ज्ञान कराता है।

जयाख्य सहिता तत्पश्चात् तीन प्रकार की सृष्टि का वर्णन करती है उनमे प्रथम ब्रह्म सर्ग है जो मुख्यतः पौराणिक प्रकृति का है। उसमें यह उल्लेख है कि सर्व

---

[1] ये भी हस्तलिखित हैं।

प्रथम विष्णु ने ब्रह्मा की उत्पत्ति की, ब्रह्मा ने ग्रहंकारवश अपनी बनायी सृष्टि को अशुद्ध बना दिया। तत्पश्चात् स्वेद के दो कणों से उत्पन्न मधु और कैटभ नामक दैत्यों ने वेदों को चुरा कर बड़ा क्षोभ मचा दिया। विष्णु अपनी शारीरिक शक्ति से उनसे लड़े किन्तु असफल रहे, फिर वे मंत्र-शक्ति द्वारा लडे और अन्त में उन्होंने उनका नाश किया।

दूसरा सर्ग सांख्य दर्शन में उपवर्णित तत्वों के विकास का है। जयाख्य संहिता मे ऐसा कहा है कि प्रधान मे तीनो गुण परस्पर एकता से एक साथ रहते हैं। जिस प्रकार बत्ती, तेल और अग्नि तीनो एक साथ कार्य करते हुए दीप की एकता बनाते हैं ठीक उसी प्रकार तीनों गुण एक साथ रहकर प्रधान बने है। यद्यपि ये तीनों भिन्न-भिन्न हैं किन्तु प्रधान मे एकात्म भाव से रहते हैं (भिन्नम् एकात्म लक्षणम्)। एकात्म स्थिति से गुणो का पृथक्करण होने पर पहले सत्व निकलता है तत्पश्चात् रजस् और अन्त मे तमस्। गुणो की इस त्रिगुण इकाई से बुद्धि तत्व पैदा होता है और बुद्धि से तीन प्रकार के अहकार उत्पन्न होते है जो प्रकाशात्मा, विकृतात्मा और भूतात्मा कहलाते है। प्रथम अहकार से, जो तेजस या प्रकाशात्मा कहलाता है पच ज्ञानेद्रिय और मनस् की उत्पत्ति होती है। दूसरे अहकार से, पच कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं। भूतात्मा नामक तृतीय अहकार से भूतयोनि या तन्मात्राएँ उत्पन्न होती है और तन्मात्राओ से पचभूत की उत्पत्ति होती है। प्रकृति स्वभावतः जड और भौतिक है इसलिए प्रकृति का विकास भी जैसी आशा की जानी चाहिए, निसर्गत. भौतिक ही होता है। इस सम्बन्ध मे यह स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि भूत पदार्थ अन्य भूत पदार्थों को कैसे उत्पन्न कर सकते है। उत्तर इस प्रकार दिया जाता है कि यद्यपि धान का बीज और चावल निसर्गतः भौतिक हैं तो भी बीज मे सर्जन-शक्ति है, चावल मे नही, उसी प्रकार यद्यपि प्रकृति और उसके विकासज दोनो प्रकृत्या भौतिक हैं, फिर भी एक दूसरे से उत्पन्न होता है। जड प्रकृति से विकसित तत्व ब्रह्म से अभिन्न शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा के प्रकाश द्वारा व्याप्त होने के कारण चैतन्य युक्त दीखते हैं।[1] जिस प्रकार लोहे का टुकडा चुम्बक की शक्ति ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार प्रकृति, ब्रह्म से एक रस आत्मा के साहचर्य से, चैतन्य-विशिष्ट हो जाती है।

---

[1] चिद् रूपं आत्म तत्व यद् अभिन्न ब्रह्मणि स्थित।
तैनैतच्छुरित भाति अचिच् चिन्मय वद् द्विज।

—जयाख्य संहिता (हस्त०) ३–१४।

जब यह प्रकरण लिखा गया था जब जयाख्य संहिता छपी नही थी। अब गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज मे छप गई है।

प्रश्न यह उठता है कि जब जड़ और चेतन एक दूसरे से प्रकाश और अंधकार की तरह भिन्न हैं तो जड़ प्रकृति और शुद्ध चैतन्य में क्या कोई साहचर्य हो सकता है। उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि जीव, विशुद्ध चैतन्य के सत्य अनादि वासना के योग का परिणाम है। इस वासना को दूर करने के लिए ब्रह्म में से एक विशिष्ट शक्ति उत्पन्न होती है कि जीव के अंतर्गत शुद्ध चैतन्य, उसके कर्मों के नाश के कारण वासना रहित होकर अन्त में ब्रह्म से एक रस हो जाता है। कर्म, पात्र रूपी वासना के साहचर्य से ही फल देते हैं। आत्मा या जीव का ईश्वर-शक्ति द्वारा ही गुणो से सयोग होता है, इस कारण वह अपनी वासनाओं को जान सकता है[1] जो प्रकृत्या जड हैं और गुणो से उद्भूत होती हैं। जहाँ तक जीव माया से आवृत है वहाँ तक वह अच्छा बुरा अनुभव प्राप्त करता है। चैतन्य का जड से सम्बन्ध ईश्वर की विशिष्ट शक्ति द्वारा होता है, जो आत्मा को माया के सयोग से अनेक भोगो का अनुभव कराता है। बंधन के टूटते ही शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा ब्रह्म से एक हो जाती है।

तृतीय सर्ग शुद्ध सर्ग है, जिसमे वासुदेव अपने में से अच्युत, सत्य और पुरुष नामक तीन उपदेवो को प्रकट करते है जो वासुदेव मे अभिन्न हैं और उनकी कोई भिन्न सत्ता नही है। पुरुष रूप से वासुदेव सारे देवो के अतर्यामी बन कर उन्हे कार्य करने की प्रेरणा एव नेतृत्व प्रदान करते है। ईश्वर इसी रूप में, वासना से निगडित मनुष्यो मे कार्यरत है और उन्हे उन मार्गों पर प्रेरित करता है जिससे वे अन्त में बंधन-रहित हो जाँय।

ईश्वर आनदमय एव चैतन्य है, वह सबसे परे, परम और अतिम सत्ता है, वह स्वयभू है और सबका आधार है। वह अनादि और अनन्त है जिसे सत् या असत् नही कहा जा सकता (न सत् तन् नासदुच्यते) वह निर्गुण है किन्तु गुण से उत्पन्न सभी विषय का भोग करता है जो हमारे बाहर और भीतर बसा हुआ है। वह सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा और सर्वाधिपति है और सभी उसमें विद्यमान हैं। वह अपने में सारी शक्तियो का सयोजन करता है और उसमे सारी क्रियाएँ सहज रूप से होती रहती हैं। वह सबो में व्यापक है तो भी असत् कहलाता है क्योकि वह इन्द्रिय-गोचर नहीं हैं। किन्तु जिस प्रकार फूलो का सुगंध स्वतः उपलब्ध होती है, उसी प्रकार वह भी स्वसवेद्य है।[2] जगत् की सारी सत्ता उसमें निहित है, और वह देश काल के बंधन

---

[1] मायामये द्विजाधारे गुणाधारे ततो जड़े।
शक्त्या संयोजितो ह्यात्मा वेत्त्यात्मीया च वासना.॥

—जयाख्य संहिता, ३–२४।

[2] स्व संवेद्यं तु तद् विद्धि गंन्ध: पुष्पादिको यथा।

—जयाख्य स० ४–७६।

से परे है। जिस प्रकार तप्त अयागोलकी में अग्नि, गोले से अभिन्न होकर रहता है उसी प्रकार ईश्वर सारे जगत् में व्याप्त है। जिस प्रकार दर्पण मे प्रतिबिंबित वस्तु एक दृष्टि से दर्पण के अन्दर और दूसरी दृष्टि से उसके बाहर है ठीक उसी प्रकार ईश्वर एक दृष्टि से ऐन्द्रिय गुणो से, सयुक्त और दूसरी दृष्टि से असयुक्त दोनो ही है। ईश्वर जड और चेतन दोनो मे उसी तरह व्याप्त है जैसे औषधियो में रस।[१] ईश्वर की सत्ता तर्क और प्रमाणो द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती। उसकी सर्वव्यापी सत्ता उसी प्रकार अवाच्य और अप्रदर्शनात्मक है जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि और दूध में मक्खन। वह सहज सिद्ध है। जिस प्रकार काष्ठ अग्नि मे प्रवेश करते ही अपने अस्तित्व को मिटा देता है और सारी नदियाँ समुद्र में लीन होकर एकरस हो जाती है उसी प्रकार योगी ईश्वर मे प्रविष्ट होकर उससे अभिन्न हो जाता है। ऐसी स्थिति में नदियो और सागर मे, जिसमे वे मिलती है, भेद है, फिर भी वह अलक्ष्य है।[२] ईश्वर और भक्त मे भी सागर और नदी के जल की तरह भेद और अभेद दोनों हैं। यह स्थिति ईश्वर के भक्तो मे भी विद्यमान है। सिद्धान्त यहाँ जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया जा रहा है वह भेदाभेदवाद अनेकत्व में एकत्व का सिद्धान्त है।

यहा ब्रह्म चैतन्य से अभिन्न माना गया है और सारे ज्ञेय पदार्थ अतःकरणस्थ स्वीकृत हुए हैं।[३] सत्य ज्ञान उपाधि-रहित है, जिन्होंने ईश्वर से एकात्म होना सीखा है उन्हें वह योग द्वारा ही प्राप्त है।[४]

जब कोई ईश्वर कृपा से यह समझने लगता है कि हमारे सारे कर्म और कर्म-फल प्रकृति के गुण रूप हैं, तब उसमे आध्यात्मिक अन्तर जागृति होती है और वह स्वय क्या है, इस दुःख का क्या सार है इन पर विचार करता है और तब वह सच्चे गुरु के पास जाता है। जब भक्त पुनर्जन्म के अनन्त चक्र और उससे उत्पन्न क्षणभंगुर जन्म के दुःख और तत्सबधित अन्य वेदनाओ पर सतत चिन्तन करता है और गुरु के आदेशानुसार यम-नियम का पालन करता है एव मन्त्र-दीक्षा प्राप्त करता है तब उसका मन ससार-सुख से ऊपर उठ जाता है और शरद् ऋतु में पानी व निस्तरग सागर और

---

[१] चेतनाचेतनाः सर्वे भूताः स्थावरजगमाः।
पूरिताः परमेशेन रसेनौषधयो यथा॥ —जयाख्य स० ४–६३।

[२] सरित्सधाद् यथा तोय सप्रविष्ट महोदधौ।
अलक्ष्यश्चोऽदके भेदः परस्मिन् योगिनां तथा॥ —वही, ४–१२३।

[३] ब्रह्मामिन्न विमोर्शनिम् श्रोतुम् इच्छामि तत्वतः।
येन सम्प्राप्यते ज्ञेयम् अन्तःकरणसस्थितम्॥ —वही, ४–१।

[४] सर्वोपाधि-विनिर्मुक्तम् ज्ञानमेकान्तनिर्मल।
उत्पद्यते हि युक्तस्य योगाभ्यासात् क्रमेण तत्॥ —वही, ५–२।

निर्वात दीप की तरह स्वच्छ हो जाता है। जब हृदय में चैतन्य का प्रकाश होता है, तब सब ज्ञेय पदार्थ ज्ञान के मूल विषय सहित हृदय समक्ष आ जाते हैं ज्ञान और ज्ञेय एक हो जाते हैं और फिर धीरे-धीरे परम ज्ञान और निवृत्ति आती है जिससे निर्वाण प्राप्त होता है। जो सब कुछ ज्ञेय रूप है वह ज्ञान से अभिन्न है यद्यपि वह भिन्न प्रतीत हो। ज्ञान की अन्तिम अवस्था शब्दो से परे है। वह तर्क और इद्रियो के साधन बिना साक्षात् अनुभवगम्य है उसका वर्णन प्रतीकों द्वारा ही किया जा सकता है। अंतिम अवस्था स्वरूप से ही अलौकिक है, चरम और नि.शेष है और आधारहीन है। इस सत्ता मात्र से जीव का आनन्दानुभव प्रगट है। भावजा समाधि और मंत्र जाप संज्ञक दोनो समाधियो मे से दूसरी ज्यादा फलप्रद है। मंत्र जप द्वारा, माया और तत् जनित, आत्मानुभूति के सारे व्यवधान नष्ट हो जाते हैं।

वासुदेव से अच्युत, सत्य और पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए जयाख्य संहिता का कहना है कि यह उत्पत्ति अहेतुक और सहज होती है और ये तीन अभिव्यक्तियाँ, परस्पर प्रतिबिंबित होकर एक रूप से व्यवहार करती हैं और इस सूक्ष्म अवस्था मे यह ईश्वर की क्रियाशक्ति के रूप से मनुष्य हृदय मे रहती है और क्रम से उसे मुक्ति की चरम सीमा तथा आनंदानुभूति की स्थिति तक पहुँचती है।

जयाख्य संहिता दो प्रकार के ज्ञान का उल्लेख करती है, जिसे स्थिति (सत्ताख्य) और क्रियाशील (क्रियाख्य) कहा गया है। क्रियाख्य ज्ञान के अंतर्गत यम-नियम आदि नैतिक अनुशासन आते है। यम-नियम के क्रियाख्य ज्ञान के अनवरत अभ्यास द्वारा ही सत्ताख्य ज्ञान पूर्ण परिपक्व होता है। यम और नियम के अन्तर्गत यहाँ पर पवित्रता, बलिदान, तपस्या, वेदाध्ययन, मैत्री, अखंड क्षमा, सत्य, समस्त प्राणियों एवं अपने शत्रुओं के प्रति सद्भाव, दूसरों की संपत्ति के प्रति सम्मान भाव, मनोनिग्रह ऐन्द्रिय सुखों के प्रति विराग, यथाशक्ति दानपरता, सत्य एवं प्रिय भाषण, शत्रु और मित्र के प्रति समभाव, ईमानदारी, सरलता तथा प्रत्येक प्राणी के प्रति दया-भाव इत्यादि गुण आते है। यहाँ पर तीनो गुणो की साम्यावस्था को अविद्या कहा गया है और अविद्या के फलस्वरूप राग-द्वेष आदि दोषो की उत्पत्ति मानी गई है। 'आत्मा' की संज्ञा द्वारा गुण, अविद्या और माया मय शुद्ध चैतन्य का सूचन किया गया है।

उपरोक्त कथन से यह मत सिद्ध होता है कि ईश्वर अपने मे से त्रिविध शक्ति के रूप से प्रकट होता है जो मनुष्य में सूक्ष्म शरीर के रूप में स्थित है। इस शक्ति की वजह से शुद्ध चैतन्य, मूल प्रवृत्तियो और अन्तर्जगत् के सम्पर्क में आता है जिससे अन्तकरण के व्यापार जड़ और अचेतन होते हुए भी चेतन रूप से व्यवहार करने लगते हैं। इसी सम्पर्क के कारण उक्त अनुभूति सम्भव हो पाती है। अन्त मे यही अंतरंग शक्ति जड पदार्थ से चेतन पदार्थों को अलग करती है और मुक्ति दिलाती है जिससे

मनुष्य में रहा चैतन्य ब्रह्म से एक रस हो जाता है। चैतन्य तत्व का प्रकृति से उत्पन्न अचेतन मनोव्यापार के साथ संयोग किसी भी मिथ्या कल्पना से नहीं है और वह भ्रम भी नही है किन्तु यह हममे स्थित ईश्वरीय अन्तर शक्ति के व्यापार से है। व्यक्ति या जीव जिसे आत्मा भी कहते हैं वह इस अनिच्छित सयोग से उत्पन्न हुआ है। यह संघात, जब अन्तःकरण व्यापार और क्लेशो से विलग हो जाता है तब ब्रह्म से सामरस्य होता है, क्योकि वह उसका अंश है और ब्रह्म में, एक में अनेकत्व भाव से भेदाभेद भाव से स्थित है। इस मत का साख्य दर्शन से भेद इतना ही है कि जयाख्य संहिता में प्रकृति के तत्वो के उत्पादन-क्रम को सांख्यमतानुसार स्वीकार किया है किन्तु पुरुष के स्वभाव के बारे मे मतभेद किया गया है। पुरुष और प्रकृति के बीच अनुभवातीत भ्रम को नही माना है जो कि ईश्वर कृष्ण रचित सांख्यकारिका का मत है। यहाँ पर प्रकृति, पुरुष को मुक्त करने के हेतु से विकास करती है इस मत को नही माना है और न इस मत को माना है कि प्रकृति पुरुष या ईश्वर द्वारा प्रेरित हो, गतिशील होती है। यहाँ प्रकृति में से तत्वो को उत्पन्न करने की सहज जननशक्ति को माना गया है।

जयाख्य संहिता में भक्त को योगी कहा है। अन्तिम ध्येय पर पहुँचने के लिए दो मार्गों को माना है, एक ध्यान-समाधि द्वारा और दूसरा मन्त्र-जप की साधना द्वारा। योग के विषय मे यह धारणा है कि योगी को अपनी इन्द्रियो पर पूरा काबू होना चाहिए और प्रत्येक प्राणी से द्वेष-रहित होना चाहिए। अत्यत विनीत भाव से उसे एकान्त स्थान पर बैठकर प्राणायाम द्वारा अपने चित्त पर नियत्रण लाने का प्रयास करते रहना चाहिए। फिर प्राणायाम की तीन विधियाँ–प्रत्याहार, ध्यान और धारणा का उल्लेख किया गया है। फिर योग के तीन प्रकारो पर भी प्रकाश डाला है जिन्हे प्राकृत, पौरुष और ऐश्वर्य की सज्ञा दी है किन्तु इनका क्या अर्थ है यह स्पष्ट नही किया गया है। ऐसा हो सकता है कि इनका अर्थ तीन विषय पर ध्यान केंद्रित करना है जैसे कि प्रकृति के मूल तत्वो पर, पुरुष पर अथवा आश्चर्यजनक सिद्धियो को दिलाने वाले योग पर। चार प्रकार के आसनों का भी योग वर्णन पाया जाता है जिनके नाम पर्यंक, कमल, भद्र और स्वस्तिक हैं। योगासनों का भी वर्णन है। मनोनिग्रह जो योग का मूल उद्देश्य है उसे दो प्रकार का माना है, वातावरण से उत्तेजित मन की प्रवृत्तियों पर निग्रह करना और मन की उन प्रवृत्तियो पर निग्रह करना जो उसमें स्वभावतः हैं। सत्व गुण के उद्रेक से ही मन को किसी विषय पर ध्यानस्थ किया जा सकता है। अन्य वर्गीकरण के आधार पर, सकल निष्कल और विष्णु अर्थात् शब्द, व्योम और स्वविग्रह नामक तीन प्रकार के योग का भी उल्लेख देखने मे आता है। सकल या स्वविग्रह नामक योग में योगी, इष्टदेव की स्थूल मूर्ति पर ध्यान केंद्रित करता है, तत्पश्चात् क्रम से, जब वह ध्यान में अभ्यस्त हो जाता है

तब वह दीप्त गोल चक्र की कल्पना पर ध्यान केंद्रित करता है, तत्पश्चात् मटर जैसे छोटे परिणाम की वस्तु पर, फिर घोड़े के बाल जैसी सूक्ष्म वस्तु पर, इसके बाद मनुष्य के सर के बाल पर, फिर उसके शरीर के रोम पर, इस प्रकार के अभ्यास की पूर्णता से ब्रह्मरंध्र का द्वार उसके लिए खुल जाता है। निष्कल योग में योगी अंतिम सत्य का ध्यान करता है, जिससे उसे वह स्वयं ब्रह्म रूप है यह ज्ञान होता है। तीसरे प्रकार के योग में मंत्रों पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है जिसके द्वारा भी योगी को अंतिम सत्य की प्राप्ति होती है। योगाभ्यास द्वारा योगी अन्त में ब्रह्मरंध्र के द्वार से निकल जाता है और अपनी देह छोड़ देता है और मूल सत्यरूप वासुदेव से समरस हो जाता है।[1]

विष्णु संहिता के चौथे प्रकरण में (हस्तलिखित) प्रकृति के तीन गुण माने गए हैं। प्रकृति व उससे उद्भूत तत्वों को क्षेत्र कहा गया है और ईश्वर को क्षेत्रज्ञ कहा है।[2] प्रकृति और ईश्वर मानों एक होकर रहते हैं।[3] प्रकृति तत्वों का विकास करती है और पुरुष की अध्यक्षता में या पुरुष के आदेशानुसार फिर तत्वों को अपने में समेट लेती है। फिर भी प्रकृति स्वतंत्र रूप से व्यवहार करती दीखती है।[4] पुरुष को सर्वव्यापी चैतन्य तत्व माना गया है।

विष्णु संहिता में तीन प्रकार के सात्विक, राजस और तामस अहंकार का वर्णन करते हुए कहा है कि राजस अहंकार कर्मेन्द्रियों को केवल उत्पन्न ही नहीं करता, किन्तु ज्ञान और कर्मेन्द्रियों का सक्रिय निर्देशन भी करता है। ज्ञान, शक्ति के रूप में, वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का ध्यान भी है और वह अन्वय व्यतिरेक-क्रियात्मक बुद्धि व्यापार भी है। विष्णु संहिता आगे जाकर ईश्वर की पाँच शक्तियों का उल्लेख करती है, जिसके द्वारा, ईश्वर, निर्गुण होते हुए भी, अपने को दृश्य गुणों से युक्त प्रकट करता है। सम्भवत इस प्रकार से ही प्रकृति की समस्त शक्तियाँ ईश्वर में निहित हैं और इसी अर्थ मे क्षेत्र अथवा प्रकृति ईश्वर से अभिन्न है। इन शक्तियों में पहली चित् शक्ति[5]

---

[1] जयाख्य संहिता, अध्याय ३३।
१४वें अध्याय मे योग के उस क्रम का वर्णन है जिससे योगी की देह का धीरे-धीरे नाश होता है।

[2] क्षेत्राख्या प्रकृतिर्ज्ञेया तद्वित् क्षेत्रज्ञ ईश्वरः। —विष्णु संहिता ४।

[3] उभयं चेद मत्यतम् अभिन्नम् इव तिष्ठति। —विष्णु संहिता।

[4] तन्नियोगात् स्वतंत्रेव सूते भावान् हरत्यपि। —विष्णु संहिता।

[5] चिच्छक्तिः सर्व कार्यादिः कूटस्थः परमेष्ठ्यमौ।
द्वितीया तस्य या शक्तिः पुरुषाख्यादि विक्रिया॥
विश्वाख्या विविधाभासा तृतीया करुणात्मिका।
चतुर्थी विषयं प्राप्य निवृत्याख्या तथा पुनः॥ —विष्णु संहिता।

अर्थात् चैतन्य शक्ति है जो सारी क्रियाओं की अपरिणामी नींव है। दूसरी, पुरुष रूप से मोक्त-शक्ति है। तीसरी शक्ति कारण शक्ति है जो विश्व के विविध रूपों में प्रकट होती है। चौथी शक्ति इन्द्रियों के विषय को ग्रहण कर ज्ञान रूप बनाती है। पांचवी शक्ति द्वारा ज्ञान क्रियात्मक होता है। छठी शक्ति विचार और क्रिया रूप से प्रकट होती है।[1] इस प्रकार यह दीखता है कि पुरुष और मोक्ता एक स्वतन्त्र तत्व नहीं है किन्तु ईश्वर की शक्ति ही है। ठीक उसी प्रकार प्रकृति भी एक स्वतंत्र तत्व न होकर ईश्वर की शक्ति की मात्र अभिव्यक्ति है।

विष्णु संहिता में वर्णित भागवत योग का क्रम प्रधानतः शरीर और मन का नियन्त्रण है जिसमें क्रोध तृष्णा इत्यादि, एकान्त स्थान मे ध्यान करने का अभ्यास, ईश्वर की शरणागति और आत्म-निरीक्षण का समावेश है। परिणामस्वरूप जब चित्त निर्मल और ससार से विरक्त हो जाता है तब विवेक-दृष्टि जागृत होती है जिससे अपवित्र, बुरा और पवित्र और भले के बीच भेद पहचानने में आता है। इससे राग या भक्ति उत्पन्न होती है। भक्ति से मनुष्य आत्म सतुष्ट हो जाता है और अपने उच्च आदर्श के प्रति निष्ठावान् बनता है तथा सच्चे ज्ञान को प्राप्त करता है। ईश्वर से समरस होने के लिये, जो मुक्तावस्था है, प्राणायाम के क्रम को अपनाने का आदेश किया गया है, जिसमे अनेक प्रकार के ध्यान करने पड़ते हैं। भक्ति का अर्थ यहा परमेश्वर के प्रति भक्ति के झुकाव से लिया है, जिसको सफल करने का साधन, योग है। तथाकथित भागवतो का भक्ति सप्रदाय योग शास्त्र के इतने प्रभाव में था कि भक्त को योगी बनना आवश्यक माना जाता था[2] क्योकि केवल भक्ति मुक्ति देने मे समर्थ नहीं समझी जाती थी। परम संहिता के दसवें अध्याय मे ब्रह्मा और परम के बीच संवाद द्वारा योग का क्रम वर्णन किया गया है। वहाँ ऐसा कहा है कि योग द्वारा प्राप्त किया ज्ञान अन्य ज्ञानो से उच्च है। योग के ज्ञान बिना किये हुए कर्म, इष्ट फल नही दे सकते। योग का अर्थ चित्त का किसी विषय पर बिना क्षोभ के समाधान होना कहा है।[3] जब चित्त कर्म करने मे दृढता से स्थिर जाता है तो उसे कर्म योग कहते है।[4] जब चित्त ज्ञान पर अस्खलित रूप से लग जाता है तो उसे ज्ञान

---

[1] पूर्वा-ज्ञान-क्रिया शक्ति सर्वाख्या तस्य पचमी। —विष्णु सहिता।

[2] तस्मात् सर्व प्रयत्नेन भक्तो योगी भवेत् सदा। —वि० स०, अध्याय ३०।

[3] यत् करोति समाधान चितस्य विषये क्वचित्।
अनुकूल असक्षोभ सयोग इति कीर्त्यते ॥ —परम सहिता अध्याय १० (हस्त०)।

[4] यदि कर्माण बध्नाति चित्तम स्खलितं नरम्।
कर्म योगो भवत्येषः सर्वपापप्रणाशनः। —परम संहिता, अध्याय १०।

योग कहा है ।[1] दोनो योग करते हुए योगी विष्णु की शरण लेकर परमेश्वर से एकात्मता प्राप्त करता है। ज्ञान योग और कर्म योग दोनों ही, एक ओर यम नियम युक्त नैतिक साधन के रूप से और दूसरी ओर वैराग्य और समाधि रूप से, ब्रह्म पर ही अवलम्बित हैं। यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि गीता में कर्म योग का अर्थ, बिना फलाशा के शास्त्रोक्त वर्ण धर्म पालन करना माना है। यहां कर्म योग का अर्थ यम नियम किया गया है, जिसमे व्रत, उपवास, दान और सम्भवतः आत्म निग्रह से प्राप्त विविध गुणो का समावेश है। वैराग्य का अर्थ इंद्रियों का विषय से पराङ्-मुख होना है और समाधि का अर्थ उस ज्ञान से है जिसके द्वारा चित्त ईश्वर में अस्खलित रूप से लग जाय। जब इद्रियां अपने विषयो से, वैराग्य द्वारा, निरोधित हो जाती है तब चित्त को ईश्वर मे, परम तत्व में स्थिर रूप से लगना ही पड़ता है। इसे ही योग कहा है। अनवरत अभ्यास द्वारा, जब वैराग्य परिपक्व होता है तब वासना या मूल क्लेश तथा इच्छाओ का अत हो जाता है। यह सलाह दी गई है कि योगी को वलात् आत्म निग्रह करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, किन्तु उसे धीरे-धीरे और सुगमता से आगे बढना चाहिए जिससे वह लम्बे समय मे चित्त पर पूरी-पूरी विजय पा जाए। योगी को भोजन और अन्य आवश्यकताओ पर भी ध्यान देना आवश्यक है जिससे शरीर स्वस्थ रहे। उसे योगाभ्यास के लिये, विक्षेप रहित, एकान्त स्थान पसद करना चाहिये। उसे शरीर को पीडा पहुँचाने वाली कोई भी क्रिया किसी भी वजह से नही करना चाहिये। तदुपरान्त उसे सदैव यह चिन्तन करते रहना चाहिये कि वह ईश्वर के अधीन है एव उत्पत्ति, स्थिति और नाश उसके धर्म नही हैं। इस प्रकार उसके चित्त मे निर्मल भक्ति का जन्म होगा जिससे वह धीरे-धीरे आसक्ति की जडो को उखाड सकेगा। अमुक्त इच्छाओ के आकर्षक अनुभव दुःखपूर्ण हैं, इस विषय पर योगी को चिन्तन करने का अभ्यास करना चाहिये, जिससे वह ऐसे अनुभवो के प्रति राग से विमुख हो जाय।

कर्म योग और ज्ञान योग मे कौन श्रेष्ठ है, इस बारे मे कहा है कि किस प्रकार का योग चुना जाय, इस विषय मे कोई नियम नही हो सकते। कोई स्वभाव से कर्म योग के लिये और कोई ज्ञान योग के लिये उपयुक्त होते है। विशेष योग्यता वाले कर्म और ज्ञान दोनो योगो का सयोजन कर सकते हैं।

अहिर्बुध्न्य संहिता का तत्वदर्शन

अहिर्बुध्न्य सहिता में अहिर्बुध्न्य कहते है कि उन्होंने लम्बी तपस्या के बाद संकर्षण से सच्चा ज्ञान प्राप्त किया, इस सत्य ज्ञान का नाम सुदर्शन है जो विश्व की

[1] यदि तु ज्ञान एवार्थे चित्तं बध्नाति निर्व्यथः।
ज्ञान योगः स विज्ञेयः सर्व-सिद्धिकरः शुभः॥ —परम सहिता, अध्याय १०।

समस्त वस्तुओ का आधार है।[1] अन्तिम सत्ता अनादि, अनन्त और नित्य है, नामरूप-रहित है और मन और वाणी से परे है, वह सर्व शक्तिमान् और अपरिणामी है। इस नित्य और अपरिणामी सत्ता से स्वतः स्फूर्त संकल्प उठता है, यह सकल्प देशकाल और द्रव्य से मर्यादित नही है। ब्रह्म सहजानुभव रूप है और निःसीम-सुखानुभव-लक्षण हैं। (निःसीम-सुखानुभव-लक्षणम्)। वह हर जगह है, और हरेक में स्थित है। वह निस्तरग सागर के समान है। उसमें सासारिक पदार्थों में पाये जाने वाले गुण, नाम मात्र भी नही है। वह स्वयं सिद्ध और अपने मे परिपूर्ण है जिसकी यह (इदं) तथा इस प्रकार (इत्थं) इत्यादि शब्दो से व्याख्या नही की जा सकती। वह आनन्द और शुभ है और सर्वथा पाप रहित है। ब्रह्म के अनेक नाम हैं जैसे कि परमात्मन्, आत्मन्, भगवान्, वासुदेव, अव्यक्त, प्रकृति, प्रधान इत्यादि। जब शुद्ध ज्ञान द्वारा अनेको जन्मो के सचित पाप पुण्य नष्ट हो जाते हैं और वासना दग्ध हो हो जाती है, प्रकृति के तीनों गुण मनुष्य को बन्धन में नही डालते पर तब मनुष्य अविलम्ब ही ब्रह्म स्वरूप प्राप्त करता है, जो अन्तिम सत्ता है, जिसे 'यह' और 'ऐसा' इन शब्दो द्वारा वर्णित नही किया जा सकता। ब्रह्म समग्र की आत्मा है और सब पदार्थों को अन्तः प्रज्ञात्मक रूप से देखता है। उसके लिए भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीनो काल अपना अस्तित्व नही रखते। इसलिए ब्रह्मन् कालसापेक्ष नही है, वह कालातीत है। इसी प्रकार वह गौण और प्रधान गुणो से परे है तो भी वह षड्गुण-सम्पन्न है। सब गुणों में ज्ञान सर्व प्रथम और मुख्य है। वह आध्यात्मिक और स्व-प्रकाश्य है, वह सब वस्तुओ में प्रवेश कर उन्हें प्रकाशित करता है और नित्य है। ब्रह्मन् स्वरूप से शुद्ध चैतन्य रूप है तो भी उसमें ज्ञान गुण रूप से स्थित है, ऐसा माना है।[2] ब्रह्म की शक्ति उसे कहा गया है, जिससे उसने समस्त विश्व को उत्पन्न किया है।[3] ब्रह्मन् का कर्तृत्व-भाव उसका ऐश्वर्य है। भगवान् का बल वह है जिससे वह सतत कार्य करते भी नही थकता, वीर्य के गुण द्वारा ब्रह्म जगत् का उपादान कारण रहते भी अपरिणामी ही रहता है, और उसका तेज वह है जिससे वह बिना सहायता के, जगत्-रचना करता है। ये पांचो गुण ज्ञान के अतर्गत हैं और ज्ञान ही ईश्वर का

---

[1] सुदर्शनस्वरूपं तत् प्रोच्यमानं मया शृणु।
श्रुते यत्राखिलाधारे संशयास्ते न सन्ति वै॥

—अहिर्बुध्न्य सहिता ३, २–५।

[2] अजड स्वात्मसबोधि नित्य सर्वावगाहनम्।
ज्ञानं नाम गुणम् प्राहुः प्रथमं गुणचिन्तकाः।
स्वरूपं ब्रह्मणस्तच्च गुणश्च परिगीयते॥ —अहिर्बुध्न्य संहिता ३, २–५३।

[3] जगत् प्रकृतिभावो यः सा शक्तिः परिकीर्तिता। —वही, सं० ३, २–५७।

स्वरूप है। जब ब्रह्म जो ज्ञान रूप है और सर्व गुण सम्पन्न है, अपने को नाना रूप में प्रकट करने का संकल्प करता है तब वह सुदर्शन कहलाता है।

प्रत्येक वस्तु की शक्तियाँ स्वभाव से अचिन्त्य है और द्रव्य से अपृथक् स्थित हैं। वे द्रव्य की सूक्ष्म या अव्यक्त अवस्थाएं हैं जो पृथक् रूप से गोचर नहीं होती या किसी शब्द द्वारा उनका विधान या निषेध नहीं किया जा सकता तथा जो कार्य रूप से ही जानी जा सकती है।[1] उसी प्रकार ईश्वर में शक्ति अभिन्न रूप से स्थित है जिस प्रकार चन्द्र रश्मि चन्द्र से अभिन्न है। शक्ति सहज रूप है और जगत् उसकी अभिव्यक्ति है। इसे आनन्द कहा गया है क्योंकि वह निरपेक्ष है; वह नित्य है क्योंकि कालातीत है, वह पूर्ण है क्योंकि अरूप है। वह जगत् रूप से अभिव्यक्त होती है इसलिये उसे लक्ष्मी कहते है।[2] वह अपने को जगत् रूप से संकुचित करती है इसलिये कुन्डलिनी कही जाती है और ईश्वर की महान् शक्ति होने के कारण विष्णु शक्ति भी कही गई है। शक्ति वास्तव मे ब्रह्म से भिन्न है तो भी उससे अभिन्न दिखती है। इस शक्ति द्वारा ईश्वर अविराम रूप से बिना थकावट के और बिना अन्य की सहायता लिये सतत जगत् की रचना करता है (सतत कुर्वतो जगत्)।[2] ईश्वर की शक्ति दो प्रकार से प्रकट होती है, स्थावर रूप मे उसका प्रथम प्रकार काल, अव्यक्त और पुरुष मे प्रकट होते हैं तथा दूसरा प्रकार क्रिया रूप से। ईश्वर की क्रिया शक्ति सहज है जो विचार और संकल्प रूप मे क्रिया मे व्यक्त होती है।[3] इसे संकल्प या विचार कहा है जिसकी गति अव्याहत है और जो अव्यक्त, काल, पुरुष इत्यादि सारे जड़ और चेतन पदार्थों को उत्पन्न करती है।[4] इसी शक्ति को दूसरे शब्दो मे लक्ष्मी या विष्णु शक्ति कहा है जो अव्यक्त को अपने विकास मार्ग पर प्रेरित करती है, प्रकृति तत्त्वो को पुरुष के सम्मुख उपस्थित करती है और समस्त अनुभव में ओतप्रोत तथा गतिमान (अनुस्यूत) है। जब वह इन व्यापारो का संकोचन करती है तब प्रलय होता है। इसी शक्ति के बल से सृष्टि सर्जन के समय त्रिगुणात्मक प्रकृति विकासोन्मुख बनती है। प्रकृति पुरुष का संयोग भी इसी शक्ति द्वारा होता है। यह संकल्प

---

[1] शक्तयः सर्वभावानाम् अचिन्त्या अपृथक् स्थिताः
स्वरूपे नैव दृश्यन्ते दृश्यन्ते कार्यतस्तु ता
सूक्ष्मावस्था ही सा तेषाम् सर्वभावानुगामिनी,
इदंतया विधातुं सा न निषेद्धुं च शक्यते। —वही, स० ३, २–३।

[2] अहिर्बुध्न्य संहिता २–५६।

[3] स्वातंत्र्यमूल इच्छात्मा प्रेक्षारूप क्रियाफलः। —वही, ३–३०।

[4] उन्मेषो यः सुसंकल्पः सर्वत्राव्याहतः कृतौ।
अव्यक्तकालपुरूपा चेतनात्मिकाम्॥ —वही, ३, ३०–३१।

स्पंदन रूप है वह अनेक रूप धारण करता है और अपने परिणामों से भिन्न-भिन्न पदार्थों की उत्पत्ति करता है।[1]

मूलावस्था में नाना रूप जगत्, सुप्तावस्था में था, वह एक साम्यावस्था थी जिसमे ईश्वर की शक्तियाँ, निस्तरग सागरकी तरह पूर्णतः निरुद्ध थी। यह शक्ति अपनी स्थिर या निरुद्धावस्था में शून्यत्व रूपिणी है (शून्यत्व रूपिणी) क्योंकि यहाँ कोई अभिव्यक्ति नही है। वह स्वाश्रित है और वह स्थिरावस्था से गतिशील क्यों होती है इसका कोई कारण नही दिया जा सकता है।[2] वह एक है और ब्रह्म परमसत्ता से अभिन्न है। यही शक्ति, निर्मल एव समल सभी तत्वों को और समस्त भौतिक रूपों को अपने मे से परिणाम के रूप मे प्रकट करती है। वह ईश्वर की क्रिया, वीर्य, तेजस् और बल के रूप में प्रकट होती है जो उसी की अभिव्यक्ति के रूप है; द्रष्टा और दृश्य, जड और चेतन, शुद्ध और मिश्रण, भोक्ता और भोग्य, अनुभविता और अनुभूति के विषय इत्यादि रूप मे सारे द्वद्व भी इसी के रूप हैं। प्रगति के क्रम से यह शक्ति सृष्टि का विकास करती है और जब वह विपरिवर्तित होती है, तब प्रलय होता है।

इस शक्ति की दो भिन्न युगल क्रियाओ से नाना प्रकार की शुद्ध रचनाएँ होती हैं। ज्ञान और बल द्वारा सकर्षण का आध्यात्मिक रूप उत्पन्न होता है, ऐश्वर्य और वीर्य से प्रद्युम्न का आध्यात्मिक रूप उत्पन्न होता है, शक्ति और तेज द्वारा अनिरुद्ध की उत्पत्ति होती है। ये तीनो देवी रूप व्यूह कहे गए हैं और प्रत्येक व्यूह दो गुणो के सयोग का परिणाम है। यद्यपि प्रत्येक व्यूह में दो गुण प्रधान हैं फिर भी वह ईश्वर के षड् गुणो से युक्त हैं क्योंकि ये सब विष्णु के ही रूप हैं।[3] प्रत्येक व्यूह का दूसरे के रूप में प्रकट होने तथा निम्न धरातल से उच्च धरातल तक की स्थिति में पहुचने में १६०० वर्ष का समय लगता है। श्राडर, महा सनत्कुमार संहिता का संदर्भ देते हुए इस प्रकार कहते हैं, 'वासुदेव अपने चित्त से श्वेत वर्णा देवी शांति तथा सकर्षण या शिव को उत्पन्न करते है, तत्पश्चात् शिव के वाम भाग में से रक्तवर्णा देवी 'श्री' उत्पन्न होती है, जिसके पुत्र प्रद्युम्न अथवा ब्रह्मन् हैं। प्रद्युम्न फिर पीत वर्णा सरस्वती

---

[1] सोऽय सुदर्शनम् नाम संकल्पः स्पन्दनात्मकः।
विभज्य बहुधा रूपं भावे भावेऽवतिष्ठते ॥ —वही, ३–३६।

[2] तस्य स्तैमित्य रूपा या शक्तिः शून्यत्व रूपिणी।
स्वातत्र्यादेव कस्मात् चित् क्वचित् सोन्मेष ऋच्छति
आत्मभूता हि या शक्तिः परस्य ब्रह्मणो हरेः।
—अहिर्बुंध्न्य संहिता, ५–३ और ४।

[3] व्याप्ति मात्र गुणोन्मेषो मूर्तिकार इति त्रिधा।
चतुंस्य स्थितिर्विष्णोर्गुंण व्यक्ति करोद्भवः ॥ —वही, ५–२१।

को और अनिरुद्ध या पुरुषोत्तम को उत्पन्न करते हैं। पुरुषोत्तम की शक्ति श्याम वर्णी 'रति' बनती है जो त्रिविध माया कोष हैं।'[1] श्राडर आगे हमारा ध्यान इस बात पर खींचते हैं कि वे तीनों युगल ब्रह्मांड के बाहर हैं इसलिए वे सासारिक देवों से स्वरूपतः भिन्न है, यथा शिव इत्यादि। व्यूह तीन भिन्न प्रकार के कार्य करते हैं, वे हैं, (१) उत्पत्ति, स्थिति और लय (२) सांसारिक वस्तुओं का पोषण (३) मुमुक्षु भक्तों की सहायता। सकर्षण जीवो के अधिष्ठाता हैं और वे उन्हें प्रकृति से अलग करते हैं।[2] दूसरा दैवी रूप सारे प्राणियो के मनस पर आधिपत्य करता है और उन्हे समस्त धार्मिक क्रियाओं के विषय मे विशिष्ट निर्देश देता है। समस्त मनुष्यों की उत्पत्ति भी इसी के अधीन है तथा विशेष रूप से, जिन लोगो ने अपना सब कुछ ईश्वर को समर्पण कर दिया है और ईश्वर से पूर्णतः अनुरक्त हो गए हैं, ऐसे भक्तों का रक्षण यही शक्ति करती है।[3] अनिरुद्ध रूप से, वह जगत् की रक्षा करता है और मनुष्यो को ज्ञान की अन्तिम कोटि पर ले जाता है। वह अच्छे बुरे जैसे मिश्र वर्ग की सृष्टि भी करता है (मिश्र-वर्ग-सृष्टिम् च करोति)।[4] ये तीनो रूप वासुदेव से अभिन्न है और विष्णु के शुद्ध या पूर्ण अवतार है।

इनके अतिरिक्त वासुदेव के दो और रूप हैं जिन्हें आवेशावतार और साक्षात् अवतार कहा है। पहला, अर्थात् आवेशावतार दो प्रकार का है, स्वरूपावेश (परशुराम, राम इत्यादि) और शक्ति आवेश (ईश्वर की शक्ति-विशेष का प्रकट होना, जैसा कि ब्रह्मा और शिव का विशेष अवसर पर ईश्वर की विशिष्ट शक्ति से सम्पन्न होना)। ये गौण रूप के आवेशावतार, ईश्वर सकल्प से मनुष्य योनि में पैदा होते हैं जैसे कि राम, कृष्ण, पशुयोनि मे जैसेकि वराह मत्स्य एव नृसिंह आदि अवतार और वृक्ष रूप में भी अवतार धारण करते है–(दडक वन में वक्र आम्र वृक्ष)। ये सब रूप ईश्वर के अनुभवातीत मौलिक रूप नही है। किन्तु ये सकल्प-शक्ति से दैवी क्रिया की प्रकट अभिव्यक्तियाँ है।[5] साक्षात् अवतार की उत्पत्ति ईश्वर से अविलम्ब होती है जैसे दिए

---

[1] Introduction to Panearatra श्री श्राडर लिखित, पृ० ३६।

[2] सोऽय समस्त जीवानाम् अधिष्ठातृतया स्थितः
सकर्षणस्तु देवेशो जगत्-सृष्टिमनास्ततः
जीव-तत्त्वम् अधिष्ठाय प्रकृतेस्तु विविच्य तत् ॥
विष्वक्सेन सहिता से उद्धृत जो वरवर की, लोकाचार्य रचित तत्वत्रय की टीका मे प्राप्त है। —तत्वत्रय, पृ० १२५।

[3] तत्वत्रय में विष्वक्सेन संहिता के उद्धरण को देखो। पृ० १२६, १२७।

[4] तत्वत्रय, पृ० १२८।

[5] मदिच्छया ही गौणत्व मनुष्यत्वमिवेच्छया—अप्राकृत-स्वासाधारण-विग्रहेण सह

से दिया जाता है, इसलिए ये अवतार स्वरूप अनुभवातीत हैं और सांसारिक अवतारों से भिन्न हैं। मुमुक्षु को इन अवतारो की आराधना करनी चाहिए, अन्य किसी को नही।[1] तत्वत्रय में उल्लिखित विष्वक्सेन संहिता के आधार पर ब्रह्मन्, शिव, बुद्ध, व्यास, अर्जुन, पावक और कुबेर ईश्वर प्रेरित व्यक्ति या आवेशावतार हैं, जिनकी आराधनामुमुक्षु को नही करनी चाहिए। इसी अनुसंधान में अन्य संहिताएँ राम, आत्रेय, कपिल इत्यादि को भी इसी वर्ग मे सम्मिलित करती हैं।

पुन. प्रत्येक व्यूह से तीन उप-व्यूह प्रकट होते हैं। वासुदेव में से केशव, नारायण और माधव, संकर्षण से गोविन्द, विष्णु और मधुसूदन, प्रद्युम्न से त्रिविक्रम, वामन और श्रीधर और अनिरुद्ध से हृषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर प्रकट होते है। ये सब देवता प्रत्येक मास के अध्यक्ष है, जो बारह राशियों के सूर्यों के प्रतिनिधि है। ये देवता मात्र ध्यान करने के हेतु से ही उत्पन्न किए गए है। इनके अतिरिक्त, अहिर्बुध्न्य संहिता मे ३९ विभव अवतारों का भी उल्लेख है।[2] वरवर के कथनानुसार जिन

नागत···गोणस्य मनुष्यत्वादिवत्, आप्राकृत-दिव्य-सम्स्थानम् इतर जातीय कृत्वा अवतार रूपत्वाभावात् स्वरूपेण नागतमिति सिद्धम्।

—तत्वत्रय, पृ० १३० ।

[1] प्रादुर्भावास्तु मुख्या ये मदशमात्वात् विशेषतः
अजहत्स्वभावाविभवा दिव्या प्राकृत विग्रहा·
दीपात् दीपा इवोत्पना जगतो रक्षणाय ते
आर्या एव हि सेनेश समृत्युत्तरणाय ते
मुख्या उपास्या· तैनेश नर्च्यानितरान् विदुः ॥

—तत्वत्रय, पृ० १३१ ।

[2] अहिर्बुध्न्य संहिता पृ० ४६। विष्वक्सेन संहिता के मतानुसार समस्त अवतार अनिरुद्ध से उत्पन्न है या अन्य अवतारो से उत्पन्न हुए है। ब्रह्म अनिरुद्ध से हुए और उनसे महेश्वर तथा हयशीर्ष मत्स्य से हुए, जो कृष्णावतार है। पद्म तन्त्र के आधार पर, मत्स्य, कूर्म, वराह, वासुदेव से, नृसिंह और वामन और श्रीराम, परशुराम संकर्षण से, बलराम प्रद्युम्न से, तथा कृष्ण और कल्कि अनिरुद्ध से उत्पन्न हुए है। (पद्म तन्त्र १-२-३१ इत्यादि) किन्तु लक्ष्मी तन्त्र के आधार पर (२-५५) समस्त विभव अनिरुद्ध से आए है। एक अन्य प्रकार का और भी अवतारक माना है जो अर्चावतार है। कृष्ण, नृसिंह इत्यादि की मूर्ति जब वैष्णव क्रिया कर्म द्वारा प्रतिष्ठित की जाती है तब उसमें विष्णु की शक्ति अवतरित हो जाती है जिससे भक्त को मूर्ति मे इन्ही शक्तियो का अनुभव होता है (विष्वक्सेन संहिता, तत्वत्रय मे उल्लिखित) विष्णु जब अनिरुद्ध के रूप में समस्त पर नियन्त्रण

उद्देश्यो को ध्यान में रखकर इन अवतारों का आविर्भाव हुआ है वे तीन उद्देश्य हैं। जो ऋषि अवतार के बिना नहीं रह सकते, उन्हे सगति देने के हेतु से इन्हे (अवतारों को) प्रकट किया गया है यह प्रथम है। गीता मे उल्लिखित परित्राण शब्द का अर्थ यही

करते है तब उसे अंतर्यामी अवतार कहते है। इस प्रकार चार प्रकार के अवतार माने गए हैं जैसे विभव, अोवश, अर्चा और अंतर्यामी। ३९ विभव अवतार, पद्मनाभ ध्रुव, अनत, सत्यकाम, मधुसूदन, विद्याधिदेव, कपिल, विश्वरूप, विहगम, कोड़ात्मन्, वडवावक्त्र धर्म, वागीश्वर, एकार्णवशायिम्, कमठेश्वर, वराह, नरसिंह, पियूषहरण, श्रीपति, कान्तात्मन्, राहुजित्, कालनेमिघ्न, पारिजात हर, लोकनाथ, शान्तात्मन्, दत्तात्रेय, न्यग्रोधशायिन्, एकशृंगतनु, वामन देव, त्रिविक्रम, नर, नारायण, हरि, कृष्ण, परशुराम, राम, वेदविद्, कल्किन, पाताल शयन है। सात्वत सहिता और अहिर्बुध्न्य सहिता के अनुसार वे तेज रूप है और अपने विशेष रूप मे पूजा के योग्य है। (सा० स १२) (अ०बु० ६६) महाभारत के नारायणीय प्रकरण मे विहगम या हस, कमठेश्वर या कूर्म, एक शृंगतनु या मत्स्य, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, और राम वेदविद् और कल्किन् इत्यादि दस अवतारों का उल्लेख है। कोडात्मन्, लोकनाथ और कान्तात्मन् अवतारो का उल्लेख है। कोडात्मन्, लोकनाथ और कान्तात्मन्, अवतारो को क्रमश. कभी यज्ञ वराह, मनु वैवस्वत और काम भी कहा है। काम को कभी धन्वन्तरि भी कहते है (श्राडर का पचरात्र देखो पृ० ४५)। भागवत पुराण मे कथित् २३ अवतार (१–३) उपरोक्त सूची के अतर्गत आ जाते है। किन्तु यह शकास्पद है, जैसा कि श्राडर कहते है कि वागीश्वर और हयशीर्ष, सनत्कुमार और सनक या नारद एक ही है। श्री रूप रचित लघु भागवतामृत मे कथित विभव अवतार भी अधिकतर उपरोक्त सूची मे आ जाते है यद्यपि कई नामों मे परिवर्तन दीखता है। ब्रह्म सहिता के प्रमाण पर रूप कृष्ण को ईश्वर का स्वय रूप मानते है। उनका मत है कि ईश्वर से एक रस हो, वे अनेक रूप धारण कर सकते हैं, इसे एकात्म-रूप अवतार कहते है। वह एकात्म रूप अवतार भी दो प्रकार का होता है, स्व विलास और स्वाश। जब अवतार बल और गुण मे ईश्वर के समान होते है तो उन्हे स्वाशावतार कहते है। वासुदेव स्वविलासावतार कहे गए है। किन्तु जब अवतार मे निम्न (अल्प) गुण होते है तो वे स्वांशावतार कहलाते है। सकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, मत्स्य, कूर्म इत्यादि स्वाशावतार कहे जाते है। ईश्वर जब अपने अश गुणों से किसी मे प्रविष्ट होता है तो वह आवेशावतार कहलाता है। नारद, सनक, इत्यादि आवेशावतार हैं। उपरोक्त रूपो मे ईश्वर का, ससार के कल्याण के लिए प्रकट होना अवतार कहलाता है।

है। इन अवतारों को प्रगट करने का दूसरा हेतु साधुओं के विरोधियों को नाश करना है। तीसरा हेतु, वेद-धर्म की स्थापना अर्थात् ईश्वर-भक्ति की स्थापना है।[1]

ईश्वर, अंतर्यामी के रूप में हमारा नियन्त्रण करता है उसी की प्रेरणा से हम पाप करके नरक जाते हैं और पुण्य करके स्वर्ग में। इस प्रकार हम अन्तर्यामी ईश्वर से कहीं भी बच नहीं सकते। अन्य रूप में वह हमारे हृदय मे रहकर हमारे ध्यान का विषय बनता है।[2] पुनः, जब कोई मूर्ति की, चाहे मिट्टी, पत्थर या धातु की हो, योग्य क्रिया द्वारा प्रतिष्ठा की जाती है तब वह ईश्वर की सत्ता और विशेष शक्ति से प्रेरित होती है। इन्हे अर्चावतार कहते हैं, अर्थात अर्चना द्वारा ईश्वर की पूजा के हेतु मूर्ति में अवतरण होना। इससे समस्त कामनाएं प्राप्त हो सकती हैं। इस प्रकार से ईश्वर की पाँच प्रकार की सत्ता है, पहली परा, दूसरी व्यूह, तीसरी विभवावतार, चौथी अन्तर्यामिन् और पाँचवीं अर्चावतार है।[3]

अहिर्बुध्न्य संहिता में ऐसा कहा है कि सुदर्शन या दिव्य संकल्प की शक्ति द्वारा (जिससे व्यूह उत्पन्न होते हैं) एक सुदर्शन के समान कान्ति वाला स्थान उत्पन्न होता है, जो ज्ञान रूप एव आनन्द रूप है। यहां पर भोग का अनुभव आनन्दमय होता है, जो ज्ञान रूप है। यहा पर के समस्त अनुभव आनन्दमय होते हैं तथा इस अनुभवातीत आध्यात्मिक जगत् के वासी भी आनन्द स्वरूप होते हैं। उनके देह भी ज्ञान और आनन्दमय होते हैं।[4] इस जगत के वासी प्रलय के समय मुक्त हो जाते हैं। वे जिस प्रकार सांसारिक जीवन में ईश्वर से अनुरक्त थे वैसे अब भी ईश्वर में अनुरक्त रहते हैं।[5]

---

[1] तत्वत्रय। पृ० १३८ साधु शब्द की यहाँ व्याख्या इस प्रकार की गई है।
"निर्मत्सरः मत्समाश्रयणे प्रवृत्तः मन्नाम कर्म स्वरूपाणां वाङ्मनसा
गोचरतया मद्दर्शनेन विना आत्म धारणयोवणादिकम् अलभमानाः
क्षणमात्र काल कल्प सहस्र मन्वानाः प्रशिथिल सर्वगात्रा भवेयुः।"

[2] तत्वत्रय, १३९-१४०।

[3] तत्वत्रय में विष्वक्षेन संहिता का संदर्भ देखो। पृ० १२२।

[4] शुद्धा पूर्वोदिता सृष्टिर्या साव्यूहादि भेदिनी।
सुदर्शनाख्यात्सकल्पात्तस्यैव प्रभोज्वला॥
ज्ञानानंदमयीस्त्याना देशभाव व्रजत्युत।
संदेशः परमं व्योम निर्मलं पुरुषात्परम्। इत्यादि। अ० सं० ६-२१-२२।

[5] अहिर्बुध्न्य संहिता ६-२६।

ईश्वर अपने श्रेष्ठ रूप में हमेशा अपनी शक्ति लक्ष्मी या श्री से संलग्न रहते हैं।[1] तत्वत्रय और वरवर रचित उसकी टीका में हमें तीन सहधर्मिणी देवियां, लक्ष्मी भूमि और नीला का उल्लेख मिलता है। श्राडर ऐसा कहते हैं कि विहगेंद्र संहिता और सीता उपनिषद् में इन्हें इच्छा, क्रिया और साक्षात्शक्ति माना है। सीता उपनिषद् में, जिसका ज्यादा उल्लेख करते हैं सीता को महालक्ष्मी कहा गया है जो इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप से प्रकट है। यहा सीता को, महेश्वर से पृथक् एवं एक रूप शक्ति माना है जिसमे जगत् के समस्त चित् और अचित् पदार्थों का समावेश है। वह लक्ष्मी, भूमि और नीला के विविध रूप में भी विद्यमान है। कल्याण, शक्ति और सूर्य, चन्द्र और अग्नि भी इसी के रूप हैं। तीसरे रूप से यहां शक्ति द्वारा सारी औषधियां उगती हैं और काल का निर्णय होता है।[2]

अहिर्बुध्न्य संहिता के छठे अध्याय में मध्यवर्ती सर्ग का वर्णन है। परम अहकार के रूप में ईश्वर की शक्ति उससे पृथक् एवं अभिन्न है। ईश्वर अपनी शक्ति के बिना रह नहीं सकता और न शक्ति उसके बिना। ये दोनों जगत् के मूल कारण हैं। व्यूहों और विभवों के रूप मे ईश्वर की अभिव्यक्ति निर्मल या शुद्ध कही गई है क्योंकि इनके ध्यान द्वारा ही योगी अपने इष्ट को पा सकते हैं।[3] व्यूह और विभव से अशुद्ध (शुद्धेतर) सृष्टि उत्पन्न होती है। शक्ति के दो प्रकार हैं, क्रिया शक्ति और भूत शक्ति। भूत शक्ति को सकल्पमयी मूर्ति माना जा सकता है। इस शक्ति में अतर्निहित क्रिया व्यापार, विचार और सप्रत्यय रूप में प्रकट होते हैं।[4] अशुद्ध सृष्टि,

---

[1] अहिर्बुध्न्य संहिता, ६–२५।

[2] सीता उपनिषद् में इच्छा, क्रिया और साक्षात्शक्ति के अनोखे अर्थ पाये जाते हैं। सात्वत संहिता (९–८५) में १२ अन्य शक्तियों का उल्लेख मिलता है।

लक्ष्मी, पुष्टिर्दया निद्रा, क्षमा कांतिः सरस्वती,
धृतिर्मैत्री रतिस्तुष्टिर्मति र्द्वादशमी स्मृता॥

श्राडर का पचरात्रः भूमिका देखो, पृ० ५५, इन शक्तियों का अवतारों से संबंध है।

[3] श्राडर, पद्म तंत्र के आधार पर कहते है कि पर रूप में ईश्वर का कभी व्यूह वासुदेव से तादात्म्य या कभी भेद किया गया है। परा वासुदेव अपने अर्ध भाग से व्यूह वासुदेव बनते हैं और नारायण रूप से रहते हैं जो माया के सर्जक है।

–पंचरात्र पृ० ५३।

[4] भूतिः शुद्धेतरा विष्णोः पुरुषो द्विचतुर्मयः।
स मनूनां समाहारो ब्रह्म क्षत्रादिभेदिनाम्॥ –अहिर्बुध्न्य संहिता ६, ८-९।

पुरुष, गुण और काल रूप से तीन प्रकार की है। पुरुष को चारवर्णों के स्त्री-पुरुष युगल की (सहति) इकाई माना है, ये चार युगल प्रद्युम्न के मुख, छाती, जघा एवं पैर से उत्पन्न हुए माने गये हैं। प्रद्युम्न के ललाट भृकुटि और कर्ण से काल और गुण की सूक्ष्मावस्था उत्पन्न होती है। इन सबके प्रगट होने पर इस सृष्टि का विकास और प्रगति अनिरुद्ध के आधीन होती है फिर वे योग के उत्साह से, काल और नियति रूपी द्विविध समय का निर्माण करते है। अनिरुद्ध ने क्रम से सत्व रजस् और तमस् रूप मौलिक शक्ति को भी उत्पन्न किया। गुण रूप में विद्यमान आडिय भूत शक्ति से जिसे सजातीय साहित्य में प्रकृति भी कहते है, पहले सत्व गुण का विकास हुआ। इसके बाद सत्व से रजस् का और फिर रजस् से तमस् का विकास हुआ। इस मूलभूत आवकसित गुण का प्रद्युम्न से आविर्भाव हुआ। जिसे दूसरे शब्दो मे प्रकृति भी कह सकते है, जो अनिरुद्ध के उत्साह से ससिक्त होकर, क्रम से पहले सत्व, रजस् और तमोगुण मे व्यक्त होता है। इसलिये इस सिद्धान्त को परिमित अर्थ मे ही सत्कार्यवाद कहा जा सकता है क्योकि अनिरुद्ध के उत्साह से ससिक्त हुए बिना, प्रकृति तीनों गुणो को उत्पन्न नही कर सकती।[1]

अनिरुद्ध, प्रद्युम्न द्वारा केवल जड प्रकृति का विकास करने के लिये ही नही थे किन्तु पुरुष को भी, जो उस शक्ति मे निहित है, नियति और काल रूप मे प्रकट करने को प्रेरित किये गये थे। जड रूप नियति और काल से प्रथम सत्व, सत्व से रजस् और रजस् से तमस् का विकास होता है। विष्वक्सेन सहिता के आधार पर, अनिरुद्ध ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया और ब्रह्मा ने चार वर्ण के स्त्री पुरुषो को उत्पन्न किया।[2]

---

[1] प्रतस्थ पुरुषां शक्ति ता मादाय स्वमूर्तिगाम्।
सबर्धयति योगेन ह्यनिरुद्ध स्वतेजसा॥ —अहिर्बुध्न्य संहिता ६-१४।

[2] विष्वक्सेन सहिता इस सम्बन्ध मे वैदिक लोगो की आलोचना करती है जो एकेश्वरवाद को नही मानते थे किन्तु स्वर्ग प्राप्ति के लिए वैदिक यज्ञ और कर्मकाण्ड पर आस्था रखते थे। इससे अन्त मे उनका सासारिक जीवन में पतन हो गया :

त्रयीमार्गेषु निष्णाताः फलवादे रमन्ति ते
देवा दीने व मन्वाना न च मा मेनिरे परम्,
तमः प्रायास्त्विमे केचित् मम निंदा प्रकुर्वते
सलापम् कुर्वते व्यग्र वेदवादेषु निष्ठिताः
माम् न जानन्ति मोहेन मयि भक्ति पराङ्मुखः
स्वर्गादिषु रमन्त्येते अवसाने पतन्ति ते।

—तत्वत्रय, पृ० १२८।

सर्वात्मनाम् समष्टिर्या कोशो मधु कृतामिव्। —अहि० सं० ६–३३।

बुद्धि तमोगुण से उत्पन्न होती है, उससे अहंकार और अहंकार से पंच तन्मात्र और ११ इंद्रियां भी उत्पन्न होती हैं। पंच तन्मात्र से पंच महाभूत होते हैं। जितने समस्त भूत पदार्थ हैं वे पंच महाभूत के ही प्रकार है।

यहां पुरुष का विशेष अर्थ किया गया है जो सांख्य मतानुसार नहीं है। पुरुष का अर्थ समस्त आत्माओं की समष्टि रूप में किया गया है जैसे मधुमक्खियों का छत्ता। वे जीव अनादि वासना से सयुक्त होते है, वे ईश्वर के विशिष्ट भेद हैं (भूति-भेदाः) वे स्वरूप से सर्वज्ञ है परन्तु वे क्लेश और अविद्या से व्याप्त है जो भगवत्-शक्ति रूप माया से प्रेरित होती है। वे ईश्वर के विशेष रूप हैं (भूतिभेदाः) और स्वरूप से सर्वज्ञ है, और ईश्वर शक्ति से प्रेरित हो उसकी सकल्प गति के अनुसार ये अविद्या तथा क्लेश मे फंसे रहते हैं।[1] यह आत्मा इस प्रकार अशुद्ध और सीमित होने से जीव कही गयी है। आत्मा बधन के दुःख से पीड़ित होती है और मुक्ति का प्रयास करती है, जिसे वह अन्त मे प्राप्त करती है। इन्ही अशुद्ध जीवो से पुरुष बना है, अतः अशतः अपवित्र होने के कारण शुद्धयशुद्धिमय है। (शुद्धयशुद्धिमय ४-३४) इस पुरुष मे समस्त मानव, बीज रूप से स्थित है, जिन्हे मनु कहा गया है। वे क्लेश और कर्माशय रहित हैं, सर्वज्ञ है और पूर्ण रूप से ईश्वर प्रेरित हैं। किन्तु इनका माया के साथ सम्बन्ध ईश्वर इच्छा मे होते हुए भी ऊपरी ही है। लिंग और वर्ण भेद के बीज को सनातन और सर्वातीत माना गया है (पुरुष सूक्त से तुलना करो) यह भेद मानव (मनु) के चारो जोड़ो मे भी है। अविद्या चित्त की आध्यात्मिक गति का अनुकरण करती है, इसी से जीव शुद्ध होते हुए भी वासना युक्त होते हैं। ये जीव इस सयोग की अवस्था मे विष्णु सकल्प से प्रेरित होकर ही रहते हैं जिसे पुरुषपद कहा है।[2] वे ईश्वर के स्वरूप मे अवतरित और तिरोहित होते दिखाई देते है। ईश्वर के रूप होने से ये अजन्मा, सनातन और ईश्वर के भूत्यश्र के भाग हैं।

ईश्वर के सकल्प की प्रेरणा से, अनिरुद्ध में एक शक्ति उत्पन्न होती है। ईश्वर के सकल्प से पुन प्रेरित होकर, उपरोक्त कथित मनु इस शक्ति में प्रवेश कर पिण्ड रूप से रहता है (तिष्ठन्ति कललीभूताः ६-४५) विष्णु की शक्ति के दो प्रकार हैं, जिन्हें क्रिया रूप और भूति कहा गया है। भूति, क्रियाख्य से उत्पन्न है।[3] यह गतिशील

---

[1] आत्मनो भूति भेदास्ते सर्वज्ञाः सर्वतोमुखा,
भगवच्छक्ति मायंवमन्द-तीव्रादि भावया
तत्तत् सुदर्शनोन्मेष-निमेषानुकृतात्मना,
सर्वतो विध्या विद्धाः क्लेशमाया-वशीकताः ॥ —अहि० संहिता ६, ३५, ३६।

[2] विष्णोः संकल्प रूपेण स्थित्वास्मिन् पौरुषे पदे। —वही ६-४१।

[3] क्रियाख्यो यो य मुन्मेष स भूति परिवर्तकः। तवही, ६-२६।

क्रिया ईश्वर से भिन्न है जो शक्ति का अधिपति है। इसके अनेक नाम दिये गये हैं,– लक्ष्मी, संकल्प, स्वतंत्र इच्छा (स्वातंत्र्य मूल इच्छात्मा)। यह इच्छा क्रिया, कल्पना के मानसिक चित्र पट खड़े करती है (प्रेक्षारूपः क्रियाफलः) और पुनः अव्यक्त, काल और पुरुष उत्पन्न करती है। सृष्टि रचना के समय ईश्वर अव्यक्त को विकासोन्मुख बनाता है, काल को कलन के साथ संयुक्त करता है और पुरुष को सुख दुःख के अनुभव करने की स्थिति में ले जाता है। प्रलय के समय इन शक्तियों का संकोच कर लिया जाता है।

ईश्वर की शक्ति में स्थित गर्भस्थ मनु में काल और गुण रहते हैं। विष्णु की संकल्प शक्ति की उत्तेजना से काल शक्ति-नियति उत्पन्न होती है (विष्णु संकल्प चोदिता) जिससे सृष्टि का नियन्त्रण होता है (सर्व-नियामकः)। काल और गुण ईश्वर-शक्ति के गर्भ में रहते हैं। इस प्रकार यहां शक्ति का अर्थ सांख्य-पातजल-मतानुसार प्रकृति से भिन्न है क्योंकि गुण इस मतानुसार मूल पदार्थ हैं और काल गुणों के व्यापार के अतर्गत तत्व समझा गया है। काल शक्ति से नियति उत्पन्न होती है इसी कारण से मनु भी इसी स्तर के तत्त्व हैं। तत्पश्चात् ईश्वर के सकल्प द्वारा नियति में से काल की उत्पत्ति होती है तब मनु फिर इसी स्तर में प्रवेश करते हैं।[1] ऊपर हम कह चुके हैं कि काल शक्ति और गुण, विष्णु की आद्य शक्ति में एक साथ रहते हैं। यह बीजभूत गुण ही काल-क्रम से, अपने को अभिव्यक्त करता है। जब सत्वगुण काल के सयोग से प्रथम उत्पन्न होता है तब मनु इस पदार्थ में प्रवेश करते हैं और तत्पश्चात् सत्त्व से रजस् और रजस् से तमस् के आविर्भाव के साथ उनकी कोटि में अवतरित हो जाते हैं। गुणों का क्रमबद्ध विकास विष्णु की संकल्प-शक्ति द्वारा ही होता है। यद्यपि विष्णु की संकल्प शक्ति उत्तरोत्तर विकास क्रम से सर्वव्यापी एव अलौकिक है, तो भी विष्णु विशेष रूप से सत्त्व गुण के अधिपति माने गये हैं तमस्, भारी (गुरु) विष्टम्भक, मोह पैदा करने वाला (मोहन) और स्थिर (अप्रवृत्तिमत्) हैं, रजस् सदैव चलित और दुःखदायक है। सत्त्व, उज्वल, स्वच्छ अशुद्धि-रहित और सुखदायक है।[2] विष्णु के संकल्प से तीनों गुणो के विकास द्वारा गुणो का

---

[1] प्रलय क्रम का वर्णन करते हुए ऐसा कहा है कि एक समय जगत् केवल काल रूप ही रहता है। समय में प्रगट होने वाली शक्ति को काल कहा है (कालगत शक्ति) और यही शक्ति सब पदार्थों को गति देती है और परिणाम करती है (अशेष प्रकृतलिनी) अहि० सं० ४-४८ काल को समस्त पदार्थों को तोड़ने वाला साधन भी कहा जिस प्रकार नदी का वेग किनारो को तोड़ देता है।

कल्पयत्यखिलं काल्यं नदी कूलं यथा रयः। —वही ६-५१।

[2] सत्व तत्र लघु स्वच्छं गुणरूपं अनामयम् अहि० स० ६-५२।
तदएतद् प्रचलं दुःखं रजः शश्वत् प्रवृत्तिमत् अहि० सं० ६-५७।
गुरु विष्टंभक शश्वन्मोहनं चाप्रवृत्तिमत् - अहि० सं० ६-६०।

कुछ अंश एक रूप बन जाता है, (त्रैगुण्य) इस अवस्था में तीनों गुण एकाकार हो जाते हैं (गुण साम्य) और यहां स्वभाव, अविद्या योनि, अक्षर और अयोनि एव गुण योनि की स्थिति पाई जाती है।[1]

गुणों की इस प्रकार समानानुपात अवस्था को गुणो का साम्य कहा है, जो तमोमय है उसे सांख्य मतानुसार मूल अथवा प्रकृति कहा गया है। जब मनु का इसमें प्रवेश होता है तब उसे समष्टि, पुरुष, योनि और कूटस्थ संज्ञा दी जाती है। काल तत्व, जो जगत् के परिणाम का कारण है; (जगतः संप्रकल्यनम्) फलोदय के हेतु से, पुरुष और प्रकृति से सयुक्त वियुक्त होता रहता है। विष्णु की संकल्प शक्ति, काल, प्रकृति और मनु के त्रिविध सघात द्वारा कार्यान्वित होती है और वह मिट्टी के पिण्ड की तरह उपादान कारण बनकर महत् से लेकर मिट्टी, जल इत्यादि सारे तत्वों को उत्पन्न करती है। प्रकृति पानी या मिट्टी की तरह, विकासात्मक या उपादान कारण है, पुरुष अपरिणामी रहता हुआ केवल अपने सान्निध्य से ही।[2] विविध परिणामो को रूप देता है। काल पुरुष और प्रकृति का अतस्थ गतिशील तत्व है। प्रकृति पुरुष और काल की त्रयी, उत्पन्न होने वाले समस्त तत्वों का आधार है। इस त्रयी मे प्रकृति जो परिणामशील है, उपादान कारण है, पुरुष अपने में कूटस्थ रहता हुआ भी अपने सानिध्य से ही परिणाम की क्रिया को अवसर देता है और काल तत्वों के अन्तः सश्लेषणात्मक व सरचनात्मक कारण को गतिशीलता प्रदान करता है। किन्तु ये कारण स्वतः उक्त त्रयी के विकास के लिये पर्याप्त नही हैं। त्रयी, ईश्वर की दैवी शक्ति से ही विकासोन्मुख होती है। पुरुष अधिष्ठान कारण माना गया है, काल भीतर घटित होने वाली क्रिया का सिद्धान्त है और ईश्वर की सकल्प शक्ति

---

[1] सुदर्शनभयेनैत्र संकल्पेनात्र वै हरेः ।
चोद्यमानेऽपि सृष्ट्यर्थं पूर्णं गुणयुग तदा,
अशतः साम्यमा याति विष्णु सकल्प चोदितम् ॥ —अहि० स० ६, ६१-६२ ।

यह पाठ क्लिष्ट है यह समझ मे नहीं आता कि गुण अंशत एक रूप कैसे हो सकते हैं। सम्भवतः यह अर्थ हो सकता है कि जब गुण विकासोन्मुख होते हैं तब गुण अपने विशेष व्यापार को नहीं प्रगट कर सकते है और दूसरे गुणों से एक सरीखे दीखने लगते है। इस अवस्था में, विकासोन्मुख विशेष गुण का अपना विशेष व्यापार नष्ट प्रायः हो जाता है और वे तमस् जैसे दीखने लगते हैं। जिस प्रमाण में सत्व तमस् जैसा दीखता है उसी प्रमाण में तमस् रजस् जैसा दीखने लगता है।

[2] पयोमृदादिवत् तत्र प्रकृतिः परिणामिनी,
पुमानपरिणामी सत् सन्निधानेन कारणं
कालः पचति तत्त्वे द्वे प्रकृतिं पुरुषं च ह ॥ —अहि० सं० ७, ५–६ ।

अलौकिक और व्यापक कर्तृत्व रूप से स्थित है जिसमें कारण रूप त्रयी अपनी गति का मूल आधार पाती है। विकास के क्रम में पहला तत्व महत् उत्पन्न होता है, जिसे सत्व, रजस् और तमस् की विशेष अभिव्यक्ति के आधार पर अनेक नाम से जाना जाता है जैसे विद्या, गौः यवनी, ब्राह्मी, वधू, मति, ऋद्धि मधु, अख्याति, ईश्वर और प्रज्ञा। सत्व, रजस् या तमस् के विशेष उन्मेष को ध्यान में रखते हुए, तमस्, सत्व और रजस् की विशेष अभिव्यक्ति के अनुसार इसे क्रम से काम बुद्धि और प्राण कहते हैं।[1] पल और क्षण रूप में स्थूल काल, बुद्धि और प्राण भी महत् के त्रिविध भेद हैं।[2] बुद्धि और प्राण की शक्ति मानो काल के ही द्वारा व्यक्त रूप धारण करती है। विचार और कर्म का सामजस्य काल द्वारा होता है क्योंकि काल को कलन-कारण, या सरचनात्मक कारण माना गया है। महत् का सात्त्विक अग, धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य के रूप मे प्रकट होता है और तमोऽभिभूत अग इससे विपरीत गुणो को प्रकट करते हैं।

महत् के प्रकट होने के साथ ही मनु का उसमे अवतरण होता है। महत् में से और महत् में, इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं जिन्हे विषयो के सत् असत् रूप का अनुभव होता है।[3] पुनः महत् में से और महत् में ही अहकार की उत्पत्ति विष्णु के संकल्प की प्रेरणा से होती है।[4] अहकार की चार भिन्न सज्ञाएँ दी गई हैं, जैसे अभिमान, प्रजापति, अभिमन्ता और बोद्धा। अहकार की सत्व, रजस् या तमस् के प्राधान्य से वैकारिक, तेजस और भूतादि तीन किस्में हैं। अहकार, इच्छा, क्रोध, तृष्णा, मनस् और तृषा के रूप मे अभिव्यक्त होता है। जब अहकार उत्पन्न होता है तो मनु उसमें प्रवेश करते हैं, अहकार से मनु का चिन्तनात्मक इंद्रिय रूप मनस् प्रकट होता है। इसी स्तर पर पहुँचने के बाद ही मनु, सर्व प्रथम चिन्तन करने योग्य बनते हैं। भूतादि रूप तमोमय अहकार से शब्द तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है जिससे आकाश प्रकट होता है। आकाश का गुण शब्द है जो सबको अवकाश देता है। आकाश को इस प्रकार रिक्त अवकाश कहना योग्य है जो शब्द गुण युक्त है।[5] आकाश के उत्पन्न होते ही मनु आकाश में प्रवेश करते हैं। वैकारिक अहकार से वाक् और श्रवणेंद्रियां

---

[1] कालो बुद्धिस्तथा प्राण इति त्रेधा स गीयते।
तमः सत्वरजो भेदात् तत्तदुन्मेष संज्ञया॥ —अहि० स० ७–६।

[2] कालस्त्रुटिलवाद्यात्मा बुद्धि रध्यवसायिनी,
प्राणः प्रयतनाकार इत्येता महतो भिदाः। —वही ७–११।

[3] बोधनं नाम वैद्यम् तदिन्द्रियं तेषु जायते।
येनार्थाग्रध्यवस्येयुः सदसत् प्रविभागिनः। —वही, ७–१४।

[4] विद्यया उदरे तत्राहकृतनीम जायते। —वही, ७–१५।

[5] शब्दैकगुणम् आकाशं अवकाशप्रदायीच। —अहि० सं० ७–२२।

उत्पन्न होती हैं।[1] मनु इस स्तर पर इन इन्द्रियों से सयुक्त हो जाते हैं। विष्णु की संकल्प शक्ति के प्रभाव से, भूतादि में से स्पर्श तन्मात्रा उत्पन्न होती है जिससे वायु प्रगट होती है, वैकारिक ग्रहकार से, विष्णु की कल्पना शक्ति द्वारा स्पर्शेन्द्रियां तथा हस्तादि कर्मेन्द्रियां प्रकट होती हैं। यहाँ पर मनु का इन ग्रहणशील और क्रियाशील इन्द्रियों से सबंध हो जाता है। भूतादि से रूप तन्मात्रा उत्पन्न हो जाती है जिससे फिर स्थूल तेज प्रकट होता है। पुनः वैकारिक ग्रहकार से चक्षु इन्द्रिय और पाद रूप कर्मेन्द्रिय प्रकट होती हैं और मनु का फिर इन इन्द्रियो से सम्बन्ध होता है। भूतादि से रस तन्मात्रा और उससे जल या आप उत्पन्न होते हैं। तदुपरान्त, वैकारिक ग्रहकार से रसनेद्रिय और लिंग उत्पन्न होने पर मनु का इनसे सम्बन्ध होता है। पुनः भूतादि से घ्राण तन्मात्रा और इससे पृथ्वी उत्पन्न होती है। फिर वैकारिक ग्रहंकार से ज्ञानात्मक घ्राणेंद्रिय और उपस्थ उत्पन्न होते हैं। विष्णु की सकल्प शक्ति से प्रेरित होकर मनु फिर इसमें प्रवेश करते हैं।[2]

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि एक ज्ञानेन्द्रिय और एक कर्मेन्द्रिय, प्रत्येक तन्मात्रा के विकास के साथ उत्पन्न होती है तथा पूर्ण विकास होने पर दसों इन्द्रियां युगल रूप से प्रकट हो जाती है। भूतादि के क्रमशः प्रलय का वर्णन किए गए अध्याय में यह बताया है कि प्रत्येक भूत के प्रलय के साथ, उससे उत्पन्न इन्द्रिय युगल का भी साथ-साथ प्रलय होता है। इससे यह अर्थ निकलता है कि हरेक स्तर पर भूत तत्व और कर्म तथा ज्ञानेद्रियों के बीच सहकार है। ज्यों-ज्यों क्रम से तत्वों का विकास होता है त्यो-त्यो जीव उनमे प्रवेश करते हैं, इससे यह अर्थ निकलता है कि जीव अनादिकाल से तत्वो के विकास से सबधित होने के कारण इन्द्रिय तथा उनके विषयो से भी सरलता से मिल जाते है। जब समस्त भूतादि तथा दस इन्द्रियां विकसित हो जाती हैं, तब कल्पना के कार्य, सकल्प शक्ति (सरम्भ) और मनस् अहंकार और बुद्धि से पच प्राण उत्पन्न होते है। इन तत्वों के विकास से व्यक्तित्व का निर्माण होता हैं।[3] प्रलय क्रम विकास क्रम से ठीक उलटा है।

---

[1] तदा वैकारिकात् पुनः श्रोत्रम् वाग्इनि विज्ञान कर्मेंद्रिययुग मुने।
—अहि० सं० ७, २३, २४।

[2] अहि० स० ७, ३६–४०।

[3] सकल्प एवैव सरम्भः प्राणाः पचविधास्तथा,
मनसो हकृतेर्बुद्धेर्जायते पूर्व मेव तु,
एवं संपूर्ण–सर्वगाः प्राणापानादिसयुताः
सर्वेन्द्रियतुता स्तत्र देहिनो मनवो मुने॥
—अहि० स० ७, ४२–४३।

मनु अपनी पत्नियों में अनेक पुत्रों को जन्म देते हैं जो मानव कहलाए हैं। वे पुनः और अन्य अनेक पुत्रों को जन्म देते हैं जो चारों वर्णों में नव मानव नाम से जाने गए हैं। उनमें से वे जो विवेक ज्ञान द्वारा अपना कार्य १०० वर्षों तक पूर्ण करते हैं वे हरि में वास करते है और जो सकाम सेवा करते हैं वे कर्मानुसार आवागमन में ही रहते हैं। ऊपर कहे अनुसार मनु कूटस्थ पुरुष का व्यक्ति रूप हैं। सारे जीव इस प्रकार विष्णु के भूत्यंश हैं। प्रकृति जो विद्या भी है और सृष्टि रचना के समय जल रूप में अपने को बरसा कर अन्न की सृष्टि करती है और प्रलय के समय, शुष्क ताप रूप है, वह जब मेघ का रूप धारण करती है तब अन्न उपजाती है। प्रकृति द्वारा इस प्रकार उत्पन्न किए अन्न को खाकर मनुष्य अपनी पूर्ण ज्ञान की मूलावस्था से गिर जाता है (ज्ञान-भ्रंशम् प्रपद्यते)। इस समय आदि मनु, जो मनुष्य सर्वज्ञता से च्युत हो गए हैं, उनके लिए शास्त्र प्रकट करते है।[1] उसके बाद ही जीव शास्त्रों के आदेशों का अनुगमन करते हुए अपने सर्वोच्च ध्येय को प्राप्त करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि चैतन्य आनन्द और क्रिया शक्ति रूपी विष्णु भावक और भाव्य रूप में विभाजित हो जाते है। पहली विष्णु की संकल्प शक्ति है और दूसरी शक्ति संकल्प शक्ति का विषय बनती है। इससे शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि उत्पन्न होती है। चारों मनुओं का जनक कूटस्थ पुरुष, शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि के बीच स्थित है।[2] विष्णु की सुदर्शन शक्ति के बाहर कुछ भी नहीं है।

जीव और ईश्वर के बीच क्या संबंध है इस प्रश्न के बारे में पंचरात्र और अहिर्बुध्न्य संहिता का यह मत है कि प्रलय में जीव विष्णु में अव्यक्त रूप से रहते हैं

इस प्रकार तेजस अहंकार के संयोग से भूतादि से पंच तन्मात्र, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंधादि उत्पन्न होते हैं। इन्हीं पाँचो मे से उसी क्रम से पाँच भूत उत्पन्न होते हैं जैसे आकाश, वायु, तेजस्, अप् और पृथ्वी। पुनः तेजस और वैकारिक अहंकार के संयोग से पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

[1] तत्तु वैद्यम् पयः प्राश्य सर्वे मानवमानवाः।
ज्ञान भ्रृशम् प्रपद्यन्ते सर्वज्ञाः स्वत एवते ॥ —अहि० सं० ७, ६१–६२।
इसे यहूदी-ईसाई मत के साथ तुलना कीजिए जैसाकि श्राडर ने अपने ग्रंथ में लिखा है। पृ० ७८।

[2] अंशयोः पुरुषो मध्येयः स्थितः स चतुर्युगः
शुद्धेतरमयं विद्धि कूटस्थं तत् महामुने ॥ —वही, ७, ७०।
गौडीय मत की तुलना करो जो जीवो को ईश्वर की तटस्थ-शक्ति मानता है—जो अतरग और बहिरग शक्ति के बीच है।

और नव सर्जन के समय उसमें से पृथक् हो जाते हैं। मुक्त होने के बाद वे विष्णु से अभिन्न हो जाते हैं फिर आवागमन नहीं होता। मुक्त होने पर वे ईश्वर में प्रवेश तो करते हैं किन्तु उससे एक नही होते, वे विष्णु से अपना भिन्न अस्तित्व रखते हैं या विष्णु-धाम वैकुण्ठ में वास करते हैं। वैकुण्ठ वास को बहुधा विष्णु से एकात्म होना भी माना है। यह सम्भवतः सालोक्य मुक्ति है जिसका वर्णन अन्य स्थान पर प्राप्त है। अहिर्बुध्न्य संहिता के १४वे अध्याय में मुक्ति को ईश्वरत्व की प्राप्ति कहा है (भगवत्तामयी मुक्तिया वैष्णवं तद् विशेत् पदम्)।[1] निस्वार्थता से पुण्य कर्म करना मुक्ति पाने का साधन माना जाता है।[2] जीवों को अनादि, अनन्त, शुद्ध चैतन्य और आनंद रूप माना है वे अधिकांश में ईश्वर जैसे है (भगवन्मय) तो भी उनका अस्तित्व ईश्वर की आध्यात्मिक शक्ति से है (भगवद् भाविताः सदा)।[3] इस विचार को यह कहकर और स्पष्ट किया गया है कि भाव्य भावक शक्ति के अतिरिक्त एक तीसरी भी पुंशक्ति है, जिसको गीता में क्षेत्रज्ञ शक्ति की सज्ञा दी है और इसे ही गौड़ीय सप्रदाय में तटस्थ शक्ति कहा है।[4] ईश्वर की सर्जन, पालन और संहार इन तीन शक्तियो के अलावा चौथी और पांचवी शक्ति भी है जिसे अनुग्रह और निग्रह कहते हैं। विष्णु प्राप्तकाम है उन्हे कुछ प्राप्त करना बाकी नही है उनकी स्वतत्रता दिव्य है तो भी वह एक स्वेच्छाचारी राजा की तरह क्रीडा करते हैं।[5] इस क्रीडा को गौड़ीय मत में लीला कहा है। ईश्वर की ये सब क्रियाएँ उसकी संकल्प-शक्ति के ही भिन्न रूप हैं जिसे सुदर्शन कहा गया है। अपनी निग्रह रूपी लीला में ईश्वर जीवों के स्वभाव को ढक लेता है जिससे वे अपने को अनत अनुभव न करके अणु रूप पाते हैं, सर्वशक्तिमत्ता के बजाय अल्प शक्तिमान्, सर्वज्ञता की जगह, अल्पज्ञ और अज्ञानी पाते हैं। ये तीन प्रकार के मल है और तीन ही प्रकार के बधन हैं। इस आवरण शक्ति द्वारा जीव अज्ञान, अहंकार, राग और द्वेषादि से पीडित हो जाता है। अज्ञान और रागादि से पीडित हो और सुख को प्राप्त करने और दुःख को दूर करने की इस प्रकृति से प्रेरित हो वह पाप और पुण्य कर्म करने लगता है। इससे वह आवागमन के चक्र में फसता है और अनेक प्रकार की वासनाओ से युक्त हो जाता है। सर्जन, पालन और सहार की शक्ति, बधन शक्ति और उसकी आवश्यकताओ द्वारा ही जागृत होती है और उसे जीवों को कर्मानुसार अनुग्रह और निग्रह के लिए क्रियाशील बनाती है। यह क्रीड़ा

---

[1] अहि० सं० १४, ३, ४, ४१।

[2] साधनं तस्य च प्रोक्तो धर्मोनिरभिसंधिक: –वही, १४, ४।

[3] वही, १४, ४।

[4] पुंशक्तिः कालमप्यन्या पुमान् सोऽयमुदीरितः   –वही, १४, १०।

[5] सर्वै रननुयोज्यं तत् स्वातंत्र्यम् दिव्यमीशितुः।
अवाप्त विश्व कामोऽपि क्रीड़ते राजवद् वशी ॥   –वही, १४, १३।

काल से परे होने के कारण अनादि है। तदनुसार बंधन भी अनादि है। बंधन किसी विशेष समय पर जीवो को अपने स्वस्वरूप से च्युत होने से प्राप्त हुआ है, यह परिस्थिति के विश्लेषण द्वारा कहा गया है। ईश्वर जीवों के दुःख और शोक की स्थिति पर दया करके अपनी अनुग्रह या कृपा शक्ति द्वारा, उनके कर्म की गति को रोक देता है। अच्छे और बुरे कर्म तथा उनके उपयुक्त सुख-दुःख रूपी भोगो के रुक जाने पर जीव मुक्ति के प्रति झुकता है उसमे वैराग्य उत्पन्न होता है और विवेक दृष्टि जागृत होती है। तब वह शास्त्र और गुरु के पास जाता है, सांख्य और योग के आदेशानुसार व्यवहार करने लगता है, वेदान्त का ज्ञान प्राप्त करता है और अन्त मे विष्णु-धाम पहुँचता है।

लक्ष्मी को विष्णु की अन्तिम तथा नित्य शक्ति माना है, उसे गौरी, सरस्वती धेनु भी कहा है। यही परम शक्ति सकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूप में प्रकट होती है। इस प्रकार ये भिन्न शक्तियाँ अभिव्यक्त होने पर ही गोचर होती है, किन्तु जब वे अव्यक्त होती हैं तब भी वे विष्णु में लक्ष्मी रूप से परम शक्ति के रूप में रहती हैं। यही लक्ष्मी, ब्रह्मा, विष्णु और शिव कहलाती है। व्यक्ति, अव्यक्ति, पुरुष, काल या सांख्य और योग इन सभी का लक्ष्मी मे ही वास है। लक्ष्मी ही परम शक्ति है जिसमें सब लीन होते है। अन्य प्रकट शक्तियों से पृथक् रूप मे होने में इसे पचम शक्ति कहा है। मुक्त पुरुष इस लक्ष्मी मे प्रवेश करता है जो विष्णु का परम धाम है। (परं धाम या परम पद) या पर ब्रह्म है। इस शक्ति के अंतराल में आनन्द का भाव है तो भी वह स्वरूप से आनन्दमयी है। इसे उज्ज्वल और विष्णु का भाव कहा है। यह शक्ति, उत्पत्ति, स्थिति, सहार, अनुग्रह और निग्रह रूपी पाँच कार्य करती मानी गई है (पंच कृत कारी)। ब्रह्म का इस शक्ति के साथ सयोग होने से वह जगत् पालक अल्प विष्णु से भिन्न, महा विष्णु कहलाता है। यह शक्ति सर्वदा अंतः क्षुब्ध रहती है जो कि बाहर से नही दिखाई पडती। यह अंतः क्षोभ और हलचल इतनी सूक्ष्म है कि वह सागर की तरह शान्त दीखती है।[1] इस प्रकार शक्ति विष्णु की माया भी कहलाती है।[2] इस शक्ति का अंशमात्र ही भाव्य और भावक शक्ति रूप में प्रकट होता है, भावक शक्ति ही सुदर्शन नाम से जानी गई है। भाव्य जगत् रूप से प्रगट होती है और इसका उद्देश्य भी संसार है।

---

[1] सदा प्रतायमानापि सूक्ष्मैर्भावर लक्षणैः
निर्व्यापारेव सा भाति स्तैमित्य मिव वोऽदधेः,
तयै वोऽप्यहितम् ब्रह्म निर्विकल्प निरंजनम् ॥   —अहि० सं० ५१, ४६।

[2] मायाश्चर्यकरत्वेन पच कृत्य करी सदा।   —वही, ५१, ५८।

सकल्प शक्ति का सार है जिससे आवर्त एवं वास्तविक जगत् में, प्रत्यय, शब्द तथा उसके अर्थ के रूप में विषय के रूप में प्रकट होते हैं।

संकल्प शक्ति, जिससे प्रत्यय, वास्तविक आदर्श जगत् में विचार और इसके अर्थ के रूप में प्रगट होते हैं, वह सुदर्शन शक्ति का सार है। दृश्य की बाह्य हलचल जब शब्द द्वारा चिन्तन रूप में ग्रहण की जाती है तब हमें सुदर्शन की शक्ति या महा विष्णु की संकल्प शक्ति का भान होता है। समस्त जगत् का कारण सुदर्शन शक्ति की अभिव्यक्ति का प्रकार है। इस प्रकार बाह्य जगत् की सारी हलचल तथा वाचा की समस्त क्रियाएँ ही केवल नहीं किन्तु द्रष्टा दृश्य रूप क्रिया जिससे सारा जगत् विचार और वाणी के रूप में ग्रहण किया जाता है, ये सब ईश्वर की सुदर्शन शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। समस्त ब्रह्म रूप और अभिव्यक्तियाँ गुण या कर्म रूप है, और वे दोनो सुदर्शन की शक्ति के ही रूप है। हमारी वाणी इस सत्ता के दो प्रकारो को ही निर्दिष्ट कर सकती है। इसी कारण वे सब सुदर्शन को ही इंगित करते हैं जो विष्णु का वाच्य है, ईश्वर के स्वरूप का वर्णन वे नही कर सकते। शब्द, इसलिए विष्णु के स्वरूप को प्रकट नहीं कर सकते। शब्द, जगत् को रहस्यात्मक प्रतीक के रूप में अपने में समा सकता है और उसकी सारी शक्तियो का वर्णन भी कर सकता है, यह सब कुछ होते हुए भी अंग सा है चाहे फिर शब्द सारे जगत् को अपने में समा लेने की शक्ति रख सके या सारे जगत् को अपने में समाहित कर सके और ईश्वर से तादात्म्य भी कर सके तो भी यह तादात्म्य केवल सुदर्शन से ही होता है। यह शंक और विचारक द्वारा ईश्वर में लय या उसकी अनुभूति प्रवेश करना ईश्वर की सुदर्शन शक्ति द्वारा ही हो सकता है जो लक्ष्मी का एक अंश है। इस प्रकार विष्णु से एकात्मता का अर्थ सुदर्शन से तादात्म्य है या लक्ष्मी मे प्रवेश होना है।[1]

नमः का तात्पर्य है मनुष्य के द्वारा ज्ञान पर बोध के सहारे महा विष्णु की पति रूप में हृदय से स्वीकृति।[2] कालतः और गुणतः विष्णु का प्रकर्ष ही उनका ज्यायस्त्व है।[3] विष्णु ही महान् है और सब उससे निम्न कोटि मे हैं। महान् और कनिष्ठ के सम्बन्ध का अर्थ यह है कि दूसरा पहले पर अवलम्बित है और दूसरे का जीवन ही पहले के लिए है। इस सम्बन्ध को शेष-शेषिता कहा है। दोनो में आराधक आराध्य सम्बन्ध है (नतृ-नंतव्य भाव)। सच्चा नमन उसे कहते हैं कि जब वह उपरोक्त भाव सहज ही बिना किसी हेतु या उद्देश्य के प्रगट हो और केवल यही विचार रहे कि

---

[1] अहि० सं० ५१, ६६-७८।

[2] प्रेक्षावतः प्रवृत्तिर्या प्रह्वीभावात्मिका स्वतः
उत्कृष्टं परमुद्दिश्य तन्नम परिगीयते।
—अहि० सं० ५२, २।

[3] कालतो गुणतश्चैव प्रकर्षो यत्र तिष्ठति
शब्दस्तं मुख्यया वृत्या ज्यायानित्यवलम्बते। —वही, ५२, ४।

विष्णु मुझ से कहीं महान् हैं और मैं उनसे कितना हीन हूँ ।[1] नमन का यह क्रम भक्त को ईश्वर के निकट ही नहीं पहुँचाता किन्तु ईश्वर को भक्त के पास लाता है। किसी भी प्रकार का प्रयोजन नमन के फल को बिगाड़ देता है। नमन प्रपत्ति क्रम का, अर्थात् ईश्वर से संरक्षण प्राप्त करने का प्रथम चरण है।[2] जब मनुष्य का ज्ञान, अनादि वासना से, बल की अर्थ हीनता से और अशुद्धि के संग से, अवरुद्ध हो जाता है, और जब मनुष्य को इन कमियों का पूर्ण रूप से भान होता है तब उसमें कार्पण्य अर्थात् दैन्य-भावना आती है। हम स्वतंत्र हैं यह भावना कार्पण्यता को मिटाती है। परमेश्वर सर्वदा दयावान् है इस उत्कट विश्वास के गुण को महा-विश्वास कहा है। ईश्वर उदासीन है और प्रत्येक को उसके कर्मानुसार दया दृष्टि करता है यह, विचार महा-विश्वास का बाधक है। ईश्वर कृपामय है, सर्व शक्तिमान् है, वह अवश्य हमारी रक्षाकरया यह भावना उसकी रक्षण-शक्ति में विश्वास उत्पन्न करती है। ईश्वर निर्गुण होने से हमारे रक्षण की याचना के प्रति उदासीन रहेगा, यह विचार, उपरोक्त गुण का बाधक है। ईश्वर को महान् गुरु या सर्वाधिपति स्वीकारना, जिसके आदेश की किसी भी प्रकार अवहेलना नहीं की जा सकती यह प्रातिकूल्य विवर्जन नामक गुण उत्पन्न करता है। शास्त्र-विरुद्ध ईश्वर की सेवा उपरोक्त गुण का बाधक है। ईश्वर की इच्छानुसार हम चले ऐसा मन में दृढ़ निश्चय और जगत् में जड़ और चेतन पदार्थ ईश्वर के ही अंश हैं ऐसा दृढ विश्वास शरणागति का गुण उत्पन्न करता है। जीव के प्रति वैर भाव इस गुण का अवरोधक है। ईश्वर के प्रति नमन (नमः) उपरोक्त गुणों से युक्त होना चाहिए। ईश्वर के प्रति सच्चे नमन (नमः) के साथ वह दृढ विश्वास आवश्यक है कि पदार्थों के प्रति हमारी अधिकार-भावना जो अनादि वासना तथा इच्छादि-जनित है वह मिथ्या है। भक्त यह माने कि वह स्वतंत्र नहीं है और न उसके पास अपना कहने को कुछ भी है। मेरा शरीर, मेरी सम्पत्ति, मेरे संबंधी मेरे नहीं हैं वे ईश्वर के ही हैं। इस विश्वास से उत्पन्न उत्कट भाव से ईश्वर को नमन करना चाहिए। भक्त को ऐसा लगे कि अंतिम ध्येय की प्राप्ति के लिए आराधना के सिवाय दूसरा और कोई रास्ता ही नहीं है और इस प्रकार वह अपने को ईश्वर को समर्पण करे और उसे अपनी तरफ खींचे। नमन का ध्येय उत्कृष्ट निरहंकारता और ईश्वर में आत्म-समर्पण है वह अपने लिए कुछ न बाकी रखे। जगत् ईश्वर से उत्पन्न है तो भी उसमें समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसलिए वह जगत् का निमित्त और उपादान कारण है और भक्त को हमेशा यह ध्यान रहे कि ईश्वर सर्व प्रकार से महान् है।

---

[1] उपाधि रहिते नायं येन भावेन चेतनः ।
नयति ज्यायसे तस्मै तद्वा नमनमुच्यते ॥ —अहि० सं० ५२, १।

[2] फलेप्सा तद्विरोधिनी । —वही, ५२, १५।

अहिर्बुध्न्य संहिता के ३६वें प्रकरण में ईश्वर-प्राप्ति के साधन रूप प्रपत्ति, न्यास या शरणागति के सिद्धान्त का जो उल्लेख मिलता है उसमें इन्ही उपरोक्त गुणो का विवेचन है।[1] शरणागति की व्याख्या यहाँ इस प्रकार की गई है, हम पाप और दोषयुक्त हैं, विष्णु की कृपा के बिना हम भटके हुए हैं, हम सर्वथा निराधार हैं इस विश्वास से ईश्वर की कृपा याचना करना शरणागति है।[2] जो मनुष्य प्रपत्ति के मार्ग को अपनाता है उसे सारी तपस्या, यज्ञ, तीर्थाटन, और दान के फल मिलते हैं और बिना अन्य साधन के सरलता से मुक्ति मिल जाती है। आगे और उल्लेख किया गया है कि प्रपत्ति-मार्ग अपनाने के लिए एक ही भाव की आवश्यकता है, कि वह विष्णु पर सर्वथा आश्रित रहे और अपने को नितान्त निराधार समझे। उपरोक्त भावना में दृढतापूर्वक विश्वास करते हुए साधक अपने आपको आराधना रत रखे तो उसे अन्य कोई प्रयत्न नहीं करना पडेगा,[3] ईश्वर ही सब कुछ कर लेगा। प्रपति इस प्रकार से उपाय ज्ञान है, उपाय ही नहीं है क्योंकि यह एक धारणा है, कर्म नहीं है। यह एक प्रकार से तरणी है जिसमें यात्री बैठता है और मल्लाह उसे पार लगा देता है।[4]

शुद्ध सर्ग का वर्णन करते हुए, ऐसा कहा है कि प्रलय के समय सारे कार्य अव्यक्त और अक्रिय हो जाते है और उसमें किसी प्रकार ही हलचल नहीं होती। विष्णु के उपरोक्त कहे षड्गुण अर्थात्, ज्ञान, शक्ति, बल ऐश्वर्य, वीर्य और तेज परम शांति की अवस्था में वायु विहीन आकाश की तरह रहते हैं।[5] इन सारी शक्तियो का शान्त भाव ही लक्ष्मी है जो मानो शून्यावस्था है। यह सहज ही स्फुटित हो गतिशील हो जाती है। ईश्वर की यह शक्ति भिन्न होते हुए भी, उसका ही स्वरूप है। इस

---

[1] षोढा हि वेद-विदुषो वदन्त्येनं महामुने,
आनु कूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्व-वरणं तथा
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥ —अहि० सं० ३७, २७-२८।

[2] अहं अस्मि अपराधानाम् आलयोऽकिंचनोऽगतिः
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थना मतिः
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेस्मिन् प्रयुज्यताम् ॥

—अहि० सं० ३७, ३०-३१।

[3] अहि० स० ३७, ३४-३५।

[4] अत्र नाविति दृष्टान्तादुपायज्ञानमेव तु।
नरेण कृत्यमन्यत् तु नाविकस्येव तद्धरेः। —अहि० सं०।

[5] पूर्णस्तिमित षाड्गुण्यमसमीराम्बरोपमम्।

—अहि० सं० ५, ३।

प्रगट क्रियात्मक रूप को ही शक्ति कहा है। अव्यक्त रूप में वह विष्णु से अभिन्न रहती है। विष्णु के इन गुणों को प्रकृति के गुणों से भिन्न समझना चाहिए, प्रकृति के गुणों का विकास अशुद्ध सर्ग के समय कहीं निम्न स्तर पर होता है।

व्यूहों का वर्णन करते ऐसा कहा गया है कि संकर्षण अपने में सारे जगत् को, कपाल में तिलक की तरह धारण करते हैं (तत्कालक) संकर्षण द्वारा धारण किया हुआ जगत् अभी अव्यक्त रूप में ही है। वह अशेष भुवनाधार है।[1] मनु काल और प्रकृति प्रद्युम्न मे से प्रगट होते हैं।[2] प्रद्युम्न के ही प्रभाव से मनुष्य शास्त्र विधि से कर्म करने को प्रेरित होते हैं।[3] अनिरुद्ध, जिसे महा विष्णु भी कहते हैं, बल और शक्ति का देवता है, और इसी की शक्ति से जगत् की रचना और पालन होता है। इसी से ही जगत् की वृद्धि होती है। इसी शक्ति से जगत् भय रहित रहता है और मुक्ति पाता है। शंकराचार्य के कथनानुसार संकर्षण जीव है, प्रद्युम्न मनस् है, और अनिरुद्ध अहंकार है।[4] किन्तु ऐसा मत पंचरात्र ग्रन्थों में बहुत कम देखने में आता है। तत्त्वत्रय में दिए विष्वक्सेन संहिता के उद्धरण के आधार पर संकर्षण जीवों का अध्यक्ष है, प्रद्युम्न को मनोमय माना है, किन्तु अनिरुद्ध के बारे में कुछ भी नहीं कहा है। लक्ष्मी तंत्र (४-६-१४) में ऐसा कहा है कि संकर्षण आत्मा, बुद्धि, मनस् है और वासुदेव सृजनात्मक लीला है। विष्वक्सेन संहिता में अनिरुद्ध मिश्र सर्ग (नियति रूप शुद्धाशुद्ध सर्ग) का निर्माण करते है, संकर्षण ने चेतन तत्त्व को जगत् से पृथक् किया और स्वयं प्रद्युम्न बन गए। अहिर्बुध्न्य संहिता के आधार पर पुरुष प्रकृति का भेद प्रद्युम्न स्तर पर होता है, संकर्षण स्तर पर नहीं। अहिर्बुध्न्य संहिता में अनिरुद्ध को सत्य तथा उससे उत्पन्न तत्त्वों का तथा मनु का अध्यक्ष माना है।[5] इसी ग्रन्थ में लक्ष्मी को विष्णु-शक्ति माना है किन्तु उत्तर नारायण में लक्ष्मी और भूमि को तथा तत्त्व त्रय में लक्ष्मी, भूमि और नीला को विष्णु-शक्ति माना है, विहगेन्द्र संहिता (२-८) में उन्हें देवी की इच्छा, क्रिया और साक्षात्शक्ति कहा है। सीता उपनिषद् में भी इसी प्रकार उल्लेख है यहाँ इसका सम्बन्ध वैखानस शाखा से है। विहगेन्द्र संहिता सुदर्शन की आठ शक्तियों का उल्लेख करती है, जो कीर्ति, श्री, विजय, श्रद्धा, स्मृति,

---

[1] ऐसा कहा है कि संकर्षण द्वारा ही समस्त शास्त्र उत्पन्न हुए हैं और प्रलय के समय वे उन्हीं में समा जाते हैं। —अहि० सं० ५५, १६।

[2] अहि० सं० ६, ६-१२।

[3] अहि० सं० ५५, १८ प्रद्युम्न को वीर भी कहा है।

[4] भिन्न व्यूहों के कार्य के बारे में मत मतान्तर हैं। लक्ष्मी तंत्र देखो ४, ११-२० विष्वक्सेन सं० भी तत्त्व त्रय में उद्धृत।

[5] अहि० सं० ६, २७।

मेधा, घृति और क्षमा हैं। किन्तु सात्वत संहिता में (९।८५) विष्णु की श्री श्रीवत्स उत्पन्न १२ शक्तियों का उल्लेख है, वे लक्ष्मी, पुष्टि दया, निद्रा, क्षमा, कान्ति, सरस्वती, घृति, मैत्री, रति, तुष्टि और मति हैं।

पंचरात्र अंशतः वैदिक और अंशतः तांत्रिक सिद्धान्तो पर आधारित है।[1] वह इसलिए मंत्र के गुह्य स्वरूप को मानता है। वह हम पहले ही कह चुके हैं कि जगत् सुदर्शन शक्ति से उत्पन्न हुआ है इसलिए जगत् की सारी शक्तियाँ, नैसर्गिक, भौतिक इत्यादि सभी सुदर्शन के ही रूप हैं। सुदर्शन की शक्ति समस्त चेतन एवं जड़ पदार्थों में तथा बधन और मुक्ति के रूप में प्रकट है। जो कोई भी उत्पन्न करने की शक्ति रखता है वह सुदर्शन शक्ति का ही प्रगटीकरण है।[2] मंत्र भी शुद्ध चैतन्य रूप विष्णु विष्णु की शक्ति है। उस शक्ति की सर्व प्रथम अभिव्यक्ति, जो घंटो की दीर्घ ध्वनि के रूप में होती है, उसे नाद कहते हैं।[3] इसे योगी ही सुन सकते हैं। दूसरी अभिव्यक्ति सागर से बूंद की तरह होती है, उसे बिन्दु कहते हैं। बिन्दु में नाम और उसके द्वारा संकेतित शक्ति का तादात्म्य है। इसके बाद नामी का उदय होता है जिसे शब्द ब्रह्मन् कहते हैं। इस प्रकार हरेक वर्ण की उत्पत्ति के साथ तदनुरूप अर्थ शक्ति (नाम्युदय) भी उत्पन्न होती है। इसके बाद अहिर्बुध्न्य सहिता में बिन्दु शक्ति से स्वर और व्यंजन की उत्पत्ति का वर्णन है। विष्णु की कुंडलिनी शक्ति के नृत्य से १४ प्रकार के प्रयत्नो द्वारा १४ स्वरो की उत्पत्ति होती है।[4] अपनी द्विधा सूक्ष्म शक्ति से यह रचना और सहार का कारण होती है। यह शक्ति मूलाधार से उठकर नाभि तक रहती है तब उसे पश्यन्ती कहते है। योगी ही इसे अनुभव कर सकता है। आगे वह हृदय कमल की तरफ बढ़ती है और कठ द्वारा व्यक्त शब्द के रूप में प्रगट होती है। स्वर शक्ति सुषुम्ना नाडी मे से चलती है। इस तरह से भिन्न-भिन्न व्यंजनो की ध्वनियाँ जगत् की भिन्न शक्तियो के आदर्श रूप हैं, वे भिन्न-भिन्न देवताओं

---

[1] वेद-तन्त्र-मयोद्भूत नाना प्रसव शालिनी। —अहि० सं० ६-६।

[2] सुदर्शनाह्वया देवी सर्व कृत्यकरी विभोः
तन्मयं विद्धि सामर्थ्यं सर्वं सर्व-पदार्थजम्
धर्मस्यार्थस्य कामस्य मुक्तेर्बन्धत्रयस्य च
यद्यत् स्वकार्यसामर्थ्यं तत्तत् सौदर्शनं वपुः।

—अहि० सं० १६, ४ और ६।

[3] साक्षात् विष्णोः क्रिया शक्तिः शुद्ध संविन्मयी परा। —वही, १६, १०।
इस क्रिया शक्ति को सामर्थ्य या योग या पारमेष्ठ्य या महातेजस् या महायोग भी कहा है। —अहि० सं० १६, १२।

[4] नटीव कुंडली शक्तिराद्या विष्णोर्विजृम्भते। —अहि० सं० ११, ५५।

के प्रतीक या शक्तियों की अध्यक्ष मानी गई है।[1] इनमें से कुछ वर्णों का भिन्न क्रम और व्यूह में समुच्चय, जिसे चक्र या कमल कहते हैं, भिन्न प्रकार की जटिल शक्तियों का प्रतिनिधि माना गया है। इन चक्रों की पूजा और ध्यान करने से चक्र में निहित शक्ति वश में आती है। हरेक चक्र और मंत्र के साथ भिन्न देवताओं का सम्बन्ध है। पंचरात्र ग्रन्थों के अधिकांश भाग इन चक्र और देवताओं के वर्णन और उनके पूजा क्रम, उनके अनुरूप मूर्ति और मंदिर बनाने के वर्णन से भरपूर हैं। मंत्रों के ध्यान द्वारा, उनके अनुरूप रक्षण कार्य भी होता जाता है।

अन्य तांत्रिक ग्रंथों की तरह अहिर्बुध्न्य संहिता में भी नाडी तंत्र का वर्णन है। सारी नाडियों का मूल (काण्ड) उपस्थ से ९ इंच ऊपर है। यह काण्ड चार इंच लम्बा और चौड़ा अंडाकार रूप है यह चर्बी, मांस, रक्त और अस्थि का बना होता है। उपस्थ से दो इन्च नीचे और गुदा से दो इंच दूर जो स्थान है उसे शरीर-मध्य या केवल मध्य कहा है। यह चतुर्भुजाकार है इसे आग्नेय मण्डल भी कहते हैं। नाडियों के मूल को नाभि चक्र भी कहते हैं। जिसमें १२ आरे होते हैं। नाभि चक्र के चारों तरफ अष्ट मुख कुण्डली (सर्प) है जिसने अपने शरीर से सुषुमा के ब्रह्मरंध्र-द्वार को बंद कर रखा है।[2] चक्र के मध्य में दो नाडियाँ है जिन्हे अलम्बुषा और सुषुम्ना कहा है। सुषुम्ना के दूसरी ओर कुहू, वरुण, यशस्विनी, पिंगला, पूषा, पयस्विनी, सरस्वती, शंखिनी, गांधारी, इडा, हस्तिजिह्वा और विश्वोदरा आदि नाडियाँ हैं। लेकिन कुल मिलाकर ७२००० नाड़ियां शरीर में है, इनमें से इड़ा और पिंगला और सुषुम्ना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से सुषुम्ना जो मस्तिष्क के मध्य में पहुँचती है बहुत ही महत्त्व रखती है। जिस प्रकार मकडी अपने जाले में फंसी रहती है ठीक उसी प्रकार आत्मा, प्राण से संयुक्त हो, नाभि चक्र में फसा है। सुषुम्ना के पांच मुख है जिनमें से चार खून का वहन करते हैं और मध्यवर्ती मुख कुण्डली के शरीर से बन्द है। दूसरी नाडियाँ छोटी हैं और शरीर के भिन्न भागों से जडी हुई हैं। इडा और पिंगला शरीर के सूर्य और चद्र के रूप मे मानी जाती हैं।

शरीर में दस प्रकार के प्राण वायु रहते हैं जिन्हे प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनजय कहा है। 'प्राण' वायु नाभि चक्र में स्थित है किन्तु वह हृदय, मुख और नाक से प्रगट होता है। 'अपान' वायु गुदा, उपस्थ, जघा, पाव, पेट, अंडकोष, कमर का भाग, आंतों तथा सारे निम्न भाग में

---

[1] विष्णु शक्तिर्मया वर्णा विष्णु संकल्प जृम्भिताः।
अधिष्ठिता यथा भावै स्तथा तन्मे निशामय।

—अहि० सं० १७, ३।

[2] अहि० सं० ३२, ११। यह वर्णन शाक्त तंत्र से भिन्न है। वहां कुण्डली शरीर-मध्य में रहती है, ऐसा कहा है।

क्रियाशील है। 'व्यान' आंख और कान के बीच, पांव की अंगुली, नाक, गला और मेरुदंड में स्थित है। 'उदान' हाथ में, और 'समान' सारे शरीर में स्थित होकर सामान्य परिसंचरण का कार्य करता है।[1] 'प्राण' का कार्य श्वास प्रक्रिया को पूरा करना है, व्यान का कार्य किसी वस्तु की तरफ झुकना या दूर हटना है। 'उदान' शरीर को ऊपर या नीचे उठाता है। 'समान' से खाना पचाने का और शरीर-वृद्धि का कार्य होता है। नाग वायु द्वारा वमन का कार्य सम्पन्न होता है, देवदत्त से निद्रा आती है, इत्यादि। इन नाड़ियों को इड़ा द्वारा श्वास लेकर शुद्ध किया जाता है। १ से १६ गिनती करने में जो समय लगता है उतना श्वास लेना चाहिए। १ से ३१ की गिनती तक श्वास को अंदर रोकना चाहिए। इस दरमियान किसी का ध्यान करना आवश्यक है। फिर योगी को इसी प्रकार पिंगला से श्वास लेना चाहिए और उसी प्रकार रोक रखना चाहिए, फिर उसे इड़ा द्वारा श्वास फेंकना चाहिए। यह अभ्यास दिन में तीन बार करते हुए तीन मास तक करना चाहिए। प्रत्येक समय अभ्यास तीन बार करना आवश्यक है। इससे नाड़ियां शुद्ध हो जाएँगी और इससे वह अपने शरीर स्थित सभी वायु पर ध्यान स्थिर कर सकेगा। प्राणायाम के अभ्यास मे उसे इड़ा द्वारा १ से १६ गिनती श्वास अन्दर लेना चाहिए, विशेष मंत्र का जप करते रहना चाहिए, फिर श्वास पिंगला द्वारा १ से १६ गिनती तक बाहर फेंकना चाहिए। पुन: उसे पिंगला द्वारा श्वास अन्दर लेकर इड़ा से बाहर फेंकना चाहिए। शनैः शनैः कुम्भक को बढ़ाना चाहिए। उसे प्राणायाम का अभ्यास दिन में १६ बार करना चाहिए। इसे प्राणायाम प्रक्रिया कहते हैं। इस अभ्यास से वह समाधि अवस्था तक पहुँच सकता है जिससे उसे सर्व प्रकार की सिद्धियां प्राप्त हो सकती हैं।

किन्तु नाडी शुद्धि के पहले योगी को आसन का अभ्यास करना आवश्यक है। चक्र, पद्म, कूर्म, मयूर, कुक्कुट, वीर, स्वस्तिक, भद्र, सिंह, मुक्त और गो मुख इत्यादि आसनो का उल्लेख अहिर्बुध्न्य सहिता में किया गया है। आसनो का अभ्यास योगी के स्वास्थ्य को ठीक रखता है। किन्तु इन शारीरिक आसनो का कोई फल नहीं होता जब तक योग की आध्यात्मिक दृष्टि का उदय नही होता। योग जीवात्मा और परमात्मा का सयोग कहा है।[2] अहिर्बुध्न्य सहिता के अन्तिम ध्येय की प्राप्ति के दो मार्ग बताए गए है। एक को विष्णु की कोई एक शक्ति के रूप में ध्यान लगाकर आत्म समर्पण करना कहा है, इसे हृद्‌ योग भी कहते हैं। यहा किसी एक

---

[1] अहि० सं० ३२, ३३-३७, यहां पर आयुर्वेद तथा शाक्त तंत्रो से चक्रो के स्थान के विषय भिन्न हैं।

[2] संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः ॥

—अहि० सं० ३१, १५।

विशेष रूप को मंत्र द्वारा ध्यान लगाना होता है। दूसरा मार्ग योग का है।[1] अहिर्बुध्न्य संहिता में, अधिकतर पहले हृद योग के उपदेशों पर ही जोर दिया गया है। दूसरे योग का केवल एक अध्याय में ही उल्लेख कर दिया गया है। जीवात्मा के भी दो प्रकार माने गए हैं एक जो प्रकृति से प्रभावित है, दूसरा जो उसके प्रभाव से परे है। परमेश्वर से कर्म और ज्ञान द्वारा तादात्म्य प्राप्त किया जा सकता है। कर्म के भी दो प्रकार हैं, इच्छा प्रेरित, जिन्हें प्रवर्तक कहा है और निवर्तक जो इच्छा रहितता से प्रेरित होते हैं। इनमें से दूसरे प्रकार के कर्म ही मुक्ति प्राप्त करा सकते हैं पहले प्रकार का कर्म इच्छा की फल-प्राप्ति करा सकता है। उच्च आत्मा सूक्ष्म, सर्वग, सर्वभृत्, ज्ञान रूप अनादि, अनंत है और अविकारी है, ज्ञान क्रिया रहित, अकाम, अजाति, अरूप और निर्गुण है तो भी सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, स्वय प्रकाश्य और सबों का पालन कर्ता है। वह सहज बोध द्वारा गम्य है।[2] योग जिसके द्वारा हमारी लघु आत्मा का परमात्मा से संयोग होता है वह अष्टाग द्वारा सिद्ध होता है। यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि ये योग के अष्टांग है।

इनमें से यम मे सत्य, दया, धृति, शौच, ब्रह्मचर्य, क्षमा, आर्जव, मिताहार, अस्तेय और अहिंसा का समावेश होता है।[3] नियम में सिद्धान्त-श्रवण, दान, मति, ईश्वर-पूजन, सतोष, तप, आस्तिक्य, ह्री, मत्रजप, व्रत आते हैं।[4] यद्यपि जीव का परमात्मा से सयोग ही योग कहा गया है। तो भी अहिर्बुध्न्य संहिता के रचयिता, पातंजल के योगानुशासन और उनके मत से योग चित्तवृत्तियों का निरोध है, इससे परिचित थे।[5]

अहिर्बुध्न्य संहिता में प्रभा की व्याख्या, 'यथार्थावधारणम्' कही है अर्थात् प्रभा वस्तु का यथार्थ ज्ञान है और वह प्रमाण से ग्राह्य है। मनुष्य के लिए हितकर वस्तु

---

[1] यद्वा भगवते तस्मै स्वकीयात्म समर्पणम् ।
विशिष्ट दैवतायास्मै चक्र रूपायमं त्रत:
वियुक्तं प्रकृतेः शुद्धं दद्यादात्म हविः स्वयम् ।।   —अहि० स० ३०, ४, ५ ।

[2] अहि० सं० ३१, ७-१० ।

[3] अहि० स० ३१, १८-२३ । यहां योग से मतभेद है। योग नियम के अतर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का समावेश करता है। देखो योग सूत्र २-३० ।

[4] अहि० सं० ३२, ३० । यहां पर भी पातजल योग से भेद है। योग में शौच, संतोष, तपः, स्वाध्याय, और ईश्वर-प्रणिधान को नियम कहा है। देखो योग सूत्र २-२३ ।

[5] अहि० स० १३, २७-२८ ।

प्रमाण से प्राप्त होती है, उसे प्रमाणार्थ कहते हैं। वह भी दो प्रकार का है, एक वह जो आत्यन्तिक और ऐकान्तिक हित का आह्वान करता है दूसरा जो परोक्ष रूप से हितकर है, इसे हित या साधन कहा है। ईश्वर से तादात्म्य होना जो अत्यंत आनंदमय है, अत्यंत हितकर है। उसकी प्राप्ति के दो मार्ग धर्म और ज्ञान हैं। ज्ञान भी दो प्रकार के हैं, साक्षात्कार और परोक्ष। धर्म से ज्ञान उत्पन्न होता है जो दो प्रकार का है एक साक्षात् रूप से और दूसरा परोक्ष रूप से, ईश्वर-भक्ति की प्रेरणा करता है। ईश्वर की दृष्टि से आत्म समर्पण या हृद्योग परोक्ष धर्म है, जबकि जिस मार्ग से योगी भगवान् का साक्षात्कार करता है वह साक्षात् धर्म है जो पंचरात्र ग्रंथों में उपदिष्ट है और सात्वत शासन कहलाता है। सांख्य मार्ग से ईश्वर का केवल परोक्ष ज्ञान ही प्राप्त होता है किन्तु योग और वेदान्त द्वारा भगवान का साक्षात्कार होता है। मोक्ष, धर्म, अर्थ और काम की तरह साध्य हैं यद्यपि ये तीनों आपस मे एक दूसरे के सहायक भी हैं।[1]

---

[1] अहि० सं० १३।

अध्याय १७

आलवार

आलवारों का कालक्रम

भागवत पुराण ११ . ५, ३८-४० मे ऐसा उल्लेख है कि विष्णु के भक्त दक्षिण में ताम्रपर्णी, कृतमाला (वैगाई), पयस्विनी (पलर) कावेरी और महानदी (पेरियार) के तट पर जन्म लेगे।[1] यह आश्चर्य की बात है कि नाम्मालवार और मधुर कवियालवार ताम्रपर्णी देश में जन्मे। पेरियालवार और उनकी पुत्री आण्डाल कृतमाल में, पोयगैयालवार, भूतत्तालवार, पेयरिवार और तिरु मरिसै पीरान, पयस्विनी में, टोन्डाराडि थोंडी यालवार, तिरुपाण आलवार और तिरु मगैयालवार कावेरी में, और परियालवार, और कुल शेखर पेरुमाल महानद देश मे जन्मे थे। भागवत् माहात्म्य में भक्ति को एक दुःखी महिला का रूपक दिया है जो द्रविड़ देश मे जन्मी थी, कर्नाटक और महाराष्ट्र मे प्रौढा हुई और जिसने अपने दो पुत्र ज्ञान और वैराग्य के साथ महान सकट काट कर गुजरात और उत्तरी भारत से वृन्दावन की यात्रा की। अनेक सकटों के कारण उसके दोनो पुत्र मर गए। भागवत पुराण के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत ही भक्ति सप्रदाय का मुख्य केन्द्र रहा।

आलवार दक्षिण के बहुत ही पुराने वैष्णव सत थे, जिनमे से सरोयोगिन् या पोयगैआलवार, और पुतयोगिन् या भूतत्तालवार से महदयोगिन् अथवा पेय आलवार,

[1] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि भागवत पुराण आलवार सप्रदाय के उत्कर्ष काल के पश्चात् लिखा गया है। जो पद्य यहाँ उद्धृत किया है वह वेंकटनाथ ने अपने 'रहस्य त्रय' ग्रथ मे दिया है। प्रपन्नामृत (अ० ७७) में आलवार के पूर्वगामी तीन वैष्णव सन्तों का उल्लेख है। (१) कोमारयोगिन्, जन्म कांची (२) भूत योगीन्द्र जन्म मल्लीपुर (३) भ्रान्त योगीन्द्र, जो महत् या महार्य भी कहलाते थे और विष्वक्सेन के अवतार थे। इन्ही सन्तो ने वैष्णवो के पाँच सस्कारों का (तपः पौड्रस्तथा नाम मन्त्रोयोगश्च पचमः) प्रचार किया वे भावनाप्रधान वैष्णव सप्रदाय के प्रवर्त्तक थे। जिसमे भक्ति का अर्थ गलदश्रु भावमदोन्मादन है। उन्होने मस्ती के अनुभवो को तीन ग्रथो मे वर्णन किया है यह ३०० पद्य वाला तामिल ग्रंथ है। वे माधव, दासाई और सरोयोगिन् नाम से जाने गए थे।

भक्तिसार और तिरु मरिसै पिरान बहुत पुराने थे : नाम्मालवार या शठ कोष, मधुर कवियल्वार, कुल शेखर पेरुमाल, विष्णु चित्तम् (या पेरियालवार) और गोड़ (आण्डाल) इनके बाद हुए और भक्ता ध्रिरेणु (तोण्डरादि पोडियालवार), योगी बाहू (तिरुपावाल्वार) और परकाल (तिरु मगैयाल्वार) सबसे पीछे हुए। परम्परा से पहले के आल्वारो का काल ई० पू० ४२०३ और पिछले का काल ई० पू० २७०६ माना गया है।[1] वर्तमान अनुसधान के अनुसार उनका काल ई० स० की सातवी या आठवी शताब्दी से पूर्व नही माना जाता। आलवारो के विषय मे परम्परागत सूचना भिन्न-भिन्न गुरु परम्परा के ग्रथो मे मिल सकती है। गुरु परम्परा के आधार पर भूतात्त, पोयगै और पेयालवार, विष्णु की गदा, शख और नदक के अवतार थे, कदन-मलै और मयिलै भी अवतार थे। जबकि तिरुभरिसैपीरान विष्णु के चक्र के अवतार थे। नाम्मालवार विष्वक्सेन के अवतार थे और कुल शेखर पीरमाल, विष्णु के कौस्तुभ के अवतार थे। इसी प्रकार पेरियालवार, और तिरु मगेयालवार, गरुड, वनमाला और शार्ङ्ग के अवतार थे। तिरुपाणालवार अन्तिम अवतार थे। आण्डाल जो पेरियालवार की दत्तक पुत्री थी और मधुर कवियालवार जो नाम्मालवार के शिष्य थे भी आलवार कहे गए हैं। ये मद्रास प्रान्त के भिन्न-भिन्न स्थानों से आए थे। इनमे से सात ब्राह्मण थे, एक क्षत्रिय, दो शूद्र और एक निम्न पनर जाति का था। गुरु परम्पराओ मे इनका जीवन वृत्तान्त दिया है और उनका काल्पनिक समय जब वह अपनी समृद्धि की स्थिति मे थे ईसा से पूर्व दिया गया है। गुरु परम्पराओ के अतिरिक्त, व्यक्तिगत लेख भी पाए गए है जिनमें निम्न महत्वपूर्ण है : पडित गरुड वाहन कृत दिव्य सूर्ति चरित (१) दिव्यसूरि जो रामानुज के समकालीन थे पिवारा-गींय पेरुमाल जीवार का 'गुरु परम्परा प्रभावम्' जो दिव्य सूरि चरित के आधार पर मणि प्रबाला शैली अर्थात् सस्कृत और तामिल भाषा मिश्रित मे लिखा गया है, (३) पेरिय तिरु मुड़ि अडैवु आम्बिलाई कण्डाडै यप्पन कृत मणवाल मामुनी कृत तामिल ग्रन्थ है। (४) उपदेश रत्नमालै, तामिल मे रचित ग्रन्थ है, इसमे आलवारो की सूची दी है। (५) यतींद्र श्रवण प्रभावम्, पिल्लै लोकाचार्यर कृत है। आलवारो के विषय मे सूचना देने वाला दूसरा स्रोत, आलवारो के ग्रन्थो का विख्यात् सग्रह है जो 'नाल आमीर दिव्य प्रबधम्' नाम से प्रख्यात है। इनमें दिव्य प्रबन्ध पर १० टीकाएँ हैं और नाम्यालवार लिखित तिरुवायमोरी है। इनके अतिरिक्त मद्रास प्रान्त में अभिलेखो के रूप में अनेक पुरालेखीय साक्ष्य भी मिलते है।

मारणवाल मामुनि, अपने 'यतींद्र प्रवण प्रबध' मे कहते है कि पेयालवार भूतत्ता-लवार, पोयगैयालवार और तिरुमरिषै पीरान पल्लवो के काल में हुए जो कांची में

---

[1] एस० के० आयगर की लिखित : वैष्णवो का प्राचीन इतिहास पृ० ४-१३, रा० ब० भाण्डारकर की वैष्णव, शैव और उपसंप्रदाय, पृ० ६८, ६६।

ई० पू० ४ थीं शताब्दी में आए थे। पुनः प्रो० डूबील कहते हैं मामले नगर जहाँ भूतत्तालवार रहते थे, नृसिंह वर्मन प्रथम के पहले विद्यमान नहीं था। क्योंकि इन्होंने ही सातवीं शताब्दी के मध्य में इस नगर को बसाया था। तदुपरान्त तिरुमंगे यालवार परमेश्वर वर्मन द्वितीय के बनाए वैष्णव मन्दिर की प्रशंसा की, इससे यह अनुमान होता है कि आलवारो का आठवी शताब्दी (ई० स०) में उत्कर्ष हुआ यही शताब्दी चोल और पाण्ड्य प्रदेशो में और वैष्णव संप्रदाय तथा शकर के महान् आन्दोलनों का समय रहा है।[1]

परम्परागत वर्णन के आधार पर नाम्मालवार कार्ली के सुपुत्र थे जो पाण्ड्य राज दरबार मे प्रतिष्ठित स्थान रखते थे और उन्होने अपने कालमारंन परांकुश और शठकोप इत्यादि नाम रखे, तथा उनके शिष्य मधुरकवियालवार थे। उनका जन्म स्थान तिरुक्कुरगुर था। मदुरा मे दो शिलालेख प्राप्त हुए हैं जिनमें से एक का काल कलि ३८७१ का है, जब पुरान्तक राज्य करते थे। उनके उत्तर मत्री माल के सुपुत्र थे, इन्हे मधुर कवियाल्वार नाम से भी जाना जाता था। दूसरा शिलालेख मारजदैयम् के राज्य काल का है। काल का ३८७१ या वर्ष ईसोत्तर ७७० के बराबर है। इसी समय परान्तक पाड्य सिंहासनारूढ हुए। इनके पिता पराकुश ई० स० ७०० में मर गए। किन्तु मालकारी मत्री पद पर वर्तमान रहे। नाम्मालवार का नाम कार्ली-मारंन था इससे अनुमान लगता है कि उत्तर मत्री कार्ली इनके पिता थे। इस वर्णन का गुरु परम्परा द्वारा भी समर्थन होता है। उपरोक्त प्रमाणों तथा अन्य प्रमाणो से जो गोपीनाथ राउ देते हैं, यह सिद्ध होता है कि नाम्मालवार तथा मधुर कवियालवार का काल ई० स० ८ शताब्दी या नवम् शती का पूर्व भाग रहा। कुल शेखर पेरु का भी सम्भवत: यही काल रहा होगा। पेरियालवार तथा उनकी दत्तक पुत्री आण्डाल सम्भवत: श्री वल्लभ देव के समकालीन रहे जो नवीं शती विद्यमान थे। तोण्डर आडी पोड़ियालवार, तिरुमगैयालवार और तिर, पाणालवार समकालीन थे। तिरु मगैयालवार पल्लवमल की रणदुन्दुभि का जिक्र करते हैं जो इस ७१७ और ७७९ के बीच राज्य करते थे इसलिए ये आलवार इस काल के पहले नहीं हो सकते थे। किन्तु तिरुमंगैयालवार, कांची मे विष्णु की प्रशसा करते हुए वैरमेघ पल्लव का उल्लेख करते हैं, जिनका काल सम्भवतः नवमीं शताब्दी था। इससे यह धारणा की जा सकती है कि तिरुमगै इसी समय रहे होगे। श्री एस० के० आयगर के कथनानुसार आलवार अन्तिम ८वीं शताब्दी के प्रथम भाग में विद्यमान रहा होगा।[2] सर आर० जी०

---

[1] सदृगत श्री टी.ए. गोपीनाथ राउ कृत सर सुब्रह्माण्य आयर व्याख्यान १९२३, पृ० १७।

[2] इस भाग को रामानुज गुरुं वादी कहा है। आलवारो का क्रम यहाँ इस प्रकार है, पोपनैयालवार, भूतत्तालवार, पेयालवार, तिरुपाणालवार, तिरुमरिसै पीरान् तोण्डराड़ि थोड़ीयालवार, कुलशेखर, पेरियालवार, आण्डाल, तिरुमंगैयालवार।

भण्डारकर का अभिप्राय है कि कुलशेखर पेरुमाल मध्य १२वीं शताब्दी में रहे होंगे। वे ट्रावणकोर के राजा थे और उनकी 'मुकुन्द माला' कृति में 'भागवत पुराण' (११ : २, ३६) के एक पद का उद्धरण मिलता है। इस आलेख की साक्षी से सेंद कुलीय पेरमादी का कार्यकाल ११३८-११५० का है। इन्होंने कुलशेखरांक को पराजित किया था। मंडारकर कुलशेखरांक को कुलशेखर पेरुमाल से अभिन्न मानते हुए इनका काल बारहवीं इसवी शताब्दी निर्धारित करते हैं। जबकि श्री राऊ उन्हें नवम् शताब्दी पूर्वार्ध का बतलाते हैं। श्री भण्डारकर का मानना है कि आलवार सर्वप्रथम ५वीं या ६वीं शताब्दी में विद्यमान रहे, और कहते हैं गुरु परम्परा-सूची में दिया हुआ आलवारों की प्राथमिकता क्रम अविश्वसनीय है। आयगर की आलोचना का मुख्य बिन्दु यह है कि वे श्री भंडारकर के इस कथन का विरोध करते हैं कि कुल शेखर पेरुमाल और कुलशेखराक, दोनों व्यक्ति एक ही थे। आलवारों के ग्रन्थ तमिल भाषा में लिखे गए थे और इनमें से जो प्राप्त हैं वे सब रामानुज या नाथमुनि के काल मे संग्रहीत हुए थे। इस सग्रह मे ४००० ऋचाएँ है जिसे 'नालायीर दिव्य प्रबधम्' कहते हैं। लेकिन कम से कम इसका एक भाग कुरुत्तलवम् या कुरुत्तम, जो कि रामानुज के प्रमुख शिष्य थे, रचा गया था और जिसके एक इस ग्रंथ में दिया हुआ आलवारो का क्रम गुरु-परम्परा के क्रम से भिन्न है इसमे नाम्मालवार का उल्लेख पृथक् किया गया है। पुनः रामानुज के अनुगामी एव शिष्य, पिल्लान्, जिन्होने नाम्मालवार के तिरुवायमोर्री की टीका की है वे एक पद्य मे सभी आलवारो के नाम देते हैं केवल आण्डाल को ही छोड दिया है।[1] इससे यह पता चलता है कि कुल शेखर रामानुज के समय मे आलवार मान लिए गए थे। श्री वेंकटनाथ (१४वीं शताब्दी) का सूची में जो एक तामिल प्रबध मे दी है, मधुर कवियालवार तथा आण्डाल को छोड़ सभी आलवारो के नाम दिए हैं। प्रबध में वाड़कलै सम्प्रदायानुसार गुरु-परम्परा का भी उल्लेख है जिसका प्रारम्भ रामानुज से होता है।[2]

कुलशेखर, अपने मुकुन्दमाला नाम ग्रन्थ मे कहते है कि वे कोल्लि (चोल की राजधानी उरैपुर) कुदाल (मदुरा) और कोगु के राजा थे। त्रावनकोर (वजीकुलम्)

---

[1] भूत सरश्च महदनव्य भट्टनाथ
श्री भक्ति सार कुल शेखर योगिवाहान्
भक्तांघ्रिरेणुपरकाल यतीद्रमिश्रान्
श्रीमत् परांकुश मुनि प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥
—श्री आयंगर मे 'वैष्णव संप्रदाय का प्राचीन इतिहास' से उद्धृत।

[2] रामानुज के गुरु पेरिय नाम्बी थे, उनके बाद अलवन्दर मनक्कल नम्बी, उय्यक्कौन्दर, नाथमुनि, शठकोप, विष्वक्सेन (सेनाई नाथन्), महालक्ष्मी और विष्णु हैं। —वही, पृ० २१।

के निवासी होने के कारण, वे पाडय और चोल की राजधानी, मदुरा और उरैपुर के राजा बन गए। ई० स० ६००० के बाद जब चोल राजा परांतक शक्तिशाली हो गया और जब चोल की राजधानी उरैपुर न रहकर तजौर हो गयी थी, तब त्रावणकोर का चोल और पाण्डय राज्यो पर आधिपत्य असमव था। यह परिस्थिति महान् पल्लवराजनृसिंह वर्मन् के उत्थान (६००) के पहले या नदि वर्मन् के साथ उस वंश के पतन के बाद (८००) मे ही सम्भव थी। अगर वेरेमेघ के समकालीन तिरुमार्गेयाग्विार को अतिम आलवार माना जाय तो कुलशेखर का जीवन काल छठी शताब्दी मे हमे रखना पडेगा। किन्तु गोपीनाथ राउ कुलशेखर के पाठ का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि वह पाठ पल्लव राजा की हार और मृत्यु उनके हाथो हुई इस घटना का सकेत करता है। वे इस राजा को पल्लव नरेश दन्तिवर्मन् बताते हैं जो ८२५ मे हुए थे, तथा उनके मतानुसार दन्तिवर्मन् का शासन काल नवम् शताब्दी का प्रथम भाग था। कुछ भी हो, भण्डारकर का कुलशेखर को कुलशेखराक (११५०) के साथ एक करना असमव है क्योकि १०८८ के एक अभिलेख में मिलता है कि कुलशेखर ने सैत्तरुमसिरल का पाठ किया।[१] श्री आयगर आगे और कहते है कि श्री भण्डारकर के कथनानुसार मुकुन्दमाला के अनेक सस्मरणो मे भागवत पुराण के उद्धरण नही मिल पाते। इसलिए हम भण्डारकर का यह मत कि कुलशेखर मध्य १२वी शताब्दी में हुए, उसे सर्वथा अमान्य ठहराते है।

आलवारो के कालक्रम के बारे मे दक्षिणवासी इतिहासकार एव पुरालेखज्ञो मे भारी मतभेद रहा है, यह मतभेद न केवल आलवारो के कालक्रम के बारे मे है, बल्कि उनकी तिथि तथा पहले और अन्तिम तथा मध्य आलवार कौन थे, इस बारे मे भी है। इस प्रकार श्री आयगर पहले चार आलवारो का काल दूसरी शताब्दी के आसपास रखते है जबकि श्री गोपीनाथ राउ सातवी शताब्दी का मध्य रखते है।[२] श्री आयगर ने नाम्मालवार का काल मध्य छठी शताब्दी के पहले भाग मे माना है, जबकि गोपीनाथ राउ नवी शती का पूर्वार्ध बताते हैं। श्री आयगार आलवारो का इतिहास सातवी शताब्दी के मध्य तक समाप्त मानते है किन्तु श्री गोपीनाथ राऊ कुलशेखर के समय को ८२५ ई० मानते हैं तथा पेरियालवार का समय इसी के साथ या कुछ पहले का बताते है तथा तोण्डरादिपोडी आलवार तिरुमगैयालवार, तिरुपाणालवार, (समकालीन) का समय ई० ८३० के लगभग मानते है। विवादग्रस्त मतो को देखते हुए, जिनका विशद् उल्लेख यहां नही किया जा सकता, मैं श्री गोपीनाथ के मत से

---

[१] श्री आयगर कृत–वैष्णव सप्रदाय का प्राचीन इतिहास, पृ० १३।

[२] ये पेयालवार, भूतात्तालवार और पोयगैयालवार तिरु मरि सैपीरान् है, इनमें से पहले तीन श्री निवासो मे मुदलारंवार कहलाते है।

सहमत होना उपयुक्त समझता हूँ। प्रथम चार आलवारों के समय को छोड़कर अन्य आलवारों का क्रम, काल-क्रमानुसार नहीं किया गया है, क्योंकि उनमें से बहुत से समकालीन थे और जिनका इतिहास २०० वर्ष के भीतर अर्थात् ७ से ६वीं शताब्दी के अंदर समाप्त हो जाता है।

आलवार उसे कहते हैं जिसे ईश्वर का सहज साक्षात् ज्ञान हो और जो ईश्वर के ध्यान में डूबा रहता है। आलवारों के ग्रंथ विष्णु के उत्कृष्ट एव अभिन्न प्रेम से भरे हुए हैं। यह प्रेम प्रपत्ति सिद्धान्त की नीव बनकर रहा। आलवार और अरगीयसों में अन्तर यह है कि आलवारो को ब्रह्मन् और उनकी शरणागति के सुख का व्यक्तिगत अनुभव था और अरगीयस विद्वान थे और उन्होने आलवार सिद्धान्तो को विशद् रूप से प्रस्तुत किया था। अरगीयसो के बारे में हम आगे कहेगे। पौगे, भूतात्त और पेय ने तिरुवन्ताड़ी ग्रथ के १०० पद्य के अलग-अलग तीन प्रकरण रचे थे।[1] तिरुमरीसाई पीरान ने अपने जीवन का अधिकांश भाग त्रिपलीकेन, कांजीवरम् और कुम्भकोनम में बिताया था 'नन मुखम् तिरु-वन्ताडि' जिसमे ६६ दोहे है और 'तिरु चण्ड वृत्तम्' नामक तीन स्तोत्र, तिरुमरिसेपीरान ने लिखे हैं। नाम्मालवार कुरूक्क की शूद्र जाति में जन्मे थे। जो आजकल तिने वल्ली जिले मे आलवार्तीरू नगरी के नाम से जाना जाता है। ये आलवारो में से बहुसर्जक लेखक थे और उनकी कविताएँ 'नालाचीर दिव्य प्रबधम्' नामक ग्रन्थ मे सग्रहीत है। उनके रचित 'तिरुवृत्तम् नामक ग्रन्थ मे १०० श्लोक हैं 'तिरु वाषिरियम्' मे सात श्लोक हैं, 'पेरियतिरुवताडी' ८७ श्लोको का ग्रन्थ है और 'तिरु वाय मोली' नामक ग्रन्थ मे ११०२ श्लोक है। नाम्म आलवार का समस्त जीवन ईश्वर के ध्यान मे ही बीता। उनके शिष्य मधुर कवि उन्हे विष्णु का अवतार मानते थे। कुलशेखर राम के अनन्य भक्त थे। उनका रचित मुख्य ग्रन्थ पेरुमाल तिरुमोर्री है। पेरियालवार, जो विष्णुचित्त नाम से भी जाने जाते थे, वे श्री बित्तिपुत्तुर मे जन्मे थे। उनके मुख्य ग्रन्थ तिरुपल्लाण्डु और तिरुमोर्री हैं। पेरियालवार की दत्तक पुत्री, आण्डाल कृष्ण की अनन्य भक्त थी, वह अपने को कृष्ण की गोपियो में से एक मानती थी और जिसने अपना जीवन कृष्ण-मिलन के लिए बिताया। वह श्रीरगम् के रगनाथ भगवान् को ब्याही गई थी। उनकी मुख्य रचनाएँ तिरु पावै और नच्छीयार है तिरुमोर्री तोडराडी पोडि-आलंवार मन्दनगुडी में जन्मे थे। वे देवादेवी नाम की वेश्या के छल मे फँस गए थे किन्तु प्रभु रगनाथ की कृपा से बच गए। उनकी मुख्य रचना 'तिरुमालै' और 'तिरु पल्लियेरूंची' हैं। तिरुपाणारंवार को निम्नजाति के सन्तान-विहीन पनार ने पाला-पोसा था। उनकी दस श्लोकी एक रचना है जिसका नाम 'अमलनादि विरान्' है। तिरु मगे चोर जाति में उत्पन्न हुए थे।

[1] गवर्मेन्ट ओरियन्टल लाइब्रेरी मद्रास से हस्तलिखित प्राप्त।

उनकी मुख्य रचनाएँ 'पेरिय तिरुमोरी' 'तिरुकुरुन दाण्डकम,' 'तिरु नेडु दाण्डकम्,' 'तिरु वेरुट्रिरुक्कै' इसके, 'सिरिय तिरुमडल' और 'पेरिय तिरुमड़ल' हैं। तिरुमंगे पहले डाका डालते थे किन्तु रगनाथ भगवान् की कृपा से उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया। 'नाल ग्रायीर दिव्य प्रबधम्' नामक ग्रन्थ जिसमे ग्रालवारो की रचनाएँ हैं, तामिल देश में महान् पवित्र ग्रन्थ माना जाता है और उसे वेदो के समकक्ष रखते हैं। वह ग्रन्थ बड़ी धूमधाम से मंदिर मे ले आया जाता है और उस समय इस ग्रन्थ के श्लोकों का पाठ होता रहता है। इस ग्रन्थ का पाठ ग्रन्य मुख्य ग्रवसरो पर भी किया जाता है जैसा कि विवाह, मृत्यु इत्यादि। इस ग्रन्थ के पदो का पाठ मदिर के सामने के कक्ष में भी किया जाता है और वेद मत्रो के साथ क्रिया-कर्म के समय भी इनका उपयोग होता है।

ग्रालवारों का तत्व दर्शन

ग्रालवारो की कृतियाँ साहित्यिक एव भक्ति की दृष्टि से ही महत्व रखती है, इसलिए उन्हे तात्विक दृष्टि से देखना कठिन है। दृष्टान्त के तौर पर ग्रन्थो के सामान्य विषय का परिचय कराने के लिए, मैं 'नाम्मीवार' के (शठ कोप) रचना के मुख्य विषय का सक्षेप मे वर्णन करूँगा। वह ग्रभिराम वराचार्य की द्रमिडोपनिषद् के ग्राधार पर रचित है।[1] शठ कोप की प्रभु के प्रति भक्ति उनके हृदय में समा न सकी, वह उत्कट भाव उनकी कविता मे फूट निकला और जिससे दु खी लोगो के हृदय को सात्वना मिली। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्हें ग्रपने जनसाधारण के दु खो के प्रति उनके माता-पिता से भी ग्रधिक सहानुभूति थी। शठ कोप का एक मुख्य उद्देश्य यह था कि मनुष्य ग्रपने को महान् ग्रात्मा पुरुषोत्तम के प्रति स्त्री भाव से समर्पित करे; और प्रत्येक जीव को उसी पर निर्भर रहने वाली स्त्री समझे, इसलिए शठकोप ग्रपने को स्त्री भाव से प्रियतम की लगन मे डूबे हुए, उसी पर सर्वथा ग्राधीन मानते थे। वे ग्रपने चार ग्रन्थो मे से प्रथम मे ग्रावागमन से छुटकारा पाने के लिए प्रार्थना करते हैं, दूसरे मे भगवान के महान् तथा उदार गुणो के ग्रनुभव का वर्णन करते हैं, तीसरे मे प्रभु से मिलने की उत्कठा, और चौथे में भगवान से ऐकात्म्य की ग्रनुभूति प्रभु से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा की तुलना में कितनी कम ठहरती है। पहले प्रकरण के दश श्लोको मे दास्य भाव प्लावित है। इसी मे वे भगवान् के विशिष्ट गुणो का वर्णन भी करते हैं। दूसरे दस श्लोको में भगवान की दया का वर्णन करते हुए कहते हैं हमें दुनिया की क्षणभंगुर एव निरर्थक वस्तुग्रो से सर्वथा राग हटा लेना चाहिए। तत्पश्चात् वे भगवान् से लक्ष्मी सहित दुनियां में ग्रवतार

---

[1] गवर्मेंट ग्रोरियन्टल हस्तलिखित पुस्तकालय मद्रास से प्राप्त।

धारण करने की प्रार्थना करते हैं और उनकी स्तुति करते हैं। वे अपने पापों को स्वीकारते हुए प्रभु से अपने वियोग के असह्य दुःख का वर्णन करते हैं। फिर वे भगवान से आलिंगन करते हैं और यह अनुभव करते हैं कि उनकी त्रुटियों का कारण उनका स्वयं का ही दोष है। वे कहते हैं कि दास्य भाव की अभिव्यक्ति और सफलता किसी प्रकार के पूजा के उपकरणों पर आधारित कर्मकांड पर निर्भर नहीं है, केवल तीव्र उत्कंठा पर ही निर्भर है। सच्ची भक्ति की ही नितांत आवश्यकता है। भगवान् के उत्तम गुणो के मनन से जनित तीव्र आनन्द से यह भक्ति प्रारम्भ होनी चाहिए, जिससे भक्त को यह प्रतीत हो जाए कि इन गुणो से महान् कही किसी मे कुछ नहीं है। वे नम्र हृदय से यह कहते हैं कि भगवान् उन भक्तो की सेवा को स्वीकार कर लेते हैं जो, कुटिल शत्रु को भी अन्य साधनो द्वारा अधिकार में लाने के बजाय, केवल मैत्री का ही सम्बन्ध जोडते हैं।[1] जो लोग अपने सहज भाव को स्वीकारने में तत्पर हैं, उसी तत्परता से उन्हे अपने में भगवान् का अनुभव होगा। सम्पूर्ण भक्ति द्वारा ही हम भगवान् के कृपा पात्र बन सकते हैं अन्य कोई साधन व्यर्थ है। वे दूसरे शतक में कहते हैं कि जिस भक्त को भगवान् के उत्तम गुणों का अनुभव है किन्तु मोहवश अन्य वस्तु से विरक्त नहीं हुआ है, वह ईश्वर के वियोग के असह्य दुःख की पीडा भोगता है और उसे ऐसे दुःख से पीड़ित समस्त मानव जाति से सहानुभूति होती है। पुराण कथा और, विशेषकर भागवत की कथाओं द्वारा शठकोप को ईश्वर की निकटता का अनुभव होता है जो दुःखो को दूर कर भगवान के सम्बन्ध को दृढ करता है। फिर उन सन्तो का वर्णन करते हैं जिन्होने अपने अन्तर मे ब्रह्मानंद का अनुभव किया है, जो समस्त आनन्दमय भावो की खान हैं और वह इस आनन्दानुभव की तीव्र अभिलाषा करते हैं। इस अभिलाषा से शठकोप के हृदय में भगवत्-विरह का तीव्र दुःख उत्पन्न हुआ और निरर्थक इच्छाओं की विरक्ति हुई। उन्होने प्रभु से न मिल पाने की अपनी असमर्थता पर अत्यत दुःख प्रकट किया और ऐसा करने से वे दुःखाभिभूत हो अचेत हो गए, इससे भगवान् ने उन्हे साक्षात् दर्शन दिए, फिर उन्होने भगवान् के दर्शन के आनद का वर्णन किया। किन्तु तो भी उन्हे वे खो देंगे यह भय लगा रहा है क्योकि वे उनके लिए महान् हैं, इसलिए उन्होने प्रभु के राग की शरण ली। तत्पश्चात् वे यो कहते है कि जिनमे अधिकार की भावना है वे ही ईश्वर से मिल सकते हैं। वे भगवान् के तेजस्वी गुणो का वर्णन करते हैं और कहते हैं कि ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करना मोक्ष से अधिक वांछनीय है, वे कहते हैं कि मोक्ष की सच्ची परिभाषा भगवान् का

---

[1] कौटिल्य वस्तु करण त्रितये पि जन्तुष्वात्मीत्यमेव करण त्रितयैकरूपम्। संदर्श्य तानपि हरिः स्व-वशीकरोति आचष्ट साद्र-करुणो मुनि रष्टमेन।

—द्रमिड़ोपनिषद् तात्पर्य—हस्त०।

दास बनना ही है।[१] तीसरे शतक के प्रथम भाग में वे भगवान् के सौन्दर्य का वर्णन करते हैं। वे विलाप करते हैं कि वे अपनी इन्द्रियाँ और मन की सीमा के कारण उनके पूर्ण सौन्दर्य का अनुभव नही कर सकते हैं। फिर वे ईश्वर की असीम अनुकम्पा और अपने दास भाव का वर्णन करते है। तत्पश्चात् व समस्त ससार और सांसारिक वस्तुओं के निर्देशक शब्दों मे भगवान के शरीर की कल्पना करते हैं।[२] ईश्वर की सेवा से उत्पन्न हर्ष और आनन्द का भी वर्णन करते हैं और कहते है कि जो भगवान् के निकट नही आ सकते उन्हे भगवान् की मूर्ति में तथा उनकी पौराणिक कथाओं में मन लगाकर सान्त्वना लेनी चाहिए। तत्पश्चात् वे अपने को भगवान् के विरह के शोक मे डुबा देते है और आशा करते हैं कि वे अपनी इन्द्रियो को वश मे करके भगवान् का साक्षात् दर्शन कर सकेंगे। वे उन लोगो के लिए दुःखी होते हैं जो कृष्ण को छोडकर अन्य देवो की उपासना करते है। वे भगवान के दर्शन तथा उसके आनन्द का वर्णन करते हैं।

चतुर्थ शतक मे सुख देने वाली समस्त वस्तुओ की क्षणभंगुरता का वर्णन किया गया है और भगवान को प्रसन्न करना ही सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य माना है। वह यह समझाते हैं किस प्रकार सर्व पदार्थों से विरक्ति होने से और देश काल की मर्यादा रहित भगवत्-प्रेम के उत्कर्ष से, तथा उनके सतत् दर्शन न होने से वियाग की पीडा से वे अपने को स्त्री मानते हैं और वियोग के इस असह्य दुःख से अचेत हो जाते हैं।[३] तत्पश्चात् भगवान् किस प्रकार भक्त प्रणय से रीझ जाते हैं और वह उन्हे आलिगन में लेकर मन, वचन और देह-क्रिया द्वारा भोग्य बनाकर भक्त अपनी अभिलाषा पूर्ण करता है,

---

[१] मोक्षादर स्फुटमवेक्ष्य मुनिर्मुकुन्दे।
मोक्ष प्रदातु सदृक्ष फलम् प्रवृत्ते ॥
पारमेष्टमस्य पद किकसातैकरूपम्।
मोक्षाख्य वस्तु नवमे निरणयि तेन ॥ —द्रमिडोपनिषद्-तात्पर्य, हस्त०।

[२] सर्वं जगत् समवलोक्य विभोश्शरीर]
तद्वाचिनश्च सकला नपि शब्दराशीन् ॥
त भूत-भौतिक-मुखान् कथयन् पदार्थान्
दास्य चकार वचसैव मुनिश्चतुर्थे ॥ —वही।

[३] त पुरुषार्थं मितरार्थं रुचे निर्वेण्या
सांद्र स्पृहा समय देश विदूरेगं च
इष्सुः शुचा तदनवाप्ति भुवो द्वितीये
स्त्री भावनां समधिगम्य मुनिर्मुमोह।

—द्रमिडोपनिषद्, हस्त०।

इसका वर्णन मिलता है। इसके बाद उन्होंने किस प्रकार तीव्रता से कृष्ण प्राप्ति का प्रयास किया और श्री कृष्ण उनके सामने से अंतर्ध्यान हो गए और किस प्रकार फिर वे एक बार पुनः विरह दुःख में डूब गए, इसका वर्णन हुआ है। फिर उन्हें भगवान् की झलक और उनकी सर्वश्रेष्ठता की अनुभूति का आनन्द मिलता है। आगे जाकर वे वर्णन करते हैं कि किस प्रकार उनका भगवत् दर्शन एक स्वप्न था और उसके टूट जाने से वे मूर्छित हो गए। समय-समय पर आने वाले इस विरह काल के सूनेपन को वे भगवत् नाम के जप में बिताते थे और उनकी आराधना करते थे। वे विलाप किया करते थे कि बिना भगवान् के सब कुछ सूना है। बीच-बीच में ईश्वर की ओर से विमुख होने की त्रुटि करती चली जा रही मानवता के प्रति गहरी सहानुभूति उमडती रही। उनके अनुसार ईश्वर के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के प्रति राग ही बन्धन है।[1] जब कोई यह अनुभव कर लेता है कि भगवान् ही सब कुछ है तो उसके सारे बन्धन टूट जाते है।

पंचम शतक मे वे यो कहते है कि प्रभु कृपा ही मनुष्य का रक्षण कर सकती है। वे अपने को प्रभु की पत्नी अनुभव करते है और उससे आलिंगन के सतत अभिलाषी है। भगवान से मिलने के शोक, विलाप और चिन्ता से अभिभूत होकर वे मूर्छा रूपी अधकार मे डूब गए जिससे इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो गई। मूर्छा के बाद वे भगवान के आभूषण देख पाए किन्तु उनका साक्षात् दर्शन न कर पाए जिससे शोक और हर्ष दोनो मे डूबते रहे। वियोग-दुःख से छुटकारा पाने को उन्होंने भगवान् से तादात्म्य साध सुख पाया और उन्होंने यह सोचकर भगवान् की क्रियाओं का अनुकरण किया, कि जगत् भगवान् से ही उत्पन्न हुआ है।[2] आगे ७०, ८० पदो मे वे कुम्भकोनम की श्री कृष्ण की मूर्ति के प्रति अपने अनुराग का वर्णन करते हैं और यह भी वर्णन करते हैं भगवान के उनसे उदासीन हो जाने के कारण किस तरह उन्होंने महान् दुःख उठाया क्योंकि भगवान् ने अपने प्रेमी को आलिंगनादि प्रेम-व्यापार द्वारा संतुष्ट नही किया, और

---

[1] प्रीताः परहरिरमुष्य तदा स्वभावाद्
एनन्मनो वचन-देह-कृत-क्रियाभिः
स्रक चंदन-प्रमुख-सर्व विध-स्वभोग्यः
संश्लिष्टवानिदमुवाच मुनि स्तितीये ॥

—वही।

[2] शोकं ज तम् परि जिहीर्षु रिवाखिलानाम्
सर्गादि, कर्तुः अनुकारर सेन शौवेः
तस्य प्रवृत्तिः अखिला रचिता मायेऽति,
तद् भावभाविता मना मुनि राहा षष्ठे।

किस तरह भगवान् से अपने प्रणय-व्यापार की उपेक्षा के कारण अप्रसन्न हो गए और किस तरह अन्त में भगवान् ने स्नेहपूर्वक आलिंगनादि प्रदान कर उन्हें सन्तुष्ट किया। भगवान् को जो जगत् का दिव्य अधिपति है, उनके लिए प्रेम और सहानुभूति उत्पन्न हुई और उन्हे मानुषिक प्रेम के प्रकार से सतुष्ट किया।[1] वे प्रभु के आलिंगन से प्राप्त महासुख का वर्णन करते हैं, इस उन्मत्त इन्द्रिय प्रेम और ईश्वरीय आलिंगन को पाकर वे जीवन के सम्बन्ध में सासारिक रुचि से विमुख हो गए।

नवम् शतक में, ये महात्मा, यह जानकर कि वे सामान्य पदार्थ को नही देख सकते हैं और विश्व में भगवान् के दैवी अस्तित्व से भी सन्तोष नही होता इसलिए उन्होने भगवान के अप्राकृत वपु मे ध्यान लगाया और उनका सानिध्य प्राप्त करने को विलाप करने लगे। शतक का अधिकतर भाग विरह के विलाप से पूर्ण है। पुनः किस प्रकार सतत् विलाप और चिन्तन से उन्हे साक्षात्कार हुआ इसका वर्णन करते हैं, किन्तु फिर भी वे दुःखी रहे क्योकि वे उन्हे स्पर्श न कर सके। तत्पश्चात् भगवान् ने प्रार्थना सुनकर मानुषी रूप धारण किया और उनके दुःखो को दूर किया।[2] अन्य कई पदो मे वे भगवान से वियोग और क्षणिक मिलन के दुःख का वर्णन करते हैं और किस प्रकार पक्षियो द्वारा भगवान को सदेश भेजते हैं, किस प्रकार भगवान ने मिलन मे विलम्ब किया इसलिए दुःखी हुए कैसे वह निर्दिष्ट समय पर मिलन की आशा रखते थे तथा वे किस प्रकार स्वर्ग मे किए जाने वाले काम धरती पर भी दोहराए जाएँ और किस तरह उनका व्यवहार गोपियो जैसा ही तीव्र और प्रचड हो यही सब वर्णन के विषय रहे। अतिम पदो में वे यही निष्कर्ष पर आते हैं कि भगवान् का सच्चा दर्शन अति प्रेमी भक्त को ही हो सकता है, इन चर्म चक्षुओ के लिए दर्शन सम्भव नही है।

श्री हूपर ने नाम्मालवार रचित तिरुवृत्तम ग्रन्थ के कई रोचक उद्धरणों का अनुवाद किया है, यहाँ जो उद्धरण दिए गए हैं उनसे यह ज्ञात हो जाता है कि उनके भगवान के प्रति प्रेम गीत किस प्रकार के हैं।[3]

---

[1] कोप मम प्रणयजम् प्रशमय कृष्ण,
स्वाधीनताम् आतनुतेऽति सविस्मयः सः
स्वीया विरुद्ध जगद् आकुलितां न चतेन
सर्दाशता अनुवभूव मुनिः तृतिये। —वही।

[2] सग निवर्त्य मम सस्मृति मडले माम्
सस्थापयम् कथम् अस्तीति अनु चोदितेन
आश्चर्य लोक तनुताम् अपि दर्शयित्वा
विस्मारितः किल शुचम् हरिणा स्तमेऽसौ। —वही।

[3] अलवारों के गीत—जे० एस० एम० हूपर रचित पृ० ६१-६८।

वह बाला अपने मोहक केशों से, उन चरणों का प्रेम करती चिरजीव रहे, जिन चरणों को देवता पूजते हैं, वह कन्हैया के मेघ समान काले चरणों में प्रेम करती है, उसकी आँखें शोक से गहरे सरोवर में कायल मछली की नाई लाल लाल हो गई हैं।[१] अब इस ग्राम में जिसका शीतल स्वभाव था वहाँ परम लू बरसती है। क्या कृष्ण अपना राजदंड [एक तरफ रख कर मेरी इस विरही बाला का प्रेम चुराने के लिए काल मेघ बन गए हैं, क्योकि तुलसी के लिए सुधबुध खोकर खुली आँखों से अश्रुपात कर रही है।[२]

भगवान् के वियोग में आलवार को अन्धकार को देखने में आनन्द आता है क्योकि वे कृष्ण जैसे काले हैं :

तुम कृष्ण के स्वर्ग के समान सुन्दर हो, जब वह चला जाता है तब वियोग कितना लम्बा दीखता है किन्तु वे जब होते हैं तब सयोग के क्षण कितने छोटे लगते हैं। प्रेमी का दीर्घ अथवा अल्प सानिध्य दुःख ही दुःख देता है। कपटी होते[३] हुए भी वह आच्छादक मेघ धन्य हैं। मेरी उस सुन्दर ककण वाली युवती का क्या होगा जो बडी कायल जैसी अश्रुयुक्त आँखो सहित अपने हृदय में तुलसी के प्रति प्रेम पीड़ा छिपाकर घूम रही है, और तुलसी के पुष्प गरुड द्वारा लाए गए हैं और वे झझावात मे गिरि की ओट में घनीभूत होते जा रहे है।[४]

आलवार हसो और बलखो से अपना सदेश ले जाने की याचना करता है। उडते हुए हंस और बलाका। मैंने आते ही याचना की, कि जो कोई भी पहले पहुँचे किन्तु यह भूले नहीं। अगर तुम मेरे हृदय से कम्रन को वहां देखो तो उन्हें मेरी याद दिला देना और कहना कि तुम अभी तक उनके पास नही गए क्या यह उचित है ?

आलवार विलाप करता है कि मेघ उनका सदेश नहीं ले जाएगे। वह मेघ और कृष्ण की समानता बताता है :

मेघावली, मुझे यह बताओ कि तुमने तिरुमाल का धन्य रूप किस प्रकार पाया ? तुम जीवन देने वाला पानी भर कर आकाश में घूमते हो, इससे तुम्हारा शरीर पीडित होता है शायद इसी तपस्या से तुम्हें कृष्ण का रग प्राप्त हुआ।

मित्र भगवान् की निष्ठुरता का भी वर्णन करता है :

---

[१] युवती यहाँ पर आलवारों की शिष्या है और प्रेयसी गृहिणी है, कन्हैया कृष्ण हैं।

[२] ये भी युवती के वचन हैं, तुलसी से श्रीकृष्ण अभिप्रेत हैं।

[३] वियोग बहुत लम्बा दीखता है और मिलन क्षणिक। (आलवार)

[४] माता का युवती के लिए विलाप।

इस रात्रि के लम्बे समय मे जब मनुष्य को अंधकार में भी रहना पड़ता है, तब भी उसे दया नही आती कि वह असह्य शोक मे खड़ी हुई है, उसकी कटि कोमल है और वह मृगनयनी वन में घूम रही है, क्या मैंने उसे कप्तन के चरण कमल की लम्बी स्तुति करके इसलिए पैदा किया था ?

आलवार नील कमल मे श्रीकृष्ण की समानता देखता है और भगवान् को सर्वत्र देखता है :

नीले विशाल गिरि पर कमल के सारे सरोवर मेरे लिए भगवान् की चक्षु की सुन्दरता है, जो भगवान् जगत् पति है स्वर्ग का भी पति है और समस्त पुण्यशाली आत्माओ का पति है और वह मेरा भी है।

आलवार भगवान की महानता के गुण गान करता है :

सन्तो ने अपने पवित्र श्रम से पुण्य कमा कर कहा है और दावे के साथ कहा है कि 'भगवान का रग शानदार सौन्दर्य नाम और रूप और तेजस्वी गुण यह है वह है' किन्तु उनका श्रम भगवान की महानता को नही पा सकता। उनका ज्ञान एक टिमटिमाते दीप के समान है।

सौतेली माता, प्रणयिनी, पर दयार्द्र है, क्योंकि प्रेमिका लम्बी रात्रि सहन नही कर सकती '

सुन्दर दन्त, गोल स्तन एव गुलाबी मुख वाली, मेरे पाप से उत्पन्न वह युवती विलाप करती रहती है, यह सुन्दर किन्तु अनन्त राते तुलसी के लिए उसकी अनन्त अभिलाषा की तरह कितनी नित्य है।

पुन: सौतेली माता दयार्द्र होती है क्योंकि उसकी युवती कन्या अभी इस उत्कट प्रेम के लिए अल्पायु है :

अभी उसके स्तन पूरे खिले नही है, मुलायम बाल अभी छोटे ही हैं और अचल अभी तक कटि पर ढीला है, आँखो पर अभी भी निर्दोष भाव और बोली भी तुतलाती है।

पुन भगवान् प्रेयसी के प्रति मोह होने पर मित्र के उलाहने का उत्तर देते है :

उसके लाल कमल-नयन मेरा जीवन है वे स्वर्ग के समान हैं।

प्रेयसी अधकार सहन नही कर सकती और तो भी चद्र के आगमन से दु:खी हो जाती है :

हे बालचन्द्र ! तूने रात्रि के विशाल अंधकार को वेष्टित कर लिया है मुझे भी उसी प्रकार समेट ले। क्या चद्र अधिक प्रकाश डाल कर मुझ असहाय को सुखी करना चाहता है, जो तुलसी पुष्पो के लिए आतुर है ?

प्रेयसी की सहचरी उसे शिथिल हुई देख निराश होती है :

अहा हा: वह सुबकती है और गद्गद होकर घनश्याम को पुकार रही है। क्या मालूम वह जी सकेगी या उसका यह शरीर और जीव चला जाएगा।

पुनः कुल शेखर रचित तिरुमाल तिरुमोर्रीं अध्याय ५ मे ऐसा कहा है :

यद्यपि लाल अग्नि स्वतः उभरती है और प्रचड दाह बरसाती है, तो भी लाल कमल, केवल लाल चंड आंखो वाले भगवान् के लिए ही फूलते हैं, जिनका निवास ऊँचे स्वर्ग में है, हे विन्नुवकोडु के पति ! क्या तू मेरा दुःख दूर नही करेगा ? मेरा हृदय तेरे असीम प्रेम के सिवाय और कही नही पसीजता।

समस्त नदियाँ अपना पानी इकट्ठा कर फैलती हैं और दौडती हुई समुद्र में मिलती हैं, बाहर अलग नही रह सकती। हे मेरे आधार ! तेरे आनद में डूबे बिना मेरा कोई सहारा ही नही है, हे विन्नुवकोडु के पति, हे मेघ वर्णी गुणी, केवल तू ही सत्य है।[1]

उसी पुस्तक में आगे और लिखा है : [2]

मेरा ससार से कोई रिश्ता नहीं है और यह संसार झूठ को सच मानता है अतः मैं पुकारता हूँ, हे रगन् मेरे पति ! तेरे ही लिए मेरा राग जलता है।

मेरा इस ससार से कोई सम्बन्ध नही है, क्षीण कटि युक्त युवतियो के समूह मे से केवल मैं ही प्रेम और हर्ष से तुझे पुकारती हूँ हे रगन् मेरे पति !

पुनः 'नालायीर दिव्य प्रबधम्' ग्रन्थ के तीरु पावई खण्ड में कवित्री आण्डाल गोपी भाव से अपनी सहेलियो से सोए हुए कृष्ण को जगाने के लिए कहती है।

हम गायों के साथ जंगल में चलें और वहाँ चलकर भोजन करें। ग्वाले हमें नहीं पहचानेगे। यह कितना सुन्दर वरदान है कि तुम हम जैसो में ही पैदा हुए हो। गोविंद तुम्हें किसी की कमी नही है, पर हमारा तुमसे यह सम्बन्ध कभी नहीं छूटेगा। अगर हम प्यार दुलार में तुम्हारा बचपन का नाम पुकारें तो तुम रुष्ट न हो जाना। हम तो बच्चे हैं कुछ नहीं जानते, क्या तुम हमे मृदग दोगे ? ओ० एलोरेम्बावाय।[3]

पुनः पेरियालवार अपने को यशोदा मानते हुए बालक कृष्ण का वर्णन करते हैं जो धूल में पडा हुआ चद्र को पुकार रहा है :

---

[1] हूपर कृत, वही, पृ० ४८।
[2] वही, पृ० ४४।
[3] वही, पृ० ५७।

(१) वह धूल में लोट रहा है जिससे भौंहे के पास वाले मणि लटकने लगे हैं और किकणी के घुंघरू नाद करते हैं। मेरे पुत्र गोविंद के खेल को तो तुम देखो। हे पूर्ण चंद्र ! अगर तेरे आँखें हो तो तू यहाँ से चला जा।

(२) मेरा नन्हा अमृत समान प्यारा ! मेरे आशीर्वचन तुझे बुला रहे है छोटे-छोटे हाथो से इशारा कर रहे हैं। हे पूर्ण चंद्र अगर तू इस श्याम नन्हे से खेलना चाहता है तो बादलो मे न छिप, किन्तु खुश होकर इधर आजा।[1]

पुन: तिरुमगे कहते हैं :

बुढापा आते ही हम बैसाखो का सहारा लेते हैं, जब दोहरी कमर होकर हमारी आँखें जमीन पर गड़ जाएँगी, और हम क्षीण हो जाएँगे और पाँव डगमगाएँगे तब थक कर आराम के लिए बैठ जाएँगे और बदरी की स्तुति करेंगे जिसने अपने घर में मायावी राक्षसी माता का स्तन पान करके उसे मार डाला—

पुन. आंडाल कहती है : हे नद गोपाल की पुत्री ! तू द्वार खोल दे, तू मस्त हस्ती की तरह पुष्ठ बाहु की वजह से दौड नहीं पाती तेरे सिर के बाल नपिन्नाई की सुगंध से व्याप्त हैं। देख सर्वत्र मुर्गे बोल रहे हैं, माधवी कुंज मे कोयल कूक रही है, तू अपने हाथ मे गेंद लेकर आजा, प्रसन्नतापूर्वक अपने कर कमलो द्वारा खोल दे जिसमे तेरी चूड़ियाँ खनखना उठें जिससे उसके नाद के साथ तेरे भाई का नाम हम गाएँगे। ओ एलोरम्बावाय।

तू उन्हें ३३ देवों के साथ युद्ध में लडने के लिए साहसी बनाने में सक्षम है। तू अपनी निद्रा से जाग उठ। तू न्यायी है, तू सशक्त है और निर्मल है तू अपने शत्रुओ को जला देता है निद्रा से जग। ओ नारी नपिन्नाई तेरे कोमल स्तन छोटी कटोरियो के समान हैं, तेरे मधुर होठ लाल हैं, और तेरी क्षीण कटि है, हे लक्ष्मी ! निद्रा से जग कर अपने दूल्हे को पखा और दर्पण दे दे, और हमें स्नान करा दे। ओ एलोरम्बावाय।

आलवारों की भक्ति के मुख्य गुण का वर्णन करते हुए नाम्मालवार को पराकुंश अथवा शठकोप भी कहा गया है। गोविंदाचार्य ने 'दी डीवाइन विजडम आफ द्राविड सेन्टस' तथा 'दी होली लाइवज ऑफ दी अजहवार्स' ग्रन्थों में कहा है कि नाम्मालवार की मान्यतानुसार जब कोई भक्ति में परिपूर्ण समर्पण भाव से अभिभूत हो जाता है तब वह सरलता से सत्य को पा जाता है।[2] नाम्मालवार ने कहा है मुक्ति के लिए केवल भगवान् की कृपा ही चाहिए, हमें समर्पण करने के अतिरिक्त और कुछ भी करना नहीं है। निम्न शब्दो में नाम्मालवार कहते है कि भगवान् हमें अपने से प्यार करने को सतत् उकसाते रहते है।

---

[1] वही, पृ० ३७।

[2] वही, पृ० ३५।

मैंने आनन्दमय भगवान का नाम सुना और मेरी आँखों में पानी भर आया। अरे यह क्या हुआ ? मैंने पूछा। यह कैसा विस्मय है कि सर्व सम्पन्न भगवान्, स्वय, दिनरात, मुझसे मेरे निरन्तर मिलन के लिये प्रणय कर रहे हैं और मुझे अकेला छोड़ना नहीं चाहते ?

नाम्मालवार पुनः लिखते हैं कि भगवान् की स्वतंत्रता पर केवल उनकी कृपा का ही बन्धन है। उन्हीं के शब्दों में : "हे कृपा ! तूने भगवान् को उनकी न्याय पूर्ण इच्छा की स्वतन्त्रता से रोक रखा है। कृपापूर्ण वायु से सुरक्षित हो, भगवान अपनी इच्छा होते भी मुझसे अलग नहीं हो सकते। अगर वे ऐसा कर भी सकें तो मैं कहूंगा कि मेरी ही जीत हुई क्योंकि उन्हें कृपा देकर ही अपनी स्वतंत्रता खरीदनी पड़ेगी।" उक्त स्थिति का समर्थन करते हुए वे एक भक्त नारी का उदाहरण देते हैं जिसने कांची के वरदराज के चरण पकड़ कर यह कहा था, "भगवान् मैंने तो अब तेरे चरण मजबूती से पकड़ लिये हैं अब तुझसे हो सके तो मुझे ठुकरा दे और अपने को मुझ से दूर कर ले।"

नाम्मालवार तुवलील या तिनृउकुमिऋमे जो प्रेम का तामिल पर्यायवाची शब्द है, का प्रयोग करते है। जिसका तात्पर्य प्रेम के उस सतत् वर्तुलाकार में घूमते भाव से है जो गहरा-गहरा छेद करता हुआ जाता है किन्तु जो कभी, न तो अवसन्न होता है और न कभी बिखर पाता है। इस प्रेम का वर्तुलाकार रूप में हृदय में छेद करना मूक प्रक्रिया है, जो वर्णनातीत है तथा उतना ही अवाच्य है। जब गाय को अपने बछड़े को दूध पिलाने की आतुरता होती है तब उसके थन दूध से भर कर टपकते हैं। इसी प्रकार भगवत्-प्रेम शाश्वत एव निरन्तर विकासशील है।[1] यामुन ने 'भगवद् विषयम्' नामक ग्रन्थ में नाम्मालवार और तिरुमंगै आलवार के प्रेम की विभिन्नता स्पष्ट की है। तिरुमगै आलवार सम्मोहक प्रेम की प्रलापी, हर्षोन्मत्त आदान-प्रदान की स्थिति में ईश्वर के साथ सतत् सख्य की अभिव्यक्ति के विश्वासी थे। ये प्रेम की अनन्त गहराई में डूबे हुए थे और वे मादक पदार्थ के सेवन से उत्पन्न अचेतावस्था की तरह नशे मे रहने के भय मे सदा रहा करते थे। नाम्मालवार के प्रेम मे भगवान की तीव्र खोज प्रमुख बात थी। वे एकाकी भाव से अभिभूत हो अपने आपको खो बैठते थे। वे बिलकुल मदोन्मत्त तो कभी नहीं रहते थे। अपने प्रियतम और पति के मिलन की आशा से उनकी चेतना सशक्त और मजबूत रहती थी।[2] इस अवस्था का वर्णन तिरुवाई मोरी में इस प्रकार है :

---

[1] द्रविड़ सन्तो का दैवी ज्ञान, पृ० १२७–२८।

[2] देखो–भागवद् विषयम् पृ० ६, पृ० २६६५ तथा दैवी ज्ञान पृ० १३०–३१।

वह रात और दिन नींद क्या है जानती ही नही। उसकी कमल जैसी आँखें, आँसुओं में तैरती रहती हैं, वह रोती और चक्कर खाती रहती हैं। हाय ! तेरे बिना मैं कैसे इसे सहन करूँ। सारा जगत् उसके साथ सहृदय हो उच्छ्वसित होता रहता है।

ईश्वरीय प्रेम की तीन अवस्थाएँ भी बहुधा वर्णन की गई हैं, स्मृति, ध्यान और पुनः सगम। पहले का अर्थ भगवान से भूतकाल में प्राप्त उत्कृष्ट सुखों की स्मृति है। दूसरे का अर्थ ऐसी भूतपूर्व स्मृति तथा वर्तमान में उसकी अनुपस्थिति के दुःख में मूर्च्छित होना और हताश होना है। तीसरे का अर्थ ध्यानस्थ अवस्था में यकायक सरलता का आवेश होना, जिसके उन्माद के कारण से मूर्च्छा से मृत्यु भी हो सकती है।[1]

आलवारो मे तात्विक चिन्तन का विकास नही पाया जाता, उनमें केवल भगवान् के प्रेम का आनन्दानुभव में ही था, फिर भी हम नाम्मालवार के ग्रन्थों में आत्मा के स्वरूप के अनुभव के वर्णन पाते हैं। वे कहते हैं, "इस विस्मय पूर्ण वस्तु का वर्णन करना अशक्य है, आत्मा, अनन्त और ज्ञान स्वरूप है, जिसे भगवान् ने अपने प्रकार के रूप में मुझे दिखाने की कृपा की अर्थात् मेरा और भगवान् का सम्बन्ध उद्देश्य और विधेय जैसा द्रव्य और गुण जैसा और स्वर-व्यजन जैसा है, आत्मा का स्वरूप ज्ञानियो को भी अगम्य है। इसे यह और वह ऐसा भी नही कहा जा सकता, योग द्वारा भी आत्मा का साक्षात्कार इद्रियप्रत्यक्षविषय ज्ञान जैसा नही हो सकता। आत्मा का दर्शन जैसाकि भगवान् ने मुझे कराया है वह शरीर इद्रिय प्राण मन और बुद्धि इत्यादि विकारी तत्वो के कही परे है। आत्मा सबसे विलक्षण और सूक्ष्म है, इसे अच्छा या बुरा कुछ भी नही कहा जा सकता। आत्मा इद्रियगोचर पदार्थों की कोटि में नही आती।[2]

आत्मा को यहाँ शुद्ध सूक्ष्म तत्व माना है जो मल रहित है और जो अन्य विषयो की तरह जाना नही जा सकता। सत्ता के स्वरूप के विषय में दार्शनिक वर्णन एवं अपने मत के तार्किक या प्रमाणगत प्रश्नो की गवेषणा आलवार क्षेत्र के बाहर थी। उन्होंने तो प्रेरणा युक्त गीत गाये और बहुधा ऐसा भी मानते थे कि इन कृतियो में इनका कुछ भी हाथ नहीं है वे तो समझते थे कि भगवान् ही उनके मुख से बोल रहे हैं। ये गीत बहुधा झाझ और मादक स्वर माधुर्य के साथ गाये जाते थे यही उनकी विशिष्टता थी और इस प्रकार ये गीत दक्षिण भारत में प्रचलित तत्कालीन सगीत की रूढि से सर्वथा भिन्न थे। श्री रामानुज के विशेष आदेशानुसार आलवार ग्रन्थो

---

[1] भागवत् विषयम् पृ० ८, पृ० ३१६५ और दैवी ज्ञान, पृ० १५१।

[2] दैवी ज्ञान, पृ० १८६, तिरुवाय मोरीं, ८, ५–८।

के संकलन के अभ्यास से तथा रामानुज स्वय ने आलवारों से अपने मत की पुष्टि में जो प्र रणा पाई है इससे यह पता लगता है कि आलवार विष्णु पुराण और भागवत् के अंतर्गत आये हुये कृष्ण के चरित्र से पूर्ण परिचित थे।[1] कम से कम एक लेखांश ऐसा मिलता है जिससे यह अर्थ निकाला जा सकता है कि राधा (नप्पिनाई) कृष्ण की प्रियतमा थी। आलवार कृष्ण के वृन्दावन के बाल्यकाल का उल्लेख करते हैं और उनमें से बहुत से अपने प्रति यशोदा या ग्वाल बाल या गोपियो के भाव रखते थे। उनके गीतों मे ईश्वरीय प्रेम कभी कभी भक्त का कृष्ण से मिलन की आतुरता मे व्यक्त होता है या कभी इनमे विरह दु:ख, सतोष, कृष्ण से साक्षात् मिलन का आनन्द, या कृष्ण के साथियो से भावमय एकता मे अभिव्यक्त होता है। भागवत् (१ : ११, १२) मे भी हम ऐसा पाते है कि तीव्र भाव से भक्त प्रेम मद मे विभोर हो जाते है, किन्तु भक्त ने कृष्ण से सम्बध रखने वाले पौराणिक व्यक्तियो से एकात्मता प्राप्त की हो और ऐसी काल्पनिक एक रसता से उत्पन्न उत्कट भावो को व्यक्त किया हो ऐसा नही देखने मे आता। हम गोपी के कृष्ण के प्रति प्रेम को जानते है, किन्तु किसी ने अपने को गोपी से तादात्म्य कर विरह की वेदना व्यक्त की हो ऐसा कही नही सुना। विष्णु, भागवत् एव हरिवंश पुराणों मे कृष्ण की पौराणिक प्रेम कथाओ का ही वर्णन है। किन्तु वहाँ भक्तो ने कृष्ण के प्रेमियों से काल्पनिक तादात्म्य कर भगवान का प्रेम प्राप्त किया हो ऐसा उल्लेख कही नही है वहाँ केवल यही बताया गया है कि जिन्हे कृष्ण से प्रेम है, कृष्ण की प्रेम गाथा सुनकर उनका प्रेम और तीव्र हो जाता है। किन्तु यह तथ्य कि कृष्ण की पौराणिक कथा का प्रभाव भक्तो पर इतना हो जाय कि भक्त कृष्ण के प्रेमी जनो के भाव से परिपूर्ण होकर उनके ही जैसे बन जायँ, यह किसी भी धर्म के भक्ति इतिहास मे एक नवीन बात ही है। सम्भवत यह स्थिति भारत के अन्य भक्ति सप्रदायो मे भी नही पायी जाती। आलवारो ही में हम सर्व प्रथम इस भाव को पाते है जो आगे जाकर गौडीय सम्प्रदाय के भक्तो के जीवन और उनकी रचना और विशेषकर श्री चैतन्य के जीवन मे उत्कट रूप मे पहुँचा। इसका उल्लेख

---

[1] सर रा० गो० भाण्डारकर कहते है कि कुलशेखर आलवार ने अपने मुकुन्द माला नामक ग्रन्थ में भागवत से एक पाठ उद्धृत (११ २ : ३६) किया है (वैष्णव, शैव और अन्य छोटे सप्रदाय पृ० ७०) श्री एस० के० आयगर अपने 'दक्षिण मे वैष्णवों का पुरातन इतिहास' मे इसका प्रतिवाद करते हैं और कहते हैं कि यह पाठ कन्नड, ग्रन्थ और देवनागरी पुस्तक, तीनों ग्रन्थो मे नही पाया जाता। जो कि इनके देखने मे आये थे (पृ० २८) वे ऐसा भी सूचन करते हैं कि इस पाठ का उद्धरण का विषय शंकास्पद है क्योंकि यह पाठ बहुत से दक्षिण ग्रन्थो के अन्त में पाया जाता है जो धार्मिक कर्म का वेद मंत्रो के उच्चारण में त्रुटि होने की आशंका के निवारणार्थ क्षमा याचना के रूप में सकलित किया जाना प्रतीत होता है।

हम आगे जाकर इस पुस्तक के चतुर्थ ग्रन्थ में करेंगे। पौराणिक व्यक्तियों के भावों का कृष्ण के जीवन से ओत-प्रोत हो जाने का अर्थ यही है कि भक्त में उन व्यक्तियों का कृष्ण के प्रति विशेष भाव और अवस्था का ओत-प्रोत होना क्योंकि वे कल्पना से उन व्यक्तियों से तादात्म्य साध कर वे उनके भावों का अनुभव करते हैं ऐसा सोचने लगते हैं। इसी कारण से हम देखते हैं कि जब यह भाव गौड़ीय सप्रदाय में दृढ़ीभूत हुआ और अलकार शास्त्र द्वारा दसवीं से चौदहवीं शताब्दी मे काम-संवेग का विवेचन मान्यता को प्राप्त हुआ, तब गौड़ीय वैष्णवों ने प्रणय-भाव की उत्कर्ष अवस्थाओं के विश्लेषण को भक्ति भाव का विकास माना। हमें रूप गोस्वामी रचित 'उज्ज्वलनील-मणि' नामक ग्रन्थ में इस भाव के विकास का उत्तम दृष्टान्त मिलता है। वहां गोपियों और राधा के पौराणिक जीवन में साधारण भक्ति का गम्भीर शृंगार भक्ति में सवेदनात्मक अनुकरण द्वारा परिवर्तित होना बताया गया है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जैसे हम नाटकीय हाव-भाव की विवेचना संवेदनात्मक रस लेकर करते हैं। अलकार शास्त्री ऐसा कहते हैं कि नाटक के प्रेक्षको के संवेग नाटक को देखकर इस प्रकार उत्तेजित हो जाते हैं कि उस समय के लिये, देशकाल और व्यक्तिगत अनुभूतियो का इतिहास, जो व्यक्ति का स्वरूप बनाते हैं, उनकी मर्यादाएँ टूट जाती है। सामान्य व्यक्तिगत भावों का तिरोहित होना और भावों का एक ही दिशा में परिप्लावित होना, कल्पना द्वारा, रंगमच पर नट के उस भाव से ही तादात्म्य नही ला देता किन्तु उन नाटक सम्बद्ध व्यक्तियों से तादात्म्य भी कर देता है जिनके भावों की अभिव्यक्ति या अनुकृति की जा रही है। एक भक्त गाढ चिंतन द्वारा स्वय के भावो की उस अवस्था की भावकता तक पहुँच सकता है कि एक छोटे, नगण्य संकेत से भी वह अपने को राधा और गोपी के काल्पनिक लोक में पहुँच कर एक अति उत्तेजित और कामुक प्रेमी के सभी भावों का अनुभव करने लगे।

ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि आलवार ही सर्व प्रथम इस प्रकार के भक्त हुए जिन्होंने भावो के ऐसे परिवर्तन का विकास किया। इसी प्रकार राजा कुलशेखर जो आलवार थे और राम भक्त थे, वे रामायण का पाठ हर्षोन्मत होकर सुना करते थे। सुनते-सुनते वे इतने उत्तेजित हो जाते थे कि जब राम का लका पर आक्रमण के प्रसग का वर्णन होता था तब वे राम की सहायता के लिये अपनी सेना को तैयार होकर कूच करने का हुक्म दे दिया करते थे।

आलवारों के भक्ति गीत कृष्ण के पौराणिक जीवन के अनेक प्रसगो का प्रगाढ़ परिचय देते हैं। विविध भाव जो उन्हें उत्तेजित करते थे वे मुख्यत: वात्सल्य, मैत्री, सख्य, दास्य, तथा दाम्पत्य भाव थे। इन भावो के द्वारा माता का पुत्र के प्रति वात्सल्य भाव, पुत्र का पिता जगत् कर्त्ता के प्रति आदर भाव, तथा प्रणयिनी का प्रेमी

के प्रति शृंगार भाव मुख्य थे। कुछ आलवारों में, जैसाकि हम नाम्मालवार और तिरुमंगयालवार में पाते हैं, उपरोक्त अन्तिम भाव अर्थात् शृंगार भाव को ही अधिक महत्व दिया गया है। इन आलवारो के पारमार्थिक अनुभव में हम भगवान के प्रति पति और प्रेमी की उत्कट अभिलाषायें पाते हैं। उनके प्रेम की इस अभिव्यक्ति में हम उन शृंगारी इच्छाओं के अधिकतर विकृति जन्य प्रतीको को पाते हैं जिन्हें गौड़ीय वैष्णवो की रचना में अत्यधिक महत्व मिला है। गौड़ीय सम्प्रदाय में प्रेयसी के शारीरिक सौंदर्य के वर्णन की अति हो गई है। आलवारो में उससे विपरीत, भगवान के अतीन्द्रिय सौंदर्य और शोभा, तथा भगवान् कृष्ण के लिये स्त्री भाव से उत्कट आतुरता का वर्णन है। तीव्र अभिलाषा कभी कभी प्रेमी की पीड़ा के दयनीय विकृति जन्य चिन्हों से भी व्यक्त हुई है। कभी भगवान के पास दूत भेजा जाता है, कभी पूरी रात भगवान् की प्रतीक्षा में बितायी जाती है या कभी भगवान् से सचमुच आलिंगन कर उसके उन्मादी आनन्द के भोग आदि का वर्णन मिलता है। भगवान् स्वयं भी अपने प्रेमी आलवार के सौदर्य और लावण्य से मोहित होकर उससे प्रेम का आदान-प्रदान करते हैं। इन भावों को व्यक्त करते हुए कृष्ण के कथानक में आये हुए अन्य व्यक्तियो के जीवन प्रसंगों का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग किया जाता है और कृष्ण-जीवन के प्रसिद्ध प्रसगों का वर्णन किया जाता है, जिसके द्वारा आलवार प्रियतमों का प्रेम उत्कट हो जाता है। भावविह्वलता पानी के भँवर की तरह है [illegible] अनन्त काल तक जीव में कभी वियोग के दुःख में और कभी मिलन के सुखोन्माद [illegible]यक्त होती है। आलवार अपने परमानन्द के अनुभव में भगवान् को सर्वत्र देखते हैं और उनकी प्राप्ति की गम्भीरता में उस आनन्द की अधिकाधिक माँग करते हैं। वे परम कोटि के उन्माद का भी अनुभव करते है जब वे अर्ध-चेतन या अचेतन हो जाते हैं और बीच-बीच में जागृति की स्थिति में भी आतुरता अभिव्यक्त होती है। यद्यपि भगवान् के प्रति आतुरता काम के साम्य पर वर्णित है तो भी यह उपमा इस हद तक नही ले जाई गई जिसमें काम के निम्न कोटि के विकारों का जानबूझ कर उल्लेख हो। इसलिये आलवारो का भगवत्-प्रेम मानवी प्रेम शब्दों मे वर्णन होते हुए भी दिव्य है। सम्भवतः आलवार यह बताने में अगुवा रहे कि प्रकार भगवान् के प्रति प्रेम एक कोमल भाव है जो दाम्पत्य प्रेम के मदोन्मत्त आवेश को मृदु का देता है। दक्षिण का शैव सम्प्रदाय भी लगभग इसी काल में विकसित हुआ। शिव स्तोत्र भक्ति के उच्च और गम्भीर भाव से परिपूर्ण हैं जिनका मुकाबला अन्य किसी साहित्य में सम्भव नहीं है किन्तु इन स्तोत्रों मे भगवान की महानता, गौरव एव सर्वोच्च स्थिति तथा उसके प्रति आत्म संयम, ईश्वर-समर्पण-भाव तथा आत्मत्याग ही मुख्य हैं। आत्म समर्पण एवं भगवान ही हमारा सब कुछ है इस भाव से उस पर अवलम्बन करना आलवारो में भी इतना ही अधिक प्रधान है किन्तु आलवारों में यह भाव आत्यन्तिक प्रेम की मृदुलता में गला हुआ है। शिव स्तोत्र भी भक्ति की दिव्य ज्योति से परि-

पूर्ण हैं किन्तु यहाँ समर्पण भाव का प्राधान्य है। माणिक्क वाचकर अपने 'तिरु वाच-कम्' में शिव को सम्बोधित करते हुए कहते हैं :[1]

क्या मैं तेरा दास नहीं हूँ ? क्या तू मुझे अपना नहीं बनायेगा, मैं प्रार्थना करता हूँ। तेरे सभी दासों ने तेरे चरणों का सानिध्य प्राप्त किया है। क्या मैं अपने इस पापी शरीर को छोड़ कर तेरे दर्शन नहीं कर सकूँगा ? ओ शिवलोक के पति ! मुझे भय है, मुझे नहीं सूझता कि मैं तुझे कैसे पाऊंगा। मैं सर्वथा झूँठा हूँ। मेरा हृदय भी झूँठा, वैसा ही मेरा प्रेम है। किन्तु यदि तेरा यह पापी दास रोये तो क्या वह तेरी आत्मा की अमृतमय मृदुता को नहीं पा सकेगा ? शुद्ध मधुमय आल्हाद के पति। तू कृपाकर के अपने दास को सिखा जिससे वह तेरे निकट आ सके।

"मुझे तेरे चरणों में प्रीति नहीं थी। सुन्दर सुगंधित केश वाली गौरी के अर्धांग। जिस जादुई शक्ति से पत्थर पके फल बन गये, उससे तेने मुझे अपने चरणों का प्रेमी बनाया। हे प्रभु ! तेरा मृदु प्रेम अमर्यादित है। हे निर्मल अंतरिक्ष देव। मैं कैसा भी विचलित हो जाऊँ और कैसे ही मेरे कर्म हों, तू अपने चरण कमलों का दर्शन देकर मेरी रक्षा कर।

भक्त ने भगवान के प्रेम की प्रियता का अनुभव किया है और यह भी माना है कि भगवान की कृपा से ही वह उसकी ओर आकर्षित हो सकता है और प्रेम कर सकता है :

बाजरे के दाने जैसा तू दूसरे फूलों से मधु मत चख। जब कभी हम उसका चिन्तन करते हैं उन्हें देखते हैं और उनके विषय में वार्तालाप करते हैं तब अति मृदु मधुरूप आल्हाद बहता है और हमारा शरीर उस आनन्द में गल जाता है। हे गुंजन करती मधुमक्खी ! केवल उस दिव्य नर्तक के पास ही तू जा और उसके गुणों की सुवास से गुंजार कर।

आलवार और श्री वैष्णवों के बीच कुछ धार्मिक मतों का विरोध

अग्रीयस नाथ मुनि, यामुन, रामानुज तथा उनके साथियों ने आलवारों के प्रेरणात्मक उपदेशों का अनुसरण किया है किन्तु कुछ मुख्य धार्मिक सिद्धान्तों के बारे में उनका आलवारों से मतभेद था। ये विषय पृथक् ग्रन्थों में सग्रहीत किये गये हैं जिनमें से एक स्वयं रामानुज द्वारा लिखित अष्टादश रहस्यार्थ-विवरण है, तथा दूसरी

---

[1] तिरुवाचकम् : पोप द्वारा अनुवादित। पृ० ७७।

रचना का नाम 'अष्टादश भेद निर्णय' है ।[1] वेंकटनाथ तथा अन्य लोगो ने भी इसी प्रकार के ग्रन्थ लिखे हैं । इनमे से कुछ मतभेदों का वर्णन निम्नानुसार है ।

भेद का प्रथम विषय 'स्वामी-कृपा' है । आलवारों की मान्यता यह है कि स्वामी-कृपा सहज है, वह किसी प्रकार के साधन या भक्त के गुण-विशेष पर निर्भर नहीं है । ईश्वर की कृपा उसका दैवी विशेषाधिकार है, अगर किसी अन्य पर आधारित रहे तो वह वहाँ तक सीमित हो जाती है । कुछ लोगो का यह मत है कि कृपा भक्त के पुण्य कर्म पर निर्भर है । अगर ऐसा न हो तो कालान्तर में हर कोई मुक्त हो जायगा और किसी को कृपा प्राप्त करने का प्रयत्न आवश्यक नही रहेगा । अगर ऐसा माना जाय कि भगवान् अपने सहज भाव से किसी पर कृपा दृष्टि करते हैं और किसी पर नही, तो वे पक्षपाती कहलायेंगे, इसलिये यह मानना योग्य है कि भगवान् कृपा दृष्टि करने में पूर्ण स्वतंत्र है तो भी व्यावहारिक दृष्टि से वे कृपा पारितोषक के रूप मे उन्हीं पर वितरण करते हैं जो भक्त गुणी और पुण्यशील हैं । यद्यपि भगवान् पूर्णत: कृपामय है और सबो पर बिना किसी के प्रयत्न के कृपा दिखाने मे स्वतत्र है तो भी वे ऐसा नही करते । वे केवल भक्त पर, जब वह पुण्य कर्म करते है तभी कृपा करते हैं । इसलिये भगवान की कृपा निर्हेतुक एवं सहेतुक दोनों ही है ।[2] बाद मे कहा गया मत रामानुज तथा उनके अनुगामियो का है । यहाँ यह बता देना उचित होगा कि आलवार और रामानुज पथियो मे मुख्य धार्मिक सिद्धान्तो के भेद उनके पीछे हुए अनुसधान की खोज का परिणाम है जबकि आलवार ग्रन्थो की बहुत टीका की जाने लगी और रामानुज की स्वय की रचनाओ ने अनेक विद्वानो को सिद्धांत स्पष्ट करने के हेतु से स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा दी । पीछे आने वाले विद्वानो ने जब आलवार और रामानुज पथ के ग्रन्थो की तुलना की तब वे इस निष्कर्ष पर आये कि उनके मुख्य सिद्धान्तो में कुछ भेद अवश्य है । इसी प्रश्न को लेकर आलवारी तेंगलाई और वडजलाई पथियो के बीच तीव्र विरोध उपस्थित हो गया था । पिछले पंथ के प्रवर्तक श्री वेंकट थे । इस भेद का उल्लेख 'अष्टदश भेद निर्णय' में सक्षेप से बताया गया है । धर्म के मुख्य सिद्धान्तो की चर्चा रामानुज ने अपने 'अष्टांग रहस्यार्थ विवरण' में की है । भगवान् को प्राप्त करने का मुख्य साधन शरणागति या 'प्रपत्ति' है । प्रपत्ति का अर्थ भगवान् मे आराधनरत मन की स्थिति से है और वह इस आस्था के साथ कि केवल भगवान् ही हमारा रक्षक है, प्रपत्ति में भगवान् ही केवल हमारा रक्षक है इस निश्चय से मन का भगवान के प्रति आर्तभाव और उनकी कृपा

---

[1] ये दोनो हस्तलिखित ही हैं ।

[2] कृपा-स्वरूपतो निर्हेतुक: रक्षण समये चेतना-कृत-सुकृतेन सहेतुको भूत्वा रक्षति ।
—अष्टादश भेदनिर्णय, हस्त० पृ० २ ।

प्राप्त करने के लिये शरणागति के सिवाय और कोई रास्ता नहीं है यह मान्यता है।[1] भक्त का पूर्णतः नारायण पर विश्वास है, वह अन्य किसी की प्रार्थना नहीं करता, तथा उसकी प्रार्थना अन्य किसी हेतु से न होकर केवल गहन प्रेम से प्रेरित है। प्रपत्ति के गुण में कट्टर रिपु के प्रति भी सर्व साधारण की ओर जैसी दया, सहानुभूति और मैत्री का समावेश होता है। इसे 'निर्मरत्व' कहा है[2] ऐसा भक्त यह अनुभव करता है कि स्वामी ही उसकी आत्मा का स्वरूप है इसलिये किसी भी परिस्थिति में वही एक आधार है।[3] भक्त का यह मानना कि हमारे उच्च हेतु तक पहुँचने के लिये शास्त्रोक्त कर्म सहायक नही है इसे 'उपाय शून्यता' कहा है अर्थात् अन्य उपायों की निरर्थकता। भक्त अपने पर आने वाली आपत्तियों पर हंसता रहता है। अपने को भगवान का दास मानकर, वह भगवान के ही मनुष्य जो कोई भी दुःख डालते हैं उन्हें खुशी के साथ सहन करता है, इसे 'पारतन्त्र्य' कहते हैं। भक्त यह सोचता है कि आत्मा ज्ञानमय है, उसकी स्वतंत्र सत्ता नही है इसलिये वह भगवान के लिये ही जीता है और उसके आधीन है।[4] वैष्णव बहुधा एकान्तिम् कहे गये हैं और गलती से उन्हें एकेश्वरवादी कहा गया है। किन्तु एकान्तित्व–विशेष लक्षणपूर्ण शरणागति का भाव और भगवान् में बिना हिचकिचाये अवलम्बन ग्रहण करने से है, जो भगवान् में सभी प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियों के समय में भी पूर्ण विश्वास रखता है। भक्त का हृदय भगवान् की उपस्थिति से हर्षपूर्ण हो जाता है, भगवान् उसकी इद्रियाँ, इच्छा, भाव एवं अनुभव को चेतना देते हैं। जिस पूर्णता से भक्त भगवान् का अपने सारे व्यवहार, विचार और विश्व के समस्त पदार्थों में अनुभव करता है वह भाव उसे उस लोक में ले जाता है जहाँ सांसारिक भावनाएँ–वैर, तृष्णा, ईर्ष्या, धिक्कार आदि सब

---

[1] अनन्यसाध्ये स्वामीष्टे महा-विश्वास पूर्वकम्।
तद् एकोपायता याञ्चा प्रपत्तिः शरणागतिः।

—अष्टांगरहस्यार्थविवरण, पृ० ३।

रामानुज 'गद्यत्रयम्' ग्रन्थ में कहते है कि मन की ऐसी याचना अपने पाप, त्रुटियो एवं अपराध को स्वीकारने पर भी रहती है, भक्त यह समझता है कि वह भगवान् का निराधार दास है और वह उसकी कृपा से तरने का बहुत उत्सुक है, देखो शरणागति गद्यम्, गद्यत्रयम् में, पृ० ५२–५४।

[2] यह 'प्रपत्ति नैष्ठिकम्' शब्द से जाना गया है (अष्टांग रहस्यार्थ विवरण, पृ० ३–७) इसके उपरोक्त खण्ड की बन्दर और कपोत की कहानी से तुलना करो।

[3] यहां स्वामी शब्द को जबरदस्ती इस अर्थ में लिया गया है स्वम् अपना स्वयं का।

[4] ज्ञानमयो हि आत्मा शेषो हि परमात्मनः इति ज्ञानानन्दमयो ज्ञानन्दगुणकः सन् स्वरूपं भगवदाधीनं स तदर्थमेव तिष्ठतीति ज्ञात्वाऽवतिष्टते इति यद् एतद् तद् अप्राकृतत्वम्। —अष्टाग रहस्य विवरण, पृ० ११।

निस्सार हो जाते हैं। भगवान् की उपस्थिति मे भक्त संसार के समस्त जीवो की ओर दया और मैत्री भाव से भर जाता है।[1] भक्त को आचार्य से दीक्षा लेनी पड़ती नहीं है, जिसके सामने उसे अपने की सब बातें कह देनी चाहिएँ और अपना सब कुछ गुरु को अर्पण कर देना चाहिये, तब ही वह अपने को विष्णु का दास मान सकता है।[2] उसे तात्त्विक दृष्टि से यह समझना आवश्यक है कि जीव और जगत् विष्णु के अधीन हैं।[3] उसे यह तात्त्विक ज्ञान होना चाहिए कि जीव और जगत् सर्वथा भगवान् पर आश्रित हैं, ऐसी मान्यता का अर्थ यह होता है कि भगवान् हमारी इंद्रियो के व्यापार में उपस्थित हैं, जिससे इंद्रिया पूरे नियन्त्रण में आ सकती हैं। इन व्यापारो में भी भगवान् की उपस्थिति है इस अनुभव से भक्त नैतिक बीर बनकर इंद्रियों के प्रलोभनो से दूर हो जाता है।[4] वेद और शास्त्रोक्त धर्म निम्न स्तर के लोगो के लिए हैं : जिन्होंने अपने को भगवान् में पूर्ण समर्पण कर दिया है उन्हें वे साधारण धर्म जो प्रत्येक को पालन करने पडते हैं, पालना आवश्यक नही होता। ऐसे लोग भगवान् की सहज कृपा से मुक्त हो जाते हैं और शास्त्रोक्त धर्म पालन न करने पर भी उन सबके फलो को पाते हैं।[5] उसे सर्वदा अपनी त्रुटियो का भान रहता है पर दूसरों के दोष नही देखता।

---

[1] इस गुण को नित्य रंगित्व कहा है।

[2] परमैकान्तिन् को जो पाँच सस्कार करने होते है वे ये हैं —
तापः पौण्ड्रस् तथा नाम मन्त्रो यागश्च पचमः
अमी ते पच सस्काराः परमैकान्ति-हेतवः।
—वही, पृ० १५।

[3] इसे सबध ज्ञानित्वम् कहा है। सब कुछ ईश्वर के लिए है इसे शेष भूतत्वम् कहा है। वही, १८। इससे यही अर्थ प्रगट होता है कि भक्त भगवान् का दास है, वह उसके प्रियजनो के लिए ही जीवन जिए, जीव और जगत् भगवान् में अश रूप से आश्रित है और उससे सभी प्रकार से सचालित है, वह तात्त्विक विचार से मानव मात्र की सेवा एव भगवत् सेवा सहज ही अनुमति होती है, इसे शेष-वृत्तिपरत्व कहा है। —वही, पृ० १९-२०।

[4] इसे नित्यशूरत्व कहा है।

[5] ज्ञान निष्ठो विरक्तो वा मद् भक्तो ह्यनपेक्षकः।
सलिंगान् आश्रमान् त्यक्त्वा चरेत् अविधिगोचरः।
इत्येवम् ईषण-त्रय-विनिर्मुक्तः सन भगवन्निर्हेतुक कटाक्ष एव मोक्षोपाय. इति तिष्ठति खलु सोऽधिकारी सकल धर्माणाम् अवध्यो भवति अष्टादश रहस्यार्थ विवरण पृ० २३। शास्त्रोक धर्म त्याग कर भगवान् की भक्ति को 'अविधि गोचर कहा' है। इस ग्रन्थ के अन्य खण्ड मे रामानुज मोक्ष का इस प्रकार वर्णन करते हैं। मोक्ष यह निश्चय है कि ज्ञान, आनन्द और शक्ति में भगवान् इस लोक और

वह उनके साथ लगभग अंधे जैसा व्यवहार करता है। वह तो इसी विचार में मस्त रहता है कि उसके सारे कर्म भगवान् के अधीन हैं। उसके लिए कोई भोग नहीं है क्योंकि वह अनुभव करता है कि भगवान् ही इंद्रियों द्वारा सारे भोग भोगता है।[1]

'अष्टाग भेद निर्णय' में कहा है कि आलवारों के मतानुसार मुक्ति में भगवान् अपनी खोई हुई वस्तु (आत्मा) पाते हैं, या मुक्ति भगवान् की असीम दासता है इसलिए मुक्ति भगवान् के लिए अर्थ रखती है भक्त के लिए नहीं। दास की सेवा केवल भगवान की दासता के लिए है। इसलिए भक्त का यहाँ कोई स्वार्थ नही है।[2] आर्गीयसो के मतानुसार, यद्यपि मुक्ति मुख्यत: भगवान के लिए ही है तो भी वह साथ ही साथ भक्तार्थ भी है क्योंकि भक्त भगवान् का दास बनकर अत्यत आनद का अनुभव करता है। स्वामी अपनी खोई हुई वस्तु वापस पा जाते हैं यह दृष्टान्त ठीक नहीं बैठता क्योंकि मनुष्य ज्ञानमय है और भगवान् का दास बनने के अनुभव से उसके दुःख दूर हो जाते है। यद्यपि भक्त समर्पण भाव से अपने कर्मों के फलो को, त्याग देता है तो भी वह भगवान् की दासता पाकर सुखी है और साथ ही साथ ब्रह्मानुभूति के आनद को प्राप्त करता है। इस प्रकार उपासक (ज्ञान मार्गी) ब्रह्मज्ञान एव भगवान् की दासता को पाते हैं और जो प्रपत्ति मार्ग को धारण करते हैं वे भी ब्रह्मज्ञान और भगवान् की दासता पाते हैं। मुक्तावस्था की स्थिति में, भगवत् प्राप्ति के भिन्न मार्गों को अपनाने से कोई अन्तर नही आता।[3] पुन: आलवार मत में शास्त्रोक्त चार मार्गों, धर्म पालन, तात्त्विक ज्ञान, भगवत् भक्ति और गुरु भक्ति के अतिरिक्त पाचवाँ मार्ग

परलोक के समस्त पदार्थों से अतीत हैं। मुक्ति के लिए भगवान् की शरण लेना मुमुक्षुत्व कहा है। रामानुज का अविधि गोचर सम्बन्धी विचार रामानुज द्वारा भाष्य में इसी विषय पर उनके अनुयायियों की व्याख्या से विरोध पैदा करता है। हो सकता है उनके विचारो मे परिवर्तन हुआ हो। यहाँ पर दिए विचार उस समय के हैं, जब वे आलवारों से प्रभावित थे।

[1] इसे पराकाष्ठत्व कहा है (वही २३–२४) मूर्ति को भगवान् की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है ऐसा मानकर पूजा करना उपाय स्वरूप ज्ञान कहा है। सांसारिक पदार्थों से विरक्ति और भगवत्प्रेम से परिप्लावित हो जाना है और भगवान ही जीवन का श्रेष्ठ विश्राम है इसे आत्मारामत्व कहा है।

[2] फल मोक्षरूपं तद् भगवत एव न स्वार्थम् यथा प्रणष्ट-दृष्ट-द्रव्यलाभो द्रव्यवन् एव न द्रव्यस्य, तथा मोक्ष फलं च स्वामिम एव न मुक्तस्य, यद् वा फलं कैंकर्यं तत् परार्थमेव न स्वार्थम्, परतंत्र दशाकृत कैंकर्य स्वतंत्र-स्वाम्यर्थ मेव।

—अष्टांग भेद निर्णय, पृ० २।

[3] वही, पृ० ३।

'प्रपत्ति' है। किन्तु आर्गीयस ऐसा सोचते हैं कि 'प्रपत्ति' के सिवाय केवल एक ही दूसरा मार्ग भगवत्-प्राप्ति का है और वह भक्तियोग है। रामानुज और उनके अनुयायी ऐसा मानते हैं कि ज्ञान और कर्म योग अतः शुद्धि ही करते है जो भक्तियोग की प्रारम्भिक भूमिका है। गुरु भक्ति को प्रपत्ति का एक प्रकार माना है, इस प्रकार भगवत्-प्राप्ति के दो ही प्रकार हुए, भक्तियोग और प्रपत्ति।[1]

आगे, श्री वैष्णवों में 'श्री' का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु श्री वैष्णव संप्रदाय में तीन ही तत्वो को माना है इसलिए प्रश्न यह उठता है कि चित्, अचित् और परमेश्वर में 'श्री' का क्या स्थान है। इस विषय पर पुराने सप्रदाय के प्रतिनिधि रम्य जामातृ मुनि के 'तत्त्वदीप' ग्रन्थ के आधार पर जीव को ही श्री कहा गया है इसलिए उसका स्वरूप अणु है।[2] अन्य लोगो का कहना है कि 'श्री' सर्वव्यापी विष्णु ही है। भगवान् के प्रति वात्सल्य भाव का अर्थ, पुराने मतवादियों ने यह लगाया है कि प्रेमी-भक्त के दोष भी भगवान् को प्यारे हैं।[3] पिछले मतवादी वात्सल्य के अर्थ मे भक्त के दोषो की ओर उदासीनता या उनकी ओर अधा होना माना है। पुराने सप्रदाय वादियो ने भगवान् की दया को, भगवान् का दूसरो के दुःख देख स्वयं दुःखी होना, कहा है। पिछले सप्रदायवादी इसका अर्थ भगवान की क्रियाशील सहानुभूति से करते हैं, अर्थात् भगवान् दूसरों के दुःख न देख सकने से उन्हें मिटाने की इच्छा करते है।[4]

---

[1] अतः प्रपत्ति-व्यतिरिक्तो भक्तियोग एक एवेति। —वही, पृ० ४।

[2] वही, दूसरे खड में ऐसा कहा है कि, कुछ लोगो के मतानुसार श्री नही किन्तु नारायण ही हमारे पाप दूर करते हैं, किन्तु दूसरे यह मानते है कि श्री द्वारा भी दूरस्थ रूप मे पाप नष्ट किए जा सकते है या श्री ही विष्णु है, इसलिए ऐसा हो सकता है। पुष्प में सुगध की तरह श्री का विष्णु से संग होने से वह भी पाप दूर करने मे सहायक है।

—वही, पृ० ५।

लक्ष्म्या उपायत्व भगवत इवे साक्षात्'अभ्युपगन्तव्यम्। वही।

[3] यथा कामुक. कामिन्या मालिन्यम् भोग्यतया स्वीकारोति तथा भगवान् आश्रित दोषं स्वीकरोति, इतरे तु वात्सल्य नाम दोषादर्शित्वम्।

—अष्टांग भेद निर्णय, पृ० ६।

आगे यह भी कहा है कि अगर भक्त प्रपत्ति-मार्ग ग्रहण करता है तो उसे औरो की तरह अपने दोषों के लिए उतना दुःख नहीं उठाना पड़ता।

[4] विकल्प का पहला अर्थ 'पर दुःख दुःखित्वम् दया' है। दूसरा अर्थ स्वार्थ निरपेक्ष– 'पर दुःख-सहिष्णुता दया' है। 'सच ता न्निराकरणेच्छा'। पहले विकल्प के अनुसार

प्रपत्ति जिसे न्यास भी कहते हैं, पुराने संप्रदाय वालों ने भगवान् की उसे खोजने वालों के प्रति निश्चेष्टता सज्ञा दी है या उसका तात्पर्य चित्त की उस अवस्था से है जिसमें भक्त अपने को केवल जीव ही समझता है परन्तु इस ज्ञान में कोई भी अहंकार जैसी जटिल भावना जिससे व्यक्तिगत सत्ता उभरती है जागृत नहीं होती है। इसका अर्थ उस मानसिक अवस्था से भी हो सकता है जिसमें भक्त अपने को भगवान् जो हमारा अंतिम ध्येय है उसका सहायक मानता है और शास्त्रोक्त कर्म के बंधन का भार एक तरफ रखकर भगवान् पर ही अवलम्बन करता है[1] या अपने परम हित मे एक ध्यान हो जाता है और इस अनुभव से हर्ष पूर्ण होता है कि भगवान् ही उसके जीवन का एक अर्थ है। सहज ही ऐसा व्यक्ति बिना स्व विरोध के शास्त्रोक्त धर्म का अधिकारी नहीं हो सकता। जिस प्रकार एक अपराधी पत्नी अपने पति के पास वापस जाकर निश्चेष्ट हो अपने पति पर समर्पण कर देती है और अपने को उस पर छोड़ देती है, ठीक उसी प्रकार एक अधिकांक्षी भगवान् की तुलना में अपनी सही स्थिति जानते हुए भगवान् के प्रति समर्पण भाव में स्थित रहता है।[2] अन्य ऐसा सोचते हैं कि प्रपत्ति के पांच अंग है : (१) भगवान् ही केवल एक रक्षक है (२) वही हमारा ध्येय है (३) हमारी इच्छाओं का वही श्रेष्ठ विषय है (४) हम अपने को उस पर समर्पण कर छोड़ दें[3] और (५) भगवान पर पूर्ण विश्वास सहित उच्च प्रार्थना-भावना।

दुःख: पीड़ा करता है दूसरे में प्रतिकूलता से उत्तेजित होकर दया करने की इच्छा है जो भाव और संकल्प के बीच की अवस्था है।

—वही, पृ० ६।

[1] प्रपत्तिर्नाम अनिवारणमात्रम् अचिद्-व्यावृत्तिमात्रम् वा अविधेय शेषत्व-ज्ञानमात्रम् वा पराशेषतैकरतिरूप परि शुद्ध या यात्म्यज्ञानमात्रम् वा।

—वही, पृ० ६।

कुछ लोगों के अनुसार कोई उपरोक्त परिभाषा प्रपत्ति हो सकती है।
अतो प्रतिषेधा धन्य तमैव इति केचित् कथयन्ति।   —वही।

[2] अत्यत पर तत्रस्य विरोधत्वेन अनुष्ठानानुपपत्तेः, प्रत्युत अनुष्ठातुरानर्थ-क्यमुक्तम् श्री वचनभूषण, चिरम् अन्य परया भार्यया कदाचित् भर्तृ सकाश आगत्य माम् अंगीकुरु इति वाक्यवत् चेतनकृतप्रपत्तिरिति।

—वही, पृ० ६।

[3] दूसरे विकल्प में इसे इस प्रकार बताया है "अनन्य-साध्ये स्वाभीष्टे महा विश्वास पूर्वकम् तद् एकोऽपायता याञ्चा प्रपत्तिः शरणागतिः।" प्रपत्ति के ये पांच अंग हैं जो निक्षेप, त्याग, न्यास या शरणागति नाम से जाने गए हैं (अष्टांग भेद, पृ० ६, ७) पहले और दूसरे विकल्प में भेद यह है कि पहले के अनुसार प्रपत्ति एक

कुछ लोग प्रपन्न उसे कहते हैं जिसने आलवार लिखित प्रबंधो को पढा है। (अधीत प्रबंधः प्रपन्नः) कुछ ऐसा भी सोचते है कि केवल प्रबंध पढने से प्रपत्ति नहीं आती न उसे प्रपन्न कहा जा सकता है। वे ऐसा सोचते हैं कि प्रपन्न वही है जो कर्म ज्ञान और भक्तियोग के लम्बे मार्गों को नही अपनाता इसलिए इन मार्गों को महत्व नहीं देता। पुनः पुराने संप्रदाय वाले ऐसा मानते हैं कि जिसने प्रपत्ति का मार्ग ग्रहण किया है उसे शास्त्रोक्त धर्म और आश्रय धर्म को त्याग देना चाहिए क्योंकि गीता इस बात का समर्थन करती है। प्रपन्न को सब धर्मों का त्याग करके भगवान् की ही शरण लेनी चाहिए। कुछ ऐसा भी मानते हैं कि जिसने प्रपत्ति मार्ग ग्रहण किया है उसे शास्त्रोक्त धर्म पालना चाहिए। पुनः पुराने मतावलम्बी ऐसा सोचते है कि ज्ञान मार्ग प्रपत्ति का विरोधी है, क्योकि प्रपत्ति में ज्ञान का निषेध है, प्रपत्ति मे केवल भगवान मे समर्पण भाव को माना है। धर्म और ज्ञान मार्ग में अहकार होता है जो प्रपत्ति का विरोधी है। दूसरे ऐसा मानते हैं कि भगवान् में क्रियात्मक समर्पण के भाव में भी अहकार की मात्रा है इसलिए यह सोचना गलत है कि अहकार के होने से ज्ञान और धर्म मार्ग का प्रपत्ति से समन्वय हो सकता है। इस प्रकार तथाकथित अहकार से हम केवल अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते है, न कि अहकार की जो एक विकार है।[1] पुनः कुछ ऐसा भी सोचते हैं कि जिन्होने प्रपत्ति मार्ग अपनाया है उन्हे भी शास्त्रोक्त धर्म का पालन इसलिए करना चाहिए ताकि सामान्य एवं अपढ़ लोग शास्त्रोक्त कर्म की अवहेलना करने की आड न ले सके अर्थात् प्रपत्ति मार्ग वालो को भी लोक-सग्रह के लिए शास्त्र धर्म का पालन करना चाहिए। कुछ लोग ऐसा भी सोचते है कि शास्त्र धर्म भगवान् का आदेश होने के कारण भगवान् को प्रसन्न रखने के लिए प्रपत्ति मार्ग को अपनाने वालो को भी मानने चाहिएँ (भगवत् प्रीत्यर्थम्) नही तो वे इसके लिए दोषी रहेगे।

प्रपत्ति के सहायक तत्व इस प्रकार हैं (१) भगवान के अनुकूल रहने का सकल्प (आनुकूल्यस्य सकल्पः) (२) भगवान की इच्छा के प्रतिकूल कुछ न करने का सकल्प

मानसिक अवस्था है जो भगवान् के साथ हमारे सम्बन्ध के ज्ञान तक सीमित है, और भगवान् की दृष्टि से भक्तो का भगवान की ओर इकट्ठा होने पर, भगवान का उन्हें निश्चेष्ट स्वीकारना मात्र है (अनिवारण मात्रम्)। दूसरे विकल्प मे प्रपत्ति भक्त का भगवान् में निश्चेष्ट समर्पण है और भगवान् का उन्हे निरुपाधिक रक्षण करना है। इसलिए पहले मतानुसार जीवन स्वरूप के सच्चे ज्ञान की त्रिविध परिभाषा की है जिसमें से कोई भी एक प्रपत्ति कही जा सकती है। पहली परिभाषा में ज्ञान का अंश और दूसरी में ज्ञान के उपरान्त इच्छा के अंश का समावेश होता है।

[1] वही, पृ० ८, ९।

(प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्) (३) पूर्ण विश्वास कि भगवान् हमारी रक्षा करेंगे (क्षिष्यतीति विश्वासः) (४) रक्षक के रूप में उससे प्रार्थना (गोप्तृत्व वरणम्) (५) पूर्ण आत्म समर्पण (आत्म निक्षेप) (६) अपने प्रति दीन एवं असहाय भाव (कार्पण्यम्)। पुराने संप्रदाय वाले सोचते हैं कि जो प्रपत्ति मार्ग ग्रहण करता है उसे पूर्ति करने के लिए कोई इच्छा नहीं रहती, इसलिए वह ऊपर कहे सहायक तत्वों में अपनी रुचि के अनुसार किसी भी एक को ग्रहण कर सकता है। कोई ऐसा भी सोचते हैं कि जिसने प्रपत्ति-मार्ग अपना लिया है वह भी इच्छा से नितान्त मुक्त नही है क्योंकि वह भगवान् का दास बनने की इच्छा तो रखता ही है। यद्यपि वह अन्य किसी प्रकार की इच्छा पूर्ति नही चाहता, किन्तु उपरोक्त छः सहायक तत्वो का पालन उसके लिए भी अनिवार्य है।

संप्रदाय के पुराने लोग सोचते है कि भगवान् ही मुक्ति का एक कारण है, प्रपत्ति नही। बाद के संप्रदाय के लोग भी सोचते हैं प्रपत्ति मुक्ति का गौण कारण है क्योंकि प्रपत्ति द्वारा ही भगवान् का कृपा कटाक्ष भक्तो को सुलभ होता है।[1] पुनः संप्रदाय के पुराने लोग कहते हैं कि प्रपत्ति मार्ग वालो के लिए प्रायश्चित आवश्यक नही है क्योंकि भगवान् की कृपा समस्त पाप कर्म का निवारण कर देती है। बाद के लोगो का यह कहना है कि अगर प्रपत्ति मार्गी प्रायश्चित करने के लिए शारीरिक क्षमता रखता हो तो उसके लिए प्रायश्चित करना अनिवार्य है। पुराने मतवादियो के अनुसार यदि कोई म्लेच्छ भी आठ प्रकार की भक्ति से सम्पन्न है, वह एक ब्राह्मण से अच्छा है और उसका सम्मान करना चाहिए। परवर्तियों का यह मत है कि निम्न जाति के भक्त को योग्य ज्ञान देना चाहिए किन्तु वह ब्राह्मण की बराबरी नही कर सकता। अणु रूप जीव का भगवान् द्वारा व्याप्त होने के विषय में पुराने लोगो का यह विचार है कि भगवान् अपनी शक्ति द्वारा जीव में प्रवेश कर सकते हैं। परवर्ती ऐसा कहते हैं कि इस प्रकार की व्याप्ति केवल बाह्य है। भगवान् के लिए जीव मे प्रवेश करना अशक्य है।[2] कैवल्य के विषय में पुराने लोग कहते हैं कि वह स्वस्वरूप का ज्ञान है जो इस कक्षा पर पहुँच जाता है उसे वहाँ नित्यता और अमरता की परमावस्था प्राप्त हो जाती है। परवर्ती कहते हैं जिसे स्वस्वरूप की पहचान है उसे इस साधन से अमरत्व नही मिलता क्योंकि स्वस्वरूप का ज्ञान का अर्थ यह नहीं है कि उसे भगवान् के सम्बन्ध में अपने स्वरूप का पूर्ण ज्ञान हो गया है। उसे यही अनुभव होगा कि वह उच्च लोक में गतिमान है तथा, अन्त में भगवान् के धाम वैकुण्ठ में पहुँच जाएगा वहाँ

[1] अष्टाग भेद निर्णय, पृ० १०।

[2] अष्टांग भेद निर्णय, पृ० १२। इस मत का समर्थन वरदाचार्य की 'अधिकरण चिन्तामणि' ने किया है।

उसे भगवान् का दास स्वीकार कर लिया जाएगा। इस स्थिति को नित्य माना जा सकता है।[1]

---

[1] विवाद के १८ विषय जो यहाँ समझाए गए हैं उनका सग्रह पुराने लोगों के मतानुसार 'अष्टांग भेद निर्णय' में निम्न किया गया है।
भेदा: स्वामी कृपा, फलान्य गतिषु श्री व्याप्त्युपायत्वयो:
तद् वात्सल्य दया निरुक्ति वचसोन्यसि चलत् कर्त्तरि।
धर्म त्याग विरोधयोर स्वविहिते न्यासांग-हेतुत्वयो:
प्रायश्चित विधौ तदीय भजनेऽनुव्याप्ति-कैवल्ययो: ॥

—वही, पृ० १।

अध्याय १८

विशिष्टाद्वैत संप्रदाय का ऐतिहासिक एवं साहित्यिक सर्वेक्षण

अर्गीयस्, नाथमुनि से लेकर रामानुज तक

ए० गोविन्दाचार्य ने अनेक पुरानी पुस्तकों के आधार पर 'भजल्लारो का पवित्र जीवन' नामक एक ग्रंथ लिखा है।[1] आलवारो की रचनाएं सामान्यतः तीन रहस्यो मे बाँटी जा सकती हैं जो तिरुमन्त्र चुरुक्कु, द्वय चुरुक्कु और चरम श्लोक चुरुक्कु है। इन तीनो रहस्यो पर उत्तरकाल मे वेंकटनाथ, राघवाचार्य आदि विख्यात व्यक्तियो ने लिखा है। इन उत्तरकालीन लेखको के अनुसार इन रहस्यो का सक्षिप्त वर्णन यथा स्थान दिया जाएगा क्योकि इस ग्रथ की क्षेत्र-मर्यादा में आलवारो का जीवन विस्तृत रूप से देना अशक्य है। सन्त चरित लेखक, आलवार और अर्गीयसो मे यह भेद करते हैं कि आलवार ईश्वर-प्रेरित थे और अर्गीयसों की ईश्वरीय प्रेरणा विद्वत्ता एव पाडित्य से प्रभावित थी। अर्गीयसो के नाम नाथमुनि से प्रारम्भ होते हैं। इनका समय निश्चित करने मे कुछ कठिनाई आती है। 'गुरु परम्परा', 'दिव्य सूरि चरित' और 'प्रपन्नामृत' का मत है कि नाथ मुनि नाम्मालवार जो शठकोप या करिमारन कहलाते थे उनके या शायद उनके शिष्य मधुर का वियारंवार के प्रत्यक्ष सम्पर्क मे थे। इस प्रकार 'प्रपन्नामृत' का कहना है कि नाथ मुनि का जन्म व चोल देश के वीर नारायण गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम ईश्वर भट्ट था तथा उनके पुत्र ईश्वर मुनि थे।[2] वे लम्बी यात्रा पर गए जिसमे उन्होने मथुरा, वृन्दावन, हरिद्वार

---

[1] (१) 'दिव्य सूरि चरित' (प्रपन्नामृत से पुराना ग्रन्थ जिसमें प्रपन्नामृत का उल्लेख है) गुरुड वाहन पडित कृत, जो रामानुज के समकालीन एव उनके शिष्य थे। (२) 'प्रपन्नामृत', अनन्त सूरी कृत जो शैल रंगेश गुरु के शिष्य थे। (३) 'प्रबध सार' वेंकटनाथ कृत (४) 'उपदेश रत्नमालै' रम्यजामातृ महामुनि कृत, जो वरवर मुनि या परिय जीयार या मणवाल मामुनि नाम से भी जाने जाते थे। (५) 'गुरु परम्परा प्रभावम्' पिम्ब अरंगीय पेरुमाल जीयार कृत और (६) पजहनडै बिलक्कन्।

[2] ऐसा कहा जाता है कि वे शठकोप या शठ मर्षण के कुल में हुए थे। उनका दूसरा नाम श्री रगनाथ था। —चतुश्लोरी का परिचय देखो—आनद प्रेस, मद्रास, पृ० ३।

और बंगाल और पुरी इत्यादि उत्तर देशों का तीर्थ किया। घर पर वापस आकर उन्होंने यह पाया कि कुछ श्री वैष्णव, जो राजगोपाल मंदिर में पश्चिम से आए थे वे करिमारंनक रचे १० पद गाते थे। नाथमुनि ने उन्हें सुना और यह सोचा कि वे कोई बृहत् ग्रंथ के अंश हैं इसलिए उन्होंने उनका संग्रह करने का विचार किया। वे कुम्भ को गए और भगवान की प्रेरणा से ताम्रपर्णी के तट पर कुरका की ओर बढ़ गए जहाँ नाम्मालवार के शिष्य मधुर कवियारंवार से भेंट हुई और उनसे पूछा कि नाम्मालवार रचित श्लोक उपलब्ध हैं या नहीं: मधुर कवियारंवार ने उनसे कहा कि गीतो का एक बृहत् ग्रन्थ लिखकर और उन्हे उसका पाठ कराके नाम्मालवार ने मुक्ति पाली। इसलिए यह ग्रन्थ लोगो के जानने में आया। आसपास के लोगों को यह गलतफ़हमी थी की इस ग्रन्थ का अभ्यास वेदधर्म-विरुद्ध है। इसलिए उन्होंने उसे ताम्रपर्णी में फेंक दिया। इस ग्रन्थ का एक ही पन्ना जिसमें दश श्लोक थे एक आदमी के हाथ लगा। उसने उसे सराह कर गाया। इस प्रकार केवल दस गीत ही बच पाए। नाथमुनि ने नाम्मालवार की आराधना में मधुर कवि यारंवार रचित एक पद का १२ हजार बार पाठ किया। जिसके फलस्वरूप नाम्मालवार ने पूरे ग्रन्थ का प्रयोजन प्रकट कर दिया। जब नाथमुनि सारे ग्रन्थ को जानना चाहते थे तब उन्हें एक कारीगर के पास जाने को कहा गया जो समस्त पदों को प्रगट करने के लिए नामालवार से प्रेरित हुआ था। इस प्रकार नाथमुनि ने उस कारीगर से नाम्मालवार रचित पूरा ग्रन्थ पा लिया। उन्होने फिर उसे अपने शिष्य पुण्डरीकाक्ष को दिया, पुण्डरीकाक्ष ने उसे अपने शिष्य राम मिश्र को दिया, राम मिश्र ने यामुन को, यामुन ने गोष्ठीपूर्ण को, गोष्ठीपूर्ण ने अपनी पुत्री देविका श्री को दिया। नाथमुनि ने इन पदों का संग्रह किया और अपने दो भतीजे, मेलैयागत्तालवार और किलेयगत्तालवार की सहायता से, उसे वैदिक पद्धति से संगीत का रूप दिया। इसके बाद ये पद मंदिरो में गाए जाने लगे और इन्हें तामिल वेद के रूप में मान्यता प्राप्त हुई।[1] किन्तु प्राचीनतम गुरु परम्परा और 'दिव्य सूरि चरित' कहते हैं कि नाथ मुनि ने नाम्मालवार का ग्रन्थ उनसे साक्षात् पाया। उत्तरकालीन श्री वैष्णवो के मत में आलवारों की प्राचीनता के साथ इस कथन का मेल नहीं बैठता और उन्होने यह माना कि मधुर कवियारंवार नाम्मालवार के साक्षात् शिष्य नही थे और नाथमुनि ३०० साल तक जीते रहे। किन्तु पहले हमने जैसा पाया है, यदि नाम्मालवार का समय नवमी शताब्दी रखा जाय तो उपरोक्त मान्यता की स्वीकृति आवश्यक नहीं हैं। गोपीनाथ राउ भी दसवी शताब्दी के मध्य भाग के एक संस्कृत शिलालेख का उल्लेख करते हैं जिसके अनुसार उक्त पदो का रचयिता, श्रीनाथ का शिष्य था। अगर यह श्रीनाथ और नाथमुनि एक ही व्यक्ति हैं तो नाथमुनि का समय दसवीं शताब्दी में मानना सही है। उनके ११

[1] प्रपन्नामृत अध्याय १०६ और १०७।

शिष्य थे जिनमें पुण्डरीकाक्ष, करुकानाथ और श्रीकृष्ण लक्ष्मीनाथ प्रमुख थे। उन्होंने तीन ग्रन्थ लिखे, न्याय तत्व, पुरुष निर्णय और योग-रहस्य।[1] नाथमुनि को एक महान् योगी भी बताया है वे अष्टांग योग द्वारा योग साधना करते थे।[2] प्रपन्नामृत का कहना है कि उन्होने आगग नगर मे (सभवतः गंगेरकोन्दुषोड्पुरम) में योग समाधि ली। गोपीनाथ का कहना है कि उनकी इस नगर मे मृत्यु नही हो सकती क्योकि राजेन्द्र चोल ने जो गगेकोण्ड सौल भी कहलाते थे, इस नगर को १०२४ के पहले नहीं बसाया था जो नाथमुनि के समय के बाद होना चाहिए। नाथमुनि सभवतः परान्तक चोल प्रथम के राज्य में रहे होगे और संभवतः परान्तक चोल द्वितीय के राज्य के पहले, या उनके राज्य मे उनकी मृत्यु हुई होगी अर्थात् वे मध्य दसवी शताब्दी के ७० या ८० तक रहे होगे। उन्होने उत्तर भारत की लम्बी यात्रा की, मथुरा, वृन्दावन, द्वारका और पुरी के तीर्थ किए। नाथमुनि के शिष्य श्रीकृष्ण लक्ष्मीनाथ ने प्रपत्ति के सिद्धान्त पर एक बृहत् ग्रन्थ लिखा है। वे कृष्णमगल नामक स्थान में जन्मे थे। वे वेद में निपुण और वेदान्त के विशेषज्ञ थे और वे अच्छे भक्त थे जो सतत् विष्णु नाम का सकीर्त्तन करते रहते थे। (विष्णु नाम संकीर्त्तन रतः)। वे बहुधा नग्न रहते थे और अपने ऊपर फेंके हुए अन्न पर जीवित रहते थे। सन्त चरित लेखकों का कहना है कि वे मदिर की मूर्ति मे प्रविष्ट हुए और भगवान् से एकाकार हो गए। पुण्डरीकाक्ष उय्य कोण्डार ने कुरुकानाथ के चरित्र पर महान् प्रभाव डाला जो ऐसा माना जाता है वे अन्त मे योग समाधि लेकर मर गए। राम मिश्र सोगन्ध कुल्य नामक नगर मे एक ब्राह्मण कुल मे जन्मे थे और वे पुण्डरीकाक्ष के शिष्य थे। पुण्डरीकाक्ष की पत्नी का नाम आण्डाल था। पुण्डरीकाक्ष ने राम मिश्र से (मनवकल लम्बेज)

---

[1] वेंकटनाथ न्याय तत्व का न्याय परिशुद्धि में उल्लेख करते हैं (पृ० १३) जिसमें गौतम के न्याय सूत्रो की टीका और खडन किया है। भगवान् नाथमुनि भिर्न्याय तत्व समाह्वया अवधीर्याक्षपादादीन् न्यबधि न्याय पद्धतिः।

—न्यायपरिशुद्धि, पृ० १२।

[2] अष्टाग योग की साधना नाथमुनि के लिए नई नही थी। तिरुमंरि से पीरान का वर्णन करते, प्रपन्नामृत का कहना है कि वे पहले शिव भक्त थे और उन्होने तामिल भाषा मे शैव सिद्धान्त पर कई ग्रन्थ लिखे। किन्तु पश्चात् सन्त महार्ष ने उन्हे वैष्णव सम्प्रदाय की दीक्षा दी। तब उन्होने वैष्णव धर्म पर कई ग्रन्थ रचे। भक्तिसार ने भी एक पाण्डित्य पूर्ण ग्रन्थ लिखा, जो तत्त्वार्थसार कहा जाता है इसमे विरोधी मत का खडन किया गया है। भक्तिसार भी अष्टांग योग करते थे और अन्य भारतीय दर्शन में निपुर्ण थे। भक्तिसार के कणिकृष्ण नाम का एक शिष्य था। उन्होने विष्णु की आराधना में कई अतीव सुन्दर पद्य लिखे। कुल शेखर पेरुमाल ने भी अष्टांग योग का अभ्यास किया था ऐसा कहा जाता है।

उसे जो कुछ सिखाया गया था वह यामुन को सिखाने का आदेश दिया। किन्तु, यामुन पुण्डरीकाक्ष के समय में जन्मे नहीं थे। पुण्डरीकाक्ष ने नाथमुनि के विषय में पुरानी भविष्यवाणी के आधार पर उनके जन्म के बारे में भविष्यवाणी की थी। राम मिश्र के यामुन के अतिरिक्त चार शिष्य थे जिनमें लक्ष्मी प्रमुख थी।[1] वह श्रीरंगम् में रहते थे और वेदान्त का उपदेश देते थे।

यामुनाचार्य, जो आलवान्दार भी कहलाते थे वे ईश्वर मुनि के पुत्र और नाथमुनि के पौत्र थे और ई० सं० ९१८ में सम्भवतः जन्मे थे और ई० सं० १०८० में स्वर्गधाम पहुँचे ऐसा कहा जाता है। उन्होने राम मिश्र से वेदाध्ययन किया, विवाद में उनकी बड़ी ख्याति थी।[2] राजा होने पर उनका विवाह किया गया और उनके दो पुत्र वररग सौस्ट्ठुपूर्ण हुए, उन्होने लम्बे काल तक वैभवपूर्ण जीवन बिताया और राम मिश्र को भूल गए। किन्तु राम मिश्र बड़ी कठिनाई से उनके पास पहुँचे और उन्हें भगवत् गीता का अध्ययन कराने का मौका लिया जिससे उनमें विरक्ति उत्पन्न हुई। वे फिर राममिश्र के साथ ही श्री रंगम् गए और सब कुछ त्याग कर एक महान् भक्त हो गए।[3] राम मिश्र का अंतिम उपदेश उन्हे यह था कि वे कुरुकानाथ (कुरुगै क्कवलअप्पन) के पास जाएँ और उनसे अष्टाग योग सीखें जो नाथमुनि ने यामुन के लिए

---

[1] (१) तैवत्तुक्क अरमु नम्बी (२) गोमथ त्तुत-तिरुविन्नगरअप्पन् (३) सिरुप पुल्लुर-उदय पिल्लै (४) व गी-पुरत्तच्छी।

—देखो गोविन्दाचार्य कृत रामानुज की जीवनी, पृ० १४।

[2] प्रपन्नामृत मे यामुन के शास्त्रार्थ के बारे मे जब वे १२ साल के थे, एक कहानी है। वहाँ के राजदरबार मे एक पडित अक्कै अलवन नाम के थे जिनका शास्त्रार्थ मे नाम था। यामुन ने उन्हे खुले दरबार में चुनौती देकर परास्त किया। उन्हें आधा राज्य इनाम में दिया गया। वे युवाकाल में बड़े अभिमानी थे ऐसा पता प्रपन्नामृत के शब्दो से प्रतीत होता है। चुनौती के ये शब्द है—

> आशैलादद्रि कन्या चरण किसलय न्यास धन्योपकठाद्
> आरक्षो नीत सीता मुख कमल समुल्लासहेतोश्च सेतोः॥
> आ च प्राच्य प्रतीच्य क्षितिधर युग तदर्क चद्रावतंसान्
> मीमासाशास्त्रयुग्मश्रमविमल मनामृगयताम् मादृशोऽन्यः॥

—अध्याय ३।

[3] प्रपन्नामृत में एक कथा है कि जब यामुन राजा बन गए और किसी से नहीं मिलते थे तब राममिश्र को चिन्ता हुई कि वे किस प्रकार गुरु आदेश को पालकर यामुन को भक्ति मार्ग की दीक्षा दें। वे यामुन के रसोइए के पास गए और छः मास तक अलर्श शाक नाम की सब्जी यामुन को भेंट करते रहे जो उन्हे पसंद आई। छः

उनके पास छोड़ा था। यामुन के अनेक शिष्य थे जिनमें २१ मुख्य माने गए हैं। उनमें से महापूर्ण भारद्वाज गोत्र के थे, और उनके पुण्डरीकाक्ष नाम का एक पुत्र और अत्तुलयी नाम की एक पुत्री थी। दूसरा शिष्य श्री शैलपूर्ण था जो ताताचार्य नाम से भी जाना जाता था।[1] एक अन्य शिष्य गोष्ठीपूर्ण पांडय देश में जन्मा था, वहाँ श्री मधुरा नामक नगर में यामुन के एक दूसरे शिष्य ने भी जन्म लिया जिसका नाम मालाधर था। पांडय देश के मरनेर नगर में शूद्र जाति का मरनेर नाम्बी हुआ था। दूसरा शूद्र जाति का शिष्य पुनमल्लि में जन्मा था। यामुन अपने शिष्यों को वैष्णव संप्रदाय के पांचों संस्कारो की दीक्षा देते थे। उन्होंने चोल देश के राजा एवं रानी को भी इस संप्रदाय की दीक्षा दी थी और उनका राज्य श्री रंगम् के रगनाथ की सेवा में भेंट करा दिया था। श्री शैलपूर्ण या भूरि श्री शैलपूर्ण या महापूर्ण के दो पुत्र, दो पुत्री और दो बहनें थीं। ज्येष्ठ बहन कान्तिमती, केशव यज्वन को ब्याही थी जो रामानुज के पिता, आसुरि केशव भी कहलाते थे। दूसरी बहन द्युतिमति, कम लाक्ष्य भट्ट को ब्याही थी, जिनके गोविंद नाम का पुत्र हुआ। कुरेश, जिनका रामानुज से बड़ा सम्पर्क रहा, वे अनन्त भट्ट और महादेवी की सन्तान थे। यही कुरेश अनन्ताचार्य के पिता थे, जिन्होंने 'प्रपन्नामृत' ग्रन्थ लिखा था।[2] दाशरथि, वाधुल गोत्रीय, अनंत दीक्षित और लक्ष्मी के पुत्र थे। दाशरथि के कडडनाथ नाम का पुत्र जिसे रामानुज दास भी कहते हैं। वे सब रामानुज के साथी है जिनके ७४ मुख्य शिष्य थे।

यामुन को नाम्मालवार के ग्रन्थों से बहुत प्रेम था जिनके सिद्धान्त उन्होने लोगो को समझाए। यामुन ने ६ ग्रन्थ रचे थे। (१) स्तोत्र रत्नम् वरदराज की स्तुति मे (२) चतुश्लोकी (३) आगम प्रामाण्य (४) सिद्धि त्रय (५) गीतार्थ संग्रह (६) महापुरुष निर्णय।[3] इनमें से सिद्धित्रय' बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस ग्रन्थ का यामुन विषयक खण्ड लगभग पूरी तौर से सिद्धित्रय के आधार पर लिखा गया है। आगम

मास बाद राजा ने जब पूछा कि यह अनोखी तरकारी उसकी रसोई में कैसे आई तो राममिश्र चार दिन तक नहीं आए और रंगनाथ की स्तुति करते रहे और पूछते रहे कि वे यामुन के पास किस प्रकार जाएँ। इस दरम्यान यामुन को वह तरकारी नहीं मिली और उन्होंने रसोइए से, यामुन जब वह रसोई में आए तब उन्हें लाने को कहा। इस प्रकार राममिश्र यामुन के पास पहुँचे।

[1] प्रपन्नामृत, अ० ११२, पृ० ४४०।

[2] प्रपन्नामृत अ० १५०, पृ० ४५०। अनन्ताचार्य जो अनन्त सुरि भी कहलाते थे, वे शैलरंगेश गुरु के शिष्य थे। वे रम्य जामातृ महामुनि का आदर करते थे।

[3] देखो—वेंकटनाथ कृत गीतार्थ संग्रह रक्षा।

प्रामाण्य में पंचरात्र साहित्य की प्राचीनता और निर्विवाद प्रमाणिकता स्थापित करने का प्रयत्न किया है जो श्री वैष्णवों की संहिता है। स्तोत्र रत्नम्, चतुश्लोकी और गीतार्थ संग्रह पर अनेक लोगों ने टीकायें लिखी हैं, जिनमें वेंकटनाथ की टीका बहुत महत्व की है।[1] स्त्रोत रत्नम् में ६५ पद हैं जिनमें यामुन ने भगवान् के सौन्दर्य का वर्णन किया है जैसाकि पुराणों में बताया है। वे भगवान् के सामने अपने पाप और दोष, त्रुटियों और अवगुणों के महान् क्लेश को स्वीकारते हैं और उनके लिए क्षमा-याचना करते हैं। वे वर्णन करते हैं भगवान् अन्य देवताओं से उत्कृष्ट और लोकोत्तर हैं ही वे सर्वश्रेष्ठ नियामक और विश्व के धारक हैं। संपूर्ण शरणागति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वे उनकी कृपा पर ही पूर्णतः आश्रित हैं। अगर भगवान् की दया और कृपा इतनी महान् है तो उनके जैसा पापी और अभागा और कोई उनकी दया का पात्र नहीं हो सकता। अगर पापी नहीं तरता तो भगवान् की कृपा निरर्थक है। भगवान् को, अपने को दयावान अनुभव करने के लिए पापी की आवश्यकता है। यामुन आगे जाकर वर्णन करते हैं कि किस प्रकार, सर्वस्व छोड़कर उनका मन भगवान् के प्रति प्रगाढ रूप से आकर्षित होता है तथा वे अपनी नितान्त, निराश्रयता एवं पूर्ण आत्मसमर्पण का वर्णन करते हैं।[2] भक्त भगवान् के मिलन में विलम्ब सहन नहीं कर सकता और उनसे मिलने को अधीर होता है। उसे यह असीम दुःख देता है कि भगवान् उस पर अनेकानेक सुख बरसा कर उसे अपने से दूर रखते हैं। श्लोको का मूल स्वर प्रपत्ति की अभिव्यक्ति है, वेंकटनाथ ने इसे अपनी टीका में बहुत ही स्पष्ट रूप से बताया है। यह कहा जाता है कि इन्ही श्लोकों को पढ़कर रामानुज यामुन के प्रति बहुत आकर्षित हुए थे। चतु श्लोकी में श्री या लक्ष्मी की स्तुति में केवल चार श्लोक ही हैं।[3]

---

[1] वेंकटनाथ कृत चतुश्लोकी की टीका 'रहस्य रक्षा' कहलाती है और स्तोत्र की टीका का भी वही नाम है तथा 'गीतार्थ संग्रह' की टीका 'गीतार्थ संग्रह रक्षा' नाम से जानी गई है।

[2] 'स्तोत्र रत्नम्' के दो पद नमूने के तौर पर यहाँ उद्घृत करते हैं:—

न धर्म निष्ठोऽस्मि न चात्म वेदी न भक्ति मांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिंचनो नान्यगतिः शरण्य त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ॥ —श्लोक २२

न निन्दितम् कर्म तदस्ति लोके,
सहस्रशो यन्ना मया व्यधायि
सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द
क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे —श्लोक २३।

[3] वेंकटनाथ चतुश्लोकी की टीका में वैष्णव धर्म के अनुसार लक्ष्मी की स्थिति पर विवेचना करते हैं। लक्ष्मी की नारायण से एक पृथक् सत्ता है किन्तु वह हमेशा

गीत सग्रह में यामुन कहते हैं कि भक्ति ही जीवन के उच्च ध्येय को पाने का अंतिम साधन है जो शास्त्रोक्त धर्म पालन एवं स्व-धर्म के ज्ञान से उत्पन्न होती है।[1] यामुन के मतानुसार गीता में योग को भक्ति योग कहा है। इसलिए गीता का अंतिम ध्येय, श्रेष्ठ साध्य रूप में भक्ति का महत्त्व प्रतिपादन करना है, जिसके लिए शास्त्रोक्त धर्म पालन करना तथा भगवान् सर्वथा आश्रित आत्मा की सही आध्यात्मिक प्रकृति का ज्ञान एक प्रारम्भिक भूमिका है।

प्रपन्नामृत में कहा है कि यामुन रामानुज की भेंट करने को उत्सुक थे किन्तु जब रामानुज उनसे मिलने आए वे उससे पहले ही मर गए। रामानुज उनके अन्त्येष्टि कर्म में ही शामिल हो सके।

रामानुज[2]

पहले कहा जा चुका है कि यामुन के शिष्य महापूर्ण (नम्बी) के दो बहनें कान्तीमति और द्युतिमति थी, पहली केशव यज्वन् या भूतापुरी के आसुरी केशव से ब्याही थी और दूसरी कमालाक्ष भट्ट से ब्याही थी। रामानुज (इलयपेरुमाल) केशव यज्वन् के पुत्र ई० सं० १०१७ में जन्मे थे। उन्होंने अपनी माता की बहिन के पुत्र

उनकी सहगामिनी है। वे उन सब विचारों का खण्डन करते है जो लक्ष्मी को नारायण का एक अंश मानते हैं। लक्ष्मी और माया को भी तादात्म्य नहीं मानना चाहिए। लक्ष्मी, नारायण के निकटतम सम्पर्क मे है ऐसा माना है और वह एक माता की तरह, भक्त को भगवान् की कृपा के वियोग मे लाने मे अपना प्रभाव डालती है। इस प्रकार लक्ष्मी का अपना पृथक् व्यक्तित्व माना है यद्यपि वह व्यक्तित्व नारायण के व्यक्तित्व से समरस है। उसके तथा नारायण के प्रयत्न भगवान् के ही अनुरूप हैं (परस्परानुकूलतया सर्वत्र सामरस्यम्)। लक्ष्मी को जीव माना जाय, तो अणु रूप होने से वह सर्व व्यापी कैसे हो सकती है, और यह मत कि वह नारायण का अंश है, इस विवादग्रस्त विषय पर, वेंकटनाथ कहते हैं, कि लक्ष्मी न तो जीव है और न नारायण है, वह एक पृथक् व्यक्ति है जो भगवान् पर पूर्णतः आश्रित है। उसका भगवान् के साथ सम्बन्ध सूर्य का रश्मि और फूल का सुगंध के जैसा समझा जा सकता है।

[1] स्वधर्म ज्ञान वैराग्य साध्य भक्त्येक-गोचरः।
नारायणः पर ब्रह्म गीता शास्त्रे समुदितः॥

—गीतार्थ संग्रह, पद १।

[2] रामानुज के जीवन के बहुत से प्रसंग अनन्ताचार्य के प्रपन्नामृत से जो उनके कनिष्ठ समकालीन थे, संगृहीत किए गए हैं।

गोविन्द भट्ट के साथ, वेदान्त के निष्णात पंडित यादव प्रकाश से शिक्षा पाई थी। यादव प्रकाश के मत का विवरण परिचय हमें ज्ञात नहीं है किन्तु सम्भवतः वे एकतत्व-वादी थे।[1] यादव प्रकाश के पास शिक्षा लेने के पहले ही १६ साल की आयु मे उनके पिता ने रामानुज का ब्याह करा दिया था। विवाह कार्य के पश्चात् उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। उनके गुरु यादव प्रकाश कांची मे रहते थे। इसलिए रामानुज अपने कुटुम्ब के साथ भूतपुरी छोड़कर कांची आ गए। ऐसा कहा जाता है कि प्रारम्भिक काल में रामानुज से यादव प्रकाश रुष्ट हो गए थे क्योंकि रामानुज ने किसी राजा की पुत्री को भूत बाधा से मुक्त कर दिया जबकि यादव प्रकाश इस कार्य में असफल रहे। शीघ्र ही रामानुज और यादव प्रकाश के बीच, उपनिषद् के किसी पाठ के अर्थ बोध पर मत भेद हो गया जिसे यादव प्रकाश ने एकतत्ववाद सिद्धान्त से समझाया, किन्तु रामानुज ने उसे विशिष्टा द्वैत सिद्धान्तानुसार ही व्याख्या की। यादव प्रकाश रामानुज से बहुत रुष्ट हो गए, तथा उन्होने रामानुज को अलाहाबाद की यात्रा के अवसर पर उन्हें गंगा मे फेंक देने का षड्यन्त्र रचा। गोविन्द ने रामानुज को यह षड्यंत्र बता दिया। रामानुज अनेक कष्ट सहन करते, अपने साथियो से बिछुड कर कांची चले गए। कांची मे वे शूद्र जाति के कांचीपूर्ण नामक एक परम भक्त के सम्पर्क मे आए। कुछ समय बाद रामानुज का अपने गुरु से समझौता हो गया और उन्होने उनसे विद्या पढी। जब यामुन एक बार कांची आए थे तब उन्होने दूर से रामानुज को विद्यार्थियो के साथ जाते देखा था किन्तु इससे अन्य कोई सम्पर्क न हुआ। उसी समय वे रामानुज को अपना बनाने को बहुत उत्सुक थे। रामानुज एक बार फिर अपने गुरु से कप्यासम पुण्डरीकम् (छा० उ० पृ० १६७) पाठ के अर्थ बोध पर अलग हो गए। लडाई के परिणाम स्वरूप यादव ने उन्हे निकाल दिया। तब से वे कांची मे हस्ति शैल के नारायण की भक्ति मे लग गए। यहां उन्होने, महापूर्ण से यामुन का स्तोत्र रत्नम् पहली बार सुना, जो उनके मामा थे और यामुन के शिष्य थे। महापूर्ण से रामानुज ने यामुन के विषय में बहुत कुछ सीखा और उनके साथ श्री रंग की ओर गए। किन्तु वे श्री रंगम् पहुँचे उससे पहले यामुन शान्त हो गए। ऐसा कहा

---

[1] यादव मानते थे कि ब्रह्मन् अनन्त गुण सम्पन्न होते हुए भी सर्व प्रकार के जीव और सर्व प्रकार की जड वस्तु में परिणत होता है। उसके सच्चे स्वरूप का ज्ञान तब ही होता है जब हम यह समझ जायें कि वह विभिन्न जड़ और चेतन वस्तु में परिणत होते हुए भी एक है। अन्ये पुनरैक्यावबोधे याथात्म्य वर्णयन्तः स्वाभाविक-निरतिशय-परिमितोदार-गुण सागर ब्रह्मैव सुरनर तिर्यक् स्थावर नारकी स्वर्ग्यप-वर्गी चैतन्यैक स्वभावं स्वभावतो विलक्षणं मविलक्षणं च वियदादि नाना विद्यामल-रूपापरिणामा स्पंद चेति प्रत्यवतिष्ठन्ते।

—रामानुज वेदार्थ संग्रह, पृ० १५, मेडिक हाल प्रेस, १८९४।

जाता है कि यामुन की मृत्यु के बाद उनकी तीन अंगुलियाँ टेढ़ी हुई पाई गईं। रामानुज ने यह सोचा कि यामुन की तीन इच्छाएँ अपूर्ण रहीं, वे (१) लोगों को वैष्णव के प्रपत्ति सिद्धान्त में परिवर्तन करना और उन्हें आलवारों के ग्रन्थों से पूर्ण परिचित कराना, (२) ब्रह्म सूत्र की श्री वैष्णव संप्रदाय के अनुसार टीका लिखना (३) और श्री वैष्णव संप्रदाय पर बहुत से ग्रन्थ लिखना थीं। इसलिए रामानुज ने इन तीन इच्छाओं को पूर्ण करने की ठान ली।[1] वे कांची वापस आए और यामुन के शिष्य कांचीपूर्ण के शिष्य हो गए। इसके बाद वे श्री रंगम् की ओर गए और रास्ते में महापूर्ण से उनकी भेंट हुई जो कांची आकर उन्हें श्री रंगम् लाना चाहते थे। तब महापूर्ण ने उन्हें वैष्णव पंच संस्कार की दीक्षा दी। रामानुज (आचार्य) अपनी पत्नी का महापूर्ण की पत्नी के प्रति तथा याचकों के प्रति अशिष्ट व्यवहार के कारण रुष्ट हो गए, और उसे कपट से उनके पिता के घर भेज दिया। इस प्रकार उन्होंने ३०, ३२ साल में ही संन्यास ले लिया। संन्यासी बनने के बाद, अपनी बहन के पुत्र दाशरथि[2] को और अनन्त भट्ट के पुत्र कुरनाथ को शास्त्र का उपदेश देना प्रारम्भ किया। यादव प्रकाश भी रामानुज के शिष्य हो गए।[3] अन्त में रामानुज श्री रंगम् के लिए चल दिए और रंगेश की भक्ति में अपना जीवन दे दिया। उन्होंने गोष्ठीपूर्ण से कुछ तंत्र मंत्र सीखा जो गोष्ठीपूर्ण ने अपने गुरु से सीखा था। तत्पश्चात् रामानुज ने एक संस्कृत विशेषज्ञ यज्ञमूर्ति को वाद में हराया। यज्ञमूर्ति उनके शिष्य बन गए और उन्होंने तामिल में ज्ञानसार और प्रमेयसार नामक दो ग्रन्थ रचे।[4] अब रामानुज के

---

[1] प्रपन्नामृत ६, पृ० २६। गोविन्दाचार्य और घोष ने इस पाठ का गलत अर्थ किया है, क्योंकि यहाँ शठकोप का नाम तक नहीं सूचित है। कुरेश या श्रीवत्सांक मिश्र के दो पुत्र थे, एक को रामानुज ने दीक्षा दी और पराशर भट्टार्य नाम दिया और दूसरे को रामदेशिक नाम दिया। रामानुज के मातृपक्ष के भाई गोविन्द के एक छोटा भाई था जिसका नाम बाल गोविन्द था उनके पुत्र को परांकुश पूर्णार्य नाम से दीक्षा दी।

[2] दाशरथि के पिता का नाम अनन्त दीक्षित है।

[3] उनका दीक्षित नाम गोविन्ददास था। परिवर्तन के बाद उन्होंने 'यति धर्म समुच्चय' नाम की पुस्तक लिखी। गोविन्ददास को गोविन्द से पृथक् समझना चाहिए जो रामानुज की काकी के पुत्र थे और जो यादव प्रकाश द्वारा शैव पथ में परिवर्तित किए गए थे और उनके मामा जो यामुन के शिष्य थे, श्री शैलपूर्ण ने उन्हें श्री वैष्णव पंथ में वापस लिया। गोविन्द विवाहित थे किन्तु रामानुज से इतनी प्रीति हो गई कि उन्होंने संन्यास ले लिया। श्री शैलपूर्ण ने सहस्त्र गीति पर एक टीका लिखी। रामानुज के एक दूसरे शिष्य पुण्डरी-काक्ष थे जो महापूर्ण के पुत्र थे।

[4] इनका दीक्षान्त नाम देवराट और देवमन्नाथ था।

कई विख्यात शिष्य हो गए, जैसेकि भक्त ग्राम पूर्ण महधग्रामपूर्ण, अनन्तार्य, वरदाचार्य और यज्ञेश। रामानुज ने सर्व-प्रथम गद्यत्रय लिखा। फिर वे कुरेश के साथ शारदा मठ गए, कुरेश को श्री वत्सांक मिश्र या कुरुसालवन के नाम से भी जाना गया है। वहाँ उन्होंने 'बोधायन वृत्ति' की हस्तलिखित पुस्तक प्राप्त की और श्री रगम् की ओर चल दिए। मंदिर में पुजारी का पुस्तक का गुम होने का पता चला तब वह उनकी ओर खोज मे भागा और वह प्रति उनसे वापस ले ली। सद्भाग्य से कुरेश ने रास्ते में जाते समय कई राते उक्त पुस्तक के अध्ययन मे बिताई थी और उसके सदर्भ से परिचय प्राप्त कर लिया था इसलिए वे उसका पाठ कर सकते थे। इस प्रकार रामानुज ने श्री भाष्य की टीका कुरेश को लिखाई।[1] उन्होंने वेदान्त दीप, वेदान्त सार और वेदार्थ सग्रह भी लिखा। सम्भवतः श्री भाष्य, रामानुज की, तिरुक्को बलुर, तिरुपति, तिरुपुत्र कुली, कुम्भ कोनम्, अलगार कोइल, तिरुपुल्लनी, आरंवार तिरुनगरी, तिरुकुरुन्तन्गुडी, तिरुवण परिशारम्, तिरुवत्तर, तिरुवनदपुरम्, तिरु वल्लकेणी, तिरु निर्मले मधुरन्तकम और तिरु वैगुण्डी पुरम की वृहत् यात्रा के बाद लिखा गया हो।[2] तत्पश्चात् उन्होंने उत्तर भारत मे, अजमेर, मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या और पुरी की यात्रा की और बहुत से विपक्षियों को परास्त किया। ये बनारस और पुरी भी गए और पुरी मे एक मठ भी स्थापित किया। उन्होंने बलात्, जगन्नाथपुरी में पंचरात्र कर्म-काड का प्रचार करने की कोशिश की, किन्तु वे असफल रहे। 'रामानुजार्य दिव्य चरितम्' के आधार पर श्री भाष्य १०१७ शक अर्थात् ई० स० ११५५ में समाप्त हुआ यद्यपि इसका दो तृतीयाश भाग चोलो के उपद्रव के पहले ही समाप्त हो गया था। किन्तु यह समय गलत होना चाहिए क्योकि रामानुज शक १०५६ अर्थात् ई० सं० ११३७ मे मर गए थे।[3] महापूर्ण (पेरियल नाम्बी) और कुरेश की आँखें सम्भवतः चोल राजा कोलुत्तु ग प्रथम ने सन् १०७८–७६ में फोड दी थी और इस काल में रामानुज को होयशाल देश में आश्रय लेने को बाध्य होना पडा था। सन् १११७ मे, कोलुत्तु ग प्रथम की मृत्यु के पश्चात् रामानुज श्री रगम् वापस आए, जहाँ वे कुरेश से मिले और श्री भाष्य समाप्त किया।[4] चलारिस्मृति नामक मध्व ग्रन्थ में ऐसा कहा है कि सन् ११२७ मे अर्थात् शक १०४६ में श्री भाष्य प्रतिष्ठा पा चुका था।[5]

---

[1] रामानुज ने कुरेश से यह कह दिया कि जहाँ बोधायन वृत्ति को ठीक न समझ पाएँ वहाँ उन्हे रोक दे। कम से कम एक जगह उनके बीच विवाद हो गया और रामानुज गलत ठहरे।

[2] देखो, गोपीनाथ राउ के व्याख्यान, पृ० ३४ फुट नोट।

[3] देखो, गोपीनाथ राउ के व्याख्यान।

[4] रामानुचार्य दिव्य चरितं (तामिल ग्रन्थ) पृ० २४३, गोपीनाथ राउ द्वारा उद्धृत।

[5] कलौ प्रवृत्त बौद्धा दि मतम् रामानुजम् तथा। शके ह्येको न पंचाशदधिकाब्दे

इसलिए यह अधिक सम्भव है कि श्रीभाष्य सन् १११७ और ११२७ के बीच सम्पन्न हुआ। गोपीनाथ राऊ मानते हैं कि वह ११२५ में लिखा गया था।

रामानुज सामान्य गृहस्थी वेष में श्री रंगम् से ताण्डागुर, कालुन्तुंग प्रथम या राजेन्द्र चोल के आंतक से भागे जो कृमिकंठ, एक शैव राजा भी कहलाता था। वे (रामानुज) हायशाल देश के जैन राजा वित्तिदेव को विष्णुवर्धनदेव नाम देकर वैष्णव पथ मे परिवर्तन करने मे सफल हुए। राऊ का कहना है कि यह परिवर्तन सन् १०६६ के कुछ पहले हुआ होगा।[1] इस राजा की सहायता से उन्होने मेलुकोट (यादवाद्रि) में तिरु नारायण पेरुमाल का मदिर बनवाया, जहाँ रामानुज १२ वर्ष तक रहे।[2] 'रामानुजार्य दिव्य चरितै' के आधार पर, रामानुज श्रीरगम् से वापस आने के बाद ११ वर्ष तक जीवित रहे, (कोलुत्तुंग प्रथम की मृत्यु १११८ के कुछ समय के बाद) और वे सन् ११३७ में स्वर्गवासी हुए। इस प्रकार वे १२० वर्ष के लम्बे समय तक जिए, जोकि कोलुतुंग प्रथम (सन् १०७०–१११८) विक्रम चोल (सन् १११८–११३५) और कोलुतुंग द्वितीय (११२३–११४६) नाम के तीन चोल राजाओ के राज्यकाल ने फैलाया। उन्होने अपने जीवन काल में कई मदिर और मठ बनवाए और श्रीरगम् के मदिराध्यक का धर्म-परिवर्तन कर सारे मदिर पर अधिकार किया।

रामानुज के उत्तराधिकारी पराशर भट्टार्य थे जो कुरेश के पुत्र थे और जिन्होने 'सहस्त्र गीति' पर टीका लिखी थी। रामानुज अनेक निष्ठावान् पडितो को अपना शिष्य बनाने मे सफल रहे–जिन्होने रामानुज के तत्व दर्शन और उनकी पूजापद्धति को शताब्दियो तक आगे बढ़ाया। उनका धर्म सार्वलौकिक था, यद्यपि वे पूजा एव दीक्षा के सम्बन्ध मे कुछ अनुष्ठानो को आवश्यक मानते थे, तो भी उन्होने अपने सप्रदाय मे जैन, बौद्ध, शूद्र और अन्त्यजो को भी अपनाया वे स्वय एक शूद्र के शिष्य थे और स्नान के बाद एक

सहस्रके। निराकर्तुंम् मुख्य वायु· सन्मत स्थापनाय च, एकादश-शते शाके विंशत्यष्ठ युगे गते, अवतीर्णं मध्वगुरु सदा वन्दे महागुणम्।

–चलारि स्मृति, गोपीनाथ द्वारा उद्धृत, ३५।

[1] किन्तु राइस साहब मैसूर गजेटियर अक १ में यह कहते हैं कि यह परिवर्तन सन् १११७ या शक १०३६ में हुआ। किन्तु राऊ यह कहते हैं कि एपिग्राफिका कर्नाटिका वित्तिदेव का एक शिलालेख है जो शक १०२३ का है (न ३४ अर्सिकेर) जिसमें उन्हे विष्णु वर्धन कहा है।

[2] साधारण मान्यता यह है कि रामानुज श्री रगम् से कुल मिलाकर केवल १२ वर्ष ही बाहर रहे किन्तु राऊ का मानना यह है कि काल लगभग २० साल का होगा, जिसमें से १२ वर्ष यादवादि में बीते।

[3] देखो–एस० के० आयगर, एम० ए० कृत रामानुजाचार्य नटेसन क० मद्रास।

अछूत मित्र की झोंपड़ी में समय बिताते थे। ऐसा कहा जाता है उन्होंने ७४ धर्म सिंहासनों पर राज्य किया और उनके अनुयायियों में ७०० संन्यासी, १२००० साधु और ३०० साध्वियां (केट्टी अम्मैस) थी। बहुत से राजा और धनिक उनके शिष्य बने। कुरेश दाशरथि, नाड़ाडुर, आरंवान और भट्टार प्रवीण पंडित थे। यज्ञमूर्ति पुरोहित थे, एक शिष्य रसोई की देखभाल करता था, वाटपूर्ण या अंध्रपूर्ण और गोमठम् सिटी यारंवान को अनेक प्रकार की परिचर्या सौंपी गई थी, धनुदास कोषाध्यक्ष थे, अमंगी गरम दूध के अध्यक्ष, उक्कल आर्वान् परोसने में, उक्कलम्मल पखा झलने में नियुक्त थे।[1] रामानुज ने कितने ही शैवो को वैष्णव बनाया और शैव और वैष्णव के बीच संघर्ष में चोल देश के शैव राजा, कृमिकंठ के हाथ बहुत दुःख उठाया, किन्तु कृमिकंठ का उत्तराधिकारी उनका शिष्य हुआ और वैष्णव बन गया। इससे श्री वैष्णव धर्म के फैलने मे बहुत सहायता मिली।

रामानुज के जीवन का विशद वृतान्त जिन स्रोतो से संग्रह किया गया है वे ये हैं : (१) 'दिव्य सूरी चरितै' जो रामानुज के समकालीन गरुडवाहू ने लिखा है। (२) 'गुरु परम्परा प्रबधम्,' पिम्बरंजीय पेरुमाल जीयार ने मणि प्रवाल भाषा में १४वी शताब्दी के पहले भाग मे लिखा है (३) 'पिल्ले लोकम् जीयार का 'रामानुजार्य दिव्य चरितै' नामक तामिल ग्रन्थ (४) आम्बि लै कण्डा डैयप्पन् का आलवारो और अरंगीयसो का संक्षिप्त परिचायत्मक तामिल ग्रथ, जो 'पैरिय तिरु मुडियैंव्य' नाम से जाना गया (५) 'प्रपन्नामृत' अनन्ताचार्य कृत, जो शैल रंगेश गुरु के शिष्य और अघ्र पूर्ण के अनुवशज थे। (६) 'तिरुवायमोर्री' की टीकाएँ जिनमे अरंगीयसो की व्यक्तिगत स्वगत स्मृतियो का उल्लेख है तथा (७) अन्य शिलालेख आदि।

विशिष्टाद्वैत मत के पूर्वगामी और रामानुज के समकालीन एवं शिष्य

ब्रह्मसूत्र का भेदाभेद वादात्मक अर्थ, सम्भवत. शंकर के अद्वैतवाद से पहले प्रचलित रहा होगा, भगवत् गीता, जो उपनिषद् का सार है, प्राचीन पुराण और पंचरात्र जो इस ग्रन्थ मे उल्लिखित हुए हैं, लगभग भेदाभेदवाद सिद्धान्त पर चलते है। वास्तव में इस वाद का उद्‌गम पुरुष सूक्त मे देखा जा सकता है। इसके उपरान्त, द्रमिडाचार्य ने जैसाकि यामुन ने 'सिद्धित्रय' में कहा है, ब्रह्म सूत्र की व्याख्या की और आगे श्री वत्साक मिश्र ने उस पर टीका की। बोधायन की जिन्हें रामानुज ने वृत्तिकार और शंकर ने उपवर्ष कहा है ब्रह्म सूत्र पर एक बृहत् वृत्ति है, जो रामानुज

[1] गोविंदाचार्य कृत रामानुज की जीवनी, पृ० २१८।

के भाष्य का आधार रही है।[1] आनन्दगिरि भी द्राविड भाष्य का उल्लेख करते हैं, जो छांदोग्योपनिषद् की टीका है जो शंकर के पहले एक सरल व्याख्या (ऋजु विवरण) थी। सक्षेप शारीरक में (३–२२७–२७) आत्रेय और वाक्यकार नाम के लेखक का उल्लेख है जिसे टीकाकार रामातीर्थ ने ब्रह्मनन्दिन् कहा है। रामानुज ने 'वेदार्थ सग्रह' में वाक्यकार का एक पाठ और द्रामिडाचार्य की उस पर टीका, को उद्धृत किया है।[2] वाक्यकार और द्रामिडाचार्य, जिनका उल्लेख रामानुज करते है, मानते थे कि ब्रह्मन् सगुण है, द्रमिडाचार्य जिसने ब्रह्मनदिन् के ग्रन्थ पर टीका लिखी थी एकतत्त्ववादी थे। सम्भवत: वे वही व्यक्ति थे जिन्हें आनदगिरि ने छादोग्य उपनिषद् पर शकर के भाष्यो-पोद्घात् नामक ग्रन्थ पर अपनी टीका मे, द्रविडाचार्य नाम से पहिचाना है। किन्तु यह प्रश्न इतनी सरलता से नही निपटता। सर्वज्ञात मुनि ने अपने 'सक्षेप शारीरक' मे वाक्यकार को एकतत्त्ववादी माना है किन्तु उनके सकेत से यह स्पष्ट होता है कि वाक्यकार ने टीका का अधिकतर भाग परिणामवाद की पुष्टि मे लगाया है (भास्कर के समान) और ब्रह्मन् और जगत् के सबध को समझने के लिए सागर और तरग की विख्यात उपमा दी, और केवल छादोग्य के छठे प्रपाठक की टीका करते एक तत्त्ववाद का प्रतिपादन यह कहकर किया कि जगत् सत् और असत् दोनो नही है। आश्चर्य है कि रामानुज ने उसी पाठ को जो सर्वज्ञात्म मुनि से सम्बद्ध है और जो आत्रेय वाक्यकार और टीकाकार द्रमिडाचार्य के एकतत्त्ववाद को सिद्ध करता है, उसे अपने 'वेदार्थ सग्रह' मे अपने मत की पुष्टि में उद्धृत किया है। किन्तु उन्हे ब्रह्मनदिन् न कहकर वाक्यकार कहा है। वाक्यकार को–रामानुज ने द्रमिडाचार्य से भी लक्ष्य

---

[1] वेकटनाथ अपनी 'तत्त्व टीका' मे कहते हैं, 'वृत्ति कारस्य बोधायनस्यैव हि उपवर्ष इतिस्यान् नाम।' अपनी 'सेश्वर मीमासा' मे, किन्तु, वे उपवर्ष के मत का खण्डन करते है क्योकि वैजयन्ती कोष मे कृतकोटि और हलभूति, उपवर्ष के ही नाम है, ऐसा बताया है।

–प्रस्तुत पुस्तक का दूसरा खड भी देखो, पृ० ४३।

[2] वेदार्थसंग्रह पृ० १२८ वाक्यकार का पाठ यह है, 'युक्त तद् गुणोपासनाद्' और द्रामिड़ाचार्य की उस पर यह टीका है, 'यद्यपि सच्चित्तो न निर्भुग्न दैवत गुणगणं मनसानुधावेत् तथापि अन्तर्गुणमवे देवताम् भजन इति तत्रापि सगुणैव देवता प्राप्यत इति।' इन पाठो का मुख्य विचार यह है कि ईश्वर के निर्गुण रूप में भक्ति की जाए तो भी पूर्ण मुक्ति सगुण रूप के अनुभव से ही होती है।

महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री एम० ए० द्रामिडाचार्य को तिरुमरिस पीरान मानते हैं जो सम्भवत: ८वीं शताब्दी में रहे किन्तु उनकी पुष्टि जो तीसरी ओरिएन्टल कांग्रेस मद्रास १९२४ के लेखो पृ० ४६८–४७३ पर की गई है विश्वस-नीय प्रतीत नहीं होती।

किया है। यद्यपि सर्वज्ञात्म मुनि उन्हें वाक्यकार ही कहते है, किन्तु उनके टीकाकार रामतीर्थ उन्हें ब्रह्मनंदिन् कहते हैं, किन्तु उनके टीकाकार को द्रामिड़ाचार्य कहते हैं और वाक्यकार का अर्थ केवल रचनाकार (लेखक) है, ऐसा मानते हैं। सर्वज्ञात्म मुनि ने ब्रह्मनदिन् को नाम से कभी भी लक्ष्य नहीं किया है। क्योंकि 'सक्षेप शारीरिक' में सर्वज्ञात्म मुनि द्वारा उद्धृत पाठ रामानुज ने जो 'वेदार्थ सग्रह' में दिया है, उससे मेल खाता है इससे यह निश्चित होता है कि रामानुज और सर्वज्ञात्ममुनि और ग्रानदमुनि द्वारा लक्षित वाक्यकार एक ही व्यक्ति है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि वाक्यकार और टीकाकार द्रमिडाचार्य की लेखन शैली ऐसी थी कि एक-तत्त्ववादी यो समझते थे कि वे उनकी पुष्टि करते है और श्री वैष्णव ऐसा सोचते थे कि वे उनके अनुसगी हैं। सर्वज्ञात्म मुनि के कथन से हम जानते हैं कि वे वाक्यकार को आत्रेय भी कहते थे और उन्होंने अपने ग्रन्थ के अधिकांश भाग मे भेदाभेदवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। शकर ने भी उपवर्ष को ब्रह्मसूत्र और मीमांसा दर्शन के एक विख्यात प्रतिपादक के नाम से लक्ष्य किया है तथा मीमासा के एक तत्र और ब्रह्म सूत्र का रचयिता भी माना है।[1] इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि एक ही वाक्यकार था जिसने छांदोग्य उपनिषद् की टीका लिखी और उसी के टीकाकार द्रमिडाचार्य थे जिनकी शैली स्पष्ट और ऋजु थी यद्यपि उन्होंने यह तामिल मे न लिखकर सस्कृत में लिखी। अगर हम रामतीर्थ से एकरूपता को मानते हैं तो हम यह मान लें कि उनका नाम ब्रह्मनदिन् था। किन्तु, वह कोई भी हो वह पुराने मण्डल के बड़े आदरणीय पुरुष होंगे क्योंकि उन्हे सर्वज्ञात्म मुनि ने भगवान कहा है।

उपवर्ष भी आदरणीय पुरुष थे क्योकि शकर ने उन्हें भगवत्नाम से सबोधित किया है और उन्हे समर्थको मे से पुरुष माना है वे शबर मुनि से कहीं पहले रहे होंगे जो मीमासा

---

[1] अत एव च भगवतोऽपवर्षेण प्रथमे तंत्रे आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरिके वक्ष्याम इति उद्धारः कृतः।

–शकर का ब्रह्मसूत्र भाष्य ३–३–५३।

गोविन्द अपनी रत्नप्रभा मे उपवर्ष को वृत्तिकार मानते हैं। आनंदगिरि इससे सहमत हैं। ब्रह्मसूत्र भाष्य १–१–१६ और १–२–२३ मे शकर वृत्तिकारो के मतो का खडन करते हैं। पिछले दो अनुच्छेदो मे दिए वृत्तिकार के मत जो टीकाकार गोविन्दानन्द मानते हैं कि वे वृत्तिकार को ही लक्ष्य करते हैं, उनका इंगित है कि जगत् भगवान का परिणाम हैं। किन्तु हम निश्चितरूप से यह नही कह सकते कि शकर द्वारा खडन किए गए ये मत सचमुच के ही थे क्योकि हमारे पास गोविन्दानन्द के सिवाय अन्य कोई प्रमाण नहीं हैं, जिनका जीवनकाल १३वीं या १४वीं शताब्दी रहा।

के टीकाकार जाने जाते है।[1] आनद गिरि और वेंकटनाथ (१४वीं शताब्दी) उपवर्ष को वृत्तिकार कहते हैं और वेंकटनाथ और आगे उन्हें कल्पनावश बोधायन भी मानते हैं। यदि उपवर्ष वृत्तिकार भी रहे हो तो भी यह शंकास्पद है कि वे बोधायन हों। इस विषय में हमारे पास वेंकटनाथ का अनुमान ही है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। शंकर ब्रह्मसूत्र १–३–२८ की टीका करते हुए वे स्फोटवाद के खण्डन में उपवर्ष का प्रमाण देते है।[2] किन्तु यह विषय भी अनिर्णीत है क्योकि शंकर तथा श्रीनिवास दोनो ही स्फोटवाद नही मानते। यहाँ पर कोई भी प्रमाण प्राप्त नही है। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि उपवर्ष वृत्तिकार हैं या बोधायन।[3] यदि प्रपन्नामृत को प्रमाण माना जाए तो बोधायन की ब्रह्म सूत्र की वृत्ति एक बृहद् ग्रन्थ होना चाहिए और द्रमिडाचार्य का ब्रह्मसूत्र पर ग्रन्थ बहुत छोटा होना चाहिए। इसी कारण से रामानुज ने एक टीका लिखने का प्रयत्न किया जो न ज्यादा लम्बी और न ज्यादा छोटी हो।

अब हमारे पास शठकोप की लिखी एक छोटी हस्तलिखित पुस्तक 'ब्रह्म सूत्रार्थ सग्रह' है यह हम नही जानते कि प्रपन्नामृत मे उल्लिखित द्रमिड टीका यही है। यामुन, 'सिद्धित्रय' में एक भाष्यकार का उल्लेख करते हैं उनके लिए 'परिमित-गम्भीर-भाषिणा' ऐसे गुण वाचक शब्दो का प्रयोग करते हैं जिससे यह अर्थ होता है कि वह एक सक्षिप्त और गम्भीर अर्थ पूर्ण ग्रन्थ था। वे आगे और कहते हैं कि इस भाष्य को श्री वत्साक मिश्र ने विस्तार दिया। सम्भवत इन दोनो लेखको के विचार श्री वैष्णव सप्रदाय से मिलते थे। किन्तु यामुन, टक, भर्तृ-प्रपच, भर्तृमित्र, भर्तृहरि, ब्रह्मदत्त, शकर और भास्कर के नामो का उल्लेख करते है। भर्तृप्रपंच द्वारा ब्रह्मसूत्र के निरूपण का वर्णन हमने इस ग्रन्थ के दूसरे भाग मे दिया है। टक, भर्तृमित्र, भर्तृहरि और ब्रह्मदत्त के निरूपण के विषय मे कुछ भी निश्चित जानकारी नही है केवल हम इतना ही जानते है कि वे श्री वैष्णव मत के विरुद्ध थे।

---

[1] शबर मीमांसा सूत्र १–१–५ में भाष्य मे उपवर्ष को स्फोट के विषय पर चर्चा करते हुए भगवान कहते हैं।

[2] वर्णा एव तु शब्दाः इति भगवान् उपवर्षः।

—ब्रह्मसूत्र शकर भाष्य १–३–२८।

डौयसन का कहना है कि स्फोटवाद की चर्चा उपवर्ष से हुई है यह अप्रमाण है।

[3] मीमासा सूत्र १–१–५ के भाष्य में शबर मुनि एक वृत्तिकार का उल्लेख करते हैं जो शबर के पूर्व हुए थे। शबर उसी सूत्र के भाष्य का उल्लेख करते हुए भगवान् उपवर्ष का नाम लेते हैं इससे यह माना जा सकता है कि वृत्तिकार और उपवर्ष दोनो एक ही व्यक्ति न थे।

रामानुज ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में कहते हैं कि बोधायन ने ब्रह्मसूत्र पर बृहत् ग्रन्थ लिखा था जिसे पूर्वाचार्यों ने अति संक्षिप्त रूप दिया। वे आगे ऐसा भी कहते हैं कि उन्होंने अपने भाष्य को लिखने में बोधायन द्वारा किए सूत्र विवरण को निकटता से अनुसरण किया है।[1] रामानुज, यामुन के 'सिद्धि त्रय' का आभार मानते हैं, यद्यपि उन्होंने इसका उल्लेख उनके भाष्य में नहीं किया है। यह कहा जाता है कि यामुन के अनेक शिष्य थे। उनमें से महापूर्ण, गोष्ठीपूर्ण, मालाधर, कांचीपूर्ण, श्री शैलपूर्ण अथवा ताताचार्य (रामानुज के मामा) तथा श्री रंगनाथगायक प्रमुख थे। श्री शैलपूर्ण का पुत्र गोविंद जो रामानुज का भतीजा तथा यादव प्रकाश के साथ अध्ययन काल में उनका सहपाठी था, बाद में जाकर उनका शिष्य बन गया।[2] श्री रामानुज के ७४ प्रसिद्ध शिष्यों में आत्रेय गोत्री प्रणतार्तिहर, कुरेश अथवा श्री वत्सांक मिश्र, दाशरथि, अन्ध्रपूर्णया वातपूर्ण, वरदविष्णु यतिशेखर भारत, यादवप्रकाश अथवा गोविंद तथा यज्ञमूर्ति अत्यन्त प्रमुख है।[3] इनमें से वाधूलगोत्री दाशरथि और वरद विष्णु अथवा वरदविष्णु मिश्र श्री रामानुज की बहिन के पुत्र थे। वरदविष्णु वात्स्य वरदगुरु नाम से विशेष प्रसिद्ध थे। कुरेश या श्रीवत्सांग मिश्र का एक पुत्र आंडाल से था जिसका नाम पराशेर भट्टार्य था, जिसने वेदान्ती माधवदास को हराया था। श्री कुरेश बाद में जाकर रामानुज का उत्तराधिकारी हुआ।[4] पराशर भट्टार्य के एक पुत्र मध्य प्रतोलि भट्टार्य या मध्य वीथिभट्टार्य था। कुरेश का एक और पुत्र पद्मनेत्र नाम का था, पद्मनेत्र का पुत्र कुरुकेश्वर कहलाता था।[5] कुरुकेश्वर का पुत्र पुण्डरीकाक्ष था और उसका पुत्र श्रीनिवास था। श्रीनिवास का पुत्र नृसिहार्य था। सम्भवतः नाम से पता चलता है कि भूरि श्री शैलपूर्ण जो कुरेश के पिता थे, शैल वंश के थे।

---

[1] सुदर्शन सूरि ने भाष्य की अपनी टीका में जो 'श्रुति प्रकाशिका' कही गई है रामानुज भाष्य में प्रयुक्त पूर्वाचार्य शब्द की व्याख्या 'द्रमिड भाष्यकारादयः' की है। बोधायन मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यायन्ते, इस वाक्य पर यह कहते हैं, 'न तु स्वोत्प्रेक्षित मतान्तरेण सूत्राक्षराणि सूत्र पदानाम् प्रकृति-प्रत्यय-विभागानुगुण वदामः न तु स्वोत्प्रेक्षितार्थेषु सूत्राणि यथा कथं चित् द्योतयितव्यानि।'

[2] यह अत्यंत रोचक विषय है कि यामुन के पुत्र वररंग ने बाद में रामानुज को पढ़ाया और अपने कनिष्ठ भाई सोत्तनम्बी को दीक्षा दिलवाई। वररंग को कोई पुत्र न था। उन्होंने सहस्र गीति को संगीत बद्ध किया।

—प्रपन्नामृत, २३, ४५।

[3] राज गोपाल चारीयर भी तिरु कुरुगैपन पीरान पिल्लै को रामानुज के मुख्य शिष्य बतलाते हैं। उन्होंने नाम्मालवार रचित तिरुवाय मोरीं पर टीका लिखी थी।

[4] कुरेश के एक और पुत्र था जिसे श्रीराम पिल्लै या व्यास भट्टार कहते थे।

[5] दक्षिण भारत में पुत्र को पितामह का नाम देना सामान्य है।

नृसिंहार्य का पुत्र रामानुज कहलाता था। रामानुज के दो पुत्र थे, नृसिंहार्य और रंगाचार्य, जो सम्भवतः १५वीं शताब्दी में विद्यमान थे। रामानुज के शिष्य यज्ञमूर्ति बड़े विद्वान् व्यक्ति थे। जब रामानुज ने उन्हें शिष्य बनाया तो उन्होंने उसका नाम देवव्रत या देवमन्नाथ या देवराज रख दिया और उसके लिए श्रीरंगम् में एक पृथक मठ स्थापित किया। यज्ञमूर्ति ने तामिल में, 'ज्ञानसार' और 'प्रमेयसार' नाम के दो बड़े विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे। रामानुज के भक्तग्राम पूर्ण, मरुधग्राम पूर्ण, अनन्तार्य और यज्ञेश ये चार शिष्य थे, इन्होंने यज्ञमूर्ति से वैष्णव धर्म की दीक्षा ली।[1] रामानुज के एक दूसरे शिष्य तिरुकुरुजै पीरान पिल्ले ने नाम्मालवार की तिरुवाय मोरीं की टीका लिखी। आत्रेयगोत्र के प्रणतार्तिहर पिल्लान, नामक रामानुज के अन्य शिष्य का एक पुत्र रामानुज नाम का था जो वत्स्यवरद वंश के नडाडुर अम्माल का शिष्य था।[2] इस रामानुज उपनाम पद्मनाभ को रामानुज पिल्लम् नाम का पुत्र था जो किदम्बी रामानुज पिल्लन का शिष्य था। इस पद्मनाभ के एक पुत्र रामानुज पिल्लम् और पुत्री तोतारम्बा थी जो वेंकटनाथ के पिता अनंत सूरि से ब्याही थी। रामानुज के एक दूसरे शिष्य और भतीजे, वधुल गोत्र उत्पन्न, दाशरथि के भी एक पुत्र रामानुज नाम का था, जिसका पुत्र तोडप्पा था वारणाद्रीश या लोकार्य कहलाता था। पराशर भट्टार्य के बाद वेदान्ती माधवदास जो नर्जीयार भी कहे जाते थे, उत्तराधिकारी हुए। माधवदास के उत्तराधिकारी नम्बिल्ला या नम्बूरि वरदार्य या लोकाचार्य हुए। उनके दो पत्नियाँ आण्डल और श्रीरंग नायकी थी और एक पुत्र रामानुज नाम का था।[3] नम्बिल्ल का दूसरा नाम कलजित् या कलिवैरी था। वारणाद्रीश नम्बिल्ल या ज्येष्ठ लोकाचार्य के शिष्य बने। वारणाद्रीश पिल्ले लोकाचार्य के नाम से भी जाने जाते थे। नम्बूरिवरद के माधव नाम का शिष्य था। वरद के पद्मनाभ नामक एक पुत्र था, जिसका रामानुजदास नाम का एक शिष्य था। रामानुजदास का एक पुत्र देवराज था, जिसका एक पुत्र श्री शैलनाथ था और श्री शैलनाथ का शिष्य सौम्य जामातृ था रम्य जामातृ मुनि थे जिन्हें वरवर मुनि या यतीन्द्रप्रवण या मनवल महा-मुनि या पेरिय जियार भी कहते थे। ऐसा कहा जाता है कि वे कत्तुर अरंगीय वनवल पिल्ले के पौत्र थे। ये सब कुरेश की 'सहस्त्र गीति व्याख्या' से प्रभावित थे। नम्बूरि वरदार्य या कलजित् के दो और शिष्य उदक प्रतोलि कृष्ण और कृष्ण समाहृमय या कृष्णपाद थे। कृष्णपाद के पुत्र लोकाचार्य कलजित् और कृष्णपाद स्वयं के शिष्य थे। कृष्णपाद का दूसरा पुत्र अभिराम वराधीश था।

---

[1] प्रपन्नामृत देखो अ २६।

[2] गोविन्दाचार्य की रामानुज की जीवनी देखो।

[3] उसने दो ग्रन्थ लिखे और जो सारार्थ संग्रह और रहस्यत्रय हैं।

—प्रपन्नामृत ११६, ३।

रामानुज के साले वत्स्य गोत्रोत्पन्न देवराज को एक पुत्र वरद विष्णु मिश्र या वात्स्य वरद था जो विष्णु चित्त का शिष्य था, वे स्वयं कुरेश के शिष्य थे। यह वत्स्य वरद वेदान्त के महान् लेखक थे। कुरेश का एक पुत्र श्रीराम पिलै या वेद व्यास भट्ट था, जिनको एक पुत्र वादि विजय था, जिसने 'क्षमा षोडशी स्तव' नामक पुस्तक लिखी। वादिविजय के एक पुत्र सुदर्शन भट्ट था जो वरद विष्णु के समकालीन वत्स्यवरद का शिष्य था। सुदर्शन भट्ट 'श्रुत प्रकाशिका' के विख्यात लेखक थे। सुविख्यात भ्रण्णयाचार्य भी कलजित के शिष्य पिल्लै लोकाचार्य के शिष्य थे, श्री शैल, श्रीनिवास या श्री शैलनाथ, भ्रण्णयाचार्य के पुत्र थे। रम्यजामातृ मुनि के अनेक शिष्य थे जैसे कि रामानुज, परवस्तु प्रतिवादि भयकर भ्रण्णयाचार्य वनमालै जीयार, पेरिय जीयार, कोपिल्य कडाडेण्णन् इत्यादि।[1] वेंकटनाथ के शिष्यों में से दो मुख्य है--एक उनका पुत्र नैनारावार्य या कुमार वेदात देशिक, वरदनाथ या वरदगुरु जिसने वेदान्त के बहुत से ग्रन्थ लिखे है और दूसरा ब्रह्म मंत्र जीयार था। परकालदास और श्रीरगाचार्य सम्भवतः कृष्णपाद या कृष्णसूरि के शिष्य थे जो कलजित् या नम्बूरि वरदार्य के शिष्य थे। अभिराम वराधीश सौम्य जामातृ मुनि के पुत्र रामानुज के शिष्य थे। श्री वैष्णव सम्प्रदाय का धार्मिक आधिपत्य भिन्न-भिन्न मठो और मदिरों मे उत्तरोत्तर सुविख्यात व्यक्तियो के हाथ मे रहा, जिसमें वेदान्त के महान् प्रचारक और आचार्य हुए। कुछ लोगो ने महत्वपूर्ण रचनाएँ की और कुछ ने मौखिक उपदेश देकर सतोष लिया। इनमे कुछ लोगो के ग्रन्थ प्राप्त है और कुछ के विलुप्त हो चुके हैं। ऐसा लगता है कि विशिष्टाद्वैत वाद नवीन विचार धाराओं को जन्म देने में स्थायी प्रेरणा नही दे सकता तथा इस अर्थ में इस सप्रदाय के तार्किक एव वाद प्रवीण विचारक शकर और मध्व मत के विचारको से निम्न कोटि के रहे। रामानुज सप्रदाय के विकास के सारे इतिहास मे एक भी ऐसा विचारक नही मिलता जिसे श्री हर्ष या चित्सुख तथा जयतीर्थ व्यासतीर्थ की तर्कसगत कुशाग्रता से तुलना की जा सके। वेंकटनाथ मेघनादारि या रामानुजाचार्य जो वदि हस भी कहलाते थे, इस सम्प्रदाय के मुख्य लेखक थे। ये इस प्रम्प्रदाय के मुख्य लेखक रहे हैं किन्तु इनमे तत्त्व मीमांसा उच्च कोटि की नही पाई जाती। चौदहवी, पन्द्रहवीं और सोलहवी शताब्दी में, शकर और मध्व सम्प्रदायवादियो मे मिथिला और बगाल के नव्य न्याय दर्शन के प्रत्ययो को स्वीकारने तथा तीव्र तार्किक विश्लेषण और समीक्षण करने की सामान्य रुढि प्रचलित थी। किन्तु श्री वैष्णव सम्प्रदाय मे किसी कारणवश विस्तृत रूप से इस पद्धति को नही अपनाया गया किन्तु फिर भी उत्तरकालीन तात्त्विक विचारो के विकास का यही मुख्य मार्ग था।

---

[1] कुछ शिष्यों के तामिल नाम गोविंदाचार्य कृत रामानुज की जीवनी से संगृहीत किए हैं।

रामानुज सम्प्रदाय के आचार्यों की गणना करते हुए गुरु परम्परा में 'परवादि भयकर' का नाम दिया है ये वात्स्य गोत्र के थे और रम्यजामातृ मुनि के शिष्य थे। प्रतिवादि भयकर, शठकोप यति के गुरु थे। यह ग्रन्थ एक दूसरे रम्यजामातृ मुनि का भी उल्लेख करता है जो अनन्तार्य के पुत्र और प्रतिवादी भयकर के पौत्र और श्री वेंकटेश के शिष्य थे। इसमें वत्स्य गोत्रज वेदान्त गुरु रम्य जामातृमुनि और वरदार्य के शिष्य वात्स्यगोत्री वेदान्त गुरु तथा वात्स्योत्रोत्पन्न प्रतिवादि भयकर के पुत्र सुन्दर देशिक तथा श्री वेंकट गुरु के पुत्र और प्रतिवादि भयकर के पौत्र अपर्यात्मामृताचार्य का भी उल्लेख है। इन वेंकटाचार्य के प्रतिवादि भयंकर नाम का पुत्र था। रम्य-जामातृ मुनि के श्री कृष्ण देशिक नाम का पुत्र था। वात्स्य गोत्र के पुरुषोत्तमार्य श्री वेंकटाचार्य के शिष्य थे। श्री कृष्ण देशिक के रम्य जामातृमुनि नाम का एक पुत्र था, जिनका एक पुत्र कृष्ण सूरि था। अनन्त गुरु को एक पुत्र था जो वेंकट देशिक कहलाता था। श्रीनिवास गुरु, वेंकटार्य और वात्स्य श्रीनिवास के शिष्य थे, जिनके अनंतार्य नाम का पुत्र था। हमें इस सूची को आगे प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह श्री वैष्णव सम्प्रदाय के तत्त्व दर्शन और साहित्य के विकास की दृष्टि से उपयोगी नहीं हैं। पूर्व आचार्यों के नाम सम्मान की दृष्टि से इनका स्थान लेने वाले परवर्ती आचार्यों को दिए जाने के कारण उनका एक दूसरे से पृथक्करण कठिन हो जाता है। किन्तु सम्प्रदाय का इतिहास १६वीं शताब्दी या पूर्व १७वीं शताब्दी के बाद महत्वपूर्ण न रहा, क्योंकि इसके बाद एक वैचारिक आन्दोलन के रूप में इसका प्रभाव बहुत कुछ घट गया। आलवारों के समय में श्री वैष्णव पंथ मुख्यतः भगवान् के गूढ़, उन्मत्त प्रेम और आत्म समर्पण का धार्मिक आन्दोलन था। रामानुज के समय में इसने कुछ समय के लिए बौद्धिक रूप धारण कर लिया, किन्तु फिर धीरे-धीरे अपनी धार्मिक अवस्था के रूप में उतार पर आ गया। इस सम्प्रदाय ने शकर की तरह, किन्तु मध्व से विपरीत, वैदिक ग्रन्थो के विवरण पर अधिक महत्त्व दिया और बुद्धिवाद को उपनिषद् के पाठ एवं उनके विवरण के आधीन रखा। रामानुज सप्रदाय के मुख्य विरोधी शकर-मतानुयायी थे, और हम अनेक ग्रन्थ पढ़ सकते हैं जिनमें शंकर मतवादियो ने रामानुज भाष्य के मुख्य विषयो को तार्किक दृष्टि से, एव उपनिषदो के पाठो के विवरण की दृष्टि से खण्डन किया है। किन्तु दुर्भाग्य से उत्तरकाल के कुछ ग्रन्थो के अतिरिक्त, जो विशेष महत्व नही रखते, एक भी ऐसा ग्रन्थ नही मिलता जिसमें शकर मतवादियो ने विद्वत्तापूर्ण ढग से रामानुज के मतो का खण्डन किया हो, रामानुज के अनुयायियो ने भी, भास्कर, जादव प्रकाश, मध्व और शैव सिद्धान्तो का कम खण्डन किया है। किन्तु उनके प्रयत्न विशेषतः शकर मतवादियो के विरुद्ध ही थे।

हम पहले ही कह चुके हैं कि रामानुज ने ब्रह्म सूत्र पर भाष्य 'वेदार्थ सग्रह', 'वेदान्त सार' और 'वेदान्त दीप', 'भगवद् गीता की टीका,' 'गद्यत्रय' और 'भगवद् आराधना क्रम'

लिखे ।[1] परम्परागत गणना से रामानुज ई० स० १०१७ में जन्में और ११३७ में परलोक सिधार गए। उनके जीवन के मुख्य प्रसंगो का तिथिक्रम लगभग इस प्रकार है, यादव प्रकाश के साथ अध्ययन १०३३, यामुन से भेंट करते श्रीरगम् की प्रथम यात्रा १०४३, दीक्षा १०४६, चोल राज के उपद्रव के भय से मैसूर भाग जाना १०९६, मैसूर होयसल देश के जैन राजा बित्तिदेव का धर्म-परिवर्तन १०९८, मेलूकोट में मूर्ति प्रतिष्ठा ११००, मेलूकोट में १११६ तक वास, श्री रंगम् वापस आना १११८, मृत्यु ११३७।[2] उनका शिष्य और भतीजा दाशरथि और इनका शिष्य कुरेश उनसे १५ या १६ वर्ष छोटा था।[3] रामानुज का भाष्य जो 'श्री भाष्य' कहलाता है उस पर सुदर्शन सूरि ने टीका लिखी। इस ग्रन्थ को 'श्रुति प्रकाशिका' कहा है और इसे श्री भाष्य की महत्वपूर्ण टीका जाना जाता है।

रामानुज साहित्य

जैसा अभी कहा गया है, रामानुज के भाष्य की मुख्य टीका सुदर्शन सूरि रचित 'श्रुत प्रकाशिका' है। श्रुत प्रकाशिका लिखी जाने से पहले एक दूसरी टीका जो 'श्री भाष्यवृत्ति' कहलाती थी, वह रामानुज के शिष्य राममिश्र देशिक ने उनके आदेशानुसार लिखी थी। यह ग्रन्थ छः अध्याय में लिखा गया था वह एक साधारण टीका न थी किन्तु रामानुज के भाष्य के मुख्य विषयों का अध्ययन था। यह राम मिश्र,

---

[1] विष्णवार्चा कृतम् भवनोत्सुकोज्ञानम् श्री गीता-विवरण-भाष्य-दीप-सारान् तद् गद्य-त्रयम् अकृत प्रपन्न-नित्यानुष्ठान-क्रमम् अपि योगिराट् प्रबधान् ।

—दिव्यसूरि चरितै ।

रामानुज के वेदार्थ संग्रह का भी उल्लेख इसी ग्रन्थ मे मिलता है।

इत्युक्त्वा निगम-शिखार्थ-संग्रहाख्यम् ।
मिश्रस्ता कृतिमुररीक्रियार्थम् अस्य ।।

[2] गोविन्दाचार्यर कृत रामानुज की जीवनी। उपरोक्त मतानुसार यामुन १०४२ में, रामानुज के श्री रगम् मे सर्व प्रथम आने के अनुसधान में स्वर्गवासी हुए होगे। गोपीनाथ राउ सोचते हैं कि यह प्रसग १०३८ में हुआ। चोल उपद्रव का काल गोपीनाथ राउ के मत में १०७८-७९ में हुआ, जो रामानुज के मैसूर भगने के साथ मेल खाता है और उनका श्रीरगम् आना १११७ के बाद हुआ होगा, जो चोल राजा कोलुत्तुंग की मृत्यु का समय है। इस प्रकार गोविन्दाचार्यर और गोपीनाथ राउ के मत में रामानुज के श्रीरगम् में प्रथम आगमन और मैसूर भगने के समय में मतभेद है गोपीनाथ राउ का मत अधिक प्रामाणिक दीखता है।

[3] सहस्र गीति भाष्य के उपरान्त कुरेश ने कुरेश विजय भी लिखा।

यामुन के गुरु राम मिश्र से भिन्न है। श्रुत प्रकाशिका का एक और अध्ययन था जो वीर राघवदास कृत 'भाव प्रकाशिका' है। इस ग्रन्थ की समालोचनाओं का शठकोपाचार्य कृत 'भाष्य प्रकाशिका-दूषणोद्धार' नामक ग्रन्थ में उत्तर दिया गया था, जिनका जीवन काल १६वीं शताब्दी था। श्रुत प्रकाशिका की एक और टीका वाधुल श्रीनिवास कृत 'तूलिका' थी, जिनका काल १५वीं शताब्दी था। श्रुत प्रकाशिका के विषय 'श्रुत प्रकाशिका सार सग्रह' नामक ग्रन्थ में सक्षिप्त किए गए थे। रामानुज के भाष्य पर फिर एक टीका रामानुज के भतीजे, वात्स्य वरद द्वारा 'तत्वसार' नाम से हुई। टीकाकार के पिता का नाम देवराज और उनकी माता का नाम कमला था जो रामानुज की बहिन थी। वे कुरेश के शिष्य, विष्णु चित्त के शिष्य थे। तत्वसार की फिर आलोचना हुई जो 'रत्नसरिणी' कहलाई, जो वाधुल नृसिंह गुरु के पुत्र, वीर राघवदास ने लिखी, वे वाधुल वेंकटाचार्य के पुत्र वाधुल वरदगुरु के शिष्य थे, उन्होंने भी श्रीभाष्य पर एक टीका 'तात्पर्य दीपिका' नाम की लिखी। वीर राघवदास, सम्भवतः अर्ध १४वीं शताब्दी या १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए होंगे। अप्पय्यदीक्षित ने 'न्याय मुक्त मालिका' नामक ग्रन्थ में रामानुज के सिद्धान्त का विद्वतापूर्ण (शास्त्रीय) संग्रह किया। वे मध्य १६वीं शताब्दी में जन्मे थे। विख्यात वेंकटनाथ ने भी अपनी 'तत्व टीका' में रामानुज भाष्य का निरूपण किया है। श्री भाष्य की एक और 'नयप्रकाशिका' नाम की टीका थी जो मेघनादारि द्वारा लिखी गई थी, वे १४वीं शताब्दी के वेंकटनाथ के समकालीन थे।[1] एक दूसरी टीका 'मित प्रकाशिका' नाम की परकाल यति द्वारा लिखी गई है जो सम्भवतः १५वीं शताब्दी की है। प्रकाश यति के एक शिष्य रंग रामानुज नाम के थे, जिन्होंने 'मूल भाव प्रकाशिका' नामक 'श्रीभाष्य' पर अध्ययन लिखा। श्री निवासाचार्य ने भी श्री भाष्य की आलोचना 'बृहत् विद्या कौमुदी' नामक ग्रन्थ में की। इस ग्रन्थ के रचयिता कौन से श्रीनिवास थे यह कहना कठिन है क्योंकि रामानुज सम्प्रदाय में कई श्रीनिवास हो गये हैं। वेंकटनाथ के शिष्य चम्पकेश ने भी श्रीभाष्य का निरूपण किया है। शुद्धसत्व लक्ष्मणाचार्य ने भी चम्पकेश के 'गुरु तत्व प्रकाशिका' के आधार पर, श्रीभाष्य पर, 'गुरुभाव प्रकाशिका' नामक ग्रन्थ रचा। यह ग्रंथ वास्तव में श्रुत प्रकाशिका की टीका है। इनके लेखक शुद्ध सत्व योगीन्द्र के शिष्य थे। वे रामानुज की मौसी के वंश के हैं, जिस वंश में वेदान्त के १८ आचार्य हुए। वे सौम्य जामातृ मुनि के शिष्य थे और

---

[1] मेघनादारि का नयद्युमणि नामक विख्यात ग्रन्थ का विस्तार अगले खण्ड में दिया है। वे आत्रेयनाथ के पुत्र थे उनकी माता का नाम अध्वर नायिका था। उनके तीन भाई हस्त्यद्रिनाथ या वारणाद्रीश, वरदराट् और राम मिश्र थे। इन वारणाद्रीश को दाशरथि के पौत्र जो वाधुल गोत्र के थे, इनसे पृथक् जानना चाहिए। मेघनादारि का दूसरे ग्रन्थ 'भाव प्रबोध' और 'मुमुक्षूपाय संग्रह थे।

सम्भवतः १६वीं शताब्दी के उत्तरकाल में हुए थे। उक्त 'गुरु भाव प्रकाशिका' की 'गुरुभाव प्रकाशिक व्याख्या' नामक ग्रन्थ में टीका की गई है। सुदर्शन सूरि ने भी श्री भाष्य की टीका 'श्रुदीपिका' में की हो ऐसा लगता है। श्रीशैल वंशज, ताताचार्य और लक्ष्मीदेवी के पुत्र, और अण्णयार्य और कोण्डिन श्रीनिवास दीक्षित के शिष्य श्रीनिवास ने 'तत्वमार्तण्ड' नामक श्री भाष्य का सक्षिप्त ग्रन्थ लिखा। उनका जीवन काल सम्भवतः १५वीं शताब्दी का उत्तरार्ध या १६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध रहा। उनके पितामह का नाम अण्ण गुरु था। उन्होने 'तत्व दर्पण,' 'भेद दर्पण,' 'सिद्धान्त चिन्तामणि,' 'सार दर्पण' और 'विरोध निरोध' नामक ग्रथ लिखे।[१] उन्हें श्री शैल निवास नाम से भी जाना गया है और उन्होने और भी ग्रथ लिखे जैसे कि 'जिज्ञासा दर्पण,' 'नयद्युमणि दीपिका' और 'नयद्युमणि सग्रह'। नयद्युमणि दीपिका के 'नयद्यु-मणि' को मेघनादारि लिखित नयद्युमणि से सकीर्ण नही करना चाहिए क्योंकि यह रामानुज भाष्य का पद्यों में रचित सक्षेप है जिस पर पद्य मे एक टीका है। 'नयद्युमणि सग्रह' रामानुज भाष्य का गद्य ग्रथ है जिसके पहले चार सूत्रो मे प्रतिवादियो की आलोचनाओ का खण्डन है। नयद्युमणि सग्रह, नयद्युमणि से बहुत छोटा ग्रथ है जिसका उपयोग लेखक विस्तृत व्याख्या के लिए करते हैं। इस ग्रथ में आलोचक का नाम दिए बिना रामानुज के विरुद्ध आलोचनाओ का सतत उल्लेख है। नयद्युमणि के लेखक ने विस्तार से विवेचन किया है जिसका इस ग्रंथ मे सक्षेप से वर्णन है।[२] इस प्रकार श्री निवास ने तीन ग्रन्थ लिखे, 'नयद्यु मणि,' 'नयद्यु मणि सग्रह' और 'नयद्यु

---

[१] वे अपने विरोध निरोध ग्रन्थ में 'मुक्ति दर्पण' (हस्तलिखित पृ० ८२) और 'ज्ञान-रत्न दर्पण' (हस्तलिखित पृ० ८७) का उल्लेख करते हैं और 'भेद दर्पण' में (हस्तलिखित पृ० ६६) 'गुण दर्पण' का उल्लेख करते है। इसी ग्रन्थ में आगे दूसरे ग्रथो का–'यद्वैत वन कुठार,' 'भेद मणि' (हस्त० पृ० ३७), 'भेद दर्पण' (हस्त० पृ० ६८), 'सार दर्पण' (हस्त० पृ० ६६) और 'तत्व मार्तण्ड' (हस्त० पृ० ८७) का उल्लेख करते है। 'सार दर्पण' मे रामानुज सिद्धान्त के मुख्य विषय दिए हैं। 'विरोध निरोध' (हस्त० पृ० ३७) मे, अपने ज्येष्ठ भ्राता अण्ण-यार्य कृत 'विरोध भजन' और स्वय रचित 'सिद्धान्त चिन्तामणि' (हस्त० पृ० १२) का उल्लेख करते हैं। अपने भाई का हवाला देते हुए वे कहते हैं कि उनका 'विरोध निरोध,' 'विरोध भजन' को दी गई युक्तियो का केवल हेर फेर ही है, कुछ युक्तियो का विस्तार किया और दूसरो का सक्षेप कर पुर्नव्यवस्था की है। लेखक यह स्वीकारते हैं कि 'विरोध निरोध' अपने ज्येष्ठ भ्राता अण्णयार्य लिखित 'विरोध भजन' पर ही आधारित है।

[२] भाष्यार्णवमवतीर्णो विस्तीर्णं यदवदम् नयद्युमणौ सक्षिप्य तत् परोक्तिर्विक्षिप्य करोमि तोषणम् विदुषाम्। —नयद्युमणि सग्रह, हस्त०।

मणि दीपिका'। वे अपने 'सिद्धान्त चिंतामणि' नामक ग्रन्थ में मुख्यतः इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि ब्रह्म, जड़ और चेतन जगत् का एक कारण है। इस ग्रंथ में वे हर जगह शंकर के ब्रह्म कारणवाद का खण्डन करने का प्रयत्न करते हैं।

देशिकाचार्य ने पुनः 'प्रयोग रत्नमाला' नामक श्री भाष्य पर टीका लिखी। नारायण मुनि ने 'भाव प्रदीपिका' लिखी और पुरुषोत्तम ने श्रीभाष्य पर 'सुबोधिनी' नामक टीका लिखी। ये लेखक १७वीं शताब्दी के आसपास सम्भवतः रहे होंगे। वीर राघवदास ने भी श्री भाष्य की 'तात्पर्य दीपिका' में समालोचना की। वात्स्य वरद के 'तत्वसार' पर 'रत्नसारिणी' नामक अपने अध्ययन में उनका उल्लेख किया गया है। श्रीनिवास ताताचार्य ने 'लघु प्रकाशिका' लिखी, श्री वत्सांक श्रीनिवास ने 'श्रीभाष्य सारार्थ संग्रह' लिखा और शठकोप ने, 'ब्रह्मसूत्रार्थ संग्रह' नाम से श्री भाष्य की टीका लिखी। ये सब लेखक १६वीं शताब्दी के उत्तर काल में हुए होंगे ऐसा प्रतीत होता है। श्री वत्सांक श्रीनिवास के ग्रन्थ को रंगाचार्य ने 'श्री वत्स सिद्धान्त-सार' नामक ग्रन्थ मे संक्षिप्त किया। अप्पय दीक्षित ने मध्य १७वीं शताब्दी मे रामानुज के विचारो के अनुसार ब्रह्मसूत्र पर 'नयमुख मालिका' नामक टीका लिखी।[1] रंग रामानुज ने भी एक 'शारीरिक शास्त्रार्थ दीपिका' नामक टीका रामानुज मतानुसार लिखी। उनकी 'मूल भाव प्रकाशिका' नामक श्री भाष्य पर टीका इसी खण्ड मे उल्लेख की जा चुकी है। उन्होने वेंकटनाथ कृत 'न्याय सिद्धांजन' नामक ग्रन्थ पर 'न्याय सिद्धांजन व्याख्या' टीका लिखी। वे परकाल यति के शिष्य थे और सम्भवतः १६वीं शताब्दी मे विद्यमान थे। उन्होने तीन और ग्रंथ लिखे, जो 'विषय वाक्य दीपिका,' 'छांदोग्योपनिषद् भाष्य' और 'रामानुज सिद्धान्त सार' थे। रामानुजदास जो महाचार्य भी कहलाते थे, सम्भवतः १५वीं शताब्दी मे थे। वे वाधुल श्रीनिवास के शिष्य थे। 'अधिकरण सारार्थ दीपिका' के रचयिता ये वाधुल श्रीनिवास 'यतीन्द्र मत दीपिका' के रचयिता तथा महाचार्य के शिष्य श्रीनिवासदास से निश्चित रूप से पूर्ववर्ती रहे होंगे। महाचार्य ने 'पराशरार्य विजय' नामक एक ग्रंथ लिखा जो रामानुज वेदान्त के सामान्य सिद्धान्त का निरूपक था। उन्होने श्री भाष्य पर एक और ग्रन्थ लिखा जो 'ब्रह्म सूत्र भाष्योपन्यास' था। महाचार्य के अन्य ग्रन्थ 'ब्रह्म विद्या विजय,' 'वेदान्त विजय,' 'रहस्य त्रय मीमासा,' 'रामानुज चरित चुलुक,' 'अष्ठा-दस रहस्यार्थ निर्णय' और 'चण्ड मारुत' जो वेंकटनाथ की 'शत दूषणी' पर टीका है। इन्हें वेंकटनाथ के काका जो रामानुजाचार्य या वादिहंसाम्बुवाह से पृथक् जानना चाहिए।

---

[1] लक्ष्मणार्यहृदयानुसारिणी लिख्यते नयमालिका, 'नयमुख मालिका' कुम्भकोनम से प्रकाशित। —१९१५, पृ० ३।

'श्री भाष्य वार्तिक' नामक एक ग्रन्थ है जो और ग्रन्थों के असमान, अभी ही प्रकाशित हुआ है, यह ग्रन्थ पद्य में लिखा गया है किन्तु लेखक ग्रन्थ में अपना नाम नहीं देता। सेनानय या भगवत् सेनापति मिश्र ने जो उत्तरकाल के लेखक हैं, 'शारीरक न्याय कलाप' ग्रन्थ लिखा। विजयीन्द्र भिक्षु 'शरीरक मीमांसा वृत्ति' के लेखक थे और रघुनाथार्य 'शरीर शास्त्र संगति सार' के लेखक थे। १६वीं शताब्दी के लेखक सुन्दरराज देशिक ने श्री भाष्य पर 'ब्रह्म सूत्र भाष्य व्याख्या' नामक, श्री भाष्य पर एक सरल टीका लिखी। वेंकटाचार्य ने, जो सम्भवतः १६वीं शताब्दी के लेखक हैं, 'ब्रह्म सूत्र भाष्य पूर्व पक्ष संग्रह' कारिका नामक पद्य में एक ग्रन्थ लिखा। ये वेंकटाचार्य प्रतीवादीम केसरी नाम से विख्यात थे। इन्होंने 'आचार्य पंचाशत्' भी लिखा। अम्बकेश में जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, 'श्री भाष्य व्याख्या' नामक, श्री भाष्य पर एक टीका लिखी। वेंकटाचार्य ने 'श्री भाष्य सार' नामक ग्रन्थ लिखा। श्री वत्सांक श्रीनिवासाचार्य 'श्री भाष्य सारार्थ सग्रह' के लेखक थे। श्री रंगाचार्य ने 'श्री भाष्य सिद्धान्त सार' और श्री निवासाचार्य ने 'श्री भाष्योपन्यास' लिखा। दो और टीकाएँ हैं, जो 'ब्रह्म सूत्र भाष्य सग्रह विवरण' और 'ब्रह्म सूत्र भाष्यारम्भ प्रयोजन समर्थन' हैं, किन्तु पाण्डुलिपि में लेखक के नाम अविद्यमान हैं। १२वीं शताब्दी के वेकटनाथ ने 'अधिकरण सारावी' और मगाचार्य श्री निवास ने 'अधिकरण सारार्थ दीपिका' लिखी। वरदाचार्य या वरदनाथ के जो वेंकटनाथ के पुत्र थे, 'अधिकरण चिन्तामणि' नामक 'अधिकरण सारावली' पर टीका लिखी। इस विषय पर एक दूसरा भी ग्रन्थ है, जो 'अधिकरण युक्ति विलास' है, किन्तु लेखक श्रीनिवास की स्तुति करते हैं, अपना नाम नहीं देते इसलिए यह जानना कठिन है कि ये कौन से श्रीनिवास थे। जगन्नाथ यति ने ब्रह्म सूत्र पर रामानुज जैसी एक टीका लिखी और यह 'ब्रह्म सूत्र दीपिका' थी। इससे स्पष्ट होता है कि रामानुज के भाष्य ने अनेक पंडितों और विद्वानों को प्रेरणा दी और इस तरह एक विशाल साहित्य उत्पन्न हुआ। किन्तु दुःख के साथ यह कहना ही पडेगा कि इतना बडा आलोचनात्मक साहित्य सामान्य तात्त्विक दृष्टि से अधिक महत्व नहीं रखता। रामानुज की 'वेदार्थ सग्रह' की टीका १४वीं शताब्दी के सुदर्शन सूरि द्वारा 'तात्पर्य दीप' में की गई थी। वे वाग्विजय या विश्वजय के पुत्र थे और वात्स्य वरद के शिष्य थे। रामानुज के भाष्य के अध्ययन के उपरान्त, जिसका अभी ही उल्लेख किया जा चुका है, उन्होने 'सध्या वदन भाष्य' लिखा। रामानुज की 'वेदान्त दीप' (ब्रह्म सूत्र की संक्षिप्त टीका) पर १६वी शताब्दी के अहोबिल रंगनाथ यति ने निरूपण किया था। वेकटनाथ ने रामानुज के गद्यत्रय पर आलोचना की और सुदर्शनाचार्य ने उस पर टीका लिखी, कृष्णपाद ने भी जो उत्तरकाल के लेखक हैं एक टीका लिखी। रामानुज की गीता की टीका पर वेंकटनाथ ने टीका की। 'वेदान्तसार' में रामानुज ने स्वयं श्री भाष्य के आधार पर ब्रह्म सूत्र की संक्षिप्त टीका दी है।

पद्मनाम के पुत्र और वेंकटनाथ के मामा, आत्रेय गोत्र रामानुजाचार्य जो वादि-हंसाम्बुहाचार्य भी कहे जाते हैं, १३वीं या १४वी शताब्दी मे विद्यमान थे, उन्होने एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'नय कुलिश' या 'न्याय कुलिश' लिखा, जिसे हम पहले बता चुके हैं। उन्होने 'दिव्य सूरि प्रभाव दीपिका,' 'सर्व दर्शन शिरोमणि' और 'मोक्ष सिद्धि' ग्रन्थ लिखे, जिसका उल्लेख वे स्वय 'न्याय कुलिश' मे करते हैं।[1] ऐसा लगता है कि 'नय कुलिश' विशिष्टाद्वैत मत का पूर्व ग्रन्थो मे से एक तार्किक या सत्ता मीमासा विषयक ग्रन्थ है किन्तु इस प्रकार के और भी ग्रंथ है जो रामानुज के पहले या उनके समय में लिखे गए थे। इस प्रकार नाथमुनि ने न्याय सिद्धान्तो का खण्डन किया है और न्याय दर्शन का एक नया मत स्थापित किया है। विष्णु चित्त ने जो रामानुज के कनिष्ठ समकालीन थे, दो ग्रन्थ 'प्रमेय सग्रह' और 'सगति माल' लिखे हैं। वरद विष्णु मिश्र का समय सम्भवतः १२वी शताब्दी का उत्तरार्ध या १३वी शताब्दी के पर्वार्ध होगा। उन्होने 'मानयाथात्म्य निर्णय' लिखा है। वरदनारायण भट्टारक ने भी जो वेंकटनाथ के पहले हुए 'प्रज्ञापरित्राण' लिखा।[2] पराशर भट्टारक ने जो सम्भवतः १३वी शताब्दी मे हुए, 'तत्त्वरत्नाकर' लिखा।[3] वेकटनाथ ने 'न्याय परिशुद्धि' मे इन सबो का जिक्र किया है किन्तु इनकी पाण्डुलिपियाँ हमे नही मिली हैं। वात्स्य वरद के ग्रन्थ पृथक् खण्ड मे दिए गए है।

वेकटनाथ जो वेदान्त देशिक वेदान्ताचार्य और कवि तार्किकसिंह भी कहलाते थे, विशिष्टाद्वैत सप्रदाय के महान् विख्यात व्यक्ति हुए। वे ई० स० १२६८ में काजीवरम् के टुप्पल नगर मे जन्मे थे। उनके पिता अनन्त सूरि थे, उनके पितामह पुण्डरीकाक्ष थे, वे विश्वामित्र गोत्र मे उत्पन्न हुए थे। उनकी माता आत्रेय रामानुज की जो वादीकलहसाम्बुवाहाचार्य भी कहे जाते थे, बहिन तोतारम्बा थी उन्हे वे अपने काका आत्रेय रामानुज के साथ पढे और ऐसा कहा जाता है कि वे, पाच वर्ष की उम्र मे, उनके साथ वात्स्य वरदाचार्य के घर गए। लोक कथा ऐसी है कि इस छोटी वय मे भी उन्होने ऐसी असाधारण योग्यता प्रदर्शित की कि वात्स्य वरद ने यह भविष्यवाणी की कि वे विशिष्टादैत सप्रदाय के शक्ति-स्तम्भ बनेगे और समस्त मिथ्या वादो का खण्डन करेगे।[4] ऐसा प्रतीत होता है उन्होने भी वरदाचार्य स्वय

---

[1] मैं मोक्ष सिद्धि की पाण्डुलिपि प्राप्त नही कर सका। सम्भवतः यह ग्रन्थ खो गया है।

[2] उन्होने एक दूसरा ग्रन्थ न्याय सुदर्शन लिखा ऐसा माना जाता है, जिसका उल्लेख 'तत्त्व मुक्ता कलाप' (मैसूर १६३३) की प्रस्तावना में है।

[3] उन्होने एक दूसरा ग्रन्थ 'भगवत् गुण दर्पण' लिखा।

[4] उत्प्रेक्ष्यते बुधजन रूप पत्ति भू म्न्य।
घटा हटेः समजनिष्ट जडात्मीनिति ॥

के साथ शिक्षा पाई।[1] ऐसा कहा जाता है कि वे उञ्छवृत्ति पतेपे से गलियों में भिक्षा माग कर निर्वाह करते थे और उन्होने सारा जीवन तात्त्विक एव धार्मिक ग्रन्थों के लेखन में ही व्यतीत किया। 'सकल्प सूर्योदय' में वे लिखते हैं कि जब वे इस ग्रथ को लिख रहे थे तब तक उन्होंने श्रीभाष्य को तीस बार पढ़ लिया था। जब वे काची और श्रीरगम् में रहते थे तब उन्हें प्रतिस्पर्धी सम्प्रदायो के बीच कार्य करना पड़ता था। पिल्लै लोकाचार्य ने, जो उनसे वय में बड़े थे और जो तेलगाई संप्रदाय के आधार थे और जिनके विरुद्ध वेंकटनाथ लड़े थे, उनकी प्रशंसा में एक पद्य लिखा था। विद्वान् इस बात पर एक मत हैं कि वेंकटनाथ १३६९ में परलोकवासी हुए। कुछ लोगो का यह भी मत है कि वे १३५१ में मरे। वे लम्बी आयु तक जीवित रहे और जीवन का अधिकांश समय उत्तर भारत की यात्रा में बिताया, वे विजयनगर, मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या और पुरी गए थे। विद्यारण्य की वेंकटनाथ से मैत्री की बात सच या झूठ हो, किन्तु हम यह जानते हैं कि विद्यारण्य 'तत्त्व मुक्ता कलाप' से परिचित थे। वे 'सर्वदर्शन सग्रह' मे विशिष्टाद्वैत के वर्णन के लिए इसी ग्रन्थ को उद्धृत करते हैं। जब वेकटनाथ प्रौढ़ अवस्था के थे तब 'श्रुत प्रकाशिका' के लेखक सुदर्शन सूरि वृद्ध हो चुके थे और ऐसा कहा जाता है कि उन्होने वेंकटनाथ को श्रीरगम् बुलाया और उन्हे श्री भाष्य की अपनी टीका सौप दी जिससे उसे अधिक प्रचार मिले। स्वयं वेकटनाथ ने श्री भाष्य पर टीका लिखी, जो 'तत्त्व टीका' है। यद्यपि वे बड़े दयालु और आदर्श व्यक्ति थे तो भी उनके अनेक दुश्मन थे जिन्होने उन्हें अनेक प्रकार से पीड़ा देने और अपमानित करने की कोशिश की। इसी समय में प्रपत्ति या ईश्वर शरणागति के अर्थ-बोध के विषय पर श्री वैष्णव विद्वानो मे बहुत बडा विवाद खड़ा हो गया। मुख्य विषय प्रपत्ति के स्वरूप के भिन्न अर्थ-बोध पर तथा अन्य छोटे भेद कर्मकाण्ड के सम्बन्ध मे जैसे कि तिलक इत्यादि प्रश्न पर दो स्पष्ट पथ बन गए। इन दोनो पथो में से वाडकलै पंथ के नेता वेंकटनाथ और तेंगलाई पंथ के नेता पिल्लै लोकाचार्य थे। पीछे से सौम्य जामातृ तेगलाई पंथ के अग्रज माने गए। यद्यपि नेताओ में आपस मे सहानुभूति बहुत थी किन्तु उनके अनुयायियो ने छोटे-मोटे मत-भेदो

प्रतिष्ठापित वेदान्तः प्रतिक्षिप्त-बहिर्मतः।
भूयास्त्रैविद्यमान्यस्त्वं भूरि कल्याण भाजनम्॥
ऐसा कहा जाता है कि उपरोक्त पद्य में उन्हें वरदाचार्य से आशीर्वाद मिला था, यहाँ वेंकटनाथ को भगवान् के घर का अवतार कहा है। भारत के वैष्णव सुधारक, राजगोपालचार्यर कृत।

[1] श्रुत्वा रामानुजार्यात् सदसदपि ततस्तत्वमुक्ताकलापं।
व्यातानीद् वेंकटेशो वरदगुरु कृपा लम्भितोद्दाम-भूमा।
—तत्त्वमुक्ता कलाप श्लोक २।

को लेकर तिल का ताड बनाते रहे और हर समय आपस में लडते रहते थे। यह तो सुविख्यात तथ्य है कि इन पथों का विग्रह अभी तक चालू है।

वेंकटनाथ के समय मे अलाउद्दीन के सेनापति मलिक काफ़ूर ने दक्षिण पर १३१० में आक्रमण किया। उसने वारंगल और द्वार समुद्र को सरलता से जीत लिया और दक्षिण सीमान्त तक बढ गया और लूटमार तथा तबाही फैला दी। १३२६ में मुसलमानो ने श्रीरगम् पर आक्रमण किया और शहर तथा मदिर को लूटा। लगभग १३५१ मे हिन्दू राजा बुक्का प्रथम ने विजयनगर राज्य बसाया। जब मुसलमानो ने श्रीरगम् मंदिर को लूटा तो मदिर के पुजारी रगनाथ की मूर्ति को लेकर मदुरा भाग गए। मूर्ति की प्रतिष्ठा तिरुपति मे की गई और वहाँ उसकी पूजा होने लगी। बुक्का के पुत्र कम्पन के सेनाध्यक्ष गोप्पन, रगनाथ को श्रीरगम् में वापस लाने में सफल हुए। यह प्रसग वेंकटनाथ द्वारा एक पद्य में अमर किया गया है जो श्रीरगम् के मदिर की दीवार पर अब भी अकित है। कुछ विद्वान् ऐसा सोचते हैं कि यह पद्य उन्होने नही लिखा था किन्तु उनको आरोपित किया गया है। यह वार्ता तामिल ग्रन्थ 'कवि लोलोगु' में कही गई है और १५वीं शताब्दी की वाडकलाई गुरु परम्परा मे भी उल्लिखित है। श्रीरगम् के ग्राम मारकाट के समय वेकटनाथ मुर्दों में छिप गए और अन्त में मैसूर भाग गए। कुछ वर्ष वहाँ रहने के बाद वे कोइम्बतूर चले गए और वहाँ उन्होने 'अभीति स्तव' लिखा। जिसमे उन्होंने मुसलमानो के आक्रमण और श्रीरगम् की दयाजनक स्थिति का वर्णन किया है। जब उन्होने सुना कि गोप्पन के प्रयत्न से रगनाथ श्रीरगम् में वापस आ गए तो उन्होने उनके प्रयत्न की बहुत प्रशसा करते हुए एक पद्य की रचना की।[1]

---

[1] आनीयानीलश्रृंगद्युतिरचित-जगद्--रजनादजनाद्रे:।
चेञ्च्याम् आराध्य कञ्चित् समयमथ निहत्योद्धनुष्कान्तुलुष्कान् ॥
लक्ष्मी-भूम्यावुभाभ्याम् सह निज नगरे स्थापयन् रंगनाथम्।
सम्यग् वर्यां सपर्यां पुनराकृत यशो-दर्पणो गोप्पणार्य: ॥

—यह पद Epigraphica Indica मे पु० ६, पृ० ३३० पर है।

यह प्रसग दोड्डाचार्य के वेदान्त देशिक, वैभव प्रकाशिका और यतींद्र प्रवण में इन श्लोको में कहा है।

जीत्वा तुलष्कान् भुवि गोप्पनेंद्रो,
रंगाधिपम् स्थापितवान् स्वदेशे
इत्येवमाकर्ण्य गुरुः कवीन्द्रो
धृष्टवद् यस्तम् अहम् प्रपद्ये ॥

वेंकटनाथ अनेको विषयों के प्रचुर लेखक थे और प्रतिभासम्पन्न कवि भी थे। काव्य के क्षेत्र मे उनके महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'यादवाम्युदय', 'हंस सदेश', 'सुभाषित नीवि', और 'सकल्प सूर्योदय' है अन्तिम ग्रन्थ दस अंकों का प्रतीकात्मक नाटक है। 'यादवाभ्युदय' कृष्ण के जीवन के सम्बन्धित ग्रन्थ हैं जिस पर अप्पय दीक्षित जैसे व्यक्ति ने टीका की थी। 'सुभाषित नीवि' एक नैतिक काव्य है जिसकी श्रीनिवास सूरि ने टीका की, जो श्री शैल वशज थे और वेकटनाथ के पुत्र थे। सम्भवतः वे १५वीं शताब्दी में हुए। वेकटनाथ का दूसरा काव्य 'हंस सदेश' है। 'सकल्प सूर्योदय' मे वे नाटकीय ढंग से प्रबोध चन्द्रोदय की तरह, जीव की अन्तिम पूर्णावस्था प्राप्त करने में आने वाली कठिनाइयो का वर्णन करते हैं। उन्होंने लगभग ३२ स्तोत्र लिखे जैसे कि 'हय ग्रीव स्तोत्र' और 'देवनायक पचाशत्' और 'पादुका सहस्त्र नाम'। उन्होने कर्मकाण्डी और भक्तिपूर्ण छन्द भी रचे जैसे कि 'यज्ञोपवीत प्रतिष्ठा,' 'आराधना क्रम,' 'हरिदीन तिलक,' 'वैश्वदेव कारिका,' 'श्री पचरात्र रक्षा,' 'सच्चरित्र रक्षा' और 'निक्षेप रक्षा'। उन्होने अनेकों स्त्रोतो से प्रपत्ति विषयक पद्यो का भी संकलन किया और 'न्याय विंशति' लिखा और उसी आधार पर एक दूसरा ग्रथ लिखा जो 'न्याय तिलक' है, जिस पर उनके पुत्र कुमार वेदान्त देशिक ने टीका लिखी। यह न्यास तिलक की व्याख्या है। 'पचरात्र रक्षा' ग्रन्थ का उल्लेख इस पुस्तक के पचरात्र खण्ड मे किया गया है। उन्होने एक और ग्रथ 'शिल्पार्थ सार' नामक लिखा, दो ग्रन्थ, 'रस भौमामृत' और 'वृक्ष भौमामृत' नामक आयुर्वेद पर लिखे। एक पौराणिक भूगोल पर, 'भूगोल निर्णय' लिखा और तात्विक ग्रथ 'तत्व मुक्ता कलाप' गद्य में अपनी टीका सहित लिखा, 'टीका सर्वार्थ सिद्धि' कहलाई। इन सबका विस्तार सहित उल्लेख वेकटनाथ के विशेष खण्ड मे किया है। इस ग्रन्थ की दो टीकाएँ 'आनंददायिनी या आनद वल्लरी' (हस्तलिखित) या 'नृसिंह राजीय या भाव प्रकाश' है जिसमे अतिम ग्रन्थ व्याख्या रूप मे है। आनददायिनी टीका, नृसिह सूरि और तातारम्बा और देवराज सूरि के पुत्र वात्स्य नृसिंहदेव ने लिखी। नृसिंहदेव के नाना कौशिक श्रीभाष्य श्रीनिवास थे। वे उनके गुरु भी थे। उनके एक और गुरु अप्पयाचार्य थे। यह देवराज सूरि सम्भवतः 'बिम्ब तत्त्व प्रकाशिका और 'चरमोपाय तात्पर्य' के लेखक थे। नृसिंहदेव के अन्य ग्रन्थ, पर 'तत्त्वदीपिका,' 'भेदधिक्कार न्यक्कार,' 'मणि सारधिक्कार,' 'सिद्धान्त निर्णय,' वेकटनाथ की निक्षेप रक्षा पर नृसिंह राजीय नामक टीका और शतदूषणी पर टीका है। यह नृसिंहदेव १६वीं शताब्दी मे हुए। 'भावप्रकाश' नामक टीका नव्य रगेश ने लिखी। वह उन्हें कलजित के शिष्य बताते हैं। किन्तु

उपरोक्त 'वैभव प्रकाशिका' टीका के आधार पर वेंकटनाथ १२६६ में जन्में और १३६६ में स्वर्गलोक सिधार गए ऐसा साबित होता है। गोप्पणार्य द्वारा रंगनाथ की पुनः स्थापना १३७१ में हुई।

यह कलजित् प्रसिद्ध लोकाचार्य से कोई और ही होंगे । क्योंकि 'भाव प्रकाश टीका' आनंददायिनी के विषय का उल्लेख करती है अतः उत्तरकाल का ग्रंथ है । यह १६वीं शताब्दी के उत्तरकाल में या १७वीं शती के प्रारम्भ में लिखा गया होगा ।

वेंकटनाथ ने विशिष्टाद्वैत संप्रदाय का व्यापक नैयायिक ग्रन्थ, 'न्याय परिशुद्धि' लिखा । इस पर देवराजाचार्य के पुत्र और वेंकटनाथ के शिष्य, श्रीनिवासदास द्वारा आलोचना की गई है । वह नृसिंहदेव के काका और गुरु होंगे जो आनंददायिनी के लेखक थे । इनकी टीका 'न्याय सार' कहलायी । 'न्याय परिशुद्धि' की दो और भी टीकाएँ थीं, 'निकाश' शठकोप यति द्वारा, जो अहोविल के शिष्य थे, और कृष्णताता-चार्य कृत 'न्याय परिशुद्धि व्याख्या' हैं ।

वेंकटनाथ ने 'न्याय परिशुद्धि' के परिशिष्ट में 'न्याय सिद्धांजन' लिखा, जिसके विषयव-स्तु वेंकटनाथ सम्बन्धी पृथक् खंड में दी गई है । उन्होंने एक और 'परमत भंग' नामक ग्रन्थ लिखा और 'खण्डन-मण्डनात्मक शत दूषणी' ग्रन्थ लिखा । ग्रन्थ के नाम से पता चलता है कि इसमें १०० विषयों के खण्डन हैं किन्तु जो पुस्तक मेरे हाथ लगी है उसमें केवल ४० ही खण्डन हैं । सुविख्यात टीका जो प्राप्त है वह वाधुल श्रीनिवास के शिष्य, रामानुजदास लिखित 'चण्डमारुत' है । समस्त महत्वपूर्ण विवाद जो शत् दूषणी में हैं वे शकर मत की ओर निर्देश करते हैं । उनका वृत्तान्त पृथक् खण्ड में दिया है । उसकी एक और टीका नृसिंहराज द्वारा है । वह भी 'खण्ड मारुत' कहलाती है और एक 'सहस्त्र किरणी' है जो श्रीनिवासाचार्य ने लिखी है ।

वेंकटनाथ ने श्रीभाष्य की 'तत्त्व टीका' के उपरान्त, श्रीभाष्य के अन्तर्गत विवाद के सामान्य विषय का सक्षेप लिखा जो 'अधिकरण सारावली' है । उनके पुत्र कुमार वेदान्ताचार्य या वरदनाथ ने इस पर टीका लिखी जो 'अधिकरण सारावली व्याख्या' या 'अधिकरण चिन्तामणि' है । उन्होंने दो छोटे प्रबंध भी लिखे जो 'चकार समर्थन' और 'अधिकरण दर्पण' है । ईशोपनिषद् पर टीका, एक यामुन के 'गीतार्थ सग्रह' पर, 'गीतार्थ सग्रह रक्षा' नामक टीका, रामानुज के 'गीता रहस्य' पर टीका 'तात्पर्य चंद्रिका' और यामुन की चतुश्लोकी और स्तोत्र रत्नाकर पर टीका 'रहस्य रक्षा' भी इन्हीं की कृतियाँ हैं । इसके अतिरिक्त उन्होंने मणि प्रवाल शैली में ३२ ग्रन्थ रचे जिनमे से कुछ संस्कृत मे अनूदित हुए । ये ग्रन्थ 'सम्प्रदाय परिशुद्धि,' 'तत्त्वपदवी,' 'रहस्य पदवी,' 'तत्त्वनवनीतम्,' 'रहस्य नवनीतम्,' 'तत्त्वमातृका,' 'रहस्य मातृका,' 'तत्त्व संदेश,' 'रहस्य संदेश,' 'रहस्य संदेश विवरण,' 'तत्त्व रत्नावली,' 'तत्त्व रत्नावली संग्रह,' 'रहस्य रत्नावली,' 'रहस्य रत्नावली हृदय,' 'तत्त्व त्रय चुलुक,' 'रहस्य त्रय चुलुक, सारदीप,' 'रहस्य त्रय सार,' सार सार, अभय प्रदान सार, तत्त्व शिखामणि, रहस्य शिखामणि, अंजलि वैभव, प्रधान शतक, उपकार सग्रह, सारसंग्रह, विरोध परिहार, मुनि वाहन भोग,

मधुर कवि हृदय, परमपाद सोपान, परमत भंग, हस्ति गिरि माहात्म्य, द्रविडोपनिषद् सार, द्रविड़ोपनिषद् तात्पर्यावली, और निगम परिमल हैं। अंतिम तीन ग्रन्थो में आलवारों के उपदेशों का संक्षेपीकरण है। वे तामिल भाषा मे २४ कविताम्रो के रचयिता भी थे।[1]

वेंकटनाथ का एक छोटा निबंध भी मिला है जो 'वादित्रय खण्डन' है इसमें शंकर, यादव प्रकाश और भास्कर का खण्डन है। अधिकांश युक्तियाँ शंकर के विरुद्ध हैं, यादव प्रकाश और भास्कर के सिद्धान्तों का तो स्पर्शमात्र किया है। उन्होंने मीमांसा पर दो ग्रन्थ लिखे, जो 'मीमांसा पादुका' और 'सेश्वर मीमांसा' हैं। अन्तिम ग्रन्थ मे वेंकटनाथ जैमिनि के मीमांसा-सूत्र की व्याख्या शबर से भिन्न करते हैं। उनका मुख्य हेतु मीमासा-सूत्र का इस तरह अर्थ बोध करना था कि वह ब्रह्म सूत्र के विरुद्ध न जाय किन्तु वह ब्रह्म सूत्र का परिपूरक सहायक रहे। इस प्रकार जैमिनि के पहले सूत्र की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि वेदाध्ययन की विधि, वेदों के केवल पढ़ने से पूरी हो जाती है। विधि का अर्थ यह नही कि पाठो के अर्थों के प्रति जिज्ञासा की जाय और मीमासा भी पढी जाय क्योकि पाठो के अर्थ जानने की इच्छा तथा उनके प्रयोग से यह सहज ही उत्पन्न होती है। मीमासा का अध्ययन ब्रह्मचारी के अन्तिम स्नान के बाद भी हो सकता है। इस प्रकार ब्रह्मचारी के रूप में गुरु गृह में अपनी अनिवार्य शिक्षा सम्पन्न करने के पश्चात्, वही पर मीमांसा का अध्ययन करने के लिए रह सकता है, किन्तु मीमासा की शिक्षा आवश्यक कर्मों का अंग नही है। पुन. धर्म की व्याख्या करते हुए वेंकटनाथ कहते है कि धर्म हमें श्रेय तक पहुँचाता है और साथ ही साथ उसका विधि अनुसार होना भी आवश्यक है।[2] यद्यपि कुछ लोग धर्म शब्द अन्य अर्थ मे भी प्रयुक्त करें तो भी उपरोक्त व्याख्यायित धर्म का अर्थ अपरिवर्तनीय रहता है। स्मृति, पुराण, पंचरात्र ब्रह्म सूत्र इत्यादि का आदेश धर्म माना जाना चाहिए क्योकि वे वेद पर आधारित हैं जो कि उन सबो का मूल स्रोत है। श्रुति के अलावा किसी अन्य प्रमाण से धर्म की प्रमाणता नही साबित की जा सकती। सन्देह या विवाद उपस्थित होने पर 'मीमासा सूत्र' की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिए कि उसका बादरायण के मत से कोई विरोध न हो, क्योकि वे जैमिनि के गुरु थे।

वेंकटनाथ का पुत्र भी वेदान्त का एक महान् लेखक था। वह कुमार वेदान्ताचार्य, वरदार्य, या वरदनाथ या वरद देशिकाचार्य या वरदराज सूरि या वरद नायक

---

[1] इन तामिल ग्रन्थो की सूची हमे नही मिल पाई, यह हमने मैसूर से प्रकाशित 'तत्त्व मुक्ता कलाप' की प्रस्तावना से सग्रहीत किया है।

[2] चोदना लक्षणत्व-विशेषितमेवार्थे साधनत्व धर्म लक्षणम्।

—ईश्वर मीमांसा, पृ० १८।

सूरि या वरद गुरु कहलाता था। उन्होंने संस्कृत गद्य में 'तत्व त्रय चुलुक संग्रह' नाम का ग्रन्थ रचा जिसमें वे वेंकटनाथ के तामिल ग्रंथ 'तत्व त्रय चुलुक' का सक्षेपीकरण करते हैं जिसमे जीव, जड और ईश्वर के बारे में श्रीनिवास सिद्धान्त का वर्णन है।[1] उनकी अन्य रचनाएँ 'व्यवहारिक सत्यत्व खण्डन,' 'प्रपत्ति कारिका,' 'रहस्य त्रय चुलुक,' 'चरम गुरु निर्णय,' 'फलभेद खण्डन,' 'आराधना संग्रह,' 'अधिकरण चिन्तामणि,' 'न्यास तिलक व्याख्या,' 'रहस्य त्रय सारार्थ संग्रह' हैं। अन्तिम तीन रचनाएँ वेंकटनाथ की अधिकरण सारावली, न्यासतिलक, और रहस्य त्रय सार पर टीकाएँ हैं। वरदार्य चौदहवी शताब्दी के अन्त या पद्रहवीं के प्रथम भाग तक रहे होंगे।

मेघनादारि सम्भवत: १२वी या १३वी शताब्दी के पूर्व काल मे विद्यमान थे। उनका सम्पर्क, अपने ज्येष्ठ भ्राता रामिश्र से जो रामानुज के शिष्य थे, निकट का रहा। उन्होंने श्रीभाष्य पर 'न्याय प्रकाशिका' नाम की टीका लिखी तथा 'भाव प्रबोध,' मुमुक्षूपाय सग्रह' और 'नयद्युमणि' ग्रन्थ भी लिखे। अन्तिम ग्रंथ विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त पर महान् ग्रन्थ है जिसका मुख्य वर्ण्य विषय पृथक् खण्ड मे दिया गया है। वे आत्रेयनाथ और अध्वर नायिका के पुत्र थे। उनके तीन भाई, हस्त्यद्रिनाथ, वरदराट् और रामिश्र थे।

रामानुजदास या महाचार्य ने श्रीभाष्य पर 'ब्रह्मसूत्र भाष्योपन्यास नाम की टीका लिखी। उन्होने एक 'पाराशर्य' नामक ग्रंथ लिखा जिसमे उन्होने यह बताने की कोशिश की कि शकर मध्व तथा अन्य आचार्यों की टीकाएँ, बादरायण के सूत्र से मेल नही खाती। इसका थोडा वर्णन इस पुस्तक के चतुर्थ भाग मे मिलेगा। उन्होंने 'रामानुज चरित चुलुक,' 'रहस्यत्रय मीमांसा भाष्य,' और 'खण्ड मारुत' लिखा जो वेंकटनाथ की शतदूषणी की विद्वत्तापूर्ण टीका है। सुदर्शन गुरु ने उनके 'वेदान्त विजय' पर 'मंगल दीपिका' नामक टीका लिखी। उन्होने एक बृहत् ग्रन्थ 'वेदान्त विजय' नामक लिखा जो अनेक स्वतत्र खण्डों का होते हुए भी आपस में सम्बद्ध है। पहला भाग 'गुरु पसत्ति विजय' है जिसमें गुरु के पास उपसन्न करने की पद्धति की विवेचना है। यह हस्तलिखित ग्रंथ बडा मोटा २७३ पृष्ठों का है। विवेचना का प्रकार उपनिषदो जैसा है। दूसरा भाग 'ब्रह्म विद्या विजय' (हस्तलिखित २२१ पृ० वाला) जिसमे वे उपनिषद् के आधार पर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि ब्रह्मन् का अर्थ नारायण ही है अन्य कोई देव नही है। तीसरा भाग 'सद् विद्या विजय' ७ अध्यायो वाला है जो तात्त्विक और विवादपूर्ण है। मैंने उत्तरखड मे इसके विषय का वर्णन किया है। अन्तिम खंड विजयोल्लास है (हस्तलिखित १५८ पृ०) जिसमे यह सिद्ध करने का प्रयास है कि उपनिषद् नारायण को ही निर्दिष्ट करते हैं। मुझे इस पुस्तक

---

[1] वह चिदचिदेश्वर तत्व निरूपण या तत्वत्रय नाम से भी जाना जाता है।

का चतुर्थ भाग प्राप्त नहीं हो सका। सुदर्शन गुरु ने इस वेदान्त विजय पर एक टीका लिखी। यह सुदर्शनाचार्य से भिन्न व्यक्ति हैं। इन्होंने 'अद्वैत विद्या विजय' नामक, एक ग्रंथ तीन अध्यायो वाला लिखा जो उपनिषद् के पाठो पर आधारित है। इसके तीन अध्याय, 'प्रपञ्च मिथ्यात्व भग,' 'जीवेश्वरैक्य भग' और 'अनरण्डार्थत्व भग' हैं। इन्होंने एक ग्रंथ 'उपनिषद् मगल दीपिका' नामक लिखा जो हमें मिल नही सका। वे अपने को कभी वाधुल श्री निवास या कभी उनके पुत्र प्रज्ञानिधि के शिष्य बताते हैं। उनका काल सम्भवतः १५वी शताब्दी रहा होगा। वे वाधुल श्रीनिवास के शिष्य थे। जिन्होंने 'श्रुत पंचाशिका' पर 'तूलिका' नामक टीका लिखी।

रग रामानुज मुनि का जीवन काल सम्भवतः १५वी शताब्दी रहा। वे वात्स्य अनंतार्य, ताताचार्य और परकाल यति अथवा कुम्भकोन ताताचार्य के शिष्य थे। उन्होने श्री भाष्य पर 'मूल भाव प्रकाशिका' नामक टीका लिखी और न्याय सिद्धाजन पर, 'न्याय सिद्धाजन व्याख्या' नामक टीका लिखी। उन्होने द्रमिडोपनिषद् भाष्य, विषय व्याख्या दीपिका, रामानुज सिद्धान्त सार और छांदोग्योपनिषद् प्रकाशिका नामक छादोग्योपनिषद् पर टीका लिखी, तथा एक बृहदारण्यकोपनिषद् प्रकाशिका टीका लिखी। उन्होंने शारीरक शास्त्रार्थ दीपिका नामक एक ब्रह्म सूत्र पर एक स्वतत्र टीका लिखी। आउफ्रेक्ट अपने 'केटेलोगुस केटेलोगोरूम' में लिखते हैं कि उन्होंने ये निम्न ग्रन्थ लिखे : (हमे प्राप्त नहीं हो सके) 'उपनिषद् व्याख्या विवरण,' 'उपनिषद् प्रकाशिका,' 'उपनिषद् भाष्य,' 'द्रविडोपनिषत्-सार-रत्नावली-व्याख्या,' 'कठवल्ली उपनिषद् प्रकाशिका,' 'कौशीतकोपनिषत् प्रकाशिका,' 'तैत्तिरीयोपनिषद् प्रकाशिका,' 'प्रश्नोपनिषत् प्रकाशिका,' 'माण्डूक्योपनिषत् प्रकाशिका,' 'मुण्डकोपनिषत् प्रकाशिका,' 'श्वेताश्वतरोपनिषत् प्रकाशिका,' 'श्रुत भाव प्रकाशिका' और 'गुरु भाव प्रकाशिका'।[1]

रंगरामानुज के गुरु परकाल यति ने जो कुम्भकोनम् ताताचार्य भी कहलाते थे निम्न ग्रन्थ लिखे : 'द्रविडश्रुति तत्त्वार्थ प्रकाशिका,' 'तिरुप्पलाण्डु व्याख्यान,' 'तिरुप्पलवै व्याख्यान,' 'कण्णिणुम-शिर ताम्बु-व्याख्यान' और 'अधिकार सग्रह व्याख्या'। उन्होने विजयीन्द्र की 'परतत्त्व प्रकाशिका' का खडन करते हुए 'विजयीन्द्र पराजय' लिखा।

माधव कुलोत्पन्न श्रीनिवासदास ने जो देवराजाचार्य के पुत्र और वेंकटनाथ के शिष्य थे, न्याय परिशुद्धि पर 'न्याय सार' नाम की टीका लिखी तथा एक टीका और लिखी जो 'शतदूषणी व्याख्या सहस्त्रकिरणी' है। ऐसा सम्भव हो सकता है कि जिस श्रीनिवासदास ने 'विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त,' 'कैवल्यशतदूषणी,' 'दुरुपदेशधिक्कार,' 'न्यास विद्या विजय,' 'मुक्ति शब्द विचार,' 'सिद्ध्युपाय सुदर्शन,' 'सार निष्कर्ष टिप्पणी'

---

[1] देखो आउफ्रेक्ट कृत केटे लोग्स केरेलोगोरुम, पृ० ४८८–८९।

श्रौर 'वादाद्रि कुलिश' लिखे, वही 'न्यायसार' के भी लेखक थे। उनका जीवन १४वीं शताब्दी का अन्त और १५वीं शताब्दी रहा। इन श्रीनिवास को श्रीशैल निवास से पृथक् रखना चाहिए, जिनके ग्रन्थो का उल्लेख पृथक् खड में किया गया है। श्रीशैल निवास भी १५वीं शताब्दी में हुए, ऐसा मानना सभव है।

हम एक और श्रीनिवास को जानते है जिन्होने 'अधिकरण सारार्थ दीपिका' लिखी। उक्त ग्रन्थ की पुष्पिका की एक व्याख्या के अनुसार पर वे वाधुल श्रीनिवास कहे जा सकते हैं तो फिर उन्हे महाचार्य गुरु होना चाहिए।[1]

एक और श्रीनिवास हुए, जो महाचार्य या रामानुजदास के शिष्य थे और गोविन्दार्य के पुत्र थे। उन्होने 'श्रुतप्रकाशिका' पर टीका लिखी और 'यतींद्रमत दीपिका' या 'यतिपतिमत दीपिका' लिखी। लेखक ऐसा कहते हैं कि श्री वैष्णव मत तथा सिद्धान्त पर इस प्रवेशिका को लिखने के लिए उन्होने कई प्राचीन ग्रंथो से सामग्री का सग्रह किया।[2]

यतीन्द्रमत दीपिका के १० अध्याय हैं। पहले अध्याय में विभिन्न तत्वो का वर्णन है, प्रत्यक्ष की परिभाषा दी गई है और यह बताया है कि अन्य प्रकार के प्रमाण यथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और अनुपलब्धि प्रत्यक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट किए जा सकते है। तत्पश्चात् दूसरे मतों का खण्डन और सतख्याति का निरूपण किया गया है। इसमे शब्द प्रमाण के इस दावे कि प्रत्यक्ष उसी का एक प्रकार है खण्डन करता है मध्यवर्ती सज्ञान की परिभाषा नही मानता और ईश्वर अनुमेय है इस तर्क को स्वीकार नही करता।

दूसरे अध्याय में अनुमान की परिभाषा दी गई है, और उसका वर्गीकरण करके उसकी प्रामाण्य के नियम दिए हैं और इन नियमो के उल्लघन से होने वाले दोषो की तालिका भी दी है। उन्होने उपमिति और अर्थापत्ति को अनुमान की परिभाषा मे समाविष्ट किया है और वाद के भिन्न प्रकारो का उल्लेख किया है।

---

[1] दूसरे अर्थ से वाधुल कुल तिलक यह विशेषण समरपु गवाचार्य को ही दिया जा सकता है। इस श्रीनिवास को मगाचार्य श्रीनिवास नाम से भी जाना गया है।

[2] एव 'द्रविड़भाष्य'–'न्याय तत्व'–सिद्धित्रय-श्रीभाष्य-दीपसार–वेदार्थ सग्रह-भाष्य विवरण-संगीत माला-सदर्थ संक्षेप-श्रुत प्रकाशिका–तत्वरत्नाकर-प्रज्ञा परित्राण-प्रमेय सग्रह-न्याय कुलिश-न्यायसुदर्शन–मानयाथात्म्य निर्णय–न्याय सार–तत्व दीपन-तत्व निर्णय–सर्वार्थ सिद्धि–न्याय परिशुद्धि–न्याय सिद्धांजन–परमत भंग–तत्वत्रय चुलुक तत्व त्रय निरूपण–तत्वत्रय प्रचंड मारुत–वेदान्त विजय–पाराशर्य विजयादिपूर्वाचार्य प्रबन्धानुसारेण ज्ञातव्यार्थान् संग्रह्य बाल बोधार्थं यतीन्द्रमत दीपिकाख्या शारीरक-परिभाषायां ते प्रतिपादिताः।

–यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० स० १०१।

तीसरे अध्याय में शब्द की परिभाषा मिलती है। वेद की प्रमाणता स्थापित की की गई है और यह प्रयास किया है कि समस्त शब्द नारायण का ही अर्थ बोध कराते हैं।

चतुर्थ अध्याय सब अध्यायो से लम्बा है। यहाँ न्याय दर्शन के पदार्थों का खडन किया है जैसेकि सामान्य, समवाय और परमाणु का कारणत्व और पदार्थों की उत्पत्ति के विषय में अपना मत दिया है, वे है चित्त, शरीर, इन्द्रिय और पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल एव आकाश आदि पचभूत।

पांचवां अध्याय काल के स्वरूप का निरूपण करता है और उसकी सर्व व्यापकता और अनादित्व को बताता है। छठा अध्याय शुद्ध सत्व के नित्य एव लोकोत्तर गुणो का वर्णन करता है जो ईश्वर और जीव के गुण है।

सातवा अध्याय अधिक दार्शनिक है। यहाँ विवाद द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि ज्ञान किस प्रकार गुण और द्रव्य दोनों ही है जिससे वह आत्मा का गुण और स्वरूप भी हो सकता है। यहाँ यह भी प्रयास किया गया है कि चित्त की समस्त अवस्थाएँ और भाव भी ज्ञान रूप है। भक्ति और प्रपत्ति का विवेचन हुआ है और कर्म ज्ञान और भक्ति पर विस्तृत उल्लेख किया गया है। लेखक ने यह भी बताने की कोशिश की है कि अन्य दर्शन द्वारा कहे गए मोक्ष साधन निरर्थक है।

आठवे अध्याय मे ईश्वर और जीव के सामान्य गुणो का वर्णन है, और जीव के सच्चे स्वरूप पर लम्बी विवेचना की गई है, तथा इस सम्बन्ध मे बौद्धवाद का खडन किया है। वे भक्त और उनके दो वर्गों का बर्णन भी करते है और मुक्त जीव के गुणो का वर्णन करते है।

नवमे अध्याय मे ईश्वर की परिभाषा दी है और वह जगत् का उपादान सहकारी और निमित्त कारण है ऐसा सिद्ध किया है। वे अद्वैतवाद के मायावाद का खडन करते हैं और भगवान् के पाच अगो की विवेचना करते हैं जो विभव, अवतार इत्यादि हैं। दसवे अध्याय में द्रव्य के सिवाय १० तत्वों की गणना और परिभाषा दी है जैसे कि सत्व, रजस्, तमस्, शब्द, स्पर्श इत्यादि।

एक और श्रीनिवासदास, आण्डान कुल के थे जो 'गत्व तत्व परित्राण' के लेखक थे। उन्होने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि नारायण शब्द एक साधारण समस्त पद नहीं है किन्तु यह स्वय आश्रित विशिष्ट शब्द होता हुआ नारायण को निर्दिष्ट करता है। एक और श्रीनिवास थे जो श्रीनिवास राघवदास और 'चण्ड मार्तण्ड' कहलाते थे जिन्होने 'रामानुज सिद्धान्त संग्रह' लिखा।

इन श्रीनिवास को शठमर्षण कुल के दूसरे श्रीनिवास से भिन्न जानना चाहिए, जिन्होने एक ग्रन्थ लिखा जिसका इस ग्रन्थ के लेखक को परिचय है। यह ग्रन्थ

'आनंद तारतम्य खंडन' है। इस छोटी पुस्तक में शास्त्र के आधार पर इस मत का खंडन किया है कि मुक्तावस्था में भेद है।

कुछ और श्रीनिवास तथा उनके ग्रंथों का लेखक को परिचय है। हो सकता है ये १५वीं या १६वीं शताब्दी में रहे हों। ये श्री वत्साक मिश्र हैं जिन्होंने एक 'श्रीभाष्य सारार्थ संग्रह' नाम का छोटा ग्रन्थ लिखा, श्रीनिवास तातार्य ने 'लघु भाव प्रकाशिका' लिखी, श्री शैल योगेन्द्र ने 'त्याग शब्दार्थ टिप्पणी' लिखी, वेंकटनाथ के पौत्र श्री शैल राघवाचार्य ने 'वेदान्त कौस्तुभ' तथा रगनाथ के पुत्र श्री सलिलदास ने 'सिद्धान्त सग्रह' लिखा और सुन्दरराज देशिक ब्रह्मसूत्र भाष्य व्याख्या (प्रारम्भिक टीका:) के लेखक थे। ये सब छोटे लेखक सम्भवतः १६वीं, १७वीं, और १८वीं शताब्दी में हुए।

श्री शैल श्रीनिवास ताताचार्य के पुत्र श्रीनिवास दीक्षित ने 'विरोध विरुधिनी प्रमाथिनी' लिखी, ये अण्णयार्य के पौत्र थे और आचार्य दीक्षित के शिष्य थे। इस ग्रन्थ को रगाचार्य लिखित 'विरोध विरुधिनी प्रमाथिनी' से अलग करना चाहिए जिसका उल्लेख भिन्न खड मे किया गया है। श्रीनिवास सुधी ने भी 'ब्रह्म ज्ञान निरास' लिखा, इसमें लेखक का शंकर मतवादी त्र्यम्बक पडित से हुए शास्त्रार्थ का वर्णन है। इस पुस्तक में अद्वैतवाद का खडन 'शतदूषणी' के अनुसार किया गया है। यह कहना कठिन है 'नयमणि कलिका,' 'लक्ष्मणार्य सिद्धान्त सग्रह' और 'हरिगुण मणिमाला' के लेखक इन्हे माना जाए या विरोध निरोध के लेखक श्रीनिवास को माना जाए।

सुदर्शन सूरि, जो १३वीं और १४वीं शताब्दी मे विद्यमान थे, हारीत गोत्रज थे। वे वाग्विजय के पुत्र तथा वात्स्य वरद के शिष्य थे, इनका पहले उल्लेख हो चुका है। उन्होंने रामानुज भाष्य पर ग्रथ लिखा और इसी ग्रथ से परवर्ती अनुगामियों ने प्रेरणा ली। टीका का नाम 'श्रुत प्रकाशिका' है जिसमे वात्स्यवरद से सुने हुए उपदेश को शब्दशः लिखा गया है।[1] उन्होंने 'सध्यावदन भाष्य,' 'वेदान्त सग्रह तात्पर्य दीपिका,' जो रामानुज के वेदार्थ सग्रह की टीका है, लिखी और दूसरा ग्रन्थ 'श्रुत प्रदीपिका' लिखा। वे वेद व्यास भट्टार्य भी कहलाते थे। इन सुदर्शन को सुदर्शन गुरु जिन्होंने भट्टाचार्य के 'वेदान्त विजय' की टीका लिखी, इनसे पृथक् जानना चाहिए। शठकोप मुनि, जो शठारि सूरि के शिष्य थे, बहुधा शठकोप यति नाम से भी जाने जाते थे, १६वीं शताब्दी के अन्त में हुए। उन्होंने निम्न ग्रथ रचे: 'ब्रह्म लक्षण वाक्यार्थ संग्रह,' 'ब्रह्म शब्दार्थ विचार,' 'वाक्यार्थ सग्रह,' ब्रह्म सूत्रार्थ सग्रह,' 'ब्रह्म लक्षण

---

[1] गुरुभ्योर्थः श्रुतः शब्दैस्तत् प्रयुक्तैश्च योजितः।
सौकर्याय बुभुत्सुनाम् संकलयचो प्रकाश्यते।
—श्रुत प्रकाशिका की प्रस्तावना के श्लोक।

वाक्यार्थ,' 'दिव्य प्रबंध' और 'भाव प्रकाशिका दूषणों द्वार।' अन्तिम ग्रन्थ, वरद विष्णु सूरि की श्रुत प्रकाशिका पर, भाव प्रकाशिका नामक टीका की आलोचना का खडन है।

अहोबिल रंगनाथ यति ने जो १५वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुए 'न्याय विवृत्ति' लिखी। इसमें वेंकटनाथ के 'न्यास तिलक' मे तिरुपति न्यास विषय पर विवेचना है। आदिवराह वेदान्ताचार्य ने 'न्याय रत्नावली' लिखी। कृष्ण ताताचार्य ने जो श्री शैल वंश के थे और १५वीं शताब्दी में हुए, 'न्याय परिशुद्धि' पर टीका लिखी, यह 'न्याय परिशुद्धि व्याख्या' है और कुछ छोटे ग्रंथ 'दुरार्थ दूरीकरण,' 'ब्रह्म शब्दार्थ विचार' और शास्त्र चद्रिका लिखी। कृष्णपाद लोक गुरु ने, जो उसी शताब्दी में हुए, 'रहस्यत्रय मीमांसा भाष्य,' 'दिव्य प्रबंध व्याख्या,' 'चतुश्लोकी व्याख्या' और अनेक तामिल ग्रन्थ लिखे। १५वीं शताब्दी के चम्पकेश ने 'गुरु तत्व प्रकाशिका' और 'वेदान्त कंटकोद्धार' लिखा। अन्तिम ग्रन्थ में श्री भाष्य की आलोचनाओं का खडन किया गया है।[1] वे वेंकटनाथ के शिष्य थे। एक दूसरे ताताचार्य ने जो वेंकटाध्वरी के पितामह थे (विश्वगुण आदर्श के लेखक) 'ताताचार्य दिन चर्या' लिखी। वे अप्पय्य दीक्षित के मामा थे। पुन. देशिकाचार्य ने श्री भाष्य पर 'प्रयोग रत्नमाला' नाम की टीका लिखी, इन्होने वेकटनाथ के तैत्तरीयोपनिषद् की पञ्चिका टीका पर एक पुस्तक लिखी, जो 'अस्ति ब्रह्मेति श्रुत्यर्थ विचार' कहलाई। दोड्डयाचार्य ने जो १५वीं शताब्दी मे हुए 'परिकार विजय' लिखा जिसका उल्लेख महाचार्य के ग्रन्थों में मिलता है। इन्होने 'वेदान्त देशिक वैभव प्रकाशिका' नाम की रामानुज की जीवनी लिखी। नारायण मुनि ने 'भाव प्रदीपिका,' 'गीतार्थ सग्रह,' 'गीता सार रक्षा,' 'गीता सग्रह विभाग,' 'रहस्यत्रय जीवातु' लिखे। वे श्री शैल ताताचार्य के पुत्र थे, अनतार्य के पौत्र तथा रामानुजाचार्य या महाचार्य के शिष्य थे। शायद वे १५वीं शताब्दी में हुए होंगे। नृसिंहराज, जिन्होने 'शतदूषणी व्याख्या' नाम की शतदूषणी पर टीका लिखी, सम्भवतः वही व्यक्ति थे जिन्होंने 'तत्व मुक्ता कलाप' पर आनददायिनी टीका लिखी। नृसिंह सूरि अधिक उत्तरकाल के लेखक ने 'शरीर भावाधिकरण विचार' और 'तत्क्रतु न्याय विचार' लिखा। पर वस्तु वेदान्ताचार्य जो आदि वराहाचार्य के पुत्र थे, उन्होने 'वेदान्त कौस्तुभ' लिखा। पुरुषोत्तम ने 'सुबोधिनी' नामक श्री भाष्य पर टीका लिखी, भगवत सेनापति मिश्र ने 'शारीरिक न्याय कला' लिखी।

---

[1] शुद्ध सत्व लक्षणार्य ने 'श्रुत प्रकाशिका' की, 'गुरु भाव प्रकाशिका' टीका लिखी, जो चम्पकेश की 'गुरु तत्व प्रकाशिका' पर आधारित है। वे शुद्ध सत्वाचार्य के शिष्य और सौम्य जामातृ मुनि के पुत्र थे। वे अपनी टीका मे वाधुल श्रीनिवास की 'तूलिका टीका' का उल्लेख करते हैं। वे सम्भवतः १६वीं शताब्दी में रहे होंगे और महाचार्य के समकालीन होंगे।

पेलपुर देविक ने 'तत्वभास्कर' नाम का ग्रन्थ लिखा। यह दो भाग में लिखा गया है, पहले मे माया का अर्थ समझाने का प्रयत्न किया है और द्रविड तथा संस्कृत ग्रन्थो के आधार पर ईश्वर के स्वरूप का निर्णय किया है, दूसरा भाग कर्मकांड के प्रकार का है। रंगराज जो सम्भवत: १६वीं शताब्दी मे हुए होंगे, 'अद्वैत बहिष्कार' के लेखक थे। रंगनाथाचार्य ने 'अष्टादश भेद विचार,' 'पुरुषार्थ रत्नाकर,' 'विवादार्थ सग्रह,' 'कार्याधिकरण भेद' और 'कार्याधिकरण तत्व' लिखे। अन्तिम दो ग्रन्थो के वर्ण्य विषय अन्य स्थान पर दिए गए हैं। वे सम्भवत. १६वी शताब्दी में रहे होंगे और वे सौम्य जामातृ मुनि के शिष्य थे। एक रामानुज ने जो वेदान्त रामानुज कहलाते थे 'दिव्य सूरि प्रभाव दीपिका' और 'सर्व दर्शन शिरोमणि' ग्रन्थ लिखे। रामानुजदास भिक्षु ने 'सौरिराज चरणारविंद-शरणागति-सार' लिखा और सुब्रह्मण्य शास्त्री ने 'विष्णु तत्व रहस्य' लिखा। ये दोनो लेखक सम्भवत: १६वी शती के अन्तिम भाग या १७वी के प्रारम्भ मे हुए होंगे।

आत्रेय वरद ने 'रहस्यत्रय सार व्याख्या' लिखी। यह वेंकटनाथ के 'रहस्यत्रय सार' पर टीका है। वरददास ने 'न्यायविद्या भूषण' और वादी केसरी मिश्र ने निम्न ग्रन्थ रचे—'अध्यात्म चिन्ता,' 'तत्वदीप सग्रह कारिका,' 'तत्वदीप' और 'रहस्य त्रय कारिका'। ये लघु ग्रन्थ महत्वपूर्ण नहीं हैं। केवल 'तत्वदीप' मे ही दार्शनिक सामग्री है जो सुदर्शन की श्रुत प्रकाशिका के विषयो से प्रेरित है। वाधुल नृसिंह के पुत्र और वाधुल वरद गुरु के शिष्य, वीर राघवदास ने 'तात्पर्यदीपिका' नामक श्रीभाष्य पर टीका रची और एक वात्स्य वरद के तत्वसार पर तत्वसारिणी नाम की टीका लिखी। वेंकटसुधी ने एक चार खड का वृहत् ग्रन्थ लिखा जो 'सिद्धान्त रत्नावली' नाम का था। इसमे उन्होने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि शिव नही किन्तु नारायण ही महान् देव है और जगत् पति हैं, इसमें अन्य सप्रदाय के मतो का निरूपण भी है जो तात्विक दृष्टि से महत्वपूर्ण नही है। वे वेंकटनाथ के शिष्य थे और शठमर्षण वश के ताताचार्य के पुत्र थे। पचरात्र खड मे इस पुस्तक का कुछ उल्लेख किया जाएगा। वेंकटदास ने जो वुच्चि वेंकटाचार्य भी कहलाते थे, और जो शठमर्षण वशज अण्णाचार्य के तीसरे पुत्र थे, 'वेदान्त कारिकावली' लिखी। वेंकटाध्वरि ने 'यति प्रतिवन्दन खडन' लिखा। अय्यण्ण ने 'व्यास तात्पर्य निर्णय' और अण्णायाय्यगाचार्य ने 'तृशप्रश्नोत्तर,' 'केसर भूषण' और 'श्री तत्व दर्पण' लिखे। गोपालनात ने 'शतकोटि दूषण परिहार' गोविंदाचार्य ने 'प्रमाणसार' और जगन्नाथ यति ने 'ब्रह्म सूत्र दीपिका' लिखी। देवनाथ ने तत्व निर्णय, धर्म कुरेश ने 'रामानुज नवराल मालिका' नील मेघ ताताचार्य ने 'न्यास विद्यार्थ विचार,' रगाचार्य ने 'श्री वत्स सिद्धान्त सार' रघुनाथाचार्य ने 'बाल सरस्वती' और 'सगीत सार' रचे। राघवाचार्य ने 'रहस्य त्रय सार सग्रह' रामनाथ योगी ने 'सदाचार बोध,' रामानुज ने 'गायत्री शत दूषणी' और तिरुमालाचार्य ने, जो भारद्वाज गोत्रज थे, 'रात्वोपपत्ति भंग' लिखा।

श्री शैलनिवास के भाई, अण्णायार्य ने 'सप्तति रत्न मालिका व्यवहारिकत्व खडन सार,' 'मिथ्यात्व खडन,' 'आचार्य विंशति,' 'आनन्द तारतम्य खडन' लिखे। १६वी शताब्दी के अप्पय्य दीक्षित ने रामानुज मतानुसार ब्रह्मसूत्र की टीका की, यह ग्रन्थ 'न्यायमुख मालिका' है। १६वी शताब्दी के अनतार्य ने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमे निम्न प्रकाशित हुए हैं:—'एत्वतत्व विभूषण,' 'शतकोटि खडन,' 'न्याय भास्कर,' 'आचार लोचन' (पुनर्विवाह का खडन), 'शास्त्रारम्भ समर्थन,' 'समासवाद,' 'विषयतावाद,' 'ब्रह्म शक्तिवाद,' 'शास्त्रैक्यवाद,' 'मोक्ष कारणतावाद,' 'निर्विशेष प्रमाण व्युदास,' साबिन् नानात्व समर्थन,' 'ज्ञानायाथार्थ्यवाद,' 'ब्रह्म लक्षणवाद,' 'ईक्षत्यधिकरण विचार,' 'प्रतिज्ञावाद,' 'आकाशाधिकरण विचार,' 'श्रीभाष्य भावाकुर,' 'लघु-सामानाधिकरण्यवाद,' 'गुरु सामानाधिकण्यवाद,' 'शरीरवाद,' 'सिद्धान्त सिद्धांजन,' 'विधि सुधाकर,' 'सुदर्शनसार-द्रुम,' 'भेदवाद,' 'तत्क्रतु न्याय विचार,' 'दृष्टव्यानुभान-निरास'। ये सब छोटे ग्रथ हैं, कुछ बडे भी हैं। न्याय भास्कर, अद्वैतसिद्धि पर लिखी 'गौड ब्रह्मानन्दी टीका' का खडन है, जो स्वय 'न्यायामृत तरगिनी' का खडन था। इसमे बारह विषय है। खडन बगाल के नव्य न्यायदर्शन की शैली मे शास्त्रीय ढग से किया गया है। जिसने कि विरोधको की परिभाषा मे दोष पाया था। इस लेखक के महत्वपूर्ण ग्रन्थो का उल्लेख यथास्थान किया गया है।

आलवारों का रामानुज के अनुयायियों पर प्रभाव

हमने दिव्य प्रबन्धो का उल्लेख किया है जो आलवारो ने तामिल मे लिखे थे और जिसका श्री वैष्णवो के आचार्यो पर गहरा प्रभाव हुआ है।[1] कुरेश (तिरुक्कुरुकै पिरन पिल्लै) ने ६००० श्लोको की, नाम्मालवार के चुने हुए १००० पदो की सहस्त्र

[1] ये दिव्य प्रबध सख्या मे ४००० हैं। पोयगैयालवार ने मुडलतिरुवताडी नाम का शत श्लोकी ग्रन्थ लिखा, भूत्तातालवार ने १०० पद्य का इरन्डम् तिरुवन्ताडी, पेरियालवार ने मुनर्राम तिरुवन्ताडी शत श्लोकी ग्रन्थ, तिरुमरिसैपीरान ने नाममुग्नम् तिरुवेताडी और तिरुचण्डवृत्तम ९६ और १२० पद्य का, मधुर कवि चालवार ने कण्णिनुण शिरुत्ताम्बी ११ श्लोक का, नाम्मालवार ने तिरुवृत्तम १०० श्लोक का, तिरुवाशीर्यम् पेरीयमाल ने पेरुमाल तिरुमोली १०५ पद्य का, पेरीयालवार तिरुपल्लाण्डु और पेरियालवार तिरुमोरी ने १२ और ४६१ श्लोक का आण्डाल ने तिरुप्पावै और नाच्छीयार निरुमोली ३० और १४३ श्लोक का, तोण्डाराडि पोडियालवार ने तिरुपोल्लियै ऐर्रुची और तिरु मालै १० और ४५ श्लोक का, तिरुपाणालवार ने अमलनादी पीरनि १० श्लोक का तिरुमगेआलवार ने पेरियतिरु मोली १०८५ श्लोक का, तिरुक्कुरुन्डाण्डकम् २० श्लोक का, तिरु नेडुन्डण्डकम् ३०

गीति पर टीका लिखी। पराशर भट्टार्य ने १००० पदो की टीका लिखी। कलिजित् (लोकाचार्य) के निर्देश से अभयप्रद राज ने २४,००० पदों की टीका लिखी। कलिजित् के शिष्य कृष्णपाद ने एक दूसरी ३६०० पदों की टीका लिखी। सौम्य जामातृमुनि ने, नाम्मालवार के मत की व्याख्या करते हुए १२००० पद लिखे। अभयपदराज की दिव्य प्रबंधो की टीका ने पीछे आने वाले आचार्यों को उत्तरकाल के रहस्यमय सिद्धान्तो को समझने में सहायता दी। सौम्य जामातृ पिल्लै लोकाचार्य के छोटे भाई, द्वारा लिखी गई दिव्य प्रबधों पर टीका अभिरामवराचार्य के समय में ही दुष्प्राय हो गई थी। अभिराम वराचार्य 'उपदेश रत्नमाला' के अनुवादक और सौम्य जामातृ मुनि के पौत्र थे।

इस तरह देखा जाता है कि रामानुज के बाद धर्म गुरु की पदवी पर आने वालो में पराशर भट्टार्य और उनके उत्तराधिकारी वेदान्तीमाधव, जो नजियार भी कहलाते थे, तथा उनके उत्तराधिकारी नम्बूरि-वरदराज, जो कलजित् लोकाचार्य प्रथम कहलाते थे और उनके उत्तराधिकारी पिल्लै लोकाचार्य, इन सबों ने रामानुज सिद्धान्तो को समझाने के लिए जितने ग्रंथ नही लिखे, उतने सहस्त्र गीति और दिव्य प्रबधों की भक्ति के अर्थ को समझाने के लिए लिखे। ये सब ग्रथ तामिल मे है, कुछ ही सस्कृत में अनूदित है। यहाँ इस ग्रंथ में केवल उन सस्कृत ग्रंथो को (अधिकाश हस्तलिखित) ही ध्यान मे रखा गया है जो वर्तमान लेखक को सुलभ थे। पिल्लैलोकाचार्य और सौम्य जामातृ मुनि जो वरद केसरी कहलाते थे, कृष्णपाद के शिष्य थे। किन्तु इन सौम्य जामातृ मुनि को उत्तरकालीन सौम्य जामातृ मुनि से पृथक् जानना चाहिए। उत्तरकालीन सौम्य जामातृ मुनि अधिक सुविख्यात थे और यतींद्र प्रवणाचार्य भी कहलाते थे। पराशर भट्टार्य सम्भवतः ई० स० १०७८ के पहले हुए होगे और ११६५ मे परलोक सिधार गए होगे। उनके बाद वेदान्ती माधव या नजियार आए, और इनके बाद नम्बूरिवरदराज या लोकाचार्य प्रथम उत्तराधिकारी बने। इनके बाद पिल्लै लोकाचार्य उत्तराधिकारी हुए जो वेंकटनाथ, और श्रुत प्रकाशिकाचार्य या सुदर्शन सूरि के समकालीन थे। इन्ही के समय मे मुसलमानो ने श्रीरगम् पर आक्रमण किया जो हमने वेंकटनाथ के विषय में लिखते हुए कहा है। गोप्पणाचार्य ने मुसलमानो को भगा दिया और रगनाथ की मूर्ति की पुनः स्थापना १२९३ में की गई। इसी समय सुविख्यात सौम्यजामातृ मुनि (कनिष्ठ) का जन्म हुआ। पिल्लै लोकाचार्य के छोटे

श्लोक का, तिरुवेतुलु कुतिरुक्कै १ श्लोक का, शिरिय तिरुमडल ७७ श्लोक का पेरिय तिरुमडल १४८ श्लोक का लिखा। इस प्रकार ४००० श्लोक होते हैं। इनका उल्लेख सौम्य जामातृ मुनि (कनिष्ठ) की उपदेश रत्नमाला मे किया गया है तथा प्रस्तावनाएँ एम० टी० नरसिंह आयंगर ने दी है।

भाई, सौम्य जामातृ मुनि ने (ज्येष्ठ) जो वादी केसरी भी कहलाते थे, 'दिव्य प्रबंध' पर कुछ टीकाएँ लिखी तथा 'दीप प्रकाश' और 'पियरुलि वेयलरे रहस्य' लिखे। सौम्य जामातृ मुनि (कनिष्ठ), जो वरवर मुनि भी कहलाते थे, अपने 'उपदेश रत्नमाला,' 'तत्त्वत्रय भाष्य' और 'श्रीवचन भूषण व्याख्या' नामक ग्रंथो में इनका उल्लेख करते हैं। हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि 'अध्यात्म चिन्तामणि' जिसमें वाधुल श्रीनिवास की गुरु रूप में स्तुति की गई है, वह सौम्य जामातृ मुनि द्वारा लिखा गया था। महाचार्य भी उन्हें वाधुल श्रीनिवास के शिष्य बताते हैं। अगर इस प्रकार, सौम्य जामातृ मुनि (ज्येष्ठ) और महाचार्य, एक ही गुरु के शिष्य थे तो महाचार्य १४वी शताब्दी में हुए होगे। अगर सौम्य जामातृ मुनि (कनिष्ठ) ने यह पुस्तक लिखी है तो महाचार्य का समय पीछे रखा जाएगा।

हम पिल्लै लोकाचार्य के केवल तीन ही ग्रंथ खोज पाए हैं, जो 'तत्त्व त्रय,' 'तत्त्व शेखर' और 'श्रीवचन भूषण' हैं।[1] 'तत्त्व त्रय' श्रीनिवास मत का उपयोगी संग्रह ग्रन्थ है जिसमें अचित्, चित् और ईश्वर का स्वरूप और उनके आपस के सम्बन्ध का निरूपण किया गया है। इस पर वरवर मुनि की सुन्दर टीका है। 'तत्त्व शेखर' चार अध्याय का ग्रंथ है। पहले अध्याय मे नारायण ही सर्वश्रेष्ठ देव हैं और परम कारण हैं, इस मत के समर्थन में शास्त्र के उद्धरण दिए गए हैं। दूसरे मे, जीव के स्वरूप का वर्णन शास्त्रो के आधार पर किया गया है। तीसरे मे इसी विषय का विवरण है। चतुर्थ अध्याय मे, भगवान् की शरणागति ही समस्त जीवो का अन्तिम ध्येय है, इस विषय का विवेचन है। वे कहते है कि अन्तिम पुरुषार्थ, भगवान् मे प्रीति-जनित कैंकर्य भाव से अपने एव भगवान् के स्वरूप और उनके दिव्य सौन्दर्य, प्रभुत्व शक्ति और सर्वश्रेष्ठता को जानने मे होता है। समस्त प्रकार की कैंकर्य वाछनीय नही है। यह हम अपने दैनिक अनुभव से जानते हैं कि प्रेम की दासता सुखमय है। मुक्ति के सामान्य विचार में मनुष्य अपने अहकार और अपने अन्तिम ध्येय को ही आगे रखता है। इसलिए यह पुरुषार्थ से निम्न है क्योकि पुरुषार्थ में भक्त अपने को भूलकर भगवान् की दासता को ही अन्तिम ध्येय समझता है। लोकाचार्य फिर अन्य मतों के अन्तिम ध्येय का खडन करते हैं। वे उस मत का भी खडन करते है जिसमें भगवान् में पूर्णतः अधीनता द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञान होना माना है (परतन्त्रत्वेन स्वानुभव-मात्रम् न पुरुषार्थः) इसे श्रीनिवास मत मे कैवल्य भी कहा है। हमारा अन्तिम ध्येय

---

[1] उनके कुछ और ग्रंथ ये हैं, 'मुमुक्षुप्पदि,' 'प्रमेय शेखर,' 'नवरत्नमाला,' 'तनिप्रणव,' 'प्रपन्न परित्राण,' 'याद्दच्छिकप्पदि,' 'द्वयम्,' 'अर्थ पचक,' 'सार सग्रह,' 'परतन्त्पदि,' 'ससार साम्राज्यम्,' 'श्रियः पतिप्पदि,' 'चरमम्,' 'अर्चिरादि,' 'नव विध सम्बन्ध' —देखो तत्त्व शेखर की फुट नोट, पृ० ७०।

दुःख की निवृत्ति नहीं है किन्तु आनंदानुभव है। असदिग्ध आनंद ही हमारा ध्येय है। ऊपर वर्णन की हुई मुक्तावस्था में जीव, भगवान् से सान्निध्य पाता है और इससे परमानद पाता है किन्तु वह भगवान् की बराबरी नहीं कर पाता। बध सत्य है और उसका निवारण भी सत्य है। प्रपत्ति बधन-निवारण का एक साधन है। यह प्रपत्ति व्यवहित एव अव्यवहित होती है, पहली में, शरणागति सपूर्ण और आत्यतिक है और एक बार ही होती है।[1] अव्यवहित प्रपत्ति भगवान् का प्रेम से सतत ध्यान करना तथा साथ ही साथ शास्त्रोक्त कर्म करना तथा वर्जित कर्म न करना है। यह निम्न कोटि की है, योग्य व्यक्ति पहला मार्ग ही अपनाते हैं।

पिल्लै लोकाचार्य के 'श्रीवचन भूषण' के मुख्य विषय पृथक् खड मे दिए जाएँगे जब हम सौम्य जामातृ (कनिष्ठ) और रघुतम की इस टीका और वृत्ति का वर्णन करेंगे। श्री वचन भाष्य ४८४ छोटे वाक्यो का ग्रथ है जो सूत्रों से कुछ लम्बे है। किन्तु कुछ दार्शनिक वाक्यो से छोटे है। लोकाचार्य ने इस शैली को दूसरे ग्रन्थो में भी जैसे 'तत्वत्रय' और 'तत्व शेखर' मे अपनाया है।

रम्य जामातृ मुनि या सौम्य जामातृ मुनि जो मणवालम मुनि या पेरिय जीयार भी कहलाते थे, तिकलक्की अण्डान तिरुना विरुदैयापीरान तातर अण्णार के पुत्र और पिल्लै लोकाचार्य के शिष्य थे और कोल्लिकवलदसर के पौत्र थे, कोल्लिकवलदसर लोकाचार्य के शिष्य थे। वे तिन्नैवल्लि जिले मे १३७० ई० मे जन्मे थे और ७३ वर्ष तक अर्थात् १४४३ तक जीवित रहे। पहले उन्होने श्री शैलेश से शिक्षा पाई जिन्हे तिरुवायमोरी मे तिरुमर्रै आलवार भी कहते है। उनकी युवावस्था की प्रथम कविता 'यतिराज विंशति' रामानुज के सम्मान मे लिखी गई थी। यह वरवर मुनि की 'दिनचर्या' मे सगृहीत हो प्रकाशित हुई। रामानुज के प्रति असीम भक्ति होने के कारण ये यतीद्र प्रवण के नाम से जाने जाते थे, उन्होने तिरुवरगत्तमुदनार की 'प्रपन्न सावित्री' या 'रामानुज नुरण्दादी' नामक रामानुज की सक्षिप्त जीवनी पर एक टीका

---

[1] प्रपत्ति की इस प्रकार व्याख्या की गई है। भगवदा ज्ञातिवर्तन-निवृत्ति भगवदानुकूल्य-सर्व-शक्तित्वानुसधानप्रेमृति सहितः याचागर्भो विजृम्भ रूप ज्ञान विशेषः तत्र श्रेयाकारेश्वरस्य निरपेक्ष-साधनत्वं ज्ञानाकारो व्यवसायात्माकत्वम् एतच्च शास्त्रार्थत्वात् सकृत् कर्त्तव्यम्। —तत्व शेखर, पृ० ६४।

जिस प्रकार शकर मतवादी मानते है, कि एक ऐसे वाक्यों से जीव और ब्रह्म का एकता-ज्ञान जब हो गया तब और कुछ करने को बाकी नहीं रहता। यहाँ पर भी भगवान् मे पूर्ण शरणागति होने पर जीव ईश्वर के सम्बन्ध का ज्ञान होता है एक बार यह होने पर फिर कुछ नही करना पडता। फिर ईश्वर को ही भक्त को अपना बनाना पडता है।

भी लिखी है। श्री शैलेश से शिक्षा लेने के बाद वे श्री रगम् में रहे और वहाँ उन्होने दिव्य प्रबधो पर टीका एव 'श्रीवचन भूषण' और 'द्रविड़ वेदान्त' का अध्ययन किया। दिव्य प्रबध और गीता रहस्य के अध्ययन मे उन्हे अपने पिता ततर अण्णार से मदद मिली। उन्होने किदम्बी तिरुमलै नयिनार जो कृष्णदेशिक भी कहलाते थे, के साथ 'श्रीभाष्य' और 'श्रुत प्रकाशिका' ग्रन्थ पढे। उन्होने यादवगिरि के देवराज गुरु अर्थात् अण्णाचार्य से 'आचार्य हृदय' पढा। वे ससार त्याग कर सन्यासी बन गए और श्रीरगम् के पल्लव मठ में बस गए। वहाँ उन्होने व्याख्यान मण्डप बनाया जहाँ से धर्मोपदेश किया करते थे। वे द्रविड़ वेदान्त मे निपुण थे, उन्होंने मणि प्रवाल शैली सस्कृत तमिल का मिश्रण मे अनेक ग्रन्थ रचे और उनके बहुत से अनुयायी थे। उनका एक पुत्र रामानुजाचार्य था और पौत्र विष्णु चित्त था। उनके शिष्यो मे से आठ बहुत विख्यात थे, भट्टनाथ, श्रीनिवास यति, देवराज गुरु वाधुल वरद नारायण गुरु, प्रतिवादी भयकर, रामानुज गुरु, मुनाख्य और श्रीवानाचल योगीद्र। ये शिष्य वेदान्त के महान् आचार्य थे।[1] उन्होने रगराज को भाष्य पढाया। दक्षिण के बहुत से राजा उनके शिष्य थे। उनके ग्रन्थों मे से निम्न जानने लायक है: 'यतिराज विशति,' 'गीता तात्पर्यदीप,' (गीता पर सस्कृत मे टीका) 'श्रीभाष्यार्थ,' 'तैत्तरीयोपनिषद् भाष्य,' 'परतत्व निर्णय'। उन्होने पिल्लै लोकाचार्य के 'रहस्यत्रय,' 'तत्वत्रय' और श्री वचन भूषण पर भी टीका लिखी। तथा वादि केसर नाम से विख्यात, सौम्य जामातृ मुनि (ज्येष्ठ) के 'आचार्य हृदय' पर भी टीका लिखी। सौम्य जामातृ पिल्लै लोकाचार्य के भाई थे। उन्होने 'पेरियालवर तिरुमोर्री,' 'ज्ञान सार' और देवराज के 'प्रमेय सार' पर भी टीकाएँ लिखी। विरंमिसोलैप्पिलै की सप्तगाथा की भी टीका थी तथा उन्होने 'तत्वत्रय,' 'श्री वचन भूषण' और 'दिव्य प्रबध' (इडू) की टीकाएँ लिखी तथा 'तिरुवायमोर्कीनुरुण्डादि,' 'आरती प्रबध,' 'तिरुवायराधन क्रम' आदि तामिल पद्य रचे और अनेक सस्कृत पद्य भी लिखे। उन्होंने रामानुज जैसा स्थान प्राप्त किया। उनकी मूर्ति दक्षिण के मदिरो में पूजी जाती है। उनके बारे में भी अनेक ग्रथ रचे गए है। जैसेकि 'वरवर मुनि दिनचर्या,' 'वरवरमुनि शतक,' 'वरवरमुनि काव्य,' 'वरवरमुनि चम्पू,' 'यतीद्र प्रवण प्रभाव,' 'यतीद्र प्रवण भद्र चम्पू' इत्यादि। उनकी 'उपदेश रत्नमाला' का पाठ दिव्य प्रबध के पाठ के बाद श्रीनिवास करते हैं। उपदेश रत्नमाला मे वे पूर्ववर्ती आलवार और अर्गीयस का वर्णन करते है। उनके पौत्र अभिराम वराचार्य ने इसका सस्कृत अनुवाद किया। अभिराम वराचार्य के 'अष्टादश भेद निर्णय' का उल्लेख हम इस ग्रन्थ में कर चुके हैं। उन्होंने शठकोप की प्रशसा में एक दूसरा ग्रन्थ 'नक्षत्र मालिका' लिखा।[2]

---

[1] प्रपन्नामृत देखो, अ० १२२।

[2] हम सौम्य जामातृ मुनि के ग्रन्थो के विषय मे कुछ जानकारी एम०टी० नरसिंहायंगर

यद्यपि नृसिंहार्यंगर कहते हैं कि सौम्य जामातृ मुनि (कनिष्ठ) ने श्रीवचन भूषण पर मणि प्रवाल शैली में टीका लिखी है किन्तु इस टीका की पाण्डुलिपि, जिस पर रघूत्तम की एक उप टीका है, वर्तमान लेखक को प्राप्त हुई है। वह एक पूरा संस्कृत का बृहत् ग्रन्थ ७५० पृष्ठ वाला है, इस ग्रन्थ के मुख्य वर्ण्य विषय अन्य स्थान पर दिए जाएँगे।

की उपदेश रत्नमाला के अंग्रेजी अनुवाद की प्रस्तावना से जान पाए हैं अतः हम उनके उपकृत हैं।

अध्याय १६

यामुनाचार्य का दर्शन

यद्यपि पिछले समय में बोधायन वैष्णव मत के प्रतिष्ठापक माने गए है किन्तु ब्रह्म सूत्र पर उनकी टीका अब प्राप्त नही है, इसलिए हम यामुन को उत्तरकाल के वैष्णव दार्शनिको में सर्व प्रथम मान सकते हैं। ऐसा सुनने में आता है कि टंक, द्रमिड और भरुचि इत्यादि अन्य लोगों ने बोधायन की टीका के उपदेशो के आधार पर ग्रन्थ लिखे, जिनमें अन्य सम्प्रदायों के मतों का खण्डन किया गया था। द्रमिड़ ने भाष्य लिखा जिसे श्री वत्साक मिश्र ने विस्तृत किया, इसका उल्लेख यामुन अनेक बार करते हैं। महात्मा वकुलाभरण ने, जो शठकोपाचार्य भी कहलाते थे, तामिल भाषा में भक्ति-पथ पर एक विशद ग्रन्थ लिखा। किन्तु यह आजकल दुष्प्राप्य है। इस प्रकार आधुनिक वैष्णव सम्प्रदाय का इतिहास, व्यावहारिक दृष्टि से यामुनाचार्य से ही प्रारम्भ होता है, जो १०वी शताब्दी के उत्तरकाल एवं ११वी के प्रारम्भ मे हुए। यामुन महापूर्ण के आचार्य थे ऐसा माना जाता है जिनसे महान् रामानुज ने दीक्षा ली। जहां तक मुझे ज्ञात है यामुन ने चार ग्रन्थ लिखे हैं जो 'सिद्धित्रय,' 'आगम प्रामाण्य' 'पुरुष निर्णय' और 'काश्मीरागम' हैं। इनमे से केवल पहले दो ही प्रकाशित है।

अन्य मतों की तुलना में यामुन का आत्म-सम्बन्धी सिद्धान्त

हम देख चुके है कि चार्वाक से लेकर वेदान्तियो मत तक अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय हुए और उनमे से प्रत्येक ने आत्म-सम्बन्धी अपने सिद्धान्त प्रतिपादन किए। हमने चार्वाक के सम्बन्ध मे पहले ग्रन्थ मे थोडा ही विवेचन किया है और अन्य दर्शनों ने जो चार्वाक विरोधी आक्षेप किए है उन्हे भी छोड दिया गया है। चार्वाको का महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह था कि शरीर के सिवाय और कोई आत्मा नामक पदार्थ नही है। उनमे से कुछ इन्द्रियो को आत्मा मानते थे और कुछ मनस् को। वे चार भूतों को मानते थे जिनसे जीवन और चेतना का उद्‌भव हुआ। हम भी देह के सम्बन्ध में ही आत्मा का व्यवहार करते हैं, देह के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा नही है। चार्वाक साहित्य भारत से विलुप्त हो गया है। हम अन्य ग्रन्थों में प्राप्त उल्लेखो से ही जान पाते हैं कि उनका मौलिक साहित्य भी सूत्र रूप मे था।[1]

---

[1] बृहस्पति का पहला सूत्र 'अथ तत्त्वम् व्याख्यास्यामः' और दूसरा, 'पृथ्वी-अप्-तेज वायुः इति तत्त्वानि,' और तीसरा, 'तेभ्यश् चैतन्यम् किण्वादिभ्यो मद-शक्तिवत्'।

यामुन का दर्शन चार्वाक मत से स्पष्ट रूप में विरुद्ध था। इसलिए यही ठीक होगा कि हम चार्वाकों के मिथ्या मत के सम्बन्ध मे यामुन के आत्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन करे। यामुन स्वचैतन्य को स्वीकारते हैं उनके अनुसार हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान–'मैं जानता हूं' स्पष्ट रूप से 'यह मेरा शरीर है' इस ज्ञान से विलक्षण है और ज्ञाता रूप से आत्मा का ही निर्देश करता है। 'यह मेरा शरीर है 'यह ज्ञान' 'यह घड़ा है', 'यह कपडा है' इस विषय रूप ज्ञान जैसा ही है। जब मैं बाह्य विषयो से अपनी इन्द्रियो को खीचता हू और अपने आप में ध्यान केन्द्रित करता हू तब भी मुझे 'मैं' का ज्ञान रहता है जो मेरे हाथ पांव तथा अन्य अगो के किंचित् सम्बन्ध बिना मुझमें उदित है। अपना सारा शरीर प्रत्यक्ष का विषय नही बन सकता, जब शरीर का कोई भी अग उसमे प्रकाशित या प्रकट नही होता। जब कभी भी मै यह कहता हूं कि 'मै मोटा हू', 'मैं पतला हू' 'मैं' यह प्रत्यय बाह्य मोटे या पतले शरीर का निर्देश नही करता, किन्तु वह कोई मुझ में ही एक रहस्यमय अज्ञात तत्व की ओर ही निर्देश करता है जो शरीर से गलती से सम्बद्ध हो गया है। हमे यह भी नही भूलना चाहिए कि हम 'यह मेरा देह है' ठीक उसी प्रकार कहते हैं जैसे 'यह मेरा घर है' जहाँ कि देह अन्य बाह्य पदार्थ की तरह आत्मा से भिन्न है। किन्तु यह तर्क किया जा सकता है कि हम 'मेरी आत्मा' (ममात्मा) ऐसा भी कह सकते है, किन्तु यह तो एक भाषा का प्रयोग है जिसके द्वारा वह भेद व्यक्त होता है, जबकि वास्तव मे ज्ञान का विषय एक ही है। 'मै' यह प्रत्यय शरीर को निर्देश करता है यह अमदिग्धता या भ्रम इसलिए है कि आत्मा का कोई दृश्य रूप नही है जैसाकि अन्य पदार्थों का होता है (जैसे घडा, कपडा) जिससे कि वे एक दूसरे मे विभक्त किए जा सके। जिसमे पूर्ण विवेक जाग्रत नही है उसे अरूप आत्मा से सन्तोष नही होता, इसलिए वे शरीर को आत्मा मानने के भ्रम मे रहते हैं, विशेषतः इसलिए कि जीव की प्रत्येक इच्छा के अनुरूप देह मे भी परिवर्तन होता है। वे ऐसा सोचते हैं कि चित्त के परिवर्तन के साथ जैसे कि नये भाव का आना, नये विचार या इच्छा का आना, इनके अनुरूप देह मे, स्नायविक तथा भौतिक परिवर्तन होते है, इसलिए शरीर के सिवाय अन्य कोई आत्मा नही है। किन्तु अगर हम 'मै क्या हू' इसे जानने का गहन आत्म-निरीक्षण करे तो पता चलता है कि जिसे 'मै' कहते है वह तत्व ज्ञाता है और अन्य पदार्थ जो आत्मा से भिन्न है और जिन्हे यह या वह द्वारा निर्देश कर सकते है उनसे विलक्षण हैं। अगर 'मै' प्रत्यय शरीर को भी निर्देश करता तो, शरीर का कोई भी अग इस प्रत्यय से प्रकट होता, जैसेकि बाह्य वस्तु उनके अनुरूप प्रत्यय से यह और वह के रूप में प्रकट होती है, किन्तु ऐसा नही होता। बल्कि अंर्तनिरीक्षण से यह पता चलता है कि आत्मतत्व स्वरूप से स्वाधीन है। ससार की समस्त वस्तु मेरे (आत्मा के) लिए है। मै भोक्ता हू जब अन्य पदार्थ मेरे भोग्य हैं। मैं किसी अन्य के लिए नहीं हूं। मै अपना साध्य व प्रयोजन स्वयं हूं, किसी का साधन (अपरार्थ) कभी

बनता। संघात एक दूसरे के लिए होते हैं जिसका वे स्वार्थ साधन करते हैं, संघात रूप नहीं है और न वह किसी अन्य के स्वार्थ के लिए अस्तित्व रखता है।

इसके अतिरिक्त, चेतना देह का कार्य नहीं माना जा सकता। चेतना एक मादक द्रव्य जैसा, चार तत्वों का कार्य नहीं माना जा सकता क्योंकि चार तत्वों का मिश्रण हर कोई शक्ति नहीं पैदा कर सकता। कारण की शक्ति की भी मर्यादा होती है, वह एक सीमा में ही कार्य उत्पन्न कर सकता है, मादक गुण उत्पन्न करने के लिए परमाणु में तदनुरूप गुण उपस्थित है, मादकता की चैतन्य से तुलना नहीं की जा सकती, तथा इसका किसी अन्य भौतिक कार्य से साम्य भी नहीं है। ऐसा भी सोचा नहीं जा सकता कि कोई परमाणु ऐसे हो जिनमें चेतना उत्पन्न होती है। अगर चैतन्य कोई रासायनिक मिश्रण का कार्य होता, जैसाकि चूना और कत्थे के मिश्रण से लाल रंग, तो चैतन्य के अणु भी पैदा हो सकते हैं, इस प्रकार हमारी चेतना उन चेतन परमाणुओं का संघात होती जैसाकि रासायनिक मिश्रण में होता है। कत्थे और चूने के मिश्रण से उत्पन्न लाल रंग, उस पदार्थ में अस्तित्व रखता है जिसका प्रत्येक अणु लाल है। इस प्रकार अगर चेतना इस देह के द्रव्य का रासायनिक कार्य है, तो उसमें कुछ चेतना के अणु उत्पन्न होते और हमें प्रत्येक परमाणु में अनेक आत्माओं का अनुभव होता और चेतना और अनुभव की एकता का अनुभव नहीं होता। इस तरह यह मानना पड़ेगा कि चेतना आत्मतत्व में अस्तित्व रखती है और वह देह से भिन्न है।

चैतन्य इन्द्रियों में भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अगर वह प्रत्येक इन्द्रियों में है तो फिर जो एक इन्द्रिय (आंख) से प्रत्यक्ष होता है वह दूसरी इन्द्रिय (स्पर्श) से नहीं होगा, इस प्रकार ऐसा ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, जैसे 'मैं उसे स्पर्श करता हूँ जिसे पहले देखा था'। अगर समस्त इन्द्रियाँ मिलकर चेतना उत्पन्न करती है तो हम एक इन्द्रिय (जैसे आख) से किसी को नहीं जान सकते और न हमे चेतना ही होगी या किसी इन्द्रिय के नाश होने पर उस इन्द्रिय के अनुभव की स्मृति भी नहीं होगी, आदमी अंधा होने पर, चेतना हीन हो जाएगा और आंख से देखी हुई वस्तुओं को याद भी नहीं कर सकेगा।

मन को भी आत्मा नहीं कह सकते, क्योंकि मनस् के ही कारण ज्ञान एक साथ उत्पन्न न होकर क्रम से होता है। अगर यह माना जाय कि मनस् एक पृथक् साधन है जिसके द्वारा हम क्रम बद्ध ज्ञान प्राप्त करते है तो फिर हम आत्मा के अस्तित्व को ही मान लेते हैं, भेद इतना ही रहता है कि जिसे यामुन और उनके अनुयायी आत्मा कहते हैं उसे चार्वाक मनस् कहते हैं।

विज्ञानवादी बौद्ध यह मानते है कि ज्ञान स्वयं प्रकाश्य होता हुआ विषय को भी प्रकट करता है, इस ज्ञान को भी आत्म कहना चाहिए। इन बौद्धों के विरोध में यामुन का यह कहना है कि अगर ज्ञान का कोई नित्य स्थान नहीं माना जाता है तो,

व्यक्ति में एकत्व का अनुभव और प्रत्यभिज्ञा, क्षणिक स्व-प्रकाश्य ज्ञान से नही समझाई जा सकती है। अगर हर ज्ञान क्षण में आकर चला जाता है और वहाँ कोई व्यक्ति है ही नही केवल ज्ञान-क्षणो का प्रवाह ही है तो कोई वर्तमान काल के अनुभव का भूतकाल के अनुभव के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है? क्योंकि स्थायी तत्व कोई न होने से, ऐसा नही माना जा सकता कि कोई भी ज्ञान स्थायी होकर ठहरे जिसके आधार पर व्यक्ति की एकता का अनुभव और प्रत्यभिज्ञा समझाई जा सके। जब हर एक ज्ञान, दूसरे के आने से पहले अनुपस्थित हो, तब सादृश्य के आधार पर साम्य के भ्रम का भी अवसर नही रहता।

शकर सम्प्रदाय का सिद्धान्त कि एक नित्य निर्गुण शुद्ध चैतन्य ही है, इसे यामुन समस्त अनुभव के विरुद्ध मानते है। इस प्रकार, चेतना, किसी एक व्यक्ति की है ऐसा अनुभव में आता है, जो उत्पन्न होती है, कुछ समय तक रहती है और फिर लुप्त हो जाती है। गाढ निद्रा मे हम सभी को ज्ञान नही रहता और यह इस सस्कार से प्रभावित है कि जगने के बाद हम कहते है कि हम देर तक सोये और हमे कोई चेतना नही थी। अगर अन्तःकरण जिसे अद्वैतवादी, 'अहम्' का आधार मानते है, निद्रा मे डूब जाता है, तो हमे यह भान नही हो सकता कि हम देर तक सोये। किसी ने कभी शुद्ध ज्ञान का अनुभव नही किया है। ज्ञान वस्तुतः (ज्ञाता) 'किसी' का होता है। शकर-मतवादियो का कहना है कि ज्ञान का उत्पन्न होना अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय विषय का उसी समय तादात्म्य होना है। किन्तु ऐसा है नही, क्योंकि किसी विषय के ज्ञान की सच्चाई देश और काल मर्यादा से सम्बन्धित है, न कि विषय या ज्ञान के मुख्य गुण से। यह भी धारणा कि ज्ञान नित्य है, निर्मूल है, क्योंकि जब कभी ज्ञान उत्पन्न होता है तो वह देश और काल की मर्यादा मे ही होता है। किसी ने भी कभी प्रकार-रहित ज्ञान का अनुभव नही किया है। ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान इत्यादि द्वारा ही होता है, ऐसा ज्ञान हो ही नही सकता तो प्रकार-रहित हो या नितान्त गुण-रहित हो। शंकर मतवादी आत्मा को शुद्ध चैतन्यरूप या अनुभूतिरूप मानते है, किन्तु यह स्पष्ट है कि आत्मा अनुभूति का कारक है, ज्ञाता है, ज्ञान या चैतन्य नही है। पुनः बौद्धवाद की तरह शकर मत से भी, प्रत्यभिज्ञा का प्रश्न हल नही होता, क्योंकि व्यक्ति के एकत्व के अनुभव या प्रत्यभिज्ञा का अर्थ यही है कि ज्ञाता भूतकाल मे था और अब भी है, जैसाकि हम कहते हैं, 'मैने यह अनुभव किया,' किन्तु अगर आत्मा शुद्ध चैतन्य है तो कोई प्रत्यक्ष कर्ता (ज्ञाता) भूत और वर्तमान मे अस्तित्व रखता हुआ नही हो सकता और 'मैंने यह अनुभव किया था', इसे समझाया नही जा सकता, इसे भ्रम, मिथ्या कहकर ही हटाया जा सकता है। विषय का ज्ञान, 'मैं चेतना हूँ' ऐसे नही होता, किन्तु मुझे इसका ज्ञान है, इस प्रकार होता है। अगर प्रत्येक ज्ञान का प्रकार, शुद्ध ज्ञान पर मायिक अध्यास है, तो चेतना मे परिवर्तन

होना चाहिए या और मुझे चेतना है, ज्ञान है इसके बजाय ज्ञान का प्रकार 'मैं चेतना हू, ज्ञान हू" इस प्रकार होना चाहिए। शकर मतवादी यह भी मानते हैं कि ज्ञातृत्व (ज्ञातृभाव) शुद्ध चैतन्य पर भ्रम-जनित अध्यास है। अगर ऐसा ही है तो चैतन्य स्वयं अज्ञानजनित अध्यास माना जाएगा, क्योंकि वह अन्त तक अर्थात् मुक्ति तक रहता है तब जबकि शुद्ध या सच्चे ज्ञान (तत्व ज्ञान) का यह परिणाम है कि आत्मा ज्ञातृत्व-भाव खो देता है तो फिर तत्व ज्ञान के बजाय मिथ्या ज्ञान अपनाना चाहिए। 'मैं जानता हू" यह भान, आत्मा ज्ञातृत्व की सिद्धि है और ज्ञाता से पृथक् शुद्ध ज्ञान का अनुभव का नहीं हो सकता। 'अहम्' यह प्रत्यय ज्ञाता को देह, इन्द्रिय, मनस् और ज्ञान से विविक्त कर देता है ऐसे आत्मा को साक्षी भी कहा है क्योंकि सारे विषय इसके साक्षित्व में प्रत्यक्ष होते हैं।

साख्य मत के अनुसार अहंकार या बुद्धि को ज्ञाता माना है। क्योंकि ये सब प्रकृति के विकार हैं इसलिए जड है। ऐसा माना नही जा सकता कि चैतन्य का प्रकाश इस पर पड कर प्रतिबिम्बित होकर उसे ज्ञाता बना देता है क्योंकि प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष वस्तु से ही उत्पन्न होता है। कभी-कभी शंकर मतवादी ऐसा भी कहते हैं कि चैतन्य, नित्य और अपरिणामी है और अहकार इसी से प्रकाशित होता है और उसी सम्पर्क से इस ज्ञान को प्रकट करता है, जैसे दर्पण या पानी की सतह सूर्य का प्रति-बिम्ब दिखाती है; और जब अहकार इत्यादि के बन्धन गाढ निद्रा में टूट जाते हैं तब शुद्ध चैतन्य स्वाभाविक ही स्वय ज्योति और आनन्द रूप से प्रकाशित हो जाता है। यह भी समझ के बाहर है क्योंकि अगर अहकार इत्यादि शुद्ध चैतन्य से ही प्रकाशित होते हैं तो यही फिर शुद्ध चैतन्य को कैसे प्रकाशित कर सकते हैं? वास्तव में यह कल्पना भी नही की जा सकती कि वह किस प्रकार का प्रकाशन है जो अहकार द्वारा होता है क्योंकि यहां सर्व प्रकार की सादृश्य निरर्थक ठहरते हैं। साधारण दृष्टि में जब ढकने वाले आवरण दूर हो जाते है तब वस्तु प्रकट हो जाती है या जब दीप अधकार को नष्ट कर देता है या जब दर्पण विषय को प्रतिबिम्बित करता है किन्तु यहाँ इनमें से एक भी सादृश्य या उपमा ठीक नही बैठती जिससे यह समझ मे आ जाय कि किस प्रकार शुद्ध चैतन्य अहकार द्वारा प्रकट होता है, यदि चैतन्य प्रकट होने के लिए किसी की अपेक्षा है तो वह स्वय प्रकाश नही रहता, वह अन्य विषयो जैसा बन जाता है। ऐसा कहा जाता है कि ज्ञान शुद्ध चैतन्य में से अज्ञान के क्रमबद्ध निवारण से होता है। अज्ञान (न ज्ञान ज्ञान नही) का अर्थ ज्ञान की अनुपस्थिति या वह क्षण जब ज्ञान उत्पन्न होने जा रहा है किन्तु ऐसा अज्ञान चैतन्य (ज्ञान) का अवरोधक नही हो सकता। शकरमतवादी ऐसा मानते हैं कि अनिर्वचनीय भाव रूप अज्ञान से जगत् बना है। किन्तु यह सब बिलकुल अर्थ-शून्य है। जो किसी को प्रकाशित करता है वह प्रकाश्य अपना ही अश या अपना परिणाम नही बना सकता। अहकार किसी अन्य

चेतना को (जो उससे भिन्न है) इस रूप मे अभिव्यक्त नही कर सकता कि वह चेतना अपनी ही अभिव्यक्ति दीखे। इससे यह मानना पडता है कि आत्मा शुद्ध चैतन्य नही है किन्तु अहंकृत चैतन्य ही है जो हमारे अनुभव से प्रत्यक्ष है। अहकार की अन्य सीमाओ से असम्बद्ध सुषुप्ति का बहुधा दृष्टान्त शुद्ध चैतन्य के लिए दिया जाता है। किन्तु यह सम्भव नही है। इसके अतिरिक्त, जबकि उत्तरकाल के जाग्रत क्षण का अनुभव यह सिद्ध करता है कि मैंने कुछ नही जाना तो यह आग्रह किया जा सकता है कि गाढ निद्रा मे शुद्ध चैतन्य नहीं था। किन्तु अहकार का अस्तित्व इस तथ्य से पुष्ट होता है कि जाग्रत क्षण में जिस ज्ञान द्वारा अहकार अपने को आत्मा है ऐसा पहचानता है वही इसको भी पुष्ट करता है कि अहकार आत्मा के रूप से गाढ निद्रा मे भी था। आत्मा जो हम मे अहकार के रूप मे प्रकाशित रहती है, सुषुप्ति-काल मे भी बनी रहती है, परन्तु उसे इतना भान नही रहता। निद्रा में से जगकर हमे ऐसा अनुभव होता है कि मुझे कुछ भी ज्ञान न था, मैं अपने को भी नही जानता था। शंकरमतवादी इस अनुभव का प्रतिपादन करते है कि गाढ निद्रा मे अहकार का भी ज्ञान नही होता। किन्तु यह बिलकुल ठीक नहीं है क्योकि यह ज्ञान कि 'मै अपने को भी नही जानता था' इसका अर्थ यह है कि निद्रा मे समस्त व्यक्तिगत सहचार (जैसे कि अमुक कुटुम्ब का हूँ, इस स्थान पर हूँ इत्यादि) अनुपस्थित थे, न कि अहकार स्वय अनुपस्थित था। जब आत्मा को अपने स्वयं का ज्ञान होता है तब 'मै' का भान होता है जैसाकि मान 'मै अपने आपको जानता हूँ' मे है। गाढ निद्रा मे भी जब कोई भी विषय प्रकट नही होता तब भी आत्मा है जो अहकार रूप से—मै रूप से अपने को जानता है। अगर मुक्तावस्था मे आत्म-चैतन्य नही है अहकर या मै नही है तो यह नितान्त बौद्ध शून्यवाद जैसा होता है। मै का भान या अहकार, आत्मा के ऊपर आरोपित कोई बाह्य गुण नही है किन्तु वह आत्मा का स्वरूप है। जब हम कहते है कि 'मै इसे जानता हूँ' तो इसमे ज्ञान भी अहकार के गुण के रूप मे प्रकाशित होता है। 'मै' ही इस ज्ञान को धारण करता है। ज्ञान इस प्रकार 'मै' का गुण है। किन्तु हमारा कोई भी अनुभव यह नही सिद्ध करता कि 'मै' शुद्ध ज्ञान का गुण है। हम कहते हैं मुझे यह ज्ञान है ऐसा नही कि ज्ञान का मै हूँ। अगर 'मै' नही है, कोई अनुभव करने वाला नही है, मुक्तावस्था मे कोई अधिष्ठान अस्तित्व नही रखता जो मुक्ति पाने का प्रयत्न कौन करेगा ? अगर मुक्ति के बाद 'मै' भी नष्ट हो जाता है तो कौन इस अवांच्छनीय अवस्था के लिए सारे कष्ट उठायेगा और धार्मिक प्रतिबन्ध इत्यादि सहन करेगा ? अगर 'मैं' भी नष्ट हो जाता हूँ तो मुझे ऐसी शून्यावस्था की क्यों परवाह करनी चाहिए ? मुझे शुद्ध चैतन्य के क्या काम, जबकि मै ही नष्ट होता हूँ। यह कहना कि 'मै' 'तुम' 'या' 'यह' या 'वह' जैसा एक विषय है और यह 'मै' शुद्ध चैतन्य से प्रकाशित होता है तो यह समस्त अनुभवों के सर्वथा विपरीत है। मै स्वय प्रकाशित है इसे अन्य कारक की अपेक्षा नही है न

अभी और न मुक्तावस्था में ही ; क्योंकि आत्मा 'मैं' के ही रूप से प्रकट होता है और अगर मुक्तावस्था में आत्मा प्रकाशित होता है तो 'मैं' के ही रूप में होगा। वैदिक शास्त्र ग्रन्थों में भी हम यह पाते हैं मुक्त जन—वामदेव और मनु, अपने विषय में 'मैं' के रूप मे ही सोचते थे। ईश्वर भी अपने व्यक्तित्व के भान से रहित नही है जैसाकि उपनिषद् के पाठो से सिद्ध होता है जिसमे वह कहता है कि 'मैंने यह जगत् उत्पन्न किया है'। आत्मा 'मैं' का वह ज्ञान मिथ्या है जब उसका देह, जन्म या सामाजिक पद से अन्य किसी बाह्य सहचार से, तादात्म्य किया जाए या जब वह अभिमान या आत्म श्लाघिता को जन्म दे। इस प्रकार के अहंकार को शास्त्र मे मिथ्या कहा है। 'मैं' जब आत्मा का ही निर्देश करता है, तब वह सच्चा ज्ञान है।

सुख और दुःख के अनुभव भी 'मैं' या आत्मा के गुण के रूप मे प्रकट होते है। 'मैं' अपने आपको भी प्रकट करता है इसलिए उसे अजड मानना चाहिए। यह तर्क कि 'मैं' का भान ज्ञान का सहोपालम्भ होता है इसलिए ज्ञान ही का केवल अस्तित्व है और मैं उससे भिन्न नही है, इसका खण्डन इसी तर्क को देकर किया जा सकता है कि मैं का ही अस्तित्व है— ज्ञान का नही। हर कोई यही अनुभव करता है कि ज्ञान 'मैं' ज्ञाता, से भिन्न है जैसाकि ज्ञेय है। यह कहना कि आत्मा स्वरूपतः स्वय प्रकाश्य है ज्ञानात्मक है, यह दोनो भिन्न तथ्य है क्योंकि आत्मा ज्ञान से भिन्न है। ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा इन्द्रिय इत्यादि के सम्पर्क से उत्पन्न होता है, आत्मा, ज्ञाता है, मैं है जो विषय को जानता है इससे वह ज्ञानवान् है।

'मैं' ज्ञाता, आत्मा, असदिग्ध ही स्वचैतन्य द्वारा प्रकट होता है इसलिए जिन्होने आत्मा को अनुमान द्वारा सिद्ध करने की कोशिश की वे निष्फल हुए। इस प्रकार नैयायिक सोचते हैं कि आत्मा द्रव्य है जिसमे ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख इत्यादि समवाय सम्बन्ध से जुडे हैं। किन्तु ऐसे अनुमान से हम यह जान भी जाएँ कि कोई कुछ है जिसमें ये गुण समवाय सम्बन्ध से अस्तित्व रखते हैं किन्तु इससे यह अनुमान नही लगता कि वह पदार्थ हमारी आत्मा है। क्योंकि जब ऐसा कुछ हम नही पाते जिसमे ज्ञान इच्छा इत्यादि रह सके, तो यह भी दलील दी जा सकती है कि ज्ञान इत्यादि गुण नही है या कोई ऐसा नियम नही है कि गुणो का किसी पदार्थ मे रहना आवश्यक है। ये पारिभाषिक रूप मे गुण माने जाते है; नैयायिक इन्हे गुण मान ले, और इनसे अनुमान लगालें कि कोई एक अन्य पदार्थ होगा (जो अन्य प्रमाण से सिद्ध नहीं है) जो उपरोक्त गुणो का आधार है। किन्तु यह बिलकुल युक्ति युक्त नही है कि हम नए पदार्थ आत्मा को स्वीकार करले (जिसे हम अन्य प्रमाण द्वारा सिद्ध नही कर सकते), केवल इसी तर्क पर कि गुणो का कोई आधार होना चाहिए। विरोधियो का यह सिद्ध वाक्य है कि गुण किसी द्रव्य के आश्रित होने चाहिए और वे

ज्ञान इच्छा इत्यादि हैं, जिन्हें वे गुण कहने पर राजी हैं; किन्तु इस तर्क का वे दुराग्रह यह कहकर नही कर सकते, क्योकि और कोई द्रव्य नही मिलता जिसमें ज्ञान इच्छा इत्यादि तथाकथित गुण रह सकते हैं इसलिए किसी भिन्न द्रव्य का आत्मा के रूप में अनुमान से अस्तित्व मानना चाहिए ।

सांख्यकार भी वही गलती करते हैं, जबकि वे जड़ प्रकृति का सारा विकास पुरुष के हेतु ही होना चाहिए ऐसा मानते हैं, जिसके लिए प्रकृति कार्यरत रहती है । ऐसे मत के प्रति आक्षेप यह है कि प्रकृति जिसके लिए क्रियाशील है ऐसा तत्व अनुमानित भी किया जाय, तो भी इससे यह सिद्ध नही होता कि वे तत्व स्वय सघात रूप नही है और उनके अधीक्षण के लिए अन्य किसी की आवश्यकता नही है, या पुरुष चैतन्य स्वरूप है जैसाकि उन्हे होना चाहिए । इसके अतिरिक्त घटना या पदार्थों के सघात का हेतु वही हो सकता है जिसे ऐसे सघात से लाभ होता है या किसी प्रकारसे उनसे प्रभावित होता है । किन्तु पुरुष निष्क्रिय, शुद्ध चैतन्य रूप होने से प्रकृति द्वारा किसी भी प्रकार से प्रभावित नही हो सकते । तो फिर यह किस प्रकार माना जा सकता है कि प्रकृति उन्ही के उद्देश्य से कार्य करती है । यह मात्र भ्रम याभाभास है कि पुरुष प्रकृति से प्रभावित या लाभान्वित होता है, यथार्थ नही माना जा सकता, और न इससे प्रकृति के कार्यरत होने का प्रयोजन समझा जा सकता है । इसके अतिरिक्त ये तथाकथित भाव या भाव का भ्रम, स्वय प्रकृति के विकार है, पुरुष के नही हैं, क्योकि पुरुष चैतन्य रूप है और त्रिगुणातीत है । साख्यानुसार समस्त चित्तवृत्तियाँ, बुद्धि का परिणाम हैं जो जड़ होने के कारण मिथ्या और भ्रम का विषय बन ही नही सकती । इसके अलावा, बुद्धि मे पुरुष की प्रतिच्छाया दीखती है इस मान्यता का कही भी स्पष्टीकरण नही किया गया है । क्योंकि पुरुष दृश्य पदार्थ नही है इसलिए उसकी छाया बुद्धि में प्रतिबिम्बित हो नही सकती । अगर ऐसा कहा जा सकता है कि वास्तव में कोई प्रतिबिम्ब नही है किन्तु बुद्धि पुरुष की तरह चैतन्यमय केवल दीखती ही है, यह भी शक्य नही है, क्योंकि अगर बुद्धि पुरुष जैसी गुणातीत हो जाती है तो समस्त चित्त-वृत्तियो का भी उच्छेद हो जाता है । अगर ऐसा कहा जाता है कि बुद्धि शुद्ध चैतन्य जैसी नही बन जाती, किन्तु वह पुरुष जितनी ज्ञानमय है, तो भी यह अशक्य है, क्योकि पुरुष सांख्यानुसार शुद्ध चैतन्य है ज्ञानमय नहीं है । सच पूछो तो सांख्य-दर्शन में कोई ज्ञाता नही है यही एक समस्या है । अगर ऐसा कहा जाता है कि पुरुष गुणो के विकास का हेतु है इसका अर्थ यही है कि पुरुष स्वयं अपरिणामी और त्रिगुणातीत होते हुए भी, अपने सानिध्य मात्र से गुणो में हलचल कर देता है और वह इस प्रकार गुणो के विकास परिणाम का हेतु है, जिस प्रकार एक राजा के लिए उसका सारा राज्य कार्य करता है और लड़ाई लड़ता है । किन्तु पुरुष इनसे प्रभावित न होता हुआ केवल द्रष्टा ही है, इसलिए यह भी शक्य नहीं है; क्योकि यह

उपमा संगतिहीन है। राजा अपने राज्य के लोगों से लाभान्वित होता है, किन्तु पुरुष, क्योंकि केवल देखना मात्र उपलक्षित करता है इसलिए द्रष्टा नही माना जा सकता।

आत्मा का स्वरूप जैसाकि हमने वर्णन किया है उपनिषदों द्वारा भी पुष्ट होता है। आत्मा प्रत्यय रूप से 'मैं' के रूप में स्पष्ट प्रकट होता है। सुख-दुःख, राग द्वेष, ये इसकी अवस्थाएँ है, जो आत्मा के 'मैं' के रूप मे प्रकट होने के साथ ही प्रकट हो जाती हैं। कुमारिल की मान्यतानुसार आत्मा किसी इन्द्रिय या मनस् से भी गोचर नही है क्योंकि प्रश्न यह उठता है कि अगर आत्मा मनसा गोचर है तो वह कब होता है? यह ठीक उसी समय गोचर नही हो सकता जब विषय-ज्ञान उत्पन्न होता है, क्योंकि आत्मा और विषयों का ज्ञान एक ही क्षण उत्पन्न होने के कारण यह सम्भव नही कि उनमें से (आत्मा) ज्ञाता या निर्णेता बना रहे और अन्य ज्ञेय या (विषय) निर्णीत लेगे। अगर विषय-ज्ञान और आत्मा का ज्ञान दो पृथक् क्षण में दो कार्य के रूप में उत्पन्न होते हैं तो यह कठिनाई आती है कि वे ज्ञाता-ज्ञेय भाव से कैसे सम्बन्धित हो सकता है? इसलिए यह नही माना जा सकता है कि आत्मा चैतन्यावस्था मे अपने आपको हमेशा प्रकट करता है तो भी इन्द्रियाँ या मनस् द्वारा गोचर होता है। पुनः कुमारिल यह मानते है कि ज्ञान एक नयी वस्तु या कार्य है, और जब इन्द्रियों के व्यापार से हममे ज्ञान क्रिया उत्पन्न होती है तब विषय में भी आत्मा के सम्पर्क से ज्ञानता या प्रकाश्यता उत्पन्न होती है और इस प्रकाश्यता से ज्ञान क्रिया अनुमानित की जा सकती है और आत्मा ज्ञानवान् होने से, मनस् द्वारा गोचर है। किन्तु यह मत कि आत्मा स्वयं चैतन्य नही है, अन्य बाह्य ज्ञान अपेक्षित है यह नहीं स्वीकार किया जा सकता। क्योंकि किसी को भी इस भेद की कल्पना तक नहीं है कि आत्मा (स्वय का ज्ञान) अब किसी अन्य से प्रकाशित हो रहा है जो पहले नही था। तदुपरान्त, ज्ञान-क्रिया, आत्मा को तत्क्षण प्रकाशित नही करती तो यह भी शका हो सकती है कि आत्मा ने विषय को जाना या नही और जैसाकि सामान्य अनुभव है प्रत्येक ज्ञान के अनुभव मे आत्मा स्पष्ट प्रकट नही होता।

पुनः कुछ ऐसा मानते हैं कि आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष नही होता, वह तो विषय के ज्ञान के ज्ञाता से होता है। यह सरल ही है कि हम इस सच्चाई को स्वीकार नहीं कर सकते, यह सरलता से समझ में आ सकता है। क्योंकि विषयगत चैतन्य या ज्ञान तो विषय को निर्देश करता है, वह आत्मा का ज्ञान कैसे उत्पन्न कर सकता है? इस मतानुसार ज्ञान का अस्तित्व भी सिद्ध करना कठिन है, क्योंकि ज्ञान स्वयं प्रकाश न होने से, प्रकट होने के लिए अन्य की अपेक्षा रखता है, अगर ऐसा माना जाता है कि, यद्यपि ज्ञान स्वयं प्रकाश्य है, तो भी वह उसी व्यक्ति के सम्बन्ध से प्रकट होता है जिसमें वह समवाय-सम्बन्ध से स्थित है, हर एक व्यक्ति को नही। अगर वास्तव में

ऐसा ही है, तो मतलब यह निकला, कि ज्ञान उसी एक व्यक्ति के सम्बन्ध द्वारा प्रकट होता है, जो जानता है। अगर इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि ज्ञान अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य व्यक्ति से सम्बन्ध की अपेक्षा नही रखता, किन्तु केवल विषय और ज्ञाता के विशेष ज्ञान को प्रकट करने के लिए ही यह सम्बन्ध है, तो हमारा कहना है कि इसे सिद्ध नही किया जा सकता। हम इसे तभी स्वीकार कर सकते हैं, जबकि हमारे सामने कोई दृष्टात हो जिसमे शुद्ध चैतन्य या ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय-विषयक सम्बन्ध से पृथक् अनुभव में आया हो। अगर इतने पर भी तर्क किया जाता है कि चैतन्य उसकी स्वय प्रकाश्यता से पृथक् नही किया जा सकता, तो हमे यह भी बताना पडेगा कि चैतन्य या ज्ञान, व्यक्ति, ज्ञाता, अधिष्ठान (उद्देश्य) से पृथक् कभी भी नही पाया जाता या ज्ञाता, या जो ज्ञानवान् है उससे पृथक्, ज्ञान नही पाया जाता। अनेक चेतनावस्थाओ में स्वय प्रकाश्यता मानने के बजाय, क्या यही नही ठीक होगा कि हम यह माने कि ज्ञान की स्वय प्रकाश्यता, स्वय चेतन कर्ता और चेतन अनुभूति के निर्धारक विषय से उत्पन्न होती है? अगर चेतनावस्थाओ को स्वय प्रकाश्य माना भी जाय तो भी इससे यह समझ मे नही आता कि किस प्रकार उसी वजह से आत्मा भी स्वय प्रकाश्य है। अगर आत्मा अनुभवो के ज्ञाता को, स्वय प्रकाश मान लिया जाय तो ज्ञान के अनुभवो की प्रकाश्यता सरलता से समझाई जा सकती है, क्योकि आत्मा सारे अनुभवो का दृष्टा है। प्रकट होने के लिए सारे पदार्थ या विषय को अपने से दूसरे पदार्थ या अधिकरण की आवश्यकता रहती है जो अपने वर्ग से भिन्न हैं, किन्तु आत्मा को चैतन्य के लिए दूसरा कोई आश्रय नही है, इसलिए यह मानना पडता है कि आत्मा स्वय प्रकाश्य, ज्ञानवान् तत्त्व है, घडे को प्रकट होने के लिए किसी दूसरे घड़े की आवश्यकता नही होती, केवल प्रकाश की आवश्यकता है जो दूसरे वर्ग के पदार्थ मे है। प्रकाश को भी प्रकट होने के लिए किसी दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नही रहती या घडे की जिसे वह प्रकट करता है, उसे केवल इन्द्रियो की अपेक्षा है और इन्द्रियाँ अपनी शक्ति प्रकट करने के लिए चैतन्य पर आश्रित हैं। चैतन्य अपने लिए आत्मा पर आधारित है, ज्ञान, आत्मा में आश्रय लिए बिना प्रकट नही हो सकता। किन्तु आत्मा को आश्रय के लिए दूसरा कुछ भी नही है, इसलिए उसकी स्वय प्रकाशता किसी की अपेक्षिता नही है।

चैतन्य की अवस्थाएँ, इस प्रकार, आत्मा की अवस्थाएं माननी पडेगी, जो भिन्न विषयो के सयोग से उन्हे यह ज्ञान या वह ज्ञान के रूप में प्रकट करती हैं। यह या वह पदार्थ का ज्ञान केवल आत्मा की भिन्न अवस्थाएँ हैं और वह स्वयं आत्मा का विशेष लक्षण है।

अगर चैतन्य आत्मा का विशेष लक्षण या अभिन्न गुण न होता तो कोई ऐसा समय हो सकता था, जब आत्मा का चैतन्य-रहित अवस्था में अनुभव हो सकता था।

एक वस्तु दूसरी से इस प्रकार सम्बन्धित हो कि वह उसके बिना रह नहीं सकती तो वह उसका आवश्यक और अभिन्न लक्षण ही तो हो सकता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यह सामान्यीकरण ठीक नहीं है, क्योंकि हम देह के संयोग में होते हुए स्वचैतन्यवान् हैं, जो आत्मा का अनिवार्य गुण नहीं है, क्योंकि आत्मा का मैं रूप में या 'मैं जानता हूँ' के रूप में ज्ञान, देह को लक्ष्य करके या उसके स्वय से आवश्यक रूप में सम्बन्धित नहीं है। पुनः यह भी नहीं कहा जा सकता कि चैतन्य, अगर आत्मा का अभिन्न और आवश्यक गुण है तो गाढ निद्रा तथा मूर्च्छा की अवस्था समझाई नहीं जा सकती, क्योंकि ऐसा सिद्ध करने का कोई प्रमाण नहीं है कि तथा-कथित अचेतावस्था मे आत्मा को ज्ञान नहीं है। जगने पर हमे ऐसा अनुभव होता है कि हमे उस समय कोई ज्ञान नहीं था क्योंकि हमे वहाँ उसकी स्मृति नहीं रहती। जाग्रतावस्था में अचेतावस्था का भान होने का कारण यह है कि हमे उन अवस्थाओं की स्मृति नहीं है। स्मृति तब ही शक्य है जबकि विषय का आवगाहन होता है और ज्ञान के विषय के संस्कार हमारे चित्त में रह जाते हैं, जिससे उनके द्वारा हम स्मृति के विषय को याद कर सके। निद्रा मे कोई विषय प्रत्यक्ष नहीं होता और न संस्कार ही रहते है और परिणाम में हमें उनकी स्मृति भी नहीं रहती। आत्मा तब अपने आत्म-चैतन्य की स्वलक्षणता मे रहता है किन्तु तब ज्ञान किसी का नहीं होता। स्वचैतन्य आत्मा कोई संस्कार, मानसिक कारणो पर संस्कार नहीं छोड जाता, जैसे मनस् इत्यादि, क्योंकि उस समय वे निष्क्रिय होते हैं। आत्मा पर कोई भी संस्कार नहीं किया जा सकता यह सरलता से समझ मे आता है क्योंकि अगर ऐसा होता और आत्मा पर संस्कारो का समूह बढ़ता रहता तो आत्मा उन्हे हटाकर कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। तदुपरान्त, स्मृति की यह विलक्षणता है कि जब कुछ एक बार प्रत्यक्ष हो गया है, किन्तु जिसका सतत अनुभव नहीं हो रहा है, उसे वर्तमान में याद किया जा सकता है जब साहचर्य द्वारा भूतकाल के वे संस्कार जागृत हो जाते हैं। किन्तु स्वचैतन्य आत्मा हमेशा एक-सा ही रहता है इसलिए उसकी कोई भी स्मृति नहीं हो सकती। गाढ निद्रा से जगने पर हमे ऐसा अनुभव होता है कि हम सुख से सोये, यह तथ्य, इस बात को सिद्ध नहीं करता कि गाढ निद्रा में हमें वास्तव मे सुख की स्मृति थी, वह तो शरीर का सुखमय अनुभव है जो गहरी नींद से होता है, जिसका यह अर्थ लगा लिया जाता है या ऐसा कहा जाता है कि हमे गाढ़ निद्रा में सुख का अनुभव हुआ। हम कहते है, 'मैं वही हूँ जो कल भी था' किन्तु यहाँ आत्मा की स्मृति नहीं होती किन्तु यहाँ स्मृति का विषय विशेष समय का साहचर्य ही है।

विषय का प्रत्यक्ष हमें तब होता है जब चैतन्य किसी इन्द्रिय के सम्बन्ध से किसी पदार्थ से संयोग में आता है। इसी कारण यद्यपि आत्मा स्वचैतन्ययुक्त है, तो भी, जब आत्मा का चैतन्य इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा किसी बाह्य पदार्थ से होता है तब

हमें विशेष प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। आत्मा सर्वव्यापी नहीं है, अणु रूप है जब वह किसी इन्द्रिय के संयोग में आता है तब हमे उस इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यह इस तथ्य को समझाता है कि दो प्रत्यक्ष का ज्ञान एक साथ नही हो सकता, क्रम बद्ध ही ज्ञान होता है लेकिन इतना द्रुत होता है कि परिवर्तन देखने मे नहीं आता। अगर आत्मा सर्वव्यापी होता तो हमे सभी पदार्थों का ज्ञान एक साथ ही होता क्योंकि आत्मा का सबों से सम्बन्ध था। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान आत्मा का विलक्षण गुण है, ज्ञान या चेतना उसमे उत्पन्न नही होती, किन्तु जब अवरोधक हटा दिए जाते हैं और आत्मा विषय के सम्पर्क मे आता है तो उनका ज्ञान प्रकट हो जाता है।

ईश्वर और जगत्

जैसाकि हमने अभी देखा है मीमासक ईश्वर का अस्तित्व नही मानते। उनके अनीश्वरवादी तर्क जिन्हे हमने उल्लिखित नही किया है उन्हे अब यामुन के ईश्वरवाद के विरोध में दे सकते है। वे कहते हैं सर्वज्ञ ईश्वर नही माना जा सकता, क्योंकि ऐसी धारणा सिद्ध नही की जा सकती, और ऐसी धारणा के विरोध मे अनेक तर्क भी हैं। ऐसे सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे हो? निश्चय ही यह साधारण प्रत्यक्ष के साधनो द्वारा नही प्राप्त हो सकता, क्योंकि साधारण प्रत्यक्ष सभी वस्तुओं के भूत और वर्तमान का एक ज्ञान नही दे सकता जो इन्द्रियों की मर्यादा के पहले और परे हैं। योगियो को ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ऐसा सामान्यत: माना जाता है, उसे भी माना नही जा सकता। योगी इन्द्रियो द्वारा भूतकाल की वस्तुओं को और इन्द्रियो की मर्यादा के परे की वस्तुओ को भी जाने, यह अशक्य है। अगर अन्त-करण ऐसा है कि वह इन्द्रियो की समस्त वस्तुओ को बिना इन्द्रियो द्वारा जान सकता है तो फिर इन्द्रियो की आवश्यकता ही क्या है? वह अलबत्ता ठीक है कि तीव्र ध्यान द्वारा हम पदार्थ को स्पष्ट और असदिग्ध रूप से देख सकते हैं, किन्तु कितने भी गहन ध्यान द्वारा हम आख से सुन नही सकते और बिना इन्द्रिय ज्ञान प्राप्त नही कर सकते। सर्वज्ञता, इसलिए शक्य नही है और हमने अपनी इन्द्रियो द्वारा कोई ऐसे सर्वज्ञ व्यक्ति को, ईश्वर को, नही देखा है। ईश्वर का अस्तित्व अनुमान द्वारा भी सिद्ध नही किया जा सकता, क्योंकि वह दृश्य पदार्थों से परे हैं। तथा हम किसी हेतु को भी नही देख सकते जो उसके साथ सम्बन्ध रखता है और जिसकी वजह से उसे ईश्वर के अनुमान का विषय बना सके। नैयायिक ऐसा तर्क करते हैं कि यह अणु के संघात से बना हुआ जगत्, कार्य होना चाहिए, और फिर तर्क करते है कि अन्य कार्य की तरह, जगत् भी ज्ञानवान् पुरुष के निरीक्षण में बना होगा, जिसे जगत् के द्रव्य का साक्षात् अनुभव है। किन्तु यह आवश्यक नही है, क्योंकि ऐसा सोचा जा

सकता है कि परमाणु इत्यादि का इस वर्तमान रूप में सयोग, जगत् के सारे मनुष्यो के अदृष्ट कर्म द्वारा हुआ है। पाप और पुण्य हम सब में होते हैं और वे जगत् की गति को ढालते हैं यद्यपि हम इसे देख नही सकते। इस प्रकार जगत् को मनुष्य कर्मों का परिणाम कहा जा सकता है, ईश्वर का नहीं, जिसे किसी ने कभी भी देखा नहीं है। तदुपरान्त, ईश्वर, जिसे कोई इच्छा पूर्ति करने को नही है वह जगत् को क्यों उत्पन्न करे? यह जगत्, पहाड़, नदी और महासागर के साथ, किसी एक से उत्पन्न हुआ कार्य नही माना जा सकता।

यामुन न्याय की पद्धति स्वीकारते हैं और जगत् कार्य है इसे सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं और इसलिए यह मानते हैं जगत् ज्ञानवान् पुरुष द्वारा उत्पन्न किया होना चाहिए जिसे द्रव्य का साक्षात् ज्ञान है। उसे मनुष्यो के धर्म और अधर्मो का साक्षात् ज्ञान है जिसके अनुसार वह सारे जगत् का निर्माण करता है और यह नियंत्रण करता है कि जिससे प्रत्येक वही अनुभव करे जिसके वह योग्य है। वह, केवल अपने सकल्प द्वारा जगत् को गति देता है। उसके शरीर नही है किन्तु तब भी वह अपने मनस् द्वारा सकल्प-व्यापार करता है। उसे असीम ज्ञान और शक्तिमान् पुरुष मानना ही पड़ेगा, नही तो वह किस प्रकार इस जगत् का निर्माण और उसका नियन्त्रण कर सकता है?

शकर मतवादियो ने ऐसा माना है कि जब उपनिषद् कहते हैं कि ब्रह्म के सिवाय और कुछ अस्तित्व नही रखता तो इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म का ही केवल अस्तित्व है और जगत् मिथ्या है, किन्तु यह कहने में कोई सार नही है। इसका केवल यही अर्थ है कि ईश्वर के सिवाय अन्य दूसरा ईश्वर नही है और उसके जैसा दूसरा और कोई नही है। जब उपनिषद् यह कहते है कि जो कुछ देखते है वह ब्रह्म ही है और वह जगत् का उपादान कारण है, इससे यह अर्थ नही निकलता कि और किसी का अस्तित्व है ही नही और निर्गुण ब्रह्म ही एक सत्ता है। अगर हम यह कहे कि सूर्य एक ही है तो इसका अर्थ यह नही है कि उसमे रश्मियाँ नही है। अगर हम कहे कि सात समुद्र हैं, इसका अर्थ यह नही है कि समुद्र मे लहरे इत्यादि नही हैं। ऐसे पाठो का केवल अर्थ यह हो सकता है कि जगत् की उत्पत्ति उसमें से—ब्रह्म से उसी तरह है जैसे अग्नि से स्फुल्लिग और अन्त मे जगत् उसी मे अन्तिम स्थान और आधार पाता है। जगत् की समस्त वस्तुओं—वायु, अग्नि, पृथ्वी ने उसमे अपनी शक्तियाँ प्राप्त की है और उसके बिना वे कुछ भी करने मे अशक्य रहते हैं। अगर इसके विपरीत, यह माना जा सकता है कि सारा जगत् मिथ्या है तो हमे अपने सारे अनुभवों की बलि दे देनी पडती है और ब्रह्म का अनुभव भी इसी अनुभव के अन्तर्गत आ जाता है इसलिए वह भी खत्म हो जाता है। वेदान्त का तर्क जोकि भेद के ज्ञान को मिथ्या सिद्ध करने को दिया जाता है वह हमारे किसी उपयोग का नहीं

है क्योंकि अनुभव बताता है हम सम्बन्ध एव भेद देखते है। हम नीले रग को देखते हैं कमल को भी देखते हैं और यह भी कि कमल का रग नीला है, इसलिए जीव और जगत् उपनिषद् के उपदेश के आधार पर ब्रह्म से अभिन्न रूप से सम्बन्धित है यह समझा जा सकता है। यह अर्थ उस अर्थ से अधिक न्याय-सगत है जो सारे जगत् को और जीवो को निषेध करता है और जो इन सबके चैतन्य और ब्रह्मगत चैतन्य का तादात्म्य मानकर ही सतुष्ट होता है। शुद्ध सर्वगत और निर्गुण ज्ञान जैसा कुछ नही है जैसाकि शकर मतवादी कहते हैं, क्योंकि हर एक को भिन्न और पृथक् प्रत्यय का साक्षात् ज्ञान होता है जैसेकि व्यक्तिगत सुख और दुःख का। अगर एक ही चैतन्य होता तो सब कुछ सब समय के लिए एक साथ प्रकट होता। पुनः ऐसा भी कहा है कि यह चैतन्य, सत्‌चित् आनन्द है। अगर इस त्रिविध रूप को माना जाय तो वह एकतत्ववाद का उच्छेद करता है जिसका शकरमतवादी बड़े उत्साह से रक्षण करते है। अगर वे ऐसा भी कहे कि ये तीन, ब्रह्म के रूप या गुण नही हैं, किन्तु ये तीनो एक ही तत्व को लक्ष्य करते हैं जो ब्रह्म है, यह भी शक्य नही है। क्योंकि आनन्द और ज्ञान दोनो एक कैसे हो सकते हैं ? हम सुख और ज्ञान का भिन्न-भिन्न अनुभव करते हैं। इस प्रकार हम शकर मत का जिस किसी भी प्रकार मे परीक्षण करते है तो हमे पता चलता है कि वह अनुभव-विरुद्ध है और तर्क-संगत युक्ति के भार को सहन नही कर सकता। इसलिए यह मानना ही पड़ेगा कि हमारा जगत् के विषय मे विचार ठीक है और वह बाह्य जगत् का सच्चाई से प्रतिनिधित्व करता है। नानाविध यह जगत् इसलिए मिथ्या नही है, किन्तु सत्य है जैसाकि हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान सिद्ध करता है।

इस प्रकार यामुन के दर्शन का अन्तिम निष्कर्ष यह निकलता है कि एक तरफ स्वचैतन्य जीव है और दूसरी तरफ सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् ईश्वर और नानाविध जगत् है। ये तीन तत्व सत्य है। कहीं-कही वे ऐसा सूचन करते है कि जगत् ईश्वर से उद्‌भूत स्फुल्लिग वत् है ऐसा माना जा सकता है किन्तु इस विचार का वे विस्तार नही करते और यह विचार अन्य पाठो से विरोध पैदा करता है जिसमे वे ईश्वर को न्याय दर्शन की तरह जगत् का निर्माता सिद्ध करते है। जिस प्रकार से वे जगत् और ईश्वर के सम्बन्ध को 'सिद्धित्रय' और 'आगम प्रामाण्य' मे न्याय दृष्टि से समर्थन करते हैं इससे यह निश्चित होता है उनका दृष्टिकोण न्याय से भिन्न नही है जिसमे ईश्वर और जगत् के द्वैत का निरसन नही किया गया है। इसलिए ऐसा लगता है कि (जैसाकि हम सिद्धित्रय से निश्चय कर सकते है) कि यामुन का मुख्य योगदान जीवो का स्वचैतन्य स्वरूप है। ईश्वर और जगत् का अस्तित्व अन्य दर्शनो ने भी माना है। यामुन इस प्राकर ईश्वर और जीव तथा जगत् के सम्बन्ध मे कोई भी नया विचार नही देते। वे जगत् की सत्ता के बारे मे कोई अन्वेषण नही करते, केवल जगत् मिथ्या नही है इसे साबित करने से ही सन्तोष मान लेते है,

जैसाकि शंकर मतवादियों ने माना था। वे एक स्थान पर कहते हैं कि वे नैयायिको के अखड परमाणु को नहीं मानते। मूल तत्व का सबसे छोटा अणु त्र्यसरेणु है जो हवा में उड़ता धूल का करण है जबकि सूर्य की किरणें एक छेद से आती हैं। वे इससे अधिक जगत् की अन्तिम सत्ता के बारे में कुछ भी नही कहते या इस बारे में भी नही कहते कि जगत् क्या है तथा वह किस प्रकार हुआ ? वे मुक्ति के साधन और मुक्तावस्था के विषय में भी मूक रहते हैं।

रामानुज, वेंकटनाथ और लोकाचार्य के अनुसार ईश्वर का स्वरूप

भास्कर ने कहा था कि यद्यपि ईश्वर सर्वश्रेष्ठ गुण-सम्पन्न है और अपने आप मे समस्त मल-रहित है, तो भी वह अपनी शक्ति से जगत् के रूप में परिणत होता है और उसकी सारी स्थितियाँ एव मर्यादाएँ, सारे भूतल तत्व और घटनाएँ उसी की शक्तियाँ है, वह अपनी शक्ति से सामान्य जीव के रूप मे प्रकट होता है और मुक्ति भी प्राप्त करता है। रामानुज ऐसा मानते है कि उनके मतानुसार ब्रह्म का ऐसा कोई स्वरूप नही है जो किसी भी बन्धन की मर्यादा के परे है, वह मर्यादा, शक्ति इस जगत् के रूप मे प्रकट होती है। ब्रह्मन् अपनी शक्ति से जो जगत् के रूप मे स्थित है, हमेशा सम्बन्धित रहने के कारण जगत् की सभी कमियो का आवश्यक रूप में विषय बनता है। इसके अतिरिक्त जब शक्ति ब्रह्म-शक्ति को मान लिया जाता है तो फिर ब्रह्म का परिणाम कैसे हो सकता है। अगर शक्ति को ही परिणाम मान लिया जाय, तब भी यह नही स्वीकारा जा सकता कि ब्रह्म को अपनी शक्ति से जगत् रूप में परिणत होने के लिए अपनी शक्ति से सम्पर्क करना ही चाहिए।

एक दूसरे वेदान्तिन् (सम्भवतः यादव प्रकाश, जो प्रारम्भ में रामानुज के गुरु रहे) मानते थे कि ब्रह्मन्, अपने स्वरूप से जगत् रूप से परिणत हुए। यह तर्क भी आपत्तिपूर्ण है कि ब्रह्म का जगत् रूप से परिणाम होने पर, जगत् की समस्त कमियों और त्रुटियो से युक्त हो जाता है। अगर ऐसा माना जाता है कि ईश्वर अपने एक अश मे सर्वातिशायी है और अनेक श्रेष्ठ गुणो से युक्त है और दूसरे अश में जगत् के परिणाम की त्रुटियो से युक्त है, तो जो एक अश में इतना अशुचि है कि उसकी यह मल पूर्णता, उसके दूसरे निर्मल अश से इतनी प्रति सतुलित कैसे हो सकती है जिससे वह तब भी ईश्वर कहा जा सके ?

रामानुज, इसलिए, मानते हैं कि सारे परिवर्तन एव परिणाम ईश्वर के देह में ही होते हैं उसके स्वरूप में नही। इसलिए ईश्वर, अपने स्वरूप से सर्वदा मल से रहित है और श्रेष्ठ गुण-युक्त है जिससे जगत् का क्षोभ जो उसके शरीर से सम्बन्धित है, लेश मात्र भी नही स्पर्श करता। बाह्य जगत् की उपादानभूत वह वस्तु सांख्य का

गुण-द्रव्य नहीं है, किन्तु वह केवल प्रकृति अति प्राचीन कारण तत्व है, जिसमें अनेक गुण हैं जिनका वर्गीकरण सत्व, रजस् और तमस् के रूप में किया जा सकता है। यह प्रकृति अपने सूक्ष्म रूप में, ईश्वर का शरीर है और ईश्वर द्वारा समस्त परिणामों की ओर गतिशील होती है। जब वह प्रकृति को परिणामो से रोकता है और उसकी गति का निरास करता है, तब प्रलय होता है, तब भगवान् प्रकृति को उसकी सूक्ष्मावस्था में, देह रूप से धारण करता हुआ कारणावस्था में रहता है। प्रकृति, ईश्वर का देह और प्रकार भी है। जब वह व्यक्तावस्था मे होती है तब सृष्टि रचना होती है। प्रकृति तन्मात्र, अहकार इत्यादि के रूप में परिणत होती है, तो भी ये भगवान् के देह के सूक्ष्म तत्व हैं, तन्मात्र इत्यादि को उत्पन्न करने में जिन परिणामों में से प्रकृति गुजरती हैं, वे गुणों के मिश्रण से नहीं होता, जैसाकि साख्य मे माना गया है, किन्तु वह प्रकृति का उन अवस्था में से गुजर जाना है। प्रत्येक अवस्था में प्रकृति का विशेष गुण रहता है जिसमें से वह आगे बढती है। गुण का अर्थ यहाँ सामान्य अर्थ मे समझा जाने वाला गुण का बोधक है और ऐसा माना गया है कि ईश्वर द्वारा गतिशील होती हुई, प्रकृति नवीन गुण धारण करती है। जगत् की वर्तमान अवस्था भी प्रकृति की एक विशेष अवस्था बताती है जिसमे उसने यह लक्षण प्राप्त किए हैं जो हम अपने जगत् में देखते हैं।

हमने पहले देखा है कि यामुन ईश्वर को न्याय दर्शन की तरह अनुमित करते हैं। किन्तु रामानुज कहते हैं कि जितना इसके पक्ष मे कहा जा सकता है उतना ही विपक्ष मे भी कहा जा सकता है। इस प्रकार वे कहते हैं कि, अगर यह मान भी लिया जाए कि पर्वत इत्यादि कार्य हैं तो भी यह नही कहा जा सकता कि वे किसी एक व्यक्ति ने बनाए है, क्योकि सारे घडे उसी एक मनुष्य ने नही बनाए हैं। ईश्वर का भी निषेध सांख्य मतानुसार किया जा सकता है, और यह माना जा सकता है कि कर्मानुसार, गुणो के सयोग से यह जगत् उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष और विपक्ष दोनो में कहा जा सकता है। रामानुज यह मानते हैं कि ईश्वर अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसे शास्त्रों के आधार पर ही मानना पड़ेगा।[1] न्याय और योग ने, तदुपरान्त, ईश्वर को केवल निमित कारण ही माना है, किन्तु रामानुज की दृष्टि में ईश्वर सर्व देश और काल मे सर्व व्यापक है। ईश्वर के सर्व व्यापकत्व का यह अर्थ नहीं है कि उसकी सत्ता ही केवल सर्वत्र एक ही सत्ता है, या वह जगत् की सत्ता से एक रस है, अभिन्न है और अन्य सब कुछ मिथ्या है। इसका अर्थ जैसाकि सुदर्शनाचार्य ने रामानुज भाष्य सूत्र २ पर (अपनी श्रुत प्रकाशिका में टीका में कहा है) कि वह किसी भी प्रकार की देश की मर्यादा से बंधा

[1] देखो, रामानुज भाष्य, सू० ३।

नहीं है। वरद और नारायण और वेंकटनाथ भी, सर्व व्यापकता का अर्थ ईश्वर के श्रेष्ठ गुणों में मर्यादा या प्रतिबन्ध का अभाव है ऐसा मानने में एक मत हैं (इयद् गुणक इति परिच्छेद-रहितः)।[1] ईश्वर के देह के सिवाय अन्य कुछ नहीं है, इसलिए देह-दृष्टि से भी वह जगत् में सर्व-व्यापक माना जा सकता है। इस प्रकार ईश्वर केवल निमित्त कारण ही नहीं है किन्तु उपादान कारण भी है। वेंकट कुछ विस्तार से यह सिद्ध करते हैं कि सर्वोत्तम ईश्वर नारायण और उसकी शक्ति लक्ष्मी है जो जड़ और जीव की अधिष्ठात्री है। ईश्वर का अपना मनस् है और उसकी नित्य इन्द्रियों को प्रकट होने के लिए किसी देह या अंग की आवश्यकता नहीं होती। वेंकट भगवान् वासुदेव की अभिव्यक्ति के तीन प्रकार का वर्णन करते हैं : संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक इस पंचरात्र के व्यूह सिद्धान्त का लोकाचार्य के तत्वत्रय पर वरवर भाष्य में संक्षिप्त विवरण मिलता है। संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये तीन, वासुदेव के तीन भिन्न रूप कहे गए हैं। जिनके द्वारा वे जीव, मनस् और बाह्य जगत् का नियन्त्रण करते हैं। जिस क्रिया के प्रकार से जीव, सृष्टि-उत्पत्ति के आरम्भ में प्रकृति से पृथक् किए जाते है, वह ईश्वर के संकर्षण रूप से सम्बन्ध रखता है, जब यह पृथक्करण की पूर्ण क्रिया मनुष्य पर मन रूप से विकास एवं शासन करती है और उन्हें अन्त में श्रेय और पुण्य मार्ग पर ले जाती है तब वह ईश्वर के प्रद्युम्न रूप से सम्बन्ध रखती है। अनिरुद्ध भाव-प्रधान वह रूप है जिससे बाह्य जगत् उत्पन्न होता है और नियन्त्रण में रखा जाता है और जिसमें हमारे सद् ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न सम्पर्क पूरे उतरते हैं। ये रूप भिन्न-भिन्न ईश्वर नहीं हैं, किन्तु भगवान् के भिन्न व्यापार है या कार्य की दृष्टि से भगवान् को ऐसी कल्पना की गई है। ईश्वर का सम्पूर्ण अस्तित्व हर जगह है। वह और उसके रूप एक रस हैं। वे रूप वासुदेव की शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। इसलिए इन्हे विभव कहा गया है। उसकी शक्तियों की ऐसी अभिव्यक्ति महान् धार्मिक पुरुषो में भी पाई जाती है जैसेकि व्यास अर्जुन इत्यादि। लोकाचार्य आगे ईश्वर का वर्णन करते हुए कहते है कि ईश्वर अपने स्वरूप से केवल सर्वज्ञ ही नहीं है किन्तु यह सर्वज्ञता, सम्पूर्ण और नित्यानन्द से जुड़ी हुई है। उसके ज्ञान और शक्ति में परिवर्तन नहीं होती न उनकी तुलना की की जा सकती है क्योंकि वे सर्वदा सर्वोच्च और अचिंत्य हैं। वह हम सबो को कर्म करने की प्रेरणा देता है और कर्मानुसार इच्छापूर्ति करता है। जो अज्ञानी हैं उन्हें ज्ञान देता है, जो शक्तिहीन है उन्हे शक्ति देता है, अपराधियों को क्षमा, दुखी जनो को दया, दुष्टों को भलाई, कुटिल को सरलता और जो हृदय से दुष्ट है उन्हें सहृदयता देता है। जो उनसे जुदा नहीं रहना चाहते उनसे वह जुदा रह नहीं सकता, और जो उनका दर्शन करना चाहते हैं वह उनके निकट आ जाता है। जब वह दुखी

[1] देखो न्याय सिद्धांजन वेंकटनाथ कृत।

मनुष्यों को देखता है तो उन पर दया करता है और सहायता देता है। इस प्रकार उसके गुण दूसरो के लिए हैं, अपने लिए नही। उसका प्रेम हमारे लिए माता जैसा है, प्रेम से प्रेरित होकर वह हमारे दोषो को नही देखता और हमे श्रेय मार्ग में सहायता करता है। उसने यह जगत् अपने में ही उत्पन्न किया है, अपनी कोई इच्छापूर्ति के लिए नही, लीला के लिए किया है। सृष्टि-उत्पत्ति मे, वैसे ही उसे नियन्त्रण करने और प्रलय करने मे यही लीला सबको धारण करती है और प्रकट करती है। प्रलय भी उसकी लीला है जैसे जगत् की उत्पत्ति है। यह सब उसी मे और उसी मे से उत्पन्न हुआ है।

रामानुज और वेंकटनाथ के अनुसार जीव का विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त

यामुन के अन्य दर्शनो के मुकाबले मे जीव की पृथक् और स्वचैतन्य मय सत्ता का प्रतिपादन किया है। इसका विवरण हमने उनके जीव-विषयक सिद्धान्त का उल्लेख करते विस्तार से किया है। जीव अणु रूप है जैसाकि यामुन ने कहा है। विष्णु मिश्र और वेंकटनाथ ने यह माना है कि जीव की व्यावहारिक स्थिति में उसका ज्ञान विस्तार पाता है और सकुचित होता है। मुक्तावस्था मे वह विकास की चरमावस्था पर पहुँचता है जब वह समस्त जगत् पर व्याप्त हो जाता है। विशाल और सकुचित होना कर्मों के कारण से है जो अविद्या भी कहलाती है।

रामानुज 'वेदान्तदीप' ग्रन्थ मे जीव के अणु रूप होने से शरीर के एक भाग में रहते हुए भी, ज्ञान की शरीर के भिन्न भागो मे उत्पत्ति समझाने के लिए, दीपक की रश्मि की उपमा देते हैं। जीव देह के एक भाग मे ही रहता है और अपना प्रकाश शरीर के सारे भागो पर फैलाता है जैसेकि एक दीपक। रामानुज कहते हैं कि ईश्वर जीवों को अपनी इच्छानुसार कर्म करने की अनुमति देता है। जीवो की इच्छा को ईश्वर की सम्मति बिना गति मिलना अशक्य है। स्वचैतन्य युक्त जीव अपनी स्वेच्छानुसार कर्म करना चाहते है इसमें भगवान अवरोध नही करते। ईश्वर सर्वदा जीवो को कर्म करने देते हैं अर्थात् अपनी इच्छानुसार अगों को हिलाने देते हैं, यह एक प्रकार का प्रसगागत कारणवाद है जिसके अनुसार मैं अपने प्रत्येक कर्मों के करने मे ईश्वर के सकल्प पर आश्रित हूँ। मै अपने अग हिला सकता हूँ क्योकि वह ऐसा चाहता है। ईश्वर हमारे समस्त कार्यों का आश्रय है इस सामान्य नियम के अलावा उसके अनुग्रह और अकृपा के कुछ अपवाद हैं जो उससे विशेष प्रकार से सम्बन्धित हैं उनके प्रति भगवान् अधिक अनुग्रह दिखाते हैं और वह अपनी कृपा द्वारा उनमें ऐसी इच्छा उत्पन्न करते हैं कि जिससे वे उन्हें योग्य कर्म द्वारा उसे पा सकें। जो उनसे विरुद्ध हैं उनमें वह ऐसी इच्छाएं उत्पन्न करते हैं कि वे उनसे और दूर हो

जाते हैं।[1] ईश्वर हम सब मे अन्तर्यामी रूप से स्थित है। उस अन्तर्यामी रूप का प्रतिनिधि हमारा जीव है। यह जीव अपनी इच्छा ज्ञान और प्रयत्नो में स्वतन्त्र है।[2] यह ज्ञान, इच्छा इत्यादि की स्वतन्त्रता, ईश्वर ने हम सभी को दी है और वह इस भौतिक जगत् में क्रियाओ की इस तरह व्यवस्था करता है कि वे हमारी इच्छानुसार होवे। इस प्रकार वह हमे स्वातंत्र्य ही नही देता किन्तु उन्हे बाह्य जगत् मे फलीभूत होने के लिए सहायता भी करता है और अन्त में अच्छे-बुरे कर्मानुसार पाप-पुण्य भी देता है।[3] इस प्रकार ईश्वर का आधिपत्य हमारी इच्छा को छूट नही लेता। उसका अनुग्रह और अप्रसन्नता भी भक्त की ईश्वर के सम्पर्क में आने की तीव्र इच्छा की पूर्ति के लिए ही है। उसकी अप्रसन्नता पक्के पापी को उसकी इच्छा की पूर्ति करता हुआ उसे अपने से दूर सांसारिक सुखों की ओर ले जाती है। बहुधा आत्मा चेतन या ज्ञानमय कही जाती है क्योकि वह चैतन्य की तरह स्वय प्रकाश्य है।[4] वह इन्द्रियों के सम्पर्क द्वारा सभी पदार्थों को प्रकट करती है। समस्त जीव, फिर भी ईश्वर मे ही आवृत है। रामानुज ने जीवो को केवल ईश्वर की देह माना है, किन्तु वरवर और लोकाचार्य इससे आगे ऐसा मानते है कि जिस प्रकार बाह्य पदार्थ जीव के लिए अस्तित्व रखते हैं। जिस प्रकार भोग्य पदार्थ जीव के लिए है उसी प्रकार ईश्वर और जीव मे शेष और शेषी सम्बन्ध है। ईश्वर शेष है और जीव ईश्वर के नियन्त्रण तथा आधार का विषय शेषी है।

जीव यद्यपि स्वरूपत: निर्मल और शुद्ध है किन्तु अज्ञान से तथा अचित् के सम्पर्क से सासारिक इच्छाओ से सम्बन्धित हो जाता है। अविद्या का अर्थ ज्ञानाभाव है, लक्षणो का मिथ्या आरोपण मिथ्या-ज्ञान इत्यादि हैं, यह अविद्या, जो अनेक सासारिक इच्छाओ तथा अपवित्र प्रवृत्तियो का कारण है वह जीव के अचित् सयोग से है, जब यह सयोग छूट जाता है तब जीव अविद्या से छूट जाता है और मुक्त हो जाता है।[5]

जब वह अच्छे गुरु के पास से शास्त्रो का सच्चा ज्ञान प्राप्त कर प्रतिदिन, आत्म-सयम, तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, दान, अहिंसा आदि का अभ्यास करता है और नित्य और नैमित्तिक कर्मों का पालन करता है और निषेध कर्मो का त्याग करता है और तत्पश्चात् भगवान् मे शरणागति लेता है, उसकी स्तुति

---

[1] देखो, तत्वत्रय पर वरवर टीका।

[2] देखो, रामानुज भाष्य २:३ ४०,४१।

[3] देखो, रामानुज भाष्य ६:३:४०,४१।

[4] देखो, रामानुज भाष्य २,३,२९,३०।

[5] तत्वत्रय पर वरवर की टीका, चित् प्रकरण।

करता है, निरन्तर उनका ही चिन्तन करता है, उनकी पूजा करता है, नाम जप करता है, उनकी महानता और दयालुता का श्रवण करता है, उसके ही बारे में बोलता है, भक्ति करता है, तब रामानुज, अपने वेदार्थ सग्रह में कहते हैं कि ईश्वर जीव को ससार से मुक्त कर देता है उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है। उसे मुक्त कर मनुष्य को साधारण नित्य और नैमित्तिक कर्म पालन करना पड़ता है उसे सद्गुण का भी पालन करना चाहिए, और शास्त्रो से सच्चा ज्ञान भी प्राप्त करना आवश्यक है। जब वह इस प्रकार अपने को योग्य बनाता है तब ही वह अन्त में भगवान् की भक्ति और उसमें शरणागति द्वारा ससार बन्धन से मुक्त हो जाता है। रामानुज के अनुसार भक्ति भगवान् का सतत् चिन्तन है। इसके बिना शुद्ध ज्ञान, मुक्ति नहीं दिला सकता। भक्ति का विशेष लक्षण यह है कि इससे मनुष्य, अपने प्रियजन के लिए कर्म करने के सिवाय अन्य सभी से विरक्त हो जाता है। अन्त में, रामानुज के अनुसार भक्ति-भाव नही है किन्तु वह एक विशेष प्रकार का ज्ञान है (ज्ञान विशेष) जो हमें सबसे प्रिय ईश्वर है, के लिए जो नही करना है उसे व्यक्त करता रहता है।[1]

वेंकटनाथ कहते हैं कि कर्मों का पालन मनुष्य को सच्चे ज्ञान की जिज्ञासा के लिए अधिकारी बनाता है और सच्चे ज्ञान की प्राप्ति उसे भक्ति के योग्य बनाती है। जब मनुष्य सच्चे ज्ञान का अधिकारी हो जाता है तब वह कर्मों को त्याग सकता है। वेंकटनाथ के अनुसार भक्ति, पूज्य मे प्रीति है केवल ज्ञान नही है। सायुज्य मुक्ति इसी से होती है। सायुज्य की स्थिति में जीव ईश्वर की सर्वज्ञता इत्यादि गुणों को ग्रहण करता है। जीव भगवान् से पूर्णतः सहयोग नही कर सकता और सृष्टि-रचना, उसका नियन्त्रण तथा मुक्ति देना ये सब गुण ईश्वर में ही रहते हैं। जीव भगवान् के ज्ञान और आनन्द का ही सहभोग उठा सकते है और उसी की तरह सर्वज्ञ और आनन्दमय हो सकते हैं। इस मुक्तावस्था में मनुष्य भगवान् की नित्य और असीम् आनन्दपूर्ण दासता मे रहता है। भगवान् की दासता लेशमात्र भी दुखःमय नही हैं जैसेकि अन्य प्रकार की दासता होती है। जब मनुष्य अपने दर्प को त्याग देता है और अपनी सारी स्वतन्त्रता उसकी सेवा में लय कर देता है और अपने को भगवान् का दास मान लेता है जिसका एक ही कार्य उसकी सेवा करना है, यही आनन्द की, सुख की उज्जवल स्थिति है। वेंकटनाथ, फिर, इस वैष्णवीय मुक्तावस्था को जिसमे भगवान् को सर्वश्रेष्ठ माना है और उससे जनित आनन्द-भोग को जाना है, दूसरी कैवल्यावस्था से पृथक् करते है जिसमें मनुष्य अपने को ब्रह्म समझता है और कैवल्य प्राप्त करता है। इस कैवल्यावस्था मे भी अविद्या और ससार से सम्बन्ध नष्ट हो जाता है और मनुष्य एकता को प्राप्त होता है, किन्तु यह वांछनीय अवस्था नहीं है क्योंकि इसमे वह असीम आनन्द नहीं है जो वैष्णव मुक्ति मे है। रामानुज मुक्ता-

---

[1] वेदार्थ संग्रह, पृ० १४६।

वस्था के विषय में कहते हैं कि यह वह स्थिति है जो मनुष्य, अविद्या-रहित होकर प्राप्त करता है और उसे परमात्मा और उसके साथ अपने सम्बन्ध का सहज ज्ञान होता है। वे इस अवस्था को उस मुक्ति से विविक्त करते हैं जिसमें मनुष्य कर्म-रहित होकर अपने आप में यह अनुभव करता है कि वह ही ईश्वर के गुणों का अवरोधक है। वह कैवल्य या अपने आपको ब्रह्म अनुभव करना, निम्न कोटि की मुक्ति है। यहाँ पर यह कहना अप्रासंगिक नही होगा कि वेंकटनाथ ने भक्ति और मुक्ति मानवी ध्येय को क्रमशः आनन्द भाव और भगवत्-शरण कहते हुए भक्ति और मुक्ति को उच्चतम भावस्तर पर पहुँचाया है।

अचित् या अतिप्राचीन द्रव्य, प्रकृति और उसके विकार

वेंकटनाथ, अचित् जड़ के स्वभाव का वर्णन करते हुए, न्याय वैशेषिक के परमाणुवाद का खण्डन करने का प्रयत्न करते हैं। जड़ वस्तु का छोटे से छोटा कण वह है जो छेद में से जाती हुई सूर्य-रश्मि में दीखता है। इससे भी सूक्ष्म पदार्थ द्वयणुक की कल्पना अनुभव सिद्ध नही है क्योंकि वे दृष्टि-गोचर नही होते। उनकी तुलना पुष्प की अदृष्ट रज से भी नही की जा सकती जो हवा के साथ उडकर सुगंध फैलाती है, क्योंकि इन अणुओ मे गन्ध का गुण है जबकि अणु सूक्ष्म हैं और उनमे कोई भी गोचर गुण नहीं होता। अनुमान से भी ये सिद्ध नही किए जा सकते। क्योंकि अगर हम यह माने कि इन्हे विभाजन करते हुए उस अवस्था पर पहुँचे कि जहाँ वे आगे विभाजित नही किए जा सकते और उन्हे परमाणु कहे तो यह भी अशक्य है, क्योंकि न्याय वैशेषिक के परमाणु सबसे छोटे अणु ही नही है किन्तु उनका विशेष प्रकार का एक गुण है जो पारिमाण्डल्य परिमाण कहा जाता है और इसे अनुमान करने को हमारे पास कोई भी आधार नही है। अगर लघुत्व ही लक्षण है तो हमे त्रसरेणु पर ही रुक जाना चाहिए (सूर्य-रश्मि में दीखता अणु)। इसके उपरान्त परमाणु-वाद के विरोध में और भी आपत्तियाँ हैं। जैसा शंकराचार्य ने प्रतिपादन किया है कि परमाणु जो अखंड हैं वे दूसरे परमाणु के संयोग में नही आ सकते और न कोई पूरी इकाई बना सकते है या परमाणु का पारिमाण्डल्य परिमाण द्व्यणुक मे दूसरा नवीन परिमाण नही उत्पन्न कर सकता या द्व्यणुक त्रसरेणु में भिन्न प्रकार का परिमाण नही उत्पन्न कर सकता। यह संसार त्रसरेणु के संयोग से उत्पन्न होता है यह नही स्वीकारा जा सकता। सत्व, रजस् और तमोगुणात्मक प्रकृति को ही एक मूल द्रव्य मानना पडेगा। अहंकार की अभिव्यक्ति के पहले और उसके बाद की स्थिति (साम्यावस्था, जिसमें कोई विकार पैदा नही होता) महत् कहलाती है। महत् के बाद और इन्द्रियों के उत्पन्न होने के पहले की स्थिति अहंकार कहलाती है। महत् और अहंकार बुद्धि या अहं की आत्मगत अवस्था नहीं है

जैसाकि कुछ सांख्यवादी सोचते हैं किन्तु वे प्रकृति की—मूल द्रव्य की जगद्विषयक अवस्थाएँ हैं। अहंकार तीन प्रकार के है सात्विक, राजसिक और तामसिक। इन्द्रियाँ भूतो का परिणाम नही है जैसाकि वैशेषिक समझते है, किन्तु वे आँख, नाक इत्यादि के सम्बन्ध से ज्ञानात्मक व्यापार हैं। मनस् की अवस्थाएँ सकल्प, कल्पना इत्यादि भिन्न नामो से कही गई हैं। लोकाचार्य ने प्रकृति तीन प्रकार की बताई है (१) जिसमें शुद्ध सत्व गुण है जो ईश्वर के धाम का द्रव्य बनता है (२) दूसरा जिसमे सत्व, रजस् तमस् गुण हैं जो हमारे सामान्य जगत् को बनाती है। यह ईश्वर का क्रीड़ा स्थान है। यह प्रकृति कहलाती है क्योंकि समस्त परिणाम यहाँ होते हैं। इसे अविद्या भी कहते हैं क्योंकि वह सत्य-ज्ञान की विरोधिनी है और माया भी कहलाती है क्योकि समस्त नानात्व को उत्पन्न करती है। जैसाकि हमने पहले कहा है प्रकृति के गुण उसके गुण हैं। साख्य मतवादी जैसा सोचते हैं वैसे ये तत्व नही है। प्रकृति मे विरोधी गुणो के आविर्भाव से जगत् उत्पन्न होता है। तन्मात्र भूत की वह स्थिति है जिसमें विशेष गुण प्रकट नही हुए है। तन्मात्रो की उत्पत्ति का क्रम किसी ने इस प्रकार बताया है, पहले भूतादि, फिर उसमे से शब्द तन्मात्र, उसमें से आकाश, पुनः आकाश से स्पर्श तन्मात्र और उसमे से वायु वायु से रूप तन्मात्र और उसमे से तेज (प्रकाश और उष्णता), तेजस् में से रस तन्मात्र और फिर अप, अप मे से गन्ध तन्मात्र और उसमे से पृथ्वी। भूतो की उत्पत्ति के अन्य मतो का भी वर्णन है किन्तु हम उन्हे यहाँ नही देगे क्योंकि उनका विशेष महत्व नहीं है। वरवर कहते है कि काल सत्व गुण-रहित प्रकृति है, किन्तु वेंकटनाथ काल को ईश्वर के स्वरूप मे उनकी एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति के रूप मे मानते है। दिक् आकाश से भिन्न तत्व नही है जो पदार्थों को गति का अवकाश देता है। आकाश केवल खालीपन या शून्यता नहीं है, किन्तु वह भाव पदार्थ है।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रकृति का त्रिगुणात्मक अनिर्दिष्ट अव्याकृत द्रव्य अनेकावस्थाओ को अतिक्रमण करता हुआ अन्त मे इस जगत के रूप में प्रकट होता है जो मनुष्यो के अदृष्ट और अच्छे बुरे कर्मानुसार सुख-दुःख उत्पन्न करता है। अदृष्ट की शक्ति कोई पृथक तत्व नही है किन्तु ईश्वर का अनुग्रह या अप्रसन्नता है जो मनुष्य के अच्छे बुरे कर्मानुसार कार्य करता है।

बीसवाँ अध्याय

रामानुज सम्प्रदाय का दर्शन

निर्गुण या सगुण सत्ता पर रामानुज और शंकर के मत

शंकर कहते है कि ब्रह्मन् चिन्मात्र है सर्वथा अरूप है और अन्तिम सत्ता (परमार्थ) है, ज्ञाता और ज्ञेय, भेद तथा भिन्न प्रकार के ज्ञान उस पर आरोपण मात्र है और मिथ्या है। उनके मतानुसार मिथ्या तत्व जो दोष से उत्पन्न होता है भ्रम है, जो सद् वस्तु के ज्ञान से नष्ट हो जाता है। दोष सद् वस्तु को छिपाकर भिन्नत्व प्रकट करता है। ससार का भ्रम जिस दोष से उत्पन्न होता है वह अविद्या या माया है, जो सत् या असत् कुछ भी नही कही जा सकती है। (सदसद्भ्याम् अनिर्वचनीयम्)। यह ब्रह्म के ज्ञान द्वारा निवृत्त हो जाती है। यह सच है कि हम व्यवहार-दृष्टि में भिन्नत्व और नानात्व का अनुभव करते हैं किन्तु यह दोषपूर्ण है क्योकि अदोषपूर्ण शास्त्र एक ही ब्रह्म का प्रतिपादन करते है और यद्यपि वेदो मे, अन्य स्थान पर हमें शास्त्रोक्त धर्मपालन करने का आदेश किया है जो नानात्व के अस्तित्व का समर्थन करते है, तो भी शास्त्र के वह अश जो एक ही ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, अधिक महत्वपूर्ण एव प्रामाणिक हैं, क्योकि वे अन्तिम परम-सत्ता के बारे में कहते है, जबकि अन्य वेदो के आदेश भ्रमपूर्ण जगत् के बारे मे ही प्रमाण है या उसी सीमा तक प्रमाण है जहाँ तक अन्तिम सत्ता को नही जाना गया है। पुनः वेद, ब्रह्म को सत्य, ज्ञानमय और अनन्त कहते है ये ब्रह्म के गुण नही है, ये एक ही अर्थ का बोध कराते है और उसी अभिन्न निर्गुण ब्रह्म को लक्ष्य करते है।

रामानुज उपरोक्त वाद का खण्डन करते हुए, शकर के इस मत को पहले लेते हैं कि ब्रह्म निर्विशेष है। वे कहते हैं कि जो सत्ता को निर्गुण बताते हैं उनके पास इसे सिद्ध करने के लिए कोई साधन नही है। क्योकि सारे प्रमाण गुणों की मान्यता पर ही आश्रित हैं। यह निर्गुणत्व, प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं हो सकता जैसाकि वे मानते हैं, क्योकि अनुभव बिना कोई गुण के आश्रय के नही हो सकता। अनुभव मेरा स्वयं का होने से सगुण ही होगा। अगर तुम इस प्रकार सिद्ध करने की कोशिश करो जिससे अनुभव सगुण होता हुआ भी निर्गुण है तो भी तुम किसी विशेष गुण का आश्रय लेकर ही कह सकते हो कि यह गुण दृष्टि से वह ऐसा है, और इसी प्रयत्न

से तुम्हारा सिद्ध करना भी व्यर्थ जाता है, क्योंकि यह विशेषता एक गुण है। ज्ञान स्वय प्रकाश्य है उसी के द्वारा ज्ञाता समस्त पदार्थों को जानता है। यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि निद्रा या मूर्छा में भी अनुभव निर्गुण नहीं होता। जब भी यह कहा जाता है कि ब्रह्मन् शुद्ध चैतन्य है, अनन्त है, तब अर्थ यही होता है कि ये ब्रह्मन् के गुण हैं, यह कहना निरर्थक है कि वे कोई भी गुणों को लक्ष्य नहीं करते। शास्त्र किसी निर्गुण सत्ता का समर्थन नहीं कर सकते, क्योंकि शास्त्र, शब्दों का व्यवस्थित क्रम है और प्रत्येक शब्द पूर्ण है जिसमें प्रत्यय और उपसर्ग है, इसलिए शास्त्र ऐसी वस्तु का, अर्थ प्रकट नहीं कर सकते जो निर्गुण हो। अगर प्रत्यक्ष को देखा जाय तो, यह सर्वमान्य है कि सविकल्प प्रत्यक्ष सगुणयुक्त पदार्थ को ही प्रकट करता है, निर्विकल्प प्रत्यक्ष भी कुछ गुणो को अवश्य प्रकट करता है क्योकि निर्विकल्पना का अर्थ यहाँ विशेष गुणो के निषेध से है, ऐसा कोई भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है जो गुणो के प्रकट करने का सर्वथा निषेध करता हो। सारे अनुभव 'यह ऐसा है' ऐसे वाक्यो में बांधे जाते हैं और इस प्रकार वे किसी न किसी गुण को ही प्रकट करते है। जब कोई वस्तु पहले प्रत्यक्ष होती है तब कुछ विशेष गुण दीखते हैं, जब वह फिर प्रत्यक्ष होती है तब पहले देखे हुए गुणों की स्मृति जागृत होती है और उनकी तुलना द्वारा उन विशेष गुणो का समीकरण होता है। इसे ही हम सविकल्प प्रत्यक्ष कहते है, जिसमे पहले क्षण के निर्विकल्प ज्ञान से भिन्न, सामान्य या जातिगुणो की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु इससे यह अर्थ नही निकलता कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष मे कोई विशेष गुणो का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। अनुमान प्रत्यक्ष पर ही आधारित है इसलिए प्रत्यक्ष में विशेष गुणो का ज्ञान होना आवश्यक है, इस प्रकार हमारे ज्ञान के तीनो स्रोत अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, गुणरहित किसी भी वस्तु को प्रकट करते है–ऐसा नही है।

शकर और उसके अनुयायियों का कहना है कि प्रत्यक्ष केवल शुद्ध सत्ता को ग्रहण करता है (सन्मात्र ग्राही) है, किन्तु यह कभी भी सत्य नही हो सकता क्योकि प्रत्यक्ष जाति-गुणो से सम्बन्ध रखता है जो भेद प्रत्यय का अपेक्षी है, प्रत्यक्ष के पहले ही क्षण में, वस्तु या विषय के भेद-युक्त लक्षण का, जिससे वह दूसरी वस्तुओं से विविक्त होता है, ज्ञान होता है। अगर प्रत्यक्ष का सम्बन्ध केवल शुद्ध सत्ता से ही होता तो 'यह घड़ा है' 'यह कपड़े का टुकड़ा है' आदि प्रत्यक्ष कैसे होता? और प्रत्यक्ष में यदि लक्षणो का ज्ञान नहीं होता तो फिर हमें, जब घोड़ा चाहिए, तब भैंसे से भिड़न्त क्यों नही हो जाती? शुद्ध सत्ता के रूप में, सब एक सरीखे हैं, और सत्ता ही, ऐसा कहा जाता है, प्रत्यक्ष द्वारा प्रकट होती है तो फिर स्मृति, एक से दूसरे का भेद प्रकट नही करेगी और एक वस्तु का ज्ञान सभी वस्तुओं के ज्ञान के लिए पर्याप्त होगा। अगर एक प्रत्यक्ष दूसरे से भिन्न है, यह मान लिया जाता है

तो यही बात या तथ्य, निर्विकल्प प्रत्यक्ष के सिद्धान्त के आग्रह को नष्ट करता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियाँ, अपने योग्य गुणों का ही ग्रहण कर सकती हैं, जैसेकि आँख रंग का, कान शब्द का इत्यादि, इन्द्रियाँ निर्गुणता का अवगाहन नहीं कर सकतीं। फिर आगे, ऐसा कहा है कि ब्रह्मन् शुद्ध सत्ता स्वरूप है, और यही शुद्ध सत्ता का प्रत्यक्ष द्वारा अनुभव होता है तो फिर इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मन् इन्द्रियगोचर है। अगर ऐसा है तो ब्रह्मन् अन्य इन्द्रियगोचर वस्तु की तरह, परिणामी और विनाशी हो जाता है, जो किसी को भी मान्य नहीं हो सकता। अतः इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष में भेद का ज्ञान होता है, शुद्ध निर्गुणता का नहीं।

पुनः ऐसा तर्क किया गया है, क्योकि घड़े इत्यादि का अनुभव देशकाल के साथ भिन्न-भिन्न होता है, अर्थात् हम एक जगह घड़ा और दूसरी जगह कपड़े का टुकडा और दूसरे क्षण, एक जगह खिलौना और दूसरी जगह घोडा देखते हैं, और इस प्रकार हमें हर देश और काल में एक ही वस्तु का निरन्तर अनुभव नहीं होता, इसलिए ये सब वस्तुएं मिथ्या हैं। परन्तु ऐसा क्यों होना चाहिए? इस तथ्य मे कही भी विरोध अथवा असगति नही है कि दो वस्तुएँ एक ही स्थान पर दो अलग-अलग काल मे स्थित रहती है, अथवा दो वस्तुएँ दो अलग-अलग स्थानो पर एक ही समय विद्यमान रह सकती हैं। इसलिए जो कुछ हम देखते हैं वह सब मिथ्या है तथा विषय या वस्तु स्वरूपतः शुद्ध सत्ता रूप है। इसे सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई तर्क नही है।

पुनः ऐसा तर्क प्रस्तुत किता गया है कि अनुभव या अपरोक्षानुभव (जो प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है) स्वय प्रकाश है, किन्तु यह केवल प्रत्यक्षकर्ता के विषय मे, किसी विशेष समय के, प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए ही सत्य है। कोई अनुभव नितान्त स्वयं प्रकाश नही है। दूसरे मनुष्य का अनुभव, मुझे कुछ भी प्रकट नही करता और न मेरा ही भूतकाल का अनुभव अभी वर्तमान मे मुझे कुछ प्रकट करता है, क्योकि मेरे भूतकाल के अनुभव के विषय में मैं केवल यही कहता हूँ 'मैं ऐसा पहले जानता था' न कि 'मै, अभी जानता हूँ'। यह भी सत्य नही है कि किसी भी अनुभव का फिर आगे अनुभव नही किया जा सकता क्योकि मै अपने भूतकाल के अनुभव को याद कर सकता हूँ या उसके बारे मे ठीक उसी प्रकार जान सकता हूँ जैसे मैं दूसरों के ज्ञान की अनुभूति को जान सकता हूं। अगर यह तथ्य कि दूसरे का अपना ज्ञान, किसी के ज्ञान का विषय बन जाने से वह संविद् या अनुभूति नही रहता तो फिर, कोई भी अनुभूति उपलब्ध नहीं रहती। अगर कोई, दूसरो के अनुभव को जान नही सकता तो वह अपने को व्यक्त करने के लिए, कोई भाषा का उपयोग नही कर सकता और न वह दूसरों की भाषा को भी समझ सकता है, इस प्रकार समस्त भाषा और वाणी निरर्थक हो जाती है। 'वह घड़ा' इत्यादि का अनुभव (सविद्) नहीं माना जा

सकता, केवल इसलिए कि वे स्वरूपतः उससे भिन्न हैं, इसलिए नहीं कि वे किसी अन्य के ज्ञान का विषय है; अनुभव का यह लक्षण नहीं है।

पुनः ऐसा कहा जाता है कि अनुभूति या सविद् उत्पन्न नही की जा सकती, क्योंकि हम यह नहीं बता सकते कि उसकी सत्ता कब नही थी (प्रागभावाद्यभावाद् उत्पत्तिनिरस्यते)। ऐसा भी कहा जाता है कि कोई भी अनुभूति या सविद् यह नही प्रकट कर सकती कि कौनसी स्थिति में उसका अस्तित्व नही था। क्योंकि कोई भी वस्तु अपनी अनुपस्थिति किस प्रकार प्रकट कर सकती है जबकि वह अपनी अनुपस्थिति में वर्तमान नहीं रह सकती। रामानुज, शकराचार्य के इस तर्क के जवाब में कहते हैं कि ऐसा क्यो आवश्यक समझा जाए कि अनुभूति केवल उसे ही प्रकट करे जो उसका तात्कालिक हो ? क्योकि अगर ऐसा होता तो भूत और भविष्य के बारे में कोई भी बातचीत नही हो सकती। निःसन्देह प्रत्यक्ष ज्ञान में केवल समय तथा काल स्थित उसी का अनुभव होता है जिसके विषय मे प्रत्यक्ष इन्द्रियों का व्यापार होता है। यह सिद्धान्त वर्तमान के प्रत्यक्ष ज्ञान के सम्बन्ध में है किन्तु यह सिद्धान्त सब प्रकार के ज्ञान के लिए लागू नही किया जा सकता। स्मृति, अनुमान, शास्त्र तथा ऋषियो की अपरोक्ष रहस्यानुभूति (योगि-प्रत्यक्ष) के द्वारा भूतकालीन घटनाओ और भविष्य में होने वाली स्थितियों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जाना सम्भव है। इस प्रकार के तर्क से यह अर्थ निकलता है कि 'घट' जैसे सामान्य वस्तु का प्रत्यक्ष-ज्ञान काल-विशेष में होता है और इसकी अनुभूति सभी समय कालादि में नही होती। इस प्रकार इसकी अनुभूति नही होने का यही अर्थ है कि ज्ञान की अनुभूति (संविद् या अनुभूति) काल से मर्यादित नही है तो वस्तु की अनुभूति भी काल द्वारा बाधित नहीं हो सकती और इस प्रकार घट इत्यादि पदार्थ भी स्वरूप से नित्य माने जाने योग्य हैं जो यथार्थ में सच नही है। इसी प्रकार का तर्क, अनुमान के ज्ञान के प्रकटीकरण के बारे मे भी दिए जा सकते हैं। तर्क किया जा सकता है, जबकि पदार्थ का स्वरूप अनुभूति स्वरूप ही होना चाहिए, जैसाकि वह प्रकट करती हैं तो, अगर ज्ञान या अनुभूति समय से मर्यादित नही है और नित्य है तो पदार्थ भी नित्य होगे। बिना पदार्थ या विषय के ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसा नही कहा जा सकता कि निद्रा, मदमत्तावस्था और मूर्च्छा में बिना विषय के शुद्ध ज्ञान होता है। अगर शुद्ध अनुभव उस अवस्था में होता है तो जगने पर उसकी स्मृति रहनी चाहिए, क्योंकि प्रलयावस्था एव शरीर-अभाव की अवस्था को छोड़कर, सभी अनुभवों की स्मृति रहती है। किन्तु मूर्च्छा या निद्रा का क्या अनुभव है उसकी किसी को स्मृति नही रहती इससे यह पता चलता है कि उस समय कोई शुद्ध ज्ञान प्रकट नहीं होता न उसकी सत्ता ही है। रामानुज का कहने का अर्थ यह है—और जो आगे और स्पष्ट हो जाएगा कि मूर्च्छा और निद्रा में हमें आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है और शुद्ध चित्त का

निर्विकार अनुभव नहीं होता। इस प्रकार ऐसी कोई अवस्था नहीं है जिसमें बिना विषय के शुद्ध ज्ञान का अनुभव हो। इसलिए ऐसा तर्क नहीं किया जा सकता कि, क्योंकि ज्ञान अपनी अनुपस्थिति या अभाव की अवस्था को प्रकट नहीं कर सकता इसलिए, वह हमेशा वर्तमान ही है और उत्पन्न नहीं किया जा सकता, जबकि प्रत्येक ज्ञान अपने विषय से नित्य सम्बन्धित है और प्रत्येक पदार्थ या विषय समय की मर्यादा में है अतः ज्ञान भी समय से मर्यादित है।

पुनः यह तर्क कि ज्ञान या अनुभूति अज्ञात है (उत्पत्ति रूप नहीं है) इसलिए उसमें कोई परिणाम या भेद नहीं हो सकता, यह मिथ्या है। तर्क करने के लिए यह मान भी लिया जाय कि ज्ञान उत्पत्तिरहित है तो भी उसे आवश्यक रूप से परिणाम-रहित क्यों होना चाहिए? प्रागभाव अनादि है किन्तु वह सान्त है। ठीक उसी प्रकार शंकर मतवादियों की अविद्या है जो अनादि मानी गई है और भेद तथा परिणाम-युक्त है, जिसका प्रमाण जगत्-आभास की उत्पत्ति है। आत्मा भी, जो अनादि और अनन्त है वह भी देह और इन्द्रियों से जो उससे भिन्न हैं, सबंधित है, जुडा हुआ है। आत्मा का अविद्या से भेद-युक्त ज्ञान, ज्ञान का एक विशेषप्रकार है और इसे ही (इस भेद को) ही न माना जाय तो आत्मा को अविद्या से अभिन्न मानना पड़ेगा पुनः यह कहना निरर्थक है कि शुद्ध चैतन्य, चित् या संविद् शुद्ध अनुभवरूप है क्योंकि अगर वह ऐसा है तो उसे आत्म प्रकाश, नित्य या एक कहने की भी क्या आवश्यकता है? ये सब भिन्न गुण हे औरये वस्तु के सगुण रूप को निर्दिष्ट करते हैं जिसमे ये पाए जाते हैं। यह कहना निरर्थक है कि शुद्ध चैतन्य निर्गुण है, क्योंकि कम से कम उसमे निषेधात्मक गुण है जिसके फलस्वरूप वह भौतिक, और अन्य आश्रित पदार्थों से पृथक् किया जाता है जो शुद्ध चैतन्य से भिन्न हैं। पुनः यदि इस शुद्ध चैतन्य का अस्तित्व सिद्ध किया जा चुका है तो यही इसका एक गुण होना चाहिए। परन्तु यह किसके लिए सिद्ध किया जाता है? आत्मा जो जानता है उसी के लिए यह सिद्धि अर्थ रखनी चाहिए, और इस अवस्था मे विशेष लक्षण का आत्मा को अनुभव होना चाहिए। अगर ऐसा तर्क किया जाता है कि आत्मज्ञान और आत्मा दोनो एक ही है तो यह सब असम्भव दीखता है, क्योंकि ज्ञान ज्ञाता से भिन्न होता है, जो किसी विषय को प्रकट करता है। ज्ञाता अपने समस्त ज्ञान-व्यापार में नित्य होना चाहिए, और इसी द्वारा स्मृति और प्रत्य-भिज्ञा समझ में भी आ सकती हैं। विभिन्न वस्तुओं के सुख और दुःख के अनुभव आते और जाते हैं, किन्तु ज्ञाता हर अनुभव मे एक सा ही रहता है। तो फिर अनुभव और अनुभव-कर्ता दोनों का तादात्मय कैसे किया जा सकता है? 'मैं जानता हूँ' 'अभी मैं भूल गया हूँ' इसी से हम यह जानते हैं हमारा ज्ञान आता और जाता है और ये अवस्थाएँ हम से भिन्न हैं। ज्ञान या चैतन्य का ज्ञाता या आत्मा से तादात्म्य कैसे हो सकता है?

ऐसा माना गया है कि आत्मा और अहं या जिसे हम 'मैं' कहते हैं ये दोनों भिन्न हैं। जिसे हम 'मैं' कहते हैं इसमें दो भाग हैं एक तो स्वयं प्रकाश और स्वतन्त्र है जो शुद्ध चैतन्य है और दूसरा विषय रूप, परतन्त्र प्रकाशहीन जिसे हम 'मेरा' कहते हैं; इसमें पहला अंश ही आत्मा है, जबकि दूसरा अंश, पहले से सम्बन्ध रखता हुआ भी, इससे अत्यन्त भिन्न है और पहले के सम्बन्ध द्वारा ही इसका ज्ञान होता है और प्रकट भी किया जाता है। किन्तु इसे मान्य नहीं किया जा सकता। 'मैं' तत्व अविषयी है और आत्मा है और यही मेरे अनुभवों को दूसरों से पृथक् करता है। मुक्ति में भी मैं इसी तत्व की मुक्ति चाहता हूँ जिसके लिए ही मैं प्रयत्न करता हूँ, साधना करता हूँ। अविषयी, विषयरहित, शुद्ध चैतन्य के लिए मैं यह सब नहीं करता। अगर यह 'मैं' ही नष्ट हो जाता है तो केवल शुद्ध चैतन्य में किसे रस मिलता है चाहे वह मुक्त हो या न हो? अगर इस 'अहं' या आत्मा या 'मैं' से कोई सम्बन्ध नहीं है तो किसी भी प्रकार का ज्ञान होना अशक्य है। हम सब यह कहते हैं 'मैं जानता हूँ' 'मैं ज्ञाता हूं' अगर अविषयी और व्यक्तिगत तत्व मिथ्या, प्रतिभास मात्र है तो फिर अनुभव का प्रयोजन या महत्व क्या रहता है? यही वह अहं है जो स्वप्रकाश है और किसी अन्य से प्रकाशित होने की अपेक्षा नहीं रखता। यह दीप जैसा है जो स्वप्रकाश होकर अन्य को भी प्रकाशित करता है। यह पूर्ण है और इसका ज्ञानात्मक स्वभाव ही स्वप्रकाश लक्षण है इसलिए स्वप्रकाश आत्मा ही ज्ञाता है और वह केवल प्रकाशात्मकता नहीं है। प्रकाश्यता, जानना या ज्ञान का अर्थ यही है कि किसी को कुछ प्रकट हुआ और यह कहना निरर्थक ठहरता है कि आत्मा और ज्ञान एक ही हैं। पुनः ऐसा माना गया है कि आत्मा शुद्ध चैतन्य है क्योंकि यही शुद्ध चैतन्य ही केवल अजड़ है इसलिए चिद्रूप है। किन्तु इस अजड़ता का क्या अर्थ है? शंकर मतवादी कहते हैं कि यह वह तत्व है जिसकी सत्ता ही उसकी प्रकाश्यता है जिससे वह प्रकट होने को दूसरे पर आश्रित नहीं है। इसलिए सुख-दुःख इत्यादि भी स्वप्रकाश्य हैं। दांत का का दर्द वर्तमान भी हो और उसका पता भी न चले ऐसा नहीं हो सकता, किन्तु माना ऐसा गया है कि सुख-दुःख प्रकट नहीं हो सकते जहाँ तक उसको भोगने वाला कोई ज्ञाता न हो। तो फिर ज्ञान के बारे में भी यही ठीक बैठता है। क्या चैतन्य (ज्ञान) अपने आपको अपने लिए प्रकट कर सकता है? कदापि नहीं, ज्ञान, ज्ञाता, अहं या आत्म को ही प्रकट होता है? जिस प्रकार हम यह कहते हैं कि 'मैं सुखी हूं' उसी प्रकार हम कहते है 'मैं जानता हूं'। अगर अजडत्व की उपरोक्त कहे अनुसार व्याख्या की जाती है तो इस प्रकार का अजडत्व चैतन्य में भी नहीं है। अहं ही, मैं ही, सर्वदा अपनी सत्ता द्वारा, अपने आपको प्रकट करता है इसलिए वह आत्मा ही होना चाहिए और शुद्ध चैतन्य नहीं जो सुख और दुःख की तरह अपने आपको प्रकट होने के लिए स्वप्रकाशता पर आश्रित है। पुनः ऐसा कहा जाता है कि यद्यपि अनुभूति स्वयं विषय-रहित है तो भी भूल से वह ज्ञाता दीखती है,

जैसेकि सीप में रजत का भ्रम होता है। किन्तु रामानुज आग्रह करते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि अगर ऐसा भ्रम होता तो लोगों को यह रजत है इस प्रकार 'मैं चैतन्य हूं' ऐसा अनुभव होता। कोई भी ऐसी भूल नहीं करता, क्योंकि हम दोनों को पृथक् करते हैं और अपने को ज्ञान से भिन्न अनुभव करते हैं जैसेकि 'मैं' अनुभव करता हूँ। (अहं अनुभवामि)।

ऐसा तर्क किया गया है कि आत्मा अपरिणामी होने से ज्ञान-व्यापार का कारक और ज्ञाता नहीं हो सकता और इसलिए ज्ञातृ-भाव केवल अहंकार का ही धर्म है जो परिणामी प्रकृति का विकार है। यह अहकार अन्त करण है और इसे ही ज्ञाता कहा जा सकता है, क्योंकि ज्ञान-व्यापार का कारक, वस्तुनिष्ट और साश्रय गुणयुक्त है इसलिए वह आत्मा का गुण नहीं हो सकता। अगर आत्मा में अहं भावना तथा कृतकत्व के गुण के निक्षेप की सम्भावना होती तो, आत्मा देह की तरह जड और पराश्रित सत्तायुक्त हो जाता क्योंकि इस तरह वह स्वप्रकाशहीन हो जाता है। रामानुज इन आक्षेपो के उत्तर मे कहते हैं कि अगर अहकार शब्द का अन्तः-करण के अर्थ मे उपयोग किया जाता है तो उसमे देह के सभी जडत्व के गुण आ जाते है और उसे ज्ञाता कभी भी नही कहा जा सकता। ज्ञातृत्व परिणामी गुण नही है (विक्रियात्मक), क्योंकि इसका अर्थ केवल यह होता है कि उसमे ज्ञान करने का गुण है (ज्ञान-गुणाश्रय) और ज्ञान, क्योंकि, नित्य आत्मा का नैसर्गिक गुण है इसलिए वह भी नित्य है। यद्यपि आत्मा ज्ञान स्वरूप है तो भी जैसे प्रकाश तत्व, प्रकाश और रश्मि, दोनो रूप से सत्ता रखता है इसी प्रकार आत्मा भी ज्ञान या चैतन्य रूप से और गुणाश्रय रूप मे सत्ता रख सकता है (मणि प्रभृतीनाम् प्रभाश्रयत्वम् इव ज्ञाना-श्रयत्वमपि अविरुद्धम्)। ज्ञान स्वरूप से अमर्यादित एव अपरिच्छिन्न है (स्वय अपरिच्छिन्नम् एव ज्ञानम्) तो भी वह सकोच और विकास कर सकता है (सकोच विकाशाहम्) देहाश्रित आत्मा मे कर्म के प्रभाव से वह सकुचित रूप से है (सकुचित-स्वरूपम्) तो भी उसमे उत्तरोत्तर विकसित होने की शक्ति है। व्यक्ति के सम्बन्ध में इसे यो कहा जाता है कि उसमें इन्द्रियों के प्रतिबन्ध के अनुसार, ज्ञान न्यून या अधिक है।[1] इसी वजह से हम ज्ञान का उदय और ज्ञान का अन्त कहते हैं। जब ज्ञान का उदय होता है तब हम उसे ज्ञाता कह सकते है। इस प्रकार यह मान्य होता है कि ज्ञातृ-भाव या ज्ञातृत्व-शक्ति आत्मा मे निसर्गत. नही है, किन्तु कर्म से है, इसलिए यद्यपि आत्मा स्वय ज्ञाता है किन्तु वह चैतन्य की दृष्टि से अपरिणामी है। किन्तु यह तो कभी भी स्वीकारा नही जा सकता कि जड अहकार, चित्त के सम्पर्क से ज्ञाता बन जाता है क्योंकि चित् स्वरूप से ज्ञाता नही माना जा सकता। अहकार भी ज्ञाता

[1] श्री भाष्य, पृ० ४५।

नहीं है और ज्ञाता को इस दृष्टि से समझाया नहीं जा सकता। यह कहना निरर्थक है कि चित्त का प्रकाश जड़ अहंकार पर सान्निध्य की वजह से पड़ता है, क्योंकि अदृश्य चित्त जड अहंकार को किस प्रकार प्रकाश दे सकता है।

निद्रा में भी आत्मा का अनुभव 'मैं' के रूप मे रहता है क्योकि जगने पर हमें अनुभव होता है कि 'मैं सुख-पूर्वक सोया'। इससे यह पता चलता है कि निद्रा में 'मैं' को अपना ज्ञान रहता है और वह सुख का अनुभव करता है। यह भी मान लिया गया है कि निद्रा से पहले और निद्रा में और उसके बाद भी 'मैं' की निरन्तरता रहती है क्योंकि 'मैं' को निद्रा के पहले का हाल याद रहता है। हमें यह भी ज्ञान होता है कि निद्रा में मुझे किसी का ज्ञान नही था इस तथ्य से यह अर्थ नहीं होता कि मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था। इसका अर्थ है कि 'मैं' को उन विषयो और पदार्थों का ज्ञान नही था जो उसे जागने पर होता है। 'मैं' को निद्रा मे ज्ञान था इसमे लेशमात्र भी सन्देह नही है, क्योकि शकर मतवादी भी कहेगे कि निद्रा मे आत्मा को अज्ञान का साक्षी रूप से ज्ञान है और कोई भी ज्ञाता हुए बिना साक्षी रूप से ज्ञान नही प्राप्त कर सकता। इस प्रकार निद्रा के बाद जब कोई कहता है कि 'मैं' इतना अच्छा सोया कि मैंने अपने को भी नही जाना यह कहने का मतलब यह नही होता है कि उसने अपने जाति, कुटुम्ब इत्यादि विशेष गुणो सहित नहीं जाना, जैसाकि वह जागने पर जानता है। इससे यह अर्थ नहीं निकलता है कि उसे किसी भी प्रकार का ज्ञान नही था। मुक्ति के बाद भी 'अहमर्थ' तत्व बाकी रहता है। क्योकि वह आत्मा को निर्देश करता है। अगर मुक्ति मे मुक्तावस्था को जानने वाला ही कोई नही है, तो वह कौन है जो मुक्त हुआ है और फिर ऐसी मुक्ति का प्रयास कौन करता है? अपने आपको प्रकट होना आत्म चैतन्य है और वह 'मैं' जो जानता है उसे अवश्य ही अनुमित करता है इसलिए 'मैं' यह प्रत्यय आत्मा को, स्वरूप से निर्देश करता है जोकि अनुभव और ज्ञान करता है। किन्तु अहमर्थ प्रत्यय को जड चित्त तत्व या अन्तःकरण से पृथक् करना चाहिए जो प्रकृति का एक विकार है और जो अभिमान की मिथ्या-भावना हैं और जिसे हमेशा बुरा माना हैं, यह बडो के प्रति अपमान जताता है, यह अविद्यागत है।

इस सम्बन्ध मे रामानुज, विवाद का दूसरा प्रश्न खडा करते है जो वे अपने इस आशय को सिद्ध करने के लिए देते हैं कि ऐसी कोई सत्ता नही है जो नितान्त निर्गुण हो। शकराचार्य का यह कहना कि श्रुति ने पर्याप्त प्रमाण दिए हैं जिससे हमे यह मानना पडता है कि सत्ता निर्गुण है और हमें इन प्रमाणो को श्रेष्ठ और अकाट्य मानना चाहिए, रामानुज इसका खण्डन करते हैं। शंकर ने कहा है कि प्रत्यक्ष से श्रुति प्रमाण श्रेष्ठ है। किन्तु श्रुति अनेकत्व की मान्यता पर खड़ी है और

जिसके बिना भाषा प्रयोग अशक्य है। इसलिए ये प्रमाण मिथ्या हैं। श्रुति को इसलिए श्रेष्ठ माना है कि वे यह सिद्धान्त प्रतिपादन करती हैं कि नानात्व और भेद मिथ्या हैं और सत्ता नितान्त निर्गुण और भेद-रहित है किन्तु जबकि श्रुति का अर्थ एव अभिव्यक्ति ही भेद पर आश्रित है तो फिर श्रुति का कहना किस प्रकार सत्य हो सकता है ? पुनः जबकि वे प्रत्यक्ष की तरह नानात्व पर आधारित होने से मिथ्या हैं तो फिर उन्हे प्रत्यक्ष से श्रेष्ठ कैसे माना जाएगा ? जबकि श्रुति ही मिथ्या पर आधारित हैं तो फिर जो ये श्रुतियाँ कहती हैं वह भी मिथ्या है, यद्यपि वे प्रत्यक्ष द्वारा विरोधी प्रमाणित न भी किया गया हो। अगर किसी व्यक्ति का जिसका किसी भी अन्य मनुष्य से कुछ भी सम्पर्क नही है उसे नेत्र-रोग हो जाए जिससे वह दूर स्थित वस्तुओ को दोहरा देखता है तो उसका आकाश मे दो चन्द्र देखना भी मिथ्या ही होगा, चाहे फिर यह अनुभव, स्वय उसके अथवा दूसरो के अनुभवो द्वारा कभी भी खण्डित हो। अतः यदि दोष है तो इस दोष द्वारा प्रसूत ज्ञान भी मिथ्या ही है। इसलिए यह तर्क किया जा सकता है कि जब ब्रह्मन् जोकि ज्ञान का विषय है, यदि अविद्या से ग्रस्त है, तब वह भी मिथ्या है और जगत् भी मिथ्या है इसलिए, अविद्या ही जब मिथ्या है तो, अविद्या के व्यक्त रूप शास्त्र द्वारा कहा गया ब्रह्म भी मिथ्या ही होगा और कोई भी इस प्रकार तर्क कर सकता है, क्योकि ब्रह्म, अविद्या-दूषित साधन द्वारा उत्पन्न ज्ञान का विषय है इसलिए मिथ्या है जिस प्रकार कि जगत् मिथ्या है, (ब्रह्म मिथ्याविद्याद्युत्पन्न-ज्ञान-विषयत्वात् प्रपचत्वात्)। ऐसे तर्कों की कल्पना करते हुए शकर इस प्रकार परिहार करने का प्रयत्न करते है : मिथ्या स्वप्न भी अच्छी या बुरी घटना की आगाही दे सकते हैं अथवा साप का मिथ्या भ्रम भी सच्ची मृत्यु ला सकता है। रामानुज इसका यो उत्तर देते है, स्वप्न मिथ्या है यह कहने का अर्थ यह है कि उनमे जो कुछ ज्ञान है उसके अनुरूप वास्तव मे कोई भी विषय नही है, इस तरह भ्रम मे भी ज्ञान का अश है और ऐसे ज्ञान से सच्चा भय पैदा होता है यद्यपि बाह्य जगत् मे ज्ञान के अनुरूप कोई भी विषय नही होता। इस प्रकार ऐसे उदाहरणो में भी सच्चाई या सच्ची वस्तु या घटना का निवेदन मिथ्या नही होता किन्तु सच्चे ज्ञान द्वारा होता है क्योकि ऐसी कोई भी शका नही करता कि उसे स्वप्न या भ्रम में ज्ञान नहीं हुआ। स्वप्न में ज्ञान हुआ था इस तथ्य को अगर माना जाता है तो स्वप्न सत्य है इसलिए यह कहना नितान्त निरर्थक है कि स्वप्न में मिथ्यात्व से, सच्ची घटना की आगाही होती है।

इस तरह किसी भी दृष्टिकोण से तर्क किया जाय, तो पता चलेगा कि ब्रह्म निर्गुण और भेद-रहित है ऐसा सिद्ध करना अशक्य है चाहे फिर वह सत्ता शुद्ध सत् हो, या सत् चित् और आनन्द की इकाई हो या शुद्ध अनुभूति हो। ऐसा विवाद, शास्त्र की प्रमाणता को ऐसा कुचल देगा कि उसके आधार पर कुछ भी सिद्ध नही

किया जा सकता और प्रत्यक्ष से शास्त्र की श्रेष्ठता की योग्यता भी स्थापित नहीं की जा सकती। किन्तु शास्त्र भी निर्गुण और निर्विकार सत्ता को प्रतिपादन नहीं करते। क्योंकि शास्त्र के पाठ, जो ब्रह्म को शुद्ध सत् (छा० ६.२.१) या परात्पर मानते हैं (मुंड० १.१.५) या जब ब्रह्म का, ज्ञान या सत्य से तादात्म्य प्रतिपादित है (तैत० २.१.१) तो ये सब निर्गुण ब्रह्म को लक्ष्य नहीं करते किन्तु वे उस ब्रह्म को लक्ष्य करते हैं ऐसा साबित किया जा सकता है–जिसमें सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमता, सर्व-व्यापकता, नित्यता इत्यादि गुण है। गुणों के निषेध का अर्थ हेय गुणों से सम्बन्ध रखता है (हेय गुणान् प्रतिषिद्ध्य)। जब ब्रह्म को शास्त्रों ने एक कहा है इसका अर्थ यही है कि जगत् का कोई और दूसरा प्रतिस्पर्धी कारण नहीं हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि उसकी इकाई इतनी उत्कट है कि उसमें कोई भी गुण नहीं हैं। जहाँ-कहीं भी जब ब्रह्म को ज्ञान-स्वरूप कहा है तो अर्थ यह नहीं निकलता है कि यह ज्ञान-स्वरूपता निर्गुण और निर्विकार है, क्योंकि ज्ञाता भी ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान स्वरूप होने के कारण, वह ज्ञानवान् भी कहा जा सकता है, जिस प्रकार कि दीप जो प्रकाश स्वरूप है वह प्रकाश रश्मिवान् कहा जा सकता है।[1]

शंकराचार्य की अविद्या का खण्डन

शंकर ऐसा कहते हैं कि स्वप्रकाश, भेदरहित सत्ता दोष के प्रभाव से नानात्व के रूप में दीखती है। अविद्या रूपी यह दोष, अपना स्वरूप छिपाता है और नाना रूप प्रकट करता है जो सत् या असत् दोनों नहीं कहे जा सकते, इसे सत् इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि तब भ्रम और उसका मिथ्या अनुभव होना समझाया नहीं जा सकता, और वह असत् भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि तब हम संसार प्रपंच और उसका मिथ्यात्व नहीं समझा सकते।

रामानुज, अविद्या का खण्डन करते हुए कहते है कि अविद्या असम्भव है क्योंकि अविद्या का कोई आश्रय होना आवश्यक है और वह आश्रय स्पष्ट रूप से जीव नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं अविद्या से उत्पन्न है। ब्रह्म भी अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वप्रकाश चैतन्य है इसलिए अविद्या का विरोधी है और अविद्या सत्यज्ञान के प्रकाश के होते ही भ्रम रूप से जानी जाती है। ऐसा भी तर्क नहीं किया जा सकता कि ब्रह्म शुद्ध ज्ञान स्वरूप है, यह ज्ञान ही अविद्या को नाश करता

---

[1] ज्ञान स्वरूपस्यैव तस्य ज्ञानाश्रयत्वं मणि द्युमणि प्रदीपादिवदिति उक्तम् एव। श्री भाष्य, पृ० ६१। उपरोक्त विचार श्रीभाष्य में 'महापूर्वपक्ष' तथा 'महासिद्धांत' में प्रकट किए गए हैं। श्रीभाष्य, पृ० १०।

है, न कि यह ज्ञान की शुद्ध ज्ञान ब्रह्म का सरभाग है क्योंकि ब्रह्म की ज्ञान स्वरूपता और ब्रह्म का अविद्या नाशक ज्ञान, इन दोनों में कोई भेद नही है। ब्रह्म शुद्ध ज्ञान स्वरूप है। इस ज्ञान से जो ब्रह्म का लक्षण प्रकट होता है वह उसकी स्वप्रकाशता में विद्यमान ही है जो अविद्या का आवश्यक रूप से नाश करता है।[1] पुनः शकर के मतानुसार, ब्रह्म, अनुभूति स्वरूप होने के कारण किसी अन्य ज्ञान का विषय नही हो सकता और इसलिए ब्रह्म को अन्य किसी प्रत्यय का विषय भी नहीं होना चाहिए। अगर ज्ञान का, अविद्या या अज्ञान से विरोध करना है तो फिर उसे अपने स्वरूप से वैसा ही होना चाहिए जैसा वह है, और इस प्रकार ब्रह्म, शुद्ध ज्ञान स्वरूप होने से अविद्या से उसका विरोध होना चाहिए। पुनः ऐसा कहना कि ब्रह्म जो स्वरूप से स्वप्रकाश है वह अविद्या से ढका गया है तो इससे ब्रह्म के स्वरूप का ही नाश हो जाता है, क्योकि ऐसी अवस्था में स्वप्रकाशता कभी उत्पन्न ही नही हो सकती, स्वप्रकाशता का ढक जाना यही अर्थ रखता है कि वह नष्ट हो जाती है। क्योकि ब्रह्म स्वप्रकाश स्वरूप होने के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। पुनः, अगर यह निर्विषय, शुद्ध स्वप्रकाश अनुभूति ही, अविद्या-दोष द्वारा नानात्व रूप धारण करती है जिसे वह आश्रय देती है, तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह दोष सत् है या असत्। अगर यह सत् है तो अद्वैतवाद नष्ट होता है और यह असत् है तो, प्रश्न यह उठता है कि यह असत् दोष किस प्रकार उत्पन्न होता है? अगर यह किसी अन्य दोष से उत्पन्न है तो उसके भी असत् होने के कारण, वही प्रश्न फिर उठता है, और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाता है। अगर ऐसा माना जाता है कि अधिष्ठान न होते हुए भी, एक असत् दोष दूसरे असत् दोष का कारण हो सकता है और इस प्रकार अनादि शृ खला चलती है तो हम शून्यवाद मे पड़ जाते हैं (माध्यमिक पक्ष या शून्यवाद)।[2] अगर

---

[1] सुदर्शन सूरि यहाँ कहते है कि, यदि स्वरूप दृष्टि तथा अविद्यानाशक दृष्टि से ब्रह्म में ऐसा भेद है तो अर्थ यहहोगा कि ब्रह्म का एक रूप दूसरे से भिन्न है या दूसरे शब्दो में ब्रह्म सगुण है। श्रुत प्रकाशिका, पडित सस्करण बनारस, प्र० स० ६, —पृ० ६५८।

[2] सुदर्शन सूरि यहाँ सूचन करते हैं कि शंकर मतानुयायी यहाँ अनवस्था दोष को तीन प्रकार से बचाने की कोशिश करते हैं। पहला, जो अविद्या का जीव से सम्बन्ध मानते है (जीवाज्ञानवादी), वे इसे बीजांकुर न्याय द्वारा समझाते हैं, जो खंडित अनवस्था नही है, क्योकि उनके मतानुसार जीव अविद्या से और अविद्या जीव से उत्पन्न है (अविद्यायाम् जीवः जीवादविद्या), जो अविद्या का ब्रह्म से सम्बन्ध मानते हैं (ब्रह्माज्ञानवादी) वे कहते हैं कि अविद्या स्वरूप से अनादि है इसलिए उसकी प्रकृति की अकारणता और असंगति अचम्भे का कारण नहीं होना चाहिए। जीव के अनादि प्रवाह में अविद्या भी अनादि है। इस मत का और

इन आक्षेपों से बचने के लिए ऐसा माना जाता है कि दोष, ब्रह्म या अनुभूति का ही स्वरूप है तो ब्रह्म नित्य होने के कारण दोष भी नित्य होंगे और मुक्ति तथा जगत् प्रपच का नाश कभी शक्य नही होगा। पुन: इस अविद्या को अनिर्वचनीय कहा है, क्योंकि वह सत्-असत्-विलक्षण है। परन्तु यह कैसे हो सकता है? वस्तु सत् या असत् ही हो सकती है। कोई वस्तु सत् और असत् दोनो हीं और न भी हो यह कैसे हो सकता है?

अज्ञान एक भाव पदार्थ है और मैं अज्ञानी हूँ 'मैं अपने को और दूसरो को नहीं जानता' इत्यादि अनुभवो द्वारा अज्ञान प्रत्यक्ष-गोचर होता है इस कथन के समर्थन में शकर मतवादी जो तर्क देते हैं उनका निर्देश करते हुए रामानुज कहते हैं कि ये प्रत्यक्ष अनुभव के लक्ष्य विषय के ज्ञान के अभाव से है, जो अनुभव से पूर्व विद्यमान था (प्राग भाव)। रामानुज तर्क करते हैं कि अविद्या किसी विशेष तथा असदिग्ध विषय का निर्देश नही कर सकती, क्योंकि अगर वह ऐसा करती है तो उस विषय का ज्ञान हो जायगा और अज्ञान को स्थान न रहेगा, और अज्ञान किसी विशेष विषय को निर्देश नही करता तो अज्ञान आप ही अकेला बिना आधार के कैसे अनुभव में आएगा? अगर ऐसा कहा जाता है कि अज्ञान का अर्थ यहाँ अविशद-स्वरूप ज्ञान है तो भी यह कहा जा सकता कि इसे सदिग्ध ज्ञान के उदय का अभाव मानना

जीव ज्ञानवादियो के मतानुसार जीव और अविद्या का जो सम्बन्ध (इस मत का) खण्डन करने के लिए, अज्ञान ब्रह्म में ही है यह मत ही पर्याप्त है। क्योंकि उन्होने कहा है कि उपरोक्त मत, जीव अनादि है यह सर्वसाधारण द्वारा मान्य मत का विरोध करता है क्योंकि इस मतानुसार जीव अविद्या से और अविद्या से जीव की उत्पत्ति है। दूसरा मत, भ्रम की शृंखला स्वत: ही अनादि शृंखला है यह उससे अधिक अच्छी नही है, क्योंकि, अगर एक भ्रम दूसरे भ्रम का कारण, अनादि शृंखला की तरह है, तो यह मत शून्यवाद से लगभग एकसा उतरता है। तदुपरात, अगर भ्रम को स्वभावत: ही अनादि मान लिया जाता है तब भी हमें मूलकारण ढूंढ़ना पडेगा जिसमे से यह भ्रम की शृंखला उत्पन्न हुई (मूल दोषापेक्षा), इस प्रकार यहाँ भी दोषपूर्ण अनवस्था प्राप्त होती है। अगर मूल दोष की माँग न की जाय, तो फिर हमें मूल दोष रूप में अविद्या ही है इसे मानने की आवश्यकता नही रहती। अगर ऐसा माना जाता है कि अविद्या स्वरूपत: न्याय-विसगत है तो वह मुक्त जीवो को और ब्रह्म को क्यों प्रभावित नही करती? अगर उत्तर ऐसा दिया जाता है कि मुक्त जीव और ब्रह्म शुद्ध होने से, अविद्या इन्हे प्रभावित नहीं करती तो इसका अर्थ यह होगा कि अविद्या न्याय-युक्त है, सगतिपूर्ण है न्याय-विरोधी नही है।

—श्रुत प्रकाशिका, प्र० ९, पृ० ६३६–६५।

चाहिए। इस प्रकार भाव रूप अज्ञान को मान लिया जाय तो भी उसका अपने से किसी अन्य का सम्बन्ध होना आवश्यक है जिसे वह निर्देश करता है। अज्ञान को ज्ञान के अभाव के रूप मे या ज्ञान से कोई अन्य पदार्थ के रूप में, या ज्ञान के विरोधी रूप में, कोई किसी भी दृष्टि से समझाना चाहे यह तब ही शक्य होता है कि जब हम उसे उस विषय के ज्ञान के रूप में समझें, जिसका वह विरोधी है। अंधकार को भी प्रकाश का विरोधी मानना ही पडेगा, इसलिए अंधकार को समझने के लिए प्रकाश का ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि वह उसका विरोधी है। किन्तु शंकर मतवादियो का अज्ञान अपने आप खडा नही रह सकता इसलिए उसे उस विषय का निर्देश करना होगा कि जो अज्ञात है इसलिए, उपरोक्त अनुभवो में, जैसेकि 'मैं अज्ञ हूँ' 'मैंने अपने आप तथा अन्य को नही जाना' हमे यह मानना पडेगा कि इस अवस्था में हमें ज्ञान के उदय के अभाव का अनुभव है न कि कोई भाव रूप अज्ञान का, क्योंकि भावरूप अज्ञान भी, उद्देश्य और विधेय के सापेक्ष है, ज्ञान के अभाव से इसकी स्थिति अधिक न्याययुक्त नही है। इसके अतिरिक्त, ब्रह्म जोकि सर्वदा स्वतन्त्र और नित्य शुद्ध स्वप्रकाश स्वरूप है उसे अविद्या का अनुभव कभी भी नही हो सकता। अज्ञान, ब्रह्म का आवरण नही कर सकता, क्योकि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य है,• केवल वही है। अगर ब्रह्म, अज्ञान को देख सकता है तो वह जगत् प्रपच को भी देख सकता है, अगर अज्ञान ब्रह्म को आवृत करके ही ब्रह्म को दिखाई देता है तो ऐसा अज्ञान सत्य ज्ञान द्वारा नष्ट नही किया जा सकता, क्योकि उसमें ज्ञान को आवृत करने की शक्ति है और उसके द्वारा प्रभावित करने की शक्ति है। आगे, यह भी नही कहा जा सकता कि अविद्या ब्रह्म को अश रूप से ही आवृत करती है क्योकि ब्रह्म निष्कल है। इसलिए उपरोक्त अनुभव 'मैंने कुछ नही जाना' स्मृति रूप से जो जाग्रत अवस्था मे होता है और जो गाढ़ निद्रा मे अनुभव को लक्ष्य करता है, वह गाढ़ निद्रा मे किए साक्षात् अज्ञान या अविद्या के अनुभव की स्मृति नही है, किन्तु यह जाग्रत अवस्था में किया हुआ अनुमान है कि सुषुप्ति में स्मृति न होने से, हमे कुछ भी ज्ञान नही हुआ।[1] अज्ञान की सत्ता को सिद्ध करने के लिए अनुमान भी उपयोगी नही है, क्योकि ऐसा तर्क केवल दोषपूर्ण ही नही होता किन्तु उसके अनुरूप कोई योग्य दृष्टात भी ढूँढा नही जा सकता जो वास्तविक घटना के आधार पर तर्क की माँग को सतुष्ट कर सके। तदुपरान्त, और भी कई अनुमान सरलता से दिए जा सकते है जो अज्ञान के बारे में शकर मतावादियों की मान्यता का खण्डन कर सकते हैं।[2]

---

[1] अतो न किंचित् अवेदिषम् इतिज्ञानम् न स्मरणम् किन्तु अस्मरणलिंगकम् ज्ञानाभाव-विषयम् अनुमितिरूपम्। श्रुत प्रकाशिका, पृ० १७८ (निर्णयसागर ६१,६)।

[2] श्रुत प्रकाशिका, पृ० १७८-१८०।

रामानुज का भ्रम विषय में मत—समस्त ज्ञान सत्य है

रामानुज कहते है कि समस्त प्रकार के भ्रम सक्षेप में इस प्रकार वर्णन किए जा सकते हैं कि भ्रम में, एक वस्तु जो है उससे कुछ और प्रतीत होती है (अन्यस्य अन्यथावभासः)। यह मानना न्याय-विरुद्ध है कि अनुभव में भ्रम से जो देखा गया है उसका कोई भी कारण नही है या भ्रम सर्वथा अगोचर है या सर्वथा अज्ञात है (अत्यन्तापरिदृष्टाकारणकवस्तु-कल्पना-योगात्)। अगर भ्रम के अनुभव के (अर्थ) विषय में इस प्रकार अत्यन्त असम्भव सी कल्पना की जाती है तो वह अनिर्वचनीय अवश्य ही होगा किन्तु भ्रम का कोई भी विषय अनिर्वचनीय नही है। वह तो सत्य ही दीखता है। अगर वह अनिर्वचनीय वस्तु जैसा दीखता है तो भ्रम और उसका निवारण भी शक्य नही होता। इसलिए यह मानना पडता है कि प्रत्येक भ्रम में (जैसेकि रजत् और सीप) एक वस्तु (सीप) दूसरे रूप में दीखती है (रजत्)। भ्रम के प्रत्येक मत में, चाहे फिर उसमे मिथ्यात्व का कितना भी अश विद्यमान हो, हमे मानना पड़ेगा कि एक वस्तु दूसरे रूप में दीखती है। वे कहते हैं कि शकर मत-वादियो का विरोध करते हुए, यह पूछा जा सकता है कि, यह अनिर्वचनीय रजत् कहाँ से उत्पन्न होता है? भ्रमपूर्ण अनुभव इसका कारण नही हो सकता, क्योकि प्रत्यक्ष अनुभव अनिर्वचनीय रजत् उत्पन्न होने पर ही होता है, वह कारण होने से इसके पहले विद्यमान नही हो सकता। भ्रम हमारी इन्द्रियों के दोष से भी उत्पन्न नही हो सकता, क्योकि ये दोष व्यक्ति से सम्बन्धित है इसलिए ये विषय के गुणो पर असर नही कर सकते। इसके अतिरिक्त अगर यह अनिर्वचनीय और अवर्णनीय है तो फिर वह रजत् के रूप में किसी विशेष परिस्थिति और असंदिग्ध रूप से क्यो दिखाई देता है? अगर ऐसा कहा जाता है कि इसका कारण रजत और सीप का साम्य है तो फिर पूछा जा सकता है कि यह साम्य सत् है या असत्? यह सत् नही हो सकता, क्योकि विषय भ्रम रूप है और वह असत् भी नही हो सकता क्योंकि वह किसी वास्त-विक पदार्थ को निर्देश करता है (दूकान मे रहे रजत को)। इस प्रकार भ्रम का यह मत अनेको आक्षेपो का ग्रास बनता है।

रामानुज, भ्रम के अन्यथा-ख्यातिवाद की ओर झुकते हैं ऐसा दीखता है और वे कहते हैं कि भ्रम के ज्ञान के अन्तर्गत, ज्ञान के बोध का या ऐसे ज्ञान से सूचित व्यवहार की विफलता का कोई समझौता नहीं होगा, जबतक, हम अन्ततोगत्वा यह न माने कि मिथ्यात्व या भूल एक वस्तु का दूसरे रूप में दीखना है। वे ऐसा भी कहते है कि भ्रम के अन्य वादो को (सम्भवतः यथार्थ ख्याति को छोडकर, जैसाकि 'श्रुतप्रकाशिका' की टीका से सूचित होता है—यथार्थ ख्याति व्यतिरिक्तपक्षेषु अन्यथा-ख्याति-पक्षः प्रबलः) मिथ्यात्व का विश्लेषण इसी प्रकार स्वीकारना होगा कि

वह एक पदार्थ का भ्रम से दूसरा दीखना है (ख्यात्यन्तराणाम् तु सुदूरम् अपि गत्वा अन्यथावभासः आश्रयणीयः ।। रामानुज भाष्य) । रामानुज, आगे यह भी बताते हैं, कि अख्यातिवाद भी (अर्थात् सीप में 'इद' और 'रजत' की स्मृति के भेद की अनुपलब्धि से उत्पन्न भ्रम) अन्यथाख्याति का ही एक प्रकार है क्योंकि यहाँ पर भी अन्त में यही मानना पड़ता है कि दो लक्षणों या विचारों के बीच भ्रम से तादात्म्य किया गया है। वेंकटनाथ, 'न्याय परिशुद्धि' में, इसी विषय पर टीका करते हुए कहते हैं एक वस्तु का दूसरे रूप से दीखना भ्रम का अनिवार्य कारण है, किन्तु भेद की अनुपलब्धि को, भ्रम से तादात्म्य करने की समस्त घटनाओं का अनिवार्य कारण मानना पड़ेगा। इसलिए इसमे सरलता (लाघव) है, तो भी अन्यथा ख्यातिवाद, भ्रम का योग्य और सत्य वर्णन करता है और भी भ्रम सिद्धांत भ्रम का यथार्थ वर्णन करने वाले इसे माने बिना चल नही सकता। इस तरह वेंकटनाथ कहते हैं कि रामानुज भ्रम के अन्यथा ख्यातिवाद से सहमत होते हुए भी, अख्यातिवाद की उत्कृष्ट सरलता को मान्यता प्रदान करते है, क्योंकि वह समस्त प्रकार के भ्रमों की अनिवार्य दशा है।

यद्यपि, जोकि रामानुज स्वयं भ्रम के अन्यथा ख्यातिवाद को पसन्द करते हैं तो भी वे यथार्थख्यातिवाद मत की अवज्ञा नहीं कर सके जो बोधायन नाथमुनि और वरद विष्णु मिश्र इत्यादि जैसे ज्येष्ठ अनुयायी और प्रतिष्ठापकों ने माना था और जिनकी उन्होंने टीका की थी। इस प्रकार, रामानुज के सामने दो वाद उपस्थित थे, एक तो वह जो वे स्वय मानते थे और दूसरा जो उनके ज्येष्ठ अनुयायियों ने माना था। सौभाग्यवश, उनके अन्यथा ख्यातिवाद की भूमिका मनोवैज्ञानिक थी और यथार्थ ख्यातिवाद की भूमिका सत्ता मीमासा परक थी, जिससे एक वाद को मनो-वैज्ञानिक दृष्टि से और दूसरे को सत्ता मीमांसा की दृष्टि से स्वीकारना शक्य था। रामानुज, इसलिए यथार्थ ख्यातिवाद का एक विकल्प के रूप में प्रतिपादन करते हैं। वेंकटनाथ कहते हैं कि यथार्थख्यातिवाद श्रुति प्रमाण के आधार पर ही प्रतिपादन किया जा सकता है, अनुभव के आधार पर एक दार्शनिक वाद की तरह उसका समर्थन नही किया जा सकता और इसलिए यह भ्रम का वैज्ञानिक मत नही कहा जा सकता। हमें इन दोनो अन्यथा ख्याति के और अख्याति मे से किसी एक के प्रति अपनी स्वीकृति देने का चुनाव कर लेना चाहिए।

रामानुज, अपने गुरुजनों द्वारा मान्य यथार्थ ख्याति से, जिसे वे 'वेदविदां मतम्' कहते हैं, पृथक् करते हुए, अपने मत को कई पदों द्वारा प्रतिपादन करते हैं और कहते हैं कि वे श्रुति के आधार पर ऐसा समझते हैं कि भौतिक जगत् अग्नि, अप और पृथ्वी इन तीन तत्वों के मिश्रण से बना है, इसलिए, प्रत्येक पदार्थ में ये तीन तत्व विद्यमान हैं। जब किसी पदार्थ में कोई एक तत्व प्रधान होता है तब उस पदार्थ में उस तत्व के गुण अधिकांश रूप से प्रधान होते हैं और वह उन गुणों वाला कहा जाता है यद्यपि उसमें अन्य तत्वों के गुण रहते हैं। इस प्रकार कुछ मानों मे ऐसा कहा जा सकता है

कि सभी पदार्थ सब पदार्थों में विद्यमान है। सीप मे तेज या रजत के गुण हैं इस वजह से यह रजत से एक दृष्टि से मिलता-जुलता भी कहा जा सकता है। भ्रम में ऐसा होता है कि इन्द्रिय-दोष इत्यादि से सीप मे रहे गुण जो अन्य तत्व का प्रतिनिधित्व करते है उन्हे नही देखा जाता है, इसलिए प्रत्यक्ष, उन्ही गुणो को ग्रहण करता है जो रजत के है और जो सीप मे विद्यमान है और सीप इस प्रकार, रजत रूप देखी जाती है। इस प्रकार सीप मे रजत का ज्ञान न मिथ्या है, न असत् है, किन्तु सत् है और वह वास्तविक पदार्थ को निर्देश करता है जो सीप मे रजत अंश है,[1] भ्रम के, इस वाद की दृष्टि से, समस्त ज्ञान किसी यथार्थ विषय या पदार्थ को निर्देश करता है।[2] प्रभाकर के वाद मे और इसमे भेद यह है—प्रभाकर जबकि भ्रम के कारण को वर्तमान मे चमकते सीप का अनुभव और दुकान मे रहे रजत की स्मृति के भेद की अनुपलब्धि रूप निषेधात्मक दशा को मानकर ही संतुष्ट हैं और कहते हैं कि ज्ञान स्मृति या प्रत्यक्ष रूप, दोनों रूप से सत्य है और भ्रम इन दोनो के भेद को न जानने से है, रामानुज अधिक मौलिक है क्योंकि वे बताते हैं कि सीप मे रजत देखने का कारण, सीप मे रजत अंश का सचमुच देखना और इन्द्रियादि-दोष के कारण विषय में विद्यमान—उन अंशों की अनुपलब्धि है जो उस भेद को बता सकते थे। इस तरह सीप में रजत का भ्रम किसी यथार्थ पदार्थ को निर्देश करता है, जो भ्रम का मूल है।

रामानुज स्वप्न को, ईश्वर की रचना कहकर, समझाते है जिसका आशय स्वप्न देखने वालो के चित्त में वैसा ही अनुभव उत्पन्न करने का है। कामला रोग से पीडित व्यक्ति को सीप पीली दीखती है, इसे वे इस प्रकार समझाते हैं कि पीला रग आँखो मे पित्त से उत्पन्न होकर, आँखो की रश्मि द्वारा सीप पर छा जाता है जो सफेद सीप को पीला कर देता है। जब सीप पीला दीखता है तब वह सचमुच पीला बन जाता है, जो कामला के रोगी का नेत्र देखता है, यद्यपि यह उसी व्यक्ति को दीखता है और को नहीं क्योकि पीलापन उसकी आँखों के निकट है।[3]

---

[1] देखो श्रुत प्रकाशिका, पृ० १८३–६।

[2] सुदर्शन सूरि के मतानुसार यह वाद बोधायन नाथमुनि, राममिश्र इत्यादि का साम्प्रदायिक मत है जिसे रामानुज ने अपने को उस सम्प्रदाय के एकनिष्ठ अनुयायी के नाते माना है, रामानुज यो कहते हैं—

> यथार्थं सर्व विज्ञानम् इति वेदविदां मतम्।
> श्रुतिस्मृतिभ्यः सर्वस्य सर्वात्मत्व प्रतीतितः॥
>
> —भाष्य और श्रुति प्रकाशिका, पृ० १८३।

[3] दूसरे प्रकार के भ्रम या मिथ्यापन, रामानुज इस प्रकार समझाते हैं—वे यथार्थ सत्ता रूप हैं, उसमे मिथ्यापन उन अन्य तत्वो के न जानने से है जो यथार्थ है और

अख्यातिवाद और यथार्थख्यातिवाद इस बात पर एक मत हैं कि आरोपित विचार के अनुरूप यथार्थ विषय है जो उसका आधार है। किन्तु जबकि पहला मत यह मानता है यथार्थ आधार भूतकाल का अनुभव है, दूसरा मत यह मानता है कि वह विषय के साथ-साथ प्रस्तुत होता है अर्थात्, रजत अंश का सीप के अंश से मिल-जुल जाना इन्द्रिय के प्रत्यक्ष का विषय होता है, किन्तु परिस्थिति, इन्द्रियादि दोषों की वजह से, सीप में जो अनुभव का प्रधान अंश होना चाहिए उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इस प्रकार रजत अंश ही प्रत्यक्ष में आता है जिससे भ्रम होता है। इस प्रकार सीप का अप्रत्यक्ष होना दोनों में एक जैसा है, जबकि अख्यातिवाद की दृष्टि से रजत अंश अतीत अनुभव की स्मृति से उत्पन्न प्रतिमा है। यथार्थ ख्यातिवाद उपनिषद् के त्रिवृत् करण के सिद्धान्त का आधार लेता है और मानता है कि रजत अंश उस समय प्रत्यक्ष ही होता है। किन्तु सुदर्शन सूरि अन्य आचार्यों (केचित् आचार्याः) के मतों का ब्यौरा देते हुए कहते हैं कि त्रिवृत् करण-सिद्धान्त, एक भूत का दूसरे रूप मे मिथ्या देखने को भी समझा सकता है, किन्तु साम्य के कारण भ्रम की घटना को समझाने में त्रिवृत्-करण अनुपयोगी है, क्योंकि त्रिवृत्करण और पंचीकरण भूतों के मिश्रीकरण को समझा सकते हैं किन्तु भौतिक को नही, या पाँच तत्वों के पदार्थ के रूप में होने वाले विकार को नही समझा सकते जैसेकि सीप और रजत, जो साम्य होने की वजह से एक दूसरे का भ्रम पैदा करते हैं। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि भूतों के विकार मे भी त्रिवृत्करण का सिद्धान्त कुछ अंश में लागू होता है, क्योंकि यहा पर पदार्थ के अणु अधिक अंश मे एक तत्व के विकार से और कम अंश में अन्य तत्वों के विकार से बने है। सीप के अणु इस प्रकार अधिक अंश में सीप के तत्व से और न्यून अंश में रजत तत्व से बने हैं, यह एक तत्व का दूसरे तत्व से साम्यता को स्पष्ट करते हैं। साम्य, एक तत्व में दूसरे तत्व के वास्तविक रूप से विद्यमान होने से है और इसे प्रतिनिधि-न्याय कहते हैं या यथार्थ निरूपण द्वारा सादृश्य निर्धारक नियम के रूप में जानते हैं। इस प्रकार साम्य की वजह से एक वस्तु को अन्य अनुभव करने में, सचमुच मिथ्या अनुभव नहीं होता किन्तु दूसरी प्रतिवस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है जो उनके सादृश्य का आधार है और जो उस बृहत् अंश की अनुपलब्धि है जिसने प्रतिवस्तु को सदृश रूप से ग्रहण कर रखा था। सीप में शुक्त्यंश अधिक है और रजत अंश न्यूनरूप से है, इसी कारण से वह सीप जाना जाता है, रजत नहीं जाना जाता। सीप अंश के विद्यमान होते हुए भी रजत के अर्थ से निरूपयोगी है क्योंकि शुक्ति का बृहत् अंश उसका अवरोधक है इसलिए हम कहते हैं कि हमे सीप दिखाई देती है रजत नहीं। जब यह कहा जाता है कि यह सीप है रजत नहीं है (नेदं रजतम्) 'यह रजत

उस पदार्थ से सम्बन्धित है जो भ्रम के विषय है; किन्तु दोष के कारण देखे नहीं गये हैं। —देखो वही, पृ० १८७,१८८।

नहीं है' इसका अर्थ सीप से ही है जिसके अनुभव से रजत का विचार हट जाता है। 'यह रजत नहीं है' कह कर निषेधात्मक रूप से सीप ही लक्ष्य है और स्वीकारात्मक रूप से भी सीप लक्ष्य है।

रामानुजाचार्य यानी वादिहसाम्बुवाहाचार्य, जो वेंकटनाथ के मामा थे, वे रामानुज के सत् ख्यातिवाद का यों कहकर समर्थन करते हैं कि अन्य तीन प्रतिस्पर्धीवाद अर्थात् अन्यथा ख्याति, अख्याति और अनिर्वचनीय ख्याति, एक दूसरे को काटते हैं, इसलिए असगत हैं। किन्तु वे यह सिद्ध करने का कठिन प्रयत्न करते हैं कि अन्यथा ख्याति एव अख्याति के वास्तविक वाद के अन्तर्गत आए हुए तार्किक सम्बन्धों के आधार पर, सत् ख्याति का समर्थन हो सकता है। वे अख्यातिवाद के वस्तुवाद (वास्तविकवाद) और उसके सबध को मानकर विवाद करना शुरू करते हैं। वे यह मानते हैं कि वह भी अन्त में अन्यथा ख्यातिवाद को ही पहुँचेगा, इसलिए (सत् ख्याति को छोडकर) सम्भवतः अन्यथा ख्याति सबसे श्रेष्ठ है। वे अपने 'न्याय कुलिश' में कहते हैं कि जबकि ज्ञान-व्यापार के लिए इन्द्रियों को विषय तक पहुँचना आवश्यक है तो भ्रम के अनुभव में भी कोई विषय होना चाहिए जिस पर इन्द्रियाँ पहुँचती है, क्योंकि वे ऐसे विषय का ज्ञान नहीं दे सकते जिससे उनका सम्बन्ध न हो।[1] दोष, नए ज्ञान का कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह तो किसी ज्ञान या प्रत्यक्ष का अवरोधक है, दोष केवल कार्य-कारण के स्वाभाविक क्रम का अवरोध करता है।[2] जिस प्रकार अग्नि बीज की अकुर उत्पादन शक्ति का नाश कर देती है। इसके अतिरिक्त सीप-रजत का पुराना उदाहरण लेकर यह पूछा जा सकता है कि अगर रजत विषय रूप से विद्यमान न था तो फिर ऐसी असत् वस्तु का ज्ञान कैसे होता है? जबकि हमारी चेतना असत् वस्तु का निर्देश नहीं कर सकती, इसलिए प्रत्येक प्रकार की चेतना उसके अनुरूप विषय की सत्ता को सिद्ध करती है। रजत-सीप के भ्रम में भूतकाल में अनुभव किए रजत की स्मृति होती है और इसका भूतकाल में अनुभव हुआ होता है और दोष के कारण, रजत भूतकाल की स्मृति है, यह नहीं समझा जाता, केवल उस समय 'यह' ही हमारे सामने प्रत्यक्ष होता है तो उस समय अनुभव में आता है (दोषात् प्रमुषितसदवमर्शः)।[3]

---

[1] इन्द्रियाणाम् प्राप्यकारित्वेन अप्राप्तार्थप्रकाशनानुपपत्तेः। न्याय कुलिश। मद्रास गव॰ ओरिएन्टल हस्तलिखित, स॰ ४९१०।

[2] दोषाणां कार्यविघातमात्रहेतुत्वेन कार्यान्तरोपजनकत्वायोगात्, न हि अग्नि संस्पृष्टस्य कलमबीजस्य अंकुरोत्पादने सामर्थ्यम् अस्ति।

—वही।

[3] इदं इतिपुरो वस्तुनि अनुभवः रजतम् इति च पूर्वानुभूत-रजत-विषयास्मृतिः।

—वही।

वादि हृसाम्बुवाह, प्रतिस्पर्धी अन्यथा और अख्याति वादों के तर्कों की तुलना करते हुए अन्यथा ख्यातिवाद के तर्कों का प्रतिपादन करते हैं। अख्यातिवाद के विरोध में उठाए गए आक्षेपों के विरुद्ध उनका कथन है कि जैसे प्रत्येक पदार्थ दूसरे से भिन्न है, तो फिर भ्रम किस प्रकार से समझा सकता है कि वह पूर्व अनुभूत रजत की स्मृति और वर्तमान में प्रत्यक्ष का विषय बने 'इदम्' की अनुपलब्धि है। इस तर्क के पक्ष में वे कहते हैं कि भेद, जो यहाँ नही देखा जाता है वह पदार्थ के वे गुण है, जिनकी वजह से, एक पदार्थ दूसरे पदार्थ जैसा संकीर्ण नही किया जाता या भ्रम रूप नही देखा जाता और इसी भिन्न करने वाले लक्ष्य के न जानने से ही सीप में रजत का भ्रम उत्पन्न होता है, (संसर्ग-विरोधी वैधर्म्य-विशेषरूप भेदाग्रहः प्रवृत्ति हेतुः)।[1] किन्तु भ्रम के आख्यातिवाद को अत्यन्त सतोषजनक मानने मे, सच्चे आक्षेप ये हैं, कि, इसे मानने से हम, पदार्थ अमुक धर्म वाला है ऐसा मानते जैसा ससर्ग व्यवहार होता है, जैसाकि पण्डितो के विवाद तथा हमारे भ्रम के प्रत्यय तथा व्यवहार में पाया जाता है, इसे मानने पर हमे अन्यथा ख्याति को अपरिहार्य एव अन्तिम स्पष्टीकरण के रूप मे मानने को बाध्य होना पडता है।[2]

---

[1] मद्रास गवर्नमेंट हस्त० स० ४६१०।

[2] रामानुज ने निर्देश किए हुए 'वेदविदांजन' की तरह, प्रभाकर भी समस्त ज्ञान को यथार्थ मानते है (यथार्थं सर्वम् एवह विज्ञानम् इति। प्रकरण पचिका पृ० ३२)। किन्तु वे इसे 'सत्व मीमासा' के आधार पर मानते हैं जबकि प्रभाकर मनोवैज्ञानिक और प्रयोग के आधार पर मानते है। प्रभाकर का मत प्रतिपादन करते हुए शालिकनाथ ऐसा कहते हैं कि ज्ञान का जो भी विषय होता है, वही जाना जाता है और सीप रजत भ्रम के समय, जो कुछ जाना जाता है वह 'यह रजत है' किन्तु उस समय सीप का ज्ञान नही है, क्योकि उस समय वह अनुभव का विषय नही होता। इस प्रकार यह नही कहा जा सकता कि भ्रम मे सीप रजत रूप से जाना जाता है किन्तु 'इदम्' को रजत जाना जाता है, क्योकि जब भ्रमयुक्त रजत का ज्ञान होता है तब सीप का नही होता। भ्रम मे, दोष के कारण सीप का भेद उत्पन्न करने वाला विशेष धर्म नही जानने में आता, सीप सामान्य धर्म से एक विषय के रूप मे ही दीखता है। फिर रजत की स्मृति का प्रश्न है, मनो व्यापार के दोष से (मनोदोष) रजत देश और काल के मूल सहचार के साथ वह वही रजत है तो वहाँ देखा था ऐसा स्मरण नही होता किन्तु केवल एक प्रतिभा रूप से रजत का स्मरण होता है (तदित्वश परामर्श-विवर्जितम्)। यद्यपि 'मैं रजत का स्मरण' करता हूँ ऐसा स्पष्ट अनुभव नही होता, तो भी रजत का विचार स्मृति से उत्पन्न होता है, ऐसा मानना पड़ेगा, क्योकि यह अन्य किसी प्रमाण द्वारा, जैसेकि प्रत्यक्ष या अनुमान, से उत्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार, सारे प्रमाणों को लोप करने

वादिहंसाम्बुवाह कहते हैं कि जबकि रजत का अनुभव उसी में होता है जो केवल सीप का ही टुकड़ा है इससे यह अनुमान होता है कि एक का दूसरे पर आरोपण किया जाता है (जो तत्वतः अन्यथा ख्याति का गुण है)। जिस प्रकार रजत के सचमुच ज्ञान में, हमारे सामने जो पदार्थ है उसी का रजत रूप से अनुभव होता है, वैसे ही रजत-सीप के भ्रम में, हमारे सम्मुख उपस्थित पदार्थ ही रजत रूप से प्रत्यक्ष होता है और यहाँ पर भी सीप ही रजत रूप से दीखती है। जब भ्रम नष्ट हो जाता है तब हम कहते हैं, 'यह रजत नहीं है' इससे यह अर्थ नहीं होता कि केवल सीप ही उपस्थित है बल्कि पहले जो आरोपण किया गया था उसका निरास है। क्योंकि अगर निषेध को भाव रूप माना जायगा तो फिर भावात्मक और अभावात्मक पदार्थों मे भेद समाप्त हो जाएगा (बाध्यस्य विधिरूपत्वे विधि-निषेध-व्यत्यासं च निषेधे बाध इति तुल्यार्थत्वात्)।[1] अख्यातिवाद, ससर्ग की अनुपस्थिति के अग्रहण को (अर्थात्-सीप-रजत के, असंसर्गग्रह) का भ्रम का कारण मानता है। यहाँ ऐसा प्रश्न किया जा सकता है कि यह ससर्ग की अनुपस्थिति क्या है ? वह स्वय वस्तु ही नहीं हो सकती, क्योंकि अगर ऐसा होता तो, हमे ऐसी आशा करनी चाहिए कि स्वयं वस्तु (सीप) प्रत्यक्ष नहीं होती है और वही भ्रम पैदा करता है, जोकि असभव है। - इसके अतिरिक्त, रजत ही हमारे सामने है और प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, न कि कोई याद की हुई वस्तु प्रत्यक्ष होती है। हम जानते हैं कि जब हमें 'यह रजत है' ऐसा भ्रम होता है, तब मिथ्या ससर्ग ग्रहण होता है (बाधक ससर्ग ग्रहण), किन्तु हम भेद ग्रहण नही करते हैं, (भेदाग्रह) ऐसा विचार कभी भी नही आता। अगर हम विरोध या मिथ्या (रजत सीप) के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करें तो हमें पता चलेगा कि सीप जला देने पर राख हो जाती है और रजत के जला देने पर उसकी अँगूठी बनाई जा सकती है, यह तथ्य भ्रम का कारण नही है किन्तु यह तथ्य कारण है कि जो आग में तपाने पर

पर रजत को स्मृति से उत्पन्न है ऐसा माना पड़ता है (अनन्यगतितः स्मृतिः अत्राव-गम्यते)। मैं पूर्वकाल के अनुभव को याद करता हूं, इस भावना की अनुपस्थिति की वजह से, रजत की स्मृति प्रत्यक्ष से विविक्त नहीं होती, क्योंकि यही तथ्य, वर्तमान प्रत्यक्ष को स्मृत प्रतिमा से भिन्न करता है, इसीलिए; हम इस स्मृति और साक्षात् प्रत्यक्ष के बीच भेद जानने में विफल होते हैं (भेद प्रकट करने वाले धर्म, इन्द्रिय-दोष इत्यादि के कारण लुप्त हो जाते हैं) इस भेद का अनुभव न होने से, ये दो प्रकार की चेतना, स्वय, रजत का साक्षात् प्रत्यक्ष अनुभव रूप से भ्रम उत्पन्न करते हैं, जो उस समय नहीं होता है और हम अपना हाथ बढ़ाकर उसे उठाने को ललचाते हैं मानोकि हमारे सामने सचमुच चाँदी का टुकड़ा पड़ा है।

—देखो प्रकरण पंचिका, अ० ४, नयवीथि।

[1] न्यायकुलिश वादिहंसाम्बुवाह रामानुजाचार्य कृत, गव० ओरि० हस्त० सं० ४९१०।

अँगूठी बनने में शक्तिमान् है उसे ऐसा नहीं किया जा सकता (यदि स्वगुलीयकादिहेतुतया भिमतस्य व्यवहारस्य भस्म हेतुत्वको हि अत्र विशेषः)। अगर भ्रम का यही अर्थ समझा जाता है तो वह एक प्रकार के व्यवहार के कारण को, दूसरे प्रकार का कारण-ग्रहण करने के सिवाय और कुछ नहीं है (अन्य हेतु व्यवहारोऽन्यहेतुतयावगतः)। यह तो अन्यथा ख्याति हुई, क्योंकि अगर यहाँ पर भी यह कहा जाय कि भेद ग्रहण नहीं हुआ है, तो भी यहाँ पर यह नही समझाया जाता कि ऐसी परिस्थिति में एक वस्तु को दूसरा कैसे मान लिया गया ?[1] ऐसी सभी परिस्थितियो में अनुभव को ही प्रमाण मानना चाहिए, जो इस बात को सिद्ध करता है कि प्रत्येक भ्रम के दृष्टान्त मे एक वस्तु दूसरी होकर दीखती है।[2]

किन्तु यद्यपि वादिहंसाम्बुवाहाचार्य इस प्रकार भ्रम के अन्यथा-ख्यातिवाद का समर्थन करते है तो भी वे अख्यातिवाद को तुच्छ नही मानते, किन्तु वे मानते हैं कि यह भी भ्रम की दशा को, जब हम दूसरे दृष्टिकोण से देखते हैं, तब समझा सकता है। क्योंकि अगर सीप और रजत का भेद का अग्रहण न होता तो सीप को रजत समझा ही न जाता, इसलिए, अन्यथाख्याति में भी, अख्याति का एक अश उपस्थित है, क्योंकि हम सीप के प्रति ठीक वैसा ही व्यवहार करे जैसाकि रजत के प्रति होना चाहिए इसलिए यह आवश्यक है कि हम हमारे सामने जो उपस्थित है और जिसका स्मरण होता है, इस भेद को न जाने। किन्तु यद्यपि अख्याति के निषेधात्मक अश को अर्थात् भेद के अग्रहण को—एक आवश्यक अवस्था माना जा सकता है, तो भी, ससर्ग के विध्यात्मक अश को आवश्यक क्रम के रूप में मानना ही पडेगा, जो अनुभूत प्रत्यक्ष के भिन्न तत्वो को जोड़ता है। हमारी समस्त प्रवृत्ति और कर्म का मूल कारण ससर्ग है इसलिए यह मानना गलत होगा कि भेद का अग्रहण स्वतः ही हमारे प्रवृत्ति के कर्म का सच्चा कारण है (न च मूलभूते ससर्गज्ञाने प्रवृत्ति-कारणे सिद्धे तदुपजीविनो निरन्तर-ज्ञानस्य प्रवृत्ति हेतुत्वम् इति युक्त वक्तुम्)।[3] यद्यपि वादिहसाम्बुवाह सारा

---

[1] सुदर्शन सूरि, श्रुत प्रकाशिका मे रामानुज ने कहे वेदविदाजन की यथार्थ ख्यातिवाद पर टीका के सबध में अख्यातिवाद पर टीका करते हुए कहते हैं कि अख्यातिवाद में लाघव गुण है, सरलता है, या वह वाद कम से कम पूर्व-कल्पना को ग्रहण करता है, जैसेकि भ्रम मे अस्पष्ट पदार्थ ही दीखता है और 'इदम्' और स्मृति-जनित प्रतिमा के बीच भेद को नही जाना जाता। इसे प्रत्येक भ्रमवाद के सिद्धान्त मे मानना पड़ेगा और इसके उपरान्त दूसरी पूर्व कल्पना भी माननी पडेगी।

[2] यदि चात्रापि भेदाग्रहः शरणम् स्यात् ततोऽभिमान-विशेष-कृत-बाध-व्यवस्था न सिध्येत्। —गव० ओरि० हस्त० सं० ४६१०।

[3] यदि चात्राणि भेदोग्रह शरण स्यात् ततोऽभिमान-विशेष-कृत-बाध व्यवस्था न सिध्येत्। —ग० ओ० हस्त० सं० ४६१०।

विवाद भ्रम के संभाव्य वादो में अख्याति और अन्यथा ख्याति की आपस की सम्बद्ध श्रेष्ठता बताने में ही व्यस्त करते हैं, तो भी वे रामानुज द्वारा माने गए भ्रम के बाद की ओर लक्ष्य करते हैं, जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु प्रत्येक वस्तु में उपस्थित है इसलिए कोई ज्ञान भ्रम-युक्त नही है। वे इस वाद को अत्यन्त सच्चा और ठीक समझते हैं। किन्तु अगर ऐसा है तो भ्रम के अख्याति और अन्यथाख्यातिवाद के विवाद में उतरना व्यर्थ ठहरेगा। वादिहसाम्बुवाह यह बताने का प्रयत्न नही करते कि अगर इस वाद को माना जाय तो अख्याति और अन्यथाख्यातिवाद को किस प्रकार माना जायगा।[१] वे आगे अनिर्वचनीय ख्याति (सीप रजत भ्रम मे रजत का दीखना–अनिर्वचनीय उत्पत्ति है) जो शकरमतवादी मानते है, पुराने घिसे-पिटे ढग से खण्डन करते हैं जिससे हम पहले से ही परिचित हैं।

१६वीं शताब्दी के लेखक, अनन्ताचार्य ने भ्रम के इस वाद पर बल दिया है जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु प्रत्येक में उपस्थित है और इसलिए सीप का रजत रूप दिखना न तो भ्रम है और न प्रत्यक्ष और स्मृति के बीच भेद का अग्रहण ही है, क्योकि 'यह रजत है' यह प्रत्यक्ष ज्ञान, दो प्रत्यक्षों का 'यह' और 'रजत' का मिश्रण है। अगर यह प्रत्यक्ष अनुभव न होता तो हमे ऐसा प्रतीत न होता कि हमने हमारे सामने उपस्थित 'इदम्' को रजत रूप से अनुभव किया है। दोष का कार्य केवल सीप अंश को प्रत्यक्ष से ढकना था (जो रजत से मिश्र हुआ था)। ऐसा कहना कि प्रत्येक प्रत्यक्ष के अनुरूप विषय होते हैं (यथार्थ) इसका अर्थ यह नही होता कि वस्तु वैसी ही है जैसाकि हमे उनका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, किन्तु अर्थ यह निकलता है कि जिसका प्रत्यक्ष होता है उसके अनुरूप विषय का आधार नही है यह बात सत्य नही है।[२] रजत में जो तेज अश है जो उसका निमित्त कारण है, वह अवश्य ही तेज तत्व भी है और सीप मे निमित्त कारण रूप पृथ्वी अथक्षिति तत्व मे भी हैं, ये तत्व शकर की मूलावस्था मे त्रिवृत्करण की वजह से मिश्रित हो गए हैं और यही तथ्य रजत-भ्रम की दशा में रजत के अनुरूप विषय की उपस्थिति को समझाते है।[३] अनताचार्य तर्क

---

[१] यद्यपि भूतानाम् पचीकरण-लब्ध-परस्पर व्याप्तया शुक्ति कायाम् अपि सादृश्यात् रजतैकदेशो विद्यत एव इति सिद्धान्तः तथापि न विद्यत इति कृत्वा चिंत्यते वाद्युद्धा-हरण प्रसिद्धयनुरोधाय।   –गर्व प्रो० हस्त० स० ४६१०।

[२] तद् विषयक-ज्ञान-सामान्यं विशेष्यावृत्तिधर्मप्रकारकत्वाभावा दिति यथार्थं सर्व-विज्ञानम्। 'ज्ञान याथार्थ्यवाद' –हस्त० स० ४८८४।

[३] यादृश धर्मावच्छिन्नात् तेजोऽशाद् रजतारम्भः तादृशधर्मा वच्छिन्नानाम् अपि अशानाम् महाभूतारम्भके तेजसि सत्वेन धात्वारम्भकतावच्छेदक धर्मावच्छिन्नानाम् पार्थिव-भागानाम् अपि महापृथिव्याम् सत्वेन तयोः महाभूत त्रिवृत् करण दशायाम् एव मेलानासम्भवाच्छुक्तयादौ रजतासद्भावोपपत्ते।   –वही।

श्रुत प्रकाशिका मे किए गए आक्षेप का जो हमने अभी देखा है, यही उत्तर है।

करते हैं कि यह स्पष्ट है कि सीप रजत रूप में नहीं दीख सकती, क्योंकि सीप रजत नहीं है, वह फिर रजत कैसे दीखेगी। 'यह रजत है' इस अनुभव को पूर्णतया समझाने के लिए यह मानना आवश्यक है कि 'यह रजत है' इस मिश्र दशा के 'इदम्' और 'रजत' यह दो अंश प्रत्यक्ष में निश्चित है। क्योंकि इसी प्रकार ही, हम 'मैं रजत देखता हूँ' इस प्रत्यक्ष अनुभव को न्याय-युक्त कह सकते हैं।

ईश्वरवादी प्रमाणों की विफलता

ईश्वर की सत्ता केवल शास्त्र प्रमाण द्वारा ही जानी जा सकती है। अन्य दूसरे प्रमाण जो ईश्वर की सत्ता प्रतिपादन करते है, अन्त मे विफल ही होते हैं, क्योंकि उनका खण्डन करने के लिए अन्य योग्य विरोधी तर्क सफलता से दिए जा सकते हैं।

ईश्वर, किसी भी इन्द्रिय द्वारा या मन द्वारा गोचर नही हो सकता क्योंकि इन्द्रियाँ उनका ही ज्ञान करा सकती है जिसके वे सम्पर्क में आती हैं। और मन (दुःख और सुख की भावनाओं को छोडकर) जिनका साक्षात्कार वह करता है उन बाह्य पदार्थों को इन्द्रियो के बिना ज्ञान नही करा सकता। और ईश्वर योगि प्रत्यक्ष द्वारा भी अनुभव किया नही जा सकता, क्योंकि योगि-प्रत्यक्ष स्मृति रूप है और इन्द्रिय द्वारा अननुभूत तथ्यो का ज्ञान नही देता। योगी, अनुभूत विषय को ही जान सकते हैं चाहे ये विषय उनके सामने उपस्थित न हो। अतिसूक्ष्म विषय भी इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नही है क्योंकि इनसे इन्द्रिय का सबध नही हो सकता। ऐसा कोई हेतु भी प्रत्यक्ष नही हो सकता जिससे यह अनुमान किया जा सके कि कोई एक परम पुरुष है जिससे समस्त पदार्थों का साक्षात् परिचय है और जिसमें उन्हे उत्पन्न करने की शक्ति भी है। साधारण तर्क जो दिए जाते है वे कार्य-कारण रूप होते हैं— ससार कार्य है इसलिए इसका कारण होना चाहिए, कोई कर्त्ता होना चाहिए, जिसे पदार्थों से तथा उनकी उपयोगिता से परिचय हो और वह उन्हें भोगता भी हो। ससार अन्य कार्यों की तरह, एक कार्य है, और खण्डो का समूह-सा (सावयव) है, इसलिए वह स्वस्थ मानव देह की तरह किसी एक ही पुरुष के मार्ग-दर्शन और अधीक्षण में है। किन्तु इन उदाहरणो में साम्यता नही है। मनुष्य की देह न तो जीव (आत्मा) द्वारा उत्पन्न होती है और न उसके अधीक्षण से जीवित रहती है। देह की उत्पत्ति उस मनुष्य के केवल कर्मों (अदृष्ट) के कारण ही नहीं है किन्तु जो लोग उससे लाभ उठाते हैं या उससे किसी प्रकार संबधित हैं उनके कारण भी हैं। देह की, अवयवो के अन्तर्सम्बध के रूप में सत्ता, उसके अवयवों की इकाई के कारण है, वह उस जीवित मनुष्य के अधीक्षण पर आधारित नही है। देह का जीवित रहना वह उसकी विलक्षणता है जिसका समस्त जगत् में कोई उदाहरण नही है। एक पुरुष का अधीक्षण, उसकी प्रवृत्ति का नियत कारण मानना आवश्यक नहीं है क्योंकि यह तो प्रसिद्ध है कि बहुत

से लोग मिलकर अपनी शक्ति से कोई भारी पदार्थ को हटाने में लगाते हैं जो अन्य किसी प्रकार नहीं हिलाया जा सकता।

इसके अतिरिक्त, अगर, जगत् का ऐसा रचयिता माना जाता है, तो क्या जगत् को बनाने के लिए एक या अधिक जीवों को मानना अच्छा नहीं है? उन्हे जगत् की सामग्री का साक्षात् परिचय है। रचयिता को, पदार्थों की आन्तरिक कार्यक्षमता और शक्ति से परिचय होना आवश्यक नहीं है क्योंकि शक्तिमान पदार्थों का साक्षात् परिचय होना ही पर्याप्त है। हम यह देखते हैं कि रचना के सारे उदाहरणों में, जैसेकि घड़ा या कपड़ा बनाना, बनाने वाला एक साधारण मनुष्य होता है। जगत् के कारण का अनुमान, जबकि, ऐसे ही उदाहरणों से प्रेरित होता है, तो यही योग्य होगा कि जगत् का रचयिता भी उसी वर्ग का व्यक्ति होगा जिस वर्ग के व्यक्ति साधारण सांसारिक पदार्थों को बनाते है जैसेकि घडा या कपडा। इस प्रकार, जगत् के रचयिता को एक परम पुरुष मानने के बजाय, हम एक जीव को भी जगत् का कर्त्ता मान सकते हैं। इस प्रकार अनुमान द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध करना कठिन है। किसी विषय को जानने के लिए, साधारणतः अनुमान का उपयोग किया जाता है, जो अन्य प्रकार से भी जाने जा सकते हैं, और ऐसे सभी प्रसगो, दशा में, इन प्रमाणों द्वारा ही, किसी भी अनुमान की प्रमाणता सिद्ध की जाती है। किन्तु ईश्वर को जानने के लिए अनुमान का उपयोग करें तो यह असंभव हो जाता है, क्योंकि ईश्वर किसी भी साक्षात् या परोक्ष साधन द्वारा नहीं जाना जा सकता इसलिए अनुमान का उपयोग सर्वथा निरुपयोगी रहता है क्योंकि हमारे पास अनुमान की प्रमाणता सिद्ध करने का न कोई साधन है और न अनुमान को हम किसी एक ही विशेष प्रकार से निश्चित भी कर सकते हैं। जबकि भिन्न तर्क वाक्यों से किसी भी प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं तो यह निश्चित करना असंभव है कि कोई विशेष अनुमान दूसरे से अधिक मान्य है।

कुछ लोग विश्वकारण-युक्तिवादी तर्क का इस आधार पर समर्थन करना चाहते हैं कि इस महान् जगत् का, एक साधारण जीव से सर्वथा भिन्न हो, जो परम पुरुष से कम नही है, रचयिता माना जा सकता है, क्योंकि जीवों को, सूक्ष्म-दृष्टि पथ से अवरुद्ध या बहुत दूर स्थित वस्तु को देखने की शक्ति नही हो सकती। इस प्रकार जगत् का कर्त्ता, अपरिमित शक्तिशाली सत्ता है ऐसा मानना आवश्यक है। कार्य से, हम कारण का अनुमान लगाते हैं और पुनः कार्य के स्वरूप से हम कारण के स्वरूप का अनुमान करते हैं। इसलिए, यदि हमें जगत् के कारण का अनुमान करना है तब ऐसा ही कारण अनुमान किया जा सकता है जिसमें ऐसा कार्य उत्पन्न करने की सचमुच अपरिमित शक्ति हो। कारण जो ऐसा कार्य उत्पन्न न कर सके, उसे अनुमित करना, असंगत है। इसके साथ-साथ, साधारण कारणो की अनावश्यक उपाधियों का भी यह सूचन करने को नहीं छोड़ना चाहिए कि जिस प्रकार कि एक साधारण मनुष्य को,

कार्य उत्पादन करने के लिये देह और साधन होना चाहिये, ठीक उसी प्रकार परम कारण को भी देह और कार्य करने के लिये साधन होना चाहिये। यह नहीं हो सकता, क्योंकि हम जानते हैं कि कितने ही कार्य, इच्छा और संकल्प मात्र से ही सिद्ध होते हैं और इच्छा और संकल्प की सत्ता के लिये देह की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे देह से उत्पन्न न होकर मन से होते है। मन की सत्ता देह की सत्ता से स्वतन्त्र है, क्योकि मनस् की सत्ता देह से अलग होने पर भी, विद्यमान रहती है। जबकि, पाप और पुण्य के प्रभाव में रहने वाले, परिमित जीव, इस विचित्र अनेक प्रकार की रचना वाले बहुरूप जगत् को उत्पन्न करने में शक्तिमान् नहीं है इसलिये यह मानना ही पड़ता है कि एक परम पुरुष है जिसने यह सब उत्पन्न किया है। और जबकि उपादान कारण, कर्त्ता और कारण रूपी कारण से सर्वथा भिन्न होता है ऐसा सभी ज्ञात उदाहरणो में देखा गया है, तो फिर ब्रह्म इस जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनो नहीं हो सकता है।

इस तर्क का इस तरह उत्तर दिया जा सकता है, हम यह मानते हैं कि जगत् एक कार्य है और महान् भी है, किन्तु यह कोई नही जानता कि इस विशाल जगत् के सभी भाग एक ही समय और एक ही पुरुष द्वारा बने हैं। एक अज्ञात परम पुरुष के लिए यहा कहां स्थान बचता है और इस शक्यता की किस प्रकार अवगणना की जा सकती है कि भिन्न-भिन्न जीवों ने, अपने विशेष कर्म और शक्ति से, भिन्न-भिन्न समय में जगत् के भिन्न भागो को बनाया हो जो अब हमें एक रूप से दिखाई देते हैं मानो एक पुरुष द्वारा बने हो ? जगत् के भिन्न भाग भिन्न समय में बनाये गये हों और उसी प्रकार भिन्न समय मे नष्ट किये जायेंगे यह मानना शक्य है। एक परम पुरुष की सत्ता की कल्पना करना, जिसने इस बहुरूप जगत् को बनाया हो, असभव कल्पना मानना चाहिये। जगत् एक कार्य है, इस तथ्य से यही तर्क किया जा सकता है कि यह किसी चेतन पुरुष द्वारा बनाया गया होगा, किन्तु यह आवश्यक रूप से, एक ही चेतन पुरुष द्वारा बनाया गया है, इसका कोई आधार नहीं है। यह विराट् जगत् एक ही क्षण में उत्पन्न नहीं हो सका होगा और ऐसा हुआ है इसका कोई प्रमाण भी नही है और अगर यह क्रम से उत्पन्न हुआ है तो यह भी माना जा सकता है कि यह अनेक चेतन पुरुष द्वारा क्रम से बनाया गया हो। इसके अतिरिक्त, ईश्वर को सर्वथा पूर्ण होने के कारण रचना की आवश्यकता पडी होगी ऐसा सोचा भी नही जा सकता। उसके न तो शरीर है न हाथ हैं जिससे वह जगत् की रचना करे। यह सत्य है कि मनस् शरीर के साथ मर नहीं जाता, किन्तु यह शरीर से सम्बंधित न होते हुए सक्रिय दशा में पाया भी नहीं जाता। अगर ऐसा मान लिया जाता है कि ईश्वर के देह है तो वह नित्य भी नहीं हो सकता। अगर उसका शरीर, सावयव होते हुए भी, नित्य है तो उसी आधार पर इस जगत् को भी नित्य माना जा सकता है। अगर यह संसार उसकी इच्छा मात्र से उत्पन्न हुआ है ऐसा माना जाता है तो यह इतना विचित्र है कि यह ज्ञात, कार्य-कारण

के उदाहरणों से सर्वथा भिन्न है। इसलिये ज्ञात कार्य-कारणों के अनुभूत उदाहरणों के आधार पर, अगर किसी को ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करना है, और यदि ऐसे ईश्वर को श्रेष्ठ गुण-युक्त माना जाता है जो उसमें बहुधा माने जाते हैं, और यदि जगत् की विचित्र रचना-शक्ति भी उसमें मानी जाती है, तो वह ऐसा कारण होगा जो ज्ञात कारण और उनके कार्य के प्रकार के साम्यत के आधार पर, कभी भी अनुमित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार ईश्वर अनुमान के आधार पर कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। उसकी सत्ता शास्त्र-प्रमाण से ही माननी पड़ेगी।

भास्कर और रामानुज

रामानुज और भास्कर का अध्ययन करने वाले, प्रत्येक सावधान पाठक ने यह पाया होगा कि रामानुज अपने दार्शनिक, विचारों और मतो के लिये, भास्कर के अधिकांश ऋणी है और अधिक विषय पर दोनो के मत एक से ही हैं। रामानुज अपने मतो के लिये बोधायन तथा अन्य वैष्णव लेखको के भी ऋणी रहे होगे ऐसी सभावना है, यह चाहे कैसे भी हो, भास्कर के प्रति उनका ऋण भी बहुत था जैसाकि दोनो मतो का तुलनात्मक अध्ययन बताता है तो भी ये दो मत एक सरीखे नही है, कई महत्वपूर्ण विषयो पर दोनों में विरोध है। भास्कर मानते हैं कि ब्रह्मन् शुद्ध सत् चित् रूप है निराकार और कारण रूप है, और वह प्रकट कार्य-रूप से जगत् है। भास्कर के अनुसार इस सिद्धान्त में कोई असंगति या कठिनाई नही है क्योंकि प्रत्येक वस्तु के ऐसे उभय स्वरूप हैं जैसाकि एक और अनेक, या एकत्व और अनेकत्व। अनेकत्व में एकत्व प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप है। रामानुज मानते हैं कि भेद और एकत्व एक ही साथ किसी एक पदार्थ में नही स्वीकृत हो सकते। इस प्रकार जब हम यह कहते हैं 'यह ऐसा है,' तब यह सत्य नहीं है कि एक ही वस्तु दोनों उद्देश्य और विधेय है। उदाहरणार्थ, उपरोक्त वाक्य में यह गाय को लक्ष्य करता हो तो विधेय 'ऐसा' उसके किसी विशेष विलक्षण शारीरिक रूप को लक्ष्य करता है। पिछला पहले का गुण मात्र है, और उसके स्वभाव और गुण को निश्चित करता है। उद्देश्य और विधेय का तादात्म्य जोड़ना कोई अर्थ नही रखता या यह भी कहना अर्थ नहीं रखता कि वही पदार्थ इकाई के रूप से उद्देश्य है और भेद के दूसरे रूप से विधेय है। भास्कर तर्क करते हैं कि अवस्था और जिसका अवस्था पर प्रभाव है (अवस्था तावस्थाः च) दोनों सर्वथा भिन्न नहीं हैं, और न द्रव्य और गुण हैं जैसेकि कपड़ा और उसका सफेद रंग। बिना गुण के द्रव्य नहीं है और द्रव्य बिना गुण के। प्रत्येक भिन्नता एकत्व भी है। द्रव्य की शक्ति और गुण उससे भिन्न नहीं है, अग्नि उसकी दहन-शक्ति एव प्रकाशात्मक गुण दोनो एक ही हैं। इस तरह, प्रत्येक वस्तु एकरूप और भिन्न रूप दोनों ही है और किसी एक को दूसरे से एकरूप नहीं किया जा सकता। किन्तु रामानुज यह मानते हैं कि सारे वाक्य एक ही प्रकार के हैं जिससे विधेय उद्देश्य का गुण है। यही

गुणवाचक सिद्धान्त जाति और वर्ग, कार्य और कारण, और सामान्य और विशेष के उदाहरणों में लागू होता है। भिन्नता और एकता वस्तु के दो स्वतंत्र रूप नहीं हैं "जो दोनों सत्य भी है," किन्तु भिन्नता, एकत्व के स्वभाव या लक्षण को विशिष्ट बनाता है या उसके रूप में भेद करता है और यह हमारे मिश्र या यौगिक सत्ता के अनुभवों से सिद्ध भी है।[1] रामानुज के अनुसार एक ही वस्तु में एकत्व और भिन्नता को स्वीकारना विरोधाभास है। भेद की सच्चाई का स्वतंत्र एवं अपना स्वयं अस्तित्व रखना अनुभव से प्रमाणित नहीं है, क्योंकि गुण और मात्रा इत्यादि भेद से इकाई के रूप में उद्देश्य के स्वभाव और लक्षण में भेद उत्पन्न होता है, और यही केवल हमारे अनुभव में आता है।

भास्कर कहते हैं कि ब्रह्म के दो रूप हैं, प्रकट—व्यक्त रूप तथा नाना रूप और चित् और सत् के तादात्म्य का अव्यक्त, निराकार रूप: ब्रह्म का यह पिछला रूप ही हमारी भक्ति और उच्च ज्ञान का विषय है। रामानुज, इस निराकार और भेद-रहित ब्रह्मन् को इन्कार करते हैं और विशिष्ट सगुण ब्रह्म में विश्वास करते हैं जो व्यापक ईश्वर रूप से अपने में, जीवों को और अचित् जगत् को शरीर रूप से धारण करता है। जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध मे भास्कर कहते हैं कि जीव अंत:करण की उपाधि से संकुचित, ब्रह्म ही है। जब ऐसा कहा गया है कि जीव ब्रह्म का अंश है तब अंश शब्द 'भाग' एवं 'कारण'के अर्थ में उपयोग नहीं किया गया है, किन्तु अंत:करण की उपाधि से परिमित इस पारिभाषिक अर्थ में उपयोग किया गया है। यह सीमितता मिथ्या भी नहीं है और न असत् है, इसी कारण जीव अणु रूप है। रामानुज के अनुसार भेद, अज्ञान के कारण है, इसलिये यह भेद असत् है। रामानुज के अनुसार जीव और ब्रह्म मे भेद नहीं है। जीव की अपूर्णता, सीमितता और ब्रह्म की पूर्णता एवं असीमता इत्यादि का दीखना यह भेद अविद्यागत है, जब जीव को यह अनुभव होता है कि वह ब्रह्म ही देह रूप है तब यह भेद मिथ्या हो जाता है। रामानुज के अनुसार, भेद स्वयं की कोई सत्ता नहीं है, वह, केवल जिस अभिन्न एक ही वस्तु को लक्ष्य करता है उसके लक्षण को निश्चित करता है और उसके रूप का परिवर्तन करता। वस्तु और उसके गुण अभिन्न हैं। भास्कर, अभिन्नता और भेद के दो प्रकार मानते हैं जो दोनों, अपने में सरीखे और स्वतंत्र रूप से सत्य हैं, यद्यपि वे आपस में एक दूसरे से सम्बंधित है। भास्कर के विरोध में यह कहा जाता है कि अगर ब्रह्म के मर्यादित रूप भी सत्य हैं तो वे ब्रह्म को पूर्ण रूप से मर्यादित बना देंगे, क्योंकि ब्रह्म निर्विशेष है, वे इस प्रकार उसे पूर्णरूप से दूषित कर देंगे। भास्कर के प्रति यह आक्षेप, रामानुज ने बहुत कुछ सूक्ष्म रूप से तथा युक्तिपूर्ण चातुर्य से किया है।[2] अगर हम भास्कर का यह तार्किक दावा

---

[1] वादित्रयखण्डन।

[2] रामानुज भाष्य, पृ० २६५, ६६। श्रुत प्रकाशिका के साथ, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१६।

मान लें कि एकत्व और अनेकत्व, कार्य और कारण, एक ही सत्ता के अस्तित्व के दो प्रकार हैं और ये दोनों ही सत्य हैं तो भास्कर के विरुद्ध रामानुज के तर्कों का कोई प्रभाव रहा हो ऐसा नहीं लगता। भास्कर के तार्किक पक्ष का पूर्णरूप से, खण्डन किया जा चुका हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

रामानुज ब्रह्म को जीव और जड़ जगत् से अभिन्न मानते हैं किन्तु ब्रह्म को जीव और जड़ जगत् से अलग भी कहते हैं। किन्तु वे इसी अर्थ में अभिन्नता को मानते हैं जिस अर्थ में द्रव्य अपने अंश या गुण से एक साथ अभिन्न भी और भिन्न भी है या एक पूर्ण वस्तु अपने अंश से अभिन्न और भिन्न है। व्यक्तिगत जीव और जड़ जगत्, अपने आप स्वतंत्रता से सत्ता नहीं रख सकते, केवल ब्रह्म के अंश रूप से ही सत्ता रख सकते हैं। जीव ब्रह्म के अंश रूप हैं इस तथ्य से उनकी ब्रह्म से अभिन्नता उतनी ही प्रधान है जितनी उनकी भिन्नता है, अगर हम यह ध्यान रखें कि द्रव्य उसके गुण से भिन्न है।[1] भास्कर और रामानुज के बीच, मुख्य विरोध यह रह जाता है कि भास्कर देह और अंश या द्रव्य और गुण के सिद्धान्त को प्रवर्तित करने की आवश्यकता नहीं समझते। उनके सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मन् सर्वान्तर्यामी और पर, एक साथ ही है, अभिन्नता और भिन्नता दोनों एक साथ ही वस्तु में स्वीकार की जा सकती हैं, तथा कार्य और कारण एवं द्रव्य और गुण इत्यादि की दृष्टि द्वारा इसे प्रमाणित किया जा सकता है।

रामानुज-दर्शन का सत्ता ज्ञान विषयक पक्ष

अद्‌भुत रचना युक्त, यह सारा जगत्, जो अद्‌भुत नियम और विधि द्वारा नियंत्रित किया जा रहा है वह ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, उसी के द्वारा उसकी सत्ता पोषण की जा रही है और अंत में वह उसी में मिल जायगा। ब्रह्म की महानता की कोई मर्यादा नहीं है। यद्यपि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार, तीन प्रकार के गुण के अर्थ में व्यवहृत हैं किन्तु वे तीन द्रव्यों को लक्ष्य नहीं करते, केवल एक ही द्रव्य को लक्ष्य करते हैं जिसमें वे रहे हुए हैं। उसका सच्चा स्वरूप तो उसकी अपरिणामी सत्ता और नित्य सर्वज्ञता और देश, काल और लक्षणों में अमर्यादितता में रही है। शंकर के इस सूत्र (१-१-२) के विवरण का उल्लेख करते हुए रामानुज कहते हैं कि जो ब्रह्मन् को निर्विशेष मानते हैं वे ब्रह्म सूत्र के इस पाठ (१-१-२) में कहे हुए ब्रह्म के गुण को ठीक नहीं समझ सकते, क्योंकि ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है

---

[1] जीववत् पृथकसिद्ध्यनर्हे विशेषणत्वेन अचिद्वस्तुनो ब्रह्मांशत्वम्, विशिष्टस्यैक देशत्वेन अभेद-व्यवहारो मुख्यः विशेषण विशेष्ययोः स्वरूप-स्वभावभेदेन भेद-व्यवहारोऽपि मुख्यः। —श्री भाष्य, ३:२:२८।

ऐसा कहने के बजाय उन्हें यों कहना चाहिये कि जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय का भ्रम ब्रह्म से है। किन्तु ऐसा कहने से भी ब्रह्म की निर्विशेषता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि भ्रम अज्ञानवश होगा और ब्रह्म सारे अज्ञान को प्रकट करने वाला हो जायगा। वह स्वप्रकाश-स्वरूप होने के कारण ऐसा कर सकता है और अगर उसमें यह भेद हैं तो वह न तो निर्विशेष ही हो सकता है और न भेद-रहित ही।[1]

यह शंकर के उपरोक्त सूत्र के सच्चे अर्थ के बारे में महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित करता है। क्या वे सचमुच यही मानते थे जैसाकि रामानुज ने उनके बारे में बताया है कि जिस वस्तु में से जगत् की उत्पत्ति का भ्रम होता है वही ब्रह्म है? या वे सचमुच यही मानते थे कि ब्रह्म तथा वह स्वतः ही अकेला इस जगत् की सचमुच उत्पत्ति का कारण है? शंकर, जैसाकि प्रसिद्ध है, उपनिषद् और ब्रह्म सूत्र के टीकाकार थे, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इन ग्रंथों में ऐसे अनेक अवतरण हैं जो ईश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं और यह भी कि इस वास्तविक जगत् की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा ही सचमुच हुई है। शंकर को इन अवतरणों को समझाना था और उन्होंने हमेशा अद्वैतिक भाषा का कठोर प्रयोग नहीं किया, क्योंकि उन्होंने तीन प्रकार की सत्ता मानी है और सब प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु शंकर ने उस समय जिन शब्दों का प्रयोग किया, उनके प्रति सावधानी रखना आवश्यक था, जो उन्होंने हर समय नहीं रखी। उसका परिणाम यह हुआ कि कुछ ऐसे पाठ नजर आते हैं जो वास्तव में ईश्वरवाद का संकेत करते हैं, दूसरे द्वयर्थक है जिनका दोनों प्रकार से अर्थ लगाया जा सकता है, और कुछ दूसरे पाठ ऐसे हैं जो नितान्त अद्वैतवादी हैं। किन्तु अगर महान् टीकाकारों और शंकर-मत के स्वतंत्र लेखकों की साक्षी ली जाय, तो शंकर के सिद्धान्त को शुद्ध अद्वैत एकत्ववाद के अर्थ में ही समझाया जा सकता है। ब्रह्म निश्चित रूप से अपरिणामी, अनन्त है और वह जगत्-प्रपंच के उत्थान, स्थिति और प्रलय का एकमात्र अधिष्ठान है और वह सभी के अंतर्हित एक सत्य है। किन्तु जगत्-प्रपंच के भास में दो तत्व उपस्थिति हैं, एक ब्रह्म जो मूल अधिष्ठान रूप है, जो तत् और चित् स्वरूप है और दूसरा भेद और परिणामी तत्व माया है जिसके विकास या परिणाम से नानात्व का भास संभव है। किन्तु, शंकर भाष्य में ब्रह्म सूत्र के १.१.२ पाठ की टीका में ऐसे पाठ मिलते हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि जगत्-प्रपंच केवल भास मात्र नहीं है, किन्तु सत्य है क्योंकि उसका अधिष्ठान केवल सत्य ही नहीं है किन्तु वह ब्रह्म द्वारा प्रसूत है। यदि संयत होकर देखा जाय, तो ब्रह्म ही केवल जगत् का उपादान कारण नहीं है पर वह अविद्या के साथ उपादान कारण है, और

---

[1] जगज्-जन्मादि भ्रमो यतस्तद् ब्रह्मेऽति स्वोत्प्रेक्षा-पक्षेऽपि न निर्विशेष-वस्तु-सिद्धिः इत्यादि। —वही, १.१.२०।

ऐसा जगत्, ब्रह्म पर आधारित है और उसी में वह लय पाता है। वाचस्पति भामती में, शंकर भाष्य के उसी सूत्र पर (ब्र० सू० १.१.२) पर यही टीका करते हैं।[1] प्रकाशात्मन्, अपने 'पंचपादिका विवरण' में कहते हैं कि सर्जन कार्य जो यहां कहा गया है वह ब्रह्म में नहीं है और ब्रह्म के स्वरूप के विषय में खोज का अर्थ यह नहीं है कि वह इन गुणों से सम्बन्धित है, ऐसा जाना जाता है।[2] भास्कर ने यह प्रतिपादन किया है कि ब्रह्म ने ही जगत् रूप से परिणाम किया है और यह परिणाम सत्य है उसकी शक्तियों का नाना रूप यह जगत् है। किन्तु प्रकाशात्मन्, परिणामवाद का प्रतिकार करते हुए कहते हैं कि जगत्-प्रपंच, भले ही माया रूप क्यों न हो, चूंकि यह माया ब्रह्म से सम्बन्धित है इसलिये यह जगत्-प्रपच ऐसा होते हुए भी, इसका बोध, निषेध या असत्ता अनुभव में नहीं आता, केवल इतना ही पता चलता है कि वह अन्ततोगत्वा सत् नही है।[3] माया का अधिष्ठान ब्रह्म है (आधार ब्रह्म है) और जगत्-प्रपच, माया का परिणाम होने से ऐसे परिणाम रूप से सद्रूप है। वह भी ब्रह्म पर आधारित है किन्तु उसकी अन्तिम सत्ता केवल यहां तक है जहां तक वह इस अधिष्ठान या ब्रह्म पर आश्रित है। जहां तक जगत्-प्रपच का प्रश्न है वह माया का परिणाम होने से अपेक्षित रूप से ही सत् है। ब्रह्म और माया के सयुक्त कारणत्व का विचार तीन प्रकार से किया जा सकता है, माया और ब्रह्म दो तंतु रूप हैं जो बुनकर एक तंतु बने है, या ब्रह्म और माया उसकी शक्ति रूप से, जगत् कारण है, या ब्रह्म, माया का आधार होने से, जगत् का गौण रूप से कारण है।[4] पिछले दो वादो में माया, ब्रह्म पर आश्रित है इसलिये, माया का कार्य जगत् भी ब्रह्म पर आश्रित है, और इन दोनों वादों में उपरोक्त अर्थ लगाने से, शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का कारण होता है। सर्वज्ञात्मा मुनि भी, जो ऐसा मानते हैं कि शुद्ध ब्रह्म उपादान कारण है, वे माया के कार्य को, ब्रह्म के साथ संयुक्त उपादान कारण है, ऐसा नहीं मानते, किन्तु उसे वह साधन है, सामग्री है ऐसा मानते हैं जिसके द्वारा ब्रह्म का कारणत्व, नानात्व भिन्न जगत्-रूप से प्रगट होता है। किन्तु इस वाद के अनुसार भी नानात्व का उपादान माया है, यद्यपि माया का, इस

---

[1] अविद्या-सहित-ब्रह्मोपादान जगत् ब्रह्मण्येवास्ति तत्रैव च लीयते।
—भामती १.१.२।

[2] नहि नानाविध-कार्य-क्रियावेशात्मकत्व तत्प्रसवशक्त्यात्मकत्वं वा जिज्ञास्य-विशुद्ध-ब्रह्मान्तर्गतम् भवितुम् अर्हति। पंचपादिका विवरण। —पृ० २०५।

[3] सृष्टेश्च स्वोपाधौ अभावव्यावृत्तत्वात् सर्वे च सोपाधिकधर्माः स्वाश्रयोपाधौ अबाध्यतया सत्या भवन्ति सृष्टिरपि स्वरुपेण न बाध्यते किन्तु परमार्थां सत्यत्वांशेन।
—वही, पृ० २०६।

[4] वही, पृ० २१२।

प्रकार से प्रकट होना, मूल कारणत्व, ब्रह्म की अनुपस्थिति में असंभव है।[1] ब्रह्म के कारणत्व के स्वरूप पर विचार करते हुए, प्रकाशात्मन् कहते हैं कि वेदान्त का अद्वैतवाद का सिद्धान्त इस तथ्य से समर्थन पाता है कि कारण को छोड़कर कार्य में कुछ भी नहीं है जिसे वर्णन किया जा सके या व्यक्त किया जा सके (उपादान व्यतिरेकेण कार्यस्य अनिरुपणाद् अद्वितीयता)।[2] इस प्रकार, भिन्न-भिन्न प्रकार से, शंकर-दर्शन की व्याख्या की गयी है, अतः शंकर के लगभग सभी अनुयायियों ने यह माना है कि यद्यपि ब्रह्म ही जगत् का अन्त में मूल कारण ही है, तथापि जगत् जिन पदार्थों से बना है वह ब्रह्म नहीं होकर केवल माया तत्व है और इसलिए नानात्व जगत् की सत्ता-सापेक्ष मात्र है और यह सापेक्ष सत्ता ब्रह्म की सत्ता की तरह सत्य नहीं है।[3] शंकर स्वयं कहते हैं कि ब्रह्म की सर्वज्ञता, सर्व विषय को प्रकाश करने और प्रकट करने की नित्य शक्ति में ही है (यस्य हि सर्व-विषयावभासन-क्षम ज्ञान नित्यम् इति)। यद्यपि इस सर्वव्यापी चैतन्य में कोई भी क्रिया या साधन की आवश्यकता नहीं रहती तो भी वह ज्ञाता कहा जाता है जबकि सूर्य स्वयं दाहक और प्रकाशक कहा जाता है जबकि सूर्य स्वयं ताप और प्रकाश की अभिन्नता के सिवाय और कुछ नहीं है (प्रततोष्ण्य-प्रकाशेपि सवितरि दहति प्रकाशयतीति स्वातंत्र्य-व्यपदेश-दर्शनात् एवम् असत्यपि ज्ञान-कर्मणि ब्रह्मणः तद् ऐक्षत इति कर्तृत्व-व्यपदेशदर्शनात्)। जगत् की उत्पत्ति के पहले, इस सर्वव्यापी चैतन्य का जो विषय है वह अनिर्वचनीय नाम रूप है जिसे 'यह' या 'वह' कहकर निश्चित नहीं किया जा सकता।[4] ब्रह्म की सर्वज्ञता, इसलिये सबको प्रकट करती

---

[1] सक्षेप शारीरिक १-३३२, ३३४ और रामतीर्थ की अन्वयार्थ प्रकाशिका टीका।

[2] पचपादिका विवरण, पृ० २२१।

[3] प्रकाशात्मन्, ब्रह्म और माया के बीच किये गये अनेकों सबंधो का उल्लेख करते हैं जैसेकि, ब्रह्म में माया शक्ति रूप है, और सारे जीवों का संबंध अविद्या से है: माया और अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्मन्, जगत्-कारण है (माया विद्या प्रतिबिम्बित, ब्रह्म जगत्-कारणम्): शुद्ध ब्रह्म अमर है जीव अविद्या से सबधित है, जीव, जगत् के बारे में अपना ही भ्रम है और ये सादृश्य की वजह से एक नित्य जगत् रूप से दीखता है, ब्रह्म का अपनी अविद्या के कारण ही भासमात्र परिणाम होता है। किन्तु इन किसी भी विचारों में जगत् ब्रह्म का सच्चा रूप है ऐसा नहीं माना गया है। —पचपादिका विवरण, पृ० २३२।

ब्रह्म किस प्रकार अनादि वेदो का कारण है, इस विषय को प्रकाशात्मन् यों समझाते हैं कि ब्रह्म अतरस्थ सत्ता थी, जिससे, वेद, जो उस पर निक्षिप्त किये गये थे, प्रकट हुए। —वही, पृ० २०३-२३१।

[4] किं पुनः तत् कर्मः? यत् प्रागुत्पत्तेरीश्वर ज्ञानस्य विषयो भवतीति। तत्त्वान्यत्वाभ्याम् अनिर्वचनीये नाम रूपे अव्याकृत व्याचिकीर्षिते इति ब्रूमः।

—शंकर भाष्य, १.१.५।

है जिससे माया की समस्त सृष्टि, बुद्धि का ज्ञानात्मक विषय बन जाती है। किन्तु यह प्रकट करना ज्ञान-कर्म नहीं है, किन्तु चैतन्य का नित्य स्थिर प्रकाश है जिससे माया के मिथ्याभास प्रकाशित हो उठते हैं और जाने जाते हैं।

रामानुज का अभिप्राय इससे अत्यन्त भिन्न है। वे शंकर के इस मत को कि कारण ही एक मात्र सत्य है और कार्य सारे मिथ्या हैं—इसे नहीं मानते। कार्य रूप जगत् के मिथ्यात्व के लिये एक कारण यह दिया जाता है कि कार्य अनित्य है। इससे कार्य का मिथ्यात्व नहीं सिद्ध होता, केवल इसका नाशवान् और अनित्य स्वभाव ही सिद्ध होता है। जब एक वस्तु एक देश और काल में विद्यमान रहती हुई, उसी देश और काल मे नहीं रहती है तब वह मिथ्या कहाती है, किन्तु यदि वह दूसरे देश और काल में रहती हुई नहीं पाई जाती है तो उसे मिथ्या नहीं कह सकते, वह केवल नाशवान् और अनित्य है। यह मान्यता गलत है कि कारण का स्वरूप परिवर्तित नहीं होता, क्योंकि समय, स्थान के संयोग से नये तत्वों का उदय होता है जिसके फलस्वरूप उसमें परिवर्तन होता है। कार्य न तो असत् हैं और न भ्रम है क्योंकि वह कारण से उत्पन्न होने के पश्चात्, तबतक किसी निश्चित देश और काल में दीखता है जबतक कि वह नष्ट नहीं हो जाता। हमारा यह अनुभव मिथ्या है ऐसा सिद्ध करने का कुछ भी प्रमाण नहीं है। जगत् ब्रह्म से अभिन्न है ऐसा जो श्रुति-शास्त्र प्रतिपादन करते हैं वे इस अर्थ में सत्य हैं कि ब्रह्म ही केवल जगत् का कारण है और कार्य-कारण, अन्त में, भिन्न नहीं है। जब ऐसा कहा जाता है कि घडा मिट्टी के सिवाय और कुछ नहीं है तो कहने का अर्थ यह है कि वह मिट्टी है जो विशेष और निश्चित रूप से घडा कहलाती है और पानी लाने इत्यादि का कार्य करती है, यद्यपि वह ऐसा करती है तो भी वह मिट्टी से भिन्न द्रव्य नहीं है। घड़ा इस प्रकार, मिट्टी स्वयं की अवस्था ही है, और जब यह विशेष अवस्था बदल जाती है तब हम कहते हैं कि कार्य रूप घडा नष्ट हो गया है, यद्यपि कारण, मिट्टी वैसी ही रहती है। उत्पत्ति का अर्थ पहली स्थिति का नाश और नयी स्थिति का निर्माण है। द्रव्य, इन सब स्थितियों में एक-सा ही रहता है इसी कारण कि कार्य, कारण साधनों की क्रिया के पहले ही विद्यमान हैं, यह कारणवाद सच माना जा सकता है। वास्तव में, दशा या रूप जो पहले नहीं थे वे उत्पन्न होते हैं, किन्तु स्थिति या दशा, जो द्रव्य में दीखती है, उसकी द्रव्य से स्वतंत्र रूप मे सत्ता नहीं होती, उसकी नयी उत्पत्ति, कार्य-कारण में पहले से ही विद्यमान है, इस कारणवाद पर प्रभाव नहीं डालती। इस तरह, एक ही ब्रह्म स्वयं जगत् रूप से परिणत हुआ है और नाना जीव, उसकी विशेष दशाए या स्थिति होने के कारण, उससे एक रूप हैं और तो भी उसके अंश रूप या अवस्था होने से सचमुच अस्तित्व रखते हैं।

पूर्ण या अद्वैत यहां ब्रह्म है, जीव और जड़ जगत् उसकी देह हैं। जब ब्रह्म, जीव और जड जगत् के सूक्ष्म रूप देह के साथ रहता है तब वह कारण या ब्रह्म की

कारणावस्था कहलाती है। जब वह, जीव और जगत् की साधारण प्रकट अवस्था रूपी देह से युक्त है तब ब्रह्म की कार्यावस्था कहलाती है।[1] जो कार्य को मिथ्या मानते हैं वे यह नहीं कह सकते कि कार्य कारण से अभिन्न है, क्योंकि उनके अनुसार जगत्, जो मिथ्या है वह ब्रह्म से जो सत्य है, अभिन्न नहीं हो सकता।[2] रामानुज, बलपूर्वक इस सुझाव का निषेध करते हैं कि सन्मात्र रूप कोई ऐसी वस्तु, जीव और जगत् की सूक्ष्मावस्था रूप देह वाले नियता कारण ईश्वर से, अंततः अधिक सत्य है, क्योंकि वे इसे भी अस्वीकार करते हैं कि ईश्वर को केवल सन्मात्र माना जाय, क्योंकि ईश्वर सर्वदा, सर्वज्ञता, सर्व शक्तिमत्ता, इत्यादि अनन्त श्रेष्ठ गुणों से युक्त हैं। रामानुज इस प्रकार, ईश्वर के अंश रूप, जड और जीव के द्विविभक्त सिद्धान्त को पकड़े रहते हैं, जो ईश्वर इन अंशों का निरन्तर अंतर्यामी हैं। वे निश्चय रूप से सत्कार्यवादिन् हैं किन्तु उनका सत्कार्यवाद, वेदान्त के सत्कार्यवाद से, जो शंकर ने माना है अधिक सांख्य की राह पर है। कार्य, कारण की केवल बदली हुई अवस्था है और इसलिये जड और जीव रूप से प्रकट जगत्, जो ईश्वर की देह है, इसे केवल इसलिये कार्य माना है कि यह कार्य रूप से प्रकटावस्था के पूर्व, ईश्वर में सूक्ष्म और निर्मल अवस्था मे विद्यमान था। किन्तु, ईश्वर मे यह जड़ और जीव का भेद हमेशा से विद्यमान था और उसमें कोई ऐसा अंश नहीं है जो इससे अधिक सत्य और चरम हो। यहा पर रामानुज भास्कर का पूर्णतः साथ छोड देते हैं। क्योंकि भास्कर के अनुसार, जोकि कार्य रूप से ईश्वर जड और जीवमय प्रकट सृष्टि-रूप से विद्यमान था, तो भी कारण रूप से ईश्वर की सत्ता भी थी, जो नितान्त अव्यक्त और निर्विशेष रूप से सन्मात्र था। ईश्वर, इसलिये, सर्वथा जड़, जीव और उसके अंतर्यामी, के त्रिविध रूप से विद्यमान था, और प्राकृत या कारणावस्था और प्रलयावस्था का अर्थ, जड और जीव की व्यक्तावस्था से भिन्न सूक्ष्म और निर्मल अवस्था से है। किन्तु रामानुज आग्रह करते हैं कि जैसे मनुष्य में देह और आत्मा के बीच भेद है, और जैसे देह की कमी और दोष आत्मा को प्रभावित नही करते, उसी प्रकार परम अंतर्यामी ईश्वर और उसका शरीर, जीव और जड़ जगत् रूपी के बीच, स्पष्ट रूप से भेद है और जगत् के दोष ब्रह्म को इसलिये प्रभावित नही कर सकते। इस प्रकार, यद्यपि ब्रह्म के शरीर है तो भी वह अखण्ड (निरवय) है और कर्म से सर्वदा रहित है : क्योंकि उसकी निश्चयात्मक चेष्टाएं अहैतुकी हैं। वह, इसलिये, सभी दोषों के प्रभाव से रहित है और अपने में, अनन्त हितकारी गुण धारण करता हुआ, शुद्ध और पूर्ण है।

---

[1] श्री भाष्य, पृ० ४४४, ४५४। बंबई १९१४।

[2] रामानुज का यह आक्षेपयुक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि इसके अनुसार कार्य के अन्तस्थ सत्ता कारण से एक रूप है। किन्तु इस आक्षेप में भी यह सच्चाई है कि कार्य-कारण की अभिन्नता के सिद्धान्त को शंकर के मत के योग्य बनाने के लिये, वक्रार्थ देना आवश्यक हो जाता है।

रामानुज, अपने 'वेदार्थ संग्रह' और 'वेदान्त दीप' में यह बताने की कोशिश करते हैं कि किस प्रकार, शंकर के अद्वैतवाद को दूर करके, उन्हें भास्कर के सिद्धान्त और अपने पूर्वगामी गुरु यादव प्रकाश के सिद्धान्त से भी, हट कर रहना पड़ा। वे भास्कर का साथ न दे सके, क्योंकि भास्कर मानते थे कि ब्रह्म उन मर्यादाओं और सीमाओं से सम्बन्धित है जिनसे वह बंधन में पड़ता है और जिनके निवारण से वह मुक्त होता है। वे यादव प्रकाश से भी सहमत न हो सके, जो मानते थे कि ब्रह्म एक ओर शुद्ध है और दूसरी ओर, स्वयं नाना रूप जगत् में परिणमित होता है। इन दोनों मतों की उपनिषद् के पाठ से संगति नहीं बैठती।

वेंकटनाथ का प्रमाण-निरूपण

जिस प्रकार शून्यवादी बौद्ध या माध्यमिक किसी भी तथ्य या प्रतिज्ञा की न्याययुक्त सत्ता का निषेध प्रतिपादित करते हैं, उसी प्रकार शंकर मतवादी उक्त प्रश्नों पर अपना निर्णय दे सकने में असमर्थ है। खण्डनखण्डखाद्य के पूर्व पक्ष में, इस प्रश्न के उत्तर में कि सारे विवादों (कथाओं) को, लक्ष्य करने वाले तथ्यों और प्रतिज्ञाओं की पहले ही सिद्धि और असिद्धि मान लेनी चाहिये अथवा नहीं, इसका उल्लेख करते हुए भी श्री हर्ष कहते हैं कि ऐसी कोई मान्यता अनिवार्य नहीं है, क्योंकि विवाद, दो प्रतिस्पर्धी पुरुषों की आपस की स्वीकृति से ही, यह मानकर किया जा सकता है कि, वे विवाद का किसी एक मध्यस्थ द्वारा निश्चित किये गये कुछ सिद्धान्तों की सच्चाई या मिथ्यापन के आधार पर उनकी अंतिम सच्चाई का प्रश्न खड़े किये बिना, सम्मान करें। यदि कुछ सिद्धान्तों, तथ्यों का प्रतिज्ञाओं की सिद्धि या असिद्धि मान भी ली जाय, तब भी, प्रतिस्पर्धी विवाद करने वालों के बीच मध्यस्थ द्वारा शासित किये गये, यह या अन्य सिद्धान्तों के बारे की स्वीकृति, समस्त विवाद के लिये प्रारम्भिक आवश्यकता होगी।[1] रामानुज संप्रदाय के विख्यात दार्शनिक वेंकटनाथ, इन मतों के विरोध में, सत्य या हेतु या ज्ञेय विषय की खोज की प्रारम्भिक अवस्था के तौर से, कुछ प्रतिज्ञाओं या तथ्यों में स्वाभाविक धर्म के रूप में प्रामाण्य या अप्रामाण्य मानना आवश्यक है या नहीं इसे निश्चित करना चाहते हैं। अगर प्रामाण्य या अप्रमाण्य प्रतिज्ञाओं का भेद नहीं माना जाय तो, कोई भी प्रबंध (प्रतिज्ञा) सिद्ध नहीं की जा सकती और न कोई व्यवहार ही सम्भव है। यद्यपि सामान्य लोगों की स्वीकृति के आधार पर प्रमाण

[1] न च प्रमाणादिनां सत्तापि इत्थम् एव ताभ्याम् अंगीकर्तुम् उचिता, तादृश-व्यवहार-नियममात्रेणैव कथा प्रवृत्त्युपपत्तेः। प्रमाणादिसत्ताम् अभ्युपेत्यापि तथा व्यवहार-नियम-व्यतिरेके कथा-प्रवृत्ति बिना तत्व-निर्णयस्य जयस्य वा अभिलसितस्य कथकयोरपर्यवसानात्, इत्यादि। —खण्डनखण्डखाद्य, पृ० १५।

और अप्रमाण प्रतिज्ञाओं का भेद इस प्रकार मानना पड़ता है, तब भी उनके सच्चे स्वरूप का परीक्षण करना ही पड़ता है। जो इस भेद को अस्वीकार करते हैं उनके लिये चार विकल्प उपस्थित होते हैं, जैसाकि (१) सारी प्रतिज्ञाएँ प्रमाण हैं, (२) सारी प्रतिज्ञाएँ अप्रमाण हैं, (३) सारी प्रतिज्ञायें आपस मे परस्पर-विरोधी है, या (४) सारी प्रतिज्ञाएँ शंकास्पद हैं। यदि सारी प्रतिज्ञाएं प्रमाण हैं, तो ऐसी प्रतिज्ञाओं का निषेध भी प्रमाण है, जो स्वतोविरोधी हो जाता है। अगर वे सभी अप्रमाण हैं, तो यह प्रतिज्ञा भी अप्रमाण ठहराती है और इस प्रकार अप्रमाणता प्रतिपादित नहीं की जा सकती। तीसरे विकल्प के बारे में, यह बताया जा सकता है कि अप्रमाण प्रतिज्ञा कभी भी प्रमाण प्रतिज्ञा का बाध नहीं कर सकती। यदि एक प्रमाण-प्रतिज्ञा दूसरी प्रमाण-प्रतिज्ञा के क्षेत्र को निरुद्ध करती है तो इसे विरोध नही माना जा सकता। एक प्रमाण-प्रतिज्ञा को उसकी प्रमाणता प्रकट करने के लिये दूसरी प्रतिज्ञा पर आश्रित होना नही पडता। क्योंकि प्रमाण-प्रतिज्ञा स्वतः प्रमाणित है। अन्त में, यदि आप सभी के बारे में शका करते हैं, तो कम से कम आप इसे तो शका नही करते कि आप शका करते हैं, इस प्रकार तुम्हारा यह कहना असंगतिपूर्ण है कि आप सभी के बारे मे शका करते है।[1] इस प्रकार यह मानना पडता है कि दो प्रकार की प्रतिज्ञाएँ होती हैं, प्रमाण और अप्रमाण। प्रतिज्ञाओ के बीच प्रमाणता और अप्रमाणता का सामान्य भेद यदि स्वीकार कर लिया जाय, तो भी, कोई विशेष प्रतिज्ञा, प्रमाण है अथवा नहीं है इसे निश्चित करने के लिये, उक्त प्रतिज्ञा का परीक्षण, पूछताछ खोज इत्यादि किया जाना न्याय युक्त है। प्रमाण उसे ही कहते हैं, जिसके द्वारा सही ज्ञान (प्रमा) उपलब्ध हो।[2] उदाहरणार्थ, प्रत्यक्ष के यथार्थ ज्ञान (प्रमा) के लिए दोष-रहित नेत्र ध्यान-सगत मानसिक व्यापार एवं विषय की योग्य निकटता इत्यादि के सयुक्त स्वरूप से 'प्रमाण' की उपलब्धि होती है। किन्तु शब्द प्रमाण में, ज्ञान की प्रमाणता, बोलने वाले की दोष-रहितता से है। शास्त्र प्रमाण हैं, क्योंकि वे ईश्वर द्वारा कहे गये हैं, जिन्हें वस्तु का सच्चा ज्ञान है। वेदो की प्रमाणता, हमारे ज्ञान के साधनों की दोष-रहितता पर आश्रित नहीं है। यह कैसे भी हो, प्रमाण का अंतिम निश्चय प्रमा द्वारा या सच्चे ज्ञान द्वारा ही है। जिससे सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है वही प्रमाण है। वेद प्रमाण है क्योंकि वे ईश्वर द्वारा कहे गये हैं जिसे

---

[1] यह उक्ति डेकार्ट का स्मरण कराती है—सर्वं संदिग्धम् इति ते निपुणस्यास्ति निश्चयः सशयश्च न सदिग्धः संदिग्धाद्वैतवादिनः।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० ३४। चौखम्बा सं० सी०।

[2] यहां करण प्रामाण्य और आश्रय प्रामाण्य के बीच भेद किया गया है। (प्रमाश्रयस्य ईश्वरस्य, प्रामाण्यं, अंगीकृतम्) न्यायसार, न्याय परिशुद्धि की टीका, श्री निवास कृत, पृ० ३५।

सच्चा ज्ञान है। इस प्रकार ज्ञान की सच्चाई ही, अन्त में, प्रमाण की सिद्धि निश्चित करती है।[1]

वात्स्य श्री निवास जो रामानुज-सम्प्रदाय के श्री वेंकटनाथ के उत्तराधिकारी हैं, प्रमाण की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि प्रमाण, यथार्थ ज्ञान (प्रमा) की तात्कालिक नित्य एवं ऐकान्तिक कारण की पूर्ववर्ती स्थिति होने के फलस्वरूप समग्र कारणों में सबसे विशिष्ट सिद्धिकर उपकरण है। अतः उदाहरण के लिए प्रत्यक्ष में चक्षु इन्द्रिय के प्रमाण द्वारा यथार्थ ज्ञान (प्रमा) की उपलब्धि संभव है यद्यपि इस क्रिया में बीच की सक्रिय क्रिया (अवान्तर व्यापार) के माध्यम से आँख का वस्तु से सम्पर्क होता है।[2] न्याय के सुविख्यात लेखक, जयन्त, ने अपनी 'न्याय मजरी' में, इस विषय पर भिन्न ही मत प्रकट किया है। उन्होंने माना है कि प्रमा की उत्पादक सामग्री में से किसी एक को भी, दूसरे से अधिक महत्वपूर्ण या अतिशय नहीं कहा जा सकता। कारण साधन की अतिशयता का अर्थ उनकी कार्योत्पादक शक्ति है, और वह शक्ति, उत्पादक सामग्री के सभी तत्वों मे संयुक्त होकर ही है, इसलिये प्रमा उत्पन्न करने वाली सम्पूर्ण कारण—उत्पादक सामग्री को ही प्रमाण मानना पड़ेगा।[3] उद्देश्य और विधेय भी अधिक महत्वपूर्ण नहीं माने जा सकते, क्योंकि वे भी उद्देश्य और विधेय के बीच, उत्पादक सामग्री द्वारा ही, इच्छित सम्बन्ध उत्पन्न करके ही, प्रकट होते है।[4] न्याय के अनुसार उत्पादक सामग्री बोधा बोध-स्वभाव रूप है।[5]

अगर वेदान्त परिभाषा का मत माना जाता है तो शकर अनुयायियों का मत भी इस विषय पर रामानुज के मत जैसा बहुत कुछ हो जाता है, क्योंकि धर्म राजाध्वरीन्द्र

---

[1] करण प्रामाण्यस्य आश्रय प्रामाण्यस्य च ज्ञानप्रामाण्याधीनज्ञानत्वात् तदुभय-प्रामाण्य-सिद्धयर्थमपि ज्ञान-प्रामाण्यमेव विचारणीयम्।

—न्यायसार, पृ० ३५।

[2] प्रमा करणं प्रमाणम् इति उक्तम् आचार्यैः सिद्धान्त सारे प्रमोत्पादक-सामग्री-मध्ये यद् अतिशयेन प्रमागुणकम् तत् तस्याः कारणम्, अतिशयश्च व्यापारः, यद्धि यद् जनयित्वैव यद् जनयेत् तत्तत्र तस्यावान्तर व्यापारः। साक्षात्कारि प्रभाया इन्द्रियं कारणम् इन्द्रियार्थ सयोगोवान्तर व्यापारः।

—रामानुज सिद्धान्त संग्रह। गव० ओ० हस्त० सं० ४६८८।

[3] सव सामग्र्यन्तर तस्य न कस्यचिद् एकस्य कारकस्य कथयितुं पार्यते, सामग्र्यस्तु सोऽतिशयः सुवचः सन्निहिता चेत् सामग्री सम्पन्नम् एव फलम् इति।

—न्याय मजरी, पृ० १३।

[4] साकल्य प्रसाद लब्ध प्रमिति—सम्बन्ध—निबंधनः प्रमातृ—प्रमेयो मुख्यस्वरूप लाभः।

—वही, पृ० १४। न्याय मंजरी।

[5] बोधा बोध स्वभावा सामग्री प्रमाणम्। —न्याय मंजरी, पृ० १५।

और रामकृष्ण दोनो प्रमाण को प्रमा का कारण मानने में एक मत हैं। चाक्षुष प्रत्यक्ष से तथा अन्य में, इन्द्रिया ही प्रमाण मानी गई हैं, और इन्द्रिय-सयोग इस कारण का व्यापार माना गया है।

रामानुज और न्याय के मत में भेद यह है कि जबकि न्याय उत्पादक सामग्री के प्रत्येक तत्वों को समान महत्व देता है, रामानुज का मत, उसी निमित्त कारण को विशेष महत्व देता है जो व्यापार से साक्षात् संबधित हैं। शकर अनुयायी भी ज्ञान के ऐसे उत्पादक मत को मानते हैं, यद्यपि वे चैतन्य को नित्य और अज मानते हैं, तो भी, वे वृत्ति-ज्ञान की उत्पत्ति में मान्यता रखते हैं। क्योंकि यद्यपि वे चैतन्य को नित्य और अज मानते हैं तो भी, वे, वृत्ति-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, ऐसा मानते हैं। शकर और रामानुज के मत, न्याय से एक मत हो, ज्ञान के उत्पादक सिद्धान्त को मानते हैं, क्योकि दोनो के मतानुसार जगत् विषय रूप से, ज्ञाता के बाहर है और प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियो मे, अर्थ का व्यापार द्वारा सयोग होने से उत्पन्न होता है। रामानुज-मत में कारण और करण (विशेष साधन) के बीच भेद किया गया है और वह कारण जो कार्य उत्पन्न करने वाले व्यापारो से, अतिशय रूप से और साक्षात् सम्बन्धित है, वह करण है।[1] इसी कारणवश यद्यपि रामानुज का मत सामग्री को स्वीकार कर लेता है, किन्तु कुछ अर्थ मे वह इन्द्रियो को भी प्रधान साधन मानता है, दूसरे सब सहायक हैं या अन्य रूप से उत्पादन में सहकारी है।

कुछ बौद्ध ऐसे भी हैं जो पूर्ववर्ती क्षण के मानसिक तथा मनोबाह्य कारक की सयुक्त सामग्री ही, ज्ञान तथा उत्तर क्षण की बाह्य घटना को उत्पन्न करती है, ऐसा मानते है, किन्तु वे मानसिक तत्व सीधे सीधे ज्ञान उत्पन्न करते हैं ऐसा मानते हैं, जबकि मनोबाह्य तथा बाह्य पदार्थ केवल उत्तेजक या सहकारी साधन हैं। इस मत के अनुसार, ज्ञान अनुभव के पूर्व ही, अन्तर से निश्चित होता है, यद्यपि बाह्य विषयो के प्रभाव का निषेध नही किया गया है। बाह्य जगत् मे कारणता के व्यापार के सम्बन्ध में, वे मानते हैं कि यद्यपि वर्तमान क्षण के ज्ञानमय तत्व, सहायक रूप से उन्हें प्रभावित करते हैं, तो भी अतिशय कारण-व्यापार तो बाह्य विषयो मे ही ढूढना पडेगा। पूर्ववर्ती क्षण के ज्ञान तथा ज्ञानोत्तर तत्व, सयुक्त रूप से, जगत् में, उत्तर क्षण की प्रत्येक घटना को निश्चित करते है, चाहे वे मानसिक या भौतिक ही क्यो न हो, किन्तु ज्ञान की उत्पत्ति के निश्चय में तो ज्ञान तत्व ही प्रबल हैं, बाह्य दशाए केवल सहकारी ही है। बाह्य घटना को निश्चित करने में, ज्ञान तत्व सहायक हैं और बाह्य कारण निकटतम साधन रूप हैं। इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति मे, यद्यपि विशिष्ट बाह्य

---

[1] तत्कारणानां मध्ये या दतिशयेन कार्योत्पादकं तत्करणम्।
—रामानुज सिद्धान्त सग्रह, ग० ओ० हस्त० सं० ४९८८।

पदार्थ सहायक माने जा सकते हैं किन्तु उनका अचिरात् और अव्यवहित रूप से निर्धारक तत्त्व विज्ञान ही है।[1]

विज्ञानवादी बौद्ध जो प्रत्यय-बोध और पदार्थ-वस्तु में भेद नहीं करते उनकी मान्यता है कि अरूप प्रत्यय ही नील, लाल इत्यादि भिन्न रूप धारण करता है, क्योंकि वे इन प्रत्यय बोधों के अलावा किसी अन्य बाह्य विषय को नहीं मानते और इसलिये, विभिन्न रूप में प्रत्यय बोध (विज्ञान) को ही प्रमाण कहते हैं और इन्द्रियों अथवा अन्य सामग्री की मान्यता अस्वीकार करते हैं। प्रमाण और प्रमाण-फल, या प्रमाण-व्यापार की निष्पत्ति में यहा भेद नहीं किया गया है।[2] अतः विज्ञानवादी बौद्धों में पदार्थ की स्थिति एवं उसकी जानकारी के भेद का कोई खुलासा नहीं किया गया है। अर्थात् वे चेतना और उसके अर्थ या विषय का भेद समझाने में असफल रहते हैं।

कुमारिल की मीमांसा-शाखा का विचार है कि आत्मा-इन्द्रियां मनस् विषय-संयोग क्रम को अनुसरण करते हुए, कोई ऐसा ज्ञान-व्यापार है, जोकि वह साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं होता, तो भी उसे ज्ञान के विषय को प्रकट करने का नियत व्यापार मानना ही पड़ेगा (अर्थ-दृष्टता या विषय-प्रकाशता)। यही अदृष्ट किन्तु न्याय अनुमित, ज्ञान-व्यापार है जो प्रमाण कहलाता है।[3] जयन्त, ऐसे अदृष्ट व्यापार का ज्ञान-क्रिया को मान नहीं सकते, क्योंकि न्याय-मतानुसार, एक ही प्रकार का व्यापार माना

---

[1] ज्ञान जन्मनि ज्ञानम् उपादान कारणमर्थः सहकारि कारणमर्थं जन्मनि च अर्थं उपादान कारण ज्ञानं सहकरिकारण।

—न्याय मंजरी, पृ० १५।

जयन्त ने इस मत के प्रति यह आक्षेप किया है कि, अगर ज्ञान और बाह्य पदार्थ और दोनो घटना, पूर्ववर्ती क्षण के ज्ञान तथा ज्ञानोतर तत्वों के संयुक्त व्यापार से निश्चित होते हैं तो हम पूछते हैं कि एक तथ्य-ज्ञान है और दूसरा भौतिक है, एक दृष्टा है और दूसरा दृश्य है, इसे कौन निश्चित करता है।

[2] निराकारस्य बोधरूपस्य नील-पीताद्यनेक-विषय-साधारणत्वाद् जनकत्वस्य च चक्षुरा-दावपि भावेनातिप्रसंगात् तदाकारत्वकृतम् एव ज्ञानकर्म नियमम् अवगच्छन्तः साकार-विज्ञानम् प्रमाणम्···अर्थस्तु साकार-ज्ञानवादिनो न समस्त्येव।

—वही, पृ० १६।

[3] नान्यथा ह्यर्थ सद्भावो दृष्टः सन्नुपपद्यते।
ज्ञान चेन्नेत्यतः पश्चात् प्रमाणम् उपजायते॥

—श्लोक वार्तिक, शून्यवाद, १७८।

जयंत यह भी कहते हैं, फलानुमेयो ज्ञान-व्यापारो ज्ञानादि-शब्द-वाच्यः प्रमाणम्।

न्याय मंजरी, पृ० १७।

गया है जो परमाणु की गति है या कारण चक्र द्वारा उत्पन्न किये गया परिस्पंद (चलन) है।[1]

जैन मतवादी सामग्री की संयुक्त कारणता का या किसी भी व्यक्तिगत कारण का, जैसे कोई भी इन्द्रिय या प्रत्यक्ष ज्ञान में किसी भी प्रकार के इंद्रिय-सम्बन्ध, या अन्य किसी प्रकार के ज्ञान का खण्डन करते हैं। प्रभाचन्द्र, इस प्रकार 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' में, विवाद करते हैं कि कोई भी व्यक्तिगत कारण या कारण-सामग्री का संयोग, ज्ञान की उत्पत्ति नहीं कर सकता है। क्योंकि ज्ञान हमारे इच्छित विषय के प्रति, या अनिच्छित विषय से दूर, ले जाने में, स्वतंत्र और स्वतः निश्चित है, और किसी अर्थ में इन्द्रियों का कारण-व्यापार या इन्द्रियों का संयुक्त व्यापार या अन्य किन्ही तत्वों को, ज्ञान का कारण नहीं कह सकते। इस प्रकार, स्वतः ज्ञान को ही प्रमाण मानना चाहिए जो इच्छित विषय को प्राप्त कराता है।[2]

प्रमाण के विषय में, विभिन्न मतों का सारा निचोड़ ज्ञान की उत्पत्ति में, इन्द्रियों का विषय या वस्तु और अन्य सहकारी परिस्थितियों के सबंध के प्रकार को निश्चित करने मे ही रहा है। जैसाकि हमने देखा है, रामानुज के मतानुसार, ज्ञान, अनेक कारण तत्वो का कार्य माना गया है जिसमें, प्रत्यक्ष ज्ञान में, इन्द्रिया साक्षात् (अचिरात्) और नियत रूप से महत्वपूर्ण कार्य करती है। जैन और बौद्ध (विज्ञान-वादी) (यद्यपि उनमें आपस में उत्कट मतभेद है) ज्ञान के आत्मनिर्धारण को मानने में एक मत हैं, जिसके अनुसार, ज्ञान, इन्द्रियां या बाह्य पदार्थों के व्यापार जो ज्ञान के विषय बनते हैं और उससे प्रकाशित होते हैं, स्वतंत्र है।

वेंकटनाथ का संशय निरूपण

वेंकटनाथ संशय को, विशिष्ट विरोधी गुणों के अग्रहण से, दो या अधिक विकल्पों (जो आपस मे असगत हैं) का दीखना कहते है और दोनो में कुछ सामान्य साधारण लक्षणो का अनुभव करना है, जैसेकि जब केवल ऊंची वस्तु ही दीखती है, वह फिर चाहे मनुष्य हो या ठूठ हो, जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होने से एक साथ दोनों नही हो सकते। इसलिए, दोनो विकल्प, एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं होने चाहिए, और वस्तु को देखने से पता नही चलना चाहिए कि वह एक या दूसरी है,

---

[1] तस्मात् कारक–चक्रेण चलता जन्यते फलम्।
नपुनश्चलनाद् अन्यो व्यापार उपलभ्यते ॥ —वही, पृ० २०।

[2] ततोऽन्य-निरपेक्षतया स्वार्थ परिच्छिन्नं साधकतमत्वात् ज्ञानम् एव प्रमाणम्।
—प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृ० ५।

इसी से संशय उत्पन्न होता है। वेंकटनाथ संशय के इस विश्लेषण को पूर्वगामी आचार्यों को लक्ष्य करके, न्यायपूर्ण सिद्ध करने की कोशिश करते हैं, वे संशय को मन की उस स्थिति कहते हैं, जिसमें वह एक विकल्प से दूसरे की तरफ दोलायमान होकर अनुभव करना है (दोलावेगवदन्न स्फुरण-क्रमः), क्योकि एक ही वस्तु का एक ही समय में दोनो होना, असगतिपूर्ण है। 'आत्मसिद्धि' के रचयिता ने, इसलिए, संशय को मन का दो या अधिक वस्तुओं से शीघ्र क्रम में शिथिल सयोग कहा है (बहुभियुंगपद-दृढ़-सयोगः)। संशय, सामान्य लक्षणो के ज्ञान से–जैसेकि, ऊँचाई से, प्रत्यक्ष वस्तु चाहे पुरुष हो या वृक्ष का ठूठ हो या जो दृष्टिगोचर होता है या किसी अन्य प्रकार से जाना गया है, उससे सूचित भिन्न सभावनाएँ और भिन्न विरोधी लक्षणो के पारस्परिक बलों के बीच, निश्चित न कर पाने से, उत्पन्न होता है (अग्रह्यमान बल तारतम्य विरुद्धा-नेकज्ञापकोपस्थापनम् इह विप्रतिपत्तिः)। इसलिए, जब भी दो या अधिक सभाव्यताएँ होती हैं, जिनमे से कोई भी और प्रमाणित किए बिना हटाई (निरास) नही जा सकती तो संशय उत्पन्न होता है।[1]

---

[1] वात्स्यायन के भाष्य में (१. ११. २३) में संशय का न्याय-दृष्टि से यह विश्लेषण किया गया है। संशय वस्तुओं के, जब सामान्य लक्षण देखे जाते हैं, किन्तु विशिष्ट गुणो को नही देखा जाता जिससे निश्चित रूप से यह है या वह है ऐसा कहा जा सकता है तब मन की, उस समय, एक या दूसरे के पक्ष में निश्चित करने की वेदना, संशय है। संशय मतो के द्वद्वात्मक स्थिति (विप्रतिपत्ति) से भी उत्पन्न होता है, जैसेकि, कोई कहते हैं कि आत्मा है, जब अन्य कहते हैं आत्मा नही है। संशय, उन निर्णयात्मक लक्षणों के ज्ञान से भी (विभाजन से उत्पन्न, विभागतत्व) उत्पन्न होता है, जो लक्षण एक वस्तु में (उदाहरणार्थ, शब्द) दूसरी वस्तु के साथ सामान्य रूप से है (उदाहरणार्थ, द्रव्य, गुण कर्म इत्यादि)। संशय, वस्तु के न होते भी, उसे निश्चित करने की इच्छा के कारण भ्रमपूर्वक देखने, से भी उत्पन्न होता है (मृगतृष्णा) और संशय इस प्रकार भी उत्पन्न हो सकता है कि जब हम वस्तु (वहाँ है पर अप्रकट है) नहीं दीखती है, पर हम उसके लक्षण जानने की इच्छा रखते हैं जिससे हमें यह निश्चय हो जाय कि वस्तु वहाँ थी या न थी। वेंकटनाथ का, इस विषय में, मुख्य योग यह है कि वे संशय का साधारण (सामान्य) विश्लेषण, विशिष्ट प्रकार के पाँच संशय कहने के बजाय, एक मानसिक परिस्थिति के रूप में करते हैं। वेंकटनाथ यह स्पष्ट करते हैं कि संशय पाँच प्रकार के ही हों ऐसा नहीं है, किन्तु अनेक प्रकार के हो सकते हैं, और इसमें सबों की स्वीकृति है कि संशय की स्थिति में मन एक विकल्प से दूसरे की तरफ, वस्तु, के विशिष्ट एवं निश्चयात्मक लक्षणो को देखे बिना, केवल कुछ सामान्य लक्षणों को देखने के कारण, भिन्न सम्भाव्य विकल्पों के पारस्परिक बलों के प्रति अनिश्चितता से, दोलायमान रहता है।

इस प्रकार, संशय, सच्चे और झूठे प्रत्यक्ष के बीच उत्पन्न होता है जब मैं दर्पण में मुँह देखता हूं, किन्तु यह नहीं जानता कि वह सचमुच मुँह है या नहीं जबतक कि मैं उसे स्पर्श कर निश्चित नहीं करता। इसी तरह, सिद्ध या असिद्ध अनुमान के बीच भी, जब मैं धुएँ से यह अनुमान करता हूँ कि पर्वत पर आग लगी है, और तब भी प्रकाश न देखकर संशय करूँ कि सचमुच आग लगी है या नहीं, शास्त्र वाक्यों में विरोध होने पर, 'जीव ब्रह्म से भिन्न कहा गया है,' और 'वह उससे एक रूप है,' तब सचमुच जीव ब्रह्म से भिन्न है या एक रूप है, आप्त वचनों के मतभेद होने पर, (उदाहरणार्थ, वैशेषिक दार्शनिक और उपनिषदों के सिद्धान्त) जैसेकि, इन्द्रियां भौतिक हैं या अहंकार के कार्य हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान के बीच भी यही परिस्थिति है। (पीले सीप का भ्रमयुक्त देखना, उसे पीला देखकर अनुमान करना कि वह पीला नहीं हो सकता, क्योंकि वह सीप है तब संशय होता है कि सीप सफेद है या पीला इत्यादि)।

वेंकटनाथ, अपने 'प्रज्ञापरित्राण' में, वरदनारायण के मत का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि उन्होंने सशय का जो त्रिविभाजन, सामान्य लक्षणों के ज्ञान से, भिन्न विकल्पों के ज्ञान से, पंडित और आप्त लोगों में मतभेद से, किया है, वह न्याय-दृष्टि को अनुकरण करके किया है,[1] क्योंकि मत के दो विकल्प एक ही हैं। वेंकटनाथ, आगे सशय के विषय में, उस न्याय-मत का निरसन करते हैं जिसमें, वात्स्यायन, न्याय-सूत्र १. ११. २३ को समझाते हुए कहते हैं कि सशय विशेष लक्षित गुणों से भी उत्पन्न हो सकता है। इस तरह पृथ्वी में गंध का, विशिष्ट लक्षित गुण है जो न तो आत्मा जैसे नित्य द्रव्य में है और न जल जैसे अनित्य द्रव्यों में है, और स्वाभाविक रूप से यह संशय किया जा सकता है कि पृथ्वी, नित्य द्रव्य से भिन्न होने से, अनित्य है, या अनित्य द्रव्यों से भिन्न होने के कारण नित्य है। वेंकटनाथ यह बताते हैं कि यहाँ संशय, इस कारण नहीं होता कि पृथ्वी में यह विशेष या लक्षित गुण है। सीधा कारण यही है कि गध का होना, नित्यता या अनित्यता निश्चित करने के लिए, बिलकुल असगत है क्योंकि यह नित्य और अनित्य द्रव्य, दोनों में प्राप्त है। जब तक कि कोई विशेष लक्षित गुण, जो नित्य और अनित्य वस्तु मात्र में है, और वह पृथ्वी में भी पाया जाता है, जिसके बल पर यह निश्चित किया जा सके कि वह नित्य है या अनित्य है तब तक सशय बना ही रहेगा (व्यतिरेकि-निरूपण-विलम्बात्)। वेंकटनाथ, अनेकों उदाहरणों द्वारा, यह बताते हैं कि सशय, दो संभाव्य विकल्पों के प्रति अनिश्चय की वजह से, मन का दोलायमान होना है। वे 'इस वृक्ष का क्या नाम होगा?' ऐसे

---

[1] साधारणा कृतेर्द्दष्ट्याऽनेकाकार ग्रहात्तथा।
विपश्चितां विवादाच्च त्रिधा संशय इष्यते॥
—प्रज्ञा परित्राण, न्याय परिशुद्धि में उद्धृत, पृ० ६२।

प्रश्न को भी संशय मानते हैं और केवल अनिश्चय या ज्ञान की कमी को नहीं मानते (अनध्यवसाय)। ऐसी जिज्ञासा, युक्त रूप से, संशय स्वीकार की जा सकती है, क्योंकि यह दो या दो से अधिक वैकल्पिक नामों के बारे में संशय उत्पन्न करता है, जो मन में दोलायमान हो रहे हैं और किसी एक या दूसरे नाम का निश्चय करने की इच्छा हो रही है। इस प्रकार यहाँ पर भी स्थिर निर्णय न ढूँढ पाने के कारण, दो विकल्पों के बीच अनिश्चय है (अवच्छेदकादर्शनात् अनवच्छिन्न-कोटिविशेषः)। ऐसी दोलायमान स्थिति का अवसान किसी एक सम्भाव्य विकल्प के पक्ष या विपक्ष में मानसिक क्रिया से हो सकता है जिसे ऊहा कहते हैं (किन्तु इसे अनुमान के सम्बन्ध में तर्क नामक ऊहा से पृथक् रखना चाहिए), जो संशय को दूर कर अनुमान की ओर ले जाती है।[1] अनन्तार्य, जो रामानुज सम्प्रदाय के उत्तरकालीन लेखक हैं, संशय का और प्रकार से वर्णन करते है कि संशय मन की वह स्थिति है जिसमे सामने कुछ है इतना ही दीखता है, किन्तु उसका विशिष्ट गुण, रूप या लक्षण नही दिखाई देता (पुरोवृत्तिमात्रम् अगृहीत-विशेषणम् अनुभूयते)। केवल दो विकल्प ही (उदाहरणार्थ वृक्ष या ठूठ और पुरुष) ही याद आते है। स्वार्थ सिद्धि के अनुसार हमारे सामने किसी का सदोष निरीक्षण, उसके अनुरूप संस्कार जाग्रत करता है, जो बारी से उन संस्कारो को जाग्रत करता है जिससे दो सम्भाव्य विकल्प एक ही स्मरण मे युगपद् याद आ जाते हैं जिनमे से किसी को भी निश्चित नही किया जाता।[2] इस सम्बन्ध मे, लघु और बहुमतवादियों के बीच यह मतभेद का विषय है, अल्पमतवादी मानते है कि हमारे सामने किसी पदार्थ का अनुभव, संस्कारों को जाग्रत करता है जो बारी से दो भिन्न संस्कारो को जाग्रत करता है जिससे एक स्मरण, दो विकल्पो से युक्त हो जाता है, और बहुमतवादी यह मानते हैं कि हमारे सामने उपस्थित पदार्थ अविलम्ब ही दो विकल्पो की स्मृति उत्पन्न करता है जो संशय अर्थ मे लिया जाता है। पहला मत, दो स्मृतियों को एक ज्ञान से जोड़ता है और दोलायमान स्थिति को निर्णय का एक कर्म मानता है इसलिए वे ऐसा मानते हैं कि संशय मे भी एक निर्णय की जगह दूसरा भूल से निवेश होता है, जो अन्यथाख्याति के अनुसार है। पिछला मत, जो यह मानता है कि दो सम्भव विकल्पो की दो भिन्न स्मृतियाँ है, वह रामानुज को ज्ञान

---

[1] ऊहस्तु प्रायः पुरुषेणानेन भवितव्यम् इत्यादि रूप एककोटिसहचरितभूयोधर्मदर्शनाद् अनुभूतान्य-कोटिकः स एव।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० ६८, चौखम्भा।

[2] पुरोवृत्त्यनुभव-जनित-संस्कारेण कोटि द्वयोपस्थिति-हेतु-संस्काराभ्याम् च युगपदेक-स्मरणं संशय-स्थले स्वीक्रियतइति सर्वार्थसिद्धौ उक्तम्।

—अनन्तार्य का ज्ञान यथार्थवाद, गव० ओ० हस्त० स० ४८८४।

यथार्थवाद का मानने वाला समझता है या इस मत को कि जो कुछ भी जाना जाता है या अनुभव में आता है उसका एक उद्देश्य और सच्चा आधार है।

वेंकटनाथ के अनुसार भ्रम और संशय

वेंकटनाथ के अनुसार भ्रम, जब एक या अधिक असंगत (विरोधी) लक्षण किसी वस्तु में, उनकी असंगति या विरोध को जाने बिना, निर्दिष्ट किए जाते हैं, तब उत्पन्न होता है। यह सामान्यतः, दोषयुक्त प्रत्यक्ष वस्तु से सम्बन्धित, मिथ्या मानसिक प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न होता है, जैसेकि सीप को पीला अनुभव करना, एक बड़े चंद्र को छोटा एव दो देखना, एक ही वस्तु में विरोधी गुणों का अनेकान्त प्रतिपादन करना या शकर मतवादियों का जगत् को सत् और असत् दोनों कहना है।[1] संशय, दूसरी ओर, तब उपस्थित होता है, जब अनुभूत लक्षण जो व्यावर्तक और आपस में विरोधी दीखते हैं, दो या अधिक पदार्थों में स्वीकार किए जाने पर विरोध उत्पन्न नहीं करते हैं और जो इसीलिए, दोनो एक ही समय स्वीकृत नही किए जा सकते। इसलिए, इस अवस्था को कुछ लोग मन की एक दशा से दूसरी दशा पर दोलायमान होना कहते हैं। निश्चय तब ही होता है जब मन एकार्थ हो, एक ही विषय पर दृढ़ निश्चय करता है, सशय बहुअर्थी दोलायमान स्थिति से उत्पन्न होता है, जैसाकि आत्मसिद्धि में बताया है। मन की दिशा में दृढ़ता की अनुपस्थिति, मन की स्वाभाविक प्रकृति के कारण है जिससे विरोधी विकल्प को आवश्यक रूप से त्याग देना पड़ता है। भट्टारक गुरु, इसी विचार को 'तत्व रत्नाकर' मे दोहराते हैं जब वे सशय को, किसी एक वस्तु के साथ दो विरोधी या विपरीत गुणो का सम्बन्ध जोडना कहते हैं। वेंकटनाथ के अनुसार सशय दो प्रकार के है, समान धर्म और विप्रति पत्ति से, अर्थात्, जब दो भिन्न सूचनाएं दो या अधिक निष्पति को सूचित करनी हो, और इन सूचनाओं का अपेक्षित बल निश्चित न किया जा सके। पहले उदाहरण में सशय की दशा अनिश्चितता है जो इस घटना के कारण है कि दो विपरीत विकल्प जिनका सापेक्ष बल, कुछ समान गुणो के कारण निश्चित नही किया जा सकता है वे स्वीकृति देने के लिए बाध्य करते हैं (समानधर्म-विप्रति पत्तिभ्याम्)। इस प्रकार, जब हम अपने सामने कुछ ऊँची वस्तु देखते हैं तब दो सम्भाव्यताएँ खड़ी हो सकती हैं—ऊँची वस्तु पुरुष या खभा हो सकता है—क्योंकि वे दोनो ही ऊँचे होते हैं। जबकि ज्ञान के भिन्न (प्रमाणों) उद्‌गमो का सापेक्ष बल, उदाहरणार्थ, प्रत्यक्ष, भ्रम, अनुमान शब्द इत्यादि भिन्न निष्कर्ष को ग्रहण करने में (अगृह्यमाणबल तारतम्य) निश्चित नहीं करा पाते और दोनों ही एक ही वस्तु या निष्कर्ष को स्वीकार करने पर बाध्य करते हैं तब संशय उत्पन्न होता है कि

---

[1] देखो न्यायपरिशुद्धि, पृ० ५४-५५।

किसे स्वीकार किया जाय। इस प्रकार जब कोई दर्पण में अपने मुँह का प्रतिबिम्ब देखता है, जो स्पर्श द्वारा प्रमाणीकृत नहीं होता है तब प्रतिबिम्ब की सचाई के विषय में संशय उत्पन्न होता है। पुनः संशय पर्वत में अग्नि है इसके बारे में दो अनुमानों से उत्पन्न हो सकता है, धूम्र है, इसलिए अग्नि है और प्रकाश है इसलिए सम्भवतः अग्नि नहीं है। पुनः उपनिषदों में कुछ पाठ ऐसे हैं जो कुछ तो एकत्ववादी है और दूसरे द्वैतवादी हैं, इसलिए संशय हो सकता है कि कौनसा उपनिषद् का मत सच्चा है इत्यादि। संशय दो विरोधी विवादों से भी उत्पन्न हो सकता है जैसेकि परमाणुवादी और उपनिषदकारों के बीच इस विषय में कि इन्द्रियाँ भूत से उत्पन्न हुई हैं या अहंकार से। वह सामान्य-जनों की दो विरोधी प्रतिज्ञाओं से भी उत्पन्न हो सकता है, प्रत्यक्ष (सीप को भ्रमयुक्त पीला देखना) और यह अनुमान कि सीप पीली नहीं हो सकती, आत्मा का ज्ञान कि वह देह-युक्त है और शास्त्र प्रमाण कि वह अणु है, भी संशय के विषय हैं।

संशय, जगत् अणुरूप है इस अनुमित ज्ञान और शास्त्रोक्त ज्ञान कि ब्रह्म ही जगत् का मूल आधार है, के बीच उत्पन्न हो सकता है। नैयायिक तो ऐसा भी सोचते हैं कि दो विरोधी पक्षों के भिन्न मतों के बारे में भी संशय उत्पन्न हो सकता है।[1] वेंकटनाथ बताते हैं कि 'न्याय सूत्र' और 'प्रज्ञा परित्राण' दोनों का यह कहना कि संशय उत्पन्न करने में समान धर्म और अनेक धर्म का ज्ञान, स्वतन्त्र कारण है, गलत

---

[1] समानानेक धर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्य व्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशय। न्यायसूत्र, १. १. २३।

उद्योतकार इसका यह अर्थ करते हैं कि प्रत्येक संशय की अवस्था में तीन बातें होती हैं, जैसेकि (१) सामान्य गुणों का ज्ञान (२) विशिष्ट गुणों का ज्ञान और (३) विरोधी प्रतिपादन तथा कोई भी विपरीत सम्भाव्यताओं के विषय में निश्चित करने की कमी के कारण विवाद करने वालों की अनिश्चित मानसिक स्थिति का ज्ञान और व्यावर्तक गुण जानने की तीव्र इच्छा। उद्योतकार सोचते हैं कि, संशय ज्ञान की विप्रतिपत्ति के ही कारण उत्पन्न होता है ऐसा नहीं है किन्तु विवादी पुरुषों के मतों में विप्रतिपत्ति से भी होता है, यहाँ विप्रतिपत्ति का अर्थ वे वादी-विप्रतिपत्ति से लेते हैं। यह मत वरद विष्णु मिश्र भी 'प्रज्ञा परित्राण' में प्रतिपादन करते हैं जो निम्न श्लोक से स्पष्ट होता है।

साधारणाकृतेर्दृष्टयानेकाकारग्रहात् तथा,
विपश्चितामं विवादाच्च त्रिधा संशय इष्यते॥

—प्रज्ञा परित्राण, न्याय परिशुद्धि में उद्धृत, पृ० ६१। वेंकटनाथ इसे, न्याय मत को अध होकर स्वीकारना कहते हैं।

है।[1] अनेक धर्म से उत्पन्न संशय के बारे में यह निरूपण किया गया है कि जैसे गंध का लक्षण अनित्य पदार्थों में नहीं होता, अतः हम इसलिए, पृथ्वी को नित्य पदार्थों में सम्मिलित करने को अग्रसर हो जाते हैं और पुनः यह गंध का लक्षण किसी भी अनित्य पदार्थों में नहीं पाया जाता इसलिए पृथ्वी को अनित्य पदार्थों में भी सम्मिलित करने को अग्रसर हो जाते हैं। किन्तु यहाँ संशय अनेक गुण के ज्ञान से नहीं होता, बल्कि मन के व्यतिरेकी गुण के निश्चय करने में विलम्ब होने से उत्पन्न होता है, जिससे वह एक को दो में से किसी एक में समाविष्ट न कर सके। गंधत्व स्वयं, अनित्यता या नित्यता की अनिवार्य उपाधि नहीं है। इसलिए नित्य या अनित्य द्रव्यों में समान गुणों के बारे में जिज्ञासा उत्पन्न होती है जो गंधमय पृथ्वी में उपस्थित हों जिससे वर्गीकरण किया जा सके। यहाँ संशय इस कारण नहीं है कि गंध पृथ्वी का विशेष गुण है, किन्तु इस कारण है कि पृथ्वी में ऐसे गुण है जो नित्य पदार्थों में है और कुछ लक्षण ऐसे है जो अनित्य पदार्थों में है। जब यह भी कहा जाय कि गंधत्व, पृथ्वी को नित्य और अनित्य पदार्थों से विविक्त करता है और यही संशय का कारण है तो यह बताया जा सकता है कि संशय, इस व्यावर्तक गुण के कारण नहीं है, किन्तु इस कारण है कि पृथ्वी में नित्य और अनित्य पदार्थों के समान गुण है। कुछ ऐसे भी है जो सोचते है कि विप्रतिपत्ति (अर्थात् विवादी पुरुषों में युक्ति-संगत प्रतिपादनों के कारण अनिश्चितता) की दशा से संशय को भी समान धर्म (समान गुणों का अनुभव) के कारण है ऐसा कहा जा सकता है क्योंकि विरोधी प्रतिपादनों में आपस में यह साम्य है कि विवादी पुरुष उन सबों को सत्य मानते है। वेंकटनाथ इससे सहमत नहीं है। वे मानते हैं कि यहाँ संशय केवल इस तथ्य के बल पर नहीं होता कि विवादी पुरुषों द्वारा विरोधी प्रतिपादन सत्य माने गए है, किन्तु इस कारण है कि हम इन प्रतिपादनों के समर्थन में विभिन्न तर्कों को याद करते है जब हम इन तर्कों की संभावनाओं की सापेक्ष शक्ति की प्रमाणता निश्चित नहीं कर पाते। इस प्रकार, विप्रतिपत्ति को संशय का स्वतंत्र उद्गम मानना पड़ेगा। संशय, सामान्यतः, दो संभाव्य विकल्पों के बीच उत्पन्न होता है, किन्तु ऐसी परिस्थितियाँ भी हो सकती है,

[1] वात्स्यायन सादृश्य गुणों के प्रत्यक्षीकरण से उत्पन्न संशय का उदाहरण देते हुए मनुष्य और खम्भे का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिसमे ऊँचाई इत्यादि सामान्य गुण दृष्टिगोचर होते है किन्तु असाधारण गुण नहीं दीखते। विशेष गुणों के प्रत्यक्ष से संशय का उदाहरण पृथ्वी का गंधवान होना देते है कि गंध द्रव्य का विशेष गुण नहीं है, न कर्म और न गुण है, इससे संशय उत्पन्न होता है कि पृथ्वी को द्रव्य, कर्म या गुण कहा जाय। उसी प्रकार पृथ्वी में गंध का विशेष गुण होने से यह संशय उत्पन्न हो सकता है कि वह नित्य है या अनित्य क्योंकि किसी भी नित्य या अनित्य वस्तु में यह गुण नहीं पाया जाता।

जिनमें दो संशय मिलकर एक हो जाते हैं और एक संकीर्ण संशय के रूप में दृष्टिगोचर होता है। जबकि ऐसा जानते हैं कि दो में से एक व्यक्ति चोर है, किन्तु कौन, यह नहीं जानते, तब संशय हो सकता है 'यह व्यक्ति चोर है या वह'। ऐसी परिस्थिति में दो संशय उपस्थित हैं, 'यह पुरुष चोर है या नहीं हो सकता,' और 'वह पुरुष चोर है या नहीं हो सकता,' और ये दो एक होकर संकीर्ण रूप से प्रकट होते हैं (संशय द्वय समाहार)। संकीर्ण संशय में मानने की आवश्यकता तभी लुप्त हो सकती है जबकि हम चोर होने के गुण को दो में से एक पुरुष के विषय में शंका करते हैं। संशय स्वयं में भी स्वीकारात्मक पहलू उपस्थित करता है क्योंकि इसमें यह अर्थ निहित है कि अगर एक विकल्प का निरास किया जाता है तो दूसरा आवश्यक रूप से स्वीकृत है। किन्तु, जबकि यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि किसे निराश किया जाय, तो संशय उत्पन्न होता है। संशय और स्वीकार भाव में कोई भी विरोध नहीं है, क्योंकि संशय का यही अर्थ है कि शंकित गुण दो विकल्पों में से किसी एक में ही है।[1]

किन्तु ऐसी परिस्थितियाँ भी हो सकती हैं जिनमें दो विकल्प ऐसे हों कि शंकित गुण सचमुच दोनों में से किसी में भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है, और यह उन परिस्थितियों से भिन्न है जिसमें ऐसे विकल्प है कि शंकित गुण का अगर एक से निषेध किया जाता है तो दूसरे में वस्तुतः स्वीकार्य है। इन दो दृष्टिकोणों से हमें संशय का द्विधा विभाजन प्राप्त होता है। इस प्रकार जब घास के ढेर से उठती हुई धुएँ की राशि, इस संशय का विषय होती है कि वह पर्वत है या हाथी, इस अवस्था में एक विकल्प का निषेध दूसरे की स्वीकृति नहीं बताता। अनिश्चितता (अनध्यवसाय, 'अर्थात् इस वृक्ष का नाम क्या हो सकता है ?') मन की स्वतंत्र दशा नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इसे भी संशय की स्थिति माना जा सकता है जिसमें वृक्ष के सम्बन्ध में अनेक समाख्य नामों की अनिश्चितता है। ऐसा लगता है कि वेंकटनाथ उन मतों का संतोषकारक निरास नहीं कर सके हैं जो अनिश्चितता या जिज्ञासा को मन की एक पृथक् अवस्था मानते हैं। ऊहा (संभाव्यता के अर्थ में, जैसे कि 'यह पुरुष ही होना चाहिए') में दो विकल्पों के बीच दोलायमान स्थिति नहीं होती, किन्तु मन का वह भाव होता है, जिसमें, एक तरफ की संभाव्यता अधिक बलशाली होने के कारण उस विकल्प को अधिक निश्चित रूप से स्वीकार करने की स्थिति उत्पन्न करती है, इसलिए संशय के साथ वर्गीकरण नहीं किया जाता है तो उसे प्रत्यक्ष ही कहा जाता है और जब यह अनुमान द्वारा स्वीकृत होता है तो उसे अनुमान कहा जाता है।

---

[1] सर्वस्मिन् अपि संशये धर्म्यांशादौ निर्णयस्य दुस्त्यजत्वात्।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० ६६।

वेंकटनाथ, रामानुज का अनुसरण करते हुए, तीन प्रमाणों को मानते हैं, जैसेकि प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। रामानुज गीता[1] की टीका में, योगि प्रत्यक्ष को भी एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं, किन्तु वेंकटनाथ मानते है कि उसे प्रत्यक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट करना चाहिए और उसे पृथक् इसलिए माना है कि वह प्रत्यक्ष के विशिष्ट इसका पहलू को प्रकट करता है।[2] सच्ची स्मृति को भी प्रमाण मानना चाहिए। स्वतन्त्र प्रमाण में वर्गीकरण नही करना चाहिए, किन्तु इसका समावेश प्रमाण के अन्तर्गत करना चाहिए जिसके कारण स्मृति होती है (उदाहरणार्थ, प्रत्यक्ष)।[3]

मेघनादारि, स्मृति को प्रमाण मानने के विषय मे विवाद करते कहते है कि स्मृति प्रमाण की उस आवश्यक उपाधि को संतुष्ट करती है कि उसे प्रकट होने के लिए किसी अन्य पर आश्रित नही होना चाहिए, क्योंकि स्मृति, सहज होने से, किसी अन्य पर प्रकट होने के लिए आश्रित नही है। यह निस्सदेह सत्य है कि स्मृति में विषय का प्रकट होना इस तथ्य पर आश्रित है कि उसे पहले अनुभव किया हो किन्तु स्मृति-व्यापार, बिना संदेह के सहज ही है।[4] किन्तु ऐसा तर्क किया जा सकता है कि स्मृति द्वारा प्रकट किए विषय, यदि उन्हे पहले अनुभूत नही किया गया हो तो उनका कभी भी स्फुरण नही हो सकता, स्मृति, जोकि अशतः अपने व्यापार के सम्बन्ध में ही प्रमाण है, वह विषय के स्फुरण मे अप्रमाण है क्योकि वह पूर्व अनुभव पर आश्रित है और इसलिए इसे सहज स्फुरण, जोकि प्रमाण के लिए आवश्यक उपाधि है, नही माना जा सकता। इसका उत्तर मेघनादारि यह कह कर देते है कि यह समीक्षा ठीक नही है। क्योंकि सहज स्फुरण तत्क्षण स्मृत विषय का प्रकट होना ही है और इसलिए स्मृत विषय का प्रकट होना किसी अन्य उपाधि पर आश्रित नहीं है। स्मृति, इसलिए, अपने स्वय को एव विषय को प्रकट करने मे प्रमाण है। इस सम्बन्ध में

---

[1] ज्ञानसिद्रिय-लिंगागम-योगजो वस्तु निश्चयः।

—गीता भाष्य, १५–१५।

[2] विष्णुचित्त भी अपने 'प्रमेय सग्रह' मे कहते है कि रामानुज तीन ही प्रमाण में मानते थे।

[3] इस मत का भट्टारक गुरु अपने 'तत्व रत्नाकर' मे समर्थन करते हैं। वरद विष्णु मिश्र, अपने 'प्रज्ञा परित्राण' मे, दिव्य (ईश्वर की कृपा से साक्षात् ज्ञान) और स्वय सिद्ध (स्वाभाविक सर्वज्ञता) को स्वतंत्र प्रमाण में समाविष्ट करते है किन्तु ये सब प्रत्यक्ष के प्रकार ही हैं।

[4] वस्स्फुरणे प्रमाणान्तर सापेक्षत्वाभावात् विषय स्फुरण एवहि स्मृतेः पूर्वानुभूत भावा पेक्षा।

—मेघनादारि न्याय द्युमणि।

यह बताया जा सकता है कि ज्ञान का प्रकट होना आवश्यक रूप से, विषय के प्रकट होने का भी अर्थ रखता है। इसलिए, विषय का प्रकट होना, किसी अन्य उपाधि पर आश्रित है, ऐसा नहीं मानना चाहिए क्योंकि वह ज्ञान प्रकट होने पर सहज ही प्रकाशित होता है।[1]

दर्शन के कई सम्प्रदायों में प्रमाण की व्याख्या में यह कहा गया है कि प्रमाण वह स्थिति है जिसके अन्तर्गत ग्रहण किया हुआ विषय पहले कभी भी ज्ञात नहीं हुआ हो अर्थात् प्रमाण द्वारा ही सर्वप्रथम ज्ञात किया गया हो (अनधिगनार्थ-गंतृ), क्योंकि दर्शनशास्त्र की इन शाखाओं में स्मरण शक्ति को प्रमाण के स्तर से पृथक् माना गया है। मेघनादारि इस पर आक्षेप करते हैं। वे कहते हैं कि जो उपाधि लगाई गई है वह यह स्पष्ट नहीं करती कि जिस विषय के ज्ञान का बहिष्कार किया गया है, यह ज्ञाता के सम्बन्ध में कहा गया है या किसी अन्य पुरुष के सम्बन्ध में कहा गया है। नित्य पदार्थों का जहाँ तक प्रश्न है जैसेकि आत्मा या आकाश, ये सब तो बहुतों ने अनुभव किए हैं तो भी प्रस्तुत ज्ञाता के प्रत्यक्ष या अनुमान की प्रमाणता अस्वीकार नहीं की जाती।[2] यह भी नहीं कहा जा सकता कि वैध प्रत्यक्ष या अनुमान का विषय ऐसा होना चाहिए कि वह प्रस्तुत ज्ञाता द्वारा पहले नहीं देखा गया हो, क्योंकि जब कोई एक विषय को, जो उसने पहले जाना था और अब देखता है, उसे ढूँढना चाहता है तो ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान अप्रामाण्य हो जायगा, और उसी तरह, जब आँख से देखा गया कोई विषय, फिर से स्पर्श द्वारा ज्ञात होता है तो स्पर्श-ज्ञान अप्रामाण्य होगा।[3] उत्तर जो बहुधा दिया जाता है, (उदाहरणार्थ, धर्मराजाध्वरद्रे ने वेदान्त परिभाषा में) कि, जब ज्ञात विषय फिर से देखा जाता है, उसमें नए काल का धर्म होता है इसलिए उसे नया माना जा सकता है। मेघनादारि की इसके प्रति आलोचना यह है कि अगर काल का नया लक्षण विषय को नवीन बनाता है तो प्रत्येक विषय और स्मृति भी नए होंगे। इस प्रकार कोई भी ऐसी वस्तु न रहेगी जिसका इस उपाधि द्वारा निष्कासन नहीं किया जा सकता कि वस्तु नवीन होनी चाहिए (अनधिगतार्थ गतृ)।

अन्य लोग भी जो मानते हैं कि किसी प्रत्यक्ष ज्ञान या अनुमान की प्रामाणता, इस तथ्य पर आश्रित है कि वह अन्य इन्द्रियों के साक्ष्य द्वारा प्रमाणित होती है, जैसेकि

---

[1] ज्ञान-स्फुरित्वाद् विषयस्यापि स्फूर्तिः। —वही।

[2] स्थायित्वेनाभिमताकाशादेः पूर्वैश्वगतत्वसम्भवात् तद्विषयानुमानादेरप्रामाण्य-प्रसंगात्। —वही।

[3] स्वविदितस्यार्थस्य सत्वानेषणे प्रत्यक्षादेरप्रामाण्य-प्रसंगाच्चक्षुषा दृष्ट-विषये द्रव्ये स्पर्शनस्याप्रामाण्य-प्रसगात्।

—मेघनादारि की 'नय द्यु मणि'।

चाक्षुष-प्रत्यक्ष स्पर्श द्वारा प्रमाणित होता है। ये दार्शनिक समर्थन या अविसंवादित्व को प्रमाण की वैधता की आवश्यक उपाधि मानते हैं। मेघनादारि इसकी आलोचना करते हुए बताते हैं कि इस मत के अनुसार प्रत्येक प्रमाण की प्रमाणता को किसी अन्य के आश्रित रहना पडेगा और इस प्रकार अनावस्था स्थिति उत्पन्न होगी।[१] इसके अतिरिक्त बोद्धों के सविकल्प ज्ञान को, जो अविसंवादी है, उपरोक्त मत से प्रमाण मानना ही पडेगा।

वेंकटनाथ से विपरीत, मेघनादारि यह मानते हैं कि रामानुज पांच प्रमाण को मानते थे, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति।

वेंकटनाथ प्रत्यक्ष की व्याख्या 'साक्षात्कारि प्रमा' करते हैं। यह विशिष्ट प्रकार का ज्ञान (जाति रूप) या विशिष्ट उपाधि रूप है। यह स्वरूप से अवर्णनीय है और विशिष्ट स्व चैतन्य रूपी प्रत्यक्ष से अनुभव किया जाता है (ज्ञान-स्वभाव-विशेष-स्वात्म-साक्षिक·)। इसे निषेधात्मक रूप से ऐसा ज्ञान कहा जा सकता है जो अन्य ज्ञान से उत्पन्न नहीं होता है जैसाकि अनुमान, शब्द या स्मृति में होता है।[२] वरदविष्णु, अपने 'मान याथात्म्य निर्णय' मे प्रत्यक्ष को विशद और सजीव कहकर व्याख्या करते हैं (प्रमाया आपरोक्ष्य नाम विशदावभासत्वम्) विशदता और सजीवता से उनका अर्थ, पदार्थ के विशिष्ट और विलक्षण गुणो का प्रकाशन से है, जो शब्द और अनुमान में दीखने वाले जाति-लक्षणो से भिन्न है।

मेघनादारि भी प्रत्यक्ष को विषय का साक्षात् ज्ञान कहकर व्याख्या करते हैं (अर्थ परिच्छेदक साक्षाज् ज्ञानम्)। यह ज्ञान की उत्पत्ति किसी अन्य प्रमाणो पर आश्रित नही है। यही इसका साक्षात्व है। यह निस्सदेह, सत्य है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, इद्रियो के व्यापार पर आश्रित है किन्तु यह आक्षेप उचित नही है, क्योकि इन्द्रिया सामान्य कारण हैं, जो अनुमान मे भी हेतु के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए साधन रूप से क्रियाशील है।[३] अनुमान से भिन्न, प्रत्यक्ष ज्ञान का साक्षात्व, इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि अनुमान अन्य प्रमाणों के माध्यम से उत्पन्न होता है।[४] मेघनादारि, वरद विष्णु की 'प्रत्यक्ष

---

[१] प्रमाणान्तरस्याप्यविसवादार्थं प्रमाणान्तरान्वेषणेनानवस्था। —वही।

[२] ज्ञानकरणज-ज्ञान-स्मृति रहिता मतिरपरोक्षम्। न्याय परिशुद्धि। वेंकटनाथ पृ० ७०-७१। वेंकटनाथ ने इस मत का समर्थन 'प्रमेय सग्रह' और 'तत्व रत्नाकर' में भी किया है।

[३] इन्द्रियाणां सत्ता-कारणत्वेन करणत्वाभावात्।

—'नयद्युमणि'।

[४] साक्षात्व शब्द, कोई, स्वरूप धी (स्वय की जाग्रति या ज्ञान) से समझाते हैं। किन्तु यह अर्थ आक्षेप-पूर्ण है, क्योकि अनुमित ज्ञान भी, विषय के कुछ लक्षण

विशदावभास है' इस परिभाषा का खण्डन इस आधार पर करते हैं कि अवभासत्व सापेक्ष पद है, और अनुमान में भी भिन्न कोटि का अवभासत्व होता है। बुद्धि की स्पष्टता (धी-स्फुटता) भी प्रत्यक्ष की परिभाषा नहीं हो सकती क्योंकि प्रत्येक धी स्फुट ही है जहाँ तक उनका ज्ञान होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष की परिभाषा ज्ञान के रूप में की जाय तो भी आक्षेपयुक्त है, क्योंकि ऐसी अवस्था मे वह केवल निर्विकल्प ज्ञान को ही उपयुक्त होगी, जिसमें इन्द्रियो के व्यापार से विषय के विशिष्ट लक्षण अंकित हुए हैं, परन्तु जो सविकल्प ज्ञान को उत्पन्न करने के लिए आगे नहीं लाए जा सके हैं।

वेंकटनाथ और मेघनादारि दोनो यह मानते है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा कभी भी शुद्ध विषयगत द्रव्य, बिना लक्षण या सामान्य धर्मों के, अनुभव नहीं किया जाता। रामानुज का अनुसरण करते हुए वे कहते है कि विषय, हमेशा जब भी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किए जाते हैं तब पहले ही क्षण मे कुछ लक्षणो सहित ग्रहण किए जाते हैं, नही तो यह समझना कठिन हो जाता है कि वे उत्तर क्षणो मे किस प्रकार विभिन्न लक्षणों सहित ग्रहण किए जाते है। अगर वे पहले क्षणो में ग्रहण नहीं किए जाते तो वे पूर्ण रूप से सम्बन्ध-सहित, उत्तर क्षणो मे कभी भी नही जाने जाएँगे। इसलिए, यह मानना ही पड़ता है कि वे सब, पहले ही क्षणो में जाने गए है किन्तु वे पहले क्षण के छोटे फैलाव में पूर्णता मे अपने को प्रकट न कर सके। रामानुज के 'वेदार्थ सग्रह' मे, सारे प्रत्यक्षो की निर्विकल्पता, पहले क्षण के अनुभव मे, सामान्य धर्मों के ग्रहण द्वारा उद्धृत की गई है। इससे कुछ टीकाकार ऐसा समझने लगे कि प्रत्यक्ष के पहले क्षण में, विशिष्ट धर्मों के ज्ञान का ग्रहण होना, केवल सामान्य धर्मों को ही लक्ष्य इसलिए करता है कि इसमें एक ही वेग में अनेक पदार्थों का ग्रहण करना होता है जो पहले ही क्षण से प्रारम्भ होना चाहिए जिससे वे उत्तर क्षण मे पूर्णतया प्रकट हो सके। किन्तु, मेघनादारि मानते है कि रूप इत्यादि अन्य लक्षणो के भी ग्रहण मे जबकि विषय निकट या दूर हो, तब विशिष्ट भेद होता है। इसमें, एक ही वर्ण के प्रत्यक्षीकरण में वर्ण की विभिन्न आभाओ को ग्रहण किया जाता है और इसलिए वे ही प्रत्यक्ष के पहले क्षण मे उन्ही के समान कारणो से होते हैं जिनके द्वारा पहले क्षण मे, सामान्य धर्मों का ग्रहण होना स्वीकार किया गया है।

ऐसा आक्षेप किया गया है कि समस्त ज्ञान का सविकल्पत्व या विशिष्टत्व न बुद्धिगम्य है और न परिभाष्य है। दो ही तत्व की सत्ता है, वह जिसके साथ सम्बन्ध है

प्रकट करता है। अगर स्वरूप का अर्थ यह लिया जाय, 'विषय के स्वरूप से अन्यथा कुछ नही' तो यह परिभाषा प्रत्यक्ष को भी नही दी जा सकती, क्योंकि प्रत्यक्ष केवल विषय को ही प्रकट नही करता किन्तु अन्य विषयों के साथ सम्बन्ध को भी प्रकट करता है और इस प्रकार यह विषय जैसा भी है इस मर्यादा को अतिक्रमण करता है।

और सम्बन्ध स्वयं। सम्बन्धत्व उनसे अभिन्न एव भिन्न दोनों नहीं हो सकता, क्योंकि हम, जिससे सम्बद्ध हैं और सम्बन्ध इससे भिन्न सम्बन्धत्व को एक पदार्थ के रूप में नहीं जानते। सम्बन्धत्व एक ही ज्ञान-व्यापार में दो तत्वों का प्रकट होना या दो ज्ञान-व्यापार में दो तत्वो का प्रकट होना या दो ज्ञान-व्यापार का बिना अवकाश के दीखना भी नही कहा जा सकता, क्योंकि एक वास्तविक निर्दिष्ट उदाहरण में, जैसेकि 'घड़ा और बर्तन' के ज्ञान में यद्यपि, बिना अवकाश के दो अनुभूतियाँ उपस्थित हुई हैं तो भी उन्होने अपनी विलक्षण पृथक्कता नही खोई है। इस प्रकार सम्बन्धत्व के प्रत्यय को जिससे सम्बन्ध है और सम्बन्ध से भिन्न जाना जा सके, ऐसा कोई रास्ता नही है।

मेघनादारि इसका उत्तर देते हैं कि 'एक सफेद गाय लाओ' ऐसे वाक्य में, क्रिया, विशिष्ट प्राणी 'सफेद गाय' को लक्ष्य करती है, 'सफेदपन' और 'गाय' के भिन्न तत्वों को नही करती। जिससे सम्बन्ध हैं और सम्बन्ध, दोनो का सविकल्प ज्ञान में समावेश होता है जो 'सफेद गाय' है। स्पर्शात्मक प्रत्यक्ष में, जैसेकि 'छड़ी वाला पुरुष' स्पर्श सम्बन्ध प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। सविकल्प (विशिष्ट) वस्तु का प्रत्यय, जिससे सम्बन्ध है और सम्बन्ध से, भिन्न नहीं है, किन्तु, उसे अनुमित करता है। इस प्रकार, सम्बन्ध और जिससे सम्बन्ध है मिलकर निर्दिष्ट वस्तु का ज्ञान कराते हैं।[1] सविकल्पत्व का सयोजक गुण, गौण वस्तु नहीं है किन्तु इस तथ्य को प्रकट करता है कि जगत् में सारी वस्तुएँ सम्बन्ध द्वारा विशिष्ट होने के लिए, एक दूसरे से अपेक्षित हैं और वस्तुओ की यह सापेक्षता उनकी एकता है जिससे वे सविकल्प ज्ञान में सम्बद्ध रूप से दीखती हैं।[2] पदार्थों की यह सापेक्षता से ही उनका अनुभव से सम्बन्धित ज्ञान उत्पन्न होता है जो उससे युगपद् है, इन दोनो के बीच न कोई माध्यम है, न विचारों की रोक है।[3] वह सामान्य अनुभव है कि हमारे सारे प्रत्यक्ष, विचार एव प्रत्यय सर्वदा सम्बन्धित और सयुक्त दीखते हैं। भाषाबद्ध सारी अभिव्यक्तियाँ, हमेशा वाणी का आशय, सम्बन्धित और सयुक्त रूप से प्रकट करती हैं। अगर ऐसा नहीं होता तो भाषा द्वारा विचारो का आदान-प्रदान अशक्य हो जाता है।

निर्विकल्प ज्ञान में, विषय के कुछ ही सारभूत लक्षण देखे जाते हैं और अन्य कई

---

[1] न च प्रत्येकं विशिष्टता-पातः मिलितानामेव विशिष्टत्वात्।

—नयद्युमणि।

[2] एक बुद्धि विषयतार्हाणां पदार्थानाम् अन्योन्य-सापेक्ष-स्वरूपत्व मिलितत्वम्।

—वही।

[3] विशिष्टत्व-धी-विषयत्वे च तेषां सापेक्षत्वं च यौगपद्यात् तत्र विरामाप्रतीतेः सापेक्षता सिद्धा च।

—वही।

लक्षणों का विस्तार विशदता से नहीं होता।[1] सविकल्प ज्ञान में, दूसरी ओर, अनेक गुण और लक्षणो, तथा साथ ही साथ उन विशिष्ट गुणो का ज्ञान होता है जिससे अन्य पदार्थों से उसका भेद किया जाता है।[2]

चाक्षुष प्रत्यक्ष के सादृश्य से अन्य इद्रियो का प्रत्यक्ष समझाया जा सकता है। नैयायिक द्वारा माने हुए समवाय सम्बन्ध को रामानुज, इस कारण नही मानते कि उसकी व्याख्या करना या उसे एक पृथक् पदार्थ मानना कठिन है। विभिन्न संबंध, जैसाकि आधार और आधेय, संसर्ग इत्यादि, पदार्थ से सम्बन्धित होने के लिए परस्पर विभिन्न दिशाओं मे हो रही परीक्षा के अनुसार अनुभव मे प्रकट होते हैं, और ये इद्रिय प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत होने वाले भिन्न सम्बन्धो के स्वरूप को निश्चित करते है।[3] वेंकटनाथ भी बताते हैं कि वही सामग्री जो द्रव्य और गुण का भान कराती है, सम्बन्ध का भी भान कराती है, क्योंकि अगर सम्बन्ध प्रत्यक्ष के प्रथम क्षण मे ग्रहण नही होता

---

[1] निर्विकल्पकम् च घटादेरनुल्लेखितानुवृत्ति-धर्मघटत्वादि-कतिपय-विशेषण-विशिष्टत-यार्थविच्छेदकम् ज्ञानम्। —वही।

[2] उल्लेखितानुवृत्त्यादिधर्मकानेक विशेषण विशिष्टतया साक्षाद् वस्तु व्यवच्छेदक ज्ञानम् सविकल्पकम्। —वही।

वेंकटनाथ तो, सविकल्प और निर्विकल्प ज्ञान की इस प्रकार परिभाषा देते है, 'स प्रत्ययवमर्श-प्रत्यक्ष सविकल्पकम्' और 'तद्रहितप्रत्यक्ष निर्विकल्पकम्।
—न्याय परिशुद्धि, पृ० ७७।

[3] अनस्तत्सम्बन्धाद् वस्तुत उपाधितो वाधाराधेय भाव-वस्त्वन्तरमेव। एव च कल्पना लाघवम्। सचगुणादि भेदादनेकः नचतरसम्बन्धस्समबधिनो स्सम्बन्धान्तर कल्पनायाम् अनवस्था। अन्योन्य सापेक्ष-स्वरूपस्वरूपोपाधि-व्यतिरेकणार्था न्तराभावात्।
—नयद्युमणि हस्त०।

निर्विकल्प ज्ञान मे कुछ भाव-लक्षणो का समावेश होता है तथा वे इन्द्रियो के व्यापार से प्रत्यक्ष के प्रथम क्षण मे सस्कारो को जाग्रत करते हैं। सविकल्प ज्ञान मे स्मृति के व्यापार से होने वाले भेदो के ज्ञान का समावेश होता है। इनकी, विष्णुचित्त, इस प्रकार व्याख्या करते है। सस्कारोद्बोध सहकृते न्द्रिय जन्य ज्ञानम् सविकल्पम् इति एक जातीयेषु प्रथमपिण्ड ग्रहणम् द्वितीयादि-पिण्ड-ग्रहणेषु प्रथमाक्ष-सन्निपातजम् ज्ञानम् निर्विकल्पम् इति।

और तत्व रत्नाकर में इस प्रकार है—

विशेषणानां स्वयोग व्यावृत्तिरविकल्पके,
सविकल्पेऽन्य योगस्य व्यावृत्तिः सज्ञिना तथा।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० ८२।

है तो, वह दूसरे क्षण में, शून्य में से, नही उत्पन्न हो सकता। सम्बन्धत्व पदार्थों का लक्षण होने से, पदार्थों की जानकारी का अर्थ, आवश्यक रूप से, सम्बन्ध की भी जानकारी से है।

रामानुज सम्प्रदाय के उत्तरकालीन अनुयायियों द्वारा किये गए स्पष्टीकरण की दृष्टि से प्रत्यक्ष

रामानुज और उनके अनुयायी केवल तीन ही प्रमाण मानते हैं, प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द। जिस ज्ञान का साक्षात् अपरोक्ष अनुभव होता है वह प्रत्यक्ष है (साक्षात्कारिणी प्रमा प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष का विशिष्ट गुण यह है कि वह ज्ञान, अन्य ज्ञान के माध्यम से नही है (ज्ञानाकरणकज्ञानत्वम्)। प्रत्यक्ष तीन प्रकार का है, ईश्वर-प्रत्यक्ष, योगि-प्रत्यक्ष और साधारण मनुष्यो का प्रत्यक्ष। योगियो के प्रत्यक्ष मे मानस प्रत्यक्ष और आर्ष प्रत्यक्ष का समावेश होता है, और योगि-प्रत्यक्ष योग-साधना द्वारा विशिष्ट ज्ञान से सम्पन्न होता है। साधारण प्रत्यक्ष दो प्रकार का कहा है, सविकल्प और निर्विकल्प। सविकल्प प्रत्यक्ष निश्चित ज्ञान है जिसमे विषय को पहले अनुभव किए हुए देश और काल के सम्बन्ध का समावेश होता है। इस प्रकार जब हम घड़ा देखते हैं, हम यह सोचते है कि हमने इसे और जगह और दूसरे समय देखा था, और घडे का अन्य समय और जगह का यह उल्लेख तथा उससे सम्बन्धित स्मृतियां जो इस उल्लेख के अन्तर्गत है, वह ऐसे प्रत्यक्ष के निश्चित लक्षण का निर्माण करती हैं, जिसकी वजह से वह सविकल्प कहलाता है।[1] प्रत्यक्ष, जो पदार्थ के विशिष्ट गुण को, उसमे सम्बन्धित स्मृतियो का त्वरित उल्लेख न करते हुए—घडे को घडा रूप मे प्रकट करता है उसे निर्विकल्प ज्ञान कहते हैं।[2] निर्विकल्प ज्ञान की यह परिभाषा रामानुज के निर्विकल्प ज्ञान के मत को, भारतीय दर्शन मे माने गए अन्य मतो से पृथक् करती है।

अब यह स्पष्ट है कि रामानुज दर्शन के अनुसार सविकल्प और निर्विकल्प ज्ञान दोनो, स्वरूप से गुण-युक्त एवं विविक्त हैं क्योंकि वे पदार्थों के गुणो (विशिष्टता) को लक्ष्य करते है (उभयविधम् अपि एतद् विशिष्ट-विषयम् एव)।[3] वेंकटनाथ कहते हैं कि नैयायिको के मतानुसार, प्रथम क्षण मे निर्विकल्प या अविशिष्ट ज्ञान की सत्ता

---

[1] तत्रानुवृत्ति विषयक ज्ञानं सविकल्पकम्, अनुवृत्तिश्च संस्थानरुपजात्यादे र नेक व्यक्ति वृत्तिता, सा च कालतो देश तश्च भवति।

—रामानुज सिद्धान्त संग्रह। हस्त० स० ४९८८।

[2] एकस्यां व्यक्तौ घटत्व प्रकारकमयं घट इति यज्ज्ञानं जन्यते तन्निर्विकल्पकम्। वही।

[3] न्याय परिशुद्ध। पृष्ठ ७७।

का कोई भी प्रमाण या साक्ष्य नहीं हैं, क्योंकि हमारा अनुभव इससे विपरीत है और बालकों का भी ज्ञान, एवं गूंगे और निम्न जाति के पशुओं का ज्ञान, नाम और प्रत्यय-रहित होता है, तो भी वह किसी प्रकार सविकल्प है क्योंकि पदार्थ उनके लिए, उनकी रुचि-अरुचि तथा उनकी इच्छा या भय का संकेत रूप है।[1] क्योंकि अगर इन पशुओं का तथाकथित निर्विकल्पज्ञान सचमुच सर्वथा निर्विशिष्ट हो तो वे किस प्रकार अनुकूल रुचिकर एवं द्वेषात्मक व्यवहार कर सकते हैं? नैयायिक कहते है कि समस्त द्रव्यगुण-युक्त ज्ञान या विशिष्ट ज्ञान के पहले, गुणों के मौलिक तत्वों का ज्ञान होना आवश्यक है, किन्तु यह उसी हद तक ही ठीक है, जैसाकि प्राप्त किया हुआ प्रत्यक्ष। मैं चन्दन के एक टुकडे को सुगन्धित देखता हूँ, सुगन्ध देखी नहीं जा सकती, किन्तु चन्दन के रूप इत्यादि का देखना और उसकी ऐसी प्रत्यभिज्ञा, सुगन्ध के संस्कारो को जाग्रत करती है जो दर्शन से तत्काल सम्बन्धित हो जाती है। यहा पहले, चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा चन्दन के गुण का ज्ञान होना आवश्यक है, जो घ्राणेद्रिय से सम्बन्धित सुगन्ध के सस्कारो को जाग्रत करता है और अन्त में आँख से देखे गुणो से सम्बन्ध जोडता है। किन्तु द्रव्य गुण के ज्ञान में, सम्मिश्रण (मिश्रज्ञान) को बनाने वाले तत्वो के इस क्रम को मानना आवश्यक नहीं है, क्योंकि गुण का ज्ञान कराने वाले तत्व और वे जो द्रव्य का ज्ञान कराते हैं इन्द्रियों को एक साथ ही दिये जाते हैं और वे दोनो एक ही हैं (एक सामग्री वैद्यविशेषणेषु तन्निरपेक्षत्वात्)।[2] विवाद का मूल विषय यह है कि सम्बन्ध का साक्षात् ज्ञान होता है या नहीं। अगर सम्बन्ध को द्रव्य और गुण का स्वरूप सम्बन्ध माना जाता है तो, सचमुच, दर्शन के प्रथम क्षण में ही, ज्ञान, द्रव्य और गुण के साथ ही, आवश्यक रूप से देखा जाना चाहिए। अगर गुण का द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध है तो यह, एक पदार्थ होने के कारण, चक्षु द्वारा ग्रहण होना शक्य है और क्योंकि यह द्रव्य और गुण को जोडने वाली मुख्य वस्तु है, तो इस तथ्य से, कि वह द्रव्य और गुण के साथ आँख द्वारा गृहीत है, हमें विश्वास हो जाना चाहिए कि द्रव्य और गुण का सम्बन्ध भी नेत्र द्वारा ग्रहण होता है। क्योंकि अगर यह माना जाता है कि समवाय का ग्रहण होता है तो वह, स्वयं ही, गुण द्रव्य को विशिष्ट करता है इस प्रकार के द्रव्य गुण के ग्रहण के अपवाद को हटा देता है। गुण और द्रव्य की तरह, सम्बन्ध जो उन्हे जोड़ता है वह भी इन्द्रियो द्वारा

---

[1] बाल मूक तिर्यन्गादि ज्ञानानां अन्न कटक वहिन्व्याघ्रादि शब्द वैशिष्ट्या नव ग्राहित्वेऽपि इष्टद्वैष्टता वच्छेदकान्नत्वा कटकत्वादि प्रकारावगाहित्व म अस्ति। न्याय सार, न्याय परिशुद्धि पर टीका, श्री निवास, पृ० ७८।

[2] न्याय परिशुद्धि, पृ० ७८। सुरभि चन्दनम् सोऽयम् घट इत्यादिज्ञानेषु सोरमतांशे चक्षुक्ष. स्वविजातीय-सस्कारजन्याया: स्मृतेर्विशेषण-प्रत्यासत्तितया अपेक्षणेऽपि चक्षुर्मात्रजन्ये घटज्ञाने तपेक्षाया अभावात्। न्यायसार पृ० ७८।

ग्रहण होता है (धर्मवद् धर्मोविश्व तत्सम्बन्ध-स्याधर्येद्रियकत्वाविशेषेण ग्रहण-सम्भवात्)।[1] क्योंकि, अगर सम्बन्ध इन्द्रिय द्वारा, वस्तु और विषय के ज्ञान होने के समय, ग्रहण नहीं किया जा सकता तो वह दूसरे समय किसी भी प्रकार ग्रहण नहीं किया जा सकता।

सविकल्प ज्ञान में, सस्कार, चक्षु और अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में जाग्रत किए जाते हैं, और वे, इन्द्रियो द्वारा दिए हुए पदार्थों के विश्लेषण और एकीकरण, समीकरण और पृथक्करण की अन्तर-क्रिया उत्पन्न करने में, और सविकल्प ज्ञान में होने वाले समान प्रत्ययो के पारस्परिक तुलना करने में सहयोग देते हैं। इसे स्मृति से भिन्न करने वाला तथ्य यह है कि स्मृति, चित्त के केवल संस्कार जाग्रत होने से उत्पन्न होती है, जबकि निर्विकल्प ज्ञान, इन्द्रिय-व्यापार के साथ कार्य करते हुए संस्कार से उत्पन्न होता है।[2] सविकल्प ज्ञान में, जागृत किए संस्कार, इन्द्रियों के साथ सहकार करते हैं, तो भी सविकल्प, योग्य रीति से, एक खरा प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहा जा सकता है।

इस सम्बन्ध में यह बताया जा सकता है कि इस सम्प्रदाय में भेद को एक स्वतत्र एव पृथक् तत्व नही माना है किन्तु वह जिन दो वस्तुओं के बीच भेद से प्रकट है, केवल उन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा ही गृहीत होता है। यह ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध है जिसमें एक को स्वीकार करना दूसरे के स्वीकार को वर्जित करता है, भेद का यही सार है।[3]

वेकटनाथ, शकर मतानुयायियो द्वारा मान्य उस निर्विकल्प प्रत्यक्ष का बलपूर्वक निरास करते है, जिसमे प्रत्यक्ष की सामग्री उपस्थित होते हुए भी ज्ञान, शास्त्र (नियम) निर्देश के रूप में, श्रवणेंद्रिय के बल पर किया जाता है। इस प्रकार, जब दसो मे से प्रत्येक पुरुष, अपने को गणना से दूर रखकर, दस के बजाय नौ पुरुषो की गणना करता था, तब बाहर से दूसरे प्रेक्षक ने गणना करने वाले को यह बताया कि वह स्वय दसवां पुरुष है। शंकर मतवादी यह प्रतिपादन करते हैं कि यह प्रतिज्ञा या वाक्य "तू दसवा है" यह साक्षात् निर्विकल्प प्रत्यक्ष का दृष्टांत है। किन्तु

---

[1] वही, पृ० ७६।

[2] स्मृताविव सविकल्पके संस्कारस्य न स्वातन्त्र्येण कारणत्वम् येन प्रत्यक्षत्व न स्यात् किन्तु इन्द्रिय-सहकारितया तथा चेन्द्रिय-जन्यत्वेन प्रत्यक्षम् एव सविकल्पकम्।
—न्याय सार, पृ० ८०।

[3] यद् ग्रहो यत्र यदारोप-विरोधी स हि तस्य तस्मात् भेदः।
—न्याय परिशुद्धि, पृ० ८६।

वेंकटनाथ यह बताते हैं कि यद्यपि 'तू" इस शब्द से संकेत की हुई वस्तु साक्षात् प्रत्यक्ष होती है, तो भी वाक्य स्वयं साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, किन्तु सुनाई देने पर उस पर विचार किया जा सकता है, क्योंकि, अगर जो कुछ भी सुना है वह प्रत्यक्ष किया जा सकता है, तो हम ऐसे तर्क वाक्यों के अर्थ, तुम धर्मवान् हो, (धर्मवान्त्वम्), को भी प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते है या साक्षात् परिचय कर सकते हैं। किसी तर्क वाक्य के अर्थ को ग्रहण किया है इसमे यह अर्थ नही होता कि वह साक्षात् प्रत्यक्ष किया है। यह मत, शंकर के मत का किस प्रकार निरास करता है यह सरलता से समझा जा सकता है, जिसके अनुसार 'तत्वमसि' वाक्य के अर्थ का अनुभव, प्रत्यक्ष द्वारा, आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता का साक्षात् परिचय है।[1]

यह पहले ही बताया जा चुका है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष का अर्थ निश्चयात्मक ज्ञान से है जिसमे समान वस्तुओ की स्मृति का समावेश नहीं है और सविकल्प प्रत्यक्ष से उस निश्चयात्मक ज्ञान का अर्थ है जिसमे पूर्वकालीन स्मृति के सहचार का समावेश है (अनुवृत्तिविषयक ज्ञान)। यह अनुवृत्ति या भूतकालीन स्मृति को लक्ष करना, केवल निश्चयात्मक ज्ञान का अर्थ नही प्रतिपादित करता (उदाहरणार्थ, घट का घटत्व धर्मयुक्त ज्ञान-घटत्व प्रकारकम् अय घट:) किन्तु पूर्व मे अनुभव किये अन्य समान पदार्थों के प्रति ज्ञानपूर्वक लक्ष करने से है। सविकल्प प्रत्यक्ष मे, द्रव्य और सम्बन्धत्व और सम्बन्धित गुणो के सकीर्ण (मिश्रण) बनाने वाले विशिष्ट गुणो का नेत्रो द्वारा, प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, किन्तु इससे यह अर्थ नही है कि इसमे किसी सामान्य या जातिवाचक प्रत्यय का ग्रहण होता है जिसमे, ऐसे समान प्रत्यय या पदार्थों का सम्बन्ध भी समाविष्ट है। इस प्रकार, सविकल्प और निर्विकल्प में समान रूप से नेत्र इन्द्रिया व्यापार करती हैं, किन्तु पहले मे, पहले अनुभव किए अन्य समान पदार्थों को, ज्ञानपूर्वक लक्ष्य किया जाता है।

सर्वव्यापी या जातिवाचक प्रत्यय को, जो सविकल्प प्रत्यक्ष में ग्रहण होते हैं, स्वतंत्र पृथक् पदार्थ नही मानना चाहिए, किन्तु उन्हे केवल समान धर्मों का समीकरण मानना चाहिए। इस प्रकार, हम समान धर्म वाली, दो या अधिक गायो का उल्लेख करते हैं, ये समान धर्म जो प्रत्येक गाय में पाए जाते है जिनके कारण ही हम उन पशुओं को गाय कहते हैं। इसलिए, इन सामान्य धर्मों से अलग जोकि प्रत्येक पशु में है, और किसी अन्य पदार्थ में नहीं है इसे जाति या सर्वव्यापी प्रत्यय कहा जा

---

[1] अतएव तत्वमसि आदि शब्द. स्वविषय-गोचर-प्रत्यक्ष-ज्ञान-जनक: इत्याद्यनुमानानि निरस्तानि।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० ८६।

सकता है। सामान्यता (अनुवृत्ति) सादृश्यता से है (सुसदृशत्वम् एव गोत्वादीनाम् अनुवृत्तिः)।[1] सदृश्य पुनः वह असाधारण कारण है जो उन दो वस्तुओं में पृथक् रूप से रहता है और जो आपस में एक दूसरे को निश्चित करता है और जिससे हम उन्हें समान कह सकते हैं। सामान्य नाम का उपयोग दो वस्तुओं को सदृश कहने का संक्षिप्त मार्ग है। यह सादृश्य दो प्रकार का है, धर्म-सादृश्य, जैसाकि द्रव्यों में, और स्वरूप-सादृश्य, जैसाकि गुण इत्यादि अद्रव्य पदार्थों में होता है।[2]

प्रत्यक्ष में, दो प्रकार से इन्द्रिय-ससर्ग माने गए हैं, विषय या अर्थ से सम्बन्ध (संयोग) और अर्थ के गुणों से इन्द्रिय संसर्ग (संयुक्ताश्रय)। इस प्रकार घडे से पहले प्रकार का सम्बन्ध है और उसके गुणों से दूसरे प्रकार का ससर्ग है।[3]

वेंकटनाथ का अनुमान पर विवेचन

रामानुज मतानुसार, अनुमान बहुत अंश में नैयायिक मत जैसा ही है। अनुमान परामर्श का सीधा परिणाम है, अथवा तर्क-सम्मत ज्ञान की स्थिति है, अर्थात् शका और सन्देह-रहित विशुद्ध विषय है जो अनुभव-सम्मत है।[4] अनुमान एक प्रक्रिया है जिसमे एक सामान्य (सर्वव्यापी) वाक्य से, जिसमें समस्त विशेष उदाहरणों का समावेश होता है, हम एक विशेष उदाहरण को स्वीकार कर सकते हैं।[5] अनुमान, इसलिए, उन्ही उदाहरणो के विषय में होना चाहिए जिनके बारे में सर्वव्यापी वाक्य, गोचर पदार्थों से उत्पन्न अनुभव के आधार पर सामान्य वाक्य-प्रतिपादन किया गया है और वह अतीन्द्रिय अतीत विषय के बारे मे नही है—इसी कारण से रामानुज और उनके अनुयायी, ईश्वर की सत्ता को अनुमित नहीं कर सकते, क्योंकि ईश्वर अतीन्द्रिय है। (अत एव च वयम् अत्यतातीन्द्रिय वस्त्वनुमानम् नेच्छामः)।[6]

---

[1] अयं साष्णादीमानयपि साष्णादीमानिति साष्णादिरेव अनुवृत्त व्यवहार विषयो दृश्यते। —रामानुज सिद्धान्त सग्रह। हस्त० सं० ४६८८।

[2] हस्त० स० ४६८८।

[3] दूरस्थ विषयों से नेत्र और श्रवणेन्द्रिय का सन्निकर्ष एक रहस्यमय व्यापार वृत्ति द्वारा हो सकता है। ऐसा माना गया है कि ये इन्द्रियां मानों उनके विषय द्वारा लम्बी हो जाती है (आप्यायमान)। —वही।

[4] परामर्श जन्य प्रमितिरमुमिति :। —वही।

[5] परामर्श का अर्थ "व्याप्ति-विशिष्ट पक्षधर्मता-ज्ञानम् सर्व विशेष सग्राही सामान्य-व्याप्ति-धीरपि विशेषानुमिति-हेतुः" है। न्याय परिशुद्धि, पृ० ९७।

[6] वही।

जैसाकि सम्प्रदाय के मत में प्रतिपादन किया गया है, व्याप्ति सिद्धान्त के अनुसार, जो देश और काल की मर्यादा में या तो बराबर है या दूसरे से न्यून है, व्याप्य या हेतु कहा जाता है, वह जो देश और काल की परिधि मे सम है या बड़ा है व्यापक या लिंग कहा जाता है।[1] किन्तु इस मत के अन्तर्गत सभी प्रमाणित व्याप्ति के उदाहरण नही आते। देश और काल के (सहचार) सह-अस्तित्व के उदाहरण जो दिए गए है वे हैं, ताड का रस और मिठास (गुड) या पुरुष की छाया और सूर्य का निर्दिष्ट स्थान, किन्तु ऐसे देश काल के सह-अस्तित्व के उदाहरण सभी प्रसगो को पूरा नही करते। जैसेकि सूर्यास्त और समुद्र में लहर उठना। इस कारण, उत्तर-कालीन अनुयायियो ने व्याप्ति की कठोर परिभाषा की, जो निरुपाधिक रूप से नियत सम्बन्ध है, व्याप्ति (निरुपाधिकतया नियतः सम्बन्धो व्याप्तिः)।[2]

उद्गमन की रीति से सामान्यीकरण या व्याप्ति के सम्बन्ध मे, हम 'तत्व रत्नाकर' जैसे पुराने प्रामाणिक ग्रन्थ मे पाते हैं कि व्याप्ति का प्रथम परामर्थ, जो विश्वास उत्पन्न करने मे समर्थ हैं, वह सर्वव्यापि वाक्य (सामान्य) के प्रतिपादन करने के लिए पर्याप्त है।[3] किन्तु वेकटनाथ कहते है कि ऐसा नही हो सकता और व्याप्ति के विषय मे सामान्य वाक्य के प्रतिपादन करने के लिए, व्याप्ति का विषद अनुभव आवश्यक है।

---

[1] देशत कालतो वाऽपि समो न्यूनोऽपिवा भवेत्।
स्वव्याप्यो व्यापकस्तस्य समो वाप्यधिकोऽपिवा॥
—वही, पृ० १००

[2] न्याय परिशुद्धि।

[3] संबधोऽयम् सकृद् ग्राह्यः प्रतीति-स्व-रसात्तथा।
प्रतीतयो हि स्वरसाद् धर्माधर्म्यवधीन् विदुः॥
—तत्वरत्नाकर। हस्त०।

तत्व रत्नाकर के रचियता प्रतिपादन करते है कि जब जाति प्रत्यय (धूमधूमत्व) किसी भी एक उदाहरण से सम्बन्धित है (जैसे धूम), तो धूम और अग्नि की व्याप्ति का अनुभव का अर्थ यह होगा कि धूमत्व का अग्नित्व (दाहकत्व) से व्याप्ति ज्ञान हो गया है। इसलिए एक विशेष पदार्थ और उसके जाति-प्रत्यय के अनुभव से, हम उस जाति-प्रत्यय से सम्बन्धित अन्य विशेष पदार्थों को भी जानते हैं—सन्निहित-धूमादि-व्यक्ति-सयुक्तस्य इन्द्रियस्य तदाश्रित-धूमत्वादिः सयुक्ताश्रितः, तदाश्रयत्वेन व्यक्तयतराणि सयुक्तानि इत्यादि।
—न्याय परिशुद्धि, पृ० १०५ (चौखम्भा)।

एक महत्वपूर्ण विषय, जिसमें रामानुज मत का नैयायिकों से भेद है, वह रामानुज की 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' की अस्वीकृति है जिसे नैयायिक मानते है। इस प्रकार, 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' मे, (जैसे, पृथ्वी गधमय होने से अन्य तत्वो से भिन्न है) नैयायिक ऐसा तर्क करते हैं कि पृथ्वी का अन्य तत्वो से भेद, गधवती होने के कारण है और यह गुण अन्य तत्वो में नही है—अतः यह भेद, ऐसे वाक्य से, सिद्ध नही किया जा सकता, जो अन्वय द्वारा प्राप्त है। इस मत का रामानुज-सम्प्रदाय के पूर्वकालीन तार्किक, जैसेकि वरद विष्णु मिश्र और भट्टारक गुरु, (तत्व रत्नाकर) मे) द्वारा समर्थित पाया गया है ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु वेकटनाथ (अपनी न्याय परिशुद्धि में) और सिद्धान्त सग्रह के रचयिता रामानुज दोनो यह बताते है कि जब यामुन अपने आत्म-सिद्धि के व्याख्यान में 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' को अस्वीकार करते है, तो यह मानना ठीक होगा कि उक्त पूर्वकालीन ग्रन्थकारो ने 'केवल व्यतिरेकी' का उल्लेख किया है जिसका अर्थ यह नही है कि उक्त ग्रन्थकारो ने केवल व्यतिरेकी को अनुमान का एक प्रकार माना है किन्तु इसका अर्थ केवल यही है कि उन्होंने नैयायिको की मान्यता मे इसकी केवल गणना की है।[1] सिद्धान्त सग्रह के लेखक रामानुज बताते है कि इस अनुमान को, अन्वय-व्यतिरेकी के अन्तर्गत लाया जा सकता है। इस प्रकार हम तर्क कर सकते है कि देह, पृथ्वी जैसी है क्योंकि उसमे गन्ध है, क्योकि जो गधवान् है वह पृथ्वी जैसा है और जिसमें गध नही है वह पृथ्वी जैसा नही है। इसलिए इसे अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान के तर्क के आकार में इस प्रकार रखा जा सकता है। गधत्व को हेतु बताया जा सकता है जिसकी उपस्थिति पृथ्वी जैसी होना निश्चित करता है और अनुपस्थिति पृथ्वी जैसी न होना उससे भेद प्रकट करता है।

रामानुज-न्याय मे अनुमान के लिए तर्क (अर्थात् परस्पर अपेक्षित सभावनाओ के बीच वैकल्पिक निष्कर्ष का ज्ञान) की अनिवार्यता स्वीकार की गई है। अनुमान के अवयवों के बारे मे, वेकटनाथ कहते है कि पांच अवयव अनिवार्य रूप से आवश्यक है, ऐसा नही है। किस प्रकार अनुमान किया गया है उस पर यह आश्रित है कि कितने अवयव आवश्यक हैं। ऐसा हो सकता है कि अनुमान करने के समय, दो, तीन, चार या पांच अवयव आवश्यक है ऐसा सोचा गया हो। हम 'तत्व-रत्नाकर' में ऐसा कथन पाते हैं कि यद्यपि पाँच अवयव, पूर्ण प्रतिपादन के लिए पर्याप्त है, तो भी अनुमान के लिए अवयवो की सख्या के बारे में कोई निश्चित नियम नही है।[2]

---

[1] न्याय परिशुद्धि और रामानुज सिद्धान्त सग्रह।

[2] वही।

वेंकटनाथ कहते हैं कि अनुमान प्रत्यक्ष विषय में मर्यादित है। जो विषय इंद्रियातीत हैं वे अनुमान द्वारा ज्ञात नहीं हो सकते। अनुमान, जोकि, अबाध रूप से प्रत्यक्ष से सम्बन्धित है, इस कारण, वह प्रत्यक्ष का एक प्रकार नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान हमेशा अपरोक्ष है। अनुमान स्मृति-जनित है, यह भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अनुमान नवीन ज्ञान प्राप्त कराता है। आगे, उसे साक्षात्कार का प्रकार भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुमान चित्त के संस्कारों को जाग्रत करके कार्य करता है, क्योंकि ऐसे संस्कार प्रत्यक्ष में भी क्रियाशील होते पाए जाते हैं और उसी सादृश्यता के आधार पर प्रत्यक्ष को भी साक्षात्कार कहा जा सकता है।

व्याप्ति उसे कहना चाहिए जिसमे, साध्य का क्षेत्र, देश और काल की दृष्टि से, हेतु से, कम नहीं हो, (अन्यून-देशकाल-वृत्ति) और हेतु, वह है जिसका क्षेत्र, साध्य से कभी भी अधिक नहीं है (अनधिक-देशकाल-नियत व्याप्यम्)। देश और काल के यौगपद्य के उदाहरण के तौर पर, वेंकटनाथ, शक्कर और उसकी मिठास का उदाहरण देते हैं। कालिक यौगपद्य के लिए छाया का मान और सूर्य की स्थिति का उदाहरण देते हैं। केवल देशिक यौगपद्य के लिए ताप और उसके प्रभाव का उदाहरण देते हैं। कभी-कभी देश और काल मे पृथक् वस्तुओं में भी साहचर्य पाया जाता है, जैसे ज्वार-भाटा और सूर्य-चंद्र का सम्बन्ध।[1]

हेतु और साध्य के बीच ऐसी व्याप्ति, अनेक उदाहरणों के निरीक्षण द्वारा ही ग्रहण की जा सकती है (भूयो दर्शन गम्य), एक उदाहरण द्वारा नहीं, जैसाकि धर्म राजाध्वरिंद्र द्वारा शकर वेदान्त मे प्रतिपादन किया गया है। भट्टारक गुरु, अपने तत्त्व रत्नाकर मे, व्याप्ति ग्रहण करने के व्यापार को समझाते हुए, कहते हैं, कि जब हेतु और साध्य की व्याप्ति प्रचुर उदाहरणों से देखी जाती है तब ऐसे निरीक्षणों का परिणाम, साध्य और हेतु के समस्त उदाहरणों की सार्वभौम व्याप्ति के पक्ष में, संस्कार रूप से संग्रह होता है, और तब व्याप्ति के निरीक्षण का आखरी उदाहरण, चित्त मे, सभी साध्य और सभी हेतुओं मे व्याप्ति का विचार, पहले अंकित हुए संस्कारों की जाग्रति की मदद से, उत्पन्न करता है। जहाँ निषेधात्मक उदाहरण अप्राप्त हैं वहाँ वेंकटनाथ अन्वय व्यतिरेकी और केवलान्वयी विधि से व्याप्ति प्राप्त होती है ऐसा मानते हैं। सामान्यत:, व्यतिरेकी विधि यह सिद्ध करके, व्याप्ति के प्रत्यय मे योगदान देती है, कि प्रत्येक घटना, जिसमें साध्य नहीं है, उसमें हेतु भी नहीं है, किन्तु केवला-

[1] वेंकटनाथ ने व्याप्ति की परिभाषा इस प्रकार की है : अत्रेद तत्त्वं यादृग् रूपस्य यद् देश काल वर्तिनो यस्ययादृग् रूपेण यद् देशकाल वर्तिना येनाविना भावः तद् इदम् अनिना भूत व्याप्यम् तत् प्रतिसम्बन्धि व्यापकम् इतिः।

—न्यायपरिशुद्धि, पृ० १०१-१०२।

न्वयी व्याप्ति में, जिसमें निषेधात्मक उदाहरण अप्राप्त होते हैं उन निषेधात्मक उदाहरणों में, हेतु का अभाव (अनस्तित्व) नहीं बताया जा सकता। किन्तु ऐसे उदाहरणों में निषेधात्मक उदाहरणों का न होना ही, केवलान्वयी व्याप्ति को ग्रहण कराने में पर्याप्त है। केवलान्वयी व्याप्ति की प्रमाणता इस बात से सिद्ध है कि अगर हेतु अपरिवर्तित रहता है तो विपरीत साध्य की पूर्व मान्यता व्याघातक ठहरती है (व्याहत-साध्य-विपर्ययात्), और यह इसे, कुलार्क द्वारा, महाविद्या के सिद्धान्त के प्रतिपादन में उपयोग में लाए गए, केवलान्वयी तर्कों से पृथक् करता है।

रामानुज स्वयं इस बात पर अनिश्चित हैं कि कितने प्रकार के अनुमान माने जाएँ, क्योंकि उन्होने इस विषय में कोई निश्चित विचार नहीं दिया है। इसलिए, उनके आशय का, उनके अनुयायियो ने भिन्न-भिन्न अर्थ किया है, इस प्रकार, मेघनादारि अनुमान का वर्गीकरण तीन प्रकार से करते हैं, (१) कार्य से कारण, (कारणानुमान), (२) कारण से कार्य (कार्यानुमान) और (३) मानसिक सहचार से अनुमान (अनुभवानुमान) यथा कृत्तिका नक्षत्र से रोहिणी के उदय का अनुमान। वैकल्पिक वर्गीकरण इस प्रकार है, (१) अन्वय व्यतिरेकी, (२) केवलान्वयी और (३) केवल व्यतिरेकी। भट्टारक गुरु और वरद विष्णु मिश्र ने भी, जो रामानुज न्याय की सगति पूर्ण रचना करने मे वेंकटनाथ के पूर्वगामी थे, तीन प्रकार के अनुमान माने हैं ऐसा दीखता है, जैसेकि, अन्वयी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी, जो 'तत्व रत्नाकर' और 'मानयाथात्म्य निर्णय' के उद्धरणो से स्पष्ट है। वेंकटनाथ तो उन्हे नगण्य मानते है और केवल व्यतिरेकी अनुमान को खण्डन करने का बडा कष्ट करते है।[1] उनका दावा यह है कि निषेधात्मक व्याप्ति से कोई अनुमान नही प्राप्त हो सकता, जो वैध रूप से किसी विशेष लक्षण को स्वीकार करने के लिए अग्रसर नही करता, जब किसी भी लक्षण को स्वीकार करने वाला वाक्य (प्रतिज्ञा) नही है। अगर कोई ऐसा स्वीकारात्मक वाक्य, निषेधात्मक वाक्य से अनुमित किया मान लिया जाता, तब भी, केवल निषेधात्मक वाक्य से अनुमान प्राप्त हो सकता है, यह विरोध विफल होता है। अनुमान की प्रमाणता की एक शर्त यह है कि हेतु सपक्ष में रहना चाहिए (अर्थात् वे सब उदाहरण जिनमें साध्य है) किन्तु व्यतिरेकी अनुमान में, उपस्थित उदाहरण के सिवाय दूसरे भावात्मक उदाहरण नही होते जिनमें हेतु और साध्य है, तो उपरोक्त शर्त निष्फल रहती है।[2] विरोधी पक्ष यह कह सकता है कि इसी सादृश्य के आधार पर,

---

[1] वेंकटनाथ बताते हैं कि यामुनाचार्य ने जो रामानुज के माने हुए गुरु थे सिद्धि त्रय में केवल व्यतिरेकी को अनुमान का प्रकार नही स्वीकारा था।

[2] व्यतिरेकी अनुमान का अच्छा उदाहरण यह है : अनुभूतिरनुभाव्य· अनुभूतित्वात्, यन्नैवम् तन्नैवम् यथा घटः। पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्वात् यन्नैवम् तन्नैवम्

केवलान्वयी अनुमान का भी निषेध होता है, क्योंकि यहाँ निषेधात्मक उदाहरण पाए जाते हैं (अर्थात् इद वाच्यम् प्रमेयत्वात्) उत्तर यह होगा कि केवलान्वयी अनुमान की प्रमाणता इस बात से सिद्ध होती है कि उसमे विरोधी निष्कर्ष की मान्यता, व्याघातक है। विरोधी पक्ष का अगर यह आग्रह है कि हेतु के विषय की, साध्य के निषेध के साथ सर्वव्यापी व्याप्ति, हेतु और साध्य के पूर्ण सन्निपात को अनुमित करती है तो हेतु और साध्य का सन्निपात दोनो के विरोधियो का भी सन्निपात अनुमित करेगा। इससे यह अर्थ निकलेगा कि केवलान्वयी अनुमान मे, हेतु और साध्य के पूर्ण सन्निपात से, उनके विरोधियो का सन्निपात सिद्ध होता है, यह अयुक्त है।[1] इस प्रकार नैयायिक, जो केवलान्वयी अनुमान को मानते है, केवल व्यतिरेकी अनुमान की प्रमाणता सिद्ध करने के लिए इस प्रकार से व्यर्थ प्रयास नही कर सकते। पुन: इसी विधि को लेकर, कोई तर्क कर सकता है कि घडा स्वप्रकाश है क्योकि वह घडा है (घटत्वात्), क्योकि अस्वप्रकाशत्व, अघटत्व मे पाया जाता है जैसेकि कपडा, जो असम्भव है। (यन्नवैम् तन्नवैम् यथा पटः)। इस प्रकार, दो निषेधो की व्याप्ति से, उनके विरोधी की व्याप्ति प्रतिपादन नही की जा सकती। पुन: उपरोक्त उदाहरण में, 'अनुभूतिरननुभाव्या अनुभूति त्वात्' (अनुभूति अनुभव का विषय नही हो सकती क्योकि वह अनुभव का विषय है) अननुभाव्यत्व का अस्तित्व (अनुभव का विषय न होना) शकास्पद है, क्योकि वह उपस्थित दृष्टान्त के सिवाय कही नही देखा जाता और इसलिए, केवल अननुभाव्यत्व के निषेध की अनुभूति के निषेध के साथ व्याप्ति मे अननुभाव्यत्व का प्रतिपादन अयुक्त है। इसके अतिरिक्त, जब कोई कहता है कि अनुभाव्य तात्कालिक अनुभूति नहीं है, तो निषेधात्मक सम्बन्ध की मात्र स्वीकृति, अनुभूति को निषेधात्मक सम्बन्ध मे अनुभव का विषय (अनुभाव्य) बना देता है, जो इस निष्कर्ष को बाध्य करता है कि अनुभूति अनुभाव्य नही है। अगर पुन: व्यतिरेकी अनुमान द्वारा, जो लक्षण अनुमित किया जाता है वह पक्ष मे है यह पहले से ही जाना हुआ है, तो अनुमान की आवश्यकता ही नही रहती। अगर वह कही अन्य जगत् मे विद्यमान है ऐसा ज्ञान है, जो जबकि सपक्ष[2] विद्यमान है तो वह केवल व्यतिरेकी अनुमान नही है। अगर,

---

यथा जलम्। उपरोक्त उदाहरण मे अननुभाव्यत्व (न जानना) केवल प्रत्यक्ष अनुभूति मे है। यहाँ अनुभूति का साक्ष, जहाँ पहले अननुभाव्यत्व पाया गया था, वह नही है।

[1] इद वाच्य प्रमेयत्वात् (यह व्याख्या योग्य है क्योकि जाना जा सकता है) इस मान्यता से, वाच्यता और प्रमेयत्व की व्याप्ति से अवाच्यत्व और अप्रमेयत्व सिद्ध हो सकते हैं, जो सर्वथा दोषपूर्ण है क्योकि ऐसे उदाहरण नही जाने गए है।

[2] सपक्ष, वे दृष्टान्त है (उपस्थित दृष्टान्त के बाहर) जहा हेतु साध्य के एक साथ विद्यमान होता है।

हेतु और साध्य के निषेध की व्याप्ति द्वारा साध्य, हेतु के निषेधात्मक दृष्टान्तों के बाहर कहीं अन्य जगह रहता पाया जाता है तो भी उपस्थित दृष्टान्त में उसकी उपस्थिति सिद्ध नहीं हो सकेगी। पुनः, उपरोक्त दृष्टान्त में, अगर, अननुभव्यत्व के निषेध की, अनुभूति के निषेध के साथ व्याप्ति से, यह तर्क किया जाता है, कि अवेद्यत्व लक्षण कहीं विद्यमान रहना चाहिए, तो ऐसा निष्कर्ष व्याघात दोष से पूर्ण होगा, क्योंकि अगर ऐसा ज्ञात है कि कोई ऐसा पदार्थ है जो अनुभव का विषय नहीं है, तो वह उसी तर्क से अनुभव का विषय (अनुभाव्य) बन जाता है। यदि केवल एक को छोड़कर, सभी क्षेत्रों से अस्तित्ववान् एक विद्यमान पदार्थ को निकाल दिया जा सकता है तो वह अवशिष्ट क्षेत्र की बात हो जाती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि 'संकल्प, अस्तित्वमय गुण होने से, आत्मा को छोड़कर सभी में अनुपस्थित है, इसलिए वह उसमें (आत्मा) आवश्यक रूप से है।' ऐसा अर्थ करने पर भी, व्यतिरेकी अनुमान की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सचमुच यह दृष्टान्त अन्वय का है, और इसे अन्वय रूप से अन्वय-सिद्धान्त के सूत्र रूप से स्पष्ट किया जा सकता है, जैसेकि, 'एक अस्तित्वमय पदार्थ, जो एक को छोड़कर सभी में अनुपस्थित है, इसलिए वह आवश्यक रूप से उस बचे हुए क्षेत्र में है।' पुनः ऐसे दृष्टान्तों में जैसाकि, सर्वविद्त्व (सब कुछ जानना) सभी ज्ञात क्षेत्रों में अनुपस्थित होने के कारण, कहीं भी विद्यमान होगा, क्योंकि हम ऐसा सोचते हैं, इसलिए कोई एक पदार्थ अवश्य होगा जिसमें वह विद्यमान है, और ऐसा पदार्थ ईश्वर है 'यह सुविख्यात सत्ता-विषयक तर्क है जो व्यतिरेकी प्रकार का है। ऐसे अनुमान के विरुद्ध में, न्याय-दृष्टि से यह विवाद किया जा सकता है कि शश-विषाण का विचार जो सभी क्षेत्रों में अनुपस्थित है किसी अनुभूत वस्तु में अवश्य विद्यमान होना चाहिए, यह स्पष्ट ही मिथ्या है।

यह आक्षेप किया जा सकता है कि अगर व्यतिरेकी अनुमान नहीं माना जाता है तो यह सभी व्यावर्तक लक्षणों का निषेध सरीखा हो जाता है, क्योंकि व्यावर्तक लक्षण, परिभाषा किए जाने वाले पदार्थ को छोड़कर सभी में अनुपस्थित है और इस प्रकार परिभाषा या व्याख्या स्वरूपतः व्यतिरेकी अनुमान है। इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि परिभाषा, किसी पदार्थ के विशिष्ट गुणों के अनुभव से, जो गुण उस पदार्थ के व्यावर्तक गुण निर्धारित किए गए हैं, उत्पन्न होती है, इसलिए, इसका व्यतिरेकी अनुमान से कोई सम्बन्ध नहीं है।[1] यह भी तर्क किया जा सकता है कि व्यावर्तक गुण अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान द्वारा भी प्राप्त किए जा सकते हैं, व्यतिरेकी द्वारा नहीं,

---

[1] अर्था-साधारणाकार-प्रतिपत्ति-निबन्धनम्,
सजातीय-विजातीय-व्यवच्छेदेन लक्षणम्।
—तत्त्व रत्नाकर, न्याय परिशुद्धि में उद्धृत, पृ० १४३।

जैसाकि प्रतिपक्षी कहते हैं। ऐसे दृष्टान्तों में जहाँ वेदत्व (जानना) की, जो जानने में आ सकता है ऐसी व्याख्या की गई है, वहाँ अभाव-सूचक दृष्टान्त नहीं पाए जाते तो भी वह परिभाषा बनी रहती है। परिभाषा की व्याख्या यही है कि व्यावर्तक गुण उसी में विद्यमान है जिसकी परिभाषा देना है, और वह अन्य कहीं भी विद्यमान नहीं है (असाधारण-व्यापको धर्मो लक्षणम्)।[1] उन दृष्टान्तो में जहाँ पदार्थ के वर्ग या जाति की व्याख्या की जाती है, वहाँ, व्यवच्छेदक जाति लक्षण, वे होंगे जो उस जाति के प्रत्येक व्यक्ति में होने चाहिएँ, और अन्य जाति के व्यक्ति में अनुपस्थित होने चाहिएँ। किन्तु, जहाँ व्यक्ति आप ही अकेला है (जैसे ईश्वर), जब इसकी व्याख्या की जाती है, यहाँ जातिगुण नही पाए जाते, किन्तु केवल विशेष लक्षण ही होते हैं जो उस व्यक्ति में ही है और जाति मे नही हैं। ऐसे दृष्टान्तो में भी, व्यवच्छेदक गुण, उस व्यक्ति को दूसरे से (ब्रह्मा, शिव इत्यादि) भिन्न करते हैं, जिनके साथ, यह, आंशिक समानता के कारण संकीर्ण किया जा सकता है। इस प्रकार परिभाषा, किसी पदार्थ में लक्षणों की स्वीकृति का दृष्टांत है और निषेध का नही है, जैसाकि व्यतिरेकी अनुमान से इसे सकीर्ण करने वाले मानते हैं। इसलिए, केवल व्यतिरेकी अनुमान का किसी भी तर्क से समर्थन नही होता।

अवयव के विषय में, वेंकटनाथ मानते हैं कि, सभी अनुमानो के लिए पाँच ही अवयव होने चाहिए इसका कोई भी नियम नही है। इसलिए भिन्न तार्किको में अवयव की सख्या के विषय में, विवाद निरर्थक है, क्योंकि अनुमान में अवयव उतने ही लाए जाँय, जितने वह व्यक्ति को अनुमान ग्रहण होने के लिए पर्याप्त समझता है। इस प्रकार जिस सम्बन्ध मे अनुमान किया जाता है उसके अनुसार, तीन, चार या पाँच अवयव हो सकते हैं।

अनुमान के अतिरिक्त वेंकटनाथ, शब्द या शास्त्र-प्रमाण को भी मानते हैं। शब्द-प्रमाण की विशद व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नही हैं क्योकि इसका निरूपण, अन्य दर्शनों जैसा ही है। यह स्मरण रहे कि शब्द और वाक्यो का अर्थ बोधन करने के विषय मे नैयायिक यह मानते थे कि, वाक्य का प्रत्येक पद, जैसेकि सामान्य शब्द (प्रातिपदिक) या प्रत्यय, अपना स्वतन्त्र और पृथक् अर्थ रखता है इन अर्थों में, दूसरी विभक्तियो के लगाने के कारण, अर्थ में वृद्धि होने से रूपान्तर होता है। इस दृष्टि से देखते हुए, वाक्य के घटक तत्व अणु रूप होते हैं, जो परप्रत्ययो के सम्बन्ध से सकलित होकर धीरे-धीरे, वाक्य को पूर्ण अर्थ तक पहुँचाते हैं। इसे अनिहितान्वयवाद कहते है। विरोधी मत अन्विताभिधानवाद है, जोकि मीमासकों का है, इसके अनुसार किसी भी वाक्य का विश्लेषण, एक दूसरे के सम्बन्ध के बिना

---

[1] न्याय परिशुद्धि, पृ० १४५।

जो धीरे-धीरे संग्रह होता जाता है, अर्थों के रूढ़ तत्वों में नही किया जा सकता। वाक्य का, कितनी ही रूढ़ अवस्था तक विश्लेषण किया जाय, तो भी उसका प्रतिरूढ़ अंश, किसी क्रियापद या पूर्ण अर्थ से सामान्य सम्बन्ध रखेगा। उपसर्ग और विभक्तियों का कार्य, प्रत्येक शब्द के सामान्य सम्बन्ध को मर्यादित या अवरोध करना होता है। वेंकटनाथ, अभिहितान्वयवाद के विरोध में, अन्विताभिधानवाद को, इस आधार पर मानते हैं कि, पिछला मत, प्रतिरूढ़ शब्द तत्वों के अर्थ का, उनके परप्रत्यय के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए, या परप्रत्यय सहित शब्दो में आपस में सम्बन्ध जोड़ने के लिए और वाक्य का अर्थ प्रकट करने के लिए आपस के सम्बन्ध को जोड़ने के लिए, पृथक् विशेष शक्ति की अनावश्यक कल्पना ग्रहण करता है।[1] अन्विताभिधान की स्वीकृति, रामानुज मत के लिए हितकर थी, क्योंकि वह विशिष्टार्थ की स्थापना करता है।

रामानुज स्वय ने, अपने दर्शन के अनुरूप, अपने न्याय के मतो का निरूपण करने वाली कोई पुस्तक नही लिखी। किन्तु नाथमुनि ने 'न्याय तत्व' नामक एक पुस्तक लिखी थी, जिसमें उन्होने गौतम के न्याय मत का खण्डन किया और उनका विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तानुसार परिशोध किया। विष्णु चित्त ने 'संगतिमाला' और 'प्रमेयसग्रह', उसी दिशा में लिखे, भट्टारक गुरु ने 'तत्व रत्नाकर' लिखा और वरद विष्णु मिश्र ने भी 'प्रज्ञापरित्राण' और 'मान याथात्म्य निर्णय' विशिष्टाद्वैत न्यायानुसार लिखे। वेंकटनाथ ने इन्ही रचनाओं के आधार पर, अपनी 'न्याय परिशुद्धि' लिखी जिसमें उन्होने कभी उनके मतो को और कभी उनसे कुछ विस्तार में भिन्न मत को स्पष्ट किया। किन्तु, सर्वांग रूप से, उपरोक्त लेखको से उन्होंने विशिष्टाद्वैत न्याय के मतो को स्वीकार किया है। इसलिए, इस क्षेत्र में उनकी मौलिकता बहुत मर्यादित है। मेघनादारि, वेंकटनाथ से अधिकांश रूप मे भिन्न है क्योकि वे उपमान और अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण के रूप मे मानते हैं। उन्होने प्रत्यक्ष के निरूपण मे भी कुछ बडे अर्थपूर्ण योग दिए हैं और अनुमान के निरूपण में तो, वे वेंकटनाथ से व्यतिरेकी अनुमान को मानकर, पूर्ण विरोधी रहे हैं।

मेघनादारि, उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं। उनके अनुसार उपमान वह प्रमाण है जिसके द्वारा, प्रत्यक्ष पदार्थ का अप्रत्यक्ष पदार्थ के साथ सादृश्य का ज्ञान किया जा सकता है, जबकि अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष के साथ सादृश्य का ज्ञान पहले प्राप्त है। इस प्रकार, जब किसी को यह ज्ञान है कि अनुभूत गाय गवय जैसी होती है, और फिर पीछे, जंगल में घूमते हुए, वह गवय को देखता है तो वह तुरन्त ही

---

[1] अभिहितान्वये हि पदानाम् पदार्थे पदार्थानाम् वाक्यार्थे पदानां च तत्र इति शक्तित्रय-कल्पना-गौरवम् स्यात्। —न्याय परिशुद्धि, पृ० ३६६।

विचार करता है कि जो गाय वह इस समय नही देखता है, वह अभी दिखाई देते वन वृषभ जैसी है। यह ज्ञान, मेघनादारि कहते हैं, प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हुआ है, क्योंकि गाय देखने वाले के समक्ष नहीं है, वह स्मृतिजनित भी नही है, क्योंकि सादृश्य का ज्ञान, गाय की स्मृति होने से पहले ही उदय होता है। मेघनादारि मानते हैं कि भेद के लिए कोई पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यक नहीं है, क्योकि भेद का ज्ञान, सादृश्य का निषेध मात्र है। उपमान का यह निरूपण, न्याय से भिन्न है, जहाँ इसे, सादृश्य के आधार पर, शब्द का पदार्थ के साथ सम्बन्ध माना है, जैसे कि यह पशु गवय कहलाता है जो गाय के सदृश है। यहाँ सादृश्य के आधार पर गवय शब्द, उस पशु से सम्बन्धित है। मेघनादारि, इसे प्रत्यभिज्ञा के व्यापार द्वारा समझाने की कोशिश करते हैं, और इसे पृथक् प्रमाण मानने का विरोध करते हैं।[1] वे अर्थापत्ति को भी पृथक् प्रमाण के रूप मे मानते हैं। अर्थापत्ति को साधारणतया, निहितार्थ शब्द से अनूदित किया गया है, जहाँ एक प्राक् कल्पना का, जिसे मान्यता न देने पर अनुभव का गूढ़ विषय नही समझा जा सकता, निरीक्षण की नई अनुभूति घटना समझाने के लिए, चित्त पर लाने का आग्रह होता है। इस प्रकार, जब कोई, यह स्वतन्त्र आधार पर जानता है कि देवदत्त जीवित है, यद्यपि वह घर पर नही मिला तो, चित्त मे स्वाभाविक प्राक् कल्पना का उदय होता है कि वह घर से बाहर रहता होगा, क्योंकि नही तो, वर्तमान समय में, उसका घर पर न होना मिथ्या है या, पूर्व ज्ञान, कि वह जीवित है यह मिथ्या होगा। वह जीवित है और घर पर नही है, इसे, इस प्राक्कल्पना द्वारा ही समझाया जा सकता है कि वह घर से बाहर कही है। इसे अनुमान का एक प्रकार नही माना जा सकता, "क्योकि कही रहता हुआ देवदत्त घर पर विद्यमान नही है, वह कहीं अन्य स्थान पर है, क्योकि कही अन्य जगह रहते हुए पदार्थ जो अपने स्थान पर नही है कहीं अन्य स्थान पर, मेरी तरह, जीवित होंगे।" इस प्रकार का अनुमान व्यर्थ है, क्योकि एक स्थान पर अस्तित्व रखती हुई वस्तु का न होना, दूसरे शब्दो मे उसका कही अन्य स्थान पर होना ही है। इसलिए, वस्तु का एक स्थान पर न होने को उस निष्कर्ष पर पहुँचने का हेतु नहीं बनाना चाहिए (उसका अन्य स्थान पर होना) जो उससे भिन्न नहीं है। अर्थापत्ति को इस प्रकार, स्वतन्त्र प्रमाण मानना पड़ता है।

मेघनादारि तथा अन्य के अनुसार रामानुज दर्शन की ज्ञानमीमांसा

वेंकटनाथ, अपनी 'न्याय परिशुद्धि' मे (रामानुज दर्शन के अनुसार) न्याय या नीति के सिद्धान्तों का निरूपण करने का प्रयत्न करते है जिस पर रामानुजवाद का

---

[1] देखो हस्त० नयद्युमणि, उपमान प्रकरण।

दर्शन आधारित है। वे इस क्षेत्र में मौलिक नहीं थे। किन्तु उन्होंने, विशिष्टाद्वैत न्याय को, जैसाकि यामुन के आचार्य, नाथ मुनि ने अपने 'न्याय तत्व' नामक ग्रन्थ में और पराशर भट्ट के इस विषय के ग्रन्थ में विशिष्टाद्वैत न्याय का प्रतिपादन किया है, उसका उन्होंने अनुसरण किया है : एव उसे विशद रूप दिया है। गौतम प्रतिपादित न्याय के सम्बन्ध में, वेंकटनाथ का मुख्य आक्षेप यह है कि यद्यपि बादरायण ने गौतम के सिद्धान्तों को, शिष्ट पंडितो के लिए अयोग्य कह कर टाल दिया है, तो भी, उन्हें इस प्रकार समझाया जा सकता है कि वे विशिष्टाद्वैत के सच्चे सिद्धान्तों के साथ सगत हो सकते हैं। किन्तु, वात्स्यायन द्वारा गौतम-न्याय की व्याख्या उसे सच्चे मार्ग से दूर ले जाती है इसलिए वह खण्डन के योग्य है। जो कुछ भी हो, वेकटनाथ, विष्णु-चित्त की तरह, गौतम के उन सिद्धान्तों को स्वीकार करने को उत्सुक हैं जो वेदान्त मत के विरुद्ध नही है। इस प्रकार, पदार्थों के सोलह सख्या मे वर्गीकरण के विषय में मतभेद हो सकता है। इस विषय में दो मत नही हो सकते कि कुछ पदार्थ न्याय-दृष्टि से प्रमाण हैं, क्योकि अगर नैयायिक प्रमाणता अस्वीकार की जाती है तो न्याय स्वयं निराधार हो जाता है। हमारा समस्त अनुभव, कुछ दृष्ट तत्वों या विषयो को मानकर चलता है, जिन पर वह आधारित है। इन दृष्ट विषयों की सामान्य स्वीकृति, अनुभव की नींव को ही उखाड़ देती है। जब इन दृष्ट विषयो के अस्तित्व को सामान्य रूप से मान लिया जाता है तभी उनके विशेष स्वरूप के विषय में खोज की जा सकती है। अगर सब कुछ ही अप्रमाण है तो प्रतिपक्षी का आक्षेप भी अप्रमाण होगा। अगर सब कुछ ही सशयास्पद है तो यह भी स्वबाधित हो जाएगा। संशय के विषय मे सशय नही किया जा सकता, और सशय के अस्तित्व को एक निश्चित निष्कर्ष के रूप मे मानना ही पड़ेगा। इसलिए, पूर्णरूप से संशय का अनुसरण किए जाने पर भी निश्चित निर्णय की सम्भावना को मानना अनिवार्य हो जाता है।[1] इसलिए, बौद्धवादियो का विवाद, कि कुछ भी प्रामाण्य नहीं है और ऐसा कुछ भी नही है जिसकी निश्चितता स्वीकार की जा सके, यह अस्वीकार्य है। अगर इसलिए, कुछ पदार्थ ऐसे है जिनका निश्चित एव प्रामाण्य ज्ञान प्राप्त हो सकता है, तो ज्ञान के साधन, जिनसे ऐसा प्रमाण-ज्ञान उपलब्ध हो सकता है उसके विषय

[1] व्यवहारो हि जगतो भवत्या लम्बने क्वचित्,
नतत्सामान्य तो नास्ति कथन्ता तुपरीक्ष्यते,
सामान्य निश्चितार्थेन विशषे तु बुभुत्सितम्
परीक्षा हि उचिता स्वेष्ट प्रमाणा त्पादनात्मिका...
....
सर्वं संदिग्ध मिति ते निपुणस्यास्ति निश्चयः,
सशयश्च न संदिग्धः संदिग्धा द्वैत वादिनः ।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० ३१ (चौखम्भा)

में स्वाभाविक ही गवेषणा उदित होती है। प्रमाण शब्द, दो अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। प्रमाण का प्रथम अर्थ सही ज्ञान है और प्रमाण का दूसरा अर्थ वह प्रकार है जिसके द्वारा सही ज्ञान होता है। पहला अर्थ प्रमा से है, दूसरा अर्थ प्रमा उत्पन्न करने वाले साधन से है। वेंकटनाथ, पहले अर्थ में प्रमाण की इस प्रकार व्याख्या करते हैं, जो ज्ञान, वस्तु अनुगुण है या यथार्थ वस्तु का अनुभव कराने योग्य व्यवहार को उत्पन्न करता है वह प्रमा है (यथावस्थित-व्यवहारानुगुणम्)।[1] यह परिभाषा व्यवहार को अनिवार्य उपाधि के रूप में इस प्रकार समावेश करती है कि अगर किसी दृष्टान्त में व्यवहार सचमुच उत्पन्न न भी हो तो भी वह प्रमाण होगा, यदि ज्ञान ऐसा हो कि जो यथार्थ वस्तु के अनुगुण हो।[2] जिसमें व्यवहार उत्पन्न करने का सामर्थ्य हो वह ज्ञान और जो यथार्थ वस्तु के अनुगुण हो ऐसे प्रमाण की परिभाषा में स्मृति का समावेश सहज ही हो जाता है। रामानुज-दर्शन में अबाधित स्मृति को, इस प्रकार प्रमाण माना है।[3] वेंकटनाथ आग्रह करते हैं कि भ्रम की नियत उपाधि के रूप में नियम विरुद्ध स्मृति को, प्रविष्ट करना अयुक्त है, क्योंकि पीली सीप के भ्रम-युक्त ज्ञान में, स्मृति के उद्भव होने का प्रकट अनुभव नहीं है। सीप साक्षात् पीला ही दीखता है। इस प्रकार, भ्रम के सभी दृष्टान्तों में, जो नियत रूप से उपाधि-परिपूर्ण होते हैं एक वस्तु दूसरी दीखती है जिसे पारिभाषिक शब्दों में अन्यथाख्याति कहा है। किन्तु इसका आग्रह किया जा सकता है कि रजत सीप के भ्रम में, सीप का रजत रूप से दीखने का कारण, दूकान में देखे रजत के सस्कारों और चमकते हुए पदार्थ के बीच भेद का अग्रहण है, जो अख्याति कहलाती है। इस प्रकार, भ्रम के सभी दृष्टान्तों में, जब एक वस्तु दूसरी दीखती है तब वहाँ, स्मृति प्रतिमा और प्रत्यक्ष के बीच भेद न ग्रहण करने की दशा उपस्थित रहती है। अगर भ्रम को इस दृष्टि से देखा जाय, तो वह प्रधान एव साक्षात् रूप से, उपरोक्त मनोवैज्ञानिक तथ्य है जो अख्याति कहलाता है। इस प्रकार, भ्रम के ये दोनो वाद, रामानुज ने, इन दोनो दृष्टिकोणों से स्वीकार किए हैं। जबकि, अख्याति, भ्रम के मनोवैज्ञानिक कारणो का विश्लेषण और तर्क का परिणाम है।[4] दूसरा

---

[1] न्याय परिशुद्धि वेंकटनाथ कृत, पृ० ३६।

[2] अनुगुण पदं व्यवहार जननस्वरूप योग्य परं तेनाजनित व्यवहारे यथार्थ ज्ञान विशेषे ना व्याप्तिः।

—न्याय परिशुद्धि पर श्रीनिवास का न्यायसार, पृ० ३६।

[3] स्मृति मात्रा प्रमाणत्वं न युक्तम् इति वक्ष्यते,
अबाधित-स्मृते लोके प्रमाणत्व-परिग्रहात्। —न्याय परिशुद्धि, पृ० ३८।

[4] इदं रजतमनु भवामि इति एकत्वेनैव प्रतीयमानायाः प्रतीतेर्ग्रहणस्मरणात्मकत्वम् अनेकत्वं च युक्तितः सिद्धयमान न प्रतीतिपथमारोहति। —न्यायसार, पृ० ४०।

यथार्थ-ख्यातिवाद, जो भ्रम को भी सच्चा ज्ञान, इस आधार पर मानता है कि पंचीकरण के अनुसार, सभी वस्तु, सभी भूतो के प्राकृत मिश्रण का परिणाम है, वह न तो मनोवैज्ञानिक है और न विश्लेषणात्मक ही है, किन्तु तात्विक है और ऐसा होने से, भ्रम के स्वरूप को नहीं समझाता। इस मत के अनुसार, भ्रम में, सीप में ऐसे रजत को ग्रहण करना माना है जो गृह-उपयोग या आभरण बनाने के काम में लाया जा सकता है, जबकि तात्विक विवरण सभी वस्तुओं में सभी वस्तुओ, के तत्वों के सामान्य मिश्रीकरण में, रजत के कुछ प्राकृत तत्व देखने का समर्थन करता है।

बौद्धों द्वारा माने हुए, भ्रम के आत्म-ख्यातिवाद का खण्डन करते हुए, वेंकटनाथ कहते हैं कि अगर विज्ञानवादी बौद्ध एक मूलचैतन्य पर, भिन्न चेतनाओं के आरोपण की प्रमाणता को स्वीकार कर सकते हैं तो, उसी सादृश्य के आधार पर, अनुभूत पदार्थों की प्रमाणता भी, मानी जा सकती है। अगर अविषयगत और विषयगत भिन्न चेतनाओ को नहीं माना जाता तो सारे अनुभव, एक अभिन्न चेतना बन जाएँगे और वह बौद्धो के प्रमाणवाद से स्पष्ट रूप से विरुद्ध है। बौद्धों का यह मानना कि जो पदार्थ एक साथ अनुभव किए जाते हैं, वे एक हैं, यह अयुक्त है। ज्ञान और उसके अर्थ स्पष्ट रूप से भिन्न जाने जाते हैं इसलिए, उनका तादात्म्य प्रतिपादन करना, अनुभव-विरुद्ध है। माध्यमिकवादी बौद्ध पुनः मानते हैं कि, जिस प्रकार, दोष के मिथ्या होने पर भी भ्रम होता है, इस प्रकार किसी अधिष्ठान के या नित्य वस्तु के मिथ्या होने पर भी, भ्रम एक भास के रूप में, बिना आधार के दीख सकता है। ऐसे मत के विरोध मे, वेंकटनाथ कहते हैं, कि लोग जिसे है या नहीं है ऐसा मानते हैं, वह किसी सत्ता को लक्ष्य करके ही ऐसा कहते हैं और सत्ता के आधार बिना कोई घटना हो, वह हमारे अनुभव की समझ के बाहर है। इसलिए, माध्यमिक बौद्धो का पूर्ण आभासवाद पूर्णतः अनुभव-विरुद्ध है।[1] जब लोग कोई वस्तु अस्तित्व नहीं रखती ऐसा कहते हैं, तब वे देश काल का विशेषण लगाकर ही ऐसा कहते हैं। इस प्रकार, जब लोग कहते हैं कि पुस्तक नहीं है तो वे, इस अभाव को यहाँ या वहाँ और 'अभी' या 'कभी' ऐसा कहकर विशिष्ट करते हैं। किन्तु, शुद्ध अविशिष्ट अनस्तित्व तो सामान्य अनुभव के बाहर हैं।[2] पुनः पदार्थों के सभी भावात्मक अनुभव, देश धर्म से

[1] लोके भावाभाव शब्दयोस्तत्प्रतीत्योश्च विद्यमानस्यैव वस्तुनः अवस्था विशेष गोचरत्वस्य प्रतिपादितत्वात्। प्रकारान्तरस्य च लोक सिद्ध प्रमाण विषयत्वादिति अयः। —न्याय सार, पृ० ४६।

[2] सर्वोऽपि निषेधः सप्रतियोगिको नियत देश कालश्च प्रतीयते। निरुपाधिर्नियत देशकाल प्रतियोगी विशेषण रहितो निषेधो न प्रतीयते इति।

—वही, पृ० ४६।

विशिष्ट है (जैसेकि यहाँ घड़ा है), अगर यह देश की उपाधि को माना जाता है, तो यह नहीं माना जा सकता कि भ्रम निरधिष्ठान होता है (निरधिष्ठान-भ्रमानुपपत्तिः)। यदि, यहाँ और वहाँ की उपाधि को स्वीकार नहीं किया जाता, तो कोई भी अनुभव सम्भव नहीं है (अप्रतीतेरपह्नव एव स्यात्)।

वेदांतियों के, भ्रम के अनिर्वचनीयवाद का खण्डन करते हुए, वेंकटनाथ कहते हैं कि जब शंकर मतवादी सभी वस्तुओं को अनिर्वचनीय कहते हैं तो 'अनिर्वचनीय' शब्द कुछ निश्चित गुण का अर्थ रखने वाला होना चाहिए, उस दशा में वह अनिर्वचनीय नहीं रहेगा, या विशेष प्रकार से व्याख्या करने मे निष्फल रहेगा, जिस दशा में शंकर मतवादी भी रामानुज-मतानुसार जगत् के स्वरूप को स्वीकार कर सकते हैं। पुनः जब शंकरमतवादी सत् असत् व्यतिरेकी रूप, स्वबाधपूर्ण पदार्थ को स्वीकारने को उद्यत हैं, तो वे वस्तु है और नहीं है, इन दोनों रूपों में, जैसाकि अनुभव बताता है, क्यों नहीं स्वीकार करते ? स्वबाधता दोनों में एकसी ही रहेगी। अगर उनका सत् असत् रूप जगत् का वर्णन यह सिद्ध करने के हेतु है कि वह तुच्छ एवं ब्रह्म दोनों से भिन्न है, तो रामानुज वादियों को उनसे कोई झगडा नहीं है। आगे, जगत् का मिथ्यात्व अनुभव-युक्त नहीं है, अगर ऐसे मिथ्यात्व को आधाररहित न्याय पर सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है तो उसी न्याय-युक्ति को लेकर ब्रह्म को भी स्वबाधयुक्त सिद्ध किया जा सकता है। पुनः, जगत्-प्रपंच असत् है, क्योंकि नाशवान् है, यह निश्चयात्मक रूप से कहना निराधार है, क्योंकि उपनिषद् ब्रह्म जीव और प्रकृति को नित्य कहते हैं। शंकर मतवादी भी नाश और व्याघात को उलझा देते हैं। (न चैक्य नाश बाधयोः)।[1]

पतंजलि के अनुयायी, भाषा-व्यवहार द्वारा जिसमें हम अविद्यमान (अभावात्मक) पदार्थों को भ्रमपूर्वक ग्रहण करते है, ऐसे भ्रम के विषय का प्रतिपादन करते हैं। इसे निर्विषय-ख्याति कहते हैं। इस प्रकार, जब हम 'राहु का शीश' कहते है, तब हम ऐसा सोचते हैं कि राहु अपने सर से पृथक् अस्तित्व रखता है, और यह राहु मे षष्ठी के प्रत्यय को अनुगमन करते भाषा-व्यवहार के कारण ग्रहण होता है, किन्तु वेंकटनाथ आग्रह करते हैं, कि ऐसे अनुभवों को समझाने के लिए एक पृथक् मत को स्वीकारना अनावश्यक है, क्योंकि ऐसा भ्रम अख्याति या अन्यथाख्याति द्वारा भी अच्छी तरह समझाया जा सकता है और वे तर्क करते हैं कि उन्होंने दूसरे ख्यातिवादों की असम्भवता को पहले ही सिद्ध कर दिया है।

मेघनादारि, तो, प्रमाण को ऐसा ज्ञान कहते हैं जो वस्तु को दूसरे प्रमाणों के आश्रय बिना, निश्चित करता है जैसेकि स्मृति।[2]

---

[1] न्याय परिशुद्धि, पृ० ४८-५१।

[2] तत्रान्यप्रमाणानपेक्षम् अर्थ-परिच्छेदकम् ज्ञान प्रमाणम्, अर्थ-परिच्छेदेऽन्य-प्रमाण-सापेक्ष स्मृतावतिव्याप्तिपरिहारेऽन्य प्रमाणानपेक्षम् इति।

—नय द्युमणि, मद्रास, गव० आरि० हस्त०।

यद्यपि ज्ञान स्वप्रकाश्य है (स्वमूर्तावपि स्वयमेव हेतुः) और यद्यपि निद्रा में या मूर्च्छा में चेतना की निरन्तरता है, तो भी चेतना इन अवस्थाओं में विषय को प्रकट नहीं कर सकती। यह तभी शक्य है जब ज्ञान प्रमाण-व्यापार द्वारा उत्पन्न होता है। जब हम ज्ञान की स्वप्रमाणता के विषय में कहते हैं, तब हम ज्ञान ग्रहण किए गए अर्थ (अर्थ-परिच्छिन्नं प्रमाणम्) से प्रमाणित होता है ऐसा कह सकते हैं। किन्तु जब हम उसके विषय में प्रत्यक्ष की दृष्टि से या ज्ञान के विषय के प्रमाणित होने के दृष्टिकोण से कहते हैं, तो हमें ज्ञान को अर्थ-निर्धारक (अर्थ-परिच्छेदक) रूप में निर्धारित करना पड़ता है, न कि यह वह उससे निश्चित होता है। ज्ञान, इस प्रकार, ज्ञाता की दृष्टि से स्वतः प्रामाण्य है। स्वतः प्रमाण्यता उस अर्थ को लक्ष्य करता है जो ग्रहण किए गए विषयों से निश्चित होता है। इसे ज्ञान-ग्रहण करने के सभी प्रसंगों में और जगत् में हमारे व्यवहार के लिए, विषय-दृष्टि से भी देखना पड़ता है, तब ज्ञान एक साधन दीखता है जिसके द्वारा, हम विषय के धर्म को निश्चित करते हैं और तदनुरूप व्यवहार करते हैं। अर्थ धर्म के परिच्छेदक के रूप मे ज्ञान की जो परिभाषा (अर्थ परिच्छेदकारी ज्ञानम् प्रमाणम्) जो मेघनादारि ने दी है, वह वेंकटनाथ से कुछ भिन्न है, वे ज्ञान का यथार्थ विषय को अनुभव कराने वाला व्यवहार या उसके अनुगुण है, ऐसी व्याख्या करते है। (यथावस्थित-व्यवहारानुगुणम्)। वेंकटनाथ के अनुसार, ज्ञान व्यवहार का साधन है, और व्यवहार यथार्थता के स्वरूप को निश्चित करता है। मेघनादारि की परिभाषा में व्यवहार और यथार्थता के सारे प्रश्न एक तरफ भुला दिए जाते हैं या कम से कम उन्हें पीछे तो धकेल दिया जाता है। उन्होंने विषय को निश्चित करने में, ज्ञान के व्यापार पर बल दिया है। यहाँ सम्भवतः यह कल्पना है कि, भूल या भ्रम के दृष्टान्तों में भी यथार्थ वस्तु देखी जाती है और अन्य बातों की अग्रगणना के कारण, भ्रम उत्पन्न होता है, किन्तु जिसके यथार्थ ज्ञान से भ्रम असम्भव हो जाता। हम जान चुके हैं कि रामानुज के यथार्थ ख्यातिवाद के अनुसार, प्रत्येक वस्तु के अणु प्रत्येक वस्तु मे है, जो उपनिषद् के त्रिवृत् करण-सिद्धान्त के आधार पर है जिसका कि पंचीकरण मे विशदीकरण हुआ है। इसलिए, भ्रम में (रजत-सीप) नेत्र इन्द्रिय, रजत के अणु के सम्पर्क मे होती है जो सीप के एक अंश को बनाता है। रजत का यह अंश, निस्सदेह ही, सीप के बहुत ही बड़े अंश की तुलना में अत्यन्त ही छोटा है। किन्तु नेत्र के क्षणिक दोष के या क्षोभ उत्पन्न करने वाली दूसरी परिस्थितियों के कारण, सीप के ये बहुत बड़े अंश नही देखे जाते। परिणाम यह होता है कि केवल रजत का ही ज्ञान उत्पन्न होता है जिससे आँखें सम्पर्क में थीं और जबकि सीप का अंश, ग्रहण होने से पूर्णतः हट गया था। इसलिए मात्र एक रजत अंश का प्रत्यक्ष हुआ, ऐसा मान लिया गया था और इस प्रकार भ्रम उत्पन्न हुआ। किन्तु, ऐसे भ्रम में भी, रजत का ज्ञान होना, भूल नहीं है। भूल, बहुत बड़े अंश-सीप का अग्रहण होना है। इस प्रकार, भ्रम के ज्ञान में भी, निःसदेह, यथार्थ विषय ही देखा

जाता है। अन्यथा ख्यातिवाद के अनुसार, भ्रम में, एक वस्तु में उन गुणों या लक्षणों को समावेश किया जाता है जो उसमें नहीं हैं। अप्रकट रूप से, यथार्थ ख्यातिवाद में, यह वाद समाविष्ट है क्योंकि यहाँ भी, सामने उपस्थित पुनरावर्ती वस्तु में दिए गए गुण (रजत), उसमें नहीं हैं, यद्यपि भ्रम का यह मूल कारण नहीं है, और यहाँ प्रत्यक्ष का सचमुच भ्रम नहीं है। मेघनादारि, इस प्रकार, मानते हैं कि प्रत्येक ज्ञान, इस अर्थ में सत्य है कि उसके अनुरूप हमेशा विषय रहता है, या जैसाकि अनंताचार्य ने और भी निश्चित रूप से वर्णन किया है—कि समस्त ज्ञान लक्षण (भ्रमयुक्त या अन्य) सर्व साधारण रूप से ज्ञान के विषय के रूप में, यथार्थ पदार्थों को लक्ष्य करता है।[1] हमने देखा है कि वेंकटनाथ ने भ्रम के विषय में तीन दृष्टिकोणों से तीन वाद माने हैं, अन्यथा ख्याति, अख्याति और यथार्थख्याति। मेघनादारि के ग्रंथों में इसका समर्थन नहीं मिलता, क्योंकि वे यथार्थ ख्यातिवाद ही केवल भ्रम का वाद है इसे सिद्ध करने में और अन्य प्रतिस्पर्धी वादों का खण्डन करने में, कोई प्रयत्न बाकी नहीं छोड़ते हैं। मेघनादारि के अन्यथा ख्यातिवाद के खण्डन की प्रधान धारा इस मत में रही है—जब ज्ञान को, जिस विषय का ज्ञान होता है, उसे ही लक्ष्य करना चाहिए, इसलिए यह शक्य नहीं है कि वह विषय, ऐसा ज्ञान उत्पन्न करे कि जिसका अर्थ नितान्त भिन्न हो, क्योंकि तब वह किसी भी विषय को लक्ष्य न करेगा और इस प्रकार तुच्छ होगा। अगर ऐसा तर्क किया जाता है कि विषय अन्य स्थान पर विद्यमान है, तो आक्षेप किया जा सकता है कि जबकि विषय की उपस्थिति ज्ञान के अर्थ द्वारा ही निश्चित की जाती है और जबकि ऐसे विषय का, भ्रम के दृष्टान्तों में निषेध किया गया है, जहाँ ऐसा ज्ञान है, तो विश्वास कैसे हो कि विषय अन्य दृष्टान्तों में उपस्थित रहेगा? ऐसे दृष्टान्तों में भी, ज्ञान ही वस्तु की उपस्थिति को निश्चय करेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि अगर ज्ञान ही अनुरूप विषय का विश्वास कराने वाला है तो यह कहना ठीक नहीं है कि दो दृष्टान्तों में जहाँ ऐसा ज्ञान होता है, एक दृष्टान्त में विषय विद्यमान है और दूसरे में नहीं है।[2]

---

[1] तत्तद् धर्म-प्रकारक-ज्ञानत्व-व्यापकं तत्तद् धर्मवद्-विशेष्यकत्वमिति यथार्थं सर्वविज्ञानमिति।
—अनंताचार्यः ज्ञान यथार्थवाद (हस्त०)।

[2] न च तद्वज्ज्ञाने स्त्विति वाच्य। तदाकारस्य सत्यत्वे भ्रांतित्वानुपपत्तिः असत्वे तु न तस्य ज्ञानाकारता। तुच्छस्य वस्त्वाकारतानुपपत्तेः। तदा कारत्वे च ख्यातिरेव तुच्छेऽपि शुक्ति कादौ न रजतार्थप्रवृत्तिः।

—मेघनादारि नयद्युमणि (हस्त०)।

मेघनादारि के आशय की मुख्य विचारधारा, अनन्ताचार्य के शब्दों में उनके ज्ञान यथार्थवाद (हस्त०) में इस प्रकार संक्षेप से कही जा सकती है, 'तथा च

मेघनादारि, अनिर्वचनीय ख्याति का खण्डन करते हुए कहते हैं, कि अगर ऐसा माना जाता है कि भ्रम में अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न होता है जो सच्चे रजत के रूप में मूल में ग्रहण किया जाता है, यह अन्यथा ख्यातिवाद सरीखा ही है। क्योंकि यहाँ भी एक वस्तु दूसरे रूप से ग्रहण होती है। इसके अतिरिक्त, यह समझाना कठिन हो जाता है कि ऐसे अनिर्वचनीय रजत का ज्ञान, किस प्रकार उसे उठाने की सच्ची इच्छा उत्पन्न करेगा, जो सच्चे रजत के ज्ञान से ही शक्य है। इच्छा जो यथार्थ वस्तु से उत्पन्न हो सकती है वह भ्रमयुक्त विचार से कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकती। केवल एक भ्रम युक्त विचार और सच्चे चमकते पदार्थ—रजत में समानता भी नहीं हो सकती।[1] तथाकथित अनिर्वचनीय रजत या तो सत् असत् स्वरूप, या सत् असत् से भिन्न माना जायगा, जो दोनों ही, व्याघातात्मक नियम और मध्याभाव-नियम के अनुसार असम्भव है। अगर तर्क देने के लिए यह मान भी लिया जाय, कि ऐसा तर्कातीत पदार्थ शक्य है, तो यह समझना कठिन हो जायगा कि रजत जैसी भावात्मक वस्तु के साथ उसकी समानता कैसे हो सकती है? यह माना नहीं जा सकता कि यह सत् असत् रूप वस्तु, शून्य स्वरूप है, क्योंकि तब भी, इस शून्य पदार्थ और सच्चे रजत के बीच समानता समझना असम्भव हो जाएगा।[2]

पुनः ऐसा कहा जाता है कि भ्रमरूप रजत, इसलिए अनिर्वचनीय कहा जाता है कि वह आत्मा जैसी शुद्ध सत्ता जो अनुभव से कभी बाधित नहीं होती, उससे भिन्न है (आत्मनो बाधायोगात्) और शशविषाण जैसी तुच्छ वस्तु से भी भिन्न है जो ज्ञान का विषय कभी नहीं हो सकती। किन्तु, इसके उत्तर में, यह बराबर कहा जा सकता है कि आत्मा की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि अगर आत्मा ज्ञान का विषय है तो वह जगत् की तरह मिथ्या होगी, और अगर वह ऐसी नहीं है तो उसकी कोई सत्ता नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसकी सत्ता, सत्ता के जातिवाचक प्रत्यय से सम्बन्ध होने के कारण है, जबकि आत्मा एक है, ऐसा माना गया है इसलिए जाति

रजत त्वं शुक्तिनिष्ठा विषयता वच्छेदकत्वा भाववत् शुक्ति प्रवृत्तित्वात् यो यद् प्रवृत्तिः स तन्निष्ठ धर्म निरूपिता वच्छेदकत्वा भाववान् इति सामान्य व्याप्तौ दण्ड निष्ठ कारणता वच्छेदकत्वा भाववद् दण्डावृत्ति घटत्वादिकम् दृष्टान्तः।'

[1] 'तस्याऽनिर्वाच्य-रजततया ग्रहणाद् विपरीतख्याति-पक्षपातः···सम्यग् रजत-धीर्हि प्रवृत्ति-हेतुः···तस्य प्रतीत्यात्मक वस्त्वात्मक योर्भास्वरत्वादि सादृश्या-भावात्।'
—वही।

[2] एकस्य युगपत्सदसदात्मकाविरुद्ध-धर्मवत्वानुपपत्तेः। तदुपपत्तावपि सादृश्यानुपपत्तेश्च ···शून्य-वस्तूनि प्रमाणाभावात्। तत्सद्भावेऽपि तस्य रजत-सादृश्या भावाच्च ततो न प्रवृत्तिः। —वही।

उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता ।[1] पुनः परिवर्तनशीलता का प्रभाव, सत्ता का गुण नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि ज्ञात विषय परिवर्तनशील होने के कारण असत् है तो ज्ञाता स्वयं, परिवर्तनशील विषय और अपरिवर्तनशील सम्बन्धों के साथ सहचार के कारण, मिथ्या हो जायगा। पुनः सत्ता, जैसा माना जाता है उतनी सर्वव्यापी नहीं है, क्योंकि वह, जिन पदार्थों में मानी गई है (घडा इत्यादि) उससे भिन्न है और अभाव से भी भिन्न है,[2] (अभाव को भाव पदार्थ मानने वाले मत में)। अगर आत्मा स्वयं प्रकाश माना जाता है, तब यह आक्षेप किया जा सकता है कि ऐसी स्वयं प्रकाशता प्रमाण से सिद्ध होनी चाहिए, और यह भी आग्रह किया जा सकता है कि जब तक आत्मा की सत्ता ऐसे सिद्ध नहीं की जाती, उसका स्वयं प्रकाश लक्षण भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।[3]

पुनः अख्यातिवाद, दो तरह से समझाया जा सकता है जिन दोनों में वह कुछ अर्थ में यथार्थ ख्याति कहा जा सकता है। पहले अर्थ में, भ्रम इस प्रकार उत्पन्न होता समझा गया है: नेत्र इंद्रिय हमारे सामने किसी चमकते हुए से प्रभावित होती है, और यह चमकीलापन, रजत जैसा होने से रजत का चमकीलापन याद दिलाता है और क्योंकि चमकीलापन रजत में है या किसी और में है, यह स्पष्ट करना शक्य नहीं होता, और जबकि, सामने उपस्थित पदार्थ ऐसे अस्पष्ट चमकीलेपन से सम्बन्धित होता है, इसलिए, चमकीलापन अपने मे से ही खडा किया हुआ विचार है ऐसा नहीं माना जा सकता, किन्तु उसका सच्चा स्थान, उसमे है जो हमारी आँखो के सामने है ऐसा मानना पडता है, इस प्रकार रजत का विचार सच्चे ज्ञान का परिणाम है। अगर सीप, रजत रूप से ग्रहण किया जाता तो वह मिथ्या ज्ञान होता, किन्तु ऐसे ज्ञान में,

---

[1] तस्य दृश्यत्वानभ्युपगमे शशविषाणादि-साम्यम्। आत्मनः प्रमेयता च नेष्टेति, न ततस्तत्सत्ता-सिद्धि। तदभ्युपगतौ च प्रपचवन्मिथ्यात्वं·· आत्मव्यक्तेरेकत्वाभिमानात् तद्-व्यतिरिक्त-पदार्थस्यासत्वाभिमानाच्च सत्ता-समवायित्वानुपपत्तेः।
-मेघनादारि, नय द्युमणि।

[2] अथ घटपटादि-भेदानां व्यावर्तमानत्वेनापारमार्थ्यम्· आत्मनोऽपि घटपटादि-सर्व-पदार्थेभ्यो व्यावर्तमानत्वान्मिथ्यात्वापत्तिः···अभिव्यनका पारमार्थ्येऽभिव्यग्यापारमार्थ्यम्· न च सत्वस्यैव समस्त-पदार्थेषु अनुवर्तमान परमार्थ्यम्। घटादयोऽपि तदपेक्षया व्यावतन्ते ··अभावस्य पदार्थान्तर-भावेऽपि तत्र सत्तानभ्युपगमात् सर्व-पदार्थानुवृत्य भावात्।
—वही।

[3] न च तस्य स्वयं प्रकाशत्वान्न प्रमाणापेक्षेऽति स्वय प्रकाशत्वस्याऽपि प्रमाणाधीनत्वात् प्रमाणान्तर-सिद्धात्मनः स्वयं प्रकाशत्वस्य साध्यात्वच्च। नहि धर्म्यप्रसिद्धौ धर्म-साध्यता।
—वही।

सीप नहीं, किन्तु जो सामने है 'यह' वह रजत रूप से जाना जाता है। सामान्य उक्ति यह है कि विचार, जो विशेष व्यवहार से अनुगुण है, उसे, ऐसे व्यवहार में अनुभूत पदार्थ का सच्चा प्रतिनिधि मानना चाहिए (यदर्थ व्यवहारानुगुणा या धीः सा तदर्था)। यह उक्ति यहाँ इस तरह लागू होती है कि, सामने जो 'यह' है वह व्यवहार में ऐसा अनुभव किया जा सकता है, और रजत लक्षण भी सच्चे रजत को ठीक तरह लक्ष्य करते हैं। इसलिए 'यह रजत' विचार को, दो विचारों का समाहार (मिश्रण), 'यह' और 'रजत' का मिश्रण मानना चाहिए। इस प्रकार, उपरोक्त अर्थ में, ज्ञान, अख्यातिवाद के अनुसार सच्चा ज्ञान है। उपरोक्त स्पष्टीकरण के विषय में, यह आक्षेप किया जाता है कि जिस प्रकार गुण और धर्म के दोनों विचार, एक ही प्रत्यय मे आ सकते हैं, तो एक ही भ्रम-युक्त ज्ञान—'यह' 'रजत' में दो भिन्न विचारों की न्याय-युक्त एकता ग्रहण करने मे कोई कठिनाई नहीं आ सकती। ऐसा एकीकरण (मिश्रण), यहाँ दो विचारो के एक ही क्षण मे उत्पन्न होने से और दोनो के बीच अवकाश नहीं होने के कारण, शक्य है। यह अन्यथा ख्यातिवाद से भिन्न है, जिसमें एक पदार्थ दूसरा दीखता माना जाता है। इस मत के विरुद्ध पहला आक्षेप यह है कि, दोष, एक वस्तु को दूसरी वस्तु में परिणत नहीं कर सकता, दूसरा यह है कि, अगर भ्रम, एक वस्तु का दूसरा होकर दीखना माना जाता है तो, ऐसे दृष्टान्तो मे, जिन्हे सच्चा ज्ञान माना जाता है, उनमें भी ऐसे भय को स्थान है, क्योंकि प्रत्येक ज्ञान शकास्पद हो जायगा और यह हमे सदेहवाद के घाट उतारेगा। अगर, इसलिए, ऐसा सूचन किया जाता है कि भ्रम, सीप की उपस्थिति और रजत की स्मृति-जनित प्रतिबिम्ब के बीच का भेद का अग्रहण है, तो वह भी असम्भव होगा। क्योंकि अगर भेद का अर्थ दो भिन्न वस्तु है (भेदो वस्तुस्वरूपमेव), तो भेद का अग्रहण (जो इस मत मे भ्रम का मूल कारण माना है) प्रत्यक्ष और स्मृति-जनित प्रतिबिम्ब के तादात्म्य का ज्ञान होगा और वह विशेषण-युक्त प्रत्यय को नहीं समझा पायगा, जहाँ, एक विचार (रजत) दूसरे विचार ('यह' आँखों के सामने) को विशिष्ट करता दीखता है। तदुपरान्त, अगर दो स्वतत्र विचार, जो द्रव्य गुण रूप से सम्बन्धित नहीं है, एक ही प्रत्यय के रूप में मिथ्या ग्रहण किए जाते हैं, तो कोई भी विचार किसी से इस प्रकार एक किया जा सकता है, क्योंकि स्मृति-जनित प्रतिबिम्ब जो हमारे भूतकाल के अनुभव में सगृहीत हैं, वे असख्य हैं। पुन. रजत, जो भूतकाल में अनुभव किया गया था, वह जिस देश में विद्यमान था उस विशेष सम्बन्ध के साथ अनुभव किया गया था, और रजत की प्रत्यभिज्ञा और स्मृति भी उस देशिक गुण से सम्बन्धित होगी। यह द्रष्टा के सामने जो वस्तु है उसके साथ मिथ्या संबंध जोडना, दोनो में देशिक भेद होने के कारण, असम्भव कर देगा। अगर ऐसा विवाद किया जाय कि दोष के प्रभाव के कारण, स्मृति जीवन-प्रतिबिम्ब का देशिक गुण बदल जाता है, तो वह अन्यथा ख्याति हो जायगी जो अख्यातिवाद मे अमान्य रहेगा। पुनः जबकि दृश्य गुणो को किसी प्रकार

के देशिक गुणों से संबंधित होना आवश्यक है, चाहे फिर मूल देशिक गुण बदल जांय या परिणत हो जांय, तो ऐसे देशिक प्रतिबिम्ब को, द्रष्टा के सामने है ऐसा प्रतीत होने का कोई कारण नहीं होना चाहिए। यह भी कहना आवश्यक है, स्मृति-प्रतिबिम्ब और प्रत्यक्ष के बीच विशिष्ट भेद को अवश्य ही देखा जायगा, क्योंकि अगर ऐसे विशिष्ट भेद नहीं देखे जाएँ, तो स्मृति-प्रतिबिम्ब, रजत-प्रतिबिम्ब से भिन्न जानी नहीं जा सकेगी। यह नहीं कहा जा सकता कि यद्यपि प्रत्यक्ष, स्मृति प्रतिबिम्ब से भिन्न किया जा सकता है किन्तु स्मृति-प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि विवेक लक्षण दोनों में एक ही है, जो सफेद चमकीलेपन से अन्य और कुछ नहीं है। अगर ऐसा आग्रह किया जाता है कि देशिक तथा अन्य विशिष्ट गुण, स्मृति-प्रतिबिम्ब में आलेखित नहीं किए जाते, वह केवल प्रतिबिम्ब रूप से दीखती है, तो आक्षेप किया जा सकता है कि प्रत्येक स्मृति-प्रतिबिम्ब वर्तमान प्रत्यक्ष से संकीर्ण किया जा सकता है और एक पत्थर भी रजत दीख सकता है।

जबकि अनिर्वचनीय ख्याति और अख्याति दोनों ही, कुछ अर्थ में, यथार्थ ख्याति हैं, इसलिए मेघनादारि ने इन दोनों भ्रम के वादों का खण्डन किया और यह बताने का प्रयास किया कि इन मतों में यथार्थ ख्याति प्रतिपादित नहीं रहती। अब वे यह बताने का प्रयास करते हैं कि यथार्थ ख्याति के अन्य सभी सम्भावित अर्थ अप्रमाण हैं। यथार्थ ख्याति की मूल मान्यता यह है कि सभी ज्ञान, सच्चे ज्ञान की तरह, यथार्थ वस्तु के अनुरूप होने चाहिए।[1] इस प्रकार, दूसरे अर्थ-बोधनों में, यथार्थ ख्याति या आनुरूप्य सिद्धान्त का यह अर्थ हो सकता है कि ज्ञान, यथार्थ वस्तु से, या दृष्ट प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है या अर्थ हो सकता है कि वह अबाधित अनुभव है, पहला विकल्प प्रतिपादित नहीं किया जा सकता क्योंकि रजत सीप के भ्रम में भी रजत का विचार, यथार्थ वस्तु से उत्पन्न हुआ है। दूसरा मत भी अयोग्य है, क्योंकि दूसरे मतानुसार रजत के भ्रम युक्त ज्ञान के अनुरूप, वस्तु, वहां सीप में सचमुच उपस्थित नहीं है और जहां तक, भूतकाल में अनुभूत रजत की स्मृति-जनित प्रतिबिम्ब के व्यापार का प्रश्न है (पूर्वानुभूत-रजत-संस्कार द्वारा) उसका कारणत्व सच्चे और भ्रम-युक्त ज्ञान दोनों में अस्वीकार नहीं किया जा सकता। तीसरा विकल्प, भी अमान्य है, क्योंकि बाधता का सम्बन्ध, ज्ञान से या विभावन से है वस्तु से नहीं है। अगर यह कहा जाता है कि ज्ञान, भ्रम के प्रत्यक्ष को लक्ष्य करता है, और इसलिए भ्रम-युक्त वस्तु ही जो बाहर (सामने) विद्यमान है वही ज्ञान का विषय है, तो स्पष्ट आक्षेप यह होगा कि ज्ञान, फिर, दृष्टा के सामने अभ्रमयुक्त किसी वस्तु को लक्ष्य करता है और वह

---

[1] विप्रतिपन्नः प्रत्ययो यथार्थः प्रत्ययत्वात्,
सम्प्रतिपन्नप्रत्ययवदिति। —नय द्युमणि, (हस्त०) पृ० १४०।

खण्डन नहीं किया जा सकता। अगर ज्ञान का विषय अभ्रमयुक्त कुछ वस्तु है, तो यह कहना व्यर्थ होगा कि भ्रमयुक्त प्रत्यक्ष आकार मात्र ही ज्ञान का विषय हो सकता है और अन्य नहीं हो सकता।

यह भी नहीं कह सकते हैं कि भ्रम के ज्ञान का कोई विषय नहीं है (निर्विषय-ख्याति) और उसे ज्ञान इस कारण कहते हैं कि, यद्यपि वह सच्चे ज्ञान की तरह प्रवृत्ति उत्पन्न तो नहीं कर सकता, किन्तु प्रवृत्ति उत्पन्न कर सकता है ऐसा भास उत्पन्न करता है, इसी में सच्चे ज्ञान से इसका साम्य है। यह इसी प्रकार है जैसे शरद् ऋतु के बादल वर्षा नहीं ला सकते किन्तु बादल अवश्य कहलाते हैं। भ्रमयुक्त ज्ञान का विषय, न केवल भ्रम ही है किन्तु 'यह' रूपी अभ्रम विषय है जिसे वह दृश्य रूप एवं विशेषण रूप से लक्ष्य करता है। सत्य तो वास्तव में यह है, ज्ञान को दृश्य रूप होने के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वस्तु के सभी गुण प्रत्यक्ष हो दीखें, अगर कोई भी लक्षण प्रकट हैं, तो वे ही केवल, ज्ञान के लिए, उस वस्तु की दृश्यता स्थापित करने को पर्याप्त है। वस्तुस्थिति इसलिए यह है कि सारे ज्ञान दृश्य जगत् के, विशेष पदार्थ के अनुरूप है और उन्हे लक्ष्य करते हैं, और तत्व-मीमासायुक्त विश्वमीमासावाद की पूर्व मान्यता से पृथक् किसी अन्य वाद से समझाया जा सकता है, जो होमोयमेरीया (HOMOIOMERIAE) वाद के निकट है।

अनन्ताचार्य, अपने 'ज्ञान-यथार्थवाद' मे, मेघनादारि के दिए तर्कों की न्यूनाधिक रूप से पुनरावृत्ति करते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञान कभी भी दृश्य विषय के अनुरूप सम्बन्ध पर आधारित हुए बिना, शक्य नहीं हैं। इसलिए ज्ञान के अर्थ को दृश्य वस्तु के अनुरूप होना चाहिए जिसे वह लक्ष्य करता है। इस प्रकार, जबकि रजत का ज्ञान होता है (रजत सीप भ्रम मे) तो उसे उसके अनुरूप दृश्य अधिष्ठान को लक्ष्य करना ही चाहिए।[1] भ्रम स्मृति प्रतिमा और प्रत्यक्ष के अविवेक युक्त ज्ञान से उत्पन्न होता है ऐसा मीमासकों का ख्याल भी गलत है, क्योंकि ऐसी दशा मे हमें रजत याद आता है ऐसा अनुभव होना चाहिए और न कि उसे, हमारे सामने दृश्य वस्तु के रूप में देखना।[2] मेघनादारि और अनन्ताचार्य यह सिद्ध करने का बड़ा परिश्रम करते हैं

---

[1] तथा च रजत तत्व शुक्ति-निष्ठ-विषयतावच्छेदत्वाभाववत् शुक्त्यवृत्तित्वात् यो यदवृत्तिः स तन्निष्ठ-धर्म-निरूपितावच्छेदकत्वाभाववानिति।
—ज्ञान यथार्थवाद, हस्त०।

[2] रजत स्मरणे इदं-पदार्थ-ग्रहण-रूप-ज्ञान-द्वय-कल्पने रजतम् स्मरामीति तत्रानुभव-प्रसंगः, न तु रजत पश्यामीति, साक्षात्कारत्वव्यंजक-विषयतायाः स्मरणेऽभावात्। —वही।

कि उनकी परिभाषा, सभी प्रकार के भ्रम के दृष्टान्तों और स्वप्न के भी उपयुक्त है। इस विषय का विस्तृत वर्णन करना हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए अनावश्यक है।[1]

ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य का सिद्धान्त

प्रमाण, वस्तु का, यथार्थ ज्ञान है, (तथा भूतार्थ-ज्ञान हि प्रमाणमुच्यते), और अप्रमाण या झूठा ज्ञान, वस्तु का अयथार्थ ज्ञान है (अतथा-भूतार्थ-ज्ञान हि अप्रमाणम्)। ऐसी प्रमाणता मेघनादारि कहते हैं, ज्ञान द्वारा स्वयं प्रकट होती है (तथात्वावधारणात्मक प्रामाण्यमात्मनैव निश्चीयते)। इस परिभाषा से यह आलोचना नहीं सिद्ध होती कि ज्ञान निष्क्रिय है अतः उसी समय सक्रिय नहीं माना जा सकता और इसलिए उसका प्रमाण निश्चित नहीं है (न च कर्म-कर्तृता-विरोध), क्योंकि जब वह पदार्थ का स्वरूपतः विश्वस्तः प्रतिनिधि है, इसलिए अपने स्वरूप को जैसा है वैसा प्रकट करना ही अपनी प्रमाणता को स्थापित करना है। अगर ज्ञान मे अपनी प्रमाणता प्रकट करने की शक्ति नहीं है, तो प्रमाणता प्रकट करने का कोई भी रास्ता नहीं रहेगा क्योंकि कोई अन्य अतवर्ती व्यापार द्वारा, या किसी अन्य साधन के द्वारा, उसकी प्रमाणता की स्वीकृति हमेशा वही प्रश्न खड़ा करेगा कि उन व्यापारो या साधनताओ का साक्षित्व (प्रमाणता) किस प्रकार स्वीकार किया जाय। ऐसी मान्यता के अनुसार जबकि ज्ञान स्वतः प्रमाण नहीं है, प्रत्येक ऐसे प्रमाण को सिद्ध करने के लिए दूसरा प्रमाण आवश्यक होगा, और इसके लिए और कोई दूसरा, इस प्रकार अनवस्था की स्थिति उत्पन्न होती है।

मेघनादारि, अन्य मतों का खण्डन करते हुए, बताते है कि अगर प्रमाणता, ज्ञान के सामूहिक कारणों मे मानी जाती है (जिससे, आत्मा, इन्द्रियाँ और पदार्थ का समावेश है) तो पदार्थ को भी प्रमाण मानना पड़ेगा, और फिर कोई प्रमेय नहीं रहेगा। अगर, स्वीकृति चेतना स्वरूप मान ली जाती है तो स्मृति-ज्ञान को भी प्रमाण मानना पड़ेगा क्योंकि वह चेतना स्वरूप है। आगे, अगर प्रमाण की स्वीकृति एक प्रकार की शक्ति है, तो ऐसी शक्ति अनुभवगम्य न होने के कारण उसे किसी अन्य प्रमाण द्वारा प्रकट करना पड़ेगा। यदि, पुनः प्रमाणता, ज्ञान के कारणों द्वारा उत्पन्न होती मानी जाती है, तो स्वतः प्रमाणता का सिद्धान्त त्याग देना पड़ेगा। निर्बाध व्यवहार भी, प्रमाणता की व्याख्या नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसी अवस्था में स्मृति को भी स्वतः प्रमाण मानना पड़ेगा। इसे केवल ज्ञान ही है ऐसी परिभाषा भी नहीं दी जा सकती, क्योंकि ज्ञान, अपनी प्रमाणता जानने के लिए

---

[1] वही। तथा मेघनादारि नय द्यु मणि।

पीछे नहीं देख सकता, इसलिए उसे किसी पर आश्रित होना पड़ेगा, तो इसका अर्थ यह रहेगा हमने परतः प्रमाणता स्वीकार कर ली है। पुनः उन दृष्टान्तों में, जहाँ भ्रम का कारण ज्ञात है, ज्ञान, मिथ्या होते हुए भी (अप्रतिहत) बिना प्रतिरोध के हमारे सामने प्रकट होता है जैसे, सूर्य की गति। प्रत्येक ज्ञान अपनी प्रमाणता से सम्बन्धित है, यह मान्यता, इन दृष्टान्तों में उपयुक्त नहीं होती। यदि पुनः, ऐसा माना जाता है कि जब कभी पिछला ज्ञान पहले ज्ञान को अस्वीकार करता है, तब हमारे पास पहला ज्ञान, पिछले क्षण के ज्ञान से किस प्रकार खण्डित होता है उसका एक स्पष्ट दृष्टान्त होता है। ऐसा भी आग्रह किया जा सकता है कि जब, किसी वस्तु का जातिगत ज्ञान, उसके सामान्य ज्ञान को हटाता है तब एक ज्ञान दूसरे का स्थानापन्न है ऐसा दृष्टान्त हमारे पास होता है यद्यपि यहाँ पहले ज्ञान की आलोचना नहीं होती।

भाट्ट मतानुसार, जहाँ, विषय, उसके विशिष्ट ज्ञान लक्षण की अवस्था को पहुँचता है तब उसका ज्ञान, एक आन्तरिक व्यापार के रूप में अनुमित किया जाता है, तो यहाँ प्रमाणता और अप्रमाणता दोनों, विषय पर ही आश्रित होनी चाहिए। किन्तु, यह आग्रह किया जाता है कि प्रमाणता, साधनों एवं ज्ञान की उपाधियों की दोष रहितता में पाई जाती है तो वह परत. प्रमाण बन जाएगा। प्रभाकर, के मत में, हमें एक अधिक सुन्दर दृष्टान्त मिलता है जिसमें ज्ञान ही, ज्ञाता, विषय और ज्ञान को एक साथ प्रकट करता हुआ माना है, क्योंकि यहाँ ज्ञान को किसी बाह्य वस्तु पर आश्रित नहीं रहना पड़ता। इस दृष्टान्त के अनुसार स्मृति स्वतः अप्रमाण हो सकती है जो पूर्व अनुभव पर आश्रित है। इस पर न्याय का आक्षेप यह है कि जबकि स्मृति भी एक प्रकार का ज्ञान है, और जबकि सब ज्ञान स्वयं प्रकाश हैं, तो प्रभाकर मत-वादियों को न्याय-सगति से (अविरुद्ध ही) स्मृति की स्वतः प्रमाणता माननी चाहिए।

मेघनादारि मानते हैं कि ज्ञान की स्वतः प्रमाणता के विरुद्ध ये सब आक्षेप झूठे हैं, क्योंकि अगर ज्ञान की प्रमाणता को अन्य ज्ञान पर आधारित रहना पड़ता है तो अनवस्था दोष आता है। यदि, अनवस्था दोष दूर करने के लिए, किसी पीछे आने वाले ज्ञान को स्वतः प्रमाण मान लिया जाता है तो वह स्वतः प्रमाणता मान लेने के बराबर हो जाता है (अनवस्था परिहाराय कस्यचित् स्वतस्त्वांगीकारे च न परतः प्रामाण्यम्)। यह कहा जा सकता है कि हम प्रमाणता के ज्ञान से, कार्य में प्रवृत्त नहीं होते, किन्तु, प्रमाणता की सम्भावना से प्रवृत्त होते हैं जो हमारे विषय के प्रति प्रवृत्ति से परीक्षण (अज्ञाततया ज्ञाततयैव) किया जाता है। किन्तु ऐसी धारणा में प्रतिपक्षियों का परतः प्रमाणता पर झुकना निरर्थक है, क्योंकि ऐसी धारणा, इस मत पर खड़ी हुई है कि हमारी प्रवृत्ति ज्ञान की प्रमाणता को, पहले निश्चय किए बिना ही उत्पन्न होती है। जब हम यह देखते हैं कि एक व्यक्ति, वस्तु को देखकर, उसके प्रति

प्रवृत्त होता है, हमारा स्वाभाविक तौर से यही मानना होता है कि उसे अपनी प्रवृत्ति के आधार पर अपने ज्ञान की प्रमाणता का अनुभव है, क्योंकि उसके बिना यत्न या प्रयास नहीं हो सकता। ऐसे दृष्टान्तों में प्रमाणता के ज्ञान बिना ही ज्ञान प्रमाण है, ऐसा विवाद करना नितान्त अर्थहीन है। सत्य तो यह है कि प्रमाण और उसकी प्रमाणता एक ही वस्तु है। प्रमाणता, उपस्थित ज्ञान के क्षेत्र के बाहर अन्य किसी में है, ऐसा सोचना गलत है। जब हम आग देखते हैं तो आग के विचार के साथ ही उसके दाहक गुण को भी ग्रहण करते हैं, किसी अदृष्ट शक्ति या आग की दाहक शक्ति को ग्रहण करने की राह नहीं देखते हैं। दाहक वस्तु के रूप में अग्नि के ज्ञान में ही, उसका दाहक शक्ति के साथ सम्बन्ध भी समाविष्ट है। दाहक शक्ति अकेली का ज्ञान हमें किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं करेगा, क्योंकि हम पदार्थ के ज्ञान से प्रवृत्त होते हैं, उनकी शक्तियों से नहीं होते। इसलिए, पदार्थ को उसकी शक्ति से जुदा करना और शक्ति को हमारे प्रयास का कारण कहना गलत है। इसलिए, प्रमाण के ज्ञान में, उसकी प्रमाणता समाविष्ट होती है। इस प्रकार प्रमाणता को विषय-ज्ञान से भिन्न नहीं किया जा सकता।[1] आगे, प्रमाणता की अव्याहतता के रूप में परिभाषा

---

[1] वेंकटनाथ के मामा, रामानुजाचार्य एक आक्षेप की प्रतीक्षा करते है कि प्रत्यक्ष ज्ञान केवल वस्तु को ही प्रकट करता है। ऐसी वस्तु का प्रकट होना ज्ञान सम्बन्ध को भी सकलित नही करता, जो आवश्यक रूप से अति भिन्न प्रकार का हो, क्योंकि ज्ञान का वस्तु से अनेक प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है। वस्तु मात्र का प्राकट्य बिना विशिष्ट ज्ञान-सम्बन्ध के इसलिए, विभावना का समावेश नही करता, यद्यपि, इस वस्तु की सत्यता, दूसरे क्षण में निश्चित की जा सकती है जब यह 'मैं इसे जानता हूँ' इस विभावना रूप से घटाया जाता है, वस्तु के प्रकट होने के क्षण में, उसकी प्रमाणता निर्धारित करने की कोई सम्भावना नही है। इसके उत्तर मे रामानुजाचार्य कहते हैं कि वस्तु का प्रकट होना, आवश्यक रूप से ज्ञान-सम्बन्ध को सामान्य रूप से समावेश करता है, और इसलिए विशेष क्षण में प्राकट्य के प्रकार से वस्तु को ग्रहण करने के साथ-साथ ही, किसी विशेष क्षण में विशिष्ट ज्ञान सम्बन्ध का प्रकार, भी ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार जबकि वस्तु का प्रकट होना, विशिष्ट ज्ञान सम्बन्ध को निर्दिष्ट करता है, तो सारे ज्ञान अव्यक्त रूप से विभावना जैसे माने जा सकते हैं और ज्ञान की स्वतः प्रमाणता पर कोई आक्षेप नही किया जा सकता।

अगर ज्ञान और वस्तु सर्वथा पृथक् मानें जाय, जैसाकि उन्हे होना चाहिए, और अगर ज्ञान-सम्बन्ध वस्तु के साथ अव्यक्त रूप से नही दिया जाता, तो समस्त ज्ञान वस्तु-रहित हो जाएँगे, और इस प्रकार, भविष्य मे उन्हें सम्बन्धित करना असम्भव हो जाएगा।

—न्याय कुलिश (हस्त०)

नहीं दी जा सकती, क्योंकि अगर परीक्षण प्रत्येक ज्ञान पर किया जाए तो अनवस्था स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। यदि, किसी अनुभव की प्रमाणता के ज्ञान को, साधन और अनुभव की उपाधियों की दोष-रहितता या योग्यता पर आश्रित रहना पड़ता है तो, जबकि ऐसे ज्ञान की प्रमाणता को साधन एवं उपाधि की दोष-रहितता के दूसरे ज्ञान पर आश्रित रहना पड़ेगा और उसे दूसरे पर, तो इस तरह स्पष्ट ही अनवस्था की स्थिति उत्पन्न होती है। जबकि ज्ञान साधारणतः विषय के अनुगुण है तो साधारणतया, ऐसे ज्ञान की उपाधि और कारणों की सदोषता से भूल (भ्रम) उत्पन्न होने का कोई भय नहीं रहना चाहिए, यह तो कोई विशेष उदाहरण में ही ऐसी शंका उत्पन्न होती है, और तब ज्ञान के साधन और उपाधि की सदोषता या योग्यता के विषय में परीक्षण करना पड़ता है। अगर प्रत्येक ज्ञान की प्रमाणता का परीक्षण होता है तो हम संदेहवाद के ग्रास हो जाएँगे। इस प्रकार, प्रमाणता यह अर्थ रखती है कि वस्तु का किसी प्रकार से प्रकट होना, किसी अन्य प्रमाण से दृढ़ीकरण की अपेक्षा नहीं रखता (प्रमाणान्तरानपेक्षयार्थविच्छिन्नत्वम्), और प्रमाणता में ऐसा विश्वास प्रमाण के साथ ही प्रकट होता है। स्मृति, तो पूर्वानुभव पर आधारित है, और इसलिए उसकी प्रमाणता मे विश्वास, पूर्व ज्ञान की प्रमाणता पर आश्रित है, इसलिए इसे स्वतः प्रमाण नही माना जा सकता।

वेंकटनाथ के मामा और उनके आचार्य रामानुजाचार्य, इस आक्षेप का पूर्ण ग्रहण करते हैं कि अगर ज्ञान की स्वतः प्रमाणता स्वीकार की जाती है, तो किसी भी अनुभव के बारे मे शंका उपस्थित नही हो सकती।[1] रामानुजाचार्य का उत्तर है कि सारे ज्ञान स्वतः प्रमाणता के सामान्य विश्वास से सम्बन्धित हैं, किन्तु इससे कोई विशेष दशा में संशय उत्पन्न होने से नही रुकता। इस मत के अनुसार स्वतः प्रमाणता का अर्थ यह है कि सभी ज्ञान स्वतः ही अपनी प्रमाणता के विषय में सामान्य विश्वास उत्पन्न करते हैं यद्यपि ये विशेष दिशा में भ्रम का निष्कासन नही करते।[2]

वेंकटनाथ के अनुसार रामानुज संप्रदाय के सत्तामूलक पदार्थ

(क) द्रव्य

वेंकटनाथ ने, अपने 'न्यायसिद्धांजन' और 'तत्त्व-मुक्त-कलाप' में, रामानुज दर्शन में स्वीकृत या माने गए भिन्न पदार्थों का सरल वर्णन देने का प्रयास किया है, जिन्हें

---

[1] सामान्यस्य स्वतोग्रहेणाभ्यास-दशोत्पन्न-ज्ञाने तत्संशयो न स्यात्।
—तत्त्वचिन्तामणि (ए० एस० बी०), पृ० १८४।

[2] न्याय कुलिश, पृ० २७ (हस्त०)।

रामानुज ने, पाठकों के समक्ष प्रमुख रूप से नहीं रखा था। मुख्य विभाजन, द्रव्य और अद्रव्य का है। द्रव्य वह है जिसमें दशाएँ (दशावत्) हैं और जो विकार और परिणामशील है। द्रव्य को मानकर वे—बौद्ध मत, कि 'द्रव्य नहीं है, सारे पदार्थ केवल पृथक् तत्वों का क्षणिक समाहार है जो एक क्षण अस्तित्व रखते हैं दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं,' इस मत का खण्डन करने का प्रयास करते हैं। वैभाषिक बौद्ध कहते हैं कि रूप, रस, स्पर्श और घ्राण ये चार मूल गोचर तत्व हैं, जो स्वयं गुण हैं और ये स्वयं किसी के गुण नहीं हैं। ये हमारी विशिष्ट इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किए जाते हैं।[1] वात्सी पुत्रीय सम्प्रदाय शब्द को, एक पृथक् गोचर तत्व के रूप में समावेश करता है जो श्रवणेन्द्रियों द्वारा ग्रहण होता है। इसके विरोध में वेंकटनाथ कहते हैं कि प्रत्येक प्रत्यक्ष अनुभव में, हमें ऐसा लगता है कि जिसे हम देखते हैं उसे हम स्पर्श करते हैं; यह अनुभव मिथ्या नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसी भावना नियत है और अनुभव में अबाधित है (स्वारसिक-बाधादृष्टेरनन्यथासिद्धेश्च)। ऐसा अनुभव, दृश्य क्षेत्र में एक नित्य पदार्थ के विचार की प्रत्यभिज्ञा को अनुमित करता है, जो अपरिणामी नित्य द्रष्टा द्वारा अनुभव किया जाता है और यह भी कि, दो गोचर गुण एक ही पदार्थ को लक्ष्य करते हैं। यह केवल रूप की संवेदना से सम्बन्धित नहीं है, क्योंकि रूप-संवेदना स्पर्श-संवेदना को अनुमित नहीं करती, न वह केवल स्पर्श को लक्ष्य करती है क्योंकि उसका रूप से सम्बन्ध नहीं है। प्रत्यक्ष, इसलिए, एक ही वस्तु को लक्ष्य करता है जिसमें स्पर्श और रूप के गुण हैं। प्रत्यभिज्ञा का ऐसा अनुभव, तत्वों के संघात के बौद्ध मत का भी खण्डन करता है। क्योंकि ऐसा मत स्वाभाविक ही प्रश्न खड़ा करता है कि संघात, तत्व जो एकीकृत होते हैं उनसे भिन्न हैं या एक ही हैं। पिछले विकल्प के अनुसार, पदार्थ एक ही है, जिसमें स्पर्श और रूप के गुण दोनों ही हैं, ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती। पहले विकल्प में, जब संघात एकीकृत तत्वों से बाहर माना जाता है, ऐसा संघात भावात्मक या निषेधात्मक होना चाहिए। पहला विकल्प, द्रव्य को मान लेने के बराबर होता है, क्योंकि केवल संयुक्त गुणों के अस्तित्व की धारणा अस्वीकार्य की गई है, क्योंकि ऐसा कुछ भी नहीं हो सकता जो, न तो द्रव्य हो या न गुण हो या न विशिष्ट करता हुआ सम्बन्ध ही हो। दूसरे विकल्प में, अगर संघात अस्तित्व नहीं रखता, तो वह प्रत्यभिज्ञा भी उत्पन्न नहीं कर सकता। अगर संघात, दृष्ट लक्षणों के बीच, अवकाश की अनुपस्थिति है ऐसा कहा जाता है तो भी, जब एक-एक गुण उसके योग्य इन्द्रियों का ही अनुसरण करते हैं तो यह असम्भव है कि दो इन्द्रियों द्वारा दो भिन्न इन्द्रिय-गुणों का अनुभव एक ही सामान्य पदार्थ को इंगित करे। संघात की देशिक एकता कहकर भी व्याख्या नहीं

---

[1] एवं प्राहुर्वैभाषिका: निराधारा निर्धर्मकाश्च रूपादयश्चत्वार: पदार्था:।
तत्वमुक्ताकलाप।   —सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ८।

की जा सकती, क्योंकि, उसे सघात का विचार उत्पन्न करने के लिए कालिक एकता को भी साथ लेना पड़ेगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि देश और काल दोनों एक ही हैं, क्योंकि ऐसा मत जो क्षणिकवाद के अनुसार सत्य है, क्षणिकवाद के खण्डन द्वारा मिथ्या है ऐसा आगे बताया जायगा। देश भी आकाश के स्वरूप जैसा नहीं हो सकता, जो बौद्ध मतानुसार अनवरोध स्वरूप है और भावात्मक प्रत्यय नहीं है। देश की इन्द्रियगुणों के साथ भौतिक एकता भी नहीं हो सकती, क्योंकि भिन्न इन्द्रिय-गुण, भिन्न क्षणों के लक्षण माने गए हैं।[1] अगर यह अर्थ है कि भिन्न इन्द्रियों के पीछे केवल एक ही पदार्थ है तो वह द्रव्य को मानना होता है।[2] अगर, इन्द्रिय, गुण एक ही भौतिक पदार्थ में अस्तित्व रखने के कारण सघात रूप माने जाते हैं, तो भौतिक पदार्थ को, उसके मूल तत्व का अस्तित्व किसी अन्य पदार्थ में हैं, इस कारण संघात है ऐसा वर्णन करना पड़ेगा, और वह पुनः किसी अन्य पदार्थ में है और इस प्रकार अनवस्था दशा प्राप्त होती है। यह भी आग्रह नहीं किया जा सकता कि स्पर्श-संवेदना रूप-सवेदना से अनुमित की जाती है, क्योंकि ऐसा अनुमान, रूप और स्पर्श गुणो की व्याप्ति के ज्ञान को, उसकी पूर्व उपाधि के रूप में परिग्रहण करेगा, जोकि जबतक दोनो गुण एक ही पदार्थ मे हैं ऐसा ज्ञान नहीं होता अशक्य है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि स्पर्श और रूप गुण दोनों आपस मे सम्बन्धित हैं, यह इस भावना को उदय करता है कि जिसे हम देखते हैं उसे स्पर्श भी करते हैं, क्योंकि ये दो सवेदनाएँ स्वरूप से भिन्न जानी गई हैं और भिन्न इन्द्रियो से उत्पन्न हैं। यह भी नही कहा जा सकता है कि हम जिसे देखते हैं उसे स्पर्श करते हैं, ऐसा हमारा अतः प्रत्यक्ष, वासना के व्यापार से है, इसलिए मिथ्या है, क्योंकि इसी सादृश्यता को लेकर और योगाचार के मत का अनुसरण करते हुए, हम बाह्य वस्तु का भी विषेध कर सकते है। अगर ऐसा कहा जाता है कि इन्द्रिय-गुण अनुभव में बाधित नहीं होते, और इस प्रकार विज्ञानवाद-मत मिथ्या है, तो यह अच्छी तरह बताया जा सकता है कि हमारा यह विचार कि हम पदार्थ का अनुभव करते हैं जिसमें स्पर्श और रूप गुण हैं ऐसा कहते हैं, यह भी अनुभव में बाधित नही होता। अगर ऐसा कहा जाता है कि यह अनुभव तर्क द्वारा प्रमाणित नही किया जा सकता, तो समान प्रबलता से यह सिद्ध किया जा सकता है कि बाह्य इन्द्रिय-गुणों के अस्तित्व को भी तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसलिए, हमारा सामान्य अनुभव कि पदार्थ एक द्रव्य है जिसमें भिन्न इन्द्रिय-गुण हैं इसे अप्रमाणित नही किया जा सकता। वायु को छोड़कर अन्य चार तत्व स्वय भिन्न लक्षण वाले हैं, और इसलिए वे रूप और स्पर्श गुण-युक्त

---

[1] न चोपदानरूपः स्पर्शरूपादिनां भिन्न स्वलक्षणोपादानत्वाभ्युपगमात्।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ६।

[2] एकोपादानत्वे तु तदेव द्रव्यम्। —वही।

इत्यादि देखे जाते हैं और वे भिन्न इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य हैं, यह भी मिथ्या है, क्योंकि यह आवश्यक रूप से इस धारणा का परिग्रहण नहीं करता कि वे भिन्न गुणों के आधार हैं, क्योंकि अनुभव यह बताता है कि पदार्थ, गुण-युक्त है ऐसा ही साक्षात् ज्ञान होता है (अनुभूति)। कोई भी घड़े को केवल दृश्य गुण के रूप में नहीं देखता, किन्तु उसे गुण-युक्त पदार्थ ही देखता है। यह भी असम्भव है कि एक अगुण वस्तु के दो भिन्न स्वभाव हो, क्योंकि एक वस्तु, दो भिन्न स्वभाव वाली नहीं हो सकती। अगर ऐसा कहा जाता है कि एक ही पदार्थ में दो भिन्न गुण रह सकते हैं तो यह द्रव्य को मानने के बराबर हुआ जिसमें भिन्न गुण रहते हैं। यह भी मानना मिथ्या है कि रूप और स्पर्श गुण, एक साथ ग्रहण होते हैं इसलिए दोनो का एक स्वरूप है, क्योंकि एक ही भ्रम के दृष्टान्त में जहाँ सफेद सीप पीली दीखती है, तब सीप उसके सफेद गुण बिना ग्रहण होती है, ठीक उसी प्रकार जैसे पीला रंग उसके अनुरूप पदार्थ के बिना ग्रहण होता है और यह नहीं कहा जा सकता कि, एक पीली सीप वहाँ पृथक् रूप से नई उत्पन्न होती है, क्योंकि ऐसा मत इस अनुभव से साक्षात् बाधित होता है कि हम पीला रग देखते हैं और स्पर्श द्वारा उसका सीप के साथ तादात्म्य प्रतिपादन करते हैं। इसलिए, अनुभव युगपद् होने से, पदार्थ में गुण का समवाय सम्बन्ध सिद्ध होता है, तादात्म्य नही।

इसके अतिरिक्त, बौद्ध मतवादी भी यह सिद्ध नहीं कर सकते कि स्पर्श और रूप की सवेदना एक साथ होती है। अगर ऐसा है तो दो भिन्न इन्द्रियो का साक्ष्य स्वाभाविक ही दो भिन्न लक्षणो को सूचित करता है। जब पदार्थ समीप होता है तो उसका स्पष्ट ज्ञान होता है और वह जब दूर होता है तब उसका अस्पष्ट ज्ञान होता है। यह स्पष्टता और अस्पष्टता केवल इन्द्रिय-गुणो को लक्ष्य नहीं करती, क्योंकि तब उनका पदार्थ के रूप मे भेद नहीं जाना जायगा। वह परिणाम को भी लक्ष्य नही कर सकता, क्योंकि परिमाण का विचार बौद्ध मतवादी मिथ्या मानते हैं। ऐसी परिस्थिति में, यह मानना पड़ेगा कि ऐसे प्रत्यक्ष पदार्थ को ही लक्ष्य करते है।

बौद्धमतवादी ऐसा आग्रह करते हुए देखे गए हैं कि अगर गुण द्रव्य से भिन्न माने जाते हैं, तो यह पूछा जा सकता है कि इन धर्मों के और भी आगे धर्म हैं या धर्म-रहित हैं। पिछले विकल्प मे, धर्म-रहित होने से वे परिभाषित नही हो सकते या शब्दो में प्रयुक्त नही किए जा सकते। पहले विकल्प मे, अगर धर्म में और भी आगे धर्म हैं, तो दूसरी कक्षा के धर्मों को अन्य धर्मों द्वारा जानना पड़ेगा, और फिर उनको अन्य के द्वारा, और इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। पुनः धर्मत्व स्वयं धर्म बन जायगा और यह नही कहा जा सकता कि धर्मत्व, धर्म का स्वरूप ही है, क्योंकि कोई भी वस्तु उसे ही लक्ष्य करके नहीं समझाई जा सकती। अगर धर्मत्व धर्मसे भिन्न है तो ऐसा प्रत्यक्ष हमें अनवस्था स्थिति पर ले जायगा। इस पर

वेंकटनाथ का उत्तर है कि सारे धर्म धर्मरहित नहीं हैं। कुछ दृष्टान्तों में धर्म स्वयं विशेषित होता दीखता है, जोकि अनुभव से प्रमाणित है। उन दृष्टान्तों में जहाँ, धर्म निर्देश द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, जैसेकि, 'यह धर्म ऐसा ऐसा है' (इत्थं भाव), वहाँ वह अपने ज्ञान के लिए अन्य धर्म पर आश्रित नहीं रहता। ऐसे गुणों के दृष्टान्त अमूर्त गुण एवं सामान्य के द्वारा दिए जा सकते हैं और उनसे विपरीत धर्मों के दृष्टान्त, विशेषण रूप गुणों द्वारा दिए जा सकते हैं जैसाकि 'सफेद घोड़ा' सफेद घोड़ा इस वाक्य में सफेद घोड़े के सफेदपन का आगे और विशिष्ट निर्देश हो सकता है, जबकि शब्द 'सफेदपन' स्वयं सिद्ध है और उसके बारे में विशेष निर्देश की जिज्ञासा अस्वीकार्य होती है। न्याय-दृष्टि से इन दोनों ही दृष्टान्तों में और अधिक विशिष्ट निर्देश की माँग की जा सकती है और अनवस्था दोष का भय भी हो सकता है, परन्तु अनुभव में ऐसा नहीं होता।[1] इसके अतिरिक्त हम, अभिज्ञा की अभिज्ञा होना आवश्यक है ऐसा समझने पर अनवस्था स्थिति की कल्पना कर सकते हैं, किन्तु यह केवल तर्क की पराकाष्ठा है, क्योंकि अभिज्ञा, अपने को प्रकट करने में, अपने बारे में ज्ञान होने के लिए सभी कुछ को प्रकट करती है और इस अनवस्था-क्रम को बढ़ाने से कोई लाभ नहीं होता। इस प्रकार एक धर्म में और धर्म होना माना जा सकता है, किन्तु इनके द्वारा जो कुछ भी व्यक्त होता है वह गुण द्वारा ही प्रकट होता है ऐसा माना जा सकता है।[2] पुनः यह प्रतिपादन कि यदि धर्म स्वयं निर्धर्मी हैं तो वे अवाच्य हैं तो यह बौद्ध मतवादियों को स्वयं को महान् संकट में ला देगा, जब वे पदार्थ को स्वलक्षण्य निर्धर्मी हैं और यदि जिसमें गुण नहीं है उसका वर्णन नहीं हो सकता, तो उसे स्वलक्षण कह कर विशेष निर्देश देना भी असम्भव है।[3]

ऐसा आग्रह किया जाय कि धर्म उसमें रहते हैं जो निर्धर्मी है या जिसमें धर्म है। पहले विकल्प का अर्थ यह होगा कि वस्तु अभाव रूप से अस्तित्व रखती है जो असम्भव है, क्योंकि सब कुछ सर्वत्र अस्तित्व रखेगा और तुच्छ वस्तु भी जो कहीं भी

---

[1] उदाहृतेषु नियता-नियत-निष्कर्षक-शब्देषु जाति-
गुणादेः प्रधानतया निर्देशेऽपि सन्ति केचित्
यथा प्रमाणम् इत्थंभावाः त्वयाऽपि हेतु
साध्यादिधर्माणा पक्षधर्मत्वादि-धर्माः
स्वीकार्या अनवस्था च कथंचिद् उपशमनीया।
—तत्त्व मुक्ता कलाप, सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० १६।

[2] स्वीकृतं च संवेदनासंवेदने शब्द-शब्दादौ स्व-पर-निर्वाहकत्वम्। —वही।

[3] किंच स्व लक्षणादीना जात्यादीनांच संवृत्ति-सिद्धानां निर्धर्मकत्वेऽपि कथंचिद् अभिलापार्थत्वं त्वयापि ग्राह्यम्। वही।

अस्तित्व रखती नहीं मानी गई है, वह भी अस्तित्व रखती मानी जाएगी। दूसरे विकल्प में, एक धर्म दूसरे धर्म में रहेगा, जो आत्माश्रय होने से, निरर्थक प्रत्यय है। वेंकटनाथ का इस पर यह उत्तर है कि वे ऐसा नहीं मानते हैं कि धर्म अभाव (निषेध) के प्रतियोगी में रहता है या उसमें है जिसमें वह अब भी है, किन्तु यह मानते हैं कि एक विशेषित पदार्थ में धर्म, विशिष्ठ पदार्थ होने के नाते नहीं है किन्तु उससे पृथक् स्वीकार करने के कारण है।[1] यह आग्रह नहीं किया जा सकता कि यह वास्तव में, अभाव प्रतियोगी में धर्म का अस्तित्व मानने का पुराने आक्षेप को अनुमित करेगा। इस पर वेंकटनाथ का उत्तर है कि विशिष्ट पदार्थ का विशेष रूप, उसके किसी अवयवों में नहीं रहता, और किसी भी अवयवों के गुण, अवयवी में न भी रहें।[2] अगर प्रतितर्कमूलक पद्धति से, विशिष्ट पदार्थ में धर्म के अस्तित्व के प्रकार की आलोचना की जाती है तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि विशिष्ट पदार्थ का प्रत्यय, बिना पर्याप्त आधार के है या स्वबाधित है या ऐसा प्रत्यय स्वयं अस्वीकार्य है। ये सब मत निरर्थक हैं, क्योंकि प्रतिपक्षी की प्रचंड आलोचना भी, अपने तर्क-साधनों में यही विशिष्ट पदार्थ के प्रत्यय का उपयोग करेगी। इसलिए, यह मानना पड़ता है कि धर्म, विशिष्ट धर्मों मे अनुसक्त है, और यह अनुसक्ति अनवस्था दोष उत्पन्न नहीं करती।

(ख) प्रकृति की सत्ता के स्थापक सांख्य तर्कों की आलोचना

वेंकटनाथ, भौतिक मत के रूप में प्रकृति के सिद्धान्त को स्वीकारते हैं, किन्तु वे यह सोचते हैं कि ऐसा सिद्धान्त केवल शास्त्र-प्रमाण से ही स्वीकारा जा सकता है, अनुमान द्वारा नहीं। इसलिए, वे सांख्य के अनुमान की निम्न प्रकार से आलोचना करते हैं; न तो प्रकृति, और न उसके विकार, महत्, अहकार, तन्मात्र इत्यादि प्रत्यक्ष द्वारा जाने जा सकते हैं, न वे अनुमान द्वारा ही जाने जा सकते हैं। सांख्यकार मानते हैं कि कार्य में वही गुण हैं जो कारण में होते हैं। कार्य रूप यह जगत्, सुख-दुःख मोहात्मक है, इसलिए, उसका कारण भी सुखः-दुखः और मोहात्मक स्वरूप होना चाहिए। इस पर स्वाभाविक प्रश्न, कारण गुणो का कार्य के साथ सम्बन्ध में खड़ा होता है। वे एक नहीं हो सकते,—कपड़े का श्वेतपन तन्तु से जिसका कि वह बना है, अभिन्न नहीं है, पदार्थ रूप से कार्य, कारण गुणों से एक नहीं है, क्योंकि सफेद और कपड़ा दोनों एक नहीं हैं। आगे, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि कार्य और कारण का तादात्म्य केवल यह अर्थ रखता है कि कार्य कारण के अधीन है, जैसे जब कोई

---

[1] वस्तु तस्तद् विशिष्टे विशेष्ये तद् विशिष्ट वृत्य भावे तच्छून्ये वृत्ति स्याद एव।
—वही, पृ० १७।

[2] न च घटवती भूतले वर्त्तमानाना गुणादिना घटेऽपि वृत्ते रदृष्टेः। तत्व मुक्ता कलाप, सर्वार्थ सिद्धि, पृ० १८।

कहता है कि कपड़ा-कार्य-कारण में समवाय सम्बन्ध से रहता है, अन्य किसी रूप से नहीं (अदृष्टेरेव तंतु-समवेतत्वात् पटस्य तत्गुणत्वोक्तिः), क्योंकि स्पष्ट उत्तर यह है कि सांख्य स्वयं समवाय सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करता, अवयव और अवयवी या पूर्ण और अंश में नितान्त भेद नहीं मानता। अगर ऐसा कहा जाता है कि अंत में कहने का तात्पर्य यह है कि कार्य कारण में रहता है, तो यह सूचन किया जा सकता है कि ऐसी स्वीकृति मात्र से कुछ लाभ नहीं होता, क्योंकि इससे, कारण प्रकृति में कार्य पदार्थ जैसे गुण क्यों होने चाहिए, यह नहीं समझाया जा सकेगा (न कारणावस्थस्य सुख-दुःखाद्यात्मकत्व-सिद्धि)। अगर यह माना जाता जाता है कि कार्य में, कारण जैसे गुण होते हैं तब भी यह इस सामान्य मान्यता के विरुद्ध है कि कार्य गुण कारण गुण से जनित हैं, और इसके अतिरिक्त, इस मान्यता का यह अर्थ होगा कि कार्य में कारण गुणों के सिवाय और कोई गुण नहीं होने चाहिए। यह भी नहीं कहा जा सकता कि कार्य कारण का सजातीय है (सजातीय गुणवत्त्वम्), क्योंकि सांख्यकार महत् का, कारण रूप प्रकृति से अस्तित्व भिन्न मानते हैं, एक भिन्न पदार्थ के रूप में मानते है (विलक्षण-महत्वाद्यधिकारणत्वाद्)। अगर ऐसा माना जाता है कि कार्य में केवल कारण के सदृश्य ही गुण होने चाहिए, तो इस स्वीकृति से ही यह माना जाएगा कि कार्य मे वैसे ही गुण हैं जो कारण में है, तो कार्य कारण में भेद ही नहीं रहेगा। यदि पुनः, यह माना जाता है कि कुछ ही विशेष गुण, जो कारण के अयोग्य नहीं है वे कार्य मे स्थानान्तरित होते माने जा सकते हैं, और गुणों का, कारण से कार्य में सचारण का सम्बन्ध, कारण के मुख्य गुण के विशिष्ट निरीक्षण से मर्यादित किया जा सकता है, तो ऐसे दृष्टान्त जिसमे जड़ गोबर से जीवित मक्खी उत्पन्न होती है, वे कार्य कारण के दृष्टान्त के रूप में नहीं समझे जा सकेंगे।[1]

सांख्यकार तर्क करते हैं कि यदि शुद्ध चैतन्य स्वभावतः जगत् के पदार्थों के प्रति झुकता है तो मुक्त होने का कोई अवसर ही न रहेगा। इसलिए, उसका सम्बन्ध, किसी अन्य मध्यस्थ पदार्थ द्वारा ही मानना पड़ेगा। यह इन्द्रियाँ नहीं हो सकतीं, क्योंकि मनस् उनके बिना भी जगत् के पदार्थों की कल्पना कर सकता है। जब मनस्, निद्रा में निष्क्रिय रहता है तब भी—वह अनेक पदार्थों के स्वप्न देख सकता है और इससे अहकार तत्व की पूर्व मान्यता ग्रहण करनी पड़ेगी और गाढ निद्रा में, जब अहकार का कार्य स्थिर माना जाय, तब भी श्वासप्रश्वास की क्रिया रहती ही है, जो एक दूसरे तत्व मनस् की, पूर्व मान्यता, की ओर ले जाती है। किन्तु जबकि इसका व्यापार सीमित

---

[1] मृत सुवर्णादिवत् कार्य विशेष व्यवस्थापक कारण स्वभाव साजात्य विवक्षायां गोमयं भक्षिकादि आरब्ध वृश्चिका दिषु व्यभिचारात्।

—तत्व मुक्ता कलाप, सर्वार्थ सिद्धि, पृ० २२।

है तो यह किसी अन्य कारण की पूर्व कल्पना को उपस्थित करती है, अगर इस कारण को भी सीमित माना जाता है तो अनवस्था स्थिति उत्पन्न होती है। सांख्यकार, इसलिए, इस पूर्व मान्यता पर रुक जाते हैं कि महत् का कारण असीम है और वह प्रकृति या अव्यक्त है। वेंकटनाथ का उत्तर यह है कि शुद्ध चैतन्य का, जगत् के विषयों के साथ सम्बन्ध, कर्म के साधनत्व से है। विचार-व्यापार की सम्भावना के कारण मनस् की एक पृथक् तत्व के रूप में अस्तित्व का अनुमान करना भी अशक्य है। क्योंकि मनस् की पूर्व कल्पना भी विचार-व्यापार को नही समझा सकेगी, क्योंकि मनस् स्वयं, विचार उत्पन्न कर सकता है जिसके विचार-रूप विकार हैं ऐसा नहीं माना जा सकता। स्वप्नावस्था में भी, स्वप्न समझाने के लिए, अहंकार की सत्ता को एक पृथक् तत्व के रूप में मानना आवश्यक नहीं है, क्योंकि वह मनस् को संस्कार के साथ रहकर कार्य-व्यापार से भी अच्छी तरह समझाया जा सकता है। गाढ़ निद्रा में श्वास-प्रश्वास-क्रिया, भी सामान्य जीव-पेशीय-व्यापार से समझाई जा सकती है, और इसलिए महत् की पूर्व कल्पना आवश्यक नही है।

यह भी सोचना मिथ्या है कि कारण, कार्य से अधिक अमर्यादित होना चाहिए, क्योंकि यह सामान्य अनुभव द्वारा प्रमाणित नहीं है, जिसमे एक बड़ा घड़ा, मिट्टी के छोटे परिमाण के पिंड से बनाया जाता है। यह भी सोचना मिथ्या है कि जो कुछ भी कार्य में रहता पाया जाता है वह कारण में भी होना चाहिए (नहि यद् येनानुगतं तत्तस्य कारणमिति नियमः), क्योंकि गाय मे जो भिन्न लक्षण पाए जाते हैं वे उसके कारण नही माने जाते। इसी मान्यता का यदि अनुसरण किया जाय तो हमें एक पृथक् कारण की अपेक्षा करनी पडेगी और प्रकृति के इस पृथक् कारण को प्रकृति के सामान्य गुणों तथा कार्य के विभिन्न विकारो की कल्पना करनी पडेगी। अर्थात् ऐसी स्थिति मे प्रकृति स्वयं का अलग कारण प्रतिपादित करना पड़ेगा। (व्यक्ताव्यक्त-साधारण-धर्माणां तदुभय-कारण-प्रसगात् तथा च तत्वाधिक्य-प्रसग.)। इस प्रकार यह तर्क कि कार्य मे कारणगत वे गुण-तत्व अवश्य होने चाहिए, जो उसमें अनुगत हैं, यह मिथ्या है। मिट्टीपन जो घड़े मे अनुगत है, वह घड़े का कारण नही है। पुनः यह तर्क कि जो पदार्थ कार्य-कारण-भाव से सम्बन्धित है उसका एक ही आकार होता है, यह भी ग़लत है, क्योंकि यदि यह सादृश्य तादात्म्य का अर्थ रखता है तो कार्य-कारण मे भेद नहीं किया जा सकता। अगर सादृश्य का अर्थ कुछ सादृश्य गुणों से है, तो ऐसा सादृश्य किसी अन्य पदार्थ से भी हो सकता है (जो कार्य-कारण रूप नही हैं)। पुनः, इसी उपमान का साख्य के पुरुष के सिद्धान्त पर प्रयोग करके (पुरुषों में चैतन्य का सामान्य गुण माना गया है), हम सांख्यकार को पुरुष का भी एक कारण मानने के लिए कह सकते हैं। आगे, दो घड़े गुण में एक सामान हैं इसी कारण से, वे एक ही मृत्पिंड से नही बने, और दूसरी ओर, हमारे पास ऐसे दृष्टान्त हैं, जिनमे, नितान्त भिन्न कारण से कार्य उत्पन्न होते हैं, जैसे गोमय से कीट। इस

प्रकार, हमारे सुख-दुःख और मोहात्मक अनुभव से यह अनुमित नहीं होता कि सुख, दुःख और मोह के लक्षणों का एक सामान्य कारण होना चाहिए, क्योंकि ये अनुभव, किसी एक निर्दिष्ट दृष्टान्त में, निश्चित कारण द्वारा समझाए जा सकते हैं, और इसलिए, त्रिगुण के लक्षणों का एक सामान्य कारण स्वीकारने की कोई आवश्यकता नहीं है, यदि, साधारण सुख-दुःखात्मक अनुभवों को समझाने के लिए, कारणरूप, एक सुख-दुःख-मिश्र-तत्व को कारण के रूप मे स्वीकारा जाता है, तो इस मिश्र-तत्व के बारे में फिर प्रश्न खड़ा हो सकता है, जो अनवस्था की ओर ले जायगा। यदि, तीन गुण जगत् के कारण माने जाते हैं, तो यह हमें, जगत् एक कारण से उत्पन्न है इसके स्वीकारने को बाध्य नहीं करेगा, क्योंकि यद्यपि, तीन गुण साम्यावस्था में हों, तो भी वे भिन्न प्रकार के कार्य उत्पन्न करने में निर्दिष्ट योग देते माने जा सकते हैं। इस प्रकार त्रिगुण या सांख्य की प्रकृति अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती। शास्त्र ही एक मार्ग है जिससे यह सिद्धान्त जाना जा सकता है। तीन गुण प्रकृति में स्थित हैं, और सत्व, रजस् और तमस् की क्रमिक प्रधानता के अनुसार, तीन प्रकार के महत् उत्पन्न होते हैं। इन तीन महत् से तीन प्रकार के अहंकार उत्पन्न होते हैं। पहले (सात्विक) अहकार से ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। अन्तिम (तामसिक) अहकार से, तन्मात्र (या भूतादि) उत्पन्न होते हैं। दूसरे प्रकार का अहंकार (राजसिक) ग्यारह इन्द्रियाँ और भूतादि उत्पन्न करने में सहायक रूप से कार्य करता है। कुछ ऐसा भी कहते है कि कर्मेन्द्रियाँ राजसिक अहकार से उत्पन्न होती हैं। यह स्वीकारा नहीं जा सकता, क्योंकि यह शास्त्र-विरुद्ध है। तन्मात्र, तामस अहकार और भूत की स्थूल तात्विक अवस्था के विकास की सूक्ष्म अवस्था है।[1] शब्द तन्मात्र (शब्द शक्ति) भूतादि से उत्पन्न होता है, और उसके स्थूल शब्द तत्व उत्पन्न होता है। पुनः रूप तन्मात्र (प्रकाश-ताप-शक्ति) भूतादि या तामस अहकार से उत्पन्न होता है और उससे स्थूल ताप-प्रकाश तत्व उत्पन्न होते हैं इत्यादि। लोकाचार्य कहते हैं कि तन्मात्र और भूत की उत्पत्ति के विषय मे दूसरा मत भी है जिसका शास्त्र में भी समर्थन प्राप्त होता है, इसलिए वह उपेक्षा का पात्र नहीं है। वह इस प्रकार है, शब्द तन्मात्र भूतादि से उत्पन्न होते हैं और आकाश शब्द तन्मात्र से उत्पन्न होता है, आकाश पुनः स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न करता है और इससे वायु उत्पन्न होती है, तेजस् मे रस तन्मात्र उत्पन्न होते हैं और इससे जल उत्पन्न होता होता है। जल से, पुनः गन्ध तन्मात्र उत्पन्न होते हैं और इससे पृथ्वी।[2]

---

[1] भूतानां व्यवहित-सूक्ष्मावस्था-विशिष्ट द्रव्यम् तन्मात्र दधिरूपेण परिणममानस्य पयसो मध्यमावस्थावद् भूतरूपेण परिणममानस्य द्रव्यस्य ततः पूर्वाकाचिद् अवस्था तन्मात्रा। —न्याय सिद्धांजन, पृ० २५।

[2] यह मत विष्णु पुराण में माना गया है, १-३-६६ इत्यादि। यहाँ स्पष्ट कहा है कि आकाश भूतादि स्पर्श तन्मात्र को उत्पन्न करते हैं। वरवर, लोकाचार्य-रचित

यह मत, वरवर द्वारा इस मान्यतानुसार समझाया गया है, जैसे एक बीज, तुषसहित, होने पर ही अंकुर उत्पन्न कर सकता है, इसी प्रकार तन्मात्र भी भूतादि के कोष में रहकर ही विकार उत्पन्न कर सकते हैं।[1]

उपरोक्त बोधार्थ के अनुसार विकासक्रम निम्न प्रकार है: भूतादि से शब्द तन्मात्र उत्पन्न होता है। फिर ऐसे शब्द तन्मात्र से स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न होते हैं जो शब्द तन्मात्र को आवृत करते हैं। शब्द तन्मात्र द्वारा आवृत स्पर्श तन्मात्र, आकाश की आवश्यक सहायता से वायु उत्पन्न करते हैं। फिर इस स्पर्श तन्मात्र से रूप तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। रूप तन्मात्र, बारी से, स्पर्श तन्मात्र को आवृत्त कर रूप तन्मात्र, वायु की सहायता से तेजस् उत्पन्न करता है। पुनः रूप तन्मात्र से रस तन्मात्र उत्पन्न होते हैं जो रस तन्मात्र को आवृत करते हैं। रूप तन्मात्र से आवृत रस तन्मात्र से तेज की सहायता से अप उत्पन्न होता है जो पुनः रस तन्मात्र से आवृत हो, पानी की सहायता से पृथ्वी उत्पन्न करता है।[2]

वरवर कहते है कि 'तत्व निरूपण' मे उत्पत्ति का दूसरा विकास-क्रम निम्न प्रकार दिया है। शब्द तन्मात्र भूतादि से उत्पन्न होता है उसकी स्थूल अवस्था से आकाश उत्पन्न होता है। भूतादि, शब्द तन्मात्र और आकाश को आवृत करता है। भूतादि से

'तत्वत्रय' पर अपनी टीका मे यह बताना चाहते हैं कि पराशर की टीका के अनुसार इसे तन्मात्र से तन्मात्र की उत्पत्ति के रूप मे समझाया है, यद्यपि यह विष्णु पुराण के व्यक्तार्थ का विरोध करता है जबकि उसमे भूतादि से तन्मात्र की उत्पत्ति मानी है। वे आगे और सूचित करते हैं कि महाभारत (शांति पर्व मोक्ष धर्म, अ० ३०) में १६ विकार और आठ कारण (प्रकृति) का वर्णन है। किन्तु, इस सोलह विकारो की गणना में (११ इन्द्रियां और पाँच पदार्थ-शब्द इत्यादि) पच तन्मात्र और पचभूत मे पृथक्कता नही की गई है, क्योंकि इन दोनों में, स्थूल, सूक्ष्म की अवस्था होने के कारण, मूल भेद नही है (तन्मात्राणां भूतेभ्यः स्वरूप-भेदाभावाद-वस्था-भेद-मात्रत्वात्)। इस बोधार्थ के अनुसार, आठ प्रकृति से तात्पर्य प्रकृति, महत् अहकार और पाँच भूत स्थूल रूप से है। सोलह विकारो में समाविष्ट पाँच पदार्थ तन्मात्र हैं, जो भूतों की मूल अवस्था के परिणाम माने हैं।

[1] यथा त्वक्-शून्य-बीजस्यांकुर-शक्ति र्नास्ति,
तथा वरण शून्यस्योत्तर-कार्य-शक्ति-र्नास्तीतिभानात्
कारण गुण विनोत्तरोत्तरगुणविशेषे षु···
स्व विशेष्योऽक्त-गुणातिशयानुपपत्तेः।

—'तत्वत्रय' पर वरवर का भाष्य, पृ० ३८।

[2] 'तत्वत्रय' पर वरवर भाष्य, पृ० ३९।

आवृत स्थूल आकाश की सहायता द्वारा परिणत शब्द तन्मात्र से, स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न होता है और ऐसे स्पर्श तन्मात्र से वायु उत्पन्न होती है। शब्द तन्मात्र फिर स्पर्श तन्मात्र और वायु, दोनों को आवृत करता है और वायु की सहायता द्वारा, परिणत स्पर्श तन्मात्र से, रूप तन्मात्र उत्पन्न होता है। रूप तन्मात्र से उसी प्रकार, तेजस् उत्पन्न होता है, इत्यादि। इस मत में, स्पर्श और अन्य तन्मात्रों की उत्पत्ति के लिए पूर्वगामी भूतों की सहायता आवश्यक पायी गई है।

वेंकटनाथ इस मत को स्वीकारते हैं कि आकाश का स्थूल भूत, पिछले भूतों को उत्पन्न करने में सहायक का कार्य करता है, इसलिए वे, तन्मात्रों के संयोग से स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है, ऐसे सांख्य मत की आलोचना करते हैं।[1] सांख्यकार पुनः सोचते हैं कि प्रकृति से भिन्न तत्वों की उत्पत्ति, अतःस्थित हेतु के कारण है, पृथक् कारकों के व्यापार से नहीं है। वेंकटनाथ, रामानुज के निष्ठावान् अनुयायी होने से, इसका खण्डन करते हैं और यह प्रतिपादन करते हैं कि प्रकृति का परिणाम-क्रम, स्वयं ईश्वर के प्रेरक व्यापार द्वारा ही हो सकता है।

(ग) अवयवी और अवयव के संबंध में न्याय परमाणुवाद का खण्डन

अवयव एक दूसरे से सबधित रहकर अवयवी को बनाते हैं, और अन्त में अविभाज्य परमाणु सयुक्त होकर एक अणु बनाते हैं, न्याय के इस मत का खण्डन करने में, वेंकटनाथ निम्न तर्कों का प्रयोग करते हैं। अवयवों के संयोग द्वारा (अणु से आरम्भ होकर) अवयवी का अवयवो के साथ सयोग का जहां तक प्रश्न है, वेंकटनाथ को इस पर कोई आक्षेप नहीं है। उनका आक्षेप, अणु के बनाने में, परमाणु के सयोग की सम्भावना के विरोध में है। यदि परमाणु अपने अवयव द्वारा सयुक्त होते हैं तो इन अवयवो के अन्य अवयव होने की कल्पना की जा सकती है और इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। यदि वे अवयव, अवयवी से भिन्न नहीं माने जाते हैं, तो भिन्न परमाणु, उसी अणु के देश में रहते हैं, ऐसा भली प्रकार माना जा सकता है, और इस प्रकार, वे घटक परमाणु से अधिक बृहत्तर परिणाम की राशि उत्पन्न नहीं करेंगे। और यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि अवयव की उपस्थिति के बिना अवयवी कैसे बन सकता है। इसी तर्क को लेकर, यदि परमाणु का सयोग, बृहत्तर परिमाण की उत्पत्ति को नहीं समझा सकता, तो राशिभूत होकर भिन्न

---

[1] सांख्यस्तु पंचापि तन्मात्राणि साक्षात्तमसाऽहंकारोत्पन्नानि तत्र शब्द तन्मात्रं आकाशारम्भकमितराणि तु तन्मात्राणि पूर्व-पूर्व-तन्मात्र-सहकृता-न्युत्तरोत्तर-भूता-रम्भकानित्या हुः, तदसत्। आकाशात् वायुरित्याद्यन्यथा सिद्धापादान-क्रम-विशेषा-भिधान-दर्शनात्।

—न्याय सिद्धांजन, पृ० २५-२६।

परिमाण के पदार्थ (पर्वत, या राई का बीज) की सम्भावना समझ के बाहर ही हो जायगी। यदि ऐसा कहा जाता है कि अवयव, परमाणु के भिन्न पार्श्वों को लक्ष्य करते हैं, तब भी, यह भी कहा जा सकता है अवयव-रहित परमाणु में पार्श्व हो नहीं सकते।

ऐसा माना गया है कि, ज्ञान, एक होते हुए भी, अनेकों को लक्ष्य कर सकता है, यद्यपि वह अखंड है। इस संबंध में यह आग्रह किया जा सकता है कि, यदि वह सभी पदार्थों को एक साथ लक्ष्य करता है तो घटक तत्व, पृथक् रूप से लक्षित नहीं होंगे, और वह पदार्थों को भी पृथक् अंशों में लक्ष्य नहीं करेगा, क्योंकि तब बुद्धि स्वयं अखंड (निरवयव) न होगी। नैयायिक भी, इसी सादृश्य को लेकर आग्रह कर सकते हैं कि आदर्शवादी इस कठिनाई का जो भी हल कर पाएँगे, वह परमाणुवाद के भी उपयुक्त होगा। इस पर आदर्शवादी का स्पष्ट उत्तर यह है कि ज्ञान के विषय में, अनुभव यह सिद्ध करता है कि वह एक और अखंड होते हुए भी अनेकों को लक्ष्य कर सकता है, पर नैयायिकों के पक्ष में ऐसा कोई लाभ नहीं है, क्योंकि नैयायिक यह नहीं मानते कि अवयवी कभी भी बिना अवयव के संयुक्त हो सकता है। बौद्ध मत के संघातवाद के प्रति यह आक्षेप नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि संघात संयोग से नहीं बनता है। परिच्छिन्न का विभु के साथ संबंध के विषय में नैयायिक आक्षेप तो करते देखे जा सकते है, किन्तु ऐसा संबंध मानना पड़ेगा, क्योंकि नहीं तो आत्मा या आकाश का पदार्थों के साथ संबंध मानना पड़ेगा, क्योंकि आत्मा या आकाश का पदार्थों के साथ संबंध समझाया नहीं जा सकेगा, यह भी नहीं माना जा सकता कि विभु पदार्थ के अवयव है। इसलिए अन्ततः यह मानना पड़ता है कि अखंड विभु पदार्थ का परिच्छिन्न वस्तु से संबंध है, और यदि उनकी प्रक्रिया मान ली जाती है, तो वही अवयव-रहित परमाणु के संयोग को भी समझा सकता है। इस पर वेंकटनाथ का उत्तर है कि विभु का परिच्छिन्न पदार्थों के साथ संबंध का दृष्टान्त हमारे सामने तभी प्रस्तुत किया जा सकता है जब हमने अवयवी में कुछ निर्दिष्ट गुणों के खण्डन की कोशिश की होती, किन्तु हमारा मुख्य उद्देश्य नैयायिकों की इस असंगति को बताना है कि सभी अवयवी के संयोग, तथाकथित निरवयव परमाणु के संयोग द्वारा होने चाहिए। वास्तव में, मूल, निरवयवी परमाणु की मान्यता में रही है। यदि ऐसा माना जाता है कि अणु का विभाजन अंत में, अवयव-रहित परमाणु पर ही हमें ले जायगा, तो इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि अवयवों के विभाजन से हम निरवयव पर नहीं जा सकते, और अच्छा यही होगा कि त्रसरेणु को ही सबसे छोटे अंश के रूप में मान लिया जाय। अगर ऐसा कहा जाता है कि सारे त्र्यसरेणु ही परमाणु है, तो वह अदृश्य होगा, स्पष्ट उत्तर यह है कि परमाणुत्व और अदृश्यता में साधारणतया ऐसी व्याप्ति नहीं है। अच्छा उपाय यही है कि त्रसरेणु को ही भूत का अन्त्य परमाणु मान लिया जाय। इसलिए, द्व्यणुक को भी मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

वेंकटनाथ, और आगे, अवयव से अवयवी के बनने के सिद्धान्त पर आक्षेप करते हैं, और बताते हैं कि यदि इसे स्वीकारा जाता है तो पदार्थ का भार परमाणु के भार से होना चाहिए, किन्तु नैयायिकों के अनुसार परमाणु में भार नहीं माना गया है। योग्य मत, इसलिए, यह है कि कार्य, या तथाकथित अवयवी, अवयव की परिणत या विकार अवस्था मानी जाय। इस मत के अनुसार कारण-व्यापार का कारण पदार्थ की दशा में परिवर्तन करना न्याययुक्त हो जाता है और कार्य में या अवयवी में नया पदार्थ उत्पन्न करना युक्त नहीं होता, जैसाकि नैयायिक मानते हैं। पुनः अवयव से अवयवी उत्पन्न होने के विषय पर विचार करते समय जब तन्तु पट का कार्य माना जाता है तो यह देखा जा सकता है कि उत्पत्ति के क्रम में एक तन्तु के बाद दूसरे के संयोग द्वारा कई नई विभिन्नताएँ प्राप्त होती हैं। ऐसे प्रत्येक योग से एक नया अवयवी बनता है, जबकि क्रम कहीं भी समाप्त किया जा सकता है, और ऐसे मत में दूसरा अवयवी उत्पन्न करने के लिए अवयवी में अवयवों का योग करना पड़ता है। यह स्पष्ट ही न्याय मत से विरुद्ध है, जो उस सिद्धान्त का समर्थन नहीं करेगा जिसके अनुसार अवयव का अवयवी से जोड़ करने से ही दूसरा अवयव उत्पन्न होता है। नैयायिक आग्रह करते हैं कि यदि अवयवी को अवयव से पृथक् नहीं माना जाएगा और अवयवी परमाणु के संयोग से अन्य कुछ नहीं है यह समझा जाएगा, तो परमाणु अदृश्य होने से अवयवी भी अदृश्य रहेगा। स्थूल अवयवी के उत्पादन की अस्वीकृति से तथाकथित यह स्पष्टीकरण, कि परमाणु में स्थूलता का भ्रम है, भी अस्वीकृत हो जायगा।[1] प्रश्न अब यह है कि स्थूलता का क्या अर्थ है। अगर इसका अर्थ नया परिणाम है तो वह रामानुज मत में स्वीकृत है, जिसमें पृथक् अवयवी की उत्पत्ति नहीं मानी है, क्योंकि जिस प्रकार परमाणुवादी, परमाणु से नए अवयवी का उत्पन्न होना सोचेंगे, उसी प्रकार रामानुज भी नए परिमाण की उत्पत्ति मान लेंगे। यदि नैयायिक इस पर आक्षेप करते हैं और यह आग्रह करते हैं कि परमाणु से नया परिमाण उत्पन्न नहीं हो सकता तो उनसे पूछा जा सकता है कि वे फिर पृथक् पदार्थों के समाहार के बहुत्व के प्रत्यय को किस प्रकार समझाएँगे, जिनमें से प्रत्येक स्वयं में एक माना जा सकता है। यदि ऐसा कहा जाता है कि बहुत्व के रूप में संख्या का प्रत्यय विविधता को ग्रहण करना, मन की दोलायमान स्थिति से उत्पन्न होता है, तो यह भी तर्क किया जा सकता है कि ऐसी दोलायमान स्थिति के अभाव में पृथक्कता ग्रहण नहीं की जा सकती, जिससे स्थूल परिमाण का प्रत्यय उत्पन्न नहीं हो सकेगा। इसके अतिरिक्त, इस तथ्य में कोई असंगति नहीं है कि यदि अवयव अदृष्ट हो, पर अवयवी दृष्ट हो। यदि स्थूलता का अर्थ, पृथक् अवयव द्वारा अधिक देश वेष्टित

[1] स्थूल-द्रव्याभावे चाणु-संहतौ स्थूलत्वाध्यासो न सिद्ध्येत्।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ४६।

करना है, तब भी यह अस्वीकृत है, क्योंकि छोटे अंशों के समाहार में, वे भिन्न देशिक इकाई वेष्टित करते माने जाते हैं। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि जब कोई पृथक् अवयवी उत्पन्न होते नहीं माने हैं इसलिए स्थूल परिमाण दृष्ट नहीं होता, तो स्पष्ट उत्तर यह होगा कि स्थूलता के ज्ञान का अवयवी के ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है। द्वयणुक की उत्पत्ति होने से पहले भी, संयोग करते परमाणु, अपने व्यक्तिगत रूप से समष्टि रूप से अधिक देश वेष्टित करते मानने पड़ेगें, नहीं तो वे अपनी समष्टि से बृहत् परिमाण उत्पन्न नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार, अवयव से पृथक् अवयवी की उत्पत्ति मानने का कोई कारण नहीं है। तन्तु के विशिष्ट प्रकार के संयोग में, जिसमें नैयायिक सोचते हैं कि कपड़ा उत्पन्न होता है, रामानुजवादी सोचते हैं कि तंतु उसी दशा में कपड़ा है और कोई पृथक् कपड़े की उत्पत्ति नहीं होती।[1] किन्तु यह नहीं सोचना चाहिए कि पदार्थ की दशा में थोड़े से भी परिवर्तन से वह नया पदार्थ बन जाएगा, जहाँ तक कि वह पदार्थ पर्याप्त रूप से इतना अपरिवर्तित है कि वह वैसा ही है, ऐसा व्यवहार-दृष्टि से जाना जाता है। रामानुजवादियों के अनुसार कारण-व्यापार, वर्तमान में अस्तित्व रखने के कारण पदार्थ में, केवल दशा और अवस्था का नया परिणाम ही लाता है। यह इस प्रकार सांख्य के सत्कार्यवाद से भिन्न है, जिसके अनुसार कार्य, कारण-व्यापार के प्रारम्भ होने से पहले ही, कारण में रहता है, वेंकटनाथ इसलिए सांख्य के सत्कार्यवाद का खण्डन करते हैं।

(घ) सांख्य के सत्कार्यवाद का खण्डन

सांख्य, कार्य (घड़ा) कारण (मिट्टी) में पहले से ही विद्यमान रहता है ऐसा सोचने में गलती करते हैं, क्योंकि यदि ऐसा होता है तो कारण-व्यापार निरर्थक होता है। सांख्य यह अवश्य कह सकता है कि कारण-व्यापार, कारण में जो अव्यक्त है उसे प्रकट करता है, कारण-व्यापार का कार्य, इस प्रकार प्रकट करना है, उत्पन्न करना नहीं है। यह तो मिथ्या है, क्योंकि प्रकटीकरण (व्यंग) और कार्य ये दो भिन्न प्रत्यय वाले, दो भिन्न शब्द हैं। व्यंग, व्यक्त करने वाले कारक के व्यापार से ही केवल, सहकारी के सहयोग से, पदार्थ को, किसी देश में, किसी विशिष्ट इन्द्रिय के लिए प्रकट कर सकता है, जहाँ प्रकट करने वाला कारक अस्तित्व रहता

---

[1] यदि संसृष्टास्तन्तव एव पटस्ततस्तन्तु राशि मात्रेऽपि पटधीः स्यादित्याह संसर्गदिरिति। नहि त्वयाऽपि तंतु-संसर्ग-मात्रम् पटस्यासमवायि-कारण-मिष्यते तथा सति कुविन्दादि-व्यापार-नैरपेक्ष्य-प्रसंगात् अतो यादृश संसर्ग विशेषादवयवी तवोत्पद्यते तादृश-संसर्गविशिष्टास्तन्तवः पर इति कातिप्रसंगः।

—ख्याति प्रसंगः, सर्वार्थ सिद्धि, पृ० ४८।

है ।[1] यह पहले सिद्ध किया जाएगा कि पूर्व विद्यमान कार्य व्यक्त होता है उत्पन्न नहीं होता, तभी कारण-व्यापार की उपाधियों के विषय में यह जिज्ञासा उपयुक्त होगी कि वे व्यंजक, कारक की आवश्यक उपाधियाँ सतुष्ट करती हैं या नहीं। किन्तु सांख्य ऐसा सिद्ध करने में सफल नहीं हो सकते। सांख्यकार कहते हैं कि कार्य, कारण-व्यापार के पहले ही अस्तित्व रखता है, किन्तु कारण-व्यापार स्वय ही कार्य है, और यदि उनका पहला कथन सत्य है तो वह जब कार्य अव्यक्त था तब अविद्यमान था। यदि कारण-व्यापार, कारण के अस्तित्व के समय भी था, तो कार्य भी, कारण में व्यक्त रूप से उपस्थित रहा होगा। सांख्य कहते हैं, असत् की उत्पत्ति नही हो सकती, और इससे यह अर्थ निकलता है कि वस्तु सत् है क्योंकि वह उत्पन्न की जा सकती है, जो, स्पष्ट रूप से स्वबाधित है। कार्य, कारण में पूर्व से ही सत् है यह मत, अन्तिम आश्रय के रूप में मान लिया जा सकता था यदि अन्य मत उपलब्ध न होते, किन्तु कारण का सामान्य विचार, नियत अनन्यथा सिद्ध के रूप मे उत्पत्ति के प्रसग को भलीभाँति समझा जा सकता था यदि अन्य मत उपउब्ध न होते, किन्तु कारण का सामान्य विचार, नियत अन्यथासिद्ध के रूप मे उत्पत्ति के प्रसंग को भलीभाँति समझा जा सकता है। इसलिए, ऐसे निरर्थक सिद्धान्त की कोई आवश्यकता नही है। पुनः कार्य, कारण से, अव्यक्त शक्ति से अन्यथा कुछ नही है ऐसा मानने के बदले, यह कहना और अच्छा होगा कि कारण में ऐसी शक्ति है कि जिससे वह विशिष्ट दशाओं मे कार्य उत्पन्न कर सकता है।[2] पुनः उपादान और सहकारी कारण के विषय में सोचा जाय कि यदि वे प्रयत्न प्रेरित करते हैं, जैसाकि वे सचमुच करते हैं तो उन्हे भी कार्य की अव्यक्त स्थिति के रूप में स्वीकारना चाहिए। किन्तु, सांख्यकार इसे नही स्वीकारते, क्योंकि उनके अनुसार उपादान कारण ही अव्यक्त कार्य माना गया है। नही तो, पुरुष भी, जो प्रयोजनवत्ता की दृष्टि से, जगत् का उपादान कारण माना गया है, उसे प्रकृति का अंश मानना पड़ेगा। पुन. नष्ट करने वाले कारक देखिए। क्या नष्ट करने वाले कार्य नष्ट करने वाले कारण में पहले से है ? ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि वे एक दूसरे से नितान्त विरुद्ध हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो वह उसे नष्ट नहीं कर सकता।[3] यदि ऐसा नही है और यदि वह नाशक से नष्ट हो जाता है, तो सब कुछ सब कुछ से नष्ट हो सकता है।

---

[1] कार्य-व्यग्य-शब्दौ च व्यवस्थित-विषयौ लोके दृष्टौ कारक-व्यंजक-भेदाच्च कारकं समग्रमपि एकमुत्पादयति व्यजकतु सहकारि-सम्पन्नं समानेंद्रिय-ग्राह्यम् समानदेश-स्थानि तादृशानि सर्वाण्यपि व्यनक्ति। —वही, पृ० ५५-५६।

[2] यथा सर्वेषु द्रव्येषु तिला एव तैल गर्भाः स्वकारण शक्त्या सृज्यंते तथा तत्तत् कार्यं नियत पूर्व भाविनया तत्तद् उत्पादका स्वभावास्ते ते भावास्तथैं वेति स्वीकार्यम्। —सर्वार्थ सिद्धि, पृ० ५६।

[3] नाशकेषु च नाश्य-वृत्तिरस्ति न वा। अस्ति चेत् वह्नौ तूलवद् विरोधः, न चेत् कथं तदैव तस्य नाशकम्। —वही, पृष्ठ ६०।

उपादान कारण के कार्य के बारे में यह बताया जा सकता है कि जिसमें से कार्य उत्पन्न किया जाता है (तज्जन्यत्व) ऐसी उसकी परिभाषा नहीं दी जा सकती, क्योंकि तब निमित्तकारण का भी उपादान में समावेश हो जाएगा। उसे विकार भी नहीं कहा जा सकता (तद्विकारत्व), क्योंकि तब कार्य, कारण का केवल गुण ही होगा, और कार्य और कारण में भेद न रहेगा। किन्तु हम देखते हैं कि पट तन्तु से भिन्न है।[1] यदि कार्य कारण से अभिन्न इस कारण माना जाता है कि यद्यपि कार्य कारण में कोई संयोग नहीं हो सकता तो भी पहला दूसरे से कभी बाह्य नहीं है, तो उत्तर यह है कि जिस मत के अनुसार कार्य पदार्थ नहीं है तो वहाँ संयोग आवश्यक नहीं है और यदि वह कारण का गुण है तो वह कभी उसके बाहर नहीं है।[2] कार्य एक अभिव्यक्ति है इस मत पर, यह पूछा जा सकता है कि ऐसी अभिव्यक्ति नित्य है या स्वयं भी कार्य है। पहले विकल्प में, अभिव्यक्ति के लिए कारण-व्यापार की आवश्यकता नहीं रहती। दूसरे विकल्प में, यदि अभिव्यक्ति, एक पृथक् कार्य माना जाता है तो यह सत्यकार्यवाद का अंश में त्याग के समान होगा। यदि अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति के लिए, कारण-व्यापार आवश्यक है, तो अनवस्था-स्थिति उत्पन्न होगी। इसके अतिरिक्त, अभिव्यक्ति को ही कार्य माना जाता है, तो जबकि वह पहले नहीं था, उसका उत्पन्न होना सत्कार्यवाद का त्याग होगा।

ऐसा आग्रह किया जा सकता है कि कार्य की उत्पत्ति कार्य जैसे स्वरूप से नहीं है, क्योंकि हमेशा यही कहा जाता है कि कार्य उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार, कार्य उत्पत्ति से भिन्न है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाता है तो फिर कार्य व्यक्त हो सकता है इसे मान लेने में क्या कठिनाई है ? यदि उत्पत्ति शब्द अधिक, न्याय-युक्त समझा जाता है, तो उसके विषय में भी यही प्रश्न हो सकता है कि उत्पत्ति उत्पन्न की जाती है या व्यक्त होती है, पहले अर्थ में अनवस्था दोष उत्पन्न होता है और दूसरे में कारण-व्यापार की अनावश्यकता। अभिव्यक्ति के विषय में भी वही कठिनाई है कि वह उत्पन्न की जाती है या व्यक्त और दोनों अवस्था में अनवस्था दोष आता है। इसका उत्तर यह है कि उत्पत्ति का अर्थ कारणों का व्यापार है और यदि वह व्यापार पुनः अपने कारण घटक के व्यापार से उत्पन्न माना जाता है और वह दूसरे, से, तो निस्सदेह अनवस्था ही आती है, किन्तु यह दोष-युक्त नहीं है और सभी को स्वीकृत भी है। जब, धागे में विशिष्ट प्रकार का चालन होता है तब कपड़ा बनता

---

[1] तद्धर्मत्व-हेतूक्त-दोषादेव उभयत्र पटावस्था तंत्वारभा नभवति तन्तुभ्यो भिन्नत्वात् घटवदिति प्रतिप्रयोगस्य शक्यत्वाच्च। —सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ६०।

[2] तादात्म्य विरहेऽपि अन्यतरस्या द्रव्यत्वात् संयोगाभावः तद्धर्म-स्वभाव-त्वादेव अप्राप्ति-परिहारादिति अन्यथासिद्धस्य असाधकत्वात्। —वही, पृ० ६१।

है या अधिक अच्छी तरह कहा जाय कि ऐसे हलचल के पहले ही क्षण में जब धागे की कपड़े जैसी अवस्था प्राप्त होती है, हम कहते हैं कि कपड़ा उत्पन्न होता है।[1] इसी कारण हम कह सकते हैं कि कार्य उत्पन्न किया जाता है। ऐसी उत्पत्ति में फिर आगे उत्पत्ति नहीं है।

(ङ) बौद्ध क्षणिकवाद का खण्डन

बौद्ध मतवादी मानते हैं कि अर्थ-क्रिया-कारित्वाद यह सिद्ध करता है कि जो कुछ भी अस्तित्ववान् है वह क्षणिक है, क्योंकि वही कारण-क्षमता बार-बार उत्पन्न नहीं की जा सकती। इसलिए, प्रत्येक अर्थ-क्रिया या कार्य की उत्पत्ति के अनुसार, एक पृथक् पदार्थ मानना पड़ता है। जबकि क्षमता (अर्थ क्रिया कारित्व) दो भिन्न क्षणों में एक ही नहीं हो सकती, तो उन्हे उत्पन्न करने वाले पदार्थ भी एक नहीं होंगे। जबकि एक ही पदार्थ में भिन्न लक्षण, भिन्न क्षमता को लक्ष्य करते हैं, तो उनका एक ही पदार्थ में आरोपण करना भी मिथ्या है। इसलिए, एक क्षण में जितने भिन्न धर्म हैं उतने ही पदार्थ भी हैं। (यो तो विरुद्ध-धर्माध्यासवान् स स नाना)। इस पर वेंकटनाथ का यह उत्तर है, पदार्थ, भिन्न विरोधी धर्म से सम्बन्धित नहीं है और यद्यपि कुछ दृष्टान्तो मे, जैसेकि बहती नदी, या दीप-शिखा जैसे परिवर्तनशील पदार्थ अपरिणामी पूर्णता का भास उत्पन्न करते हैं किन्तु कुछ ऐसे भी दृष्टान्त हैं जिनमें हम अनुभव करते हैं कि एक ही वस्तु को हम देखते भी हैं और स्पर्श भी करते है ऐसी खरी प्रत्यभिज्ञा होती है। ऐसे दृष्टान्तो मे, सस्कार कार्य करते हो, इस तथ्य की इतनी अतिशयोक्ति नही करनी चाहिए कि हम प्रत्यभिज्ञा को केवल स्मृति-व्यापार ही मानने लग जाएँ। प्रत्यभिज्ञा में प्रत्यक्ष का आधिक्य है या नीचे स्तर पर हम उसे स्मृति और प्रत्यक्ष दोनो का सगठित कार्य कह सकते हैं। स्मृति प्रत्यभिज्ञा को दूषित कर देती है यह आक्षेप अयुक्त है, क्योंकि प्रत्येक स्मृति मिथ्या नहीं होती। यह भी कहना ठीक नही है कि स्मृति केवल व्यक्तिगत (स्वगत) व्यापार है, इसलिए बाह्य पदार्थ, का निश्चय नही करा सकती, क्योकि स्मृति, केवल व्यक्तिगत नही है किन्तु किसी वस्तु मे भूतकाल के बाह्य लक्षी काल-धर्म को निर्दिष्ट करती है। पुनः बौद्ध मतवादी कहते हैं कि एक वस्तु मे अनेक धर्मों का संयोग मिथ्या है। क्योकि प्रत्येक धर्म बिन्दु, क्षणिक तत्व का कार्य (अर्थ क्रिया कारित्व) सूचित करती है, और इसलिए प्रत्यभिज्ञा मे अनेक धर्मों का सयोग सदोष है। इस पर वेंकटनाथ उत्तर देते हैं कि यदि प्रत्यक्ष क्षणिक इकाई, स्वय ही कार्य उत्पन्न करने मे समर्थ है, तो उसे यह

---

[1] यदाहि तंत्वादयः व्यापि यन्ते तदा पट उत्पाद्यते इति व्यवहरन्ति आद्यक्षरण वच्छिन्न-पटत्वास्थैवथा पटोत्पत्तिरुच्यते सैव तदवस्थस्योत्पत्तिरिति भाष्यमपि तदभिप्राय मेव।
—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ६२।

अपने स्वभाव से ऐसा करना चाहिए, और दूसरे सहयोगियों की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उसी सादृश्य का अनुसरण करते हुए किसी भी एक क्षणिक ईकाई की स्वलक्षणता, किसी अन्य क्षण की अन्य स्वलक्षणता से एक नहीं होगी, और इस प्रकार तादात्म्य का विचार असम्भव हो जाएगा और हमें शून्यवाद पर ले जाएगा। इसलिए, प्रत्येक धर्म, तत्व के अनुरूप पृथक् वस्तु होना चाहिए यह सोचना भूल है।[1] बौद्ध मतवादी ऐसा आगे आग्रह करते पाए गए हैं कि प्रत्यभिज्ञा का अनुभव, भूतकाल के क्षण का वर्तमान से तादात्म्य करता है, जो असम्भव है। वेंकटनाथ का उत्तर है कि यद्यपि भूतकाल को वर्तमान से जोड़ना अनर्थक है, किन्तु उन्हें, भूतकाल में जो वस्तु रह चुकी है, और जो वर्तमान में विद्यमान है, उससे सम्बन्धित करना असगत नहीं है।[2] यह सत्य है कि भूतकाल को वर्तमान में स्वीकार करना स्वविरोधी है, किन्तु प्रसग का सच्चा रहस्य यह है कि एक ही काल भिन्न उपाधियों से अनेक दीखता है। ऐसे प्रसंगों में, एक दूसरे द्वारा उपाधिगत कालक्षणों को भिन्न उपाधियों से सम्बन्धित करना व्याघात उत्पन्न करना है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भिन्न उपाधि और काल का उल्लेख अस्वीकार्य है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो, क्षणों की अनुक्रम-परम्परा का विचार भी अस्वीकार्य होगा, जबकि क्षण-परम्परा का विचार पूर्व और अपर को अनुमित करता है और वह किसी न किसी प्रकार, भूत, वर्तमान और भविष्य को एक साथ जोड़ देता है। यदि वह स्वीकारा नहीं जाय तो क्षणिकत्व का सिद्धांत त्याग देना पड़ेगा।[3] यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि क्षण-सम्बन्धित का अर्थ कोई भी वस्तु की अपने आप की स्वलक्षणता है, तो उससे कोई नया ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार, भूतकाल का वर्तमान से सम्बन्ध, कालिक विरोध की ओर नहीं ले जाता।

पुनः बौद्ध ऐसा आग्रह करते देखे गए हैं कि प्रत्यक्ष, वर्तमान क्षण को ही लक्ष्य करता है। यह हमें भूतकाल का ज्ञान नहीं दे सकता। इसलिए हमारा यह भ्रम

---

[1] विरुद्धानां देशकालाद्यसमाहित-विरोधत्वेन स्वलक्षणस्यापि विरुद्धघात क्षुण्णतया नानात्वे तत्क्षोदानां च तथा-तथा क्षोदे किंचिदपि एकं न सिध्येत् तदभावे च कुतो नैकम् इति माध्यमिक मतापातः। —सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ६६।

[2] काल-द्वयस्याऽन्योन्यस्मिन्नभावेऽपि तदुभय-सम्बन्धिनि वस्तुन्यभावाभावात्यस्तु तस्मिन् वस्तुन्यसम्बन्ध कालः तस्य तत्र सद्भावं न ब्रूमः।

—वही, पृ० ६८।

[3] पूर्वापर काल योगो हि विरुद्धः स्वेनोपाधिनाऽवच्छिन्नस्यैकस्य कालस्या वान्तरोऽपाधिभिर्नानात्वेऽपि तत्तदुपाधिनामेव ततद्वान्तर-काल-द्वयान्वय-विरोधः अन्यापेक्षया पूर्वापरकालयोरन्यस्य विरुद्धत्वे क्षण कालास्यपि अन्यापेक्षया पौर्वापर्यात् तत्काल-वर्तित्वम् अपि वस्तुनो विरुद्ध्येत। —वही।

है कि विद्यमान वस्तु ही वर्तमान में प्रवृत्त हो रही है, क्योंकि यह वासना व्यापार के कारण है जो भूत और वर्तमान में भेद नहीं करता, और वह सीप में रजत की तरह भूत में वर्तमान को आरोपित करता है। वेंकटनाथ उत्तर देते हैं कि प्रत्यक्ष वर्तमान क्षण में, वस्तु के अभाव के विरोध के रूप में ही केवल वस्तु की उपस्थिति सिद्धि करता है, किन्तु इस कारण वह वस्तु की भूतकाल की सत्ता का निषेध नहीं करता। जिस प्रकार 'यह' वर्तमान क्षण में वस्तु की उपस्थिति बताता है, प्रत्यक्ष अनुभव 'वह यह है' वस्तु के भूत और वर्तमान में स्थायित्व को सिद्ध करता है।[1] यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि प्रत्यक्ष, अपने विषय को वर्तमान पदार्थ के रूप में प्रकट करता है, तो बौद्धों का यह मत कि प्रत्यक्ष निर्विकल्प है, और वह वस्तु को, काल-धर्म से विशिष्ट वर्तमान वस्तु के रूप में प्रकट नहीं कर सकता, खण्डित होता है। यदि यह आग्रह किया जाता है कि प्रत्यक्ष प्रकटीकरण के क्षण में, वस्तु की सत्ता प्रकट करता है, तब भी यह बौद्ध मतानुसार असम्भव है, क्योंकि क्षणिक पदार्थ जो इन्द्रिय से संबंधित था, वह ज्ञान होने के समय पहले ही नष्ट हो गया है। इसलिए, किसी भी प्रकार बौद्ध मतवादी माने, वह यह सिद्ध नहीं कर सकते कि प्रत्यक्ष वस्तु को वर्तमान के रूप में प्रकट कर सकता है, रामानुज मत में जबकि इन्द्रिय-सन्निकर्ष, उससे संबंधित पदार्थ और उससे संबंधित काल-क्षण निरन्तर हैं और मानसिक अवस्था भी निरन्तर है और इसलिए प्रत्यक्ष जिस वस्तु से इन्द्रिय-संबंध था उसे ही प्रकट करता है। इन्द्रिय-सन्निकर्ष का अन्त होने पर भी, जिस पदार्थ से इन्द्रिय-सन्निकर्ष था, उसके ज्ञान को सूचन करती, मानसिक दशा जानी जाती है।[2]

पुनः, यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि जो कुछ भी किसी से नियत रूप से उत्पन्न होता है वह कारण-व्यापार की अपेक्षा बिना, निरपेक्ष रूप से उत्पन्न होना चाहिए, तो ऐसा कहना चाहिए कि जब पत्ते और फूल उगते हैं तब वे बिना उपाधि के उगते हैं, जो निरर्थक है। इसके अतिरिक्त जब क्षणिक पदार्थों की श्रेणी में एक पदार्थ दूसरे का अनुसरण करता है तो कारण की अपेक्षा रखे बिना ही ऐसा करना चाहिए, तब एक तरफ जबकि पूर्ववर्ती तत्व को पदार्थ को कोई विशिष्ट कार्य नहीं पूर्ण करना पड़ता तो वह अर्थ-क्रिया-रहित रहेगा और इसलिए नहीं सा होगा, और दूसरी तरफ जबकि प्रत्येक उत्तरगामी तत्व, किसी कार्य की अपेक्षा बिना उद्भव होता

---

[1] यथा इदमिति तत्काल-सत्ता गृह्यते तथा तदिदमहति काल-द्वय-सत्वमपि प्रत्यक्षेणैव गृहीतम्। —सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ६९।

[2] अस्मन्मते त्विन्द्रिय-सम्प्रयोगस्य तद्विशिष्ट वस्तुनस्तदुपहित कालांशस्य च स्थायित्वेन धी-क्षणानुवृत्तौ तद्-विषयतया प्रत्यक्षोदयात् सम्प्रयोगान्तरक्षणे धीरपि निवर्त्यते। —वही, पृ० ७०।

है, वह पूर्व क्षण में भी उत्पन्न हो सकता है, यदि ऐसा है तो परम्परा नहीं रहेगी। पुनः ऐसा तर्क किया जाता है कि जब जो कुछ उत्पन्न होता है वह अवश्य नष्ट होता है, इसलिए विनाश निरुपाधिक है, और बिना अपेक्षा के होता है। निषेध (अभाव) निरुपाधिक तभी हो सकता है जब वह भावत्व से अनुमित है जो वास्तव में उत्पन्न नहीं किया जाता किन्तु वह प्रत्येक भावत्व से संबंधित है (जैसे, गाय, घोड़े का अभाव अनुमित करती है)। किन्तु जो अभाव उत्पन्न होते हैं वे उन्हें जिस प्रकार, एक कारण भाव पदार्थ को उत्पन्न कर सकता है ठीक उसी प्रकार अभाव भी उत्पन्न होने के लिए उन पर आश्रित है जैसाकि लकड़ी के प्रहार से घड़े के नष्ट होने का दृष्टान्त है। अगर ऐसा तर्क किया जाता है कि लकड़ी का प्रहार कोई भी नाश उत्पन्न नहीं करता, किन्तु घड़े के टुकड़ो के रूप में अस्तित्व की एक नई परम्परा उत्पन्न करता है तो ऐसे भी अनेक दृष्टान्त है (दीप शिखा का बुझा देना) जिनमें नई परम्परा के उदय होने का कोई स्पष्टीकरण नही है। यदि तर्क किया जाता है कि निषेध (अभाव) कुछ भी नही है (शून्य) है और तुच्छ पदार्थ की तरह किसी कारण पर आश्रित नहीं है, जैसे, आकाश-पुष्प, ऐसा स्पष्टीकरण निरर्थक रहेगा, क्योंकि अभाव या विनाश अस्तित्ववान् पदार्थ की तरह काल से मर्यादित है, इसलिए तुच्छ पदार्थ से भिन्न है (प्रतियोगिवदेव नियत-कालतया प्रमितस्य अत्यंत तुच्छता योगात्)। यदि अभाव को तुच्छ के बराबर माना जाए तो अभाव उतना ही अनादि हो जाएगा जैसा तुच्छ पदार्थ है, और यदि ऐसा हो तो सभी अनादि होने के कारण कोई भाव पदार्थ न रहेगा। यदि अभाव तुच्छ है, तब भी अभाव के समय भाव पदार्थ रह सकता है, क्योंकि अभाव तुच्छ होने से किसी को मर्यादित नही कर सकेगा और यह पदार्थों की नित्यता के बराबर होगा जो बौद्ध क्षणवादियों को अस्वीकार रहेगा। यदि अभाव केवल विशिष्ट निर्दिष्ट धर्म-रहित ही है तब वे स्वलक्षण पदार्थ के समान हो जाएँगे जो विशिष्ट निर्दिष्ट धर्म-रहित हैं। यदि वे सर्व-धर्म-रहित होते (सर्व-स्वभाव-विरह) तो ऐसी प्रतिज्ञा (विभावना) जिसमें विधेय रूप से उनका स्वीकार किया जाता है, उसमें उनका कोई स्थान नहीं रह सकेगा। यदि यह कहा जाता है कि अभाव वास्तव में धर्मवान् है, तो उसमें यह धर्म होने से उसमें कोई धर्म नहीं है ऐसा नहीं होगा। यदि ऐसे अभाव पूर्वकाल में अस्तित्व नही रखते तो उनकी उत्पत्ति किसी कारण-व्यापार पर आश्रित रहेगी। यदि पूर्वकाल में उनका अस्तित्व है, तो कोई भाव पदार्थ न रहेगा (प्राक् सत्वे तु भावापह्नवः)।

यदि आग्रह किया जाता है कि कार्य-क्षण, कारण-क्षण के युगपद् है, तो भाव-पदार्थ और उसका नाश एक ही क्षण में होगा, और यदि ऐसा है तो फिर नाश, भाव पदार्थ के पहले क्यों न होवे। यदि विनाश, भाव पदार्थ की उत्पत्ति के उत्तर क्षण में होना माना जाता है तो नाश निरुपाधिक न रहेगा। यदि भाव-पदार्थ और उसके

नाश का क्रम, भाव-पदार्थ से सम्बन्धित है और उसकी उत्पत्ति से नहीं है, तब अस्तित्ववान पदार्थ नाश का कारण होगा। यह नहीं कहा जा सकता कि नाश अपने भाव से ही मर्यादित है, क्योंकि उसका अन्य सहकारी कारणों पर आश्रित होना, खण्डित नहीं किया जा सकता। ऐसा तर्क नहीं किया जा सकता कि क्षण की उत्पत्ति, उसका नाश भी है, क्योंकि यह स्वबाधित होगा। ऐसा कभी-कभी माना जाता है कि भेद का अर्थ नाश नहीं है, और इसलिए दूसरे धर्म वाले क्षणों के उदय होने का अर्थ पूर्व क्षणों का नाश होना नहीं है। इस प्रकार, क्षण का नाश एक पृथक् तथ्य मानना पड़ेगा, और इसलिए यह, क्षण की उत्पत्ति में ही समाविष्ट है और स्वभावज है।[1] इसका उत्तर यह है कि भिन्न धर्मयुक्त पदार्थ को भी पूर्व भावी पदार्थ का नाश मानना चाहिए, नहीं तो ऐसे भिन्न धर्म वाले पदार्थ के उदय का कारण देना असम्भव हो जायगा। यदि, पुनः नाश, पदार्थ का स्वरूप है, तो यह स्वरूप, वर्तमान पदार्थ के उदय होने के समय प्रकट हो सकता है और वह उसे अभाव की स्थिति पर ला देगा तो सभी वस्तु का सर्वव्यापी अभाव हो जायगा। यदि यह आग्रह किया जाता है कि एक पदार्थ अपना नाश स्वतः ही उत्पन्न करता है, तो नाश निरपेक्ष है यह मानना निरर्थक रहेगा कि वह अन्य किसी उपाधि पर आश्रित नहीं है, और यदि यह सोपाधिक है तो यह मानना निरर्थक है कि यह किसी अन्य अवस्था पर निर्भर नहीं करता क्योंकि इसे जानने का कोई साधन नहीं है। यदि यह मान लिया जाता है कि पदार्थ अपना स्वय नाश, सहकारी की सहायता से उत्पन्न करता है, तो क्षणिकवाद (खण्डित) व्यर्थ हो जाता है। यह पहले भी बताया गया है कि क्षणिकवाद का स्वीकार, स्पष्ट रूप से, प्रत्यभिज्ञा के प्रसग में बाधित होता है, जैसाकि हम विस्तार-सहित कह चुके हैं। पुनः जब क्षणिकवादी कहते हैं कि सभी वस्तु क्षणिक है, तो वे, कार्य-क्षण कारण क्षण द्वारा उत्पन्न होता है, इसे किस प्रकार समझा सकते है? यदि कारणता का अर्थ अनन्तर अनुक्रम से है, तो एक विशिष्ट क्षण में जगत्, पूर्व क्षण के जगत् से उत्पन्न होगा। समस्या यह है कि अनुक्रम का यह आनन्तर्य, स्वयं कार्यक्षण को उत्पन्न करने मे शक्तिमान् है या वह काल और देश रूप सहकारी की आवश्यकता रखता है। यदि ऐसे सहकारी अनावश्यक हैं, तो दैशिक सह-अस्तित्व या व्याप्ति से (जैसा धूम्र और आग मे है) अनुमान ग्रहण नहीं होना चाहिए। यदि ऐसे सहकारी की अपेक्षा है तो इसका अर्थ यह होगा कि जो कोई भी जिस देश की इकाई में उत्पन्न होता है उसका कारण भी उसी देश की इकाई और उसी काल की इकाई में रहा है।

---

[1] *यद् यतो भिद्यते न तत् तस्य ध्वंसः यथा रूपस्य रसः ध्वंसस्तु कस्यचिद् एव भवति इति तदात्मकः अतः स्वो त्पत्तावेव स्वात्मनि ध्वंसे सन्निहिते कथम् क्षणान्तरम् प्राप्नुयात्।*

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ७२।

इस मत के अनुसार, कार्य-क्षण, कारण के देश काल में होगा, और इस प्रकार, कारण-देश या कारण-काल, दो क्षणों में सह-अस्तित्व करेंगे। यदि यह मान लिया जाता है, तो क्षणिकवादी यह भी मान सकते हैं कि कारण दो क्षणों में प्रवृत्त रहता है। इसलिए, क्षणिकवादी जो प्रवृत्त काल और देश को नहीं मानता, वह यह भी नहीं मान सकता कि परम्परा क्षण से मर्यादित है। यदि यह कहा जाता है कि कारणक्षण अपना कार्य उसी देश और काल में प्रारम्भ करता है जिसमें वह स्थित रहता है, तो कारण कार्य-श्रेणी में ऐक्य नहीं रहेगा; और मान्यतानुसार दोनों की अपनी भिन्न क्षण-परम्पराएँ हैं। यहाँ एक दूसरे पर अध्यास हो सकता है किन्तु परम्परा की एकता नहीं हो सकती। यदि परम्परा की एकता नहीं मानी जाती है, तो यह अपेक्षा कि जिस प्रकार कपास के बीज को रंगने पर वह लाल हो जाता है और उसी प्रकार, नैतिक स्तर में जहाँ वासना है तहां-तहाँ उसका विपाक है, यह मान्यता निष्फल हो जाती है। कारण-क्षण और कार्यक्षण के सह-अस्तित्व में साधारण कार्य-कारण के सम्बन्ध में जो एकता की अपेक्षा की जाती है, वह एकता अनुमित नहीं होती और इसलिए यह कहना कठिन होगा कि इस कार्य का यह कारण है, क्योंकि क्षणिकवाद, कार्य और कारण के बीच सम्बन्ध को स्थापित नहीं कर सकता।

अब हम क्षणिकवाद के प्रत्यय का विश्लेषण करेंगे। इसके अर्थ ये हो सकते हैं–(१) एक पदार्थ, क्षण से सम्बन्धित है (क्षण-सम्बन्धत्व), या (२) काल-क्षण से सम्बन्ध (क्षण-काल-सम्बन्धत्वम्) या (३) क्षण मात्र तक ही अस्तित्व (क्षण-मात्र-वर्तित्व) या (४) दो क्षणों से सम्बन्ध का अभाव (क्षण-द्वय-सम्बन्ध-शून्यता) या (५) काल क्षण से अभिन्नता, क्षण-कालत्वं) या (६) क्षण-धर्म से निश्चित होना (क्षणोपाधित्वं)। पहला विकल्प अस्वीकार्य है, क्योंकि जो स्थायी पदार्थों को मानते हैं, वे भी, क्योंकि पदार्थ काल में स्थायी रहता है, इसलिए वह किसी एक क्षण से सम्बन्धित है यह स्वीकार करते हैं। दूसरा विकल्प भी अस्वीकार्य है, क्योंकि बौद्धवाद काल को क्षण से एक पृथक् पदार्थ नहीं मानते।[1] ऐसा मानने पर भी क्षण से पर काल को एक पदार्थ के रूप में वास्तव में मानना पड़ता है जो क्षणवाद को बाधित करता है। तीसरा विकल्प, प्रत्यभिज्ञा के अनुभव से बाधित होता है जो यह प्रमाणित करता है कि हम जिसे देखते हैं उसे स्पर्श भी करते हैं। चौथा विकल्प भी उन्हीं कारणों से अनुभव द्वारा बाधित होता है, और यदि कोई तथाकथित पदार्थ जो स्वयं क्षण नहीं है, वह दो काल क्षणों से सम्बन्धित नहीं है, तो वह केवल तुच्छ रूप से ही अस्तित्व कर सकता है, और अचम्भे की बात है कि बौद्ध मतवादी बहुधा सभी अस्तित्ववान् पदार्थों

---

[1] कालमेवानिच्छतस्ते कोऽसौ क्षणकाल: कश्च तस्य सम्बन्धः।

–सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ७४।

की तुच्छ से तुलना करते हैं।[1] पाँचवाँ विकल्प भी अमान्य है, क्योंकि जैसेकि एक पदार्थ एक देश में रहता हुआ उससे एक (अभिन्न) नहीं हो सकता, उसी प्रकार, वह काल से भी एक नहीं हो सकता जिसमें वह अस्तित्व रखता है और यह साक्षात् अनुभव से भी बाधित है। छठा विकल्प भी अस्वीकार्य है, इस कारण कि, यदि पदार्थ अपने स्वरूप में, काल की उपाधि से मर्यादित है तो काल-क्रम को समझाने के लिए हमारे पास कुछ भी नहीं है,[2] और हमारे सारे अनुभव जो ऐसे क्रम पर आधारित हैं वे बाधित हो जाएँगे। यदि पदार्थ काल में नहीं रहते हैं और चिह्न छोड़े बिना नष्ट हो जाते हैं (निरन्वय-विनाश), तो जगत् का साधारण अनुभव, जिसमें हम फल-प्राप्ति के लिए करते हैं, समझाया नहीं जा सकेगा। जिस मनुष्य ने कुछ कर्म किए हैं वह फल के लिए एक क्षण भी प्रतीक्षा नहीं करेगा। रामानुज-मत में आत्मा का स्थायित्व स्वचैतन्य से ठीक तरह समझाया गया है। यह मत कि ऐसा स्वचैतन्य आलय विज्ञान परम्परा में उत्पन्न, केवल उत्तरोत्तर क्षणों को लक्ष्य करता है, यह तो केवल वाद ही है जिसकी सिद्धि नहीं है, और ऐसा मत, सुप्रमाणित उक्ति से अचिरात् बाधित होता है कि एक व्यक्ति का अनुभव दूसरे के द्वारा स्मरण नहीं किया जा सकता (*नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः*)। आलय विज्ञान परम्परा के क्षणों का ऐच्छिक प्रत्ययों से सम्बन्ध जोड़ने का भी कोई रास्ता नहीं है।

यदि पदार्थों की क्षणिकता से अर्थ यह है कि वे क्षण से मर्यादित या विकृत होते हैं तब भी प्रश्न उठता है कि यदि वे स्वयं क्षणिक नहीं है तो वे क्षण उपाधि युक्त कैसे हैं? यदि क्षण उपाधि से यह अर्थ है कि कारण (संहति) समन्वय, केवल कार्य के पूर्व गामी क्षण का प्रतिनिधित्व करते हैं (कार्य प्रागभाव समन्वित) तो प्रतिवादी तर्क कर सकता है कि कारणों का एकीकरण (समाहार) एकीकृत होने वाले पदार्थों से भिन्न है या अभिन्न, यह आलोचना नहीं की जा सकती क्योंकि दोनों प्रसंगों में, जबकि पदार्थ, रामानुज-मत में, स्थायी होगा, इसलिए वह क्षण को उपाधि युक्त नहीं करेगा। उत्तर यह है कि एकीकरण न तो सम्बन्ध है और न सम्बन्धित पदार्थ हैं, क्योंकि शब्द 'एकीकरण' निर्दिष्ट रूप से प्रत्येक पदार्थ के लिए नहीं प्रयुक्त हो सकता, और इसलिए यह मानना चाहिए कि किसी उपाधि से सगृहीत कारण पदार्थ ही एकीकरण हैं। यदि ये पदार्थ उपाधिक्षण को निश्चित करते माने जाते हैं, तो उन्हें अवश्य ही स्थायी होना चाहिए। यदि ऐसा कहा जाता है कि एकीकृत करने वाली उपाधि,

---

[1] यस्मिन् नित्यता नास्ति कार्यतापि न विद्यते तस्मिन् यथा खपुष्पादाविति शक्यं हि भाषितुम्।

—वही, पृ० ७५।

[2] यदा हि घटादयः स्वरूपेण क्षणोपाश्रयः स्युः काल-तारतम्यः धीः कुत्रापि न भवेत्।

—वही।

क्षण उपाधि है तो उत्तर यह है कि उत्पत्ति संबंध करने वाली उपाधियां और निर्दिष्ट एकत्रित पदार्थ, दोनों के व्यापार से होनी चाहिए। इनमें से संबंध करने वाली उपाधियाँ क्षणिक नही हैं, और जबकि एकत्रित होने वाले पदार्थ सबंधित होने तक वर्तमान रहेंगे, वे भी क्षणिक नहीं होगे। इसलिए, ऐसा दीखता है कि क्षण की उपाधि, अन्तिम सहकारी या व्यापार है जो पूर्व पदार्थों या व्यापार को अपने साथ जोड़ती है, जिससे वह कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण की उपाधि की तरह बर्तती है। इस प्रकार, कुछ भी क्षणिक नहीं है। काल, स्वरूप से अमर्याद होने से उसे क्षणों के टुकड़ों में नहीं बाँटा जा सकता। तथाकथित क्षण किसी व्यापार या अस्तित्ववान् पदार्थ में ही, किसी व्यावहारिक कार्य के लिए, विशेष दशा या उपाधि के निर्दिष्ट करने के लिए ही, आरोपित किया जा सकता है, किन्तु पदार्थ जो अस्तित्व रखता है, वह काल में अस्तित्व रखता है इसलिए पूर्व और उत्तर क्षण की मर्यादा से ऊपर उठता है। इसलिए, यद्यपि काल की निर्दिष्ट इकाई, क्षण कही जा सकती है, अस्तित्ववान् पदार्थ, इसलिए, अपनी सत्ता के स्वरूप से क्षणिक नहीं है। क्योंकि बौद्ध, काल को नहीं मानते, इसलिए उनके क्षणिक समय को, जिसमें पदार्थ विद्यमान रहते हैं, क्षणिक कहना अनुचित है। प्रकृति स्वयं प्रत्येक क्षण में परिवर्तित होती है उनका यह मानना भी अनुचित है, क्योंकि वास्तव में यह स्थायी पदार्थ के अस्तित्व को मानना होगा, जिसमें विकार उत्पन्न होते है।[1]

अतः बौद्धों की यह मान्यता गलत है कि वस्तु का पूर्ण नाश होता है और वस्तु के किसी अंश का अस्तित्व नही रहता, (निरन्वय विनाश) जैसे दीप शिखा के बुझने पर उसका कोई अस्तित्व नही रहता, क्योंकि अनेक उदाहरणो से जैसे घट और पट के दृष्टान्तो द्वारा यह अनुभव होता है कि नाश से तात्पर्य केवल वस्तु की स्थिति का परिवर्तन मात्र है। अतः निरन्वय-विनाश अर्थात् पूर्ण नाश की मान्यता असिद्ध है। दीपशिखा के उदाहरण मे भी दीपशिखा का पूर्ण विनाश नहीं होता किन्तु उसका दृश्य स्वरूप अदृश्य रूप में केवल बदल जाता है। जब दीपशिखा बुझ जाती है तब भी शिखा (बत्ती) के गरम होने का अनुभव विद्यमान रहता है और शिखा की यह गर्मी दीपशिखा द्वारा धारण किए गए ऊँचे तापमान का अवशिष्ट ताप मात्र है। यदि निरन्वय-विनाश का सिद्धान्त माना जा सकता है तो इस प्रकार अवशेष तापमान की स्थिति का कोई अर्थ ही नही है। यदि इस उत्तर स्थिति से इन्कार किया जा

---

[1] सर्व-क्षणिकत्व साधयितुमुपक्रम्य स्थिर-द्रव्य-वृत्ति-क्षणिक-विकारवदिति कथं दृष्टांतयेम तेषु च न त्वदभिमतं क्षणिकत्वं प्रदीपादिवदाशुतर-विनाशित्व-मात्रेण क्षणिकतोक्तेः।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ७७।

सकता है तो उसकी पूर्व स्थिति के अस्तित्व को भी अस्वीकारा जा सकता है, और इस प्रकार इस तर्क से सामान्य अनस्तित्व की स्थिति हो जायगी।

(च) कारणतावाद के विरुद्ध चार्वाकों की आलोचना का खण्डन

कारणत्व की समस्या, सहज ही, कार्य और कारण के बीच काल-सम्बन्ध का प्रश्न उपस्थित करती है, अर्थात्, कार्य, कारण के पूर्व है या कारण कार्य के पूर्व है या दोनों युगपद् हैं। यदि कार्य कारण के पूर्व है तो वह अपने अस्तित्व के लिए कारण-व्यापार पर आश्रित न रहेगा और वह आकाश की तरह नित्य पदार्थ हो जायगा। यदि वह असत् है, तो किसी भी प्रकार से सत् नहीं किया जा सकता क्योंकि असत् की उत्पत्ति अशक्य है। यदि कार्य कारण के पूर्व उत्पन्न होता है तो वह तथाकथित कारण उसका कारण न होगा। यदि कार्य-कारण युगपद् हैं तो यह निश्चित करना कठिन होगा कि कौन कार्य है और कौन कारण है। यदि कारण कार्य के पूर्व है तो पुनः यह पूछा जा सकता है कि कार्य पहले विद्यमान था या उसके साथ था। यदि वह पहले विद्यमान है, तो कारण-व्यापार की आवश्यकता नहीं है और जो उत्तरकाल में होने वाला है तो जो पूर्व क्षण में उपस्थित था उससे सह अस्तित्व नहीं माना जा सकता। यदि कार्य का कारण से सह-अस्तित्व नहीं है, तो एक विशेष कारण एक विशेष कार्य उत्पन्न करे और दूसरा नहीं, इसे निश्चित करने वाला कौनसा संबंध होगा ? जबकि उत्पादन और उत्पादक समानार्थ नहीं हैं तो वह उससे भिन्न होना चाहिए। वह भिन्न होने से यह कहा जा सकता है कि उत्पादन का फिर आगे उत्पादन होना चाहिए, और फिर उससे दूसरा, और इस तरह यह अनवस्था पर पहुँचाएगा।

इन आक्षेपों के प्रति वेंकटनाथ का उत्तर है कि निषेध का स्वीकार से विरोध, एक ही देशकाल की इकाई के ही संबंध में युक्त हो सकता है। इसलिए, पूर्व क्षण में कार्य के अभाव का, उसके उत्तर क्षण के भाव से विरोध नहीं हो सकता। पूर्व क्षण के कारण का सम्बन्ध उत्तर क्षण के कार्य के साथ है यह साक्षात् अनुभव-गम्य है। ऐसा सम्बन्ध संयोग नहीं है किन्तु एक का दूसरे पर पूर्वापर रूप से निर्भर है जैसाकि अनुभव में देखा जाता है। उत्पादन, एक पृथक् तत्व होने से, उससे आगे उत्पादन की माँग करता है, इत्यादि, इस प्रकार की तार्किक आलोचना रामानुज-मत पर नहीं की जा सकती, यहाँ कार्य को, केवल कारण की परिणत अवस्था या दशा माना है। कार्य कारण पर इसी अर्थ में आश्रित है कि वह कारण की अवस्था के रूप में कारण से एक है।[1] तादात्म्य, से यहाँ अभिन्नता का अर्थ नहीं किन्तु भिन्न

---

[1] नहि वयं अभिव्यक्ति वा कारण-समवायादिकं वा जन्मेति ब्रूमः। किन्तूपादानावस्था-विशेष तस्य कार्यावस्था-सामानाधिकरण्य-व्यपदेश' तादात्म्येन तदाश्रय-वृत्तेः।
—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ८०।

होते हुए भी अभिन्न स्थिति से है। भेद में कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता, यह आक्षेप, हमारे कार्य-कारण-अनुभव से बाधित होता है, तथा अनेक अन्य दृष्टान्तों में बाधित होता है जैसेकि जब एक वक्ता अपने से भिन्न श्रोताओं में विश्वास उत्पन्न करने की कोशिश करता है। कारण में, कुछ व्यापार करने के गुण (किंचित्कर) होने से ही कारण कहलाता है और उस, कारणत्व के व्यापार के प्रति उसे दूसरा व्यापार उत्पन्न करना चाहिए और इस प्रकार अनवस्था दोष है, यह आक्षेप अप्रामाण्य है, क्योंकि कार्य उत्पन्न करने में, अनेक व्यापारो का अस्तित्व (जैसा अनुभव में देखा जाता है) अनवस्था दोष उत्पन्न नही करता, क्योंकि उन्ही व्यापारों को स्वीकारा जा सकता है जो अनुभव में प्रकट है। सहज उत्पत्ति के प्रसग में (द्वारान्तर निरपेक्ष) व्यापार-परम्परा मानने की आवश्यकता नही है क्योकि, कारण, नियत पूर्ववर्ती के रूप में साक्षात् अनुभवगम्य है। कारण क्योंकि कार्य उत्पन्न करता है इसीलिए कारण है, यह विचार कार्य की पूर्वसत्ता अनुमित करता है अत: कारण-व्यापार निरर्थक है यह आक्षेप अप्रामाण्य है, क्योकि कारणत्व का अर्थ कार्य के उत्पन्न होने के लिए अनुगुण व्यापार का होना है।[1] यह कार्य के पूर्व अस्तित्व को समाविष्ट नहीं करता क्योकि कार्य उत्पन्न करने वाले व्यापार का होना, कार्य को, एक सत् तथ्य के रूप में नही, किन्तु निरीक्षक चित्त में, पूर्व कल्पित तथ्य के रूप मे, लक्ष्य करता है। (कुर्वत्व-निरूपणं तु भाविनापि कार्येण बुद्धया-रोहिणा सिद्धेः)। यदि कार्य कारण के स्वरूप जैसा था तो वह पहले से वही होना चाहिए, और यदि वह नही था तो वह कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता, यह आक्षेप भी, संबध नियत (स्वभावतः) एक रूप है इस कल्पना के कारण (नियत-प्रतिसम्बन्धिक स्वभावता एव) अयुक्त है। कार्य-पदार्थ, कारण से सख्या एवं धर्म की दृष्टि से भिन्न है, किन्तु तो भी वे, पहला, दूसरे के साथ, एक दूसरे को निश्चित करते हुए आपस में सबधित हैं (अन्योन्य निरूप्यतया)। कारण-सहृति में पृथक् तत्व कार्य उत्पन्न नही कर सकते, इसलिए पूर्णरूप से सहृति भी कार्य उत्पन्न नही कर सकती, यह आक्षेप अयुक्त है, क्योकि व्यक्तिगत तत्वों की कार्य-क्षमता, उनके सयुक्त उत्पादन की क्षमता के रूप मे समझी गई है (समुदिताना कार्य-करत्वमेव हि प्रत्येकमपि हि शक्तिः)। यह एक और आक्षेप कि कारण, कार्य उत्पन्न करने में नष्ट हो जाता है, क्योंकि वह स्वय नष्ट होता है, इसलिए उसे कार्य उत्पन्न नही करना चाहिए, यह भी अयुक्त है, क्योकि कार्य के उत्पादन के लिए केवल कारण के पूर्व क्षण में अस्तित्व की ही आवश्यकता है। (पूर्वक्षण-सत्वमेव हि कारणस्य कार्योपयोगि)।

---

[1] भावी कार्यानुगुण व्यापार वत्वमेव कारणस्य कुर्वत्वम्।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ८१।

पुनः ऐसा आग्रह किया जाता है कि नियत-पूर्ववर्ती का प्रत्यय जो कारणत्व को निश्चित करता है, वह स्वय अनिश्चयात्मक है, क्योंकि अवस्थिति के रूप में काल में कोई अपना गुण नहीं है। इसलिए, पूर्वापरता अन्य उपाधि द्वारा निश्चित की जानी चाहिए और कारण-घटना को ही ऐसी उपाधि माना जा सकता है। यदि ऐसा है तो पूर्वापरता, जो इसमें कारण उपाधि से उत्पन्न होती मानी जाती है वह निश्चित करती नहीं मानी जाएगी। पुनः यदि उपाधि, अवस्थिति के रूप में काल को, परम्परा में विभक्त कर देती है, तो जबकि काल को विविक्त नही माना गया है, तो मानी हुई उपाधियों को पूर्वकाल को ही लक्ष्य करना होगा तो, इस प्रसंग से परम्परा न रहेगी। इसके अतिरिक्त, उपाधियाँ विशेष अवयवों को लक्ष्य करती हैं, तो पहले विविक्त काल को मानना पड़ेगा।[1] उपरोक्त आक्षेप का यह उत्तर कि यदि उपरोक्त तर्क के बल पर काल, परम्परा के रूप में स्वीकारा नही जाता, तो यदि वस्तुएँ काल मे हैं तो वे नित्य हैं और यदि नही हैं, तो वे तुच्छ हैं, अनर्थक है। आक्षेप करने वाला फिर कह सकता है कि सभी सामान्य, नित्य सत्तावान् होने से, पूर्वापरता कभी भी आपस में भी व्यक्तिगत रूप मे उससे सबधित नही की जा सकती। जहाँ रोहिणी नक्षत्र, कृत्तिका नक्षत्र के उदय से अनुमित किया जाता है, वहाँ पूर्वापरता इन दोनो के बीच नहीं है। इसका उत्तर अनुभव के आधार पर दिया जा सकता है कि विशेष धर्म रखने वाले तत्व, ऐसे अन्य विशिष्ट धर्म तत्व से उत्पन्न होते हैं जहाँ सामान्य और विशिष्ट मिलकर एक सयुक्त पूर्णता बनाते हैं—जो विशिष्ट तत्व हैं।[2] निर्दिष्ट कार्य से निर्दिष्ट कारण-सबध, उनमें नियत पूर्ववर्ती प्रसग के बहुत से अनुभवों से जाना जाता है, और यह, निर्दिष्ट कारण का निर्दिष्ट कार्य की एक रूपता सबध के विचार के विरोध को खण्डित करता है। कारण-बहुलता का विचार भी इसलिए इसी कारण से खण्डित होता है। जहाँ एक कार्य भिन्न कारणो से उत्पन्न होता देखा जाता है, वहाँ अनिरीक्षण या मिथ्या-निरीक्षण से ऐसा होता है। आप्त पुरुषो का सूक्ष्म निरीक्षण यह प्रकट करता है कि यद्यपि कुछ कार्य एक से दीखते हैं तो भी उनके व्यक्तिगत स्वरूप मे विशिष्टता है। इस निर्दिष्टता के कारण, उन्हे प्रत्येक के निश्चित कारण से सबधित किया जा सकता है। प्रागभाव स्वयं कार्य को निश्चित करता नही माना जा सकता, क्योकि यह अभाव अनादि होने से, कार्य उत्पत्ति के प्रसग को

---

[1] काले च पूर्ववत्वभुपाधि-कृतं सच उपाधियंद्ययमेव तदा तदधीन कालस्य पूर्व तत्वं कालाधीनञ्चोपाधे रित्यन्योन्याश्रयः। अन्यापेक्षायां चक्रकमन-वस्थापि कालस्य क्रमवदुपाधि-सबंध भेदाद् भेदश्च कृत्स्नैक-देश-विकल्प-दुःस्थ इति।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ८२।

[2] एतद्धर्मकादेतद्धर्मकमुपजातमिति जात्युपाधि-क्रोडीकृत-रूपेण व्यक्तिषु नियत-सिद्धेः।

—वही, पृ० ८३।

नहीं समझा सकता। इसके अतिरिक्त, ऐसे अभाव, किसी न किसी रूप में, अपने घटक के रूप में, उत्पन्न करने वाले कार्य को अनुमित करते हैं, नहीं तो वह कार्य का प्रागभाव नहीं कहा जायगा। यदि, एक कार्य, बिना कारण के विद्यमान रहता है, तो वह नित्य हो जायगा, और यदि वह बिना कारण असत् है तो वह तुच्छ है। यदि कार्य असगत रूप से उत्पन्न होता है, तो उसका अव्यवहित पूर्ववर्ती से, नियत एक रूप आश्रय नहीं समझाया जा सकेगा। इस प्रकार कारणत्व का सिद्धान्त चार्वाक द्वारा किए गए आक्षेपों से निर्दोष ठहरता है।

(छ) वेंकटनाथ के अनुसार इन्द्रियों का स्वरूप

नैयायिक सोचते हैं कि चाक्षुष इन्द्रिय के आठ तत्व उपादान कारण हैं, क्योंकि वह यद्यपि अन्य इन्द्रिय-सामग्री को नही देख सकती, तो भी रूप को दीप की तरह ग्रहण कर सकती है। इसी प्रकार तर्क करते हुए वे मानते हैं कि स्पर्श इन्द्रिय वायु तत्व से बनी है, रसनेन्द्रिय जल तत्व से, घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी तत्व से और श्रवणेन्द्रिय आकाश तत्व से बनी है। वेंकटनाथ का मुख्य आक्षेप, इस मत से है कि यहाँ इन्द्रियों को, अपने अनुगुण प्रत्यक्ष का विशिष्ट और अति महत्वपूर्ण साधन माना गया है, वे कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान में, ज्ञाता, विषय, प्रकाश, इन्द्रियाँ, इन्द्रिय-सन्निकर्ष, अवरोधों का अभाव और अन्य सहकारी, इस प्रकार एक साथ योग देते हैं कि केवल इन्द्रिय को ही महत्वपूर्ण कारण निर्दिष्ट करना असमव है। इन्द्रिय-शक्ति को इन्द्रियों से भिन्न भी माना जाय तो भी उन्हे अहकार का विशिष्ट प्रकार माना जा सकता है और इसके लिए शास्त्र-समर्थन भी है। चक्षु-इन्द्रिय रूप देख सकती है केवल इसी आधार पर यह तर्क करना कि यह इन्द्रिय-शक्ति, रूप-तत्व की बनी है यह मिथ्या है, क्योंकि केवल चक्षुष इन्द्रिय-शक्ति के कारण ही रूप का ज्ञान नही होता। चक्षु-इन्द्रिय का रूप ज्ञान मे अन्य सहकारी से अधिक प्राबल्य, जिससे कि उसकी रूप तत्व से समानता बतायी जा सकती है, सिद्ध किया नहीं जा सकता।

वेंकटनाथ आग्रह करते हैं कि जिन कारणों से पाँच ज्ञानेन्द्रियों को स्वीकारा जाता है वे ही पंच-कर्मेन्द्रियाँ और मनस् को भी स्वीकारने पर अग्रसर करते हैं। ज्ञानेन्द्रियों का कार्य एक विशिष्ट प्रकार का माना गया है, जिससे इन्द्रियाँ, विशिष्ट प्रकार से निर्दिष्ट दशा मे व्यापार कर सकती हैं, यही तर्क कर्मेन्द्रियों के लिए भी स्वीकृत है। वे सूक्ष्म शरीर से उतनी ही संबन्धित हैं जितनी ज्ञानेन्द्रियाँ है और कर्मेन्द्रियां, इस शरीर के साथ उत्पन्न हुई है और इसके नाश के साथ वे भी नष्ट हो जाएँगी, यह यादव प्रकाश का मत मिथ्या है।[1] मनस्, प्रकृति के विकार का एक

[1] न्याय सिद्धांजन, पृ० २४।

विभाग होने से, सर्वव्यापी नहीं हो सकता। जो नित्य होता हुआ, किसी पदार्थ का उपादान नहीं है, वह सर्वव्यापी है, यह तर्क मिथ्या है, क्योंकि यह शास्त्र-प्रमाण द्वारा बाधित होता है और रामानुज मतानुसार, परमाणु पदार्थ के चरम घटक नहीं हैं। पुन: यह भी तर्क कि जो विशिष्ट धर्म-रहित है, जैसे काल, वह सर्वव्यापी है यह भी अमान्य है, क्योंकि रामानुज-मतानुसार, कुछ भी विशिष्ट गुण-रहित नहीं है। इस प्रकार तर्क करना कि मनस् अति दूरस्थ अनुभवों को स्मरण कर सकता है इसलिए सर्वव्यापी है, यह भी दोषयुक्त है। क्योंकि ऐसा स्मरण, मन का निर्दिष्ट संस्कारों से संबंध होने के कारण है।

इन्द्रियों को सूक्ष्म या अणु मानना पडता है और तो भी अपने व्यापार से या दूसरी वस्तु से सम्बन्धित होकर, वे व्यापक रूप से कार्य कर सकती हैं।[1] इसी कारण, भिन्न मान के प्राणियों के देह में, वे ही इन्द्रियाँ इस व्यापार द्वारा, छोटे या बडे क्षेत्र पर फैल सकती है, नही तो हमें उन्हे वे जिस शरीर में कार्य करती हैं, उनके मान के अनुसार, छोटी या बडी हो जाती हैं, ऐसा मानना पडेगा। यदि मनस् विभु है, या यदि वह शरीर के मान मे व्यापक है, तो पाँचो इन्द्रियाँ एक ही क्षण में उदय हो जाएगी, वकटनाथ इन्द्रियो का स्थान अन्तःकरण मानते हैं जहा से वे अपनी-अपनी तत्रिकाओं मे से विशिष्ट इन्द्रियो की ओर गमन करती हैं।

इन्द्रियाँ वृत्तियो द्वारा कार्य करती है जो लगभग प्रकाश की गति से चलती हैं और विषय को ग्रहण करती हैं। इस प्रकार, वृत्तियाँ एक जगह से दूसरी जगह क्रम से कार्य करती है और उनकी तीव्र गति के कारण निकट और दूरवर्ती पदार्थों के सम्बन्ध में कार्य करती दीखती हैं, इससे ज्ञान युगपद् होता दीखता है। यही क्रम श्रवण ज्ञान के लिए भी युक्त है। जबकि रामानुज-सम्प्रदाय के अनुसार इन्द्रियाँ अभौतिक हैं इसलिए उनके व्यापार भी अभौतिक वर्णन किए गए हैं।[2]

---

[1] सिद्धेऽपि ह्यणुत्वे विकास तया वृत्ति विशेष द्वारा व्यापक प्रचयाद्वा पृथुत्वम् अंगीकार्यम्।

—सर्वार्थ सिद्धि, पृ० १८।

[2] साख्य मतानुसार जिसमे भी इन्द्रियाँ अभौतिक मानी गई है, वहाँ, वृत्ति, वस्तु से सम्बन्ध नहीं जोडती किन्तु वस्तु का आकर ग्रहण करती है। योग मत के अनुसार जैसाकि भिक्षु ने समझाया है, चित्त इन्द्रियो मे से जाता है और विषय के सयोग में आता है और इन्द्रियो से सम्बन्धित हो विषय के आकार में परिणत होता है। इसलिए परिणाम केवल चित्त का ही नहीं है किन्तु चित्त और इन्द्रियाँ दोनों का होता है।

(ज) वेंकटनाथ के अनुसार आकाश का स्वरूप

वेंकटनाथ, हमारे सुप्रमाणित अनुभवों के आधार पर, जैसाकि, संध्या समय नील या लाल आकाश तथा उसमें पक्षियों की गति देखते हैं—इस तथाकथित तथ्य को सिद्ध करने का विशद रूप से प्रयत्न करते हैं कि आकाश का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। वे इस मत को अस्वीकार करते हैं कि आकाश केवल हलचल द्वारा ही अनुमित किया जा सकता है, क्योंकि आकाश का अस्तित्व मोटी दीवारों में भी रहता है जहाँ हलचल असम्भव है। आकाश निरी शून्यता नहीं है, पशुओं की, उसमें अप्रतिहत गति से आकाश का अस्तित्व सिद्ध होता है। कुछ बौद्ध और चार्वाक तर्क करते हैं कि केवल चार ही तत्व हैं, आकाश केवल आवरणाभाव है। हम दीवार में आकाश नहीं देखते, किन्तु जब वह तोड़ दी जाती है तब हम कहते हैं कि हम आकाश देखते हैं। ऐसा आकाश, अवरोध के अभाव के सिवाय अन्य कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि यदि यह नहीं स्वीकारते तो कहीं भी अवरोध का अभाव न होगा, ऐसे सभी प्रसग आकाश की मान्यता द्वारा ही समझाए जाएंगे। यह अवरोध का अभाव, निरी शून्यता ही, मृगतृष्णा जैसी भावरूप वस्तु का भ्रम उत्पन्न करता है। ये अनुभव, इन प्रसगों में ठीक तरह से उद्धृत किए जा सकते हैं जहाँ दुःख का अभाव सुख के रूप में, और प्रकाश का अभाव नीले अंधकार के रूप में अनुभव होता है। हम इस तथ्य से सुपरिचित है कि भाषा-प्रयोग, कभी-कभी, वस्तु-शून्य विचार उत्पन्न करता है जैसेकि जब कोई कहता है "शश के पैने सींग।"

इस पर वेंकटनाथ उत्तर देते हैं कि पदार्थों का अस्तित्व अनुभव द्वारा ही समर्थित किया जा सकता है, और हमे सबको आकाश का भाव रूप अनुभव है। जिसे हम अभाव कहते हैं वह भी भाव पदार्थ है। यह कहना व्यर्थ है कि निषेधात्मक प्रत्यय, भावसूचक प्रत्ययों से भिन्न होते हैं, क्योंकि प्रत्येक निर्दिष्ट पदार्थ का निर्दिष्ट प्रत्यय रहता है, और ऐसा तर्क करना व्यर्थ है कि विशेष पदार्थ का अपना विलक्षण प्रत्यय क्यों होना चाहिए।[1] अभाव, जिसका अभाव स्वीकारा जाता है उसका प्रतियोगी है। आकाश की भावात्मकता, उसके भावात्मक अनुभव से सिद्ध है। किसी से व्याप्त जगह में आकाश नहीं है यह मत अयुक्त है, क्योंकि जब आवृत पदार्थ तोड़ दिया जाता है तब हम आकाश देखते हैं और हम उसके आवृत होने के अभाव को स्वीकारते हैं। इस प्रकार आवरणाकाश, भावात्मक आकाश में उसके उद्देश के रूप में स्वीकारा जाता है, क्योंकि हमारे आकाश के अनुभव से हम यह जानते हैं कि आकाश में आवरण नहीं

---

[1] नाभावयस्य निःस्वभावता अभावं-स्वभावतयैव तत्सिद्धेः स्वान्यस्वभावतया सिद्धिस्तु न कस्यापि, न चस्वेन स्वभावेन सिद्धस्य परस्वभावविरहादसत्व-मतिप्रसंगात्।
—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ११३।

है (इहावरणं नास्ति)। यदि यह नहीं स्वीकारा जाता, तो यहाँ कोई वस्तु है यह ज्ञान समझाया नहीं जा सकेगा, क्योंकि "यहाँ" शब्द का कोई अर्थ न रहेगा यदि वह केवल प्रभाव की अनुपस्थिति है। यदि, पुनः, आकाश, आवृत करने वाली वस्तु में अनुपस्थित है तो आकाश ऐसे पदार्थ की अनुपस्थिति है, ऐसी आकाश की व्याख्या करना अयुक्त होगा, जबकि कोई अपने आप में अस्तित्व नहीं रखता, तो उपरोक्त उपमा से प्रत्येक वस्तु अपना अभाव हो जायगी।[1] किसी समय आकाश में सतह का भ्रम उत्पन्न होता है यह भी इस कारण होता है कि वह एक वस्तु है जिस पर कुछ गुणों का अध्यास किया जाता है। यदि वह शून्य ही होता, तो उस पर मिथ्या गुणों का आरोपण नहीं हो सकता था। जब यह कहा जाता है कि दुःख का अभाव भ्रम से सुख माना जाता है, तब खरी बात यह है कि तथाकथित अभाव एक प्रकार की भावात्मकता ही है।[2] तुच्छ वस्तु के उदाहरण में जैसेकि शश के पैने सींग, यहाँ शश मे सींग स्वीकारे जाते है, और जब सींग ज्ञात होते है तब हमारे मन मे विचार होता है कि तीखेपन का प्रत्यय सच है या झूठ। तीखेपन का स्वीकार इसलिए केवल निषेध नहीं है। जब किसी मे मिथ्या तुच्छ विशेषण का निषेध किया जाता है, तब भी उस विशेषण को किसी उद्देश्य के रूप मे स्वीकारा जाता है जो सचमुच उसमें नही होता और इस प्रकार, ऐसे विचार में निरा शून्यत्व का मिथ्यात्व नही होता। जब कोई कहता है यहाँ कोई आवरण नहीं है, उसे, जहाँ आवरण नही है, या उसका निषेध किया जाता है उस निधान (केंद्र) को बताना होगा, क्योंकि निषेध, प्रतियोगी को अनुमित करता है। आवरण के निषेध का विधान शुद्ध आकाश होगा। यदि आवरण के निषेध का अर्थ नितान्त अभाव है (अत्यन्ताभाव) तो हम शून्यवाद में पड़ते हैं। यदि आवरण कही अस्तित्व रखता हो या कही हो, तो दोनो प्रसगो में आवरण की उत्पत्ति और विनाश को सिद्ध नही किया जा सकता, क्योकि सत् वस्तु न तो उत्पन्न ही की जाती है और न नष्ट की जाती है और असत् वस्तु भी कभी न उत्पन्न की जाती है और न नष्ट। इस प्रकार, इन तथा अन्य कारणों से, आकाश को, जो, न तो नित्य है और न विभु है, भाव पदार्थ मानना पड़ेगा, केवल आवरण का अभाव नही। दिक् या आकाश की दिशाएँ, उत्तर, दक्षिणादि को पृथक् तत्व नहीं मानना चाहिए, किन्तु वे आकाश हैं, जो दृष्टा और दृष्ट देश सम्बन्ध की भिन्न उपाधियों के सम्बन्ध के कारण, भिन्न प्रकार के दिक् दिखाई देते हैं।

---

[1] न चाकाशमात्रमावरणेऽस्वविद्यमानतया तदभाव आकाश इति चायुक्तं सर्वेषां स्वस्मिन्नविद्यमानतया स्वाभावत्व-प्रसंगात्।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ११४।

[2] दुःखाभावे सुखारोपात् अभावस्य भावान्यत्वमात्रमेव ह्यसत्वं सिद्ध तेन च स्वरूप-सन्नेवासी।　　　　—वही।

(भ) वेंकटनाथ के अनुसार काल का स्वरूप

काल नित्य और अनादि है, क्योंकि कोई भी प्रत्यय जिसमें काल की उत्पत्ति के बाबत विचार प्राप्त होता है यह अर्थ निकलता है कि काल, उत्पत्ति के पहले अविद्यमान था। इस दृष्टि से यह अनुभव सहज है कि इसमे पौर्वापर्य का विचार समाविष्ट है, और इस प्रकार यह माना जा सकता है कि काल की पूर्व-कल्पना के बिना, काल की उत्पत्ति का ज्ञान नहीं हो सकता। काल, सभी दृष्ट पदार्थों के गुण के रूप में, साक्षात् अनुभव-गम्य है। यदि काल को अनुभव-गम्य माना जायगा, तो जबकि वह, सभी दृष्ट वस्तुओं से निकट रूप से सम्बन्धित है, तो प्रत्यक्ष द्वारा काल की अनुपलब्धि का अर्थ यह होगा कि दृष्ट वस्तु भी साक्षात् ग्रहण नही होती है, किन्तु अनुमान-गम्य ही है। जो काल की पृथक् सत्ता नही मानते, वे भी इसे सूर्य की गति के सम्बन्ध से जनित असत् प्रत्यय के रूप में समझाते हैं। इस प्रकार, काल-प्रत्यय, चाहे सत् या असत् माना जाय, वह दृष्ट वस्तु का प्रकार या गुण ही समझा जाता है और साथ ही अनुभव किया जाता है। हमारे अनुभव के प्रकार के रूप में, जो कुछ भी पूर्वापर रूप से सोचा जाता है उससे अतिरिक्त कोई दूसरा काल है ही नही। यह तर्क किया जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा के अतिरिक्त, हमारे समस्त अनुभव वर्तमान से सम्बन्धित है, और इसलिए, विषयो के प्रत्यक्ष अनुभव मे पूर्वापर का विचार उपस्थित नही होता, जो काल का स्वरूप है इसलिए काल का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। इस पर यह विवाद सूचित किया जा सकता है कि जब विषयो का ज्ञान होता है तब वे वर्तमान हैं या नहीं ऐसा ज्ञान होता है या नही या वर्तमान का ज्ञान किसी भी वस्तु के बिना सयोग के होता है। ऐसा मत, मैं यह देखता हूँ, इस अनुभव से खण्डित होते हैं, यहाँ वस्तु, वर्तमान काल मे देखी जाती है, यही बात सिद्ध होती है। प्रत्यक्ष, इस प्रकार वस्तु एव उसके वर्तमान काल-धर्म, दोनों को लक्ष्य करता है। यह नही कहा जाता है, क्योंकि इस प्रसग में कम से कम, यह बताना पडेगा कि काल-धर्म कही तो अनुभव किया गया था या स्वतन्त्र रूप से जाना गया था। ऐसा तर्क किया जाता है कि इन्द्रिय-लक्षण, वर्तमान रूप से जाने जाते हैं, और यह वर्तमान का विचार भ्रम से काल पर थोपा जाता है। इस पर यह उत्तर दिया जा सकता है कि क्षणिक इन्द्रिय-लक्षणों की गतिमान् परम्परा में, किसी को 'वर्तमान' कहकर इगित करना असम्भव है, क्योंकि वे पूर्व और पर रूप से ही जाने जाते हैं, किसी को 'वर्तमान' कहते तक वह भूत हो जाता है। इसलिए वर्तमान रूप से कालक्षण सिद्ध नही किया जा सकता। यदि वर्तमान के रूप मे, काल किसी इन्द्रिय-लक्षण में स्वीकारा जाय, तो उसे काल में ही स्वीकारने में क्या हर्ज है? यदि काल अविद्यमान है तो फिर उसके आरोपण की पूर्व कल्पना करने से, क्या अर्थ है? यदि ऐसा माना जाता है कि काल का अध्यास केवल जिसमे उसे स्वीकारा जाता है उस वस्तु के बिना ही होता है, तब वह शून्यवादियों का अन्य दृश्याभासवाद ही होगा। रामानुज मतानुसार, किसी न किसी

प्रकार, काल में वर्तमान लक्षण देने की सम्भावना है, जिस प्रकार कि वह इन्द्रिय-गुणों के विषय में भी स्वीकृत है। यह नहीं कहा जा सकता कि काल इन्द्रियगम्य पदार्थों का ही लक्षण है, इन इन्द्रियगम्य पदार्थों से अन्य कोई और काल नहीं है : क्योंकि इन्द्रियगम्य पदार्थों का वर्तमान रूप कालगत धर्म, इसी प्राक् कल्पना से शक्य है कि वर्तमान काल जैसा कोई तत्व है। यदि 'वर्तमान' को अस्वीकारा जाता है, तो वह सर्वव्यापी अभाव हो जाएगा, क्योंकि भूत और भविष्य तो ज्ञात होते ही नहीं है। तदुपरान्त वर्तमान को भूत और भविष्य से भिन्न या असम्बन्धित और स्वतन्त्र है ऐसा नहीं सोचा जा सकता। यदि भूत और भविष्य से वर्तमान का अस्तित्व है, ऐसा माना जाता है, तो हमारे अनुभव का सम्बन्ध केवल भूत और भविष्य से होगा, और हमारे वर्तमान क्लेशों की कोई सम्भावना नहीं होगी। वर्तमान को इस प्रकार, व्यापार की परम्परा मानना चाहिए, जो आरम्भ हो चुकी है किन्तु उसका अन्त विपाक में नहीं हुआ है।

यद्यपि काल एक और नित्य है किन्तु अन्य पदार्थों की तरह, जो एक ही कहने पर भी, विभिन्न उपाधि सम्बन्ध के कारण, अवस्थांतर होने से, एक होते हुए भी अनेक दीखते हैं उसी प्रकार, काल भी मर्यादित और अनेक दीख सकता है। यद्यपि यह विचार मर्यादित काल को समझाने के लिए पर्याप्त समझा जाय, तो भी अन्य लोग सोचते हैं कि जहाँ तक काल, क्षणों का बना हुआ नहीं माना जाता, जिन क्षणों द्वारा परिवर्तनशील काल जाना जाता है वहाँ तक मर्यादा का विचार समझाने के लिए उपाधि सम्बन्ध असम्भव होगा। क्योंकि ऐसा सम्बन्ध काल में मर्यादा की वास्तविकता की पूर्व कल्पना ग्रहण करता है जिस पर ही केवल उपाधियों का सम्बन्ध हो सकता है। इस प्रकार, यादव प्रकाश मानते हैं, कि काल अनादि और अनन्त है, और वह क्षण द्वारा निरन्तर परिवर्तित होता रहता है, जिनके द्वारा काल का घटे, रात और दिन मे विभाजन हो सकता है, और जिनके द्वारा पुन., परिवर्तनशील पदार्थों के परिणाम नापे जा सकते हैं।[1] इस मत में, उपाधि प्रत्येक व्यक्ति के दृष्टिकोण से अपेक्षित है, व्यक्ति अतिक्रमण करते काल का संग्रह करता है और अपनी आवश्यकतानुसार, अपनी गणना की दृष्टि से, क्षण, घटे और दिन का विचार बनाता है। एक युक्त आक्षेप इस मत के विरुद्ध किया जा सकता है, जब यह बताया जाय कि अविभक्त काल में, उपाधि-गुणों के सम्बन्ध मे जो आलोचना की गई थी, वही इस मत के विरुद्ध भी की जा सकती है, क्योंकि यहाँ भी काल को क्षण रूपी अवयवों का बना माना है। क्योंकि यह बराबर कहा जा सकता है कि अवयव, उपाधि-गुणों से सम्बन्धित होने के

---

[1] यादव प्रकाशैरप्यभ्युपगतोऽयं पक्षः कालोऽनाद्यनन्तोऽजस्र-क्षण-परिणामी मुहुर्त्ताहोरात्रादि-विभाग-युक् सर्वेषां परिणाम-स्पंद-हेतुः।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० १४८–१४६।

लिए, और अवयवों की आवश्यकता रखेगा और यदि ऐसा है तो अनवस्था दोष उत्पन्न होगा और यदि ऐसा नहीं है तो यह मानना पड़ेगा कि पूरे क्षण की, उपाधि-गुण के सम्बन्ध के लिए अवयवो की निश्चितता की आवश्यकता नहीं रहेगी। यदि पूरे क्षण को, ऐसे सम्बन्ध के लिए, अवयवो की निश्चितता आवश्यक नहीं रहती, तो फिर पूरे ही काल की आवश्यकता क्यों होगी? द्रव्य में गुण के सम्बन्ध की उपमा के आधार पर उपाधि-गुण का यह स्पष्टीकरण (अविभक्त) भेद-रहित काल को भी उपयुक्त है। वेंकटनाथ बताते हैं कि विभिन्न उपाधि-गुणों के कारण, यद्यपि, क्षणों की कल्पना आगन्तुक है तो काल स्वयं नित्य है। नित्य का अर्थ कभी नष्ट न होना है। काल का इस प्रकार ईश्वर से सहअस्तित्व है। अपने विकारी के सम्बन्ध में वह एक उपादान कारण है और अन्य सभी के सम्बन्ध में निमित्त कारण है। ईश्वर सर्वव्यापी है यह शास्त्र कथन की सगति, काल का ईश्वर के साथ सहअस्तित्व मानकर, काल के सर्वव्यापी गुण से साधी जा सकती है।

(ट) वेंकटनाथ के अनुसार जीव का स्वरूप

वेंकटनाथ, पहले जीव की शरीर से भिन्नता, प्रतिपादन करने की कोशिश करते हैं और इस सम्बन्ध में सुविख्यात चार्वाक तर्कों का खण्डन करते हैं जिनके अनुसार जीव को शरीर से भिन्न नहीं माना है। वेंकटनाथ के तर्कों का मुख्य बल, हमारे उस अनुभव की साक्षी पर निर्भर है जिसमे हमे हमारा सारा शरीर और उसके अंग 'मैं' के अधीन है ऐसा अनुभव होता है, जैसे, जब हम कहते हैं 'मेरा शरीर' 'मेरा सर' इत्यादि। वे कहते हैं कि यद्यपि हमारे एक शरीर के अनेक अग हैं, और यद्यपि उनमें से कुछ नष्ट भी हो जाय, तो भी, इन परिवर्तनो के होते भी वे एक नित्य इकाई, आत्मा के अधीन माने जाते है जो सभी काल में स्थायी रहता है। यदि अनुभव अंगो का धर्म होता तो, किसी अंग के नाश से, उस अग से सम्बन्धित अनुभव स्मरण नही किए जा सकते, क्योकि यह माना नही जा सकता कि एक अग के अनुभव का दूसरे में संचारण होता है। माता के अनुभव का भ्रूण भी अंश भागी नहीं हो सकता। यह भी नहीं सोचा जा सकता कि भिन्न अगो के अनुभव किसी भी प्रकार से, संस्कार के रूप में, हृदय या मस्तिष्क में संगृहीत होते है, क्योकि इसका साक्षात् ज्ञान भी नहीं हो सकता, और न कोई आधार है जिससे यह अनुमान भी लगाया जा सके। इसके अतिरिक्त हृदय और मस्तिष्क में सस्कारों का अनवरत संग्रह होता है, ऐसा सघात प्रत्येक क्षण में, घटक रूप सस्कारो के क्षय और सग्रह के कारण, भिन्न होगा और इसलिए, ऐसे परिवर्तनशील तत्त्व द्वारा स्मृति को समझाना असम्भव हो जाएगा।[1]

---

[1] सर्वबोधेश्चे हृत्कोशे संस्काराधान मित्यपि, न दृष्टं न च तत् क्लृप्तो लिगं किमपि दृश्यते। न च सस्कार कोशस्ते संघातात्मा प्रतिक्षणं प्रचयापचयाभ्यां स्याद् भिन्नः स्मर्तात्र को भवेत्। —सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० १५३।

व्यक्ति का एकीकृत आचरण, चेतना के व्यक्तिगत इकाई की संख्या के सहयोग से है, ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसे प्रसंग में प्रत्येक का विशिष्ट हेतु होना चाहिए जो संघर्ष उत्पन्न करेगा, यदि हेतु नहीं है तो वे आपस में क्यों सहयोग दें। यदि ऐसा माना जाता है कि ये व्यक्तिगत चेतन घटक तत्व, स्वभाव से ही ऐसे हैं कि बिना संघर्ष उत्पन्न किए, एक दूसरे का अर्थ साधन करते हैं, तो अधिक सामान्य सम्भवता यह होगी, कि उनमें स्वाभाविक राग और द्वेष न होने से वे कार्य न करेंगे और इसके परिणामस्वरूप पूर्ण व्यक्ति के सारे कार्य बन्द हो जाएँगे। पुनः जब कभी पशु जन्मता है तो ऐसा देखा जाता है उसमे कर्म के प्रति कुछ सहज प्रवृत्ति होती है, जैसे, स्तनपान करना, जो उस दिशा में राग सिद्ध करती है और पूर्व जन्म के ऐसे अनुभव की मान्यता स्थापित करती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आत्मा, देह और उसके अगों से भिन्न और विविक्त है। पूर्व जन्म के अनुभव और संस्कार बौद्धिक शक्ति की विभिन्नता, अभिरुचि और प्रवृत्ति को समझाते हैं।[1]

यह भी नही माना जा सकता कि शरीर के भिन्न अगों की चेतना की इकाईयां इतनी सूक्ष्म और अव्यक्त हैं कि वे अपने व्यक्तिगत सामर्थ्य से व्यक्त नहीं हो सकती, तो भी वे पूर्ण व्यक्ति की चेतना के अभिव्यक्त करने में मिलकर सहयोग दे सकती हैं, क्योंकि छोटे से छोटे अणुरूप जीव में भी कर्म-प्रवृत्ति पाई जाती है। इसके अतिरिक्त यदि, शरीर के भिन्न अगों से उद्भूत चेतना-इकाईयाँ केवल अव्यक्त ही मानी जाती हैं तो यह मानना अनर्थक होगा कि वे केवल सगत रूप होने पर ही सचमुच चेतना उत्पन्न कर सकेंगी।

पुनः चेतना एक गुण है जिसे किसी आधार की आवश्यकता होती है जिसमें वह रह सके, किन्तु जिस मत मे चेतना को भौतिक माना जाता है, वहा द्रव्य और गुण का मूल भेद नही देखा जाता है।[2] यह भी नही माना जा सकता है कि चैतन्य कुछ शारीरिक तत्वो का विशिष्ट विकार मात्र है, क्योंकि यह तो केवल एक मत ही है, जो किसी भी अनुभव से प्रमाणित नही हो सकता। पुनः जो चार्वाक, अनुमान की प्रमाणता मानते हैं, उनसे आग्रह किया जा सकता है कि शरीर एक भौतिक सघात है और इन्द्रिय गुणों का केवल समाहार होने से, यह अन्य भौतिक पदार्थों जैसा भौतिक

---

[1] एव मनुष्यादि-शरीर-प्राप्ति-दशायामदृष्ट्-विशेषात्वपूर्वजन्मानुभव-संस्कार भेदैरेवम-भिरुचि-भेदाश्च युज्यन्ते।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० १५३–१५४।

[2] ननु चैतन्यमिति न कश्चिद् गुणः, यस्याधारो पेक्ष्यः किन्तु या सौ युष्माकं चैतन्य सामग्री सैव चैतन्य पदार्थः स्यात्।

—वही, पृ० १५४।

ही है, जबकि चेतना, स्वयं चेतन होने के कारण, शरीर से सर्वथा भिन्न होने से इससे भी भिन्न है। आत्मा को देह से संकीर्ण करता सामान्य भ्रम कई प्रकार से समझाया जा सकता है। आक्षेप करने वाला कह सकता है कि यदि 'मेरा शरीर' 'मेरा हाथ' इन विचारों से यह तर्क किया जाय कि आत्मा शरीर से भिन्न है, तो 'मैं स्वयं' इस अभिव्यक्ति से यह तर्क भी किया जा सकता है कि आत्मा की कोई और आत्मा है। इस पर वेंकटनाथ का उत्तर है कि 'मेरा हाथ' 'मेरा सर' ये कथन उसी प्रकार के हैं जैसेकि 'मेरा घर' और 'मेरी लकड़ी' है जहाँ दो वस्तुओं में भेद का स्पष्ट ग्रहण होता है। 'मैं स्वयं' ऐसे कथन एक भाषा-प्रयोग है जिसमें षष्ठी का प्रयोग कल्पना से ही समझाया जा सकता है, यह द्रष्टा के चित्त में, उस समय कहीं दो वस्तुओं के बीच काल्पनिक भेद प्रकट करता है, जिस पर वह उपाधिग्रस्त दृष्टिकोण से बल देता है। वेंकटनाथ मानते हैं कि चार्वाक और भी तर्क कर सकते हैं जिसका उपयुक्त उत्तर दिया जा सकता है।[1] तर्क और प्रति तर्कों की परम्परा देने के बजाय,

---

[1] चार्वाकों के और तर्क इस प्रकार हैं—

जब कोई कहता है, 'मैं एक मोटा आदमी जानता हूँ' तब यह कहना कठिन होता है कि मोटापन शरीर मे है और जानना किसी और में है। यदि कथन 'मेरा शरीर' का अर्थ यह है कि शरीर भिन्न है, तो 'मैं मोटा हूँ' यह कथन शरीर और आत्मा की भिन्नता सिद्ध करता है। जो प्रत्यक्ष अनुभव में है उसे खण्डित नही किया जा सकता, क्योंकि ऐसे प्रसग में, आग को भी ठंडा अनुमित किया जाएगा। प्रत्यक्ष शास्त्र-प्रमाण से अधिक बलवान् हैं इसलिए अपने अनुभव पर संदेह करने का कोई कारण नही है: इसलिए प्रत्यक्ष को सिद्ध करने के लिए अनुमान को लाने का कोई प्रयोजन नही है। सांख्य का तर्क, कि संघात का परिणाम, किसी अन्य पदार्थ को अनुमित करता है जिसके लिए यह संघात है (खाट सोने वाले को अनुमित करती है) निरुपयोगी है, क्योंकि दूसरे स्तर का पदार्थ जिसके लिए पहले स्तर का सघात उपयोगी है, उसके लिए अन्य तीसरा पदार्थ भी हो सकता है, और उसके लिए फिर कोई और, इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। इस अनवस्था को रोकने के लिए, साख्यकार सोचते हैं कि पुरुष को अन्य पदार्थ की अपेक्षा नही है। किन्तु पुरुष को चरम पदार्थ मान लेने के बजाए, शरीर पर ही रुक जाना अच्छा है, और शरीर को अपना हेतु मान लेना चाहिए। जीवित शरीर में आत्मा होनी चाहिए क्योंकि वह जीवित है यह तर्क अयुक्त है, क्योंकि शरीर से भिन्न मानी हुई आत्मा का हमें अन्य साधनो से अनुभव नही है। कोई यह भी कह सकता है कि जीवित शरीर में खपुष्प होना चाहिए क्योंकि वह जीवित है। चार्वाक अन्त में अपने तर्क को पूरा करते हैं और कहते हैं कि शरीर एक स्वचालित यन्त्र है जो किसी पृथक् तत्व के अधीक्षण की अपेक्षा

प्रति फलदायक मार्ग, शास्त्र-प्रमाण को स्वीकारना होगा, जो अपने स्वतः प्रामाण्य में, निश्चित रूप से एवं अर्थापत्ति द्वारा, शरीर से भिन्न, नित्य आत्मा की सत्ता प्रतिपादन करता है। शास्त्र की प्रमाणता, केवल कल्पित तर्क द्वारा खण्डित नहीं हो सकती।

ऐसा भी एक मत है कि चेतना इन्द्रियों का धर्म है, और भिन्न इन्द्रियों द्वारा ज्ञान उसी शरीर में एकीकृत होता है, और इसी कारण आँखों से देखा पदार्थ भी, वही है, जो स्पर्श द्वारा ग्रहण किया गया है ऐसा अनुभव शक्य है। दूसरा मत यह है कि ज्ञान इन्द्रियों का धर्म है, इन्द्रिय ज्ञान से संबंधित सुख-दुःख की संवेदनाएँ, एक व्यक्ति को, पृथक् पदार्थ के रूप में व्यवहार करने के लिए आकर्षित या प्रतिक्षिप्त कर सकती हैं जो दृश्य पदार्थ द्वारा आकर्षित या प्रतिक्षिप्त होता है। वेंकटनाथ ऐसे सिद्धान्त पर आक्षेप करते हैं कि यह हमारे इस मानसिक अनुभव को नहीं समझा सकते जिसमें हमें लगता है कि हम उसी पदार्थ को स्पर्श करते हैं जिसे हमने देखा है। इससे यह अनुमित होता है कि कोई एक पदार्थ है जो दो इन्द्रियों के ज्ञान से भी अतिरिक्त है, क्योंकि चक्षु और स्पर्शेन्द्रियो की मर्यादा, अपने निर्दिष्ट इन्द्रियगुणों को ग्रहण करने तक ही है, और दोनो मे से एक भी, भिन्न इद्रिय-गुणो द्वारा, वस्तु की एकता प्रतिपादन करने में असमर्थ हैं। वेंकटनाथ आगे कहते हैं, कि यह मत कि भिन्न इद्रियो के संस्कार हृदय मे इकट्ठे होते हैं और हृदय में अनुभवों के ऐसे एकीकरण द्वारा, वास्तविक व्यक्ति दीखना है, यह अयुक्त है, क्योकि शरीर के अन्दर संस्कारो के एकीकरण का ऐसा केन्द्र हमें जानने मे नहीं आता है, और यदि, शरीर में ऐसा केन्द्र स्वीकारा जाता है तो पृथक् आत्मा को, जिसमें संस्कार समाविष्ट हैं, मानने में कोई हानि नहीं है।[1]

चेतना को भी आत्मा नही माना जा सकता क्योंकि चेतना अनुभव है और इसलिए वह किसी व्यक्ति में उसके पृथक् और विविक्त रूप में होनी चाहिए। गतिशील चेतनावस्थाओ में ऐसा कुछ भी नही है जो चिरस्थायी है, जो अपने मे भूत और वर्तमान अवस्थाओ को एकीकृत कर सके और द्रष्टा या व्यक्ति का विचार उत्पन्न कर सके। इसलिए, यह मानना चाहिए कि स्वचेतन अहं है जिसमें समस्त ज्ञान और अनुभव

बिना, अपने आप कार्य करता है, और वह एक विशिष्ट भौतिक परिणाम है (अनयाधिष्ठित-स्वय-वाहक-यंत्रन्यायाद् विचित्र-भूत-परिणति-विशेष-सम्भवोऽय देह-यंत्रः)।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० १५७।

[1] स्वादिष्ठ संस्कार कोशे मानाभावात्, अनेकेषामहयर्थाना में शरीर योगे च ततश्च वरन् यथोपलम्भमेकस्मिन्नहम् अर्थे सर्वसंस्काराधीनम्।

—सर्वार्थ सिद्धि, पृ० १६०।

समाविष्ट हैं। ऐसा अहं, इस अर्थ में, स्वप्रकाश है कि अपने द्वारा स्वयं प्रकट है, वह केवल ज्ञान का अधिष्ठान ही नहीं है। ऐसा स्वप्रकाश्य अहं गाढ़ निद्रा में भी विद्यमान है और हमारे 'मैं सुखपूर्वक सोया' इस उत्तरकाल के स्मरण से प्रमाणित होता है और वह किसी अनुभव से बाधित नहीं होता। जब कोई किसी को 'तुम' या 'यह' कहकर पुकारता है, तब भी, उत्तरकाल मे अहं 'मैं' के रूप मे स्वप्रकट है। ऐसा अहं आत्मा को लक्ष्य करता है, जो सच्चा कर्त्ता, सुख-दुःख का अनुभविता और ज्ञाता है और सच्चा नैतिक कर्त्ता है, और इसलिए वह, अपनी जैसी दूसरी आत्मा से, निर्दिष्ट कर्म और उनके फल की ओर ले जाते विशिष्ट प्रयत्नों के कारण भिन्न है। व्यक्ति के प्रयास, पूर्व-जन्म के कर्म के फलों से पूर्व-निश्चित होते हैं, और ये उससे पूर्व जन्म के कर्मों से। जो यह कहते हैं कि प्रयास, अप्रयास की ओर ले जाता है, वे अपना ही विरोध करते हैं क्योंकि व्यवहार, कर्म, प्रयास की सफलता पर आश्रित हैं। वे ही प्रयत्न, जो असंभव की प्राप्ति की ओर या उन पदार्थों की ओर किए जाते हैं जिसमे प्रयास की आवश्यकता नही है, वे ही केवल, निरुपयोगी हैं, जबकि और सब प्रयत्न फल देते ही है।

ब्रह्म एक ही है, वह भिन्न चित्तो के सबध से नाना रूप दीखता है, वेंकटनाथ की दृष्टि से कि ऐसा मत अयुक्त है, क्योंकि हम जानते हैं कि एक ही व्यक्ति, पुनर्जन्म में अनेको देहो के ससर्ग में आता है, और भिन्न शरीरों से ऐसा संसर्ग व्यक्ति में भेद उत्पन्न नहीं कर सकता और यदि ऐसा है, अर्थात् भिन्न देह से सबध, व्यक्ति मे भेद नही उत्पन्न करता तो एक ही ब्रह्म भिन्न चित्तों के सबध से नाना रूप क्यो हो जायगा इसका कोई कारण नही दीखता। पुनः, जिस मत में जीव, यद्यपि एक दूसरे से सचमुच भिन्न है किन्तु शुद्ध सत्ता-ब्रह्म के मात्र अंग होने के कारण अभिन्न है यह मत भी अयुक्त है, क्योंकि यदि ब्रह्म जीव से इस प्रकार अभिन्न है, वह भी सभी दुःख और अपूर्णताओ का भागी होगा, जो निरर्थक है।

ब्रह्मदत्त मानते थे कि ब्रह्म ही नित्य और अजात है, व्यक्तिगत आत्मा उसमें से उत्पन्न हुई है। वेंकटनाथ इसकी आलोचना करते हैं, और इस वाद का प्रतिपादन करते है कि सभी आत्मा अज और असृष्ट हैं। उन्हें चिर और नित्य मानना चाहिए, क्योंकि यदि वे, शरीर में रहते हुए परिवर्तनशील माने जायं, तो सहेतुक प्रवृत्ति की निरन्तरता नहीं समझाई जा सकेगी। यदि शरीर के साथ उनका नाश होता है तो कर्मवाद और नैतिक उत्तरदायित्व मे विश्वास त्यागना पड़ेगा।

आत्मा, विभु (सर्वव्यापी) नही है, क्योकि उपनिषदो में ऐसा कहा है वह शरीर से बाहर जाता है। नैयायिक, आत्मा के विभुत्व के बारे में इस प्रकार तर्क देते हैं— पाप और पुण्य प्रत्येक आत्मा से सम्बन्धित है और वे भौतिक जगत् में और दूर स्थानों

में भी ऐसे परिवर्तन उत्पन्न कर सकते हैं जो उस आत्मा को सुख-दुःख दे सकते हैं, पुण्य और पाप तो विशिष्ट आत्मा से सम्बन्धित हैं, इसलिए वे दूरस्थ स्थान पर परिवर्तन नहीं कर सकते, जब तक कि आत्मा और उनके (पाप-पुण्यों के) स्थानों में सह-अस्तित्व नहीं है। यह मत रामानुजवादियों पर नहीं लागू होता, क्योंकि उनके अनुसार पाप और पुण्य का अर्थ, व्यक्ति के कर्मानुसार उस पर अनुग्रह या कोप है और ईश्वर के अनुग्रह और कोप का व्यापार अमर्याद है।[1]

प्रतिपक्षी के दृष्टिकोण से, आत्मा को विभु भी मान लिया जाय, तो भी वह भले-बुरे फलों का होना नहीं समझा सकेगा, क्योंकि आत्मा का उन दूरस्थ स्थानों में सह-अस्तित्व भी हो, तो भी उसके अदृष्ट उसकी समस्त व्यापक आत्मा में कार्य नहीं करते, केवल अंशभाग में ही करते हैं, और इसलिए, जबकि वह, जिस स्थान में कर्म-फल उत्पन्न होता है उससे सह-अस्तित्व में नहीं है, वह इसे ठीक तरह नहीं समझा सकता।

(त) वेंकटनाथ के अनुसार मुक्ति का स्वरूप

वेंकटनाथ कहते हैं कि कुछ लोग ऐसा आक्षेप करते हैं कि यदि जीव अनादि काल से बन्धन में था तो कोई कारण नहीं है कि उसे भविष्य में क्यों मुक्त होना चाहिए? इसके उत्तर में सर्वमान्य आशा है कि किसी न किसी समय, अनुकूल सहकारियों का ऐसा पुंज आयगा और हमारे कर्म इस प्रकार फलित होंगे कि वे, विवेक-दृष्टि और सभी सुखों से विरक्ति उत्पन्न कर, हमें बंधन से मुक्त कर देंगे, जिससे ईश्वर को अपना अनुग्रह दिखाने का अवसर मिल सके। इस प्रकार, यद्यपि प्रत्येक जीव अनादि काल से बंधन में है तो भी उन सबों को, क्रम से, मुक्ति पाने का योग्य अवसर मिलता है। इस प्रकार ईश्वर, केवल उन्हीं पर मुक्ति की कृपा करते हैं जो अपने कर्म द्वारा उसके योग्य होते हैं और इस विचार-दृष्टि से सम्भव हो सकता है कि कोई एक ऐसा समय होना चाहिए जब सभी मुक्त हो जायेंगे और संसार चक्र का अंत हो जायगा। ऐसे संसार क्रम का अंत, ईश्वर की स्वेच्छा से होगा, और इस प्रकार, ऐसी अवस्था में, ईश्वर की स्वतंत्र और सहज प्रवृत्ति में बाहर से बाधा उत्पन्न हो जायगी, इस प्रकार भय के लिए लेश मात्र भी स्थान नहीं है। मनुष्य, दुःख के अनुभवों से मुक्ति की ओर अग्रसर होता है, जो इस जगत् के सुखों को नहीं-सा कर देता है। वह समझता है कि सांसारिक सुख अल्प व अस्थिर है और दुःख से संबद्ध हैं। ऐसी मुक्ति ईश्वर-भक्ति द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, यहाँ भक्ति से, राग सहित

---

[1] इह हि धर्माधर्म-शब्दः कर्म-निमित्तेश्वर-प्रीति-कोप-रूप-बुद्धि-द्योतकः।
अस्ति ही शुभे त्वसौ तुष्यति दुष्कृते तु न तुष्यते सौ परमः शरीरी इति।
—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० १७९।

ध्यान या स्मरण समझा गया है।[1] ऐसी भक्ति से ज्ञान भी उत्पन्न होता है, और ऐसे ज्ञान में भक्ति का भी समावेश है।[2] भक्ति का अर्थ यहाँ ध्रुवानु स्मृति से है, और इसलिए इसका अनवरत अभ्यास होना चाहिए। मुक्ति केवल ज्ञान से ही प्राप्त है, यह शंकर अनुयायियों का मत मिथ्या है। उपनिषद् में ज्ञान को ध्रुवानुस्मृति कहा गया है, और इसका अभ्यास होते रहना चाहिए, तभी वह उपासना कही जा सकती है, जो भक्ति ही है।[3]

विहित कर्म सच्चे ज्ञान के उदय में प्रतिबंधक कर्मों के बुरे प्रभावों का निवारण करके, भक्ति के अर्थ में, ज्ञान उत्पन्न करने मे सहायक होते हैं। इस प्रकार शास्त्रोक्त कर्म, भक्ति के साथ-साथ नहीं करने चाहिए, और वे दोनों मिलकर मुक्ति का कारण नहीं हैं, किन्तु विहित कर्म, विरोधी कर्मों के प्रतिबन्धक प्रभावों का निवारण करने में सहायक हैं ऐसा समझना चाहिए।[4] यज्ञादि शास्त्रोक्त कर्म का, भक्ति-साधना से विरोध नही है, क्योंकि जिन देवताओं का वेद में उल्लेख है वे ब्रह्म को लक्ष्य करते हैं और ऐसा माना जा सकता है कि ब्रह्म ही वैष्णवों के एकमात्र देव भगवान् है। भक्त को नित्य और नैमित्तिक कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि केवल स्वधर्म का अन्त हो जाना कोई अर्थ नही रखता, कर्म-रहित होने का सच्चा अर्थ निस्वार्थ होकर कर्म करना है। यह मानना मिथ्या है कि दुनिया को छोड़कर संन्यासी बन जाते हैं वे ही मुक्ति पाते हैं, क्योंकि किसी भी वर्ण का मनुष्य क्यो न हो और किसी आश्रम में क्यों न हो, यदि वह अपने सामान्य वर्णोचित धर्म का पालन करता है और ईश्वर के प्रति ध्रुवानुस्मृति-युक्त है तो वह अवश्य मुक्ति पायगा।

यहाँ पर यह बताना उपयुक्त होगा कि इस सम्बन्ध में धर्म तीन प्रकार के माने गए हैं। जो नितान्त आवश्यक हैं, उन्हें नित्य कर्म कहा है। उन्हें करने से न कोई पुण्य या लाभ होता है, किन्तु न करने से दुष्परिणाम होता है। जो विशेष प्रसगों में करना आवश्यक है उन्हें नैमित्तिक कहा है। यदि इन्हे विशिष्ट परिस्थितियो में न किया जाय तो पाप लगता है किन्तु उनके करने से कोई विशेष पुण्य नही मिलता। जो कर्म किसी सुख-कामना से किए जाते हैं, जैसेकि स्वर्गप्राप्ति, पुत्रोत्पत्ति इत्यादि,

---

[1] महनीय-विषये प्रीतिर्भक्ति प्रीत्यादयश्च ज्ञानविशेषा इति वक्ष्यते स्नेहपूर्व-मनुध्यान भक्तिः। —सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० १९०।

[2] भक्ति साध्यं प्रापकज्ञानमपि भक्ति-लक्षणोपतम्। —वही, पृ० १९१।

[3] एकस्मिन्नेव विषये वेदनोपासन-शब्दयोः व्यतिकरेणोऽप्रक्रमोपसंहार दर्शनाच्च वेदनमेव उपासनतया विशेष्यते···सा मुक्ति-साधनतयोक्ता हि वित्तिः भक्ति-रूपस्व-पर्यंत-विशेषण-विशिष्टा। —वही, पृ० १९१-१९२।

[4] वही, पृ० १९४-१९५।

इन्हें काम्य कर्म कहते हैं। अब जो पुरुष मुक्ति पाना चाहता है उसे काम्य कर्म त्यागना चाहिए, शास्त्र-निषिद्ध कर्म न करना चाहिए और नित्य और नैमित्तिक कर्म करते रहने चाहिएँ। यद्यपि, नित्य और नैमित्तिक कर्म किसी प्रकार के फल से अवश्य ही सम्बन्धित है, क्योंकि वे न करने से होने वाले पापों का निवारण करते हैं, तो भी ये निषेधात्मक फल देते हैं और मुक्ति प्राप्त करने वालों के लिए वर्जित नहीं हैं। क्योंकि ऐसे लोगों के लिए केवल वे ही कर्म वर्जित हैं जो नियत फल देते हैं, इससे यह अर्थ नहीं है कि उसे ईश्वर को प्रसन्न करने वाले कर्म भी नहीं करने चाहिए, क्योंकि सकाम कर्म वे ही हैं जो अपने सुख की कामना से किए जाते हैं और ये हमेशा दुष्परिणामयुक्त रहते हैं।[1]

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि नैमित्तिक कर्म करने चाहिए, किन्तु इनमें से कुछ प्रायश्चित कर्म हैं, जिनसे हमारे कर्म के पाप का निवारण होता है। सच्चे भक्त को ये प्रायश्चित कर्म नहीं करने चाहिए, क्योंकि ईश्वर का ध्यान ही हमारे सभी पापों को धो डालने में समर्थ है, और साथ में पुण्यों को भी। क्योंकि पुण्यकर्म स्वर्ग-सुख उत्पन्न करते हैं इसलिए पाप कर्म की तरह, ये भी मुक्ति में बाधक हैं। जो कुछ भी चित्त को, संकुचित कामनाओं द्वारा संकुचित बनाता है वह पाप युक्त है। इस दृष्टि से विचार करने पर तथाकथित पुण्य कर्म भी, मुक्ति की इच्छा रखने वाले, भक्त के लिए हानिकारक है।[2] धर्म का अर्थ सापेक्षता है, जो कर्म, सामान्य जनों के लिए धर्म्य है वह ही मुक्ति की इच्छा का 'उच्च' आदर्श रखने वाले पुरुष के लिए निषिद्ध है।[3] सच्चे भक्त के लिए, जिसने ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर लिया है और जो ईश्वर के ध्यान में लगा हुआ है, पाप और पुण्य कर्म निरुपयोगी हैं, क्योंकि पुराने कर्म ध्यान से भस्म हो जाते हैं और नए कर्म ज्ञानी से सम्बन्धित नहीं हो पाते।

रामानुज सम्प्रदाय परलोक विद्या के विषय में विचार, जैसाकि वेंकटनाथ ने समझाया है, यह है, सच्चे भक्त की आत्मा मूर्धन्य नाड़ी से बाहर निकलती है और क्रमानुसार अधिष्ठाता देवताओं द्वारा क्रम से मृतात्मा को ऊपर से ऊपर ले जाती हैं। क्रम यह है, अग्नि, दिवस, शुक्ल पक्ष, संक्रांति, वर्ष, वायु, सूर्य, चंद्र, विद्युत, वरुण,

---

[1] अनर्थाविनाभूतसुख-कामनातो निवृत्तं कर्म निष्कामम्।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० २०२।

[2] तदेवं धी-संकोचक कर्म-ध्वंसे धीविकासएव एव ब्रह्मानुभूतिः।

—वही, पृ० २२०।

[3] ए एव धर्मः सोऽधर्मस्तत् प्रति नरं भवेत्।
पात्र-कर्म-विशेषेण देश कालावपेक्ष्य च॥

—वही, पृ० २२१।

इन्द्र और प्रजापति।[1] उपरोक्त क्रमानुसार अधिष्ठाता देवतागण मृतात्मा को एक स्तर से ऊपर उठाने हेतु परमात्मा द्वारा नियुक्त माने गए हैं।

पूर्ण मुक्तावस्था में बुद्धि का पूर्ण विकास होता है। यद्यपि यह अवस्था भक्ति-साधना से प्राप्त है, तो भी इसका नाश नहीं हो सकता क्योंकि यह, पाप और पुण्य जो चित्त को संकुचित कर सकते हैं सभी कारणों से सम्बन्ध-विच्छेद का फल है। इसलिए इस अवस्था से च्युति नहीं है।

मुक्त पुरुष स्वेच्छा से शरीर धारण कर सकता है। उसका देह, बन्धन रूप नहीं हैं, क्योंकि वे ही बन्धन में गिरते हैं जिनका शरीर कर्म की उपाधि से युक्त है। मुक्तावस्था, ब्रह्म की नित्य प्राप्ति द्वारा पूर्ण सुखावस्था है, मुक्त ईश्वर का दास है। यह दास-भाव दुःख नहीं उत्पन्न करता, क्योंकि दासता, पाप से सम्बन्धित होने पर ही दुःख ला सकती है। मुक्त पुरुष इस अर्थ में सर्व शक्तिमान् है कि भगवान् उसकी इच्छाएँ कभी नहीं टालता।

मुक्त पुरुष, सभी वस्तुओं को, अंश रूप में, भगवान् में समाविष्ट मानता है, इसलिए संसार के कार्य उसे दुःखी नहीं करते, यद्यपि उसे यह ज्ञान भी हो कि भूतकाल में संसार की अनेक वस्तुओं ने उसे दुःख दिया था।

वेंकटनाथ जीवन्मुक्ति नहीं मानते क्योंकि मुक्ति की प्रत्येक परिभाषा मुक्ति का कर्म-जनित जीवन, इन्द्रियां और देह से पृथक्ता बताती हैं। इसलिए, हम, जब जीवन्मुक्ति के बारे में सुनते हैं तो अर्थ यह है कि उसकी अवस्था मुक्त जैसी है। अद्वैतवादियों का कहना कि ज्ञान के साथ मूल अविद्या नष्ट हो जाती है, तो भी उसकी आंशिक अवस्था, मुक्त पुरुष को शरीर के बन्धन में रख सकती है, यह मिथ्या है। क्योंकि यदि मूल अविद्या नष्ट हो गई है तो फिर उसकी अवस्थाएँ कैसे रह सकती हैं। इसके अतिरिक्त, यदि वे ज्ञान होने के उपरान्त रहती हैं, तो यह कल्पना करना असम्भव हो जाता है कि वे किस प्रकार मुक्त पुरुष की मृत्यु के बाद नष्ट हो जायेंगी।

रामानुज दर्शन में ईश्वर का स्थान

हमने देखा कि रामानुज के मतानुसार ईश्वर की सत्ता शास्त्र-प्रमाण द्वारा ही जानी जा सकती है, अनुमान द्वारा नहीं। वेंकटनाथ बताते हैं कि सांख्य मतानुसार, जगत् की उत्पत्ति, पुरुष के सान्निध्य द्वारा प्रकृति के व्यापार से होती है, यह मिथ्या है, क्योंकि उपनिषद् स्पष्ट कहते हैं कि जिस प्रकार मकड़ी अपना जाला बनाती है उसी प्रकार

---

[1] सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० २२६-२२७।

ईश्वर जगत् की रचना करता है। उपनिषद् और आगे कहते हैं कि ईश्वर ने प्रकृति और पुरुष दोनों में प्रवेश किया और सर्जन के समय रचना-कर्म उत्पन्न किया।[1] ईश्वर के सम्बन्ध में योग-दर्शन का यह भी मत कि वही एक मुक्त पुरुष है जो हिरण्यगर्भ के शरीर में प्रवेश करता है या अन्य दूसरा शुद्ध शरीर धारण करता है, शास्त्र-विरुद्ध है। यह सोचना व्यर्थ है कि जगत्-रचना मुक्त पुरुषों के क्रिया-व्यापार से होती है, क्योंकि यह जितना शास्त्र-विरुद्ध है उतना ही सामान्य सम्भावना के भी विपरीत है, क्योंकि असंख्य मुक्त पुरुषों में इच्छा की ऐसी एकता नहीं हो सकती जो बिना अवरोधों के जगत्-रचना को समझा सके। इस प्रकार शास्त्र-प्रमाण के बल पर स्वयं ईश्वर ने, प्राणियों के हित के लिए या अपनी लीला के लिए, इस जगत् की रचना की है। लीला के आनन्द को नकारात्मक स्थिति अर्थात् आलस्य की क्लांति दूर करना, नहीं समझना चाहिए, किन्तु स्वयं को आनंदित करने वाला व्यापार समझना चाहिए।[2] जब कहा जाता है कि भगवान् रुष्ट है इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वे निराश हुए हैं, क्योंकि वे स्वयं परिपूर्ण हैं और उन्हें कुछ भी पाना या खोना बाकी नहीं है। इसलिए ईश्वर के कोप को, जो दंडनीय है, उन्हे दंड देना, समझना चाहिए।

रामानुज के मतानुसार जीव और जगत् ईश्वर की देह या 'शरीर' है। शेषार्य वंश के, अनन्तार्य, अपने 'न्याय सिद्धाजन' में, वेंकटनाथ के इस मत का अनुसरण करते हुए उसे और विशद करते हैं और ईश्वर के शरीर के प्रत्यय की सूक्ष्म विवेचना करते हैं, जो हमारे ध्यान देने योग्य है। इसे वे अस्वीकार करते हैं कि शरीर-प्रत्यय, जाति को अनुमित करता है क्योंकि यद्यपि शरीर-प्रत्यय, शरीर के सभी व्यापारों या क्रियाओं के लिए प्रयुक्त होता है, तो भी, यह प्रत्यय किन्ही न किन्ही विशिष्ट दृष्टान्तों से ही सम्बन्धित होता है इसलिए सामान्य स्वयम् शरीरत्व के प्रत्यय की सत्ता मानने को बाध्य नहीं करता। जो कुछ भी इस विषय में कहा जा सकता है वह यह कि शरीरत्व का सम्बन्ध व्यक्तिगत शरीरों से है।[3] समस्त जाति-प्रत्यय, इसीलिए,

---

[1] प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० २५२।

[2] क्रीडा-योगादर्शित-योगः तदभावाद्वा तदभावः स्यात्, मैवं क्रीडा हि प्रीति-विशेष-प्रभवः स्वयं-प्रियो व्यापारः। —वही, पृ० २५५।

[3] न चेदम् शरीरमिद शरीरमिनित्यनुगत प्रतीतिरेव तत्साधिका, अनुगताप्रतीते बाधक-विरहे जाति साधकत्वा दिति वाच्यम्, सिद्धान्ते अनुगत-प्रतीतेः संस्थान विषयकत्वेन तदतिरिक्त-जाति-साधकत्वासम्भावात्।

—अनन्तार्य, शरीरवाद (हस्त०)।

समाहार रूप से, विशेष प्रकार के वर्ग से सम्बन्धित होते हैं और इस रूप में ये सेना इत्यादि समुदायवाचक नामों के निकट समझे जा सकते हैं।[1] वात्स्य श्रीनिवास, अपने 'रामानुज सिद्धान्त संग्रह' में जाति-प्रत्यय को, अन्योन्याश्रय वर्ग के निकट जैसे प्रत्यय पर आधारित मानते हैं। वे कहते हैं कि जब दो आश्रय वर्ग में, दोनों ही गाय कहलाते हैं, तब दो व्यक्तिगत आश्रय वर्ग से अन्य और कुछ नहीं दीखता। दोनों ही गाय कहलाते हैं इसका कारण दोनों वर्गों के बीच रहा वह सादृश्य है।[2] इस प्रकार, समान वर्ग के विशिष्ट सादृश्यत से उत्पन्न जाति-प्रत्यय के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं है (तावद्विषयकज्ञानरूपजातिविषयकत्वांगीकारेण)।

अनन्तार्य 'रामानुज भाष्य' में शरीर की परिभाषा इस प्रकार देते हैं, जो चैतन्य के हेतु या स्वार्थ के लिए पूर्णतया नियंत्रित या अधिकृत किया जा सके, और जो साध्य के साधन रूप है। (चेतनस्य यद्द्रव्य सर्वात्मना स्वार्थे नियन्तुं धारयितुं शक्यं तच्चेष्टैक स्वरूपच तत्तस्य स्वरूपम्)। 'श्रुत प्रकाशिका' के रचयिता, सुदर्शनाचार्य, इस परिभाषा का यह बोधार्थ करते हैं कि जब किसी की चेष्टा, किसी चेतना की इच्छा या कल्पना द्वारा पूर्णतया नियमित होती है और इस प्रकार नियन्त्रित रहती है तब पहला दूसरे का शरीर कहलाता है (कृतिप्रयुक्तस्वीयचेष्टासामान्यकत्वरूपनियाम्यत्वं शरीरपदप्रवृत्ति-निमित्तम्)।[3] जब यह कहा जाता है कि यह शरीर इस जीव का है तब आधेयत्व का अर्थ

---

[1] एक जातीयमिति व्यवहारस्य तत्तदुपाधि-विशेषेणोपपत्तेः राशि-सैन्य परिषदरण्या-दिष्वैक्यव्यवहारादिवत्, उपाधिश्चायमनेकेषाम् एक स्मृति-समारोहः।

—न्याय सिद्धांजन, पृ० १८०।

[2] अय सास्नादिमानयमपि सास्नादिमानिति सास्नादिरेव अनुवृत्त-व्यवहार-विषयो दृश्यते, अनुवृत्त-धी-व्यवहार-विषयस्तदतिरिक्तो न कश्चित् अपि दृश्यते। तस्मादुभय-सम्प्रतिपन्न-सस्थानेनैव सुसदृशोपाधिवशादनुगत-धी-व्यवहारोपपत्ता वतिरिक्त कल्पने मानाभावात्,सुदृशत्वमेव गोत्वादीनामनुवृत्तिः।

—रामानुज सिद्धान्त संग्रह, हस्त०।

वात्स्य श्रीनिवास सुसादृश्य को एक विशेष धर्म मानते हैं, जो भेद के होते भी सामान्यता के ग्रहण का कारण है। (प्रतियोगि-निरुप्य-प्रतिव्यक्ति-विलक्षण-विषय-निष्ठ-सदृश व्यवहार-साधारण-कारण-धर्म विशेषः सौसादृश्यम्। इस सादृश्य के कारण हम समान पदार्थ को संज्ञा दे सकते हैं। जब यह दो पदार्थों में रहती है तब धर्म-सादृश्य कहते हैं। जब वह अद्रव्य में होती है तब हम स्वरूप-सादृश्य कहते हैं।

[3] शरीरवाद (हस्त०)।

यह होता है कि उस शरीर के साधारण व्यापार उस चेतन के कारण हैं,[1] इसी सादृश्य के आधार पर नौकर अपने स्वामी का शरीर नहीं कहा जा सकता। इस परिभाषा के अन्तर्गत पूर्व कल्पना यह है कि व्यक्तिगत जीव पशु और वृक्षादि की गति, और ईश्वर अधिष्ठित जड़ पदार्थों की गति यद्यपि हम उन्हें न देख पाते[1] तो भी उन विशिष्ट जीवों की इच्छा शक्ति से है।

शरीर की मनोजीव-विज्ञान-सम्बन्धी-क्रियाएँ अधिष्ठातृ शक्ति की सूक्ष्म इच्छा द्वारा होती है, इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, इस आक्षेप को उठाकर 'रामानुज भाष्य' में शरीर की दूसरी परिभाषा दी गई है। इस परिभाषा के अनुसार जो चेतन की इच्छा द्वारा सम्पूर्ण रूप से नियन्त्रित होकर गिरने से रोका जा सके, वही शरीर है।[3] तो भी इस परिभाषा पर आक्षेप किया जा सकता है, क्योंकि यह जीव ईश्वर का देह है, इस प्रयोग को नहीं समझा सकती (यस्यात्मा शरीरम्)। जीव में भार परिमाण नहीं है। इसलिए यह सोचना निरर्थक है कि ईश्वर उन्हे पतन से रोकता है और ईश्वर का जीव से यही सम्बन्ध है। इसलिए परिभाषा में यहाँ तक परिवर्तन किया जा सकता है कि विशिष्ट जीव की इच्छा द्वारा, स्पर्श सम्बन्ध से पूर्णतया जो नियमन में है वही शरीर है।[4] इस परिवर्तन पर भी आगे और आक्षेप किया जा सकता है कि यह परिभाषा अब भी काल इत्यादि व्यापक पदार्थों का समावेश नही करती। अब, दो सर्वव्यापक पदार्थों के बीच सयोग, नित्य और सहज माना गया है। इसलिए, ईश्वर का काल इत्यादि से सयोग, ईश्वरेच्छा से होता है ऐसा नही माना जा सकता, और यदि इसे शरीर का व्यवच्छेदक धर्म माना जायगा तो काल इत्यादि ईश्वर का शरीर नही कहा जा सकेगा। इसलिए शरीर की दूसरी ही परिभाषा देनी पड़ेगी कि शरीर, चेतन के अधीन और आश्रित एक द्रव्य है। परतन्त्रता और अधीनता विशिष्ट उत्कृष्ट गुण के अर्थ मे समझना चाहिए। इस सबंध

---

[1] एतज्जीवस्येदं शरीरमित्यादौ आधेयत्व तस्य च शरीर पदार्थैकदेशे कृतोऽन्वयाद्वा तज्जीव-निष्ठ-कृति-प्रयुक्त-स्वीय चेष्टा-सामान्यकमिदम् इति बोधः।

—वही।

[2] जीव शरीरे वृक्षादौ ईश्वर शरीरे पर्वतादौ च सूक्ष्मस्य तत्तत्कृति-प्रयुक्त-चेष्टा-विशेषस्य अंगीकाराान्न शरीर-व्यवहार-विषयत्वानुपपत्तिः। —वही।

[3] यस्य चेतनस्य यद्द्रव्यम् सर्वात्मना धारयितुं शक्यं तत्तस्य शरीरमिति कृति-प्रयुक्त-स्वप्रतियोगिक-पतन-प्रतिबधक-संयोग-सामान्य व त्वं शरीर-पद-प्रवृत्ति-निमित्तम्।

—वही।

[4] पतन प्रतिबधकत्वं परित्यज्य कृति-प्रयुक्त-स्वप्रतियोगिक-सयोग-सामान्यस्य शरीर-पद-प्रवृत्ति-निमित्तत्व-स्वीकारेऽपि क्षति-विरहात्। —शरीरवाद।

में चेतन में कारण या कार्यत्व का उत्कृष्ट गुण उत्पन्न होता है। जब ब्रह्म कारण माना जाता है तब वह (कारणत्व) जीव जीव और जड़ की सूक्ष्मावस्था से ब्रह्म के सम्बन्ध में समझा जा सकता है, और उसको नाना जगत् के रूप में परिणामावस्था, सूक्ष्म तत्वों के स्थूल परिणाम के रूप में तथा जीवों के कर्म और पुनर्जन्म द्वारा पूर्णता को पहुँचने के प्रयास के रूप में समझा जा सकता है। जड़ और जीव के सम्बन्ध से रहित, ब्रह्म स्वयं न कारण और न कार्य कहा जा सकता है। उसे, जीव और जड़ की कार्य और कारणावस्था के सम्बन्ध में ही कारण और कार्य माना जा सकता है। इसलिए ये ईश्वर के शरीर कहलाते हैं क्योंकि वे अपनी ही अवस्थाओं द्वारा ब्रह्म को कारण और कार्य के रूप में प्रतिबिम्बित करते हैं।

परिभाषा में और भी इस प्रकार परिवर्तन की आवश्यकता है, क्योंकि शरीर का नियमन वह सम्बन्ध है, जो किसी काल में न होता हो ऐसा नहीं है। यह सम्बन्ध अपृथक् सिद्ध नहीं है, किन्तु वह जीव और शरीर का व्यावर्तक गुण है अर्थात् जहाँ तक दोनों सत्ता रखते हैं वहाँ तक नियामक और नियंत्रित का सम्बन्ध रहता ही है (यावत्सत्वमसम्बंधनार्थयो रेवापृथक्सम्बंधा भ्युपगमात्)।[1] इस प्रकार मुक्त जीव के भी शरीर है और ऐसा माना जाता है कि मृत्यु के बाद जीव से सम्बन्धित शरीर नष्ट हो जाता है, तथाकथित मृत शरीर वह नहीं है जिसके साथ जीव का सम्बन्ध था।[2] किन्तु फिर आक्षेप किया जा सकता है कि जीव का गाढ सम्बन्ध होने से, वह शरीर के कार्य और प्रयत्नों को निश्चित करता है, इसलिए जीव (आत्मा) शरीर का शरीर कहा जा सकता है। इस आक्षेप का निवारण करने के लिए परिभाषा में फिर परिवर्तन किया जाता है, ज्ञान उत्पन्न करने के सम्बन्ध में, कारणत्व या कार्यत्व को निश्चित करने वाला अपृथक् सम्बन्ध ही केवल शरीर की उपाधि कही जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि, शरीर आत्मा से अपृथक् रूप से सम्बन्धित होते हुए, ज्ञान उत्पन्न कराता है, और यही शरीर का व्यावर्तक धर्म मानना चाहिए।[3] शरीर की

---

[1] शरीरवाद (हस्त०) पृ० ८।

[2] मृत-शरीरस्य जीव-सम्बन्ध रहिततयापि अवस्थान-दर्शनेन यावत्सत्वम् असम्बन्धा-नर्हत्वविरहादिति चेत् न पूर्वशरीरतयावस्थितस्य द्रव्यस्य चेतना-वियोगान्तरक्षणे एव नाशाभ्युपगमेन अनुपपत्ति-विरहात् —वही।

[3] त्ध्वेऽरौत्व हि तन्निष्ठातिशयाधायकत्वं, प्रकृते चतन्निष्ठातिशयः कार्यत्व-कारणत्वा न्यतररूपो ज्ञानावच्छिन्नानुयोगिताका पृथक् सिद्धि सम्बन्धा वच्छिन्न कार्यत्व-कारणत्वा-न्यतरावच्छेदकत्व शरीरपद-प्रवृत्तिनिमित्तम् इत्यर्थः। वही।

जीव और जड़ की सूक्ष्मावस्था से युक्त, ब्रह्म कारण है, और जड़ और जीव की स्थूलावस्था से युक्त, ब्रह्म कार्य है। जड़ और जीव की स्थूल सूक्ष्मावस्था, इस

यह परिभाषा न्याय से भिन्न है जिसमें शरीर को चेष्टा, इन्द्रिय और भोग का आश्रय माना है।[1] क्योंकि ऐसी परिभाषा में, जबकि शरीर का दूर सीमान्त में भी व्यापार हो सकता है, जिससे जीव की मूल इच्छा का निकट आश्रय (आधार) न हो, इसलिए आश्रय (आधार) के विचार को इतना विस्तृत करना पड़ेगा कि जिससे सुदूरवर्ती अंगों का उन अंगों से सम्बन्ध समाविष्ट हो सके जो जीव से प्रेरित किए गए थे। परोक्ष सम्बन्ध के इस सिद्धान्त का विस्तार करते हुए, हाथ में पकड़ी हुई वस्तु की क्रिया को भी इसमें समावेश किया जा सकता है और इस दशा मे बाह्य वस्तु भी शरीर कहा जा सकता है, जो असम्भव है। नैयायिक इसके बचाव में, समवाय सम्बन्ध को लाते हैं जिसके द्वारा शरीर के अंग, दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा, भिन्न रूप से आपस में सम्बन्धित हैं। किन्तु यह पहले ही कहा जा चुका है कि रामानुज-मत में समवाय नहीं माना गया है।

ब्रह्मन् प्रकृति और जीवरूप शरीर द्वारा, जगत् का उपादान कारण माना जा सकता है। जिस प्रकार व्यक्तिगत जीव, अपने कर्मों द्वारा, सुख-दुःख का निमित्त कारण है, ठीक उसी प्रकार, ब्रह्म उपादान का कारण होते हुए भी, निमित्त कारण है, और कर्म, जीव में होने से जीव उपादान कारण है। दूसरी ओर ईश्वर स्वयं, शरीर से पृथक्, नित्य अपरिणामी माना जा सकता है। इस प्रकार, इन दो दृष्टिकोणों से, ईश्वर उपादान एवं निमित्त कारण माना जा सकता है और अपरिणामी कारण भी माना जा सकता है।

भास्कर और उनके अनुयायी मानते हैं कि ब्रह्म में दो अंश हैं चिदंश और अचिदंश वह अचिदंश द्वारा, परिणत होकर अचिद् परिणामों की उपाधियों से कर्म चक्र में प्रवृत्त होता है। भास्कर ऐसा मानता है कि उपाधियाँ, ब्रह्म के अंश हैं, और प्रलयावस्था में भी वे सूक्ष्म रूप से रहती हैं, और उपाधियाँ, जो ब्रह्म को मर्यादित करती है वे केवल मुक्तावस्था में ही ब्रह्म में लय होती हैं। वेंकटनाथ सोचते हैं उपाधि के प्रत्यय द्वारा स्पष्टीकरण अनर्थ उत्पन्न करता है। यदि उपाधि सयोग से जीव को बनाती है तो फिर जबकि वे सब ईश्वर से सम्बन्धित हैं, तो ईश्वर को भी मर्यादित करेगी। यदि उपाधि को घटाकाश और मठाकाश की उपमा से समझा जाय, जहाँ आकाश निरन्तर रहता है और घट इत्यादि उपाधियुक्त पदार्थों की हलचल से ही उनमें

प्रकार ब्रह्म की कारण एवं कार्यावस्था निश्चित करती है। सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट-ब्रह्मणः कारणत्वात्स्थूलचिदचिद्विशिष्टस्य च तस्य कार्यत्वात् ब्रह्म-निष्ठ-कार्यत्व-कारणत्वान्यतरावच्छेदकत्वस्य प्रपंच सामान्ये सत्वात्।

—वही।

[1] चेष्टेंद्रियार्थाश्रयः शरीरम्।   —न्यायसूत्र १-१-२।

आकाश मर्यादित दीखता है, तब मुक्ति और बन्धन का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। उपाधि के प्रत्यय को आधार और आधेय की उपमा से भी नहीं समझाया जा सकता, जैसेकि घड़े में पानी, क्योंकि ब्रह्म निरन्तर और अविकल होने से, वह निरर्थक ठहरेगी। उपाधियां जीव का निर्माण नहीं कर सकतीं क्योंकि वे भौतिक हैं। यादव प्रकाश मानते हैं कि ब्रह्म सर्वात्मक सद्रूप है जिसमें चेतना, जड़ और ईश्वर रूप तीन शक्तियां हैं और वह इन शक्तियों द्वारा अनेक परिणाम करता है जो, सागर में फेन, तरग इत्यादि की तरह, उसमें समाए हुए हैं और एक भी है। वेंकटनाथ कहते हैं कि जगत् को इन अस्थिर दृष्टिकोणों से समझाने के बजाय, शास्त्र का अनुसरण करना उत्तम है कि ब्रह्म, शरीर द्वारा इन परिणामों से सम्बन्धित है। ईश्वर, जगत् और चैतन्य शुद्ध सत्ता के असमान परिणाम हैं, जैसाकि कात्यायन कहते हैं, यह मानना भी गलत है।[1] क्योंकि शास्त्र निश्चित रूप से कहते हैं कि ईश्वर और अपरिणामी ब्रह्म एक ही हैं। यदि परिणाम, ब्रह्म की शक्तियों के परिणाम द्वारा होता है तो ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता और न ये परिणाम, ब्रह्म की रचना ही कही जा सकती है। यदि ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म अपनी शक्ति से भिन्न और अभिन्न दोनों ही है, तो ऐसा मत जैन-सिद्धान्त की तरह सापेक्ष बहुत्ववाद जैसा होगा। आगे एक और मत है कि ब्रह्म अपने शुद्ध स्वरूप से यह जगत्, जीव और ईश्वर है यद्यपि ये भिन्न है, और यद्यपि ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप उनमें समान एवं योग्य प्रकार से स्पष्ट नहीं प्रकट होता। वेंकटनाथ कहते हैं कि ऐसा मत अनुभव एवं शास्त्र विरुद्ध है। पुनः और एक मत है जिसके अनुसार, ब्रह्म चित् और आनन्द का सागर है और स्वानुभव आनन्द से वह अनेक रूप में परिणत होता है, वह एक छोटे अंश को जड बनाता है और उसके विकारों में विवश प्रेरित करता है। इस प्रकार, ब्रह्म, अनेक मर्यादित जीवों के रूप में परिणाम पाता है जो सुःख-दुःख अनुभव करते हैं और यह सारा क्रम उसके लिए आनन्द का स्रोत हो जाता है। यह कोई दुर्लभ घटना नहीं है कि कुछ लोग अपने को दुःखी कर आनन्द लेते हैं। अवतार का प्रसग इस विषय का समर्थन करता है, नहीं तो, वे अपनी स्वेच्छा से सुख-दुःख अनुभव करते है यह निरर्थक ठहरेगा। वेंकटनाथ कहते हैं कि यह मत पूर्णरूप से खोखला है। ऐसे कुछ मूर्ख ही हो सकते हैं जो दुःख-पूर्ण कर्मों को भूलकर उन्हें सुख के स्रोत समझें। किन्तु यह तो कल्पनातीत है कि ब्रह्म, जो सर्व शक्तिमान् और सर्वज्ञ है, ऐसा कार्य करे जिससे उसे तनिक भी दुःख और वेदना हो। एक ही व्यक्ति की वेदना पर्याप्त पाप है, और जगत् के समस्त जीवों की वेदना अति असह्य होगी। इसलिए, ब्रह्म अपनी स्वेच्छा से इन सब दुःखों

[1] ईश्वर व्याकृत प्राणो विराट सिन्धु रिवो मिमिः।
यत् प्रनृत्य दिवा भाति तस्मै सद् ब्रह्मणे नमः।
—सर्वार्थ-सिद्धि में उद्धृत कात्यायन कारिका।

को हुए बिना क्यों उठाना पसंद करेगा ? अवतार कार्य को तो रंग-भूमि पर नाटक के रूप में ही समझना चाहिए। आगे, यह मत शास्त्र-प्रमाण को बाधित करता है। वेंकटनाथ सोचते हैं उनके संप्रदाय का मत इन सब आक्षेपों से मुक्त है, क्योंकि जीव और ब्रह्म न तो केवल अभिन्न ही है और न अभेद में भेद है, किन्तु वह द्रव्य गुण का सम्बन्ध है। गौण तत्व के दोष, द्रव्य को प्रभावित नहीं करते और न उनका संबंध द्रव्य रूपी ब्रह्म को दूषित कर सकता है, क्योंकि सम्बन्ध कर्माश्रित है।[1]

धर्म पक्ष में वेंकटनाथ, पचरात्र ग्रंथों में विस्तार से कहे गए सभी प्रमुख धार्मिक मतों को मानते हैं। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् और पूर्ण है। वह आप्तकाम है इसका अर्थ यह है कि उसमें कोई इच्छाएँ नहीं हैं। अर्थ यह है कि उसकी इच्छाएँ निराशा उत्पन्न नहीं करती और उसके नियन्त्रण में है। हम जिन्हें पाप और पुण्य कहते हैं वे भी उसकी कृपा और रोष से होते हैं। उसका रोष दुःख या वेदना नहीं लाता। रोष का केवल अर्थ यह है कि ईश्वर की अभिवृत्ति हमें दण्ड देने की है या वह हम पर कृपा न करने की है।[2]

शास्त्रोक्त विधि उसकी आज्ञाएँ हैं। कर्म और उनके फल के बीच, अदृष्ट का अपूर्व जैसा कोई साधन नहीं है, जो कर्म समाप्त होने पर बना रहता है और कर्म के फल देता है। ईश्वर ही एक निरंतर सत्ता है, वह हमारे कर्मों से खुश है या रुष्ट है और वह अपनी इच्छानुसार कर्म-फल देता है।[3] शास्त्र केवल इतना ही बताते हैं कि कौन से कर्म उसे रुचते हैं और कौन से उसकी आज्ञा के विरुद्ध हैं। यज्ञों का उद्देश्य ईश्वर की पूजा है, और इन यज्ञों में जिन देवताओं की पूजा होती है वह ईश्वर स्वय के भिन्न नाम हैं। इस प्रकार इस मत में, सारे धर्म और नीति को, ईश्वर की आज्ञा और उसकी पूजा का रूप दिया गया है। ईश्वर ही की कृपा से जब किसी की बुद्धि विशद हो जाती है तो उसे मुक्ति मिलती है, और ईश्वर के अनन्त स्वरूप के निरन्तर अनुभव से वह आनन्द के सागर में डूबा रहता है, जिसकी तुलना में सांसारिक सुख

---

[1] अस्मन्मते तु विशेषणगता दोषा न विशेष्यं स्पृशन्ति, ऐक्य-भेदाभेदांगीकारात्, अकर्मवश्य-संसर्ग-दोषाणामसम्भवाच्च।

—तत्वमुक्ताकलाप, पृ० ३०२।

[2] आप्तकाम शब्दस्तावदीशितुरेष्टव्याभावमिच्छा-राहित्य वा न ब्रूते-इष्ट सर्वमस्य प्राप्त एव भवतीति तात्पर्यं ग्राह्यम्···सर्व-कार्य-विषय-प्रतिहतानन्याधीने चावान् ईश्वरः, जीवस्तु न तथा।

—वही, पृ० १८६।

[3] तत्तत्कर्माचरण-परिणतेश्वर-बुद्धि-विशेष एव अदृष्टम्।

—वही, पृ० ६६५।

दुःखरूप हैं।[1] मनुष्य अपने प्रयासों से पुण्यशील या अधर्मी नहीं बन सकता, किन्तु ईश्वर अपनी खुशी और रोष से मनुष्य को धर्मी और अधर्मी बनाता है, और तदनुसार प्रतिफल या दण्ड देता है और पाप और पुण्य जैसाकि कहा गया है, मनुष्य के आत्मीय गुण नहीं हैं किन्तु ईश्वर के ही भाव प्रदर्शित करते हैं कि वह खुश है या रुष्ट। जिन्हें वह ऊपर उठाना चाहता है उनसे उच्च कर्म कराता है और जिन्हें नीचे गिराना चाहता है उनसे पाप-कर्म कराता है। अन्तिम चुनाव और निर्णय उसी के हाथ में है, मनुष्य उसके हाथो में साधन मात्र है। मनुष्य के कर्म, स्वय फल नहीं दे सकते, किन्तु अच्छे और बुरे फल ईश्वर की खुशी और रोष के अनुसार होते हैं।[2]

शंकर मत का द्वन्द्वात्मक तर्कानुसार खण्डन

जिन पाठकों ने अभी तक इस पुस्तक का अनुसरण किया है उन्हें पता चला होगा कि श्री वैष्णव संप्रदाय के विरुद्ध मुख्य विरोधी शंकर और उनके अनुयायी थे। दक्षिण भारत में, श्री वैष्णव, शैव और जैन मत के और भी विरोधी थे। श्री वैष्णव, शैव और जैन मत में परस्पर एक दूसरे का उत्पीडन एक साधारण ऐतिहासिक वृत्तान्त है। किसी स्थानीय शासक या आचार्य के प्रभाव से एक धर्म से दूसरे धर्म में परिवर्तन करना भी होता रहता था। नारायण विष्णु या कृष्ण की, शिव से श्रेष्ठता तथा शिव की नारायण इत्यादि से श्रेष्ठता सिद्ध करने वाले अनेक ग्रन्थ रचे गए। माधव और उनके अनुयायी भी श्री वैष्णव संप्रदाय के विरोधी थे, किन्तु कुछ लोग माधव के दर्शन को श्री वैष्णव सप्रदाय के लगभग निकट मानते थे, किन्तु लोग माधव के मत का बलपूर्वक खण्डन करते थे और महाचार्य का 'पाराशर्य विजय' और परकाल यति का 'विजयीन्द्र पराजय' नामक ग्रन्थ माधव के विरुद्ध इस विवाद के दृष्टान्त के रूप में दिए जा सकते हैं। श्री वैष्णवों ने भास्कर और यादव प्रकाश के मतो का खण्डन किया। उदाहरण के तौर पर, रामानुज का 'वेदार्थ संग्रह' या वेंकटनाथ का 'वादित्रय खण्डन' के नाम दिए जा सकते हैं। किन्तु श्री वैष्णव संप्रदाय के मुख्य विरोधी शकर और उनके अनुयायी रहे। 'शत दूषणी', एक प्रकार वितंडावादी ग्रंथ है, जिसमें वेकटनाथ शकर-मत का खण्डन करने का भरसक प्रयत्न करते है। यह ग्रंथ सौ विवाद-ग्रस्त विषयो पर आधारित है जो अपने नाम से ग्रन्थ का अभिप्राय स्पष्ट करता है। किन्तु मूल ग्रथ, जो श्री सुदर्शन प्रेस, कांजीवरम् से छपा है उसमें केवल

---

[1] तत्त्व मुक्ता कलाप, पृ० ६६३-४।

[2] स एवैनं भूति गमयति, स एनं प्रीतः प्रीणाति एष एव साधु कर्म कारयति तं क्षिपामि अजस्रं अशुभानित्यादिभिः प्रमाणशतैः ईश्वर-प्रीति-कोपाभ्यां एव धर्माधर्म-फल-प्राप्तिरव गम्यते। —वही, पृ० ६७०।

६६ विवादग्रस्त विषय हैं, यह इस लेखक को हस्तलिखित ग्रन्थ से पता चलता है। छपी हुई प्रति में, वाधूल श्री निवास के शिष्य, महाचार्य या रामानुज दास की टीका है। किन्तु ग्रन्थ ६६ विवाद विषय पर पूर्ण होता है और दूसरी दो टीकाएँ भी खो गई लगती हैं। छपी पुस्तक में दो और विवाद के विषय हैं ६५ और ६६ जिनकी टीका उपलब्ध नहीं है और ग्रन्थ के सम्पादक पी० बी० अनन्ताचार्य कहते हैं कि ग्रन्थ ६६वें विवाद पर पूर्ण हुआ है (समाप्ता च शतदूषणी)। यदि सम्पादक का कथन प्रामाणिक माना जाय तो यह मानना पड़ता है कि 'शत दूषणी' में प्रयुक्त शत शब्द बहुवाचक आशय रखता है सौ नहीं। यह अनुमान करना कठिन है कि शेष ३४ खण्डन वेंकटनाथ ने लिखे थे और अब खो गए हैं या उन्होंने केवल ६६ विवाद विषय लिखे, जो अब उपलब्ध हैं। इसमें से बहुतों में कोई नया विचार नहीं मिलता और बहुत से विषय केवल सैद्धान्तिक एव साम्प्रदायिक हित की दृष्टि से लिखे गए हैं उनमें से दार्शनिक एवं धार्मिक पक्ष कुछ भी नहीं है, इसलिए, उन्हें यहाँ त्याग दिया गया है, केवल ६१ विवाद विषय ही दिए हैं। ६२वें विषय में, शकर वेदान्त द्वारा, शूद्रों को ब्रह्मज्ञान से वर्जित करने को अयुक्त बताया है। ६३ में, अधिकार-विवेक की चर्चा की है, ६४ में शकर-मत के सन्यासियो के पहनावे और सप्रदाय-चिह्न को अयुक्त बताया है। ६५ में विशेष वर्ग के सन्यासियो से सम्बन्ध रखने का निषेध किया है। ६६ में यह बताया है शकर मत की ब्रह्मसूत्र से एकवाक्यता नही हो सकती।

पहला आक्षेप

निर्गुण ब्रह्म, इस बात का सतोषजनक स्पष्टीकरण नहीं कर सकता कि ब्रह्म शब्द किस प्रकार, उचित रूप से निर्गुण पदार्थ को निर्दिष्ट कर सकता है। क्योकि यदि वह निर्गुण है तो वह ब्रह्म शब्द द्वारा प्रधान अर्थ में या लक्षणो द्वारा निर्दिष्ट नही किया जा सकेगा। यदि वह प्रधान अर्थ में निर्दिष्ट नहीं कर सकता, तो दूसरे अर्थ मे भी असम्भव है, मुख्य अर्थ का जब कुछ अंश असम्भव होता है तभी लक्षणा उपयुक्त होती है। यह शास्त्र-प्रमाण से भी जानते हैं कि ब्रह्मन् शब्द, प्रधान अर्थ में, अनन्त श्रेष्ठ गुणयुक्त महान् सत्ता के लिए प्रयुक्त किया गया है। बहुत से मूल पाठो में निर्गुण अश का उल्लेख है, इसे आक्षेप के रूप मे नही रखा जा सकता, क्योकि इन्हें दूसरे अर्थ में भी समझाया जा सकता है और यदि कोई शका उत्पन्न भी होती है तो प्रतिवादी इस तथ्य का दुरुपयोग नही कर सकता है कि ब्रह्म निर्गुण है। यह कहना भी कठिन है कि ब्रह्मन् शब्द केवल लक्षणा द्वारा ही शुद्ध ब्रह्म को ही लक्ष्य करता है, क्योकि शास्त्र कहते हैं कि ब्रह्म शब्द के अर्थ का अनुभव, साक्षात् अपरोक्ष होता है। इसलिए ब्रह्म के विषय में प्रतिवादी के मत से ब्रह्म शब्द निरर्थक हो जायगा।

दूसरा आक्षेप

शंकर मतवादियो के अनुसार ब्रह्म के निर्गुण अर्थ में, ब्रह्म के विषय में कोई

जिज्ञासा नहीं की जा सकती। शंकर कहते हैं कि ब्रह्म, सामान्य रूप से हमारी आत्मा के रूप में जाना जाता है, ब्रह्म की जिज्ञासा उसके विशेष स्वरूप के लिए होती है, अर्थात् वह चेतनायुक्त शरीर है, महेश्वर है, या शुद्धात्मा है या अन्य कोई वस्तु है जिसके बारे में मतभेद है। वेंकटनाथ आग्रहपूर्वक यह कहते हैं कि यदि ब्रह्म की स्ववेद्यता अनादि है तो वह हमारी जिज्ञासा पर आश्रित है और वह कार्य होगा और इस अर्थ में ब्रह्म-साक्षात्कार एक कार्य होगा, जो निश्चित रूप से शंकर के आशय से विरुद्ध है। इस प्रकार, ब्रह्म के सामान्य एवं विशिष्ट स्वरूप के विषय में जिज्ञासा, अपने सच्चे स्वरूप के लिए नहीं हो सकती। यदि, इसलिए, शंकर मतवादी यों कहें कि यह जिज्ञासा ब्रह्म के सत्य स्वरूप के विषय में नहीं है, किन्तु उपहित ब्रह्म के विषय में है, तो फिर इस जिज्ञासा से प्राप्त ज्ञान भी भ्रमरूप होगा और ऐसे मिथ्या ज्ञान से कोई लाभ न होगा। पुनः जब ब्रह्म अविकल और स्वय वेद्य है, तो उसे सामान्य या विशिष्ट रूप से जानने में कोई सार नहीं है, क्योंकि इसमें ऐसा भेद माना नहीं जा सकता। वह या तो पूर्ण रूप से जाना जायगा या सर्वथा नहीं जाना जायगा, इसमें अंश का भेद नहीं किया जा सकता जिससे ज्ञान की भिन्न कक्षाओं (स्तर) को अवसर मिले। जिज्ञासा से तात्पर्य ही यह है कि वस्तु सामान्य रूप से जानी गई है, किन्तु उसे और विस्तृत रूप में जानना है, क्योंकि शंकर का निर्गुण अखण्ड ब्रह्म ऐसी जिज्ञासा का विषय नहीं हो सकता, इसलिए ऐसे ब्रह्म की खोज भी नहीं हो सकती। जिज्ञासा सगुण विषय के बारे में ही हो सकती है, जिसका सामान्य या विशिष्ट ज्ञान शक्य है। शंकर-मतवादी न्याय-दृष्टि से यह आग्रह नहीं कर सकते कि उनके मत में सामान्य और विशेष गुणों का भेद शक्य है, क्योंकि यह समर्थन किया जा सकता है कि यद्यपि ब्रह्म सामान्य रूप से जाना जा सकता है, तो भी उसे माया-प्रपंच से भिन्न स्वरूप से जानने को अवकाश रहता है, जबकि ब्रह्म में कोई विशिष्ट स्वरूप नहीं है, इसलिए, उसे सामान्य रूप से नहीं जाना जा सकता (निर्विशेष सामान्य-निषेधः)। यदि यह आग्रह किया जाता है कि जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान ही ब्रह्म का ज्ञान है, तो फिर वेदान्त और नागार्जुन के शून्यवाद में कोई अन्तर न रहेगा।

तीसरा आक्षेप

इस आक्षेप में वेंकटनाथ, शंकर के इस मत के विरुद्ध हैं कि ज्ञान कर्मातीत है, वह ज्ञान कर्म-समुच्चयवाद के सिद्धान्त के पक्ष में बहुधा दोहराए गए तर्क देते हैं।

चौथा आक्षेप

वेंकटनाथ कहते हैं कि सारे भ्रम और मूल, जगत् प्रपंच मिथ्या है, इस ज्ञान से दूर नहीं हो सकते। शास्त्रोक्त कर्म, परम ज्ञान प्राप्त होने पर भी, अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। यह पीलिये से पीड़ित रोगी के दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है। पीलापन भ्रम है इस ज्ञान मात्र से पीला देखना नष्ट नहीं होता, औषधि-सेवन से ही वह नष्ट

होगा। चरम मुक्ति, महान् देव—ईश्वर की आराधना और भक्ति से प्राप्त हो सकती है, केवल दार्शनिक ज्ञान के प्राकट्य से नहीं मिल सकती। यह भी असम्भव है कि अद्वैत ग्रंथों के श्रवणमात्र से मुक्ति मिल सकती है, यदि ऐसा होता तो शंकर स्वय मुक्त हो गए होते। यदि वे मुक्त थे तो वे ब्रह्म से एकरस हो गए होते, और वे अपने शिष्यों को अपने मत का उपदेश कर नही सकते थे। अद्वैत ग्रन्थों का अर्थ-ग्रहण साक्षात्कार है, यह मत भी अमान्य है, क्योंकि हमारा साधारण अनुभव बताता है कि शास्त्र-ज्ञान, शब्द-ज्ञान है और इसलिए वह साक्षात् और अव्यवहित नहीं कहा जा सकता।

पाँचवां आक्षेप

शंकराचार्य का उपरोक्त आक्षेप पर यह उत्तर है कि यद्यपि समस्त पदार्थों का आत्मा से तादात्म्य का चरम ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी जब तक यह शरीर नष्ट नहीं होता तब तक जगत्-प्रपंच का भ्रम कायम रहता है। वेंकटनाथ पूछते हैं कि यदि सत्य ज्ञान से अविद्या नष्ट हो जाती है तो फिर जगत् किस प्रकार वर्तता रहता है? यदि ऐसा कहा जाय कि अविद्या के नष्ट हो जाने पर भी वासनाएं रह सकती हैं, तो उसका उत्तर दिया जा सकता है कि यदि वासनाए अस्तित्व रख सकती हैं तो अद्वैतवाद का स्वतः खण्डन हो जाता है। यदि वासना ब्रह्म का अंग है तो वह उनके सम्बन्ध से दूषित हो जायगा। यदि वासना अविद्याजनित है तो उसे अविद्या के साथ नष्ट हो जाना चाहिए। अविद्या नष्ट होने के बाद भी यदि वासना पुनः रहती है तो उसे किस प्रकार नष्ट किया जायगा? यदि वह अपने आप नष्ट हो जाती है तो फिर अविद्या भी अपने आप नष्ट हो सकती है। इस प्रकार, अविद्या के नाश और ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के बाद, वासना तथा तज्जनित जगत्-प्रपंच के रहने का कोई कारण नहीं है।

सातवां आक्षेप

शंकर और उनके अनुयायी कहते हैं कि वेदान्त-उपदेश के श्रवण के योग्य अधिकारी के चित्त में अद्वैत ग्रन्थ के कथन मात्र से साक्षात् और अचिर ही परमज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अद्वैत ग्रन्थों के श्रवण से, आत्मा ही ब्रह्म है, यह ज्ञान साक्षात् और अचिर उत्पन्न होता है यह मानना ही पड़ेगा, क्योंकि दूसरा और कोई रास्ता ही नहीं है जिससे इसे समझाया जा सके। इस पर वेंकटनाथ कहते हैं कि यदि शब्द-श्रवण की साधनता मात्र से ही साक्षात् ज्ञान होता है, इसे अद्वैत-ग्रन्थों के आशय को अनुभव करने का एक विशिष्ट दृष्टान्त माना जाता है, क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने का और कोई मार्ग नहीं है, तो अनुमान और अन्य शब्दों का ज्ञान भी साक्षात् अनुभव प्राप्त करा सकता है, क्योंकि उन्हें भी, उसी प्रकार शुद्ध ज्ञान को प्रकट करने का कारण माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि शब्द, ज्ञान के कारण विद्यमान है, तो उसके द्वारा जनित ज्ञान को किस प्रकार रोका जा सकता है, कारणों के समाहार से साक्षात् अनुभव किस प्रकार उत्पन्न किया जा

सकता है, जब वे उसे कभी उत्पन्न नहीं कर सकते। किसी विशेष समय में प्राप्त हुआ ज्ञान जो एक व्यक्तिगत चैतन्य का प्रकटीकरण है, उसे सभी पुरुषों और सभी काल के ज्ञान से अभिन्न है, ऐसा नही माना जा सकता और इसलिए ऐसे ज्ञान को अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करने वाला भी नही माना जा सकता। यदि ऐसा माना जाता है कि, जो कुछ, चैतन्य का, विशिष्ट प्रकार से ज्ञान कराता है, उससे अतिरिक्त, शुद्ध चैतन्य का अनुभव कराने वाला अन्य कोई कारण नही है, तो यह सभी प्रमाणों के विषय में भी उपयुक्त होगा, इसलिए अद्वैत-ग्रन्थो के विषय को ऐसा एकीकृत अधिकार नही दिया जा सकता जो अनुमान और शब्द के विषय नहीं माने जायं, यह असम्भव है। 'तुम दसवे हो' इस वाक्य के दृष्टान्त में, यदि जिस व्यक्ति को यह निर्देश किया गया वह जान जाय कि वह दसवां है तो ऐसे वाक्य के अर्थ की समझ केवल उसे पहले जो अनुभव हुआ उसी की पुनरावृत्ति होगी, यदि वह यह नही समझा कि वह दसवां है, तो उसे इस वाक्य द्वारा कहा गया सत्य जिसका सज्ञापन वाकिक अभिव्यक्ति से किया गया है, साक्षात् अपरोक्ष नहीं कहा जा सकता। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ज्ञान का विषय वही रह सकता है, तो भी जिसके द्वारा ज्ञान दिया गया है, उसके कारण भिन्न हो सकते हैं। इस प्रकार, वही विषय कुछ अंश में प्रत्यक्ष रूप से और कुछ अंश में अप्रत्यक्ष रूप से जाना जा सकता है। पुनः ब्रह्म का साक्षात् अनुभव होता है इसे माना जा सकता है, किन्तु इसका तत्वमसि आदेश से प्रथम बार ग्रहण होना शब्द-ज्ञान है और दूसरे क्षण में साक्षात् और अपरोक्ष अनुभव होता है। यदि प्रथम ज्ञान साक्षात् और अपरोक्ष न माना जाय, तो फिर दूसरा क्यो माना जाय? पुनः शकर का यह कहना कि जगत्-प्रपच के मिथ्या-ज्ञान का विनाश किसी अन्य प्रकार से नहीं समझाया जा सकता, इसलिए अद्वैत-ग्रन्थो द्वारा प्राप्ति या ज्ञान अपरोक्ष मानना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व का सत्ता के साक्षात् और अपरोक्ष अनुभव से निरास होता है। किन्तु जगत् मिथ्या नहीं है, यदि इसे मिथ्या इसलिए माना जाता है कि वह जाना जा सकता है फिर तो ब्रह्म भी ज्ञेय है, अतः मिथ्या हो जाएगा। यदि पुनः जगत्-प्रपच मिथ्या माना जाता है, तो उसे सच्चे ज्ञान से नष्ट होने के लिए कहने मे कोई अर्थ नही है, क्योकि जो कभी सत् न था उसे नष्ट भी नही किया जा सकता। यदि यह कहा जाता है कि जगत्-प्रपंच नष्ट नही होता, किन्तु उसके ज्ञान का अन्त होता है तो यह बताया जा सकता है कि मिथ्या ज्ञान का, मानसिक स्थिति के परिवर्तन से भी अन्त हो सकता है, जैसेकि गाढ़ निद्रा में मिथ्या रजत का भ्रम चला जाता है, या उसे अनुमान इत्यादि ज्ञान द्वारा हटाया जा सकता है। यह अनुमान आवश्यक नही है कि भ्रमयुक्त ज्ञान साक्षात् और अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ही हटाया जाना चाहिए। पुनः यदि ऐसा माना जाता है कि जगत्-प्रपंच के अन्त होने का अर्थ उसके कारण नष्ट होना है, तो उसका उत्तर यह है जबतक कि कारण स्वयं का किसी अन्य साधन द्वारा नाश नहीं करता, सत्ता का साक्षात् अनुभव असम्भव है।

जहाँ तक आँखों की पुतली पर अंगुली का दबाव है वहीं तक चद्रमा दो दीखेंगे। इस-लिए, जगत्-प्रपंच का मिथ्यापन साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान से ही नष्ट होने की बात सोचना निरर्थक है। यदि जगत्-प्रपंच के मिथ्यापन का निरसन यही अर्थ रखता है कि उसे बोध करने वाले ज्ञान का उदय हुआ है तो यह परोक्ष ज्ञान द्वारा भी किया जा सकता है जैसाकि द्विचंद्र-दर्शन का मिथ्या ज्ञान, दूसरे पुरुष की साक्षी से 'चंद्र एक ही है,' इससे निरास किया जा सकता है किन्तु जगत् मिथ्या नहीं है ऐसा ही नहीं है, और इसलिए नष्ट नहीं हो सकता, किन्तु शब्द प्रमाण साक्षात् अनुभव दे सकता है यह नहीं माना जा सकता, यदि ऐसा वह कर भी सके, तो अन्य सहकारी उपाधियों का होना आवश्यक होगा, जैसेकि, चाक्षुष प्रत्यक्ष में, अवधान, सतर्कता और अन्य भौतिक परिस्थितियाँ सहकारी उपाधियाँ मानी जाती हैं। इस प्रकार शाब्दिक ज्ञान ही केवल साक्षात् और अपरोक्ष अनुभव नहीं प्राप्त करा सकता। यह भी सोचना उचित नहीं है कि प्रत्यक्ष ज्ञान, अप्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा बाधित नहीं हो सकता, क्योंकि यह प्रसिद्ध ही है कि दीये की शिखा की निरन्तरता के विचार का निषेध इस समझ से होता है कि शिखा निरन्तर नहीं हो सकती और ऐसा जो दीखता है वह वास्तव में क्रमबद्ध, भिन्न शिखाओं की परम्परा है। इस प्रकार अद्वैत-ग्रन्थ के आशय का अनुभव, यदि, साक्षात् अनुभव का कारण भी समझा जाय, तो भी यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि वह अन्य ज्ञान द्वारा बाधित नहीं है।

दसवाँ आक्षेप

शुद्ध निर्विशेष चैतन्य की सत्ता का खण्डन करते हुए, वेंकटनाथ आग्रह करते हैं कि यदि ऐसी वस्तु विद्यमान थी तो वह अपनी सत्ता अपने आप प्रकट नहीं कर सकती थी, क्योंकि यदि वह प्रकट करती है तो वह अविकारी नहीं कही जा सकती, यदि वह सभी विशेषों का मिथ्यात्व स्थापित करती है तो ये विषय उसके अंग होंगे। यदि उसकी सत्ता अन्य प्रमाणों द्वारा प्रमाणित की जाती है, तो वह स्वप्रकाश नहीं थी, तब पुनः, यह पूछा जा सकता है कि यह शुद्ध चैतन्य किसे प्रकट करता है? शंकर मतवादियों का उत्तर है कि वह किसी व्यक्ति के सामने स्वयं नहीं प्रकट करती, अनुभव उसकी सत्ता का ही होता है। किन्तु यह उत्तर सामान्यतः अभिव्यक्ति शब्द से जो समझ में आता है, उसकी अपेक्षा कहीं दूर है, क्योंकि अभिव्यक्त होना किसी व्यक्ति के लिए ही होना चाहिए। विशेष चैतन्य के विरोध में जो यह मुख्य आक्षेप है कि ऐसे चैतन्य का अनुभव नहीं हो सकता इसलिए उसकी श्रेष्ठता एवं पूर्व अस्तित्व या विषयों को प्रकट करने का सामर्थ्य, जो उस पर थोपा जाता है वह भी मान्य नहीं हो सकता। गाढ़ निद्रा में आनन्द के अनुभव का दृष्टान्त निरर्थक है, क्योंकि इस अवस्था में शुद्ध निर्विषय चैतन्य का अनुभव आनन्द के रूप में होता है तो किसी को आनन्द का स्वानु-भव नहीं होगा, क्योंकि वह निर्विषय नहीं कहलायगा। निद्रा से उठने के उत्तर काल

का अनुभव, द्रष्टा को यह नहीं बता सकता कि वह लम्बे समय तक निर्विषय चैतन्य का अनुभव करता रहा था, क्योंकि उसकी प्रत्यभिज्ञा नहीं है और प्रत्यभिज्ञा के तथ्य का तथाकथित निर्विषयता से समीकरण नहीं किया जा सकेगा।

ग्यारहवां आक्षेप

निर्विकल्प ज्ञान की सत्ता का खण्डन करते हुए वेंकटनाथ कहते हैं कि तथाकथित निर्विकल्प ज्ञान सविशेष पदार्थ को लक्ष्य करता है (निर्विकल्पक मपि सविशेष-विषय-कमेव)। इन्द्रिय सन्निकर्ष के पहले ही क्षण में, इन्द्रियों द्वारा, पदार्थ ही सारा, अपने विभिन्न गुणों सहित, ग्रहण होता है और यही उत्तरकाल में बुद्धि-प्रत्यय के रूप में विशद किया जाता है। निर्विकल्प अवस्था का मुख्य रूप यह है कि ज्ञान की उस अवस्था में, पदार्थ के किसी पार्श्व या गुण पर बल नहीं दिया जाता। यदि ज्ञान के विषय सचमुच सविकल्प गुण नही जाने गए होते तो ज्ञान की उत्तर अवस्था में वे कभी भी नही जाने जा सकेंगे, और निर्विकल्प सविकल्प कोटि तक विकास नहीं कर सकेगा। लक्षण पहली अवस्था में गृहीत होते हैं किन्तु ये लक्षण उत्तर काल में ऐसे समान लक्षणों की स्मृति होने के कारण सविकल्प रूप धारण करते हैं। इस प्रकार शुद्ध निर्विकल्प पदार्थ, प्रत्यक्ष का विषय कभी भी नही हो सकता है।

बारहवां आक्षेप

शकर मतवादियो का विवाद यह है कि प्रत्यक्ष, साक्षात् शुद्ध सत्ता से सम्बन्धित है, और पश्चात् वह अज्ञान से नाना रूप से सम्बन्धित हो जाता है, और इसी सम्बन्ध के द्वारा ही वे प्रत्यक्ष अनुभूत होते हैं ऐसा भासता है। वेंकटनाथ कहते हैं कि सत्ता और उसके गुण दोनों ही एक साथ इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होते हैं क्योंकि वे हमारे ज्ञान को निश्चित करने वाले पदार्थ के अंग हैं। सामान्य भी हमारे साक्षात् ज्ञान के विषय हो सकते हैं, जब ये सामान्य उत्तरकाल में आपस में एक दूसरे से विवक्त किए जाते हैं तभी भिन्न क्रिया वाले पृथक् मानसिक व्यापारो की आवश्यकता रहती है। पुनः, यदि प्रत्यक्ष निर्विकल्प सत्ता को ही लक्ष्य करता है, तो फिर विभिन्न पदार्थ और उनके आपस के भेद के अनुभव को कैसे समझाया जा सकेगा ?

तेरहवां आक्षेप

भेद को पदार्थ या धर्म के रूप में ग्रहण करना मिथ्या है, शकर मतवादियों के इस मत को खण्डन करते हुए वेंकटनाथ कहते हैं कि भेद का अनुभव समान्य है, इसलिए उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अति विवादग्रस्त, भेद का अभाव भी 'भेद' से भिन्न है, यह भेद के अस्तित्व को सिद्ध करता है। भेद को खण्डन करने का कोई भी प्रयत्न, अभेद का भी खण्डन किए बिना नहीं रहेगा, क्योंकि ये दोनों

सापेक्ष हैं, और यदि भेद न हो, तो अभेद या तादात्म्य भी नहीं है। वेंकटनाथ आग्रहपूर्वक कहते हैं कि वस्तु अपने स्वय से अभिन्न है, और अन्य से भिन्न है, और इस प्रकार भेद और अभेद दोनो को मानना पड़ता है।

चौदहवां आक्षेप

शकर के अनुयायी कहते हैं कि जगत्-प्रपच ज्ञेय होने से रजत-शख-शुक्तिका की तरह मिथ्या है। किन्तु, जगत् मिथ्या है, इस प्रतिज्ञा का क्या अर्थ है? वह शश-विषाण की तरह तुच्छ नहीं हो सकता, क्योकि यह अनुभव-विरुद्ध है और शकर के अनुयायी भी इसे स्वीकार नही करेंगे। इसका अर्थ यह भी नही हो सकता कि जगत् सत् और असत् दोनो से भिन्न है, क्योकि ऐसा पदार्थ हमे मान्य नही है। यह भी अर्थ नहीं हो सकता कि जगत् सत्य दीखता है तो भी उसका निरास हो सकता है, (प्रति-पन्नोपाधौ निषेध-प्रतियोगित्वम्), क्योंकि इस निषेध का यदि आगे निषेध नहीं है तो यह या तो, स्वरूप से ब्रह्मरूप होगा और इसलिए जगत्-प्रपच की तरह मिथ्या होगा, या उससे भिन्न होगा। पहला विकल्प हमे इस अर्थ में स्वीकृत है कि जगत् ब्रह्म का अश है। यदि जगत्-प्रपच का निरास हो सकता है और यदि वह साथ ही साथ ब्रह्म से अभिन्न भी है, तो निरसन स्वय ब्रह्म पर भी लागू होगा। यदि दूसरा विकल्प देखा जाय, तो उसकी सत्ता, जबकि, निषेध (अभाव) की व्याख्या से अनुमित है तो उसे स्वय अस्वीकार नही किया जा सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मिथ्यात्व का अर्थ, जगत् का, एक वस्तु में, जहाँ वह अस्तित्व नहीं रखती, न दीखना भास होना है–(स्वात्यता-भावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानत्वम्), क्योकि, जगत् का इस प्रकार से मिथ्यापन कि जहाँ वह प्रतीत होता है वहाँ वह नही है, प्रत्यक्ष से समझा नही जा सकता, और यदि आधार का ही प्रत्यक्ष नही है तो फिर अनुमान असम्भव है। यदि सारे प्रत्यक्ष मिथ्या माने जाते है तो सारे अनुमान भी असम्भव हो जाएँगे। ऐसा कहा जाता है कि जगत्-प्रपच मिथ्या है क्योकि वह परम सत्ता ब्रह्म से भिन्न है। वेंकटनाथ इसके उत्तर में कहते है कि वे जगत् को ब्रह्म से भिन्न स्वीकार करते हैं, यद्यपि वह ब्रह्म से पृथक् नही हो सकता, और न वह स्वतत्र सत्ता रख सकता है। इतने पर भी यह आग्रह किया जाता है कि जगत् मिथ्या है क्योंकि वह सत्ता से भिन्न है, तो उत्तर वह है सत्ताएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। यदि ऐसा माना जाता है कि ब्रह्म ही केवल सत्य है और उसका निषेध आवश्यक रूप से मिथ्या होगा, तो उत्तर यह है कि यदि ब्रह्म सत्य है और उसका निषेध भी सत्य है। वेंकटनाथ मानते हैं जगत् की सत्ता प्रमाण द्वारा सिद्ध की जा सकती है (प्रामाणिका)। सत्य रामानुज की व्याख्या के अनुसार व्यवहारोपयोगी है(व्यवहार-योग्यता-सत्वम्), और जगत् मिथ्या है, इस कथन का मिथ्यात्व जगत् की सत्यता के वास्तविक अनुभव से समझा जाता है। पुनः, जगत् का मिथ्यात्व, न्याय-प्रमाण द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न नही किया जा

सकता, क्योंकि वे जगत् के अंतर्गत हैं और इसलिए वे स्वयं मिथ्या होंगे। पुनः यह कहा जाय कि ब्रह्म कुछ अर्थ में ज्ञेय है और उसी प्रकार जगत् भी; तर्क करने के लिए यह स्वीकार किया जा सकता है कि ब्रह्म परमार्थिक दृष्टि से ज्ञेय है, इसलिए जगत् उस दृष्टि से ज्ञेय नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा है तो, शंकर-मतवादी उसे मिथ्या नहीं कह सकते। यदि ऐसा है तो, शंकर मतवादी कैसे तर्क कर सकते हैं कि जगत् मिथ्या है क्योंकि वह ज्ञेय है, उस प्रसंग में ब्रह्म भी मिथ्या होगा ?

सोलहवां आक्षेप

पुनः ऐसा तर्क किया जाय कि, जगत् के पदार्थ मिथ्या हैं, क्योंकि यद्यपि सत्ता वही रहती है किन्तु उसके विषय सर्वदा बदलते रहते हैं। इस प्रकार हम कह सकते है कि घड़ा है, कपड़ा है, किन्तु ये विद्यमान पदार्थ परिवर्तित होते रहते हैं, सत्ता केवल अपरिवर्तित रहती है। अब यह प्रश्न किया जा सकता है, इस परिवर्तन का क्या अर्थ है ? इसका अर्थ तादात्म्य का भेद नहीं हो सकता, क्योंकि उस अवस्था में, ब्रह्म सभी पदार्थों से भिन्न होने से मिथ्या माना जा सकता है। यदि ब्रह्म, मिथ्या जगत् से अभिन्न माना जाय, तो ब्रह्म स्वयं मिथ्या होगा, या फिर जगत्-प्रपंच, ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण सत्य हो जायगा। देशिक व कालिक परिवर्तन, मिथ्यात्व सिद्ध नहीं कर सकते, रजत-शंख-शुक्ति मिथ्या नहीं है क्योंकि वह और कहीं विद्यमान नहीं है। ब्रह्म स्वयं, इस अर्थ में परिणामी है कि वह असत् रूप से विद्यमान नहीं है या एक पदार्थ के रूप मे, जो न सत् और न असत् है। परिणाम यहाँ विनाश के अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि, जब रजत-सीप का भ्रम जान लिया जाता है, कोई ऐसा नहीं कहता कि रजत-सीप का नाश हो गया। (बाध-विनाशयोर्विविक्तत-यैव व्युत्पत्तेः) । विनाश मे वस्तु का लय हो जाता है, जबकि बाधा या व्याघात, जो देखा था उसका अभाव है। घड़ा विद्यमान है, कपड़ा विद्यमान है ऐसे वाक्यों मे, सत्ता, घड़े और कपड़े को विशेषित करती है किन्तु घड़ा या कपड़ा सत्ता को विशेषित नहीं करता। पुनः यद्यपि ब्रह्म सर्वत्र सत्ता रखता है, फिर भी वह हममें 'घड़ा है' या 'कपड़ा है' जैसे ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता। पुनः सत्ता में काल-परिवर्तन, ऐसी ही सत्ता पर आधारित है, किन्तु वह किसी भी सत्ता को मिथ्या नहीं कर सकता। यदि किसी अप्रकट काल मे होना, मिथ्यात्व की कसौटी समझी जाती है तो ब्रह्म भी मिथ्या है क्योंकि वह भी मुक्ति के पहले अपने को प्रकट नहीं करता। यदि ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म सदा स्वप्रकाश है, किन्तु उसका प्रकट होना मुक्ति-प्राप्ति तक किसी प्रकार छिपा रहता है, तो यह भी बलपूर्वक कहा जा सकता है कि कपड़ा और घड़ा भी उसी प्रकार अव्यक्त रूप से प्रकट रहते है। यदि, प्रकाशन की नित्यता, या उसका अबाध स्वरूप, उसकी सत्ता का माप नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसकी निर्दोषता ही उसके प्रकाशन की नित्यता का कारण है और इसकी सत्ता के स्वरूप को निश्चित

करने से कोई सम्बन्ध नहीं है। जबकि साधारण पदार्थ घड़ा-कपड़ा इत्यादि किसी काल में अस्तित्व रखते दीखते हैं, वे स्वप्रकाशता की अभिव्यक्ति हैं, इसलिए सत् है।

विरोधी तर्क भी यहाँ दिए जा सकते हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि जो मिथ्या नहीं है उसकी निरन्तरता अटूट होती है या वह परिवर्तनशील नहीं है। ब्रह्म मिथ्या है क्योंकि वह किसी के साथ रहकर निरन्तर नहीं है और सबसे भिन्न है।

सत्रहवां आक्षेप

शंकर मतवादी मानते हैं कि जबकि द्रष्टा और (दृश्य) दृष्ट के बीच सम्बन्ध की सत्ता (चाहे किसी प्रकार का हो) समझाना असम्भव है, तो दृष्ट वस्तु या ज्ञान का अर्थ मिथ्या ही मानना पड़ता है। वेंकटनाथ इसके उत्तर में कहते है कि जगत् का मिथ्यापन आवश्यक रूप से अर्थापत्ति के रूप मे नहीं दिया जा सकता, क्योंकि द्रष्टा और दृष्ट के बीच सम्बन्ध स्थापित करना दृष्ट को अस्वीकार करने से नहीं किन्तु स्वीकार करने से सम्भव है। फिर भी ऐसा कहा जाता है कि जबकि द्रष्टा और दृष्ट के बीच सम्बन्ध, तर्क द्वारा तुच्छ सिद्ध किया जा सकता है, तो आवश्यक अनुमान यह निकलता है कि दृष्ट वस्तु मिथ्या है। इस पर उत्तर यह है कि सम्बन्ध का मिथ्यापन, सम्बन्धित वस्तु का मिथ्यापन नहीं सिद्ध करता, शश और विषाण के बीच सम्बन्ध अविद्यमान हो सकता है किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि शश और विषाण दोनो अविद्यमान हैं। इसी तर्क का आश्रय लेकर स्वय द्रष्टा को भी मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है तो भी ऐसा विवाद किया जाता है कि द्रष्टा, स्वप्रकाश होने से स्वय वेद्य है और इसलिए उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता, तो उसका उत्तर यह है कि देखने की क्रिया का अभाव होने पर भी यदि द्रष्टा स्वप्रकाश माना जा सकता है, तो फिर द्रष्टा ही जब नहीं स्वीकारा जाता है, तो दृश्य को भी वैसा ही मानने मे क्या हानि है ? फिर भी यदि, यह कहा जाता है कि वस्तु का ज्ञान, वस्तु स्वय की तरह, स्वतः सिद्ध नहीं माना जा सकता है, तो प्रश्न किया जा सकता है कि चैतन्य को कभी स्वप्रकाश रूप देखा जाता है, यदि कहा जाता है कि चैतन्य का स्वप्रकाशत्व अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, तो प्रतिवाद मे यह माना जायगा कि जगत् का स्वप्रकाशत्व भी योग्य अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। पुनः यह प्रश्न किया जा सकता है कि, यदि शकर-मतवादी, ब्रह्म का स्वप्रकाश स्वरूप अनुमान द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं और उसकी विषयता (दृश्यत्व) अस्वीकृत होती है, तो इस प्रकार उनकी मूल प्रतिज्ञा कि ब्रह्म किसी ज्ञान-व्यापार का विषय नहीं हो सकता, विफल होती है।

शकर-मतवादी अवश्य ही यह विवाद कर सकते हैं कि रामानुज मतानुयायी भी, मानते हैं कि पदार्थ, आत्मा के ज्ञान द्वारा प्रकट होते हैं और इसलिए वे द्रष्टा पर आश्रित हैं। इस विवाद का उत्तर यह है कि रामानुज मतवादी स्वचैतन्य के अस्तित्व को

मानते हैं, जिसके द्वारा ज्ञाता स्वय ज्ञात होता है। यदि इस स्वचैतन्य को मिथ्या माना जाता है, तो स्वय प्रकाश आत्मा भी मिथ्या हो जायगी, और स्वचैतन्य सत्य माना जाता है, तो उसके बीच सम्बन्ध भी सत्य है। यदि स्वप्रकाश चैतन्य का प्रत्यक्ष-ज्ञान असम्भव माना जाता है फिर भी वह सत्य है, तो उसी उपमान के आधार पर जगत् के न दीखने पर भी उसको सत्य माना जा सकता है।

जो ज्ञेय है वह मिथ्या है यह आक्षेप अमान्य है, क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय के बीच तर्क सगत रूप से सम्बन्ध सोचना कठिन है, क्योंकि सम्बन्ध का तार्किक स्वरूप सोचना कठिन होने के कारण ही केवल, सम्बन्धित पदार्थ की सत्ता को अमान्य नहीं किया जा सकता, जबकि वह अविरोध रूप से अनुभव-गम्य है। इसलिए, सम्बन्ध किसी-न-किसी प्रकार मानना ही पडता है। यदि सम्बन्ध, अनुभवगम्य होने से सत्य माना जाता है तो जगत् भी सत्य है, क्योकि वह भी अनुभव-गम्य है। यदि जगत् मिथ्या है इसलिए वह समझ के बाहर है तो मिथ्यात्व भी समझ में न आने से मिथ्या ठहरेगा।

भूत और भविष्य के बीच कोई सम्बन्ध नही हो सकता, यह आक्षेप आधाररहित है, क्योंकि दो वस्तु वर्तमान समय मे विद्यमान हैं इस तथ्य का यह अर्थ नही होता कि वे अवश्य ही सम्बन्धित है, जैसे कि शश और विषाण। यदि यह कहा जाता है कि वर्तमान काल मे विद्यमान वस्तु आवश्यक रूप से सम्बन्धित नही है, यह सत्य हो सकता है तो भी कुछ ऐसे पदार्थ वर्तमान काल में है जो सम्बन्धित हैं, और ऐसी भी वस्तु वर्तमान में है जो अन्य वस्तु से भूत और भविष्य में सम्बन्धित है। यह निस्सदेह सत्य है कि वर्तमान और भविष्य में विद्यमान वस्तुओ के बीच सयोग सबध असम्भव है, किन्तु इससे हमारा मतव्य दूषित नही होता, क्योकि कुछ पदार्थ आपस में वर्तमान काल से सबधित है और कुछ पदार्थ आपस में अन्य प्रकार से भूत और भविष्य काल से सबधित हैं। वर्तमान, भूत और भविष्य के बीच कैसा सबध रहता है यह अनुभव द्वारा ही सीखा जा सकता है। यदि देशिक सन्निकर्ष वर्तमान पदार्थ का विशिष्ट लक्षण है, तो कालिक सन्निकर्ष वर्तमान, भूत और भविष्य के बीच रहेगा ही। फिर भी, सम्बन्ध का अर्थ सन्निकर्षता नही होना आवश्यक है, निकटता और दूरी दोनो ही सम्बन्ध की उपाधियां हो सकती है। सबध को अनुभव के आधार पर मानना चाहिए, और वे अपने विशिष्ट स्वरूप मे विलक्षण और अनिर्वचनीय हैं। किसी माध्यम द्वारा उन्हे समझाने का प्रयत्न अनुभव के प्रतिकूल पडेगा। यदि इस आधार पर सभी सम्बन्धो को खण्डन करने का प्रयत्न किया जायगा कि सबंध अन्य सबधों से अनुमित करेगा और अनवस्था दोष हो जायगा, तो इसका उत्तर यह है कि सबंध को खण्डन करने का प्रयत्न, स्वय सबध को समाविष्ट करेगा, और इसलिए स्वय प्रतिवादी की धारणा के आधार पर वह खडित होगा। सबध स्वय-सिद्ध है और अपनी सत्ता के लिए दूसरे सम्बन्धों पर आश्रित नहीं है।

अठारहवां आक्षेप

वेंकटनाथ, स्वयंप्रकाश ब्रह्म, अपने से बाहर, किसी पदार्थ को प्रकाश का विषय ही नहीं बना सकता, शंकर के अनुयायियों के इस मत का खण्डन करते हुए तर्क करते हैं कि यदि ब्रह्म में अविद्या अनादिकाल से है तो ब्रह्म के लिए उसके पंजे में से निकलने का कोई मार्ग नहीं होने से मुक्ति भी असम्भव हो जायगी। तब प्रश्न किया जा सकता है कि अविद्या, ब्रह्म से भिन्न है या नहीं? यदि वह भिन्न है तो, शंकर का अद्वैतवाद टूट जाता है और यदि वह अभिन्न है तो, एक ओर, ब्रह्म उससे मुक्त नहीं हो सकता, और दूसरी ओर, अविद्या का अहंकार, राग इत्यादि के रूप में ब्रह्म के स्वरूप में एकरस हो जाने से ब्रह्म का विकास नहीं हो सकता। यदि इस अविद्या को मिथ्या माना जाय और इसलिए वह ब्रह्म के स्वतन्त्र स्वरूप को बन्धन में डाल नहीं सकती, तो भी यह आक्षेप किया जा सकता है कि, यदि अविद्या ब्रह्म के स्वरूप को आवृत करती है, तो फिर वह अपनी स्वय प्रकाश्यता किस प्रकार प्राप्त करता है, और यदि वह ऐसा नहीं कर सकता है तो अर्थ यह होगा कि वह नष्ट हो गया, क्योंकि स्व-प्रकाश्यता ब्रह्म का स्वरूप है। यदि अविद्या एक स्वतन्त्र वस्तु के नाते अस्तित्व रखती है और ब्रह्म के स्वरूप को आवृत करती है, तो यह सोचना कठिन होगा कि एक वस्तु का अस्तित्व, केवल ज्ञान से किस प्रकार नष्ट हो सकता है। रामानुज के मतानुसार, तो, ज्ञान, ब्रह्म का गुण या लक्षण है जिसके द्वारा अन्य वस्तु जानी जाती है, अनुभव भी यह बताता है कि ज्ञाता अपने ज्ञान के विषय को प्रकट करता है, और इस प्रकार ज्ञान, ज्ञाता का विलक्षण गुण धर्म है, जिसके द्वारा विषय जाना जाता है।

उन्नीसवां आक्षेप

वेंकटनाथ, अविद्या ब्रह्म में रहती है, शंकर के इस मत के खण्डन में अज्ञान के प्रत्यय को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। वे कहते हैं कि अज्ञान का, ज्ञातत्व शक्ति का पूर्ण अभाव अर्थ नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि यह शक्ति ब्रह्म का सारभाव है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इस (अज्ञान) का ज्ञानोदय से पूर्व का अज्ञान भी शंकर मतवादी ज्ञान को ब्रह्म का गुण या लक्षण नहीं मानते। किसी विशेष ज्ञान का अभाव, यह अर्थ भी उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि शंकर मतवादी ज्ञान को ब्रह्म का गुण या लक्षण नहीं मानते, किसी विशेष ज्ञान का अभाव, यह अर्थ भी उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि शंकर-मतवादी ब्रह्म चैतन्य को ही मात्र चैतन्य स्वीकारते हैं। अज्ञान, ज्ञानाभाव भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसे भाव रूप माना है। अज्ञान जो ज्ञान से नष्ट किया जा सकता है, वह जिसे ज्ञान है उसमें ही होना चाहिए और उसे निर्दिष्ट वस्तु को लक्ष्य करना चाहिए जिसके विषय में अज्ञान है। अब जबकि शंकर मतवादी ब्रह्म को ज्ञाता नहीं मानते हैं, तो उसके साथ किसी प्रकार के अज्ञान का संसर्ग सोचना असम्भव है। रामानुज के अनुयायी द्वारा जो मत प्रतिपादन किया

गया है वह यह है कि व्यक्तिगत ज्ञाता में प्रज्ञान इतना ही है कि वे चेतन तत्त्व के रूप में अपने सच्चे स्वरूप को नहीं जानता, क्योंकि वहाँ अपने को, शरीर, इन्द्रियाँ, उसके राग, पूर्वग्रह और विचारों के संसर्ग में रखता है। जब वह अपनी इस मूर्खता का अनुभव करता है, तो उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है। केवल इसी अर्थ में अज्ञान का ज्ञान द्वारा निरास होता है ऐसा कहा जा सकता है किन्तु यह सब, ब्रह्म को शुद्ध चैतन्य मानने पर असम्भव हो जायगा। रामानुज-मतानुसार, व्यक्तिगत ज्ञाता अपने सच्चे स्वरूप से सर्वज्ञ है, मिथ्या पूर्वग्रह और राग ही, इस सर्वज्ञता को आवृत कर देते हैं जिससे वे साधारण ज्ञाता की तरह दीखते हैं जो निर्दिष्ट परिस्थितियों में ही वस्तु को जान सकते हैं।

बीसवां प्राक्षेप

वेंकटनाथ चित्सुखाचार्य द्वारा 'तत्त्व प्रदीपिका' में दी हुई अनुभूति की परिभाषा अपरोक्ष ज्ञान जो फिर चैतन्य का विषय नहीं बन सकता, (अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यत्व) का खण्डन करते हुए इसके विरुद्ध निम्न आक्षेप प्रस्तुत करते हैं। शंकर मतवादी आग्रह करते हैं कि यदि अनुभूति स्वयं पुनः ज्ञान-व्यापार का विषय हो जायगी तो अनुभूति रूप स्थिति नष्ट हो जायगी और वह अन्य विषयों में एक विषय की तरह मानी जायगी, जैसेकि घडा। यदि अनुभूति से यह अर्थ लगाया जाता है कि वह इस क्रिया के समय स्वयं प्रकट है और प्रकाशित होने के लिए अन्य ज्ञान पर आश्रित नहीं है, तो यह रामानुज-मत में भी स्वीकारा गया है। तदुपरान्त, आगे, यह साक्षात् ज्ञान, स्वप्रकट होने के समय, ज्ञाता की आत्मा को भी प्रकाशित होने से समाविष्ट करता है। अतः जहाँ तक, अनुभूति का यह अर्थ है, वहाँ तक स्वप्रकाश्यता के निषेध को कोई स्थान नहीं है।

अनुभूति शब्द का दूसरा अर्थ भी माना है, अर्थात्, अनुभूति देश, काल और व्यक्तिगत नियम से मर्यादित होकर, पृथक् व्यक्तिगत ज्ञान के रूप में उत्पन्न नहीं होती। किन्तु ऐसी अनुभूति का कभी अनुभव नहीं होता, क्योंकि हम इतना अनुभव नहीं करते कि ज्ञान किसी व्यक्ति को हुआ है या उसे नहीं हुआ है। किन्तु हम अपने ज्ञान के बारे में ऐसा भी कहते हैं कि भूतकाल या भविष्य में होगा, जैसेकि 'मैं जानता हूँ' 'मैंने जाना' इत्यादि। उससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान काल से सीमित है। यह पूछा जा सकता है कि यह अपरोक्ष अनुभूति ब्रह्म को प्रकट करती है या किसी अन्य को, यदि ब्रह्म को प्रकट करती है तो उसका विषय अवश्य है। यदि ऐसा माना जाता है कि ऐसा करने में, वह, जो हाल ही में स्वतः व्यक्त हुआ है उसे ही प्रकाशित करती है, तो भी वह किसी को व्यक्त करती है, चाहे वह जो कुछ हाल ही में व्यक्त हो चुका है। इससे इस प्रतिज्ञा में 'अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्वम्' बाध उत्पन्न होगा,

क्योंकि, उपरोक्त तर्क का अनुसरण करते हुए, यद्यपि ब्रह्म को अपरोक्ष माना जाय, तो भी, वह अनुभूति का विषय हो सकता है ऐसा बताया गया है। यदि दूसरे विकल्प में, यह अनुभूति किसी अन्य वस्तु को प्रकाशित करती है, तो यह प्रतिवादी को उस निष्कर्ष पर ले जायगा, जो वह नहीं चाहता और स्वबाधित भी होगा।

जैसे कोई कहे कि वह घडे को जानता है या नारगी को जानता है, उसी प्रकार कोई यह भी कहा जा सकता है कि वह विषय की तरह दूसरे की या अपनी भी अभिज्ञा जानता है। इस प्रकार, एक अभिज्ञा, दूसरे विषय की तरह, दूसरे की अभिज्ञा का विषय बन सकती है। पुनः, यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की अभिज्ञा नही जान सकता, तो फिर दूसरे के मानस को समझने के लिए भाषा-व्यवहार का अन्त हो जाना चाहिए।

यदि अपरोक्षानुभूति, स्वय, अभिज्ञा का विषय नही हो सकती तो यह अर्थ होगा कि वह सर्वथा अज्ञात रहती है और परिणामतः उसकी सत्ता तुच्छ होती है। आग्रह-पूर्वक यह नही कहा जा सकता कि तुच्छ वस्तु अनुभव नही की जा सकती क्योकि वह तुच्छ है, किन्तु कोई सत्ता ज्ञात नही होती इसलिए वह तुच्छ नही हो जाती, क्योकि पूर्व प्रतिज्ञा (वाक्य) सोपाधिक नही है। शकर मतवादी यह नही मानते कि अपरोक्ष अनुभूति के अतिरिक्त सभी पदार्थ तुच्छ हैं। यह भी माना जा सकता है कि तुच्छ वस्तु अपरोक्ष अनुभूति नही है, क्योकि वह तुच्छ है, किन्तु इस प्रसग में यह भी माना जा सकता है कि ये पदार्थ (घडा इत्यादि) भी अपरोक्ष अनुभूति नही है क्योकि उनमें घटत्व इत्यादि निर्दिष्ट धर्म हैं। दृढतापूर्वक यही स्पष्ट करना है कि साधारण पदार्थ अपरोक्ष अनुभूति से इसलिए भिन्न नही हैं कि वे ज्ञेय हैं किन्तु उनमे निर्दिष्ट धर्म है। एक वस्तु, ज्ञेय होने के कारण, अपरोक्ष अनुभूति नही कही जा सकती, वह सर्वथा दोषपूर्ण है।[1] यदि पुनः ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति है, तो दर्शन एव शास्त्र, कोई भी ब्रह्म के स्वभाव के सम्बन्ध में उसका परिचय नही करा सकेंगे।

इक्कीसवां आक्षेप

शकर मतवादी व्यक्तिगत ज्ञान की उत्पत्ति को अस्वीकार करते है। उनके मता-नुसार सभी प्रकार के तथाकथित ज्ञान (अनुभव) अविद्या के भिन्न प्रकारो का, स्वप्रकाश शुद्ध चैतन्य से सम्बन्धित होने पर, उदय माना गया है। इस मत का खण्डन करते हुए, वेंकटनाथ आग्रहपूर्वक कहते हैं कि विभिन्न अनुभव किसी काल में उत्पन्न होते हैं यह सामान्य अनुभव द्वारा प्रमाणित है। यदि शुद्ध चैतन्य सर्वदा विद्यमान है और व्यक्तिगत ज्ञान को अस्वीकार किया जाता है तो सभी विषयो को एक साथ व्यक्त होना

---

[1] शत दूषणी। २-७८।

चाहिए। तो भी, यदि, यह निश्चित किया जाता है कि शुद्ध चैतन्य सर्वदा विद्यमान रहता है फिर भी विभिन्न ज्ञान अपेक्षित कारण की परिस्थितियों से मर्यादित है, तो प्रत्युत्तर यह है कि इतनी अनन्त संख्यक कारण परिस्थितियों द्वारा शुद्ध चैतन्य को मर्यादित करना स्वयं शंकर मत के विरुद्ध होगा, क्योंकि यह उनके अद्वैतवाद से असंगत होगा। अब यदि पुनः, यह कहा जाता है कि ज्ञान के प्रकार, शुद्ध चैतन्य के स्वरूप को सचमुच प्रभावित करते हैं, तो शुद्ध चैतन्य परिणामी हो जाता है, जो शंकर मत के विरुद्ध है। यदि यह माना जाता है कि आकार शुद्ध चैतन्य पर आरोपित किए जाते हैं, और इन आरोपणों द्वारा निर्दिष्ट विषय बारी-बारी से, चैतन्य द्वारा प्रकाशित होते हैं, तो स्थिति यह है कि विषय या पदार्थ प्रकाशित हो इसलिए, ऐसे प्रकाशन शुद्ध चैतन्य के स्वरूप पर मिथ्या आरोपणों के माध्यम द्वारा होने चाहिए। यदि विषयों का साक्षात् प्रकाशन असम्भव है तो शुद्ध चैतन्य के स्वरूप पर दूसरे आरोपण के लिए दूसरे आरोपण का माध्यम आवश्यक होगा और उसे अन्य की आवश्यकता रहेगी, इस प्रकार अनवस्था-स्थिति उत्पन्न होगी। यदि आरोपण मिथ्या नहीं है, तो चैतन्य परिणामी बन जाता है और पुराना आक्षेप उपस्थित हो जायगा। फिर भी यदि यह आग्रह किया जाता है कि पदार्थ, किसी भी प्रकार की अपेक्षित परिस्थितियाँ एवं शुद्ध चैतन्य की ओर से किसी निर्दिष्ट योगदान पर आधार रखे बिना प्रकाशित होते है तो सभी विषय (जबकि वे सभी शुद्ध चैतन्य से सम्बन्धित है) साथ प्रकाशित होगे। यदि, पुनः, सभी ज्ञान, शुद्ध चैतन्य के स्वरूप पर अध्यास मात्र है, तो, विशिष्ट ज्ञान के मिथ्या आरोपण के समय जैसेकि घडा, कुछ भी नही अस्तित्व रखेगा जो शून्यवाद की परिस्थिति उत्पन्न करेगा। यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि यदि शंकर-मतवादी जगत् और ज्ञाता के बीच सम्बन्ध न समझा सकने की अशक्यता के कारण, जगत् का निषेध करने को तत्पर हैं, तो वह, ऐसे जगत् का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध समझाने के प्रयत्न का आरम्भ ही कैसे कर सकते हैं ?

दूसरी ओर, हमारा सामान्य अनुभव इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि ज्ञान होता है, ठहरता है, चला जाता है और वह हमसे चला गया है। इस प्रत्यक्ष अनुभव के अतिरिक्त हमे भूत और भविष्य की घटना का ज्ञान होना कठिन नही है, इसलिए, यह आक्षेप कि वर्तमान अनुभव, भूत और भविष्य से सम्बन्धित नही हो सकता, अप्रामाण्य है। भूत और भविष्य के पदार्थों का अनुभव, उनके वर्तमान मे अविद्यमान होने से, नही हो सकता यह भी अप्रामाण्य है, क्योंकि भूत और भविष्य के पदार्थ भी अपने निर्दिष्ट कालिक सम्बन्ध मे विद्यमान हैं। अनुभव की प्रमाणता बाधा के अभाव पर निर्भर है, और इस तथ्य पर नही कि वह वर्तमान के पदार्थ से सम्बन्धित है, क्योंकि इसके बिना वर्तमान क्षण के सभी मिथ्या अनुभव प्रमाण मानने पड़ेगे। इस प्रकार, जबकि, जो अभिज्ञा जहाँ नही है, किन्तु जो साक्षात् और अपरोक्ष अनुभव

तथा अनुमान, दोनों से उत्पन्न होती है, उसका अनुभव शक्य है, तो शंकर मतवादियों का व्यक्तिगत ज्ञान की प्रापत्ति का न मानना अप्रमाण है। रामानुज के मत में, ज्ञान, निसंदेह ही नित्य माना गया है, तो भी इस ज्ञान के निर्दिष्ट काल धर्म और निर्दिष्ट अवस्थाएं मानी हैं। इसलिए, जहाँ तक इन धर्मों तथा अवस्थाओ का सम्बन्ध है, उनकी उत्पत्ति और अन्त, निर्दिष्ट अपेक्षित परिस्थितियों के प्रभाव में शक्य है। पुन: यह आक्षेप की शुद्ध चैतन्य अनादि है इसलिए यह अपरिणामी है, अप्रमाण है, क्योंकि शंकर-मतवादी अविद्या को भी अनादि किन्तु परिणामी मानते हैं। इस सम्बन्ध में यह सूचित किया जा सकता है कि तथाकथित निर्विषय चतन्य अनुभवगम्य नहीं है। गाढ़ निद्रा या मूर्च्छा में भी चेतना, द्रष्टा से सम्बन्धित है इसलिए वह निर्विषय नहीं है।

बाईसवां आक्षेप

शकर मतवादी यह आग्रह करते हैं कि शुद्ध चैतन्य, अजात होने से, अपरिणामी है, यदि अपरिणामी शब्द का अर्थ, अस्तित्व का अन्त न होना है, तो यह बताया जा सकता है कि शकर-मतवादी अज्ञान को अजात किन्तु नाशवान् मानते हैं। इसलिए, ऐसा कोई कारण नहीं है कि एक पदार्थ के अजात होने से वह नाशवान् नहीं होना चाहिए। यदि आग्रहपूर्वक ऐसा कहा जाता है कि अविद्या का नाश भी मिथ्या है, तो उसी दृढता से यह भी बताया जा सकता है कि सभी पदार्थों का विनाश भी मिथ्या है। तदुपरान्त, जबकि शकर-मतवादी, किसी परिणाम को सत्य नहीं मानते, तो उनके द्वारा दिया तर्क वाक्य 'जो अजात है वह अपरिणामी है' निरर्थक हो जाता है। शकर और रामानुज के ब्रह्म के स्वरूप-सम्बन्धी विचारों में यह भेद है, कि शकर के अनुसार ब्रह्म नितान्त अपरिणामी और निर्गुण है और रामानुज के अनुसार, ब्रह्म अपने में जगत् और जीव तथा उनमें होने वाले परिणामों को धारण करता हुआ निरपेक्ष है। वह अपरिणामी केवल इसी अर्थ में है कि सभी गत्यात्मक परिणाम भीतर से उत्पन्न होते हैं और उसके बाहर कुछ भी नहीं है जो उसे प्रभावित कर सके। अर्थात् ब्रह्म निरपेक्ष है यद्यपि अतर में परिणामी है, फिर भी वह नितान्त स्वाश्रित और स्वस्थित है और अपने से बाहर किसी से सर्वथा अप्रभावित है।

तेईसवां आक्षेप

शकर मतवादी आग्रहपूर्वक कहते हैं कि शुद्ध चैतन्य नाना रूप नहीं हो सकता क्योंकि वह अजात है, क्योंकि जो नाना रूप है वह उत्पन्न हुआ है जैसे घड़ा। यदि शुद्ध चैतन्य ही अविद्या की उपाधि से नाना रूप दीखता है, तो इस सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि शुद्ध चैतन्य अन्य किसी से विविक्त नहीं किया जा सकता, तो वह देह से भी एक रूप हो सकता है, यह मान्यता शंकर-मत के विरुद्ध है। फिर भी यदि यह उत्तर दिया जाता है कि शुद्ध चैतन्य और देह के बीच तथाकथित

भेद केवल मिथ्या भेद है, फिर तो उसे मानना ही पड़ेगा जो कि शंकर के अनुयायियों द्वारा मान्य, ब्रह्म के अपरिणामी स्वरूप का विरोध करेगा। यदि, देह और शुद्ध चैतन्य के बीच वास्तविक भेद को अस्वीकार किया जाता है, तो (यह आग्रह किया जा सकता है कि) इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु, जो सचमुच भिन्न है वह उत्पन्न होती है (जैसे घड़ा), किन्तु शंकर मतवादियों के अनुसार, घट इत्यादि ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं, इसलिए उपरोक्त निष्कर्ष समर्थन में नहीं दिया जा सकता। इसके अतिरिक्त, जबकि अविद्या अजात है, तो शंकर-मतवादियों की उक्ति के अनुसार, यह निष्कर्ष उत्पन्न होगा कि वह ब्रह्म से भिन्न नहीं होगी, जिसे वे निस्संदेह ही सरलता से नहीं मानेंगे। यह भी नहीं माना जा सकता कि एक अभिज्ञा दूसरे से इस मान्यता के आधार पर भिन्न नहीं है कि भिन्न अभिज्ञाएँ, एक ही चैतन्य पर आरोपित भासमान आकार हैं, क्योंकि, जहाँ हम भेद को मानते हैं, हम उन्हें भासमान भेद और भासमान आकार ही कहते हैं और यदि भासमान भिन्न आकार मान लिए जाते हैं तो यह नहीं कहा जा सकता कि वे भिन्न नहीं हैं। पुनः, ऐसा आग्रह किया जाता है कि एक ही चंद्र तरंगमय पानी के कारण अनेक रूप दीखता है उसी प्रकार वही अभिज्ञा अनेक रूप में दीखती है, यद्यपि वह एक ही है। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि वह सादृश्य मिथ्या है। चंद्र का प्रतिबिम्ब चंद्र से एक नहीं है, उसी प्रकार, भासमान विषय, अनुभव से एक नहीं हैं। यदि ऐसा कहा जाता है कि समस्त चंद्र-प्रतिबिम्ब मिथ्या हैं, तो उसी सादृश्यता के अनुसार, सभी अनुभव मिथ्या हो सकते हैं और तब यदि एक ही चैतन्य, सभी अनुभवों के अधिष्ठान रूप सत्य है, तो सभी अनुभव समान रूप से सत्य एवं मिथ्या कहे जा सकते हैं। पुनः, सिद्धान्त-दृष्टि से चैतन्य, व्यक्तिगत ज्ञान से भिन्न नहीं है, यह मत प्रतिपादनीय नहीं है, क्योंकि रामानुजवादी, चैतन्य का ऐसा अमूर्त सिद्धान्त नहीं मानते हैं, उनकी दृष्टि में सभी ज्ञान निर्दिष्ट एवं व्यक्तिगत हैं। इस सम्बन्ध में यह सूचित किया जा सकता है कि रामानुज-मतवादियों के अनुसार, चैतन्य जीवों में नित्य गुण के रूप में विद्यमान है, अर्थात् वह उपाधि एवं परिस्थितियों के अनुसार परिणत हो सकता है।

चौबीसवां आक्षेप

शुद्ध चैतन्य के निर्गुण स्वरूप पर आक्षेप करते हुए, वेंकटनाथ कहते हैं कि निर्गुण होना भी विशिष्ट धर्म है। यह निषेधात्मक होने से अन्य गुणों से भिन्न है। निषेधात्मक गुणों को भावात्मक गुणों जैसे ही आक्षेप-योग्य समझना चाहिए। पुनः शंकर-मतवादी ब्रह्म को निरपेक्ष और अपरिणामी मानते हैं, और ये भी गुण हैं। यदि उत्तर दिया जाता है कि गुण भी मिथ्या हैं, जो उनसे विपरीत गुण सत्य ठहरेंगे, अर्थात् ब्रह्म परिणामी माना जायगा। पुनः, यह प्रश्न किया जा सकता है कि निर्गुण ब्रह्म की सत्ता किस प्रकार सिद्ध की गई है। यदि इसे बुद्धि द्वारा सिद्ध नहीं

किया गया है तो पूर्व मान्यता असंगत है, यदि वह बुद्धि द्वारा सिद्ध किया गया है तो, बुद्धि ब्रह्म में विद्यमान होनी चाहिए, और इससे वह बुद्धि-विशिष्ट हो जायगा।

पच्चीसवां आक्षेप

वेंकटनाथ, शंकर-मतवादियों की इस मान्यता को अस्वीकार करते हैं कि जो अपने आपको प्रकाशित करता है या जो स्वय प्रकाश्य है 'उसे आत्मा कहना चाहिए। इस आधार पर, चैतन्य आत्मा है, क्योंकि वह अपने आपको प्रकाशित करता है। वेंकटनाथ आगे आग्रह करते हैं कि ज्ञान का प्रकट होना सर्वथा निरुपाधिक नहीं है क्योंकि प्रकाशन ज्ञाता की आत्मा को होता है, वह न अन्य किसी को या सभी को होता है: यह तथ्य स्पष्ट बताता है कि वह आत्मा द्वारा मर्यादित है। यह भी इगित किया जा सकता है ज्ञान का प्रकाशन उसे स्वय ही नहीं होता, किन्तु एक ओर आत्मा को होता है और दूसरी ओर विषय को, इस अर्थ में, कि वे ज्ञान के घटक हैं। पुनः यह सामान्य अनुभव द्वारा सिद्ध है कि चेतना आत्मा से भिन्न है। यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि यदि वह चैतन्य आत्मा से अभिन्न है तो वह अपरिणामी है या परिणामी ? क्या उसे अपरिणामी मानना असम्भव होगा ? पहले विकल्प में, यह आगे प्रश्न किया जा सकता है कि इस अपरिणामी चैतन्य का कोई आधार है या नहीं, यदि नहीं है तो वह बिना किसी आधार कैसे टिक सकता है ? यदि उसका कोई आधार है तो उस आधार को ज्ञाता, उचित रूप से माना जा सकता है, जैसाकि रामानुज-मतवादी मानते हैं। यहाँ यह भी सूचित किया जाय कि ज्ञान, गुण या धर्म होने के कारण, उसका आत्मा से, जो गुण का अधिष्ठान है तादात्म्य नहीं किया जा सकता।

छब्बीसवां आक्षेप

शकर मतवादी यह प्रतिपादन करते है कि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य है। इसलिए आत्मा का 'मैं' के रूप मे अनुभव मिथ्या है और इसी कारण मुक्ति तथा गाढ निद्रा मे वह अनुपस्थित है। इस पर वेंकटनाथ का प्रत्युत्तर यह है कि यदि 'मैं' का विचार गाढ़ निद्रा में नहीं होता है तो आत्म-चेतना की निरन्तरता असम्भव है। यह निस्सदेह ही सत्य है कि गाढ़ निद्रा मे आत्मा का 'मैं' प्रत्यय के रूप में प्रकट रूप से अनुभव नहीं होता, किन्तु इस कारण वह उस समय अविद्यमान नहीं है, क्योंकि 'मैं' के रूप में आत्मा की निरन्तरता इस तथ्य से अनुमित है कि गाढ निद्रा के पहले एवं पश्चात् भी वह अनुभव होता है, इसलिए वह निद्रा के समय में भी विद्यमान होगा। और आत्म-चेतना स्वयं भूत और भविष्य को निरन्तरता के रूप मे लक्ष्य करती है। यदि इस अहं प्रत्यय का निद्रा में नाश होता है तो अनुभव की निरन्तरता समझायी नहीं जा सकती। (मध्ये चाहमर्थाभावे सस्कार-धारा-भावात्, प्रतिसंधानाभाव-प्रसगाच्च)।

यह तथ्य सिद्ध है कि ज्ञाता के अभाव में ज्ञान एवं अज्ञान दोनों ही नहीं रह सकते। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अनुभव की निरन्तरता, शुद्ध चैतन्य या अविद्या को, गाढ़ निद्रा में, प्रेषित कर दी जाती है, क्योंकि शुद्ध चैतन्य अनुभव का आगार नहीं हो सकता, और यदि अविद्या आगार है, तो वह ज्ञाता होगी, जो असम्भव है और प्रत्यभिज्ञा समझायी नहीं जा सकेगी, क्योंकि अविद्या से सम्बन्धित अनुभव, उस तत्व द्वारा नहीं स्मरण किया जा सकता, जिसे अहं प्रत्यय लक्ष्य करता है। इसके अतिरिक्त, निद्रा से उठने के बाद मनुष्य का यह अनुभव कि 'मैं इतनी देर सुख से सोया' बताता है कि जो तत्व अहं प्रत्यय द्वारा लक्ष्य किया जाता है वह निद्रा के अन्तर्गत भी अनुभव किया गया था। गाढ निद्रा की अवस्था को लक्ष्य करता हुआ भी अनुभव 'मैं इतना गहरा सोया कि मैंने अपने को भी नहीं जाना' यह बताता है कि आत्मा उस समय, निर्दिष्ट शारीरिक एवं देश और काल के सम्बन्ध से अज्ञात है। इस पर विवाद नहीं किया जा सकता कि अहं प्रत्यय को लक्ष्य करने वाला तत्व मुक्ति में भी रह नहीं सकता, क्योंकि यदि मुक्ति में कोई ऐसा तत्व नहीं है तो कोई भी उस अवस्था को प्राप्त करने का प्रयास नहीं करेगा। मुक्ति के समय शुद्ध निर्गुण ब्रह्म के अनुभव का अर्थ आत्मा का विनाश होगा और कोई भी कभी अपने विनाश में रुचि नहीं रखेगा। तदुपरान्त, यदि, अहं प्रत्यय को लक्ष्य करने वाला तत्व सत् नहीं है तो अहं प्रत्यय द्वारा निर्दिष्ट तत्व जिसका कि बहुधा शरीर एवं इन्द्रियों से तादात्म्य किया जाता है, यह मत (शंकर मतवादी बहुधा ऐसा कहते है) निरर्थक ठहरेगा। यदि भ्रम, मिथ्या आभास के मिथ्या आरोपण के कारण होता है, जैसेकि देह या इन्द्रियों का शुद्ध चैतन्य पर, तो उसे अहं का इन्द्रियों तथा देह रूप से, भ्रम नहीं कहा जायगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि आत्मा के अहं प्रत्यय रूप अनुभव में दो भाग हैं, शुद्ध चैतन्य जो नित्य और सत् है, और अहंता, जो मिथ्या आभास मात्र है। क्योंकि यदि यह अहं अनुभव में ऐसा है तो वह अन्य अनुभवों में भी यह या वह के रूप से, बाह्य विषय में, भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि ऐसा है, तो स्वगत जैसे विशिष्ट अनुभव को विषयगत अनुभव से भिन्न कैसे किया जायगा? वह कौनसा धर्म है जो स्वगत अनुभव की विशिष्टता है? इस प्रकार यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि अहं तत्व आत्मा का सच्चा स्वरूप है।

सत्ताइसवां आक्षेप

शंकर मतानुयायियों का यह आग्रह कि ज्ञाता के रूप में आत्मप्रत्यय होता है, मिथ्या है, क्योंकि परम सत्ता रूप ब्रह्म पूर्णतः अपरिणामी है। कारण यह है कि ज्ञाता होने का उसका आरोपित गुण इस प्रकृति से मेल नहीं खाता। इस सम्बन्ध में यह उत्तर दिया जा सकता है कि यदि ज्ञातभाव को उसका परिणामी गुण मान लिया जाए तो सत्ता या स्वयं प्रकाशता को भी गुण मानना पड़ेगा, फिर इनका उसकी प्रकृति

से मेल न बैठेगा। ज्ञानरूपा में परिवर्तन से आत्मा के अपरिवर्त्य स्वभाव पर ज़रा भी असर नहीं पड़ता, क्योंकि ज्ञान के परिवर्तन से आत्मा परिवर्तित नहीं होती।

अट्ठाइसवां आक्षेप

यह सुविदित है कि शंकर मतवादी, शुद्ध चैतन्य को समस्त आकार और आभास का द्रष्टा साक्षी मानते हैं, और इस साक्षित्व व्यापार द्वारा ही ये सब प्रकाशित होते हैं। उसी साक्षी चैतन्य द्वारा चेतना की निरन्तरता स्थिर रहती है और गाढ निद्रा में भी जो आनन्द का अनुभव होता है वह इसी साक्षी चैतन्य द्वारा भासित होता है। रामानुज मतानुवादी इस साक्षि-चैतन्य को अस्वीकार करते हैं, साक्षी का प्रयोजन ज्ञाता के व्यापार द्वारा सिद्ध होता है जिसकी चेतना, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में भी निरन्तर रहती है। वेंकटनाथ आग्रहपूर्वक कहते हैं कि आनन्द की अभिव्यक्ति अशुद्ध चैतन्य से अभिन्न है, वह शुद्ध चैतन्य के स्व-प्रकाशत्व से ही अनुमित है। यह भी बताना उचित होगा कि गाढ निद्रा मे इन्द्रिय-सुख अभिव्यक्त नही किए जा सकते : यदि ऐसा है तो फिर, गाढ निद्रा में आनन्द के अनुभव को समझाने के लिए साक्षि चैतन्य को क्यो माना जाय ? जबकि ब्रह्म को सच्चा ज्ञाता नहीं माना गया है, इसलिए साक्षी का प्रत्यय और ज्ञाता एक नहीं है। उसका केवल प्रकाशन भी नहीं हो सकता, क्योंकि यदि वह अपने को ब्रह्म रूप से प्रकाशित करता है, तो साक्षि-चैतन्य के माध्यम की आवश्यकता नही रहती। यदि वह अविद्या के रूप में प्रकाशन करता है, तो इसके सम्बन्ध से ब्रह्म मिथ्या हो जायगा। यह नहीं हो सकता कि साक्षि-चैतन्य का व्यापार ब्रह्म के समान हो, और तब भी वह अविद्या का स्वरूप ग्रहण करता रहे, क्योंकि वह ब्रह्म और अविद्या दोनों से अभिन्न नहीं हो सकता। यदि साक्षि-चैतन्य का व्यापार मिथ्या है, तो असख्य साक्षी मानने के कारण अनावस्था दोष आता है। इस तरह जिस किसी प्रकार से साक्षि-चैतन्य को समझा जाय, हम उस तर्क से या अनुभव से उसे संगत ठहराने में निष्फल रहते हैं।

उन्नतीसवां और तीसवां आक्षेप

वेंकटनाथ आग्रह करते है कि शकर मतवादी शास्त्र-प्रमाण को प्रत्यक्ष अनुभव से श्रेष्ठ मानते हैं, यह ग़लत है। वास्तव में शास्त्र का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव के बिना असम्भव है, इसलिए, शास्त्रों को इस प्रकार समझाना चाहिए कि वे प्रत्यक्ष से विरोध में न आवें। इसलिए, जबकि प्रत्यक्ष नानात्व को सिद्ध करता है, तो नानात्व को मिथ्या सिद्ध करने वाले शास्त्र का अर्थ निस्सदेह अप्रमाण होगा। उसके बाद शकर-मतवादी, मिथ्या साधनो द्वारा सच्चे ज्ञान प्राप्त करने के अनेक गलत दृष्टान्त देते हैं तथा आग्रह करते हैं (जैसेकि, मिथ्या सर्प से जो डर उत्पन्न होता है, अक्षर द्वारा पदार्थ सूचित करना, जबकि अक्षरो का संग्रह तो रेखाओं का समाहार है)। किन्तु वेंकटनाथ

का उत्तर यह है कि उन सभी दृष्टान्तो में जहाँ मिथ्यात्व से सत्य की प्राप्ति मानी गई है वहाँ हम मिथ्यात्व से सत्य की ओर नही पहुँचते किन्तु एक सच्चे ज्ञान से दूसरे सच्चे ज्ञान की ओर पहुँचते हैं। रेखाएँ, किसी वस्तु की सच्ची प्रतीक है इसी कारण, वे उसका प्रतिनिधित्व करती हैं, और मिथ्यात्व के सत्य की प्राप्ति के कोई भी उदाहरण नही दिए जा सकते। इसलिए यदि शास्त्र भी मिथ्या है, (अन्तिम अर्थ में) जैसाकि शंकर मतवादी कहेंगे, तो उनके लिए हमे ब्रह्म-ज्ञान-प्राप्ति कराना असम्भव हो जायगा।

इकतीसवां आक्षेप

शकर के अनुयायियो का यह मत है कि सच्चे ज्ञान से इसी जीवन में मुक्ति प्राप्त हो सकती है, जिसे कि वे जीवन्मुक्ति कहते हैं, रामानुज मतवादी इसे अस्वीकार करते हैं। वे ऐसा मानते है कि सच्चे ज्ञान द्वारा मुक्ति नही मिल सकती किन्तु सच्चे ज्ञान के सयोग से, उचित कर्म और उचित भाव द्वारा मुक्ति मिल सकती है। जगत् के पदार्थों से सच्चा वियोग शरीर के न रहने पर ही होता है। वेंकटनाथ यह बताते हैं, कि जहाँ तक देह है, एकाकार रूप से परम ज्ञान का अनुभव सम्भव है, क्योकि ऐसे पुरुष को अपने शरीर और उसके नाना सम्बन्ध का भान अवश्य ही होगा, यदि ऐसा कहा जाय कि यद्यपि शरीर रहता है किन्तु उसे मिथ्या या असत् माना जा सकता है, तो इसका अर्थ यह होगा कि वह शरीर-रहित है और तब जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति मे भेद असम्भव हो जायगा।

बत्तीसवां आक्षेप

शकर-मतवादी आग्रहपूर्वक कहते हैं कि अज्ञान या अविद्या, यद्यपि ज्ञान-विरोधी है, तो भी वह भावात्मक पदार्थ है जैसाकि प्रत्यक्ष अनुमान एव शास्त्र प्रकट करते हैं। वेंकटनाथ इसे अस्वीकार करते हुए, यह कहते हैं कि यदि अज्ञान को ज्ञान-विरोधी माना जाता है तभी ऐसा हो सकता है जबकि वह ज्ञान का निषेध करता है अर्थात् उसे अभावात्मक होना चाहिए। ऐसा अभाव किसी ज्ञान के विषय को स्पष्ट ही लक्ष्य करे, और यदि यह मान लिया जाता है तो ज्ञान का विषय जान लिया होना चाहिए, क्योकि नही तो निषेध उसे लक्ष्य नही कर सकता। इस पर शकर-मतवादी, शायद यह कहेगे कि ज्ञान का निषेध और विषय जिसे वह लक्ष्य करता है, ये दोनों इस तरह से स्वतंत्र वस्तु हैं कि ज्ञान का निषेध, आवश्यक रूप से बाध्य नहीं करता कि ज्ञान का विषय ज्ञात होना चाहिए। इसलिए, यह कहना गलत है कि ज्ञान का अभाव वदतो व्याघात-दोष है। इस पर स्पष्ट उत्तर यह है कि जैसाकि निषेध के प्रसंग में, जहाँ, निषेध किए गए पदार्थ की उपस्थिति निषेध का बाध करती है, उसी प्रकार जहाँ सभी ज्ञान के अर्थ (पदार्थ) का निषेध है, किसी भी (पदार्थ) का अस्तित्व उसे

आवश्यक रूप से बाध करता है। इसलिए, 'मैं कुछ नहीं जानता' यह अनुभव, किसी भी ज्ञान से बाधित होगा। यदि यह आग्रह किया जाता है कि ज्ञान का निषेध और उसका अनुभव दो भिन्न क्षणों में हो, और उसका अनुभव विरोधात्मक न हो, तो उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष सर्वदा वर्तमान काल मे अस्तित्व रखने वाले पदार्थों को ग्रहण करता है। यद्यपि, गाढ निद्रा में अज्ञान के तथाकथित प्रत्यक्ष के प्रसग में, अज्ञान का ज्ञान अनुमान द्वारा हुआ हो ऐसा माना जाय और 'मैं अज्ञ हूँ' मैं अपने को या दूसरो को नही जानता, 'ऐसे प्रसगो में, स्पष्ट रूप से अज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसलिए, यह असम्भव है कि 'मैं' का अनुभव भी हो और वह अज्ञ भी रहे। इस प्रकार अज्ञान अनुभव निरर्थक रहेगा। पुनः अभाव (निषेध) के अनुभव को आवश्यक प्रतियोगी लक्ष्य करना चाहिए, इससे यह अर्थ होगा कि प्रतियोगी का ज्ञान है, और वह सर्वव्यापी अभाव के अनुभव को बाध करेगा जो सर्वथा ज्ञानरहित है। तो भी यह आग्रह किया जाय कि अज्ञान का ज्ञान उसके अभाव का अनुभव नही है, किन्तु एक भावात्मक पदार्थ का अनुभव है और इसलिए उपरोक्त विवाद मे दिए गए आक्षेप यहाँ निरुपयोगी रहेंगे।

इस पर प्रत्युत्तर यह है कि अज्ञान नामक भाव पदार्थ की मान्यता जो प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, ज्ञान-विरोधी पदार्थ को अनुमित कर सकती है, क्योंकि अज्ञान का 'अ' नञ् अनुपस्थिति या निषेध के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यदि ऐसा है तो, यह आग्रह किया जा सकता है कि विरोध का अनुभव दो पद लक्षित करता है, वे हैं जो विरोध करता है और जिसका विरोध किया जाता है। इस प्रकार, अज्ञान अनुभव ज्ञान को भी समाविष्ट करेगा, इसलिए जब अज्ञान का विरोधी प्रकाशित होता है तब अज्ञान कैसे दीखेगा? इसलिए, यह स्पष्ट है कि अज्ञान को केवल अभाव मानने के बजाय भाव पदार्थ मानने से कोई लाभ नही होता। भाव रूप अज्ञान का प्रत्यय ऐसे किसी नए उद्देश्य की पूर्ति नही करता है जो कि अज्ञान का ज्ञानाभाव प्रत्यय उसी प्रकार न कर सकता हो। यदि भाव पदार्थ, ब्रह्म के प्राकट्य को मर्यादित करता हुआ माना जाता है तो अभाव भी वही कर सकता है। शकर-मतवादी स्वयं मानते हैं कि ज्ञान, अज्ञान को, जो ज्ञान के उदय का प्रागभाव है, निरास करके प्रकट होता है और इस प्रकार एक रूप से वे इसे अज्ञान का अभावात्मक रूप मानते हैं। मैं मुग्ध हूँ (मुग्धोऽस्मि) इस माने हुए अनुभव में विरोध के प्रत्यय का समावेश होता है। मुग्ध शब्द में निषेधात्मक प्रत्यय न होने से यह अर्थ नही निकलता है कि वह निषेधात्मक नही है। इस प्रकार भाव रूप अज्ञान प्रत्यक्ष से प्रमाणित नहीं है।

यह सूचित किया गया है कि अज्ञान की सत्ता इस मान्यता पर सिद्ध की जा सकती है कि यदि प्रकाश, अंधकार को दूर करके प्रकट होता है, उसी प्रकार, ज्ञान को भी भाव रूप अज्ञान को दूर करके प्रकट होना चाहिए। अनुमान ज्ञान का एक प्रकार

है, और इसलिए उसे अपने व्यापार को आवृत करने वाले किसी भी अज्ञान को दूर करना चाहिए। जबकि यह अज्ञान अपने को प्रकट नहीं कर सका तो यह सहज अनुमान किया जायगा कि कोई दूसरा अज्ञान आवृत्त कर रहा है और जिसे दूर किए बिना वह अपने को प्रकट नही कर सका, तो इस प्रकार अनवस्था स्थिति आ जाएगी। यदि अज्ञान प्रच्छन्न मानते हैं तो अनुमान अज्ञान को साक्षात् नष्ट करता है यह भी माना जा सकता है, जब कभी ज्ञान किसी पदार्थ को प्रकाशित करता है, तब वह उससे सम्बन्धित अज्ञान को दूर करता है। शास्त्र भाव रूप अज्ञान का समर्थन नहीं करते हैं। इस प्रकार भाव रूप अज्ञान का प्रत्यय न्यायविरुद्ध है।

चालीसवां आक्षेप

अज्ञान ब्रह्म में नही किन्तु जीव में रहता है, यह मान्यता गलत है। यदि अज्ञान जीव के अपने सच्चे स्वरूप में (अर्थात् ब्रह्म रूप से) रहता है तो अज्ञान वस्तुतः ब्रह्म में ही रहता है। यदि ऐसा माना जाता है कि अज्ञान प्रत्येक जीव के अपने वास्तविक स्वरूप में नही किन्तु सामान्यतः समझे जाने वाले जन्म-मरणादि धर्मयुक्त रूप में रहता है, तो कहने का अर्थ यह होता है कि अज्ञान भौतिक द्रव्य से सम्बन्धित है और वह दूर नही किया जा सकता, क्योंकि भौतिक बन्धनो में बद्ध जीव मे अज्ञान को दूर करने की इच्छा कभी नही हो सकती, न उसमें उसे नाश करने की शक्ति ही है। पुनः यह प्रश्न किया जाय कि अज्ञान व्यक्तिगत जीवो में भेद करता है तो वह भिन्नता जीवो मे एक है या अनेक। पहले प्रसग के अनुसार एक जीव की मुक्ति से अज्ञान हट जाने पर सभी मुक्त हो जाएँगे। दूसरे प्रसग में, यह कहना कठिन है कि अविद्या पहले है या जीवो का आपस मे भेद, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होगा, क्योंकि शकर-मतवादी जीवो मे भेद की सत्ता नहीं मानते। 'अज्ञान ब्रह्म से सम्बन्धित है' इस मतानुसार, जीवो के बीच भेद मिथ्या होने से, भिन्न जीवो के अनुसार भिन्न अज्ञान मानने की आवश्यकता नही रहती। कुछ भी हो, अविद्या, चाहे सत्य हो या भ्रम रूप हो, वह जीवो की भिन्नता नहीं समझा सकती। पुनः यदि अज्ञान, जो जीवो मे भेद उत्पन्न करने वाले माने गए हैं, वे ब्रह्म में रहते है ऐसा माना जाता है तो ब्रह्म नहीं जाना जा सकता। अज्ञान जीवो में रहते हैं इस वाद के अनुसार, पुनः पुरानी कठिनाई सम्मुख आती है कि अविद्या का भेद प्राथमिक है या जीवों का भेद। यदि उस समस्या का इस प्रस्ताव से हल करने का मतव्य है कि यहाँ अनवस्था स्थिति बीज और अकुर जैसे दोषपूर्ण नही है, तो यह बताया जा सकता है कि अज्ञान, जो जीवो में भेद उत्पन्न करता है उनका जीव ही आधार है इस मान्यता को स्वीकारने पर अनवस्था को कोई स्थान नही रहता। बीज जो अकुर पैदा करता है वह अपने आपको उत्पन्न नहीं करता। यदि यह सूचन किया जाता है कि पूर्वगामी जीवों की अविद्या उत्तरकालीन जीवो को उत्तरकालीन जीवो को उत्पन्न करती है तो जीव नाशवान् हो जाएँगे। इस

प्रकार, किसी भी प्रकार हम इस मत का समर्थन करना चाहें कि अविद्या प्रत्येक जीवों मे रहती है तो हमें भारी असफलता का सामना करना पड़ता है।

इकतालीसवां आक्षेप

ऐसा कहा जाता है कि अविद्या-दोष ब्रह्म में है। यदि यह अविद्या-दोष ब्रह्म से भिन्न है तो वह वास्तव मे द्वैतवाद स्वीकार करने जैसा होता है, यदि ऐसा नही है अर्थात् ब्रह्म से भिन्न नहीं है, तो ब्रह्म स्वय सभी भ्रमों और भूलों का उत्तरदायी है जो अविद्या जनित हैं, और ब्रह्म के नित्य होने से, सभी भ्रम और भूल भी अवश्य नित्य होगे। यदि ऐसा कहा जाय कि भ्रम और भूल, ब्रह्म के किसी अन्य सहकारी से सम्बन्धित होने पर उत्पन्न होते हैं, तो इस पर पुराना प्रश्न खड़ा किया जा सकता है कि वह सहकारी कारण, ब्रह्म से भिन्न है या नही, और वह सत् है या असत्। फिर ऐसा सहकारी कारण आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य के सच्चे ज्ञान से उत्पन्न होने का प्रागभाव रूप नही हो सकता, क्योंकि तब फिर शंकर-मतवादियों द्वारा प्रतिपादित भाव रूप अज्ञान का सिद्धान्त सर्वथा अनावश्यक और अयोग्य हो जायगा। ऐसा अभाव ब्रह्म से अभिन्न नही हो सकता, क्योंकि तब सत्य के उदय एव अज्ञान के नाश के साथ स्वय ब्रह्म का अन्त हो जायगा। जबकि ब्रह्म से बाहर सब कुछ मिथ्या है, यदि ऐसी कोई वस्तु है जो ब्रह्म के प्रकाश का अवरोध या उसमें विकृति उत्पन्न करती है, (यदि विकृति किसी भी अर्थ में सत् हो) तब वह वस्तु भी ब्रह्म होगी, और ब्रह्म के नित्य होने से वह विकृति भी नित्य होगी। यदि जो दोष अवरोधक के रूप मे कार्य करता है उसे असत् और अनादि मान लिया जाता है, तो भी उसे किसी का आधार होना चाहिए, और वह अनवस्था दोष उत्पन्न करेगा। यदि वह किसी भी कारण पर आश्रित नही है, तो वह ब्रह्म जैसा होगा, जो निरर्थक दोष पर आश्रित हुए बिना प्रकाशित होता है। यदि ऐसा कहा जाता है कि यह दोष अपनी एव दूसरो की भी रचना करता है, तो जगत् की रचना किसी अन्य दोष पर अवलम्बित हुए बिना प्रकट होगी। यदि ऐसा कहा जाय कि दोष की अपनी रचना करने में कोई असंगति नही है जैसे कि भ्रम एक प्रकार से अपनी ही रचना है, अर्थात् वह अपने से बना है, तो शकर-मतवादी अपने ही मत का खण्डन करेंगे क्योंकि वे अवश्य ही मानते हैं कि अनादि जगत्, सर्जन-दोष के व्यापार से है। यदि अविद्या स्वय मिथ्या आरोपण नहीं है, तो वह या तो सत्य होगी या तुच्छ। यदि वह भ्रम और कार्य दोनो ही मानी जाती है, तो वह अनादि नही होगी। यदि उसका आरम्भ है तो उसे जगत्-प्रपच से परिच्छिन्न नहीं किया जा सकता। यदि भ्रम और उसकी रचना अभिन्न मानी जाय, तब भी अविद्या अपने से अपनी रचना करती है यह पुरानी कठिनाई वैसी ही बनी रहती है। पुनः, अविद्या, ब्रह्म को किसी सहकारी दोष की सहायता के बिना दीखती है, तो वह ऐसा निरन्तर करती रहेगी। यदि यह आग्रह किया जाता

है कि जब अविद्या का अन्त होता है उसकी अभिव्यक्तियों का भी अन्त हो जायगा, तब भी कठिनाई उपस्थित होती है जिसका शंकर-मतवादियों ने स्वयं सूचन किया है : क्योंकि हम जानते हैं कि उनके मतानुसार प्रकाशन और प्रकाश्य में भेद नहीं है और दोनों के बीच कोई कारण-व्यापार भी नहीं है। जो प्रकाशित होता है उसे प्रकाश तत्व से पृथक् नहीं किया जा सकता।

यदि यह आग्रह किया जाता है कि जब तक सच्चे ज्ञान का उदय नहीं होता तब तक ही अविद्या प्रकट रहती है, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता कि सच्चे ज्ञान के उदय होने का प्रागभाव जगत्-प्रपंच का कारण है और अविद्या मानना अनावश्यक है ? यदि यह कहा जाता है कि नानारूप जगत्-प्रपंच का अभाव, कारण नहीं माना जा सकता, तो उतने ही बलपूर्वक यह भी आग्रह किया जा सकता है कि यह स्थिति नाना रूप जगत्-प्रपंच को उत्पन्न करने में शक्य भी मानी जा सकती है। यदि ऐसा माना जाता है कि आँख में भावात्मक दोष कई भ्रम उत्पन्न कर सकता है तो दूसरी ओर यह भी आग्रह किया जा सकता है कि परिच्छेद एवं भेद को न देखना भी बहुधा अनेक भ्रम उत्पन्न करता है। यदि ऐसा कहा जाता है कि अभाव काल से मर्यादित नहीं है, और इसलिए, वह काल की भिन्न परिस्थितियों में, नाना प्रकार के जगत्-प्रपंच उत्पन्न करने में शक्तिमान् नहीं है और इसी कारण से, भाव रूप अज्ञान मानना अधिक ठीक है, तब भी उसी आग्रह से यह प्रश्न किया जा सकता है कि काल धर्म से अमर्यादित अनादि अज्ञान, काल से मर्यादित होकर, सच्चे ज्ञान के उदय तक, नाना रूप जगत्-प्रपंच को किस प्रकार उत्पन्न करता रहता है। उत्तर में यदि यह कहा जाता है कि अविद्या का गुण यही है तो फिर यह पूछा जा सकता है कि अभाव के ऐसे स्वभाव या धर्म को मानने में हानि भी क्या है ? यह कम से कम, हमें भाव रूप अज्ञान के विचित्र एवं पूर्व कल्पना को मानने से बचाता है। यह आग्रह किया जाय कि अभाव एकरस एवं निराकार है और इसलिए उसमें धर्म-परिणाम नहीं हो सकता जबकि अविद्या, भावरूप पदार्थ होने से, विवर्त-परम्परा में परिणत हो सकती है। इस सम्बन्ध में यह आग्रह किया जा सकता है कि अविद्या का धर्म इस विवर्त-परिणाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यदि, ऐसा है जबकि अविद्या का धर्म ही नानारूप परिणाम की परम्परा होना है, तो हर समय हर प्रकार के भ्रम बने रह सकते हैं। भ्रम को विवर्त का परिणाम भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अविद्या ऐसे कार्य उत्पन्न करती मानी है। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि अविद्या स्वयं, अनुभव में आने वाले विवर्त-परिणामों से भिन्न एक विशिष्ट पदार्थ है तब भी वही पुराना प्रश्न खड़ा हो जायगा कि वह सत् है या असत्। पहला विकल्प मानने पर द्वैतवाद का स्वीकार होगा, और दूसरा विकल्प अर्थात् यदि वह मिथ्या है तो भिन्न देश और काल से मर्यादित, विविध विवर्त की परम्परा, ऐसे पूर्वगामी असंख्य कल्पनाओं को मानने के लिए बाध्य करेगा। यदि यह कहा जाता है कि पूर्वगामी परिणाम की परम्परा उत्तरकाल

के परिणामों की अनन्त परम्परा को निश्चित करती है, यह मान्यता तार्किक दोषयुक्त नहीं है, तो भी इस परिस्थिति को समझाने के लिए अविद्या को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। क्योंकि ऐसा माना जा सकता है कि ब्रह्म में किसी बाह्य कारण पर आश्रित हुए बिना भिन्न परिणाम उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म में अनवरत भिन्न-भिन्न धर्म परिणाम (सत् या असत्) रूप से परिणत होते रहते हैं, ऐसी मान्यता इस निष्कर्ष पर ले जायगी कि इन परिणामों से परे कोई ब्रह्म है ही नहीं, यह आक्षेप निष्प्रमाण है, क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष अनुभव बताता है कि मिट्टी के पिंड में होने वाले परिणाम उसकी सत्ता को अप्रमाण सिद्ध नहीं करते हैं। ऐसे मत में ब्रह्म को भ्रम का अधिष्ठान माना जा सकता है। दूसरी ओर, मिथ्या अविद्या की मान्यता स्वीकार करने पर ही अधिष्ठान की सत्ता को न्यायपूर्ण नहीं प्रतिपादित किया जा सकता, क्योंकि मिथ्या का अधिष्ठान स्वयं मिथ्या होगा। इसलिए यदि ब्रह्म को उसका आधार माना जाय, तो वह स्वयं मिथ्या होगा और हम शून्यवाद में पड़ेंगे।

पुनः यह पूछा जाय, कि अविद्या स्वयं प्रकाश्य है या नहीं। यदि वह नहीं है, तो वह तुच्छ हो जाती है, यदि वह स्वप्रकाशित है तो फिर पूछा जा सकता है कि प्रकाशत्व उसका स्वरूप है या नहीं। यदि है तो वह ब्रह्म जैसी स्वयं प्रकाश होगी, और दोनों मे भेद न रहेगा। यदि अविद्या का प्रकाशत्व ब्रह्म मे है, तो ब्रह्म नित्य होने से, कोई ऐसा समय न होगा, जब अविद्या प्रकाशित न हो। प्रकाशत्व, ब्रह्म या अविद्या का धर्म भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा नहीं माना गया है कि दोनों मे से कोई उसका ज्ञाता है। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि ज्ञातृ-धर्म मिथ्या आरोपण के कारण है, तो यह आक्षेप किया जा सकता है कि जहाँ तक अविद्या के प्रत्यय को स्पष्ट न किया जाय वहाँ तक ऐसे मिथ्या आरोपण का अर्थ समझ के बाहर है। मिथ्या-आरोपण की मान्यता के आधार पर ही ज्ञातृ-भाव सम्भावित है और उपरोक्त मान्यता के आधार पर मिथ्या आरोपण, ज्ञाता की मान्यता पर शक्य है। यदि यह ब्रह्म के कारण है, तो ब्रह्म के नित्य होने से, मिथ्या-आरोपण भी नित्य होंगे। यदि वह अकारण है तो सारा जगत्-प्रपंच अकारण हो जायगा।

अविद्या के अधिष्ठान का कोई भी विचार समझ के बाहर है। उसका कोई आधार नहीं है, वह या तो ब्रह्म जैसा स्वतन्त्र होना चाहिए या तुच्छ। यदि उसका कोई आधार है और वह आधार ब्रह्म का स्वरूप है, तो यह समझना कठिन हो जाता है कि नित्य शुद्ध ब्रह्म, स्वभाव से विरोधी अविद्या का किस प्रकार अधिष्ठान हो सकता है। यदि इस समस्या का निराकरण इस मान्यता में पाया जाता है कि अविद्या मिथ्या है, तो यह आग्रह किया जा सकता है कि यदि वह मिथ्या है तो फिर उसे अन्त करने का प्रयत्न निरर्थक है। यदि उत्तर में यह कहा जाता है कि असत् होने पर भी वह दीखती है और इस आभास के अन्त के लिए प्रयत्न किया जाता है, तो उसका भी यह प्रत्युत्तर दिया जा सकता है, माम भी अविद्या जितना ही मिथ्या

है। यदि यह माना जाता है कि यद्यपि वह मिथ्या है फिर भी वह किसी के हित में हानि पहुँचा सकती है, तो उसका मिथ्यात्व नाम मात्र को होगा, क्योंकि उसका कार्य वास्तव में सत् माना गया है। यदि ब्रह्मन् अपने अध्यस्त या मर्यादित स्वरूप से अविद्या का अधिष्ठान माना जाता है, तो यह अध्यास या बन्धन किसी अन्य अविद्या के द्वारा होने से यह परिस्थिति भ्रम पैदा करेगी। यदि यह माना जाता है कि मर्यादित या अमर्यादित ब्रह्म से पृथक् कोई एक वस्तु अविद्या का आधार है, तो यह मत त्याग देना होगा कि ब्रह्म, अविद्या का आधार है, फिर इस आधार का कोई अन्य आधार ढूढने में कठिनाई उपस्थित होगी। यदि यह कहा जाता है कि अविद्या, ब्रह्म की तरह, अपना ही आधार है किन्तु ब्रह्म स्वय अपना अधिष्ठान नहीं है तो फिर अविद्या के लिए कोई अन्य आधार न रहेगा। यदि ऐसा कहा जाता है कि अधिष्ठान को उपाधि के आधार पर समझाया जा सकता है, तो भी यह आधार के आकार की (आधाराकारोपाधि) उपाधि किस प्रकार बिना आधार के हो सकती है। यदि इसके और आधार सोचे जाते हैं, तो अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। पुनः यदि यह माना जाता है कि जो मिथ्या है उसे आधार की आवश्यकता नही है, तो यह आग्रह किया जा सकता है कि शकर मतवादियो के अनुसार, भ्रम अधिष्ठान पर ही होता है फलतः पृथ्वी पर विद्यमान घडा भी भ्रम है। इसके अतिरिक्त, अविद्या का यह मिथ्या अनुभव, मर्यादित या भ्रमपूर्ण अनुभव नही है जैसेकि अह अनुभव या अन्य चित्त की अवस्थाओ का अनुभव होता है, क्योंकि ये अविद्या के कार्य माने गए हैं। यदि वे नही हैं, तो वे किसी अन्य दोष के कारण होंगे, और वे किसी अन्य के कारण होंगे, इस प्रकार अनवस्था-स्थिति उत्पन्न होगी। यदि यह कहा जाता है कि अविद्या अपने अनुभव से, भिन्न कुछ नही है तो जबकि सभी अनुभव ब्रह्ममय हैं, तो ब्रह्म स्वय मिथ्या होगा। पुनः यदि अविद्या ब्रह्म के स्वरूप को आवृत कर प्रकट होती है, तो सभी शुद्ध ज्ञान आवृत होने और लुप्त हो जाने से, स्वय अविद्या भी जो उससे प्रकट हुई है, सहज ही लुप्त हो जायगी। यदि वह ब्रह्म रूप से प्रकट होती है और उसका अपना स्वरूप आवृत रहता है, तो स्वय ब्रह्म के ही प्रकट रहने से बन्धन का प्रश्न उठता ही नहीं है। यह स्पष्ट है कि वह, अविद्या और ब्रह्म दोनो ही रूपों से प्रकट नही हो सकती, क्योकि यह स्वबाधित होगा। क्योकि ज्ञान अज्ञान को नष्ट करता है। यदि ऐसा माना जाता है कि जिस प्रकार दर्पण, बिम्ब को प्रतिबिम्बित करता है जिसमें दर्पण का धर्म अपने को प्रकट कर सकता है और सच्चा मुँह छिप जाता है उसी प्रकार अविद्या बिम्ब प्रकट करती है और स्वय अविद्या एव ब्रह्म छिपा रहता है। अर्थात् अपने और ब्रह्म दोनों को छिपा भी सकती है। इस पर उत्तर यह दिया जा सकता है कि तादात्म्य-अध्यास के सभी प्रसंगो में भेद का अग्रहण ही भ्रम का कारण होता है। किन्तु ब्रह्मन् और अविद्या दोनों निकटवर्ती देश में इस प्रकार स्थित नहीं हैं कि जिससे इनके तादात्म्य-अध्यास को, ऐसे ही निकटवर्ती देश के कारण होने वाले भ्रमों के अन्य

उदाहरणों से तुलना की जा सके। यदि ऐसा कहा जाता है कि अविद्या, द्रव्य न होने के कारण, जो भी आलोचना सद्रूप, विद्यमान द्रव्यों के बारे में की जा सकती है, वह अविद्या पर उपयुक्त नहीं हो सकती, तो ऐसा सिद्धान्त लगभग शून्यवाद जैसा होगा, क्योंकि शून्यवादी यह मानते हैं कि उनके विरुद्ध की हुई आलोचनाएँ शून्यवाद के सिद्धान्त का खण्डन नहीं करतीं।

बयांलीसवां आक्षेप

शंकर मतवादी अविद्या और माया को दो भिन्न प्रत्यय मानते हैं। माया दूसरों को भ्रम में डालती है और अविद्या स्वय को। माया शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है किन्तु शंकर-मतवादियों की धारणा को कोई भी अर्थ संतुष्ट नहीं करता। यदि ऐसा माना जाता है कि माया शब्द में, जिसका ब्रह्म अधिष्ठान है, यह विलक्षणता है कि वह अपने भिन्न रूप, दूसरों को प्रकट करती है और उन्हें मोहित करती है तो इसे अविद्या-प्रत्यय से पृथक् करना कठिन हो जाता है। यदि ऐसा माना जाता है कि अविद्या का प्रयोग, भ्रम उत्पन्न करने वाले कर्त्ता के सकुचित अर्थ में किया जाता है जैसाकि रजत-शुक्ति के दृष्टान्त में है, तो माया भी अविद्या कही जा सकती है, क्योंकि वह भी जगत्-प्रपच प्रत्यक्ष कराती है। इसका कोई भी कारण नहीं है कि रजत-शुक्ति-भ्रम के कारण को अविद्या क्यो कहा जाय और ऐसे भ्रम को सापेक्ष रूप से बाधित करने वाले सच्चे ज्ञान को क्यों न कहा जाय। ईश्वर भी अविद्या-ग्रस्त माना जा सकता है, क्योंकि उसके सर्वज्ञ होने से, उसे सभी जीवो का ज्ञान है जिसके अन्तर्गत मिथ्या ज्ञान का भी समावेश है। यदि ईश्वर को भ्रम का ज्ञान नहीं है, तो वह सर्वज्ञ न होगा। यह भी मानना गलत है कि माया के सिवाय ब्रह्म के सम्पूर्ण जगत् प्रकट है, और यदि यह ब्रह्म को मिथ्या प्रकट करने के अतिरिक्त सभी को प्रकट करती ह और यदि ब्रह्म स्वय भ्रम मे न रहे, जो कि जगत्-प्रपंच का मिथ्या रूप जानता है, तब तो ब्रह्म की अज्ञानावस्था का निराकरण करना ही कठिन होगा। यदि ब्रह्म, सभी पदार्थों को दूसरो का भ्रम है ऐसा जानता है तो उसे दूसरों को जानना चाहिए और साथ-ही-साथ उनमें रहे भ्रमो को भी, फिर इसका अर्थ यह होगा कि ब्रह्म स्वयं अविद्या से प्रभावित है। मिथ्यात्व का ज्ञान, भ्रम हुए बिना किस प्रकार हो सकता है यह समझना कठिन है, क्योंकि मिथ्यात्व निरा अभाव नही है किन्तु, एक वस्तु का, जहां वह नहीं है, उस स्थान पर दीखना है। यदि ब्रह्म दूसरों को केवल भ्रम में देखता है, तो इससे यह अर्थ सिद्ध नही होता कि वह अपनी माया से दूसरों को मोहित करता है। कोई बाजीगर हो सकता है जो अपनी झूठी चाल से अपना जादू दिखाने का प्रयत्न करे। ऐसा माना जाय कि माया और अविद्या में यह भेद है कि अविद्या, भ्रममय अनुभवो को उत्पन्न कर, अनुभव करने वालों के हित को नुकसान पहुँचाती है, जबकि ब्रह्म जो इन जीवों को और उनके अनुभवों को, अपनी माया दृष्टि को देखता है जो उसके हित

को क्षति नहीं पहुँचाती है। इसका यह उत्तर है कि यदि माया किसी के हित को क्षति नहीं पहुँचाती तो उसे दोष नहीं कहा जा सकता। यहाँ आक्षेप किया जा सकता है कि दोष का हानिकारक एव लाभप्रद फलो से कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु उनका सम्बन्ध केवल सत्य और मिथ्या से ही है। ऐसा मत स्वीकार नही किया जा सकता, क्योंकि मिथ्या और सत्य का उपयोग दृष्टि से मूल्य है और जो भी मिथ्या है वह किसी के हित को नुकसान पहुँचाता है, यदि ऐसा नही है तो, कोई भी उसे निवारण करने का प्रयत्न न करेगा। यदि ऐसा तर्क किया जाता है कि माया ब्रह्म में दोष रूप नहीं है किन्तु उसका गुण है तो यह कहा जायगा कि यदि ऐसा है तो कोई भी उसे हटाने की चिन्ता न करेगा। पुनः यदि माया, ब्रह्म का गुण है, और ऐसे महान् व्यक्ति का प्रयोजन सिद्ध करता है फिर एक छोटा जीव तो हिम्मत ही नही कर सकता। यदि जीव ऐसा कर भी सके, तो वह सर्वशक्तिमान् सत्ता के व्यावहारिक अर्थ को हानि पहुँचायगा, क्योकि माया एक गुण होने के कारण ब्रह्म के लिए अवश्य ही उपयोगी हो सकती है। माया, बिना कारण, अपने आपसे नष्ट नही की जा सकती, क्योकि ऐसा मानने से हमे क्षणिकवाद मानना पडेगा। यदि माया नित्य और सत् है तो यह हमें द्वैतवाद मानने को बाध्य करेगी। यदि माया ब्रह्म के अन्तर्गत मानी जाय, तो ब्रह्म केवल प्रकाश होने से और माया का उसमे समावेश होने से, उसमे जगत्-प्रपच उत्पन्न करने की शक्ति न रहेगी, जो उसमें मानी गई है। पुनः, माया नित्य होने से मिथ्या नहीं हो सकती। पुनः यदि, ब्रह्म मे से माया का प्रकट होना सत्य माना जाता है, तो ब्रह्म का अज्ञान भी सत्य है, यदि ब्रह्म मे से मिथ्या प्राकट्य है, तो ब्रह्म, माया को अपनी लीला के साधन हेतु उपयोग करता है, ऐसा मानना निरर्थक होगा। ब्रह्म, एक छोटे बालक की तरह, झूठे प्रतिबिबिम्ब चित्रो से खेलता है यह मानना नितान्त अर्थ-शून्य है। यदि जीव और ब्रह्म एक ही है, तो जीवगत अज्ञान, ब्रह्म मे अज्ञान अनुमित नही करेगा यह मानना तर्क-विरुद्ध होगा। पुनः यदि, जीव और ब्रह्म सचमुच भिन्न है, तो फिर उनके तादात्म्य का ज्ञान कैसे मुक्ति प्रदान कर सकता है? इस प्रकार माया और अविद्या एक दूसरे से भिन्न हैं यह समझ के बाहर है।

तेतालीसवां आक्षेप

शंकर के अनुयायी यह मानते हैं कि अद्वैत के ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। अब यह ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान से भिन्न नही हो सकता, क्योकि यदि ज्ञान विषयरहित है तो वह ज्ञान नही है, क्योकि शकर मतवादी यह मानते हैं कि ज्ञान, विषय की वृत्ति रूप चित्त की स्थिति ही हो सकती है (वृत्ति रूप हि ज्ञान सविषयमेव इति भवतामपि सिद्धान्तम्)। यह ब्रह्म ज्ञान से एक (अभिन्न) भी नहीं हो सकता क्योंकि यदि ऐसा ज्ञान मुक्ति प्रदान कर सकता है तो शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान भी वही करा सकता है। ऐसा माना जा सकता है कि रजत-सीप के दृष्टान्त में जब चमकता 'इदं' तत्व में प्रकट है

तो वह रजत के भ्रम के अनुभव के बाधा के समान है और ब्रह्म के सत्य स्वरूप को प्रकट करने वाले तादात्म्य ज्ञान का प्रकट होना, जगत्-प्रपंच का बाधित होना माना जा सकता है। इस पर यह उत्तर है कि 'इदं' की सीप के रूप में सत्ता और उसके रजत रूप भास में तादात्म्य नहीं है। इस प्रकार, एक ज्ञान दूसरे की बाधा कर सकता है, किन्तु आलोचना के इस दृष्टान्त में, तादात्म्य-ज्ञान के विचार में कोई नया तत्व नहीं है, जो ब्रह्म ज्ञान में पहले से विद्यमान न था। यदि तादात्म्य-विचार सविषय ज्ञान माना जाता है तो वह ब्रह्म ज्ञान से भिन्न होगा, और वह स्वयं मिथ्या होने से, भ्रम को दूर नहीं करेगा। ज्ञात वस्तु फिर प्रत्यभिज्ञात होती है यह उदाहरण भी शंकर मत का उपयुक्त समर्थन नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रत्यभिज्ञा रूप ज्ञान, मूल परिचयात्मक ज्ञान जैसा एक रूप नहीं है, जबकि तादात्म्य ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान से अभिन्न ही माना गया है। पुनः, यदि ऐसा माना जाता है कि वृत्तिरूप सविषय ज्ञान भ्रम को दूर करता है और ब्रह्म-ज्ञान उत्पन्न करता है, तो भ्रम सत्य ठहरेंगे क्योंकि वे अन्य वस्तु की तरह नष्ट किए जा सकते है।

यदि ऐसा कहा जाता है कि तादात्म्य का प्रत्यय, अविद्या उपहित ब्रह्म को लक्ष्य करता है, तो अर्थ यह होगा कि साक्षी चैतन्य द्वारा जगत्-प्रपंच उत्पन्न होना है और ऐसा प्रकट होना भ्रम को दूर नहीं करेगा।

पुनः यह प्रश्न किया जा सकता है कि जो ज्ञान, यह विचार उत्पन्न करता है कि *ब्रह्म के अतिरिक्त सभी कुछ मिथ्या है, इसे भी मिथ्या माना जा सकता है या नहीं,* क्योंकि यह स्वबाधित होगा। यदि जगत्-प्रपंच के मिथ्यात्व का विचार स्वयं मिथ्या माना जाय, तो जगत् को सत्य मानना पड़ेगा। यदि यह आग्रह किया जाता है कि जैसे बन्ध्या स्त्री के पुत्र की मृत्यु की कल्पना में बंध्या एवं पुत्र दोनों ही मिथ्या हैं, उसी प्रकार यहाँ भी जगत् एवं मिथ्यात्व दोनों ही मिथ्या हैं। किन्तु यह उत्तर दिया जा सकता है कि उपरोक्त दृष्टान्त में बंध्या स्त्री और पुत्र की मृत्यु का मिथ्यात्व, दोनों मिथ्या नहीं हैं। पुनः यदि, जगत्-प्रपंच का मिथ्यात्व सत्य है तो इससे द्वैतवाद प्रतिपादित होता है।

पुनः यदि अनुमान जगत्-प्रपंच को बाधित करना है तो यह मानने का कोई कारण नहीं है कि वेद के अद्वैतवादी पाठ के श्रवण मात्र से जगत्-प्रपंच का बाध हो जायगा। यदि जगत्-प्रपंच का विरोध (बाध) ब्रह्म स्वयं के द्वारा उत्पन्न होता है तो ब्रह्म नित्य होने से जगत्-भ्रम कभी न होगा। पुनः ब्रह्म को अपने शुद्ध स्वरूप में जगत्-भ्रम के व्यापार में सहायक माना है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो भ्रम कभी भी नहीं उत्पन्न हो सकता। यह एक विचित्र सिद्धान्त है कि यद्यपि ब्रह्म अपने शुद्ध स्वरूप से जगत्-प्रपंच का सहायक है, तो भी श्रुति पाठ एवं उनके ज्ञान रूपी अपने अशुद्ध स्वरूप में ब्रह्म, भ्रम को दूर कर सकता है। इसलिए, चाहे जिस प्रकार, हम अज्ञान

को दूर करने की सम्भावना को सोचें, हमें सभ्रमावस्था का सामना करना ही पड़ता है।

छयालीसवां आक्षेप

अविद्या के अन्त का विचार भी अयुक्त है। क्योकि इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वह अविद्या का अंत स्वय सत् है या असत्। यदि यह असत् है, तो ऐसे अंत से अविद्या उन्मूलित की जा सकेगी यह आशा खंडित हो जाती है, अन्त होना स्वय अविद्या की अभिव्यक्ति है। यह नही कहा जा सकता कि अविद्या के अन्त का आधार आत्मा है, क्योकि तब आत्मा को परिणामी मानना पड़ेगा और यदि किसी प्रकार, अविद्या के अन्त के लिए किसी सच्चे कारण को आधार के रूप में माना जाता है, तो अन्त (निवृत्ति) सत्य होने से द्वैतवाद उपस्थित हो जाता है। यदि इसे भ्रम माना जाता है, और उसके पीछे कोई दोष नही है तो फिर जगत्-प्रपच को समझाने के लिए अविद्या रूपी दोष की मान्यता अनावश्यक है। यदि वह अविद्या एव ब्रह्म की तरह आधार-रहित है, तो अविद्या का उससे सम्बन्ध जोडना कोई अर्थ नही रखता। अविद्या के अन्त होने के बाद भी, वह फिर क्यो न दिखाई देती, इसका भी कोई योग्य कारण नही दीखता है। यदि यह सूचित किया जाता है कि, अविद्या के अन्त का कार्य, ब्रह्म के अतिरिक्त सभी कुछ मिथ्या है यह बताना है और ज्योही यह कार्य पूर्ण हो जाता है, अविद्या का अत भी पूर्ण हो जाता है, तो फिर एक दूसरी कठिनाई का सामना करना पडता है। क्योकि यदि अविद्या के अन्त का अन्त उसका अर्थ है अर्थात् अविद्या पुनः स्थापित हो जाती है। यह आग्रह किया जाय कि जब घडा उत्पन्न किया जाता है तो यह अर्थ होता है कि उसके प्रागभाव का नाश हो गया, और जब वह घडा फिर जब नष्ट किया जाता है तो इससे यह अर्थ नही निकलता कि प्रागभाव फिर उत्पन्न हो जाता है, वैसा यहाँ भी हो सकता है। इसका यह उत्तर है कि ये दोनो दृष्टान्त भिन्न हैं, उपरोक्त दृष्टान्त में एक अभाव का अभाव भावात्मक पदार्थ से है,जबकि अविद्या के अन्त मे निषेध के लिए कोई पदार्थ नही है, इसलिए इस दृष्टान्त मे, अभाव, तार्किक अभाव होगा, जो निषेध किए पदार्थ को स्वीकार कराएगा, जो अविद्या है। यदि ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म, अविद्या के निषेध के लिए विद्यमान है, तो कठिनाई यह होगी कि ब्रह्म, जो अविद्या और उसके अन्त का निषेध है नित्य होने से, जगत्-प्रपच की किसी भी काल में उत्पत्ति नही होनी चाहिए।

यदि अविद्या का अन्त भ्रम रूप नही है, और यदि उसका समावेश ब्रह्म के स्वरूप में किया जाता है तो ब्रह्म अनादि होने से अविद्या सर्वदा उसमें अर्न्तनिहित माननी चाहिए। यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म का अस्तित्व स्वयं अज्ञान का अन्त है, तो फिर अविद्या के अन्त को ब्रह्म के स्वरूप की पहिचान के साथ कार्य कारण सम्बन्ध से जोड़ना असम्भव होगा।

यदि ऐसा सूचन किया जाता है कि ब्रह्म के स्वरूप को प्रतिबिम्बित करती वृत्ति, ब्रह्म के अज्ञान के अन्त को बताती है और यह वृत्ति अन्य कारण द्वारा दूर की जा सकती है, तो इसका उत्तर यह है कि ऐसी वृत्ति भ्रम रूप है और इसका अर्थ यह होता है कि अविद्या का अन्त भी भ्रम रूप है। ऐसे मत की आलोचना ऊपर दी गई है। अविद्या का अन्त होना सत्य नहीं है क्योंकि वह ब्रह्म के बाहर है, न वह सत्य है और सत्य से भिन्न कुछ और असत्य है, क्योंकि यह सचमुच अन्त नहीं प्राप्त करायगा। इसलिए अन्ततोगत्वा, यह न तो असत् होगी और न उपरोक्त वस्तुओं से भिन्न होगी, क्योंकि भाव और अभावात्मक तत्व का ही सत् और असत् स्वरूप होता है। अज्ञान, असत् और सत् से भिन्न है: उसका अन्त सत्य है, क्योंकि यह सिद्ध किया जा सकता है। इसलिए अन्त को सत् और असत् पदार्थों से भिन्न और विलक्षण मानना पड़ता है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यदि अज्ञान असत् जैसा (असतीव) माना जाता है, तो दोनों अभाव के दोनों अर्थों में, अर्थात्, अभाव भाव का दूसरा नाम मात्र ही है, और अभाव स्वयं एक स्वतन्त्र पदार्थ है, तो अविद्या का मानना द्वैतवाद को उपस्थित करेगा। यदि इसे तुच्छ माना जाता है, तो वह भासमान न होगी, और ऐसी तुच्छ वस्तु का ससार से विरोध नही होगा। इस प्रकार अविद्या का अन्त मुक्ति प्राप्त नही कराएगा। पुनः यदि अविद्या का अन्त असत् है, तो इससे अविद्या सत् है यह अनुमित होगा। अविद्या का अन्त घडे के नाश के समान नहीं है जो सचमुच सत्ता रखता है, जिससे कि वह यद्यपि असत् रूप दीखे, फिर भी घड़े को भावात्मक पदार्थ माना जा सकता है। अविद्या का नाश इसके समान नही है, क्योंकि इसका कोई रूप नही है। यदि ऐसा माना जाता है कि अविद्या का अन्त पांचवें प्रकार का है, अर्थात् सत्, असत्, सदसत् से भिन्न है तो यह वास्तव में माध्यमिको का अनिर्वचनीय सिद्धान्त मानने जैसा है, क्योंकि यह भी जगत् को पांचवें प्रकार का वर्णन करता है। ऐसे नितान्त विलक्षण और अनिर्वचनीय पदार्थ का किसी से सम्बन्ध जोडने का कोई भी मार्ग नही है।

पैंतालीसवां आक्षेप

शंकर मतवादी ऐसा विवाद करते हैं कि वेद ब्रह्म को लक्ष्य नही कर सकते, जो सभी प्रत्येक विशिष्ट गुण से रहित है। इसका वेंकटनाथ यह उत्तर देते हैं कि ब्रह्म विशिष्ट-गुणयुक्त है, और इसलिए यह न्यायपूर्ण है कि वेद उसे लक्ष्य करें। यह भी सोचना गलत है कि ब्रह्म स्वयं प्रकाश होने से शब्द द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता, क्योंकि रामानुज-सम्प्रदाय के द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है। प्रकाश रूप तत्व फिर आगे अभिज्ञा का विषय हो सकता है। शकर मतवादी कभी-कभी ब्रह्म को गुण-रहित अवस्था भी कहते हैं, किन्तु यह स्वयं एक गुण है इसका वे ब्रह्म के विशेषण रूप में उपयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि ब्रह्मन् वेदों के द्वारा लक्ष्य नहीं किया जा

सकता, तो ये वेद स्वयं निरर्थक होंगे। यह भी सोचना गलत है कि वेद ब्रह्म को केवल गौण रूप से लक्ष्य करते हैं जैसे कोई चंद्र दीखता है ऐसा बताने के लिए पेड़ के शिखर की ओर लक्ष्य करता है (शाखा चंद्रदर्शन) : क्योंकि चाहे कोई भी पद्धति हो ब्रह्म वेद द्वारा लक्ष्य होता है। असंप्रज्ञात् समाधि की अवस्था भी नितान्त अननुमेय नहीं है। इस अवस्था के बारे में कोई कुछ भी शब्द या प्रत्यय का प्रयोग नहीं कर सकता। यदि ब्रह्म सर्वथा गुण-रहित है तो यह नहीं माना जा सकता कि वह वेद द्वारा असन्निहित रूप से भी लक्ष्य किया जा सकता है। वेद जो ऐसा कहते हैं कि ब्रह्म वाचा और मन से परे हैं (यतो वाचो निवर्तन्ते) उनका अर्थ यह है कि ब्रह्म में अनन्त गुण हैं। इस प्रकार, शंकरवादियों का यह कहना पूर्ण रूप से न्याय-विरुद्ध है कि ब्रह्म वेद द्वारा लक्ष्य नहीं हो सकता।

सैतालीसवाँ आक्षेप

शंकरवादी ऐसा मानते हैं कि सभी सविकल्प ज्ञान मिथ्या है, वह रजत-सीप की तरह सविकल्प है। यदि सभी कुछ सविकल्प रूप मिथ्या है, तो सभी भेद जो विशिष्टता का समावेश करते हैं वे सब मिथ्या होंगे और इस प्रकार अन्त में अद्वैत ही रहेगा। ऐसे मत की निरुपयोगिता वेंकटनाथ यह कहकर बताते हैं कि ऐसा अनुमान, अपने सभी अवयवों से सविकल्प प्रत्यय ग्रहण करता है, और इसलिए मूल प्रतिज्ञा की दृष्टि से नितान्त अप्रमाण होगा। इसके अतिरिक्त, यदि सविकल्प ज्ञान मिथ्या है, तो समर्थन के अभाव में निर्विकल्प ज्ञान भी मिथ्या होगा। यह भी सोचना मिथ्या है कि अन्य अभिज्ञा द्वारा प्रमाण की कमी के कारण सविकल्प ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि एक भ्रम दूसरे भ्रम द्वारा प्रमाणित हो सकता है और तब भी मिथ्या हो सकता है, और भ्रम का ज्ञान भी प्रमाण की कमी के कारण मिथ्या होगा, इस प्रकार उस पर आधार रखने वाली सभी प्रमाण-शृंखला मिथ्या होगी। यह भी सोचना मिथ्या है कि सविकल्प प्रत्यय अर्थक्रियाकारित्व की कसौटी पर कसे नहीं जा सकते हैं क्योंकि हमारे सभी व्यवहार सविकल्प विचारों पर आधारित हैं। यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सप्रत्ययात्मक ज्ञान जिनमें सामान्य का निवेश है वे मिथ्या हैं, क्योंकि वे किसी भी प्रकार न तो बाधित होते हैं या शंकास्पद ही हैं। इस प्रकार यदि सभी सविकल्प ज्ञान मिथ्या माने जाते हैं, तो ऐसी मान्यता हमें अद्वैतवाद की ओर तो नहीं किन्तु शून्यवाद पर ले जायगी। इसके अतिरिक्त, यदि ब्रह्म का निर्विकल्प स्वरूप हमारे बाह्य वस्तु के निर्विकल्प ज्ञान से अनुमित किया जाता है, तो निर्विकल्प ज्ञान के मिथ्यात्व के सादृश्य के अनुसार ब्रह्म-ज्ञान भी मिथ्या होगा।

पचपनवाँ आक्षेप

शंकर मतवादी मानते हैं कि सभी कार्य मिथ्या हैं, क्योंकि वे, तार्किक परिस्थिति

से विचार करने पर स्वबाधित होते हैं। कारण से सम्बन्धित होकर उत्पन्न कार्य उससे सम्बद्ध होता है या असम्बद्ध ? पहले विकल्प में, कार्य और कारण सम्बन्ध से जुड़ने वाले दो तत्व होने से, कार्य को कारण से ही क्यों उत्पन्न होना चाहिए और कार्य से नहीं, इसका कोई नियम नहीं होगा। यदि कारण कार्य को, बिना सम्बन्ध के उत्पन्न करता है, तो कोई भी किसी को उत्पन्न कर सकता है। पुनः यदि कार्य कारण से भिन्न है तो आपस में भिन्न पदार्थ एक दूसरे को उत्पन्न करेंगे। यदि वे अभिन्न हैं, तो एक दूसरे को उत्पन्न नही कर सकते। यदि ऐसा कहा जाता है कि कारण वह है जो नियत पूर्ववर्ती है और कार्य नियत उत्तरवर्ती है तो पदार्थ प्रागभाव से पूर्व विद्यमान होना चाहिए। पुनः यदि कार्य उपादान कारण से उत्पन्न हुआ माना जाता है, जिसका परिणाम हुआ है, तो प्रश्न किया जा सकता है कि वे परिणाम किसी अन्य परिणाम से उत्पन्न हुए होंगे और यह हमें दोषपूर्ण अनवस्था को ले जायगा। यदि कार्य अपरिणत हुए कारण से उत्पन्न हुआ माना जाता है तो वह उपादान कारण में नित्य काल तक रहेगा। इसके अतिरिक्त, कार्य मिथ्या रजत जैसा है, जो आदि और अन्त में असत् है। किसी तत्व की उत्पत्ति, भाव रूप या अभाव रूप तत्व से नहीं हो सकती, क्योंकि कार्य, जैसेकि घड़ा, अपने कारण मिट्टी से, मिट्टी मे परिवर्तन किए बिना अर्थात् उसे किसी भी रूप में निषेध किए बिना उत्पन्न नहीं किया जा सकता, दूसरी ओर, यदि उत्पत्ति अभाव से मानी जाती है तो वह स्वयं अभाव होगी। इसलिए कारण सम्बन्ध को किसी भी प्रकार सोचा जाय, वह व्याघात से पूर्ण ठहरता है।

वेंकटनाथ का उत्तर यहाँ इस प्रकार है, कि कार्य, उत्पत्ति के लिए कारण से सम्बन्धित है या नहीं, यह आक्षेप, इस मत से निरस्त होता है कि कार्य, कारण से असम्बन्धित है किन्तु इससे यह अर्थ नहीं होता कि जो भी कारण से असम्बन्धित है वह कार्य होना चाहिए, क्योंकि सम्बन्धित न होना मात्र, कार्य को इस प्रकार उत्पन्न करने को प्रेरित नहीं करता कि असम्बन्धित होना ही किसी को किसी से कार्य रूप से जोड़ देगा। कारण मे रही विशिष्ट शक्ति विशिष्ट कार्य को उत्पन्न करने में दायित्व रखती है, और ये अन्वय-व्यतिरेक की सामान्य पद्धति से जानी जा सकती है। कारण अवयवों का आपस का सम्बन्ध ही कार्य में स्थानान्तरित होता है। यह प्रसिद्ध है कि कारण, सर्वथा भिन्न प्रकार के कार्य उत्पन्न करते हैं, जैसेकि एक घड़ा, लकड़ी और चाक से उत्पन्न होता है। उपादान कारण भी कार्य रूप उपादान कारण से बहुत भिन्न होता है। यह अवश्य ही स्वीकृत है कि कार्य-विकृत कारण से उत्पन्न होता है, क्योंकि कारण में कैसा भी परिवर्तन, फिर वह सहकारी कारण की आसन्नता ही क्यों न हो, विकार ही होगा। किन्तु यदि, जिस अर्थ में कार्य विकार माना जाता है उस अर्थ में वह कारण में नहीं स्वीकारा जाता तो उस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि कार्य अविकृत कारण से उत्पन्न होता है। यह कहना मिथ्या होगा कि कोई भी

कार्य किसी भी अविकृत कारण से उत्पन्न होता है, क्योंकि कार्य अविकृत कारण से योग्य काल-परिस्थिति तथा अपेक्षित कारणों के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। यह भी सूचन करना मिथ्या होगा कि कार्य का परिणाम के क्रम मे पृथक्करण किया जा सकता है इस मान्यता से, अनन्तर पूर्ववर्ती के रूप से कारण को ढूँढना असम्भव हो जायगा, और कार्य इस प्रकार न ढूँढा जा सकने से कार्य भी नही समझा जा सकेगा : क्योंकि कार्य ही प्रत्यक्ष देखने में आता है और यह कारण को अनुमित करता है जिसके बिना वह उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि यह आग्रह किया जाता है कि कार्य नही देखा जाता, या वह बाधित होता है, तो स्पष्ट उत्तर यह है कि न देखना और बाध होना कार्य है, और उनके द्वारा कार्य को अस्वीकार करना यह आलोचना ही स्वबाधित होती है।

जब उपादान कारण कार्य रूप से परिणत हो जाता है, उसके कुछ अंश, कार्य के अन्य पदार्थों के रूप में परिणत होने पर भी, अपरिणामी रहते हैं, और उसके कुछ गुण कुछ ही कार्यों मे उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार, जब सोना चूड़ी के रूप मे, और चूड़ी हार के रूप में परिणत होती है, सोने के स्थायी धर्म, चूड़ी एवं हार में वैसे ही रहते हैं, किन्तु चूड़ी का विशिष्ट रूप हार मे नही जाता। पुन: यह आक्षेप कि कार्य कारण मे पहले से विद्यमान है, तो फिर कारण-व्यापार की आवश्यकता नही रहती जैसाकि पहले उसका खण्डन किया जा चुका है, और यह भी बताया जा चुका है कि सभी कार्य रजत-सीप की तरह मिथ्या हैं यह प्रतिपादन भी मिथ्या है, क्योंकि ये कार्य अन्य भ्रमों की तरह बाधित नहीं होते। यह भी सूचन करना गलत है, कार्य आदि एवं अन्त मे, अस्तित्व नही रखता इसलिए, मध्य में भी अस्तित्व नही रखता क्योंकि कार्य का मध्य मे अस्तित्व साक्षात् अनुभवगम्य है। दूसरी ओर यह सूचित किया जा सकता है कि कार्य क्योंकि मध्य मे है इसलिए आदि और अन्त में भी है।

शंकर-मतवादी यह कहते हैं कि कार्य रूप से भेद के सभी विचार, एक नित्य तत्व के ऊपर आरोपित किए गए हैं, जो सभी तथाकथित भिन्न तत्वो मे व्याप्त है और यह व्याप्त तत्व ही सत्य है। इस मान्यता के विरोध में शंकर-मतवादियों से यह पूछा जा सकता है कि वे ब्रह्म और अविद्या दोनो में व्याप्त ऐसे तत्व को ढूंढ निकालें। यह कहना मिथ्या होगा कि ब्रह्म, अपने में और अविद्या में भी है क्योंकि ब्रह्म में द्वैत नही हो सकता, और अपने में भ्रम का आरोप भी नही कर सकता।

यह सुझाव कि दीप की लौ एक रूप से दीखती है वह मिथ्या है इसलिए सभी प्रत्यक्ष मिथ्या हैं। यह स्पष्ट ही मिथ्या है, क्योंकि पहले दृष्टान्त में भ्रम का कारण, समान ज्वाला का अतिशीघ्र एकीकरण है, किन्तु यह प्रत्येक प्रत्यक्ष के लिए अनुपयुक्त है।

द्रव्य के रूप में, कार्य कारण में अस्तित्व रखता है, किन्तु कार्यावस्था के रूप में वह कारण में अस्तित्व नहीं रखता। सांख्यवादियों का यह आक्षेप कि यदि कार्यावस्था कारण में विद्यमान न होती तो वह उत्पन्न नहीं की जा सकती थी, और यह भी कि किसी से कुछ भी उत्पन्न हो सकता है यह निरर्थक है, क्योंकि कार्य विशिष्ट शक्ति द्वारा उत्पन्न किया जाता है, जो कार्य रूप से, विशिष्ट देशकाल की परिस्थितियों में व्यक्त होता है।

एक प्रश्न पूछा जाता है कि कार्य, भाव या अभाव पदार्थ से उत्पन्न किया जाता है, या नहीं, अर्थात् जब कार्य उत्पन्न किया जाता है तब वह द्रव्य अवस्था के रूप में उत्पन्न किया जाता है या नहीं। वेंकटनाथ का उत्तर है कि द्रव्य नित्य स्थायी रहता है। केवल अवस्था और उपाधियाँ, जब कार्य उत्पन्न होता है, तब परिणत होती हैं। क्योंकि कार्य की उत्पत्ति में कारण की अवस्था ही में परिणाम होता है न कि कारण के द्रव्य में। इस प्रकार, द्रव्य की दृष्टि से ही कार्य और कारण में एकता है, उनकी अवस्था की दृष्टि से नहीं है, क्योंकि कारण अवस्था के अभाव से ही कार्यावस्था उत्पन्न होती है। यह सुझाव कभी दिया जाता है कि कार्य, क्योंकि, न तो वह नित्य विद्यमान रहता है और न अविद्यमान रहता है इसलिए मिथ्या होना चाहिए। किन्तु यह स्पष्ट रूप से गलत है, क्योंकि एक पदार्थ उत्तर क्षण में नष्ट किया जा सकता है इसलिए इससे यह अर्थ नहीं होता कि वह जब प्रत्यक्ष था तब अविद्यमान था। विनाश का अर्थ यह है कि पदार्थ जो विशिष्ट क्षण में विद्यमान था वह दूसरे क्षण में नहीं है। व्याघात का अर्थ यह है कि पदार्थ का जब अनुभव हुआ था तब भी वह अविद्यमान था। अभाव मात्र विनाश नहीं है, क्योंकि प्रागभाव भी विनाश कहा जा सकता है क्योंकि वह भी अविद्यमान है। उत्तर क्षण में अविद्यमान (अभाव) होना भी विनाश नहीं है, क्योंकि तब तुच्छ वस्तु भी विनाश (अभाव) कही जाएगी। रजत-सीप का दृष्टान्त विनाश का दृष्टान्त नहीं है, क्योंकि वह स्पष्ट ही अनुभव के व्याघात का दृष्टान्त है। इस प्रकार उत्पत्ति, विनाश और अभाव के प्रत्ययों का यदि विश्लेषण किया जाय तो हम यह पाएंगे कि कार्य का प्रत्यय कभी भी भ्रम नहीं माना जा सकता।

सतावनवां आक्षेप

ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म आनन्द स्वरूप है किन्तु यह ठीक ही कहा जा सकता है कि किसी भी अर्थ में आनन्द को समझा जाय तो भी यह स्वीकार करना असम्भव होगा कि ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। यदि आनन्द का अर्थ उस तत्व से है जो सुखदायक अनुभव उत्पन्न करता है तो ब्रह्म-ज्ञान गम्य होगा। यदि उसका अर्थ केवल सुखकारक (अनुकूल) अनुभव मात्र ही है, तो ब्रह्म निर्विकल शुद्ध चैतन्य नहीं होगा। यदि इसका अर्थ केवल अनुकूल वृत्ति से है तो द्वैत भाव अनुमित होता है। यदि इसका अर्थ दुःख के अभाव से है तो ब्रह्म भाव रूप न होगा और यह सभी ने अच्छी तरह माना है कि ब्रह्म उभय सामान्य या तटस्थ है। इसके अतिरिक्त, स्वयं शंकर मतवादी

के अनुसार ब्रह्मानुभव की स्थिति, निद्रा जैसी, भाव रूप स्थिति है। इस प्रकार इस समस्या को किसी भी प्रकार देखा जाय, निर्विकल्प ब्रह्म आनन्द स्वरूप है यह प्रतिपादन अप्रमाण रहता है।

अठावनवां आक्षेप

यदि ब्रह्म निर्विकल्प है तो उसे नित्य नही माना जा सकता। यदि नित्यता का अर्थ सदा विद्यमान रहना है तो अविद्या भी नित्य होगी, क्योंकि उसका भी संबंध सदा काल से है और काल स्वयं उससे ही उत्पन्न माना गया है। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि समस्त काल से सम्बन्ध का अर्थ सभी काल में अस्तित्व होना नहीं है, तो नित्यता की यह परिभाषा मानना कि जो समस्त काल में विद्यमान रहता है, मिथ्या है केवल यह कहना ही पर्याप्त होगा कि सत्ता स्वयं नित्य है। 'समस्त काल का समावेश' को केवल (अस्तित्व) सत्ता मात्र से विविक्त करना यह बताता है कि अस्तित्व और नित्यता में भेद है। नित्यता, इस प्रकार सभी काल मे अस्तित्व का अर्थ रखेगी, जो अविद्या के बारे में स्वीकार किया जा सकता है। नित्यता की ऐसी भी व्याख्या नही की जा सकती कि जिसका समय मे अन्त नही होता क्योंकि ऐसी परिभाषा काल को दी जा सकती है जिसका काल में अन्त नही होता। यह भी नही कहा जा सकता कि जो आदि और अन्त मे बाधित नही होती वह नित्यता है, क्योंकि तब जगत्-प्रपंच भी नित्य होगा। पुनः यह समझना कठिन है कि शंकर-मतवादी चैतन्य को किस प्रकार नित्य मानते हैं, क्योंकि यदि इसे सामान्य चैतन्य के बारे में स्वीकार किया जाता है, तो यह साक्षात् प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध है, और यदि यह परम चैतन्य के बारे मे स्वीकारा जाता है तो यह साक्षात् अनुभव के विरुद्ध है। पुनः नित्यता को सार रूप या स्वरूप नही माना जा सकता, क्योंकि तब वह स्वयप्रकाशता से अभिन्न हो जायगी, और ब्रह्म नित्य है यह कहना अनावश्यक होगा। यदि इसे ज्ञान गम्य गुण माना जाता है, तो यदि यह गुण चैतन्य में अस्तित्व रखता है, तो चैतन्य ज्ञेय हो जायगा। यदि वह चैतन्य मे नही है तो उसका ज्ञान, चैतन्य की नित्यता अनुमित नहीं करेगा। यह भी नही कहा जा सकता कि जो कुछ उत्पन्न नही होता है वह नित्य है, क्योंकि तब प्रागभाव नित्य हो जायगा। यदि ऐसा कहा जाता है कोई भी भाव रूप पदार्थ जो उत्पन्न नहीं किया जाता वह नित्य है तो अविद्या भी नित्य होगी। इस प्रकार, निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य की नित्यता को सिद्ध करने का कोई भी प्रयास निष्फल रहता है।

इकसठवां आक्षेप

शंकर-मतवादी बहुधा ऐसा कहते है कि आत्मा एकत्व रूप है। यदि आत्मा से यहाँ अहंकार का अर्थ है, तो सभी अहंकार एक से ही या एक ही हैं ऐसा नही माना

जा सकता, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि दूसरे के अनुभव हम अपने में कभी अनुभव नहीं करते हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि हम सबों के चैतन्य की एकता है, क्योंकि तब हम एक दूसरे के चित्त को जान लेंगे। यह मानने योग्य नहीं दीखता कि हम में अन्तः स्थित सत्ता एक ही है, क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि सभी जीव एक हैं। हम सर्वव्यापी सत्ता को सोच सकते हैं मान सकते हैं किन्तु इसका अर्थ सत् पदार्थों की एकता नही होगी। पुनः, जीवो की एकता सत्य नही मानी जा सकती, क्योंकि जीवों को असत्य माना है। यदि जीवों की एकता मिथ्या है तो यह समझ में नहीं आता कि ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन क्यों करना चाहिए। जो कुछ भी हो, जब हमें हमारे व्यावहारिक जीवन से काम है तो हमें जीवो की भिन्नता माननी पड़ती है, और उनकी एकता को सिद्ध करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस प्रकार, जैसाकि शंकर-मतवादी सोचते हैं, जीव एक ही है, यह गलत है।

मेघनादारि

आत्रेयनाथ सूरि के पुत्र मेघनादारि, रामानुज-सम्प्रदाय के अति प्राचीन अनुयायी दीखते हैं। उन्होने कम से कम दो पुस्तकें लिखी, 'नयप्रकाशिका' और 'नय द्यु मणि' ये दोनों ही अभी तक हस्तलिखित रूप में ही हैं, लेखक को केवल दूसरी (पिछली) पुस्तक ही प्राप्त हुई है। रामानुज के प्रमाणवाद पर, मेघनादारि के अति महत्वपूर्ण योगदान को, विस्तृत रूप से हमने वेंकटनाथ के इसी विषय पर प्रतिपादन के प्रसंग में विवेचन किया है। इसलिए, रामानुज दर्शन के कुछ अन्य विषयो पर ही, उनके मत की चर्चा यहाँ प्रस्तुत की जायगी।

स्वतः प्रामाण्यवाद

वेंकटनाथ, अपने 'तत्त्वमुक्ताकलाप' एव 'सर्वार्थ-सिद्धि' मे कहते हैं कि ज्ञान, विषय को यथार्थ रूप में प्रकट करता है। मिथ्या भी कम से कम यहाँ तक सत्य है कि वह मिथ्या के विषय को इंगित करता है। मिथ्यात्व या मिथ्या, विशेष दोषपूर्ण उपाधियों के कारण हैं।[1] 'घड़ा है' जब यह ज्ञान होता है तो घडे का अस्तित्व उसका प्रमाण है (प्रामाण्य) और यह, घड़ा अस्तित्ववान् है इस ज्ञान से ही जाना जाता

---

[1] ज्ञानानां यथावस्थितार्थप्रकाशकत्वं सामान्यमेव भ्रांतस्यापि ज्ञानस्य धर्मिण्यभ्रान्तत्वात तो बह्नयादे र्दाहकत्ववज्ज्ञानानां प्रामाण्य स्वाभाविकमेव उपाधेर्मणि-मंत्र-वद्दोषोपाधिवशादप्रमाणत्वं अंशांशे।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ५५४।

है।[1] सीप में भी जब रजत का ज्ञान होता है, तब भी उसी ज्ञान में, दृष्ट रूप से रजत के अस्तित्व का ज्ञान अनुमित है, और इस प्रकार भ्रम रूप ज्ञान में भी जहाँ तक वह प्रत्यक्ष के विषय की सत्ता बताता है, उस अंश में स्वतः प्रामाण्य है।[2]

मेघनादारि, जो सम्भवतः वेंकटनाथ के पूर्वगामी रहे होंगे, स्वतः प्रामाण्यवाद का भिन्न वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि प्रमाणता, ज्ञान की प्रतीति के कारण है (प्रामाण्यं ज्ञात-सत्ता-प्रतीति-कारणादेव) क्योंकि प्रमाणता को कारण होना चाहिए उसका और कोई दूसरा कारण उपलब्ध नहीं होता।[3]

नैयायिक मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्यवाद के विरोध में तर्क करते हैं कि ज्ञान के प्रत्येक प्रसंग में स्वतः प्रमाणता उत्पन्न नहीं होती है क्योंकि मीमांसक यह मानते हैं कि वेद नित्य हैं और इस प्रकार उनकी स्वतः प्रमाणता की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। ऐसा भी नहीं माना जा सकता कि स्वतः प्रमाणता केवल कुछ ही प्रसंगों में उत्पन्न होती है क्योंकि यदि ऐसा होता है तो यह प्रतिज्ञा निषिद्ध होती है कि सभी ज्ञान स्वतः प्रमाण है, इसलिए, युक्त मत यह है कि वही ज्ञान स्वतः प्रमाण है जो व्यवहार में अबाधित हो (अबाधित-व्यवहार-हेतुत्वमेव ज्ञानस्य प्रामाण्यम्)।[4] स्वतः प्रमाणता एक विशिष्ट शक्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसी शक्ति इन्द्रिय-गोचर नहीं है, इसलिए उसे अनुमान या अन्य साधन द्वारा ही जानना पड़ता है, जिन इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उनसे भी एक स्वरूप नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसी इन्द्रियों की सत्ता स्वयं ही केवल ज्ञान द्वारा अनुमित की जाती है, न कि केवल सत्य ज्ञान द्वारा।

शंकर-मतवादियों के विरोध में तर्क करते हुए, नैयायिक ऐसा कहते देखे गए है कि उनके मतानुसार ज्ञान स्वयं प्रकाश होने के कारण, ज्ञान की प्रमाणता को अबाधित अनुभूति या अन्य साधनों द्वारा, निश्चित करने के लिए कोई मार्ग नहीं है, जबकि उनके अनुसार, सभी मिथ्या है इसलिए, उनके दर्शन में, प्रामाण्यता या अप्रामाण्यता का कोई स्थान नहीं होना चाहिए, क्योंकि यदि यह भेद माना जाता है तो द्वैतवाद उपस्थित हो जाता है। इस पर मेघनादारि कहते हैं कि यदि स्वतः प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया जाता, तो प्रमाणता का सारा विचार ही त्याग देना पड़ता है, क्योंकि यदि प्रमाणता, ज्ञान की योग्य उपाधियों के ज्ञान या दोष की अनुपस्थिति के ज्ञान से

---

[1] घटोऽस्तीति ज्ञानमुत्पद्यते तत्र विषयास्तित्वमेव प्रामाण्यं तत्तु तेनैव ज्ञानेन प्रतीयते अतः स्वतः-प्रामाण्यम्। वही।

[2] देखो वही।

[3] नय द्यु मणि, पृ० २१ (हस्त०)

[4] वही, पृ० २२।

उत्पन्न होती हैं, तो ऐसे ज्ञान को स्वतः प्रामाण्य मानना पड़ेगा, फिर इसे किसी अन्य ज्ञान पर अवलम्बित होना पड़ेगा और उसे किसी अन्य पर, इस तरह अनवस्था दोष होगा। इसलिए ज्ञान को स्वरूप से ही स्वतः प्रामाण्य मानना चाहिए, और उसकी अप्रमाणता, तभी अवगत होती हैं जबकि ज्ञान के कारण दोष और दोष रूप सह-कारियों का योगदान, अन्य साधनों द्वारा जाना जाता है। किन्तु कुमारिल के अनुयायियों के अनुसार स्वतः प्रमाणता सिद्ध करने की पद्धति की आलोचना की जा सकती है, क्योंकि उनकी प्रणाली के अनुसार, ज्ञान का अस्तित्व, विषय के प्राकट्य से केवल अनुमित ही किया जाता है, यह अनुमान आगे, ज्ञान की स्वतः प्रमाणता को भी नहीं प्राप्त करा सकता। जो घटक ज्ञान उत्पन्न करते हैं वे ही स्वतः प्रामाण्य उत्पन्न करते हैं, यह अस्वीकार्य है, क्योंकि इन्द्रियों को भी ज्ञान का कारण मानना पड़ता है, जोकि सदोष हो सकती हैं। पुनः ऐसा माना गया है कि तथाभूत, ज्ञान ही प्रमाण है, और अतथाभूत अप्रामाण्य है, ऐसा अप्रामाण्य और प्रामाण्य स्वयं ज्ञान द्वारा ही प्रकट होता है। मेघनादारि उत्तर देते है कि यदि ऐसी तथाभूतता विषय का गुण है, तो वह ज्ञान का प्रामाण्य स्थापित नहीं करती, यदि वह ज्ञान का गुण है तो स्मृति को भी स्वत. प्रमाणित मानना पड़ेगा, क्योंकि उसमें भी तथाभूतता है। पुनः प्रश्न खड़ा होता है कि स्वतः प्रामाण्य उत्पन्न होता है या जाना भी जाता है। पहले प्रसंग में, स्वतः प्रामाण्य की स्वयं प्रकाशता त्याग देनी पड़ेगी और पिछले प्रसंग में, कुमारिल का मत अप्रतिपादनीय हो जाता है क्योंकि इसके अनुसार ज्ञान स्वयं, विषय के प्राकट्य से अनुमित होने के कारण, उसकी स्वतः प्रमाणता, स्पष्टतः स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकती।

मेघनादारि, इसलिए, विवाद करते है कि अनुभूति स्वयं उसकी प्रमाणता है, ज्ञान को प्रकाशित करने मे ही वह, उसकी प्रमाणता का विश्वास भी साथ लाती है। अप्रमाणता दूसरी ओर, दूसरे स्रोतों द्वारा सूचित होती है। अनुभूति स्वरूपतः स्मृति से भिन्न होती है।[1] इस विवाद का सारा भार (बल) उनके मत में, इसी मे है कि प्रत्येक ज्ञान, अपनी ज्ञातता के साथ उसकी सचाई वहन करता है, और क्योंकि यह प्रत्येक ज्ञान के साथ प्रकट होता है इसीलिए उसी अर्थ में सभी ज्ञान स्वतः प्रामाण्य है। ऐसी स्वतः प्रमाणता इसलिए, उत्पन्न नहीं की जाती, क्योंकि वह व्यवहारतः ज्ञान से अभिन्न है। मेघनादारि बताते है कि यह मत रामानुज स्वयं के स्वतः प्रामाण्यवाद के सिद्धान्त से स्पष्टतः विरुद्ध है, जिसके अनुसार स्वतः प्रमाणता ज्ञान के कारण से उत्पन्न होती है। किन्तु इस सम्बन्ध में रामानुज के कथन का भिन्न प्रकार

---

[1] अनुभूतित्वं वा प्रामाण्यमस्तु, तच्च ज्ञानान्तर-व्यावृत्तिः, साच स्मृतिज्ञान-जातितः पृथक्तया लोकतः एव सिद्धा, अनुभूतेः स्वसत्तया एव स्फूर्तेः।

—नय द्युमणि, पृ० ३१।

से अर्थ लगाना होगा, क्योंकि ईश्वर और मुक्त जीवों में ज्ञान नित्य और अनादि होने के कारण, कोई भी मत जो स्वतः प्रमाणता की परिभाषा इस प्रकार करता है कि, जिस स्रोत से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी से वह भी उत्पन्न है,[1] अनुपयुक्त ठहरेगा।

काल

मेघनादारि के अनुसार काल एक पृथक् तत्व नहीं है। वे यह बताने का कठिन प्रयास करते हैं कि स्वयं रामानुज ने ब्रह्मसूत्र की अपनी टीका में, 'वेदान्त दीप' और 'वेदान्त सार' में, काल को, एक पृथक् तत्व के रूप में निराकृत किया है। काल का विचार सूर्य के पृथ्वी के सम्बन्ध में राशी चक्र के आपेक्षिक स्थान से उत्पन्न होता है। सूर्य की आपेक्षिक स्थिति से मर्यादित पृथ्वी के देश की परिवर्तित अवस्था काल है।[2] यह मत वेंकटनाथ के मत से नितान्त भिन्न है, जिसे हम आगे वर्णन करेंगे।

कर्म और उनके फल

मेघनादारि के अनुसार, कर्म, ईश्वर की प्रीति अप्रीति द्वारा अपने फल देते हैं। यद्यपि सामान्य कर्म को पाप और पुण्य की संज्ञा दी जाती है, तो भी सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पाप और पुण्य को कर्म के फल मानना चाहिए और ये फल ईश्वर की प्रीति और अप्रीति से अन्यथा कुछ नहीं हैं। भूतकाल में किए अच्छे कर्म, भविष्य में, सहायक प्रवृत्ति, सामर्थ्य और उनके अनुरूप परिस्थिति द्वारा, अच्छे कर्मों को निश्चित करते हैं और बुरे कर्म मनुष्य को बलात् बुरे कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। प्रलय के समय भी पृथक् रूप से धर्म और अधर्म नहीं होते, किन्तु जीव के कर्मों से उत्पन्न, ईश्वर की प्रीति और रोष, उसके सुख-दुःख का स्वरूप और विस्तार इसके सृष्टि-क्रम के समय धर्म या अधर्म के प्रति उसकी प्रवृत्ति को निश्चित करते हैं। कर्म के फल स्वर्ग या नरक में और इस पृथ्वी पर अनुभव किए जाते हैं, जब जीव स्वर्ग या नरक से पृथ्वी पर जा रहा होता है तब यह नहीं होता, क्योंकि उस समय सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता, वह तो एक संक्रमण की अवस्था है। पुनः उन यज्ञों के अतिरिक्त, जो दूसरे मनुष्यों को पीडा या दुःख पहुँचाने के लिए किए जाते हैं, स्वर्ग प्राप्ति या अन्य सुख-हेतु से किए गए यज्ञों में पशुओं की हिंसा पाप नहीं है।[3]

---

[1] वही, पृ० २८।

[2] सूर्यादि सम्बन्ध विशेषोपाधितः पृथिव्यादि देशनामेव काल संज्ञा।

—नय द्यु मणि पृ० १६८।

[3] वही, पृ० २४३-४६।

वात्स्यवरद

वेदों का अध्ययन करना चाहिए, शास्त्राज्ञा के इस सिद्धान्त के विषय में, वरद अपनी 'प्रमेय माला' में, शाबर भाष्य से विरुद्ध, यह मत प्रतिपादित करते हैं कि शास्त्र आज्ञा, वेद के अध्ययन मात्र से परिपूर्ण होती है उनके पाठो के अर्थ की जिसासा का अपेक्षा नही करती। ऐसी जिज्ञासा, यज्ञो के सचमुच अनुष्ठान में उनके अर्थ की सामान्य जिज्ञासा और ज्ञानेच्छा से उद्भूत होती है। ये वैदिक विधि के अग नहीं हैं।

वात्स्यवरद यह मानते हैं कि वेदाज्ञा का अध्ययन एव ब्रह्म-जिज्ञासा, एक ही शास्त्र के अग हैं, अर्थात् पिछला पहले का परिशेष ही है, और वे बोधायन का उल्लेख कर उसे प्रमाणित करते हैं।

शकर ने सोचा था कि केवल विशिष्ट वर्ग के लिए मीमासा का अध्ययन करने के लिए कहा गया है, जो ब्रह्म-जिज्ञासा रखते थे उनके लिए आवश्यक नही है। पूर्व और उत्तर मीमासा भिन्न प्रयोजन के लिए हैं और भिन्न लेखको द्वारा लिखी गयी हैं। इसलिए इन्हे एक ही ग्रन्थ के दो खंड या भाग नही मानना चाहिए। इसका वात्स्य-वरद, बोधायन का अनुसरण करते हुए अपवाद लेते हैं, क्योंकि उनके अनुसार यद्यपि पूर्व और उत्तर मीमासा, दो भिन्न लेखको द्वारा लिखी गई हैं तो भी ये दोनो मिलकर एक ही मत का प्रतिपादन करते है और ये दोनो एक ही पुस्तक के दो प्रकरण या भाग माने जा सकते है।

पूर्व मीमासा जगत् की सत्ता मे विश्वास करती है, जबकि ब्रह्म सूत्र इसे अस्वीकार करता है इसलिए, इन दोनो का एक ही हेतु नही हो सकता, शकर के इस मत का उल्लेख करते हुए भी, वात्स्यवरद जगत् की सत्ता स्वीकार करते हैं। सभी ज्ञेय पदार्थ मिथ्या हैं, शकर का यह तर्क आत्मा के लिए भी प्रयुक्त होता है, क्योकि अनेक उपनिषद् आत्मा को दृश्य कहते हैं। जगत् मिथ्या है उनकी इस उक्ति से यह अर्थ निकलेगा कि मिथ्यात्व भी मिथ्या है, क्योकि वह जगत् का अश है। ऐसा तर्क शकर को स्वीकार्य होना चाहिए क्योकि वे स्वय शून्यवाद के निरास में इसका प्रयोग करते है।

शकर मतवादियो द्वारा भेद पदार्थ अस्वीकार करने के विषय में, वात्स्यवरद कहते हैं कि प्रतिवादी यह किसी प्रकार भी स्वीकार नही कर सकते कि भेद देखा जाता है, क्योकि उनके सभी तर्क, भेद की सत्ता की मान्यता पर आधारित हैं। यदि भेद न हो, तो पक्ष न होगे और न किसी मत का खण्डन ही होगा। यदि यह मान लिया जाता है कि भेद अनुभवगम्य है तो प्रतिपक्षी को यह मानना पड़ेगा कि भेद का अनोखा एव योग्य कारण होना चाहिए। भेद के विचार में मुख्य विषय यह है कि वह अपने स्वरूप से ही द्विविध धर्म रखता है, अपनी जाति के पदार्थों से सामान्य समानता का धर्म और वह धर्म जिससे वह अन्य से भिन्न है। दूसरे धर्म मे वह, अन्य को अपने

में समाविष्ट करता है। जब यह कहा जाता है एक पदार्थ भिन्न है तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि भेद उस वस्तु से अभिन्न है या वह वस्तु का केवल दूसरा नाम ही है, किन्तु उसका अर्थ यह है कि भिन्न जानी हुई वस्तु, दूसरी वस्तुओं से बाहर लक्ष्य करती है। अन्य पदार्थों की ओर बाहर लक्ष्य, जब पदार्थ के साथ सोचा जाता है, तब यह भेद का अनुभव उत्पन्न करता है।

भेद का विचार, अभाव के विचार को सन्निविष्ट करता है, जैसाकि अन्यत्व या भिन्नत्व के विचार में है। क्या यह अभाव, जिन्हें भिन्न सोचा जाता है, उन विषयों से स्वरूप से भिन्न है या अन्य विषयों के 'इतर' से भिन्न है? क्योंकि अभाव, साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, तो 'भेद' भी प्रत्यक्ष द्वारा साक्षात् गम्य नहीं हो सकता। विशिष्टाद्वैत मत इसे स्वीकार करता है कि भेद साक्षात् अनुभव गम्य है। इसे सिद्ध करने के लिए, वात्स्यवरद अभाव का विशिष्ट अर्थ करते हैं। वे मानते हैं कि एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में अभाव, दूसरे पदार्थ में विशिष्ट गुणों के होने से होता है, जो पहले पदार्थ के साथ संबंध का सन्निवेश करता है। इस प्रकार अभाव का विचार पदार्थ के विशिष्ट परिणत गुण से उत्पन्न होता है, जिसमें अभाव स्वीकार किया जाता है। बहुत से शंकर-मतवादी, अभाव को भाव रूप मानते हैं, किन्तु वे उसे एक विशिष्ट पदार्थ मानते हैं, जो अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा अभाव के प्रतियोगी रूप में जाना जाता है। यद्यपि वह भाव रूप है, तो भी उनके मतानुसार, अभाव का विचार जिसमें अभाव स्वीकार किया गया है, उस पदार्थ के विशिष्ट परिणत धर्म से नहीं जाना जाता है। किन्तु वात्स्यवरद मानते हैं कि अभाव का विचार जिसमें अभाव स्वीकारा गया है, उस पदार्थ के विशिष्ट परिणत धर्म के ज्ञान से उत्पन्न होता है।[1] एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की भिन्नता के रूप में जो अभाव प्रकट होता है उससे यह अर्थ निकलता है कि पिछला पदार्थ, पहले पदार्थ के विशिष्ट गुणों में सन्निविष्ट है जिससे दूसरे को लक्ष्य करना शक्य हो जाता है।

वात्स्यवरद इस मत पर जोर देते हैं कि सत्य, ज्ञान अनन्त इत्यादि लक्षण ब्रह्म को लक्ष्य करते हैं इससे यह प्रकट है कि ईश्वर के ये गुण हैं और ये सब एक ही ब्रह्म को लक्ष्य करते हैं ऐसी अद्वैतवादी व्याख्या मिथ्या है। वे ब्रह्म के अनन्त और अमर्याद स्वरूप का भी वर्णन करते हैं और किसी उचित अर्थ में जगत् और जीव, ब्रह्म के शरीर माने जा सकते हैं इसे स्पष्ट करते हैं, जीव ईश्वर के लिए अस्तित्व रखते हैं, जो उनका अन्तिम साध्य है। वे इस ग्रन्थ में बाह्य कर्मकाण्ड के ही कुछ विषयों का भी उल्लेख करते हैं जैसेकि मुण्डन, सन्यासी द्वारा यज्ञोपवीत ग्रहण करना इत्यादि।

---

[1] प्रतियोगि-बुद्धौ वस्तु-विशेष-धीरे वोपेता नास्तीति व्यवहार-हेतुः।
—वरद प्रमेय माला, पृ० ३५ (हस्त०)।

वरद अपने 'तत्व सार' में, रामानुज भाष्य के कुछ रोचक विषय सगृहीत करते हैं और उनका गद्य और पद्य में अर्थ करते हैं। उनमें से कुछ विषय निम्नांकित हैं : (१) ईश्वर की सत्ता तर्क द्वारा सिद्ध नही की जा सकती, किन्तु शास्त्र-प्रमाण द्वारा ही स्वीकृत की जा सकती है, (२) उपनिषद् के महत्वपूर्ण पाठों का विशिष्ट अर्थ बोधन, जैसेकि कप्यास स्थल इत्यादि, (३) रामानुज के अनुसार वेदान्त के महत्वपूर्ण अधिकरणों की निष्पत्ति, (४) अभाव एक प्रकार का केवल स्वीकार है यह सिद्धान्त (५) भासमान द्वैत एवं अद्वैतवादी ग्रन्थों का अर्थ-बोधन, (६) जगत् की सत्ता के विषय में चर्चा इत्यादि।

'तत्व सार' ने इसके बाद बाधुल नरसिंह के गुरु, वाधुल वरद गुरु के शिष्य, बाधुल वेंकटाचार्य के पुत्र, वीर राघवदास द्वारा, रत्नसारिणी नामक दूसरी टीका को प्रोत्साहित किया। वात्स्यवरद के कुछ ये ग्रन्थ हैं, 'सारार्थ चतुष्टय', 'आराधना संग्रह', 'तत्व निर्णय', 'प्रयत्न पारिजात', यति-लिंग-समर्थन' और 'पुरुष निर्णय'।[1]

रामानुजाचार्य द्वितीय या वादिहंस नवाम्बुद

पद्मनाभाचार्य के पुत्र रामानुजाचार्य द्वितीय, अत्रि कुल के थे। वे रामानुज-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध लेखक वेंकटनाथ के मामा थे। उन्होने 'न्याय कुलिश' लिखा, जिसका उल्लेख बहुधा, वेंकटनाथ की 'सर्वार्थ सिद्धि' में आता है। उन्होने एक और ग्रन्थ रचा जो 'मोक्ष सिद्धि' है। रामानुज के विचारो का उनके द्वारा किया गया अर्थ-बोधन, वेंकटनाथ द्वारा स्पष्ट किए, रामानुज के 'प्रामाण्यवाद' के संदर्भ मे पहले ही दिया जा चुका है। उनके दूसरे योगदान सक्षेप में निम्न प्रकार हैं।

अभावः रामानुजाचार्य द्वितीय, अभाव को पृथक् पदार्थ नही मानते। वे सोचते हैं कि एक पदार्थ के अभाव का अर्थ उससे भिन्न किसी दूसरे पदार्थ से ही होता है। इस प्रकार घड़े के अभाव का अर्थ, उससे भिन्न किसी दूसरे की सत्ता से है। अभाव का सच्चा विचार, केवल भेद ही है। अभाव का भाव-पदार्थ के विरोधी रूप से वर्णन है, इस प्रकार, अभाव को किसी भाव-पदार्थ से सम्बन्धित किए बिना सोचने का कोई मार्ग नही है। किन्तु एक भाव पदार्थ, अभाव के सम्बन्ध द्वारा अपनी विशिष्टता की आवश्यकता नहीं रखता।[2] यह भी प्रसिद्ध है कि अभाव का अभाव, भाव के

---

[1] अपने 'तत्व निर्णय' में वे ये सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि महत्वपूर्ण श्रुतिपाठ के अनुसार नारायण ही महान् देव हैं। इस पुस्तक में वे पुरुष निर्णय का उल्लेख करते हैं जिसमें वे कहते हैं कि उन्होंने इस विषय की विस्तार से चर्चा की है।

[2] अथाभावस्य तद्रूपं यद्भाव-प्रतिपक्षता
नैवम वाप्यसौ यस्माद् भावोत्तीर्णेन साधितः। —न्याय कुलिश हस्त०,।

अस्तित्व से अन्यथा कुछ भी नही है। अभाव का अस्तित्व प्रत्यक्ष, अनुमान या उपमान द्वारा नही हो सकता। वेंकटनाथ इस विचार को आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अभाव मे अनुपस्थिति का विचार, अभावात्मक पदार्थ का भिन्न प्रकार के देश काल धर्मों के सहचार से उत्पन्न किया जाता है।[1] इस प्रकार जब ऐसा कहा जाता है कि यहाँ घडा नही है तो उसका अर्थ यह होता है कि घडा अन्य जगह पर विद्यमान है। ऐसा तर्क किया जाता है कि अभाव को भाव-पदार्थ का अस्तित्व नही माना जा सकता, और यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि अभाव को अभाव नही माना जा सकता तो फिर अभाव के अभाव को भाव पदार्थ की सत्ता कैसे मानी जा सकती है। जिस प्रकार जो अभाव को स्वीकार करते हैं वे अभाव एव भाव-पदार्थ की सत्ता को आपस मे विरोधी मानते हैं उसी प्रकार, रामानुजवादी भी भाव-पदार्थ की सत्ता मानते हैं और अभाव को भिन्न देश-काल-धर्मों से विरोध करने वाला पदार्थ मानते हैं। इस प्रकार अभाव को पृथक् पदार्थ मानना आवश्यक नही है। जब एक विद्यमान पदार्थ के नष्ट होने की बात कही जाती है, तब केवल उसकी अवस्था का परिणाम होता है। प्राग-भाव एवं प्रध्वसाभाव दो पदार्थों का आगे पीछे क्रम से आने के सिवाय और कुछ अर्थ नही रखते और ऐसी अवस्थाओ की अनन्त परम्पराए हो सकती हैं। यदि इस मत को अंगीकार नही किया जाकर और प्रध्वंसाभाव और प्रागभाव अभाव के पृथक् भेद रूप से माने जाय तो प्रागभाव का विनाश और प्रध्वसाभाव का प्रागभाव, अभाव की अनन्त परम्परा पर आश्रित हो जाएगे और हमे अनवस्था दोष पर ले जाएगे। नई अवस्था का अनुक्रम ही पुरानी अवस्था का विनाश माना जाता है, क्योंकि पहली, दूसरी से भिन्न अवस्था ही है। कभी-कभी ऐसा माना जाता है कि अभाव शून्यता मात्र है और वह भाव-पदार्थ से कोई सम्बन्ध नही रखता। यदि ऐसा हो, तो, एक ओर, अभाव अकारण हो जायगा, और दूसरी ओर वह किसी का कारण न रहेगा, और इस प्रकार अभाव अनादि और अनन्त हो जायगा। ऐसी परिस्थिति में सारा जगत् अभाव की पकड मे आ जायगा और जगत् के समस्त पदार्थ नष्ट हो जाएगे। इस प्रकार अभाव को एक पृथक् पदार्थ के रूप में मानना आवश्यक है। एक भाव-पदार्थ का दूसरे से भेद ही अभाव है।

दूसरी समस्या इस सम्बन्ध मे जो उपस्थित होती है वह यह है कि यदि अभाव को एक पृथक् पदार्थ नही माना जाता तो अभाव रूप कारणो को कैसे माना जा सकता है। यह प्रसिद्ध है कि कारण अन्योन्याश्रय द्वारा तभी कार्य उत्पन्न कर सकते हैं जबकि

---

[1] तत्तत्प्र प्रतियोगि-भाव-स्फुरण-सहकृतो देशकालादि भेद एव स्वभावात् नञ् प्रयोग-मपि सहते।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ७१४।

उनकी उत्पादक शक्ति का विरोध करने वाले निषेधात्मक कारण न हो। इस शक्ति को रामानुज-सम्प्रदाय में सहकारी तत्वों की अन्योन्य आश्रयता के रूप में स्वीकार किया गया है जो कारण कार्य उत्पत्ति में सहायक है (कारणस्य कार्योपयोगी सहकारि-कलापः शक्तिरिति उच्यते)।[1] इस पर रामानुजाचार्य का उत्तर यह है कि निष्फल करने वाले कारणो को पृथक् कारण नहीं माना जाता, किन्तु, अन्य सहकारी तत्वों के साथ निष्फल करने वाले कारको की उपस्थिति जो सहकारी कारण तत्वो को कार्य उत्पन्न करने में निरुपयोगी बना देती है वह कार्य को निष्फल कर देती है। इस प्रकार दो प्रकार के सहकारी तत्वो का समाहार होता है जहाँ कार्य उत्पन्न होता है या नही होता है, और इन समाहारों का भेद एक प्रसग में कार्य को उत्पन्न करने मे और अन्य में उत्पन्न न करने में दायित्व रखता है, किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि अव-रोधक तत्वो की अनुपस्थिति या अभाव, कारण उत्पन्न करने मे योगदान करती है। एक प्रसग मे उत्पन्न करने की शक्ति थी, और दूसरे में ऐसी शक्ति नही थी।[2] रामा-नुजाचार्य शक्ति को एक पृथक् अतीद्रिय तत्व नहीं मानते हैं, किन्तु वह कार्य उत्पन्न करने वाली शक्ति को निगूढ विशिष्टता है ऐसा मानते हैं। (शक्तिगत जात्यनभ्युपगमे तदभावात् शक्तस्यैव जातिः कार्य-नियामिका न तु शक्ति-जातिरिति)।[3]

जाति

रामानुजाचार्य जाति को व्यक्ति के अमूर्त सामान्य के रूप में स्वीकार नही करते। उनके अनुसार दूसरो के सदृश किसी भी अंश का एक रूप सघात (सुसदृश संस्थान) जाति है।[4]

---

[1] सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ६८५।

[2] सिद्ध-वस्तु-विरोधी घातकः साध्य-वस्तु-विरोधी प्रतिबन्धकः, कथ यदि कोर्य तद्-विरुद्धत्वमिति चेन्न, इत्थं कार्य-कारण-पौष्कल्ये भवति, तदपौष्कल्ये न भवति, अपौष्कल्य च क्वचित् कारणानामन्यतम-वैकल्यात् क्वचित् शक्ति-वैकल्यादिति, मिथते यद्यपि शक्ति नं कारणं तथापि शक्तस्यैव कारणत्वात् विशेषणाभावेऽपि विशिष्टाभाव-न्यायेन कारणाभावः। तदुभयकारणे न प्रागभावस्थिति करणात् कार्य-विरोधीति प्रतिबन्धको भवति, तत्र यथा कारण-वैकल्य-दृष्ट-रूपेण कुर्वतोऽभावः कारण न स्यात्, तथा शक्ति विघ्नितः यो हि नाम प्रतिबन्धकः कारणं किंचिद् विनाश्य कार्यं प्रतिबध्नाति न तस्याभावः कारणमिति सिद्धम्।

—न्याय कुलिश, हस्त०।

[3] वही।

[4] न्याय कुलिश, हस्त०।

रामानुजाचार्य के अनुयायी वेंकटनाथ, जाति को सौसादृश्य कहकर व्याख्या करते हैं। न्यायगत जाति के मत की आलोचना करते हुए वे कहते हैं, कि जो जाति को प्रकट करता है वह स्वयं जाति से प्रकट होता है, तो इन जातियो को दूसरों के द्वारा प्रकट होना चाहिए और इन्हे फिर दूसरो से जो अन्त मे अनवस्था दोष उत्पन्न करता है। यदि इस दोष से बचने के लिए ऐसा माना जाता है कि जाति को व्यक्त करने वाले इसकी श्रेणी के अंश के व्यक्त होने के लिए जाति की अपेक्षा नही होती, तो फिर यह कहना उचित होगा कि सदृश व्यक्ति जाति को व्यक्त करते हैं और जाति को एक पृथक् पदार्थ मानना आवश्यक है। यह स्पष्ट है कि जाति का विचार उन गुण-धर्मों से उत्पन्न होता है जिस सम्बन्ध में कुछ व्यक्तियो की सहमति है, यदि ऐसा है तो यही जाति के विचार को समझाने के लिए पर्याप्त होगा। ये गुण-धर्म ही, जिनका सादृश्य दूसरे पदार्थों के सदृश धर्मों को याद कराता है, जाति के विचार को उत्पन्न करते हैं।[1] जब किसी मे कोई अंश या गुण जाने जाते हैं वे स्वाभाविक रीति से दूसरे मे ऐसे ही सदृश अंग या गुणों का स्मरण कराते हैं और यह तथ्य ही कि ये दो एक दूसरे के साथ-साथ चित्त मे बने रहते हैं सादृश्य कहलाते हैं।[2] कुछ गुण या धर्म दूसरो को क्यो याद कराते हैं यह समझ के बाहर है, केवल यही कहा जा सकता है कि वे स्वभावतः ऐसा करते हैं, और वे चित्त में एक दूसरे के साथ-साथ रहते हैं इसी तथ्य के कारण सादृश्य और सामान्यता सम्भावित है। कोई और दूसरा पृथक् तत्व नही है जिसे सादृश्य या सामान्य कहा जा सके। रामानुजाचार्य और वेंकटनाथ की सामान्य की परिभाषा में कुछ भी भेद नही है यद्यपि रामानुजाचार्य उसे सदृशो का समाहार और वेकटनाथ उसे सादृश्य कहते हैं, तो भी वेकटनाथ का सादृश्य का विचार उसके अन्तर्गत समाहार को घटको के अंश के रूप में, सन्निवेश करता है, क्योकि वेकटनाथ के अनुसार सादृश्य कोई अमूर्त पदार्थ नही है किन्तु वह अंशो का मूर्त समाहार है, जो स्मृति मे एक दूसरे से निकट रहता है। वेकटनाथ, यह अवश्य बताते हैं कि सामान्य केवल अवयवो के समाहार को ही लक्ष्य करता है ऐसा नही है, क्योकि उन

---

[1] केचिद्वो सस्थान भेदाः बकचन् स्वलु मिथ स्सादृश्य रूपा भान्ति यै भर्वदीयं सामान्य मभि व्यज्यते त एव सौसादृश्य व्यवहार विषय भूताः सामान्य व्यवहार निर्वहन्तु, तस्मात्तेषां सर्वे षां मन्योन्य सापेक्षैक स्मृति विषय तया तत्तद् ऐकावमर्श स्तत ज्जातीयत्वावमर्शः।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ७०४।

[2] यद्यपि एकेकस्य सास्नादि-धर्म-स्वरूप तथापि तन्निरूपाधि-नियतैः स्वभाव तो नियतैः तैः तैः सास्नादिभिरन्यनिष्ठै स्सप्रतिद्वद्विक स्यात्, इद मेव अन्योन्य-सप्रतिद्वंद्विक-रूप सादृश्य-शब्द-वाच्यम् अभिधीयते।

—वही।

निरवयव पदार्थों के सम्बन्ध में, जैसेकि गुण में अवयवों का समाहार नहीं सोचा जा सकने पर भी सामान्य का प्रत्यय प्रयुक्त हो सकता है। इसी कारण, वेंकटनाथ, सादृश्य को सामान्य की केवल उपाधि मानते हैं और संस्थान को समावेश नहीं करते, जैसाकि रामानुजाचार्य ने किया है।

स्वतः प्रामाण्य

अक्सर ऐसा तर्क किया जाता है कि प्रमाणता और अप्रमाणता के निश्चय के लिए भी, अन्य वस्तु, की तरह, अन्वय-व्यतिरेक विधि का प्रयोग निर्णयात्मक कसौटी है। गुणों की उपस्थिति जो प्रमाणता की समर्थक है और दोषों की अनुपस्थिति जो प्रत्यक्ष की प्रमाणता में बाधक है, उन्हे किसी ज्ञान की प्रमाणता या अप्रमाणता का निर्णायक मानना चाहिए। इस पर रामानुजाचार्य कहते हैं कि प्रमाणता का समर्थन करने वाले गुणो का निश्चय करना, दोषाभाव के विश्वास के बिना निश्चित नहीं हो सकता और दोषाभाव भी प्रमाण के पोषक गुणो की उपस्थिति के ज्ञान के बिना नहीं जाना जा सकता, इसलिए, जबकि वे अन्योन्याश्रित हैं उनका स्वतन्त्र रूप से रूप निश्चित करना भी असम्भव है। इस प्रकार सूचन किया जाता है कि प्रमाणता एव अप्रमाणता को निश्चित नहीं किया जाता है किन्तु उनके विषय में शका ही होती है। इस पर उत्तर यह है कि जहाँ तक कुछ ज्ञान नहीं है वहाँ शका कैसे उपस्थित हो सकती है। इसलिए प्रमाणता और अप्रमाणता निश्चित होने के पहले एक मध्यस्थ स्थिति है। ज्ञान यथार्थ या अयथार्थ है यह ज्ञान होने के पहले अर्थ-प्रकाश होना चाहिए, जो अर्थ की दृष्टि से स्वतः प्रमाण है, और अपनी प्रमाणता के लिए वह दूसरी किसी विधि के प्रयोग पर अवलम्बित नहीं है, क्योकि वह भविष्य के अर्थ के, सत्य और मिथ्यापन की भी समस्त निश्चितता का आधार है। इसलिए ज्ञान का यह अग, जो मूल अग है—अर्थात् अर्थ प्रकाश-स्वतः प्रमाण है। यह कहना मिथ्या है कि यह ज्ञान स्वय निःस्वभाव है, क्योकि यह, वृक्ष ढाक या शिंशपा का वृक्ष है यह जानने के पहले उसे वृक्षत्व रूप से निश्चित करने के समान, अर्थ प्रकाश धर्मवाला है।[1] सहायक गुणों का ज्ञान प्रमाणता का कारण नहीं है, किन्तु जब प्रमाणता निश्चित हो जाती है तब उन्हे प्रमाणता का सहायक माना जा सकता है। स्वतः प्रामाण्य, ज्ञान का होता है तथात्व का नहीं। यदि तथात्व भी साक्षात् प्रकट होता तो फिर ऐसे

---

[1] यथार्थ-परिच्छेदः प्रामाण्यमयथार्थ-परिच्छेदः अप्रामाण्यं कथं तदुभय-परित्यागे अर्थ परिच्छेद सिद्धिः इति चेन्न, अपरित्याज्यत्वाभ्युपगमात्। तयोः साधारणमेव हि अर्थ-परिच्छेद ब्रूमः शिंशपापलाशादिषु इव वृक्षत्वम्।

—न्याय कुलिश, हस्त०।

तथात्व के विषय में भी कभी शंका उत्पन्न हो सकती है। जब कुमारिल के अनुयायी ज्ञान को स्वतः प्रामाण्य कहते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि ज्ञान ही स्वयं तथ्य को तथात्व प्रदान करता है, क्योंकि वे ज्ञान को स्वयं प्रकाश नहीं मानते। इसलिए उन्होने प्रमाणता को प्रदान करने वाले अन्य साधनों को माना है। इन साधनो की प्रमाणता को पुनः अन्य सहायक साधनो की प्रमाणता पर अवलम्बित होना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। प्रमाणता के निश्चय के लिए, हमे कार्य की क्षमता एवं उसके समर्थन द्वारा अभिनिश्चयन पर अवलम्बित रहना पडेगा। इस प्रकार यदि प्रमाणता, सहायक गुणों के समर्थन पर आश्रित है, तो फिर स्वतः प्रमाणता रहती ही नही है। इस मतानुसार वेद भी स्वतः प्रमाण न रहेंगे। वे इसलिए दोषरहित है कि मोहान्ध मानव द्वारा उनका निर्माण नही हुआ तो उनके कोई सहायक गुण भी न होगे क्योंकि वे किसी आप्त जन की कृति नही हैं (मीमांसा मतानुसार)। इसलिए, उनकी प्रमाणता के विषय में सचमुच शंका हो सकती है। तथात्व की सच्चाई ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य पर आश्रित है अर्थात् अतथात्व का मिथ्यापन। यदि वह ज्ञान के कारण पर आश्रित होती तो फिर झूठा ज्ञान भी सच्चा होगा। इसलिए वेदो की प्रमाणता के लिए यह मानना पडता है कि वे परम आप्त पुरुष के वाक्य हैं। ज्ञान केवल विषय को प्रकट नही करता किन्तु विशिष्ट द्रव्य या पदार्थ को प्रकट करता है और वह वस्तु के ज्ञान मे प्रकट होने तक ही प्रमाण है।[1] इस प्रकार ज्ञान की प्रमाणता का सम्बन्ध विशिष्ट पदार्थ के सामान्य गुणो से है उसके निर्दिष्ट विस्तृत कर्मों से नही है।[2] इस प्रकार की प्रमाणता, केवल ज्ञान के आकार को ही लक्ष्य करती है, विषयगत-समर्थन को नही करती।[3] इसमे जहां-कहीं भी शंका के स्थान हो, वहां सहायक गुणो द्वारा तथा दृढीकरण द्वारा निश्चित करना चाहिए और जब भूल के अवसरो को अन्य साधनो द्वारा हटा दिया जाता है तब मौलिक प्रमाणता अबाध रहती है।

स्वप्रकाशत्व

रामानुजाचार्य सबसे पहले स्वप्रकाशत्व के विरुद्ध नैयायिको के आक्षेप का वर्णन करते हैं। नैयायिक यह तर्क करते देखे गए हैं कि पदार्थ अस्तित्ववान् है, किन्तु वे

---

[1] यद् धी ज्ञाने विद्यते तदैव तस्य लक्षणमुचित वस्तु-प्रकाशत्वमेव ज्ञाने विद्यते न तु विषय-प्रकाशत्व यतो विज्ञाने समुत्पन्ने विषयोऽयमिति नामाति किन्तु घटोऽयमिति।
—न्याय कुलिश, हस्त०।

[2] ज्ञानानां सामान्य रूपमेव प्रामाण्यं नवैशेषिक रूपम्। —वही।

[3] तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता। —वही।

विशिष्ट परिस्थिति में ज्ञेय बनते हैं और इससे यह स्पष्ट होता है कि सत्ता ज्ञान या प्रकाशत्व से भिन्न है। इस दृष्टि से तर्क करते हुए यह कहा जा सकता है कि सत्ता रूप से ज्ञान, उसके प्रकाशत्व से भिन्न है।[1] यदि ज्ञान स्वयं स्वप्रकाश होता, तो वह किसी परिस्थिति से, सन्निकर्ष या पदार्थ के सम्बन्ध द्वारा आश्रित न रहता और इस तरह कोई भी व्यक्तिगत ज्ञान सामान्य ज्ञान हो जाता। इसके अतिरिक्त दूसरी ओर, ज्ञान को, यदि पदार्थ के साथ उसके सम्बन्ध से मर्यादित होने की आवश्यकता रहती है तो वह ज्ञान स्वप्रकाश नहीं होगा तथा ज्ञान के अखड होने के कारण, उसमें ऐसा विचार नही किया जा सकता कि एक अश दूसरे को प्रकाशित करता है। अखड तत्वों के सम्बन्ध में यह सोचना सम्भव नही है कि ज्ञान स्वप्रकाश होना चाहिए क्योंकि वह एक ही साथ कारक और विषय दोनों नहीं हो सकता। पुनः यदि ज्ञान स्वप्रकाश होता तो, अन्तर्निरीक्षण द्वारा चेतना और उसके पुनर्ज्ञान के भेद को नही समझाया जा सकता। फिर यह स्मरण रखना चाहिए कि एक ज्ञान का दूसरे ज्ञान से भेद अर्थ भेद पर आश्रित है। इसके अतिरिक्त एक ज्ञान का दूसरे से कोई भेद नही है। यदि, बाह्य विषय, ज्ञान का घटक न होता तो, ज्ञान के प्रकाश और पदार्थ के प्रकाश में कोई भेद न रहता। यदि ज्ञान स्वतः ही स्वप्रकाश होता तो उसके बाहर विषय को कोई स्थान नही रहता, और वह हमें निरपेक्ष प्रत्ययवाद (आदर्शवाद) की ओर ले जाता इसलिए इसकी उपपत्ति या तो मीमासा मतानुसार होगी, जिसके अनुसार ज्ञान, बाह्य विषय मे ऐसा धर्म उत्पन्न करता है कि पदार्थ के उस ज्ञेय धर्म से ज्ञान अनुमित किया जा सकता है, अथवा इस न्याय दृष्टि से कि ज्ञान विषय को प्रकट करता है। इस प्रकार, यह मानना पडता है कि ज्ञान और उसके पदार्थ के बीच किसी प्रकार का ज्ञान-सम्बन्ध होना चाहिए और इन सम्बन्धों का विशिष्ट स्वरूप ही प्रत्येक प्रसग में ज्ञान-गुण को निश्चित करेगा। अब फिर प्रश्न किया जा सकता है कि यह ज्ञान सम्बन्ध केवल पदार्थ को इगित करता है या पदार्थ-ज्ञान को? पहले प्रसग में पदार्थ ही प्रकट होगा, और दूसरे मे, ज्ञान ही अपना विषय होगा, जो निरर्थक है। यदि ज्ञान, पदार्थ को विशिष्ट सम्बन्ध के बिना प्रकाशित करता है तो कोई भी ज्ञान किसी पदार्थ या सभी पदार्थों को प्रकाशित करेगा। ज्ञान, ज्ञान-व्यापार को अनुमित करता है, और यदि इस व्यापार को स्वीकार नही किया जाता तो ज्ञान को प्रकाशित नही किया जा सकता, क्योंकि ज्ञान की विषयरूपता ही ऐसे व्यापार को अनुमित करती है। इसलिए निष्कर्ष यह है कि जैसे ज्ञान अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे यह अनुव्यवसाय से पुनः प्रकाशित होता है। 'मैं देखता हूँ' यह केवल ज्ञान प्रकाशत्व का प्रसग नहीं है, किन्तु उस विशिष्ट पदार्थ को जिसे देखा है उसका पुनर्ज्ञान (अनुव्यवसाय)

---

[1] सर्वस्य हि स्वतः स्वगोचर ज्ञानाधीनः प्रकाशः
संविदामपि तथैव अभ्युपगन्तुमुचितः। —न्याय कुलिश, हस्त०।

है। इसलिए ज्ञान, अपने से प्रकाशित न होकर, अनुव्यवसाय से प्रकाशित होता है। इस पर रामानुजाचार्य आक्षेप खड़ा करते हैं, यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह पुनर्ज्ञान, ज्ञाता से, फिर से ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा के बावजूद होता है या अनिच्छा से। पहले प्रसग में जबकि पुनर्ज्ञान स्वतः ही उपस्थित होता है, अर्थात्, पुनर्ज्ञान ज्ञाता की इच्छा से उद्भूत है, तो ऐसी इच्छा पूर्व ज्ञान से उत्पन्न होनी चाहिए, और वह अपने से पूर्व इच्छा को मानने को बाध्य करेगा, और वह उससे पूर्व को, इस प्रकार अनवस्था दोष खड़ा होगा। इस पर नैयायिक उत्तर देते हैं कि सामान्य पुनर्ज्ञान किसी इच्छा के बिना ही होता है, किन्तु विशिष्ट पुनर्ज्ञान इच्छा का कार्य है। सामान्य पुनर्ज्ञान स्वभावतः होता है, क्योंकि सभी सांसारिक मनुष्यों को अपने जीवन भर में कुछ-न-कुछ ज्ञान होता ही रहता है। जब किसी को विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा होती है तब ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष होता है।

इस पर रामानुजाचार्य का यह उत्तर है कि सामान्य अस्तित्ववान् पदार्थ के विषय में, उसकी सत्ता और उसके ज्ञान के प्रकाश में भेद है, क्योंकि वह सर्वथा सत्ता एव ज्ञान के विशिष्ट सम्बन्ध पर आश्रित है, किन्तु स्वप्रकाश पदार्थ के सम्बन्ध में, जहाँ ऐसे सम्बन्ध की आवश्यकता नही रहती वहाँ उसकी सत्ता और प्रकाशता मे भेद नहीं होता। अग्नि दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करती है, किन्तु स्वय को प्रकाशित होने के लिए उसे, दूसरो की सहायता की आवश्यकता नही होती। स्वप्रकाशता से यही अर्थ है। जैसेकि कोई भी पदार्थ दूसरे पदार्थ पर स्वय प्रकाशित होने के लिए, अपनी जाति पर आश्रित नही रहता, इसी प्रकार ज्ञान, अपने प्रकाश के लिए दूसरे ज्ञान की सहायता की आवश्यकता नही रखता। दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए जिन सम्बन्धों की आवश्यकता होती है वे ज्ञान स्वय को प्रकाशित करने के लिए आवश्यक नही होते।[1] ज्ञान स्वय प्रकाश है अतः हमारे व्यवहार को साक्षात् प्रभावित करता है, लेकिन वह इस सहायता के लिए किसी और पर निर्भर नहीं है। यह बिलकुल अनुभव-विरुद्ध है कि ज्ञान को अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा होती है, और यदि इसे हमारा अनुभव समर्थन नहीं देता तो इस असाधारण सिद्धान्त की स्वीकृति में क्या औचित्य है कि किसी ज्ञान को अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी दूसरी ज्ञान-प्रक्रिया की अपेक्षा होती है। मात्र उसी को ज्ञान का विषय कहा जा सकता है जो अस्तित्ववान् होते हुए भी अनभिव्यक्त रहता है। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि एक अज्ञात ज्ञान था क्योंकि ज्ञान अपनी अभिव्यक्ति के लिए अन्य पदार्थों की तरह समय की प्रतीक्षा में नहीं रहता। अतीत ज्ञान के विषय का जो

---

[1] ज्ञानमनन्याधीनप्रकाशं अर्थ-प्रकाशकत्वात् दीपवत्।

—न्याय कुलिश, हस्त०।

मात्र अनुमित होता है, कोई प्रत्यय नहीं होता अतः ज्ञात और अज्ञात के सम्बन्ध में हमेशा एक रेखा खींची जा सकती है। अगर केवल पदार्थ प्रकाशित होता, उसका ज्ञान नहीं तो कोई क्षण भर के लिए भी उसके प्रत्यक्ष से न चूकता। यदि ज्ञान मात्र अपने कार्य से अनुमित होता, हर एक उसका अनुभव कर लेता लेकिन किसी को भी ज्ञात और अज्ञात के भेद बोध में क्षण भर के लिए भी हिचक न होती। यह भी कहना गलत है कि ज्ञान जांच-पड़ताल के बाद ही उदित होता है, क्योंकि वर्तमान ज्ञान में जो कुछ भी ज्ञान का विषय बनता है, साक्षात् ही होता है और अतीत ज्ञान में भी ऐसी अनुमिति नहीं होती कि स्मृत होने के कारण ज्ञान हो पाया बल्कि अतीत ज्ञान की स्मृति के रूप में साक्षात् प्रतीति होती है क्योंकि यदि उसे अनुमान कहा जाय, तो पुनः प्रत्यक्षण को भी स्मृत्यनुमान माना जा सकता है।

पुनः कोई वस्तु जो ज्ञान का विषय हुए बिना अस्तित्व रखती है उसकी अभिव्यक्ति सोपाधिक ज्ञान की संस्थिति में त्रुटि की उपस्थिति के कारण सदोष हो सकती है, परन्तु ज्ञान के स्वतः त्रुटिपूर्ण होने की कोई सम्भावना नहीं होती और परिणामतः ज्ञेय होने के अतिरिक्त उसका कोई अस्तित्व नहीं होता। सुख या दुःख की अनुभूति में जैसे कोई सन्देह नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञान के विषय में भी कोई सन्देह नहीं होता, इससे यह प्रतीत होता है कि जब-जब ज्ञान होता है, वह स्वतः सुव्यक्त होता है। यह सोचना गलत है कि यदि ज्ञान स्वप्रकाश होगा तो उसमें और विषयार्थ मे भेद न रहेगा, क्योंकि भेद स्पष्ट ही है, ज्ञान स्वतः ही निराकार है, जबकि विषय अर्थ रूप है। दो पदार्थ जो एक ही प्रकाश में दीखते हैं, जैसेकि द्रव्य और गुण, पदार्थ और उनकी संख्या, वे इसी कारण अभिन्न नहीं हैं। यह नही कहा जा सकता कि ज्ञान और उसके विषय अभिन्न हैं क्योंकि वे एक ही साथ प्रकाशित होते हैं, क्योंकि उन दोनों का एक ही साथ प्रकाशित होना, यह बताता है कि ये दो भिन्न ही हैं। ज्ञान और उनके अर्थ एक ही प्रकाश में प्रकाशित हो जाते हैं, और यह निश्चित करना असम्भव है कि कौन पहले और कौन पीछे प्रकट होता है।

श्रुति के प्रमाणानुसार, आत्मा भी ज्ञान के स्वरूप जैसा है। आत्मा, ज्ञान के स्वरूप जैसा है इसलिए स्वप्रकाश है और इसलिए यह नही मानना चाहिए कि वह मानस प्रत्यक्ष है।

रामानुजदास या महाचार्य

रामानुजदास जो महाचार्य भी कहलाते थे, वे बाधुल श्री निवासाचार्य के शिष्य थे। उन्हे रामानुजाचार्य द्वितीय से संकीर्ण नही करना चाहिए, जो पद्मनाभार्य के पुत्र और वेदान्त देशिक के मामा थे और वे वादीहंसनवांबुद नाम से जाने जाते थे। उन्होने कम से कम तीन ग्रन्थ रचे, 'सद्विद्या विजय', 'अद्वैत विजय' और 'परिकर विजय'।

वे अपने 'सद्विद्या विजय' में शंकराचार्य के इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए, कि भावरूप अज्ञान की सत्ता प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति इत्यादि भिन्न प्रमाणों द्वारा जानी जा सकती है, कहते हैं कि अज्ञान का अनुभव, जैसेकि 'मैं अज्ञानी हूँ' अज्ञान का पूर्ण रूप से अनुभव कहा जा सकता (कृत्स्नाज्ञानप्रतीतिस्तावद्सिद्धा), क्योंकि वह समस्त विषयों को, सभी ज्ञान का निषेध करते हुए कभी भी लक्ष्य नही कर सकता। शंकर मतवादी द्वारा अन्तःकरण भी प्रत्यक्ष ज्ञान की वृत्ति गत वस्तुओ को लक्ष्य करता नही माना गया है। जब कभी भी कोई अपने अज्ञान का अनुभव करता है, उस समय उसके अहकार के प्रकाश की अवस्था होती है और उसे इस स्थिति का ज्ञान ही होता है कि वह अज्ञ है, ऐसे अनुभव मे, अज्ञान सर्वांग रूप से प्रकाशित होता है ऐसा नही कहा जा सकता, क्योंकि उस समय अहकार प्रकाशित होता है। यदि अज्ञान अपने सर्वांग रूप से प्रकाशित नही होता तो अज्ञान किसी विशिष्ट विषय के सम्बन्ध मे ही केवल प्रकाशित होता है, और यदि ऐसा है तो फिर भावरूप अज्ञान की मान्यता निरुपयोगी है। पुनः अज्ञान, या ज्ञानाभाव, यदि किसी विशेष पदार्थ को लक्ष्य करता है, तो उसमे उस पदार्थ का ज्ञान सम्मिलित है, और इसलिए अज्ञान का ही केवल अनुभव नहीं किया गया है और भावरूप अज्ञान की मान्यता, इस साधारण मत से अधिक नही है, जिसके अनुसार, ऐसे प्रसगो में, गाढ निद्रा के अतिरिक्त, पदार्थ के ज्ञान का ही केवल अभाव है। अज्ञान के अनुभव की अन्य सभी अवस्थाओ मे, अज्ञान का अनुभव, विशेष पदार्थ के ज्ञान के अभाव को लक्ष्य करता है। अज्ञान के सभी उदाहरण यही अर्थ रखते हैं कि उनके पदार्थ केवल सामान्य रूप से जाने जाते हैं, उनका विशेष विस्तार के साथ ज्ञान नही होता। पुनः ऐसा नही कहा जा सकता कि अज्ञान को भाव रूप से (ज्ञान-सामान्य-विरोधी) निर्देश करने के लिए ही माना गया है। क्योकि 'मैं अज्ञ हूँ' ऐसे अनुभव में अज्ञान स्व में है ऐसा ज्ञान होता है और उन सामान्य अर्थों का भी जिनसे हम अज्ञ हैं। इसके अतिरिक्त अज्ञान का जबकि शुद्ध चैतन्य अधिष्ठान है और अन्तःकरण को उसका आधार नही माना जाता, तो फिर 'मै अज्ञ हूँ' यह अनुभव किस प्रकार से इस भावरूप पदार्थ को लक्ष्य कर सकता है? यदि यह माना जाता है कि क्योंकि अन्तःकरण शुद्ध चैतन्य पर आरोपण मात्र है जो अज्ञान का आधार है, अतः अज्ञान चित्त-व्यापार के रूप में प्रकट हो सकता है क्योकि अह और अज्ञान, शुद्ध चैतन्य पर आरोपित होने के कारण, उसी एक ही अधिष्ठान चैतन्य—से प्रकाशित हो सकते हैं। उत्तर यह है कि ऐसा स्पष्टीकरण स्पष्ट रूप से गलत है, क्योकि यदि अहकार और अज्ञान, एक ही मूलभूत चैतन्य से प्रकाशित होते है तो अज्ञान अहकार का विधेय नही हो सकता। यदि एक ही शुद्ध चैतन्य, अहंकार और अज्ञान को प्रकाशित करता है, तो वे दोनों भिन्न नहीं दीखेंगे और उद्देश-विधेय के क्रम से स्पष्ट नहीं ग्रहण होंगे। पुनः यदि यह माना जाता है कि अज्ञान अहंकार के विधेय के रूप से ही प्रकाशित होता है क्योंकि वह शुद्ध चैतन्य पर आधारित है तो फिर 'मैं घड़े को नही जानता' ऐसे अनुभव में, अज्ञान बाह्य

पदार्थों को (जो शुद्ध चैतन्य पर स्वतन्त्र ही आरोपित है) किस प्रकार लक्ष्य करेगा ? यदि ऐसा कहा जाता है कि जबकि एक ही शुद्ध चैतन्य पर, बाह्य पदार्थ, अज्ञान और अहंकार, सभी आरोपित हैं और अज्ञान हमेशा बाह्य पदार्थों से सम्बन्धित है, तो यह कह सकते हैं कि जब कभी घडा जाना जाता है अज्ञान अन्य पदार्थों से (जैसेकि कपड़ा) सम्बन्धित होने से वह शुद्ध चैतन्य से भी सम्बन्धित है जिस पर घड़ा एक आरोपण है। वास्तव में वह घडे से भी सम्बन्धित होगा, जिसका परिणाम यह होगा कि 'हम घड़ा नहीं जानते' हैं ऐसा अनुभव। ऐसा तर्क किया जा सकता है कि घड़े का भावरूप से ज्ञान ही अज्ञान के सम्बन्ध में बाधक हो सकता है। इस पर यह उत्तर है कि जब कोई यह कहता है 'मैं इस पेड को नही जानता' तब 'इस' के बारे में ज्ञान है और पेड़ के स्वरूप के बारे में अज्ञान है, इसलिए यहाँ पर भी घडे के एक ही पहलू के बारे में अशतः ज्ञान और अशतः अज्ञान हो सकता है। शका के प्रसग में हमें ज्ञान और अज्ञान की एक ही पदार्थ मे स्थिति माननी पड़ती है और यह जिज्ञासा के सभी प्रसगो मे सत्य है, जहाँ एक पदार्थ सामान्य दृष्टि से ज्ञात हो किन्तु विशिष्ट विस्तार मे अज्ञात हो।

पुन:, शकर-मतवादियो द्वारा यह मिथ्या विवाद किया गया है कि गम्भीर स्वप्नरहित निद्रा की स्थिति में अज्ञान का साक्षात् अनुभव होता है, क्योंकि यदि अज्ञान अपने स्वरूप से वास्तव में ज्ञात होता है, तो मनुष्य कभी जगकर यह नही कह सकता कि उसने कुछ नही जाना। उसे यह स्मरण होना चाहिए कि उसे अज्ञान का साक्षात् ज्ञान हुआ था। यदि गाढ निद्रा मे शुद्ध चैतन्य ने अज्ञान को प्रकाशित किया तो उसने जगत् के सभी ज्ञात एव अज्ञात पदार्थों को प्रकाशित किया होगा, जो निरर्थक हैं क्योकि जागने पर उनकी स्मृति रहनी चाहिए। यह नहीं कहा जा सकता कि गाढ़ निद्रा में अज्ञान के अतिरिक्त और कुछ प्रकाशित नहीं होता, क्योकि जाग्रत् अवस्था के प्रमाण के अनुसार, उस समय काल का ज्ञान भी होता है, क्योकि स्मृति यह होती है 'उस समय, मैंने कुछ नहीं जाना।' उपरान्त, यदि यह माना जाता है कि सब कुछ साक्षी चैतन्य से (वृत्ति की अवस्था पर आए बिना) प्रकाशित होता है, तो अज्ञान का भी स्मरण नही होना चाहिए। यदि यह कहा जाता है कि साक्षी चैतन्य द्वारा अज्ञान के विषय प्रकाशित नही होते, केवल अज्ञान ही प्रकाशित होता है तो इससे जाग्रत अवस्था में 'मैंने कुछ नही जाना' इसमें 'कुछ' निश्चित रूप से अज्ञान के अर्थ को ही लक्ष्य करता है। इसके अतिरिक्त, यदि उपरोक्त पूर्व मान्यता सही है, तो गाढ़ निद्रा में आनन्द प्रकाशित नहीं हो सकता और न जाग्रत्अवस्था मे याद भी आ सकता है। यदि इसके उत्तर में यह विवाद किया जाता है कि जाग्रत्अवस्था में अज्ञान के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट गुण याद रहे थे, क्योंकि वे अविद्या की वृत्ति से प्रकट हुए थे, तो उत्तर यह है कि उन्हें अविद्या के विशिष्ट प्रकार मानने के बजाय चित्त की वृत्ति

या अवस्था भी माना जा सकता है और अज्ञान के अनुभव को ज्ञान के अभाव का अनुभव कह कर समझाया जा सकता है। जबकि सब स्वीकृत करते हैं कि ज्ञानाभाव भावरूप अज्ञान जैसे एक पृथक् पदार्थ को मानना लेश मात्र भी सगत नहीं है। पुन: ज्ञात विषय की स्मृति के लोप के विषय में कोई यह कह सकता है कि वह उस वस्तु को नही जानता था। किन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि जब उसने यह पदार्थ जाना था तब उसे उस पदार्थ के अज्ञान का साक्षात् अनुभव था। रजत-शुक्ति के भ्रम के अनुभव के पश्चात् हम कह सकते हैं कि मैंने अब तक रजत को नहीं जाना था, इसे कैसे समझाया जायगा? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि ऐसे सभी प्रसंगो में, हम केवल अनुमान ही करते हैं कि उन पदार्थों के ज्ञान का अभाव था। विवादान्तर्गत प्रसग में भी, हम इसी मत को ग्रहण कर सकते हैं कि गाढ़ निद्रा मे कुछ भी ज्ञान नही था। किन्तु हम यह नही कह सकते कि हमें भाव रूप अज्ञान का साक्षात् अनुभव था। शंकर-मतानुयायी कहते हैं कि अज्ञान एक भाव पदार्थ है वह अनुमान से भी सिद्ध किया जा सकता है, क्योकि उनके मतानुसार जिस प्रकार, प्रकाश, भाव रूप अन्धकार को हटाकर वस्तुओ को प्रकाशित करता है उसी प्रकार, ज्ञान भी, अज्ञान से ढकी हुई वस्तुओ को प्रकट करता है। इसका खण्डन करते हुए महाचार्य, शंकर-मत के अनुसार न्याय वाक्य के शास्त्रीय एवं पांडित्यपूर्ण विवेचन मे पड जाते है जिसे यहाँ ठीक तरह से उल्लेख नही किया जा सकता। हमारे ध्यान करने योग्य मुख्य विषय और जो दर्शन की दृष्टि से महत्वपूर्ण भी है वह रामानुज-सम्प्रदाय का मत है जिसके अनुसार ज्ञान के द्वारा वस्तु प्रकट हुई है इसलिए भावरूप अज्ञान अवश्य ही हटाया गया होगा यह नही माना गया है। शंकर-अनुयायी यह आक्षेप करते हैं कि अज्ञान को, आत्मा के आनन्द को आवृत करने वाला एक पृथक् तत्व नहीं माना जायगा तो, मुक्ति को समझाना कठिन हो जायगा। इस पर महाचार्य का यह उत्तर है, मुक्ति को बन्धन का नाश कहकर भी समझाया जा सकता है। मनुष्य जितना भावरूप सुख को प्राप्त करना चाहता है उतना ही अभाव रूप दुःख को हटाना चाहता है। यह समझना मिथ्या है कि जहाँ तक बन्धन मिथ्या नही है वहाँ तक वह दूर नहीं किया जा सकता, क्योकि यह सुविख्यात है कि विष का प्रभाव गरुड पक्षी का ध्यान करने से दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार संसार का बन्धन भी ईश्वर का ध्यान करने से दूर किया जा सकता है, यद्यपि वह सत्य है। ज्ञान रूप ध्यान अज्ञान को ही नहीं हटा सकता किन्तु सच्चे बन्धन को भी दूर कर सकता है। मुक्ति आनन्द की नित्य अभिव्यक्ति इस प्रकार मानी जा सकती है और यह अनिवार्य रूप से आवश्यक नही है कि सुख या आनन्द की अभिव्यक्ति, अन्य समान्य शारीरिक सुख की तरह, शरीर से सम्बन्धित होनी चाहिए।[1]

---

[1] सद्विद्या विजय, पृ० ३७.७५ (हस्त०)।

शकर-अनुयायी कहते हैं कि अपरिणामी आत्मा, जगत्-प्रपंच का उपादान कारण नहीं हो सकता, और न कोई भी हो सकता है, वह अर्थापत्ति से अनुमित होता है कि जगत् का उपादान कारण अज्ञान हो सकता है, क्योंकि ऐसा ही उपादान कारण जगत्-प्रपच का अज्ञान स्वरूप स्पष्ट कर सकता है। ब्रह्म को बहुधा जगत् का उपादान कारण कहा जाता है और वह प्रपच में अतःस्थित शुद्ध सत्ता के रूप मे अधिष्ठान कारण है यहाँ तक ही सत्य है। अज्ञान परिणामी कारण है और इसलिए जगत् के गुण धर्म भी अज्ञान जैसे हैं।

इस पर महाचार्य का उत्तर यह है, यद्यपि जगत् की रचना मिथ्या मान ली जाय, तो भी उससे आवश्यक रूप से भाव रूप अज्ञान को मानने का परिणाम नहीं निकलता। इस प्रकार, भ्रम रूप रजत बिना कारण के उत्पन्न होता है, या आत्मा जगत् का उपादान कारण माना जा सकता है, जो यद्यपि अखड है किन्तु भ्रम से जगत् रूप दीख सकता है। यह नही कहा जा सकता कि मिथ्या कार्य का मिथ्या पदार्थ ही कारण होगा। क्योंकि ऐसा सामान्यीकरण नही किया जा सकता। मिथ्यात्व के लिए सामान्य गुण की उपस्थिति यह निश्चित नहीं कर सकती कि मिथ्या पदार्थ आवश्यक रूप से मिथ्या कार्य का कारण होना चाहिए, क्योंकि दूसरी दृष्टि से उसमें और अन्य सामान्य गुण भी होंगे, और कार्य-कारण मे गुणो की निरपेक्ष सदृशता निस्सदेह ही नही है।[1] इसके अतिरिक्त, कार्य मे, आवश्यक रूप से सत्ता की एकता नही होती जो परिणामी उपादान कारण मे होती है, इसलिए ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानना असम्भव है जबकि जगत् मे ब्रह्म जैसी निर्मलता न हो। यदि ब्रह्म जगत् का परिणामी कारण माना जाता है, तो निस्सदेह ही उसकी सत्ता जगत् की जैसी नही हो सकती, किन्तु यदि कोई पदार्थ इसके रूप में प्रकट हो सकता है तो उसे परिणामी कारण कहा जा सकता है और उसके लिए उस कार्य जैसी सत्ता का होना आवश्यक नही है। इस प्रकार,अविद्या का नाश और अन्त दोनो ही कार्य माने गए है और तो भी उनकी सत्ता उनके कारण जैसी नही है।[2] इसलिए यह तर्क नही किया जा सकता

---

[1] ननु उपादानोपादेययोः सालक्षण्य-नियम-दर्शनादेव तत्सिद्धिरिति चेत्सर्वथा सालक्षस्य मृद्घटयोः अप्यदर्शनात् किंचित् सारूप्यस्य शुक्ति रजतादावपि पदार्थत्वादिनासत्वात्।
—वही, पृ० ५७७।

[2] यदुक्तं ब्रह्मणः परिणामितया उपादानत्वे परिणामस्य परिणामि-समान-सत्ताकत्व-नियमेन कार्यस्यापि सत्यत्व-प्रसग इति, तत्र किं परिणाम-शब्देन कार्यं मात्र विवक्षित, उत रूपान्तरापत्तिः, ध्वसस्य अविद्या-निवृत्तेश्च परिणामि-समान-सत्ताकत्वाभावात् न हि तद्रूपेण परिणामि किंचिदस्ति, न द्वितीयं रूपांतरापत्तेः परिणामि-मात्र-सापेक्षत्वात् गौरवेण स्वसमान-सत्ताक-परिणाम्यपेक्षाभावात्।
—सद्विद्या विजय, पृ० ७१।

कि यदि ब्रह्म को जगत् का परिणामी कारण मान लिया जाय, तो जगत् ब्रह्म जैसा सत्य हो जायगा। पुनः, जगत् में ब्रह्म के गुणधर्मों का न दीखना कर्म के प्रभाव के कारण अच्छी तरह समझाया जा सकता है। जगत् का अब्रह्म स्वरूप भी समझाने के लिए अज्ञान की पूर्व मान्यता आवश्यक नहीं है। मुक्ति का अज्ञान के अन्त के रूप में वर्णन करना भी आवश्यक नही है, क्योंकि वह अवस्था, स्वयं आनंदावस्था होने के कारण, हमारे प्रयत्नो का उद्देश्य मानी जा सकती है और अविद्या की मान्यता और उसकी निवृत्ति निर्मूल है।

महाचार्य ने पाठो के प्रमाण द्वारा यह बताने का प्रबल प्रयास भी किया कि शास्त्रो ने भी अविद्या को भाव रूप नही स्वीकारा है।

दूसरे अध्याय में महाचार्य यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि अज्ञान को एक आवृत करने वाले स्वतत्र पदार्थ मानने की कोई आवश्यकता नही है। शकर-मतवादी तर्क करते है कि यद्यपि आत्मा का अह-प्रत्यय मे अनुभव होता है फिर भी उस अह अनुभव में पूर्णानन्द ब्रह्म का तादात्म्य रूप से अनुभव नही होता, और इसलिए यह मानना आवश्यक है कि ब्रह्म के विशुद्ध रूप को ढक देने वाला कोई अज्ञान पदार्थ है। इस पर महाचार्य उत्तर देते हैं कि अज्ञान, क्योंकि अनादि माना गया है, उसकी आवरण-शक्ति भी अनादि होगी और फिर मुक्ति असम्भव होगी, तथा यदि ब्रह्म आवृत हो सकता है तो उसके स्वप्रकाश-स्वरूप का भी अन्त हो जायगा और वह अज्ञ हो जायगा। इसके अतिरिक्त, अनुभव, इस प्रकार होता है 'मैं अज्ञ हूँ' और वास्तव मे अज्ञान अह को लक्ष्य करता दीखता है। यदि यह माना जाता है कि आवरण का अस्तित्व अतःकरण द्वारा, ब्रह्म की अपूर्णता समझाने के लिए ही केवल स्वीकारा गया है, तो यह भली प्रकार बताया जा सकता है कि ब्रह्म अह रूप से मर्यादित दीखना अत.करण की उपाधि से भी समझाया जा सकता है, जिसके द्वारा ब्रह्म प्रकट होता है और इसके लिए माया का पृथक् आवरण स्वीकार करना आवश्यक नही है।

पुनः यह पूछा जा सकता है कि यह आवरण अज्ञान से भिन्न है या अभिन्न। पिछले प्रसग मे, वह सदा ही अप्रकट रहेगा, और जगत् का भास असम्भव हो जायगा। यदि आवरण अज्ञान से भिन्न कुछ वस्तु है, और जबकि वह शुद्ध चैतन्य से किसी भी प्रकार सम्बन्धित नही है, तो उसका व्यापार जगत्-प्रपच को समझा नही सकेगा। यदि यह आवरण अज्ञान को अनिर्वचनीय कर देता है, तो यह पूछा जा सकता है कि यह आवरण अज्ञान से भिन्न है या अभिन्न ? पिछले विकल्प में, वह उस पर आश्रित न रहेगा, और पहले विकल्प मे, अज्ञान को ब्रह्म का विरोधी मानना निरर्थक होगा। इस प्रकार, जिन उपाधियों द्वारा ब्रह्म प्रकट होता है वही ब्रह्म के जगत् के पदार्थों के रूप में मर्यादित स्वरूप को समझाने में पर्याप्त हैं तो अज्ञान को पृथक् तत्व मानना अनावश्यक है।

पुन:, यदि अज्ञान शुद्ध साक्षी चैतन्य को आवृत कर सकता है तो सारा जगत् अंधा हो जायगा, और कहीं कुछ भी ज्ञान न होगा। यदि साक्षी चैतन्य आवृत नहीं हो सकता, तो फिर ब्रह्म भी आवृत नहीं हो सकता। उसके अतिरिक्त यदि ब्रह्म सर्वदा स्वप्रकाश है, तो वह अज्ञान द्वारा कभी भी आवृत नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाता है कि ब्रह्म के स्वप्रकाशत्व का अर्थ यह है कि वह अवेद्य और अपरोक्ष है, तो आवरण का विचार लाना ही अनावश्यक है क्योंकि जो जाना नहीं जा सकता (अज्ञेय) वह इन दोनों में से एक भी नहीं है। पुनः, शंकर के अनुयायी मानते हैं कि अज्ञान ब्रह्म के आनन्द अंश को ढकता है चिदंश को नहीं। यह स्पष्ट रूप से असम्भव है, क्योंकि उनके अनुसार चित् और आनन्द एक हैं, और यदि ऐसा है तो, फिर आनंद अंश ढक जाने पर चिदंश बाकी कैसे बच सकता है और एक ही अखंड तत्त्व ब्रह्म, दो भागों में कैसे विभक्त किया जा सकता है जिसका एक भाग आवृत होता है और दूसरा नहीं ? पुन यदि आत्मा आनन्द स्वरूप माना जाता है और हमारी सुख के प्रति आसक्ति, ब्रह्म पर अहंकार के मिथ्या आरोपण द्वारा समझायी जाती है, जबकि संसार की सभी वस्तुएँ आत्मा पर मिथ्या आरोपण मात्र ही है तो वे सभी आत्मा की तरह नित्य होंगी और दुःख भी हमारे लिए सुखकारक होगा।

तीसरे अध्याय में महाचार्य शंकर-अनुयायियों के अज्ञान के अधिष्ठान के मत का खण्डन करते है। शंकर-सम्प्रदाय के कुछ प्रवर्तक यह मानते हैं कि विषयों के अज्ञान अंश, उन विषयों में निहित शुद्ध चैतन्य द्वारा धारण किए जाते है। यद्यपि इन अज्ञान तत्वों के विकार विद्यमान है तो भी उनका हमारे 'अहं' से सम्बन्ध हो सकता है, क्योंकि दोनों, पदार्थ और अहं, अज्ञान भूमिका की अवस्थाएँ है। इस पर महाचार्य कहते हैं कि यदि जगत् के सभी पदार्थों के पृथक् और भिन्न अज्ञान कारण है तो यह सोचना गलत है कि सीप के अज्ञान द्वारा भ्रम रूप रजत उत्पन्न किया जाता है। यह कहना अधिक अच्छा होगा कि प्रमाता के अज्ञान ने 'अन्त करण से बाहर निकलने पर रजत-भ्रम उत्पन्न किया। यदि सीप के अज्ञान को अनादि माना जाता है तो उसे मूल अज्ञान का विकार मानना निरर्थक है और यदि इसे विकार नहीं माना जाता तो उसका ज्ञान नहीं समझाया जा सकता।

पुनः कुछ अन्य लोग भी हैं जो यह मानते है कि पदार्थवर्ती अज्ञान किसी दृष्टि से ज्ञाता में भी रहता है और इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय में सम्बन्ध हो सकता है। इस पर महाचार्य कहते है कि ऐसा मत असम्भव है, क्योंकि पदार्थान्तर्गत चैतन्य ज्ञाता में निहित चैतन्य से भिन्न है, और यदि यह माना जाता है कि शुद्ध चैतन्य अन्त में एक ही है तो सभी पदार्थ उसी प्रकार प्रकाशित होने चाहिए, जिस प्रकार कोई भी पदार्थ एक समय में एक ज्ञान द्वारा प्रकाशित होता है। पुन. यदि विषयगत एवं ज्ञातृगत चैतन्य भेद-रहित है, तो फिर मनुष्य को 'मैं अज्ञ हूं' ऐसा कहते हुए अज्ञान का क्यों

अनुभव होना चाहिए ? यह अज्ञान का भाव ज्ञाता में क्यों अनुभव होना चाहिए और विषय मे नहीं, जबकि दोनों के अन्तर्गत चैतन्य एक ही है, इसका कोई भी कारण नहीं दीखता। इसके अतिरिक्त, प्रसग में, जब एक व्यक्ति को किसी पदार्थ का ज्ञान होता है तो उस पदार्थ का सभी को ज्ञान हो जायगा।

अन्य और भी हैं जो यह कहते हैं कि शुक्तिगत अज्ञान को अह अनुभव का आधार है और शुक्तिगत चैतन्य उसका विषय है। इस पर महाचार्य यह कहते हैं कि अह अनुभव के अन्तर्गत चैतन्य द्वारा आधारित अज्ञान का परिणाम नही हो सकता और यदि ऐसा है तो वह भिन्न पदार्थों को नही समझा सकता।

पुनः अन्य और हैं जो यह सोचते हैं कि जब कोई यह कहता है कि वह सीप को नही पहचानता तो वहाँ अज्ञान मूल अज्ञान को लक्ष्य करता है, क्योंकि यद्यपि अज्ञान का सम्बन्ध शुद्ध चैतन्य से है, वह सीप के अन्तर्गत चैतन्य से अभिन्न होने से सीप से भी सम्बन्ध रखता है और उसका इसी प्रकार ग्रहण भी हो सकता है। हमें यह भी मानना पडेगा कि मिथ्या रजत भी अज्ञान से बना है, क्योंकि मिथ्या रजत का जबकि प्रत्यक्ष होता है, तो उसका द्रव्य के रूप में कोई उपादान कारण भी होना चाहिए।

इस पर महाचार्य का उत्तर यह है कि स्वगत अज्ञान के समाकल्पन का सम्बन्ध मूल अज्ञान से है, विषयो के द्रव्य के रूप मे पृथक् अज्ञान को स्वीकार करने में कोई युक्ति नही है। यह सूचन नही किया जा सकता कि प्रत्येक ज्ञान के साथ उससे सम्बन्धित अज्ञान का अन्त होता है, इससे अज्ञान एक पृथक् पदार्थ के रूप में सिद्ध होता है, क्योंकि ऐसे अज्ञान का हट जाना केवल एक अनुमान ही है, और यह भी माना जा सकता है कि विशिष्ट ज्ञान का अभाव, विशिष्ट अनुभव से होता है। प्रागभाव किसी पदार्थ की उत्पत्ति से नष्ट होता है। जब कोई कहता है कि 'मैंने अभी तक घडे को नही जाना, उसे अब जानता हूं' ज्ञान के अभाव का या अज्ञान का अन्त यहाँ विषय से साक्षात् और अपरोक्ष सम्बन्ध है जो ज्ञाता है। किन्तु पदार्थ को आवृत करते अज्ञान का निरसन ज्ञान के अनुभव से केवल उपलब्ध अनुमान ही है, वह साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान नही हो सकता। पुनः यदि मूल अज्ञान विषयगत शुद्ध चैतन्य को आवृत करता माना जाता है, तो विषय को ढकने के लिए पृथक् अज्ञान मानना अनावश्यक है। यदि यह माना जाता है कि विषयान्तर्गत शुद्ध चैतन्य, ब्रह्म से अभिन्न होने से जिसे मूल अज्ञान कहा जाता है, वह विषयाभास में मर्यादित रूप से चेतना मे दीख सकता है, तो यह पूछा जा सकता है कि मूल अज्ञान से सम्बन्धित होने के कारण, पदार्थ ज्ञात होते हुए भी, क्यो अज्ञात दीखता है। पुनः, 'मैं नही जानता' ऐसे अनुभव के सन्दर्भ में मूल अज्ञान अन्तःकरण से सम्बन्धित नहीं हो सकता, क्योंकि वह भौतिक पदार्थ है और वह स्वप्रकाश्य शुद्ध चैतन्य में नहीं हो सकता। जैसा भी वह है, वह अपने बारे में अज्ञ नहीं हो सकता।

उपरान्त यह भी कहा जा सकता है कि यद्यपि आत्मा चेतना में प्रकट होती है तो भी बहुधा वह शरीर से सम्बन्धित रहता है और यद्यपि विषय सामान्य रूप से ज्ञेय होते हैं तो भी उनके विशेष रूप अज्ञेय बने रह सकते है, यह परिस्थिति बहुधा अनिश्चितता उपस्थित करती है कि यह सब अज्ञान की मान्यता के अतिरिक्त और किसी प्रकार से नही समझाया जा सकता। यह सब स्वीकार किया जाय कहने पर भी अज्ञान को एक आवरण करने वाला तत्त्व मानना अयुक्त है। अनवधारण और आवरण दोनो एक नहीं है। मृगतृष्णा मे जल का दीखना अनवधारण से शकास्पद हो सकता है और यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अज्ञान ने यदि आवृत किया होता तो जल का दीखना भी नही हो सकता था। यह भी नही कहा जा सकता कि आवरण के कारण अनवधारण है, क्योकि यह सहज ही आग्रह किया जा सकता है कि जबकि आवरण, सत्ता या स्वप्रकाशता के रूप में प्रकट नही हो सकती तो वह स्वयं अनवधारण का परिणाम है। यदि यह आग्रहपूर्वक कहा जाता है कि अनवधारण स्वय आवरण का स्वरूप-निर्माण करता है (अनवधारणत्वम् एव आवरणम्), तो यह कहा जा सकता है कि आवरण का कारण व्यक्तिगत अह अभिन्न नही दीखता, किन्तु इससे यह अर्थ नही होता कि हमारे मर्यादित जीव के अनुभव मे अनिश्चितता है। यदि ऐसी अनिश्चितता होती तो अह का अनुभव सदेहरहित रूप से न होता। पुनः यदि अज्ञान ही अनवधारण स्वरूप है तो, उसमें आवरण का पृथक् धर्म आरोपित करना निरर्थक है। यदि यह माना जाता है कि अज्ञान केवल शुद्ध चैतन्य द्वारा ही आधारित है, तो जीव को आवागमन के चक्र में क्यो पड़ना चाहिए, इसका कोई कारण नही दीखता, क्योकि ऐसे अज्ञान का जीवो से कोई सम्बन्ध न होगा। यदि यह आग्रह किया जाता है कि वह चैतन्य जीव द्वारा अभिव्यक्त होता है, तो यह भी आग्रह से कहा जा सकता है कि चैतन्य जीव और ईश्वर दोनो के अन्तर्गत है, तो ईश्वर भी आवागमन के चक्र मे फस जायगा।[1]

ऐसा कभी कहा जाता है कि अत करण को ही सुख-दुःख का अनुभव होता है और यही बन्धन है। अत.करण स्वय शुद्ध चैतन्य पर मिथ्या आरोपण होने से अंतःकरण के धर्म चैतन्य मे है, ऐसा दीखता है। इस पर महाचार्य का उत्तर है कि यदि बन्धन अंतःकरण में है तो फिर शुद्ध चैतन्य बद्ध नही माना जायगा। क्योकि यदि बन्धन के दुःख शुद्ध चैतन्य के अतःकरण से मिथ्या तादात्म्य के कारण हैं तो बन्धन अंतःकरण के कारण नही है किन्तु मिथ्या विचार से है। इसी प्रकार, महाचार्य,

---

[1] अज्ञानस्य चैतन्यमात्राश्रयत्वे जीवे ससार हेतुता नस्यात् वैयधीकरण्याच्चैतन्यस्यै व जीवे शविभागात् सामान्याधिकरण्ये ईश्वरस्या पि संसार प्रसंगः।

—सद् विद्य विजय, पृ० १०७ (हस्त०)।

शंकर के अनुयायियों द्वारा, अज्ञान की सत्ता एवं तत् सम्बन्धी जगत्-रचना को समझाने के लिए दिए गए अनेक वैकल्पिक बोधार्थों की आलोचना करते हैं और अन्त में अपना यह मत प्रतिपादन करने का प्रयास करते हैं कि किसी भी प्रकार से अज्ञान का सम्बन्ध सोचना व्याघात से परिपूर्ण है, जिसे सुलझाना अशक्य है।

पुनः चतुर्थ खंड में महाचार्य, यह तर्क वितर्क करते हैं कि अज्ञान पारमार्थिक सत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब अद्वैतवाद न रहेगा। उसे व्यवहार (व्यवहारिक) गत ज्ञात विषयों का द्रव्य भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब वह भ्रम के अनुभवों का द्रव्य नहीं हो सकेगा। यह कभी-कभी आग्रह किया जाता है कि मिथ्या वस्तु से भी, जैसेकि मिथ्या भय-सचमुच रोग होता है और मृत्यु भी, और इसलिए अज्ञान से भी सच्चा ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। महाचार्य इस सादृश्य को मिथ्या बताते है, क्योंकि उपरोक्त उदाहरणों में भी ज्ञान ही उक्त परिणामों को उत्पन्न करता है। यदि अविद्या मिथ्या है, तो सभी भौतिक परिणाम भी मिथ्या होंगे, क्योंकि कार्य सर्वदा कारण से अभिन्न होता है। यदि यह आग्रह किया जाता है कि जबकि जगत् के पदार्थ मिथ्या है, तो ब्रह्म, जो श्रेष्ठ ज्ञान है और स्वय अविद्या का कार्य है, वह भी मिथ्या होगा।

आगे, यदि अज्ञान एक माना जाता है तो फिर सीप के ज्ञान से कभी अज्ञान का का अत हो जाना चाहिए, क्योंकि अज्ञान के अन्त के बिना सीप नहीं जानी जाती। यह नहीं कहा जा सकता कि सीप के ज्ञान से ही उसे छिपाने वाला आवरण हटाया गया है और अज्ञान का अन्त नहीं हुआ, क्योंकि अनुभव यह प्रमाणित करता है कि अज्ञान हटता है कि आवरण। इस प्रकार अनेक अज्ञान की सत्ता मानने मे बाध्य होना पड़ता है। क्योंकि यदि यह माना जाता है कि ज्ञान केवल आवरण को ही हटाता है, तो अन्तिम मुक्ति-ज्ञान भी किसी विशिष्ट आवरण को ही हटाएगा, और इससे मूल अज्ञान का नाश न होगा। पुनः अज्ञान की जो ज्ञान द्वारा नष्ट किया जाता है ऐसी व्याख्या की गई है। यदि ऐसा है तो यह स्पष्ट ही मिथ्या है कि ज्ञान को अज्ञान का कार्य माना जाय। कार्य कारण-पदार्थ को नष्ट नहीं कर सकता। पुनः यदि ऐसा माना जाता है कि मनुष्य की मुक्ति के समय, अज्ञान नष्ट हो जाता है तो ऐसा अज्ञान यदि वह एक ही है, तो वह सम्पूर्ण नष्ट हो जायगा और फिर कोई अज्ञान न बचेगा जो अन्य अमुक्त जीवों को बन्धन मे डालेगा। ऐसा माना गया है कि अज्ञान मिथ्या है, क्योंकि इसका ज्ञान से नाश होता है इसी के साथ यह भी स्वीकार किया गया है कि अज्ञान श्रुति द्वारा नष्ट होता है और जब एक वस्तु, दूसरे सच्चे पदार्थ द्वारा नष्ट होती है तो पहली वस्तु मिथ्या नहीं कही जा सकती।

पुनः अविद्या को जिसका अन्त ज्ञान-जन्य है ऐसा कहा है। अब ब्रह्म स्वयं अविद्या का अन्त है, किन्तु वह ज्ञानजन्य नहीं है। यदि ज्ञान, ज्ञान के अन्त का

साधन (ज्ञान-साध्यत्वात्) माना जाता है, तो इससे यह अर्थ आवश्यक रूप से नहीं निकलता कि उसने अन्त कर दिया है (न च स्व अन्यत्वमेव स्वसाध्यत्वम्)। यदि ये दो प्रत्यय एक ही माने जाते हैं तो अविद्या-सम्बन्ध जिसको अविद्या का साधन माना जा सकता है उसे भी अविद्याजन्य मानना पड़ेगा, जो आत्माश्रय दोष उत्पन्न करता है।[1] इसी सादृश्यता से तर्क करते हुए, कोई यह भी कह सकता है कि अविद्या सम्बन्ध का अन्त अविद्या के अन्त पर आश्रित है, किन्तु इस प्रसंग में स्वयं अविद्या के अन्त का अर्थ अविद्या से सम्बन्ध जोड़ना होता है, इस प्रकार यह केवल पुनरुक्ति होती है।

पुनः साधारण मिथ्या दृष्टिकोण को, जो सच्चे ज्ञान से हट जाते हैं, उन्हें अविद्या से विविक्त करने हेतु अनादि किन्तु ज्ञान द्वारा सान्त कहा गया है। अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि अविद्या का नाश करने वाले इस ज्ञान का स्वरूप क्या है? क्या वह शुद्ध चैतन्य है या केवल अन्तःकरण की अवस्था या वृत्ति है। यदि वह शुद्ध चैतन्य है, तो वह संस्कारों को नष्ट नहीं कर सकता क्योंकि वृत्ति ही चित्त के संस्कारों को नष्ट कर सकती है, और अविद्या अनादि संस्कार है तो वह शुद्ध चैतन्य रूप ज्ञान से नहीं हटायी जा सकती, इस प्रकार उसे अनादि मानना निरुपयोगी होता है। दूसरा, ज्ञान जो अविद्या को नष्ट करता है वह केवल अन्तःकरण की वृत्ति ही है, यह भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा माना गया है कि वृत्ति ज्ञान केवल अज्ञान के आवरण को ही हटा सकता है किन्तु अज्ञान को नहीं। यदि यह कहा जाता है कि वृत्ति अज्ञान एवं आवरण दोनों को हटाती है, तो अज्ञान की यह परिभाषा वह ज्ञान द्वारा हटाया जा सकता है अतिव्याप्त हो जाती है, क्योंकि वह आवरण को भी इंगित करेगी जिसका अज्ञान की परिभाषा में समावेश नहीं है। पुनः यदि अज्ञान अनेक माने जाते हैं तो ऐसी ज्ञानावस्था केवल साधारण पदार्थों को आवृत करने वाले अज्ञान को ही हटा सकेगी, इसलिए वह पूर्ण अविभक्त अज्ञान के लिए उपयुक्त न हो सकेगी जो केवल अखंड सत्ता के अपरोक्ष ज्ञान से ही हट सकता है, क्योंकि यह ज्ञान अंतःकरण-वृत्ति नहीं होगी, जो सर्वदा परिमित होती है।[2] यहाँ भी अज्ञान को ब्रह्म के स्वरूप को आवृत करता हुआ मानना चाहिए, और अज्ञान के अन्त का साक्षात् कारण ज्ञान नहीं है किन्तु आवरण का हटाना है, दूसरा, आवरण का हटाना ज्ञान से होता है, और इसलिए परिभाषा के अनुसार इसे ही अज्ञान कहना चाहिए, क्योंकि आवरण अनादि है और ज्ञान द्वारा नष्ट होता है। महाचार्य आगे अविद्या की परिभाषा की अनेक आलोचनाएँ करते हैं जो अधिकतर पांडित्यपूर्ण हैं और इसलिए वे यहाँ उल्लेखनीय नहीं हैं।

---

[1] सद् विद्या विजय, पृ० ११६।

[2] वही।

पाँचवें खंड में महाचार्य अविद्या प्रकाशित होती है या प्रकट होती है इस पर विवाद करते हैं। यदि अविद्या स्वप्रकाश है, तो वह ब्रह्म जैसी सत् और चिद्रूप होती। यदि ब्रह्म का प्रकाश अविद्या की अभिव्यक्ति है, तो ब्रह्म नित्य होने से अविद्या की अभिव्यक्ति भी नित्य होगी, फिर भी अविद्या भासमान होती है वहां तक ही अपनी सत्ता रखती है ऐसा सदा माना गया है इसलिए वह मिथ्या है (मिथ्यार्थस्य प्रतिभास-समान-कालीनत्व-नियमात्)। यदि अविद्या के प्रकाश का ब्रह्म के प्रकाश से अभेद माना जाता है, तो जहाँ तक ब्रह्म का प्रकाश रहता है वहाँ तक अविद्या भी रहेगी, इस तरह, अविद्या भी नित्य होगी। पुन. यदि यह आग्रह किया जाता है कि जब अविद्या का अन्त होता है तो उसके ब्रह्म के प्रकाश से अभेद का भी अन्त होगा और इसलिए ब्रह्म नित्य होगा और अविद्या नाशवान् होगी। इस वाद में एक और कठिनाई बताई जा सकती है। यदि अविद्या ब्रह्म के प्रकाश से अभेद रूप है तो या तो दूसरा मिथ्या होगा या पहला सत्य होगा। यह सुझाव देना अर्थहीन होगा कि वे भिन्न होते हुए भी अभिन्न सत्ता रूप हैं (भिन्नत्वे सति अभिन्न-सत्वाकत्वम्)। यहाँ पर जो आलोचना दी गई है वह सिद्धान्त तक ही प्रयुक्त हो सकती है। जबकि अविद्या प्रकाश को, ब्रह्म के स्वरूप को ढकने वाला प्रकाश है ऐसा समझाया जाय (अविद्या-अच्छिन्न ब्रह्म स्वरूप अविद्या प्रकाशः) या उससे मर्यादित या उसके प्रतिबिम्बित होता है ऐसा समझाया जाय।

दूसरे खंड मे महाचार्य अविद्या का अन्त किया जा सकता है इस विचार की असगति बताने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते है कि शुद्ध चैतन्य अविद्या को नष्ट कर सकता है यह नही माना जा सकता। फिर अविद्या की सत्ता कभी हो ही नहीं सकती, क्योंकि शुद्ध चैतन्य सर्वदा विद्यमान है, वह स्वय अविद्या का नाश करता है और इसलिए उसके नाश के लिए किसी प्रयास की आवश्यकता नही रहती। यदि शुद्ध चैतन्य अविद्या को नष्ट नही कर सकता, तो वह वृत्ति के प्रतिबिम्ब द्वारा (वृत्ति प्रतिबिम्बत्वम्) भी ऐसा नही कर सकता, क्योंकि वह अपरिमित चैतन्य से अधिक और कुछ नही है। (चैतन्यादधिक विषयत्वाभावे तद्वदेव निवर्तकत्वासम्भवात्)। यदि वृत्ति-प्रतिबिम्बित शुद्ध चैतन्य अविद्या का नाश नही कर सकता, तो वृत्ति-उपहित या मर्यादित होकर भी ऐसा नही कर सकता। वृत्ति अपने से उसे हटा नही सकती क्योंकि वह जड है। यदि ऐसा माना जाता है कि ज्ञान अज्ञान द्वारा उत्पन्न भ्रम-विचार को नष्ट करता है, वह शुद्ध चैतन्य से अभिन्न है, तो यही मानना चाहिए कि शुद्ध चैतन्य ही अज्ञान को नष्ट करता है, ऐसे मत के विरोध मे अभी हाल ही आक्षेप दिए जा चुके है। यदि ज्ञान और अज्ञान भिन्न हैं, तो यह सोचना मिथ्या है कि ज्ञान अज्ञान को नष्ट करता है, क्योंकि ज्ञान एक व्याघात है जो अज्ञान को नष्ट करता है और मान्यता के अनुसार अविद्या ज्ञान नही है। इसके अतिरिक्त, अज्ञान को नष्ट करने वाले प्रकाश के आगे और कोई आवरण नही माना जा सकता जो उससे हटाया

जाता है, इसलिए वह सच्ची दृष्टि से ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शंकर-मतवादियों की मान्यता के अनुसार ज्ञान आवरण नष्ट करके कार्य करता है, आगे, यह ज्ञान जगत के समस्त पदार्थों का विरोधी है ऐसा माना गया है, और यदि यह ऐसा है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि इसी ज्ञान द्वारा ही अज्ञान नष्ट होता है ? पुनः यदि ऐसा माना जाता है कि भ्रम, ब्रह्म पर सभी वस्तु का आरोपण ही है और ज्ञान इस मिथ्या आरोपण को हटाता है, तब ज्ञान, जबकि वह आवरण हटाकर ही कार्य करता हुआ माना गया है, तो यही मानना चाहिए कि अज्ञान ही मिथ्या आरोपण को आवृत करता था, यदि ऐसा है तो हमारे जागतिक अनुभव में ज्ञान ही प्रकट न होगा।

पुनः अविद्या का अन्त ही स्वयं समझ के बाहर है, क्योंकि वह ब्रह्म के स्वरूप से भिन्न नहीं हो सकता। यदि ऐसा है तो द्वैत हो जाता है और मुक्ति असम्भव हो जायगी। यदि वह ब्रह्म से एक है, तो ऐसा होने से वह नित्य रहेगा और उसके बारे में प्रयत्न का कोई अवकाश न रहेगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अविद्या और ब्रह्म आपस में विरोधी है, क्योंकि अविद्या का ब्रह्म ही आधार है और इसलिए वह विरोधी नहीं है।

लोकाचार्य के 'श्रीवचन भूषण' में प्रपत्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन और सौम्य जामातृ की उस पर टीका

'श्रीवचन भूषण' के अनुसार भगवान की कृपा सर्वदा उनके न्याय में निमग्न रहती है, किन्तु तो भी यह अस्तित्व रखती है और हम उसे विशेष उपाधियों के कारण समझ नहीं सकते। वह हमारे प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि तब भगवान् सदा कृपालु न रहेंगे (अनुभूत-दयाद्युद्भावक पुरुषकार-सापेक्षकत्वे नित्योद्भूत-दया हिमत्व व्याहत स्यात्) ३५ बी।

भगवान् की दया उसी पर अवलम्बित है, और किसी पर नहीं, किन्तु नारायण में लक्ष्मी निहित है, और वह उनका सार रूप है या उनका शरीर है, और जिन्होंने स्वेच्छा से अपना सकल्प पूर्णरूपेण नारायण से एकीकृत कर लिया है। यद्यपि ऐसी कल्पना के अनुसार लक्ष्मी नारायण के आश्रित हैं, तो भी भक्त के लिए नारायण और लक्ष्मी एक ही हैं और उसके लिए भगवान् की दया अखंड रूप में लक्ष्मी और नारायण की ही दया है।

लक्ष्मी को नारायण की प्रीति का परम हेतु माना गया है जिन्होंने उनको अपना अंग माना है और लक्ष्मी ने भी अपने को उनसे इस प्रकार अभिन्न कर दिया है कि उनका, नारायण से पृथक् अस्तित्व नहीं है। वास्तव में लक्ष्मी के लिए नारायण को अपनी इच्छा से अनुरूप करने में कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि वहाँ

द्वैत भाव का नाम तक नही है, और इस कारण, भक्त को लक्ष्मी पर पृथक् रूप से निष्ठा रखने की आवश्यकता नहीं रहती। लक्ष्मी का स्वरूप भगवान् की दया का शुद्ध सार है।[1]

जब भक्त अपनी स्वतन्त्रता एवं पृथक् अस्तित्व के मिथ्या विचारों के कारण, भगवान् से वियुक्त अवस्था में होता है, तब उसे अपनी स्वतन्त्रता की मान्यता को त्याग देने एवं भगवान् को अपना परम ध्येय मानने की विरोधी दशा में प्रयत्न करना पड़ता है। किन्तु, एक बार उसने अपने मिथ्या अहंकार को त्याग दिया और अपने को भगवान् के पूर्ण रूपेण शरणागत कर दिया तो फिर उसके लिए और कोई प्रयत्न करना बाकी नही रहता। ऐसी अवस्था मे लक्ष्मी के प्रभाव से भक्त के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं और उनके प्रभाव द्वारा भगवान् उस पर दया करते हैं।[2] लक्ष्मी भी मनुष्य के हृदय में नैतिक अन्तः प्रबोधन द्वारा भगवान् की मैत्री साधने की आवश्यकता की भावना उत्पन्न करती है। वे द्विविध कार्य करती हैं, पहले वह मनुष्य के मन को मोड़ती हैं जो अनादि अविद्या के प्रभाव से ईश्वर के बजाय सांसारिक रसों मे फँसा हुआ है, और दूसरा वे भगवान् का हृदय द्रवित करती हैं, जो मनुष्यों को उनके कर्मानुसार फल देने पर तुले हैं और उन्हें कर्म-बन्धन का अतिक्रमण कर भक्तों पर आनन्द वर्षा करती है।

भगवान् की रक्षा पाने के रूप में प्रपत्ति, पवित्र और अपवित्र स्थानों की मर्यादित उपाधियों से नियमित नहीं है और न किसी विशेष काल, या कोई विशेष प्रकार या जाति, नियम, अथवा किसी भी प्रकार के फल के बंधन से भी बाधित है। जब भगवान् प्रपत्ति द्वारा किसी को स्वीकारते हैं तो उसके सभी विहित और अविहित दोषों को क्षमा कर देते हैं। कुटिलता (असरलता) और क्रूरता ही वे दोष हैं, जिन्हे वे क्षमा नही करते। लोग, अपने को निःसहाय पाकर, बचने का और कोई चारा नही होने के कारण प्रपत्ति अपनाते हैं या इसलिए वे ऐसा करते हैं वे ज्ञानी हैं और निश्चित रूप से यह जानते हैं कि यही श्रेष्ठ उपाय है, या उन्हे भगवान् में आवांरो की

---

[1] देव्या कारुण्य रूप येऽति तद्गुण-सारत्वेन कारुण्य स्वयमेवेति।

—श्रीवचन भूषण (हस्त०)।

[2] प्रपत्तेर्देश-नियमः काल-नियमः प्रकार-नियमः अधिकारि-नियमः फल-नियमश्च नास्ति।

—श्रीवचन भूषण व्याख्या, हस्त०।

टीका में उपरोक्त विचार, भारद्वाज संहिता के उद्धरण से पुष्ट होता है—

ब्रह्म क्षत्र विशः शूद्राः स्त्रियश्चान्तर-जातयः।
सर्व एव पपद्येरन् सर्व धातारमच्युतम्।

—वही।

तरह, सहज ही प्रीति है।[1] पहले दृष्टान्त मे, सच्चा ज्ञान और भक्ति कम से कम हैं, दूसरे दृष्टान्त में, अज्ञान इतना अधिक नही है किन्तु भक्ति साधारण कोटि की है, तीसरे में, अज्ञान कम से कम है, और प्रीति उत्कृष्ट है और वास्तव में, प्रीति की उत्कटता में, भगवान् के स्वरूप का सच्चा ज्ञान भी डूब गया है। पहले में अपने अज्ञान का भान प्रबलतम है, दूसरे में, अपनी दैन्य एव अज्ञान का भाव, भगवान् के सच्चे स्वरूप के ज्ञान और उनके साथ अपने सम्बन्ध के ज्ञान से संतुलित है।

जिस भक्त ने अति प्रेम से, भगवान की शरण ले ली है उसका कभी उनसे संयोग और कभी वियोग रहता है। पहली अवस्था में, वह उदार गुण-पूर्ण भगवान् के साक्षात् सम्बन्ध से हर्षोन्माद से भर जाता है। किन्तु वियोग के क्षण में उस सयोग और हर्षोन्माद की स्मृति से उसे असीम दुःख होता है। ऊपर कहा गया है कि भगवान् की दया निरन्तर और सतत होती है, किन्तु यह होते हुए भी, हमारी स्वतन्त्रता की भावना हम में मिथ्या अहता लाकर, भगवान् की दया का अवरोध करती है। प्रपत्ति धारण करने से अवरोधक भाव हट जाते है और वह भगवान् को हम पर अपनी दया करने में सहायक होता है। ऐसे विचार मे, प्रपत्ति एक निषेधात्मक साधन ही समझना चाहिए। भावात्मक उपाय भगवान् है जो दया करते है। इसलिए प्रपत्ति को हमारी मुक्ति का कारण नही समझना चाहिए। वह केवल अवरोधक भावो को ही हटाती है और इसलिए उसे हमारी प्राप्त कराने मे कारण रूप नहीं समझना चाहिए-क्योंकि वह कारण, मात्र भगवान् ही है। भगवान् इस प्रकार प्राप्ति का साधन और हेतु दोनो है और भक्त के लिए उनकी प्राप्ति ही एक परम साधन है। यहाँ पर प्रतिपादित प्रपत्ति का मत स्पष्ट रूप से अन्य साधनो की आवश्यकता को अस्वीकार करता है। प्रपत्ति का सार भगवान् की शरणागति में निहित निष्क्रिय भाव तथा भगवान् को उसके प्रति अनुराग दिखाने का अवसर देने में है। जब भक्त इस चिंता का अन्त कर देता है कि वह किस प्रकार मुक्त होगा तब भगवान् उसे बचाने की इच्छा मे प्रवृत्त होते हैं।[2] भक्त के भगवान् से इस प्रकार के सम्बन्ध के मत में, इस दार्शनिक सिद्धान्त का सन्निवेश है कि जीवो का अस्तित्व भगवान् के लिए है, उन्हे अपने स्वय का कोई उद्देश्य पूर्ण करना नही है। अज्ञान के कारण ही जीव अपना

---

[1] अन्तिम प्रकार के मनुष्यो के दृष्टान्त के रूप मे 'श्रीवचन भूषण व्याख्या' की कुछ पंक्तियां उद्धृत की जा सकती हैं, भक्ति पार वश्येन प्रपन्ना भगवत्प्रेम-पौष्कल्येन पादौ स्तब्धौ मनः शिथिलं भवति चक्षु भ्रंमति पादौ हस्तौ च निश्चेष्टौ इति उक्त प्रकारेण शिथिल करणत्वेन साधनानुष्ठान-योग्यता-भावादनन्य गतिकास्सन्तस्तस्मिन् भार-समर्पण कृतम्। —हस्त०।

[2] अस्य इच्छा निवृत्ता चेत् तस्येच्छा अस्य कार्यंकरी भवति।

—श्रीवचन भूषण व्याख्या, हस्त०।

कोई स्वतंत्र हेतु मानता है। भगवान् में उत्कट प्रेम द्वारा इस स्थिति का अस्वीकार, उनके आपस के सम्बन्ध को दार्शनिक तथ्य से आध्यात्मिक तथ्य के रूप में अनुभव कराता है।

जीव, चित् और आनन्द रूप है और अणु है ये उसके तटस्थ लक्षण हैं। भगवान् और जीव के अन्तरंग सम्बन्ध को उनकी दासता से ही श्रेष्ठ रूप से वर्णित किया जा सकता है।

प्रपत्ति के साथ सवेगात्मक राग इस प्रकार का है कि भक्त, भगवान् के प्रति अपने मृदु प्रेम से उनमें भी वही राग उत्पन्न करता है जिससे प्रेम भाव एक ओर आनन्दानुभव माना जाय और दूसरी ओर प्रेमी और प्रेमिका का सम्बन्ध माना जाय। निम्न कोटि की पहली प्रपत्ति सर्वदा स्वाभाविक अनुराग से प्रेरित नहीं होती, किन्तु अपनी निस्सहायता एवं अकिंचनता के भान से होती है।[1] उपेय की दूसरी अवस्था में, भक्त भगवान् के प्रति गहन प्रेम में इतना प्रेरित होता है कि वह अपने बारे में कुछ भी नहीं सोचता, और प्रेम का उन्माद इतना गहरा हो जाता है कि वह उसे शरीर के विनाश की ओर ले जा सकता है। इसे पारिभाषिक शब्दों में राग-प्राप्त-प्रपत्ति कहा है।

भक्त और भगवान् के सम्बन्ध को प्रेमिका की प्रेमी से लगन तथा गोपी और कृष्ण की उपमा से समझाया गया है, और ऐसा माना गया है, कि यह गहरा भाव कामुक प्रेम जैसा है जो प्रेमी और प्रेमिका के विवाह की ओर ले जाता है। भक्ति, अज्ञान से असम्बद्ध एक विशिष्ट प्रकार की चेतना है जो गहन राग के रूप में प्रकट होता है। भक्त, विरह-पीड़ित स्त्री की सभी अवस्थाओं को अनुभव करता है। भक्त प्रेमी के समस्त भाव, भगवान् की प्रीति जगाने के लिए है। जिस प्रकार प्रेम से अभिभूत स्त्री का व्यवहार, प्रेमी में स्मित उत्पन्न करने या आँखों में प्रकाश लाने के हेतु होता है ठीक उसी प्रकार भक्त का राग, भगवान् को रिझाने के हेतु होता है।[2] इसे सिद्ध प्रेम माना गया है। ऐसे प्रेम से उन्मत्त भक्तों को धर्म का कोई बन्धन नहीं

---

[1] इसे उपाय अवस्था कहा है, जहाँ भक्त भगवान् को अपनी परम प्राप्ति के साधन के रूप में खोजता है।

[2] अज्ञान निवृत्तिपूर्वकभक्ति-रूपापन्न ज्ञान प्रसाधितम्। महद् विवाह-जनक-कामं समुद्रतुल्यतया वर्धयन् मेघ-सदृश-विग्रहोऽस्मत् कृष्ण इत्येव भूत-प्रवृत्तिहेतो भक्ते रुत्पादको वर्धकश्च। सा एव हि तस्य भक्ति-पारवश्य-निबंधना प्रवृत्तिरुपाय फलमित्युच्यते···प्राप्यत्वरया स्त्री व्रतया नेत्र भ्रमणेन एतस्य संभ्रमा सर्वं मद् विषयासां कृत्वा एवमवस्था लब्धा इति तन्मुख-विकासार्थं क्रियमाण कैंकर्यवदु-पेयान्तरभूता।

—श्रीवचन भूषण व्याख्या, हस्त।

होता। जिन भक्तो की प्रेमी की उन्मत्तावस्था इतनी है कि वे प्रपत्ति की वैधी या उपाय अवस्था के नियमो की राह नही देख सकते और उन्हें पालन भी नहीं कर सकते, वे ही मानों भगवान् से अपने द्रवित हृदय से भेटने को बाध्य हो जाते हैं। प्रपत्ति के साधारण नियम उन्हें बांधते नही है। उपरोक्त कथनानुसार प्रपत्ति की तीनों अवस्थाओं का पालन करने में स्वगत परिश्रम (पुरस्कार) आवश्यक यहीं तक है कि जीव शरणागत रहे जिससे भगवान् उनके दोष और त्रुटियों को स्वीकार करने के लिए राजी हो जाय और उन्हें अपनी भगवत् कृपा से हटा दें। जो प्रपत्ति की अवस्था में आगे बढे हुए है, अर्थात् जो परमार्त हैं, भगवान् उनसे प्रारब्ध कर्मों को भी हटा देते हैं और सत्वर मुक्ति प्रदान करते हैं।

जो प्रपत्ति धारण करता है वह मुक्ति पाने की चिन्ता भी नहीं करता, उसे किसी विशेष प्रकार की मुक्ति मिल जाय इस पर भी, वह रुचि नहीं दिखाता। मुक्ति चाहना और साथ ही साथ जीवन की किसी विशेष स्थिति को पसद करना अहकार है। किन्तु जिस पुरुष ने हृदय से प्रपत्ति-मार्ग अपनाया है उसे अहकार के अन्तिम सूक्ष्म सस्कारो को भी नष्ट करना चाहिए। अहकार, एक ओर अज्ञान बढ़ाता है, क्योंकि मिथ्या अज्ञान द्वारा ही मनुष्य अपना स्वतत्र अस्तित्व मानता है, दूसरी ओर अहकार क्रोध का सूचक है। ऊपर कहा जा चुका है कि भगवान् कपट के अतिरिक्त सभी पापो को माफ कर देते हैं। इसलिए प्रपत्ति के लिए मूलतः अहकार का नाश अवश्य होना चाहिए। अहकार के नाश द्वारा ही प्रपत्ति के योग्य पूर्ण शरणागति सम्भवित है।[1]

प्रपत्ति द्वारा परम श्रेय की चार पूर्वावस्थाएँ निम्न हैं: (१) ज्ञान दशा, अर्थात् वह अवस्था जिसमे गुरु के उपदेश से भक्त भगवान् के सम्बन्ध में आत्म-ज्ञान प्राप्त करता है (२) वरण दशा, इस अवस्था मे भक्त, निस्सहाय शरणागति भाव में, भगवान् को ही एक ही मात्र रक्षक के रूप में अपनाता है। (३) प्राप्ति-दशा, भगवान् की प्राप्ति की दशा, (४) प्राप्त्यानुभव दशा, अर्थात् भगवान् को पाकर वह परम श्रेय को पहुँचता है।[2]

प्रपत्ति का सिद्धान्त, अवश्य ही अत्यत पुरातन है। यह अहिर्बुध्न्य सहिता, लक्ष्मी तंत्र, भारद्वाज संहिता और पचरात्र ग्रथ मे पाया जाता है। श्री वैष्णव के लेखक इसे तैत्तरीयोपनिषद्, कठोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद्, महाभारत और रामायण

---

[1] एवं भूतस्य शरीर-स्थिति-हेतुः प्रारब्ध कर्मेति नवक्तुं शक्यते सर्व-पापेभ्यः मोक्षयिष्यामीत्य नेन विरोधात्।

—वही, हस्त०।

[2] श्रीवचन भूषण व्याख्या, हस्त०।

जैसे और पुराने ग्रन्थों में खोजते हैं। अहिर्बुध्न्य संहिता में प्रतिपादित प्रपत्ति का उल्लेख हो चुका है। भारद्वाज संहिता में, प्रपत्ति को, भगवान् में आत्मसमर्पण कहा गया है, और उसका वर्णन बहुत कुछ अहिर्बुध्न्य संहिता जैसा ही है। जो भक्त प्रपत्ति का मार्ग धारण करता है वह वैष्णवों के साधारण धर्म और वर्णाश्रम धर्म से मुक्त नहीं होता। भारद्वाज सहिता में इस मार्ग के प्रतिकूल एव अनुकूल कर्मों का विस्तार सहित वर्णन किया गया है। रामानुज, अपने शरणागति गद्य में, उस प्रपत्ति मार्ग का समर्थन करते हैं जिसमें भक्त केवल नारायण की ही शरण नहीं लेता किन्तु लक्ष्मी की भी लेता है। किन्तु शरणागति-गद्य या गीता की टीका मे भी यह उल्लेख नहीं है कि जिसने प्रपत्ति को अपनाया वह वर्णाश्रम तथा अन्य धर्मों से मुक्त है और न उनके समझाए अनुसार लक्ष्मी का कार्य प्रपत्ति के फल को देता है। भगवत् गीता के श्लोक द्वारा (सर्व धर्मान् परित्यज्य (१८-६६) समझाते हुए वे कहते हैं कि भक्त को अपने सभी साधारण धर्म बिना फलाशा के पालन करना चाहिए।[1] प्रारब्ध कर्मों के नाश के बारे में भी रामानुज और वेंकटनाथ मानते है कि यद्यपि बहुत से भगवान् की कृपा से नष्ट हो जाते है तो भी कुछ अंश रह ही जाता है।[2] वात्स्यवरद, प्रपन्न

[1] वेंकटनाथ अपनी तात्पर्य दीपिका मे गीता पर रामानुज भाष्य (श्लोक १८-६६) पर कहते है : ऐतच्छ्लोकापात-प्रतीत्या कूट युक्तिभिश्च यथा वर्णाश्रम-धर्म स्वरूप-त्यागादिपक्षो नोदेति तथा उपपादितम्।

[2] साध्य भक्तिस्तु सा हन्त्री प्रारब्धस्यापि भूयसि। (शरणागति पद्य पर, वेंकटनाथ की रहस्य रक्षा नामक टीका, पृ० ५०, वाणी विलास प्रेस, १९१०)।

न्यास विंशति और न्यास तिलक में, जिसकी वेंकटनाथ के पुत्र वरदनाथ की न्यासतिलक व्याख्या में इस पर टीका की है प्रपत्ति का वर्णन लोकाचार्य के वर्णन जैसा ही है। प्रपत्ति दक्षिण वैष्णव-पंथ का प्राचीन सिद्धान्त है और उसके मूल भूत गुण बहुत कुछ आत्यन्तिक है। न्यास तिलक व्याख्या में इस पर बड़ा बल दिया गया है कि भगवान् की प्राप्ति के लिए, प्रपत्ति, भक्ति से भिन्न मार्ग है और उससे श्रेष्ठ है। श्री वचन भूषण में भक्ति को प्रपत्ति के मार्ग का मध्यस्थ मानने की प्रवृत्ति है। न्यास तिलक व्याख्या में यह कहा है कि प्रपत्ति और भक्ति में मुख्य भेद पहला यह है कि पहला निरन्तर ध्यान रूप है, जबकि दूसरा यह एक बारगी करना पड़ता है, दूसरा भेद यह है कि प्रारब्ध कर्म पहले से नष्ट नहीं होते जबकि दूसरे में भगवान् की कृपा से वे नष्ट किए जा सकते है, तीसरा यह कि पहले में अनेक सहायक पूजा पद्धति की माग रहती है—निरन्तर कर्म और निरन्तर प्रयत्न—जबकि दूसरे में, अभाप श्रद्धा है : चौथा भक्ति चिरकाल में फल देती है, जबकि प्रपत्ति उन्हीं के लिए है जो अचिरात् फल चाहते हैं, पांचवां, भक्ति के भिन्न उद्देश्य

पारिजात में इसी विचार का अनुसरण करते हैं। वकटनाथ भी, न्यास विशंति में, और न्याय तिलक में, इसी मत की पुनरावृत्ति करते हैं, और अण्णाचार्य, वेदान्ती रामानुज के शिष्य इस मत का, अपने प्रपत्ति प्रयोग में अनुसरण करते हैं। वेंकटनाथ के पुत्र वरदनाथ भी न्यास तिलक व्याख्या और न्यासकारिका में इस मत को दोहराते हैं। तेंगलाई पंथ के नेता, लोकाचार्य और सौम्य जामातृ के मत इनसे इस बात में भिन्न हैं कि उपरोक्त प्रपत्तिसिद्धान्त जबकि निम्न कोटि के लोगों के लिए ठीक हो सकता है, उच्च कोटि के भक्त जो भगवान् के प्रेम में बिल्कुल उन्मत हो गए हैं, वे इसी मानसिक अवस्था के कारण कोई साधारण धर्म का पालन नही कर सकते और इसलिए उन्हें इनसे सर्वथा मुक्त कर दिया गया है। उनके प्रारब्ध कर्म भी, भगवान् की कृपा से सर्वथा नष्ट हो सकते हैं। वरगलै और तेगलै पथ में अधिकतर भेद, तेंगले मत द्वारा उच्च प्रकार की प्रपत्ति पर बल देना ही है।

कस्तूरी रंगाचार्य

कस्तूरी रगाचार्य, जो श्री रग सूरि भी कहलाते थे, सम्भवतः सौम्य जामातृ मुनि के शिष्य थे, और सम्भवतः १५वी शताब्दी के अन्तिम भाग में या सोलहवीं के प्रारम्भ मे रहे होंगे। रामानुज के मत मे अधिक परिवर्तन नही हुआ दीखता है जैसाकि शकर के मत में पाया जाता है। रामानुज के अनुयायियो ने आगामी शताब्दो के अन्तर्गत, रामानुज के सिद्धान्तो का सरलार्थ करने मे और उनके सिद्धान्त की पुष्टि में नए तर्क देने मे या उनके प्रतिवादियो के तर्कों के खडन में और दूसरी प्रणालियों के सिद्धान्तो मे दोष-दर्शन करने में, लगभग सारा प्रयत्न लगा दिया। वेकटनाथ द्वारा भक्ति का स्वरूप और मुक्ति का अन्तिम स्वरूप, और उनसे सम्बन्धित अन्य विषयों को

हो सकते हैं और तदनुसार भिन्न फल भी दे सकते हैं, जबकि प्रपत्ति, निस्सहाय शरणागति रूप होने से सभी फल तुरन्त ही लाती है। उत्कट श्रद्धा प्रपत्ति की नीव है। अनेक अवरोधो मे से, यह श्रद्धा और भगवान् के प्रति राग, भक्त को अपनी सिद्धि प्राप्त कराता है। इन कारणो से भक्ति मार्ग, प्रपत्ति से निम्न कोटि का है। गुरु के प्रति प्रपत्ति भगवान् में प्रपत्ति का एक भाग माना गया है। श्री वचन भूषण और न्यास तिलक में प्रपत्ति के विचार मे भेद यह है कि न्यास तिलक में, जिन्होंने प्रपत्ति मार्ग अपनाया है उनके लिए भी शास्त्रोक्त विधि का त्याग और निषिद्ध कर्मों का वर्णन अनिवार्य माना है, क्योंकि शास्त्र भगवान् के आदेश हैं। श्री वचन भूषण के अनुसार जिस मनुष्य ने प्रपत्ति का मार्ग अपनाया है, वह प्रपत्ति द्वारा उत्पन्न मानसिक स्थिति के कारण, शास्त्रोक्त धर्म पालन करने के लिए असमर्थ हो जाता है। वह इसलिए उनसे अतीत हो जाता है।

समझाने के प्रयत्न से अवश्य ही, साम्प्रदायिक मत-भेद खड़ा हो गया। कुछ बाह्य कर्म-काण्ड में भी, इसी समय से, भेद देखा जा सकता है। एक पथ[1] (बड़ कलै या उत्तर कलार्य) के अग्रणी वेंकटनाथ थे और दूसरा पथ (तैंगलै या दक्षिण कलार्य लोकाचार्य और सौम्य जामातृ मुनि के नेतृत्व में था।

कस्तूरी रंगाचार्य ने 'कार्याधिकरणवाद' और 'कार्याधिकरण तत्त्व' नामक दो ग्रन्थ रचे, जिनमें उन्होंने इन दो पंथों के महत्वपूर्ण भेदों का विवरण किया है और तेंगले या दक्षिणकलार्य पथ का समर्थन किया है। ब्रह्म सूत्र (४–३, ६–१५) के कार्याधिकरणवाद नामक विषय पर रामानुज के स्पष्टीकरण के अवसर पर एक विवाद खड़ा हो गया था। इस टीका में, ज्ञान या उपासना द्वारा, निरपेक्ष अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है इस विषय पर उपनिषद् के पाठो से कुछ कठिनाइयाँ खड़ी हो गईं। बादरी कहते हैं कि सर्जित किए जीवो मे महान् हिरण्यगर्भ की उपासना से नित्य अमरत्व प्राप्त होता है : जैमिनि कहते हैं कि केवल परम ब्रह्म की उपासना से ही अमरत्व प्राप्त हो सकता है। बादरायण, तो उनके मतो का तिरस्कार करते है और इसमे मानते हैं कि जो लोग अपनी आत्मा को प्रकृति से स्वभावतः पृथक् मानते हैं और ब्रह्म का अंश मानते है, वे ही नित्य अमरत्व पाते हैं।

जो भौतिक गुणो से अपनी मूल भिन्नता अनुभव नही कर सकते, जिससे कि वे सयुक्त हुए दीखते हैं वे परम अमरता को प्राप्त नही कर सकते और उन्हें जन्म-मरण के चक्र मे जाना पडता है। जो ब्रह्म से अपना सम्बन्ध योग्य प्रकार से समझकर उपासना करते हैं वे ही परम अमरता प्राप्त करते हैं। रंगाचार्य ने उपासना का स्वरूप गीता मे कहे अनुसार ब्रह्म की श्रद्धापूर्वक उपासना के रूप मे वर्णित किया है। (श्रद्धापूर्वकम् ब्रह्मोपासनम्)। श्रद्धा साधारण अर्थ में विश्वास कहा जाता है। रगाचार्य और तैंगले पथ के विचारकों द्वारा श्रद्धा विशेष अर्थ में प्रयुक्त की गई है। इस प्रकार, पहली अवस्था भगवान् के उदार और श्रेष्ठ गुणो का पूर्ण अनुभव है, दूसरी अवस्था, इस अनुभव से राग की उत्पत्ति है, तीसरी अवस्था, भगवान् को अंतिम उद्देश्य के रूप मे मानना और उन्हे हमारे स्वरूप की पूर्णता समझाना है, चतुर्थ अवस्था उन्हे हमारे जीवन का एक मात्र प्रिय जन मानना है, पाचवी अवस्था, उनसे तीव्र प्रीति के कारण उनके वियोग को असह्य अनुभव करना है, छठी अवस्था भगवान् हमारी परिपूर्णता का एक मात्र साधन है ऐसा अखड विश्वास है, और सातवी और अन्तिम

---

[1] सर्वासु विप्रतिपत्तिषु पूर्वा कक्ष्या वेदान्ताचार्य-तदनु-
सन्धिनाम् उत्तराकक्ष्या-शेज्ञानाम् उत्तरा त
लोकाचार्य-तदनुसन्धिना दक्षिण कलार्य सज्ञानामिति विवेको बोध्यः।
—कार्यकारणाधिकरण वाद, ८.२।

अवस्था, उन्हे दृढ़ता से ग्रहण करने के लिए उद्यत होना है। श्रद्धा सातवी अवस्था है जो पिछली सभी अवस्थाओं के साथ उन्हें एकाकार करने वाली अवस्था है। इस श्रद्धा के साथ भगवान् की उपासना को भक्ति भी कहा जाता है। भगवान की उपासना उनके प्रति अथाह प्रीति है (प्रीतिरूपोपासान्तस्व-लक्षणम्)। भौतिक तत्वों से हमारे स्वरूप की भिन्नता का अनुभव ही केवल पर्याप्त नहीं है। जो पचाग्निविद्या-पद्धति का अनुसरण करते है उन्हे विवेक ज्ञान ही मिलता है, वे भगवान् को अपनी परिपूर्णता का अन्तिम ध्येय नही समझते।

उत्तर कलार्य और दक्षिण कलार्य के बीच विवाद का पहला विषय कैवल्य के स्वरूप के बारे मे है, जिसके अनुसार आत्मानुभव ही पुरुषार्थ है (आत्मानुभव-लक्षण-कैवल्याख्या-पुरुषार्थं)। उत्तरकालार्य के अग्रणी, वेंकटनाथ, यह सोचते हैं कि जो लोग ऐसी मुक्ति पाते है उन्हे पुन वापस आना पड़ता है, अर्थात्, ऐसी मुक्ति नष्ट होती है। दक्षिण कलार्य, पथ तो इसे नित्य मुक्ति मानता है। इस प्रकार, वेंकटनाथ, अपने 'न्याय सिद्धांजन' मे, कहते है कि भौतिक तत्वों से भिन्न ऐसा आत्मानुभव पर्याप्त नहीं है, किन्तु यह, आत्मा भगवान् का अश है और उनके सर्वथा अधीन है, और यह मत श्रीभाष्य में माना गया है।[1] वे अपना स्वरूप आनन्द रूप अनुभव करना और भगवान् के आनन्दमय स्वरूप को अनुभव करने में भेद करते है। पहला दूसरे के बिना हो सकता है। यह मानना पडता है कि कैवल्य मे अचित् ससर्ग रहता है, क्योंकि यहाँ कर्म का सर्वथा नाश नही होता, क्योंकि अपने सच्चे स्वरूप को पहचानना, अपने को भगवान् का अश समझना है, और जहाँ तक इसकी प्राप्ति नही होती वहाँ तक हम माया से प्रभावित है। ऐसे पुरुषो को भगवान् के दर्शन मे माया अवरोध करती है। जिन्होने कैवल्य प्राप्त किया है उनकी गति क्या होती है–इस विषय मे वेंकटनाथ तो कुछ भी निश्चित रूप से नही कह सकते। वे केवल यह प्रतिपादन करते

---

[1] परम पुरुष-विभूतिभूतस्य प्राप्तुरात्मन स्वरूप-याथात्म्य वेदनमपवर्ग-साधनाभूत-परम पुरुष वेदनोपयोगितया आवश्यकम्। न स्वत एव उपायस्त्वे नेत्युक्तम्।

–न्याय सिद्धांजन, पृ० ८२।

वेंकट अपने मत की पुष्टि के लिए वरद विष्णु मिश्र का उल्लेख करते हैं 'निःशेष कर्म क्षयाभावात् कैवल्य-प्राप्तौ न मुक्तिः।'

वे 'सगति माला' का उल्लेख करते है जहाँ विष्णुचित्त कहते हैं कि मनुष्य ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा रखते हुए भी ऐसी गलतियाँ कर सकता है कि सच्ची ब्रह्मा-वस्था प्राप्त करने के बजाय वह कैवल्य की निम्नावस्था प्राप्त कर ले जैसेकि कोई स्वर्ग-प्राप्ति के लिए यज्ञ करता हुआ ऐसी गलती कर दे कि वह स्वर्ग प्राप्त करने के बजाय ब्रह्म राक्षस बन जाय। –वही, पृ० ८४।

हैं कि वे नित्य बाह्य स्थिति प्राप्त नहीं कर सकते। वे इस बारे में भी अनिश्चित हैं कि कैवल्य-प्राप्त पुरुषों का देह से ससर्ग रहता है या नही। उन्हें इसका भी ज्ञान है कि कैवल्य के बारे में उनका स्पष्टीकरण सभी शास्त्र पाठों से युक्ति संगत नहीं है, किन्तु वे सोचते हैं कि जबकि कुछ शास्त्र पाठ उनके मत का समर्थन करते हैं तो अन्य पाठो को भी उसी दृष्टि से देखना चाहिए।

कस्तूरी रगाचार्य तो प्राचीन द्रविड ग्रन्थो के प्रमाणानुसार और गीता तथा अन्य ग्रन्थो के आधार पर यह प्रतिपादन करते हैं कि आत्म-ज्ञान से मुक्ति पाने वाले, निरपेक्ष अमरता को प्राप्त होते हैं। आत्म-ज्ञान द्वारा मुक्ति तथा भगवान् से सम्बन्ध रखते हुए आत्म-ज्ञान के बीच केवल भेद, अनुभव की महानता तथा प्रचुरता में ही है, पिछला पहले से इसी दृष्टि से उच्च है।[1] उत्तर कलार्य और दक्षिण कलार्य में अन्य भेद उपरोक्त कहे गए विषयो से निकट सम्बन्ध रखते हैं। इनका विवरण कार्याधिकरणवाद के दूसरे प्रकरण मे, निम्न प्रकार से दिया गया है। उत्तरकालार्यवादी सोचते है कि जो आत्म ज्ञान की मुक्ति कैवल्य के रूप मे प्राप्त करते हैं वे अन्तिम मुक्ति पाने वाले पुरुषो से, अन्य प्रणाली मे होकर उच्च लोक को प्राप्त करते हैं। दक्षिण कलार्यवादी इसे अस्वीकार करते हैं। दूसरा, पहले मतवादी यह मानते हैं कि प्रकृति के तत्वो से नितान्त पृथक् हो जाना मुक्ति के समान है, पिछले मतवादी इसे अस्वीकार करते हैं, तीसरा, उत्तरकलार्य, मानते हैं कि जो कैवल्य प्राप्त कर लेते हैं वे सूक्ष्म अचित् अशुद्धताओ से सम्बन्धित रहते है, उन्हे दूरस्थ अर्थ में ही मुक्ति प्राप्त है ऐसा माना जा सकता है। दक्षिण मतवादी इसे चाहते हैं। चौथा, पहले मत के अनुसार, जो कैवल्य प्राप्त करते हैं उनका स्थान प्रकृति के अचित् जगत् के क्षेत्र मे ही रहता है इसलिए उनकी अवस्था परिवर्तनशील रहती है, किन्तु पिछले मतवादी इसे अस्वीकार करते हैं। पाचवा, पचाग्नि विद्या द्वारा जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वे कैवल्य प्राप्त पुरुषो से भिन्न होते हैं ऐसा उत्तरकलार्य मानते हैं, किन्तु दक्षिण कलार्य कहते हैं ऐसा और नही भी हो सकता है। छठा, उत्तरकलार्य यह मानते हैं कि जब कोई पचाग्नि-विद्या द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न करते हैं वे भौतिक जगत् (प्रकृति) के क्षेत्र मे ही रहते हैं जब वे केवल आत्म-ज्ञान ही प्राप्त करते हैं, किन्तु जब वे ब्रह्म के साथ अपना सम्बन्ध अपना स्वरूप जान लेते हैं, तब वे प्रकृति से ऊपर उठ जाते हैं, दक्षिण कलार्य ऐसा नही मानते। सातवां, उत्तरकलार्य का यह कहना है कि पचाग्नि-विद्या द्वारा जो ज्ञान प्राप्त करते हैं और जो भगवान् से अपना क्या सम्बन्ध है इसे जानते हैं उनमे समान गुण-धर्म होते हैं, दक्षिण कलार्य इसे नही मानते हैं। आठवां, पहले यह मानते हैं कि

---

[1] कार्याधिकरणवाद, १:७६। कस्तूरी रगाचार्य द्रविड और संस्कृत ग्रन्थो के इस मत के समर्थन में, बहुत से उद्धरण देते हैं।

प्रकृति के प्रतीत होने पर, स्वानुभव में कोई भेद नहीं हो सकता, किन्तु दक्षिण कलार्य इसे भी नहीं मानते।[1]

अपने कार्याधिकरण तत्व में, रंगाचार्य उन्हीं तर्कों को और उन्हीं विषयों पर विवेचन करते हैं जो कार्याधिकरणवाद में हैं।

शैल श्री निवास

शैल श्रीनिवास, श्रीनिवास ताताचार्य के पुत्र कौडिन्य श्रीनिवास दीक्षित के शिष्य थे। वे अपने ज्येष्ठ भ्राता अन्वयार्य दीक्षित के ग्रन्थों से बहुत प्रभावित थे, उनके कुछ ग्रन्थ, अपने बड़े भाई द्वारा लिखे ग्रन्थो के विस्तार ही हैं। उन्होने जो ग्रन्थ लिखे उनमे से 'विरोध भजनी' एक है। शैल श्रीनिवास ने कम से कम छः ग्रन्थ रचे, 'विरोध निरोध,' 'भेद दर्पण,' 'अद्वैत वन कुठार,' 'सार दर्पण,' 'मुक्ति-दर्पण,' 'ज्ञान रत्न दर्पण,' 'गुण दर्पण' और 'भेद मणि'।

'विरोध निरोध' मे, जो सम्भवतः उनका अन्तिम ग्रन्थ है, वे मुख्यतः शंकर-अनुयायियो द्वारा रामानुज के सिद्धान्तो पर की हुई आलोचनाओ को, तथा अन्य वेदान्त के लेखको की आलोचनाओ को, जैसेकि रामानुज के सिद्धान्त शास्त्र प्रमाणित नही है—यह बताकर, समझाने की कोशिश करते हैं कि शास्त्र रामानुज के पक्ष मे है, अन्य वेदान्त मतो के पक्ष में नही है।

'विरोध निरोध' के पहले अध्याय मे, शैल श्री निवास, सबसे पहले, इस मत को लेते हैं कि ब्रह्म जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण है—जो उनके अनुसार तभी सम्भव है जबकि ब्रह्म चित्-अचित्-विशिष्ट हो (ब्रह्मणि चिदचिद् विशिष्टरूपतामन्तरेण न घटते)। ब्रह्म स्वरूप से अपरिणामी है किन्तु चित् और अचित् अंशो में परिणामी है। ब्रह्म कारण रूप से, चित् और अचित् की सूक्ष्म अवस्था से सम्बन्धित है, जब वह परिणत होता है, जीव, कर्म-परिपाक के कारण ज्ञान की भिन्न अवस्था मे विकास और विस्तार करते है और अचित् गोचर जगत् के रूप में स्थूल अवस्था मे परिणत होता है, इन दोनो मे अतर्यामी रूप से भगवान् का अंश, इतना ही परिणाम हो पाता है जितना इन दो परिणामी तत्वो के संयोग द्वारा सम्भव है।[2]

---

[1] कार्याधिकरणवाद, २-७।

[2] अचिदंशस्य कारणावस्थाया शब्दादि-विहीनस्य भोग्यत्वाय शब्दादिमत्वया स्वरूपा-न्यथाभावरूप-विकारो भवति उभय प्रकार-विशिष्टे नियन्तरो तदवस्था तदुभय-विशिष्टता-रूप विकारो भवति।

—विरोध निरोध, हस्त०।

शास्त्र जब ब्रह्म को अपरिणामी कहते हैं तब उनके कहने का तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार जीव और जड कर्म द्वारा परिणाम पाते हैं उस प्रकार वह परिणाम नहीं पाता। किन्तु इससे ब्रह्म उपादान कारण है यह असिद्ध नही होता।[1] ब्रह्म के दो अंश हैं एक द्रव्यगत दूसरा विशेषणात्मक। द्रव्यात्मक भाग, उसके सूक्ष्म अचिदंश द्वारा, स्थूल अचित् अंश, उससे अपृथक् होने के कारण, उसमें समाविष्ट रहता हुआ माना गया है। ब्रह्म का चिदंश भी है जो विचार अनुभव द्वारा बृहत् होता है और जीव रूप व्यवहार करता है। इस प्रकार ब्रह्म चित् अचित् अंश द्वारा विकार पाता है और इस दृष्टि से भगवान् अपने दो अंश द्वारा तथा अन्तर्यामी रूप से स्वतंत्र सम्बन्धित होकर, विकासात्मक है। वेंकटनाथ से विपरीत, शैल श्रीनिवास मानते हैं कि यह कारण विकार, सांख्य-परिणाम जैसा है,[2] विकार का अर्थ यहाँ अवस्था-परिवर्तन से है। वह इस प्रकार साक्षात् चित् और विचारात्मक (आध्यात्मिक) अंश मे परिणत होता है और नियता रूप से परोक्ष रूप से परिणत होता है, यद्यपि वह स्वयं नित्य रहता है। इस पर कि यदि चित् और अचित् विकारी होते हुए माने गए है तो ब्रह्म को उनसे विशेषित होकर कारण मानने का कोई अर्थ नही है। इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म को शास्त्र-प्रमाण के आधार पर कारण माना गया है। जहाँ तक ब्रह्म नियता और अपने मे अपरिणामी रहता है, उसे निमित्त कारण माना है।[3]

दूसरे अध्याय मे, शैल श्रीनिवास रामानुज के जीव-सिद्धान्त के विरुद्ध आलोचनाओ का उत्तर देते हैं और कहते है कि जीव का अज्ञान और ज्ञान की वृद्धि से संकुचन तथा विकास यह अनुमित नही करता कि वह अनित्य है, क्योंकि अनित्यता या विनाश उसी मे कहा जा सकता है जिसमें अवयवों का घटना-बढ़ना होता है (अवयवोपचयापचयोरेव अनित्यत्व-व्याप्यतया)। ज्ञान अखंड है इसलिए उसमे वास्तव में विकास या संकुचन नही हो सकता। संकुचन या व्यापन, वास्तव में, कर्म के प्रभाव के कारण, ज्ञान का विषय के साथ सम्बन्ध का अभाव है या दीप के प्रकाश की तरह

---

[1] चिदचिद्गतकर्माद्यधीनविकारत्व निर्विकारत्व-श्रुतिर्निषेधति इत्येतादृश जगदुपादानत्वं नसा श्रुतिर्बाधते। —वही।

[2] विशिष्ट ब्रह्मकारणम् इन्युक्त तेन कार्यमपि विशिष्टमेव तत्र च ब्रह्मण उपादानत्व विशेषणाश विशेष्याश प्रति तत्र चाचिदंश प्रति यदुपादानत्वं तत् सूक्ष्मावस्था चिदंश-द्वारक तत्र तत्र द्वारभूता चिदंश-गत-स्वरूपान्यथाभाव रूप एव विकारः स च अपृथक् सिद्ध वस्तु गतत्वात् ब्रह्मज्ञानोऽपि ··एव च सांख्याभिमतो पादान तायाः सिद्धान्तेऽप्यनपायात् न कोऽपि विरोधः।

—विरोध निरोध।

[3] तेन तदेव अद्वारकं निमित्त सद्वारकम् उपादानम्। —वही।

विषय के साथ सम्बन्ध का विस्तार है; कर्म इसलिए उपाधि माना गया है जो ज्ञान की विषय के प्रति गति को मर्यादित करता है, यही कारण है कि उसे आलंकारिक भाषा में संकुचन कहा है। ज्ञान के इस स्वरूप के कारण कि वह, कर्म द्वारा अवरुद्ध न होते हुए भी सारे शरीर में व्याप्त है और सभी दुःख और सुख को ग्रहण कर सकता है, यद्यपि ज्ञान आत्मा में है जो अणु है। इस प्रकार, ज्ञान विभु है।[1] ज्ञान भी स्वरूप से नित्य है यद्यपि वृत्ति दृष्टि से परिवर्तनशील है।

तीसरे प्रकरण मे, श्रीनिवास इस प्रश्न पर विचार करते हुए कि जीव उत्पन्न होते हैं या नित्य हैं, वे इस निष्कर्ष पर आते हैं कि वे स्वरूप से अजन्मा हैं। किन्तु अपने ज्ञान की विशिष्ट दशा की दृष्टि वे से उत्पन्न भी कहे जा सकते हैं।[2] नित्य ज्ञान की उत्पत्ति, ज्ञान की व्याप्ति या सकुचन की दृष्टि से ही सम्भव है जो शरीर तथा अन्य सहकारियो की क्रिया से है। इसी अर्थ में ज्ञान, यद्यपि नित्य होते हुए भी, अपनी अनेक अभिव्यक्तियो द्वारा उत्पन्न होता है।

चौथे प्रकरण मे, श्रीनिवास उसी प्रश्न की विवेचना करते हैं जिस पर उपनिषद् भी आग्रह करते हैं कि एक को जानने से सब कुछ जाना जाता है। वे मध्य और शकर के मतों की आलोचना करते हैं और यह मानते हैं कि एक के ज्ञान का अर्थ ब्रह्म के ज्ञान से है, जो चित् और अचित् से सम्बन्धित होने से, इन दोनो के ज्ञान का भी समावेश करता है। इस विषय पर उनकी विवेचना आखिर तक शास्त्र पाठों के अर्थ के आधार पर की गई है।

पांचवे प्रकरण मे, श्रीनिवास जीव किस प्रकार कर्ता कहा जा सकता है इसे समझाते है। कर्तृत्व वह प्रयास है जो किसी कर्म को उत्पन्न करता है (कार्यानुकूल-कृतिमत्त्वम्)। रामानुज-मत में प्रयत्न एक विशेष बौद्धिक अवस्था है और इसलिए जीव मे हो सकती है और इसलिए प्रयत्न जो किसी कर्म को उत्पन्न करता है वह भी जीवगत है जो स्वरूप से नित्य होते हुए भी, अवस्था-दृष्टि से परिणामी है।[3] जीव का कर्तृत्व तो अवश्य, भगवान् द्वारा नियन्त्रित रहता है, यद्यपि कर्म का भोग जीव ही

---

[1] वही।

[2] तत्र निषेधः वियदादिवत् जीवस्वरूपोत्पत्ति प्रतिषेधन्ति उत्पत्ति-विषयास्तु तु स्वासाधारण-धर्मभूत-ज्ञान-विशिष्ट-वेषेण उत्पत्ति वदन्ति।

—विरोध निरोध, हस्त०।

[3] प्रयत्नादेर्बुद्धि-विशेषरूपतया कार्यानुकूलकृतिमत्त्वस्यापि कर्तृत्वस्य ज्ञानविशेष-रूपतया तस्य स्वाभाविकतया तदात्मना जीवस्य ज्ञानस्य नित्यत्वेऽपि तत्परिणाम-विशेषस्य अनित्यत्वात्। —वही।

पाता है, क्योंकि भगवान् का निर्देश, जो जीवों के प्रयत्न को निश्चित करता है वह उनके कर्मानुसार होता है। वह वस्तुतः नियतत्ववाद और प्रसगवाद का मिश्रण है।

सातवें प्रकरण में श्रीनिवास यह विवाद करते है कि ज्ञान, यद्यपि सर्वव्यापी है तो भी वह किसी व्यक्ति विशेष में उसके देह से सम्बन्धित कर्मानुसार ही प्रकट होता है और इसलिए उसे सभी प्रकार के दुःख और सुख उठाना पड़े ऐसा सम्भव नही है और उसे अपनी ही अनुभव-परम्परा से मर्यादित होना भी आवश्यक नही है। आठवे तथा नवें अध्याय में वे यह प्रतिपादित करने का प्रयास करते हैं कि मुक्तावस्था में जीव अपने सभी कर्मों एव पाप और पुण्य से मुक्त हो जाता है, किन्तु इस अवस्था मे भगवान् उन्हे अनेक प्रकार के सुखो को भोगने के लिए विलक्षण शरीर देने की कृपा भी कर सकते हैं। शेष उन्नीस अध्यायों में शैल श्रीनिवास रामानुज-प्रणाली के महत्वपूर्ण धार्मिक सिद्धान्तों का परिचय कराते हैं और शास्त्रो के आधार पर उनका विवेचन करते है, जिन्हे दार्शनिक दृष्टि से महत्व का न होने के कारण, छोड़ा जा सकता है।

'भेद दर्पण' में भी शैल श्रीनिवास उन महत्वपूर्ण सिद्धान्तो का उल्लेख करते हैं जिनमे शकर और रामानुज एक मत नही है और वे शास्त्रों की आलोचना द्वारा यह बताने का प्रयास करते हैं कि रामानुज द्वारा किया गया श्रुति का बोधार्थ ही केवल सच्चा है।[1] यह ग्रन्थ, दार्शनिक दृष्टि से नितान्त निरुपयोगी है। उपरोक्त कहे अन्य ग्रन्थों मे भी, शैल श्रीनिवास रामानुज-सिद्धान्त को श्रुति आलोचना की शैली से प्रतिपादन करने में रुचि बताते है और इसलिए इनका वर्णन दर्शन के विद्यार्थियो के लिए बहुत ही कम मूल्य रखता है।

'सिद्धान्त चिन्तामणि' में शैल श्रीनिवास ब्रह्म-कारणत्व पर विवेचना करते है। ब्रह्म, जगत् का निमित्त एव उपादान कारण, दोनो ही है। ऐसा ब्रह्म हमारे ध्यान का विषय है। ध्यान के विषय में ज्ञान और सकल्प होना चाहिए। एक निर्गुण पदार्थ ध्यान का विषय नही बन सकता। ब्रह्म का ठीक प्रकार से ध्यान किया जा सके इसलिए, उसके कारणत्व का उचित निश्चय होना आवश्यक है। ध्यान करने के लिए झूठे गुणो का निवेश करना अर्थ नहीं रखता। यदि जगत् भ्रम रूप है तो ब्रह्म का कारणत्व भी भ्रम है, और इससे हमें उसके सच्चे स्वरूप का ज्ञान नही होगा। यदि भगवान् जगत् का सच्चा कारण है तो जगत् भी सत्य होगा। ऐसा कभी-कभी कहा जाता है कि एक ही वस्तु उपादान एव निमित्त कारण दोनो नही हो सकती (समवाय-समवायि भिन्न कारणं निमित्तकारण मिति) घड़े का उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्हार, चाक इत्यादि हैं। इस पर उत्तर यह है कि ऐसा

---

[1] भेदाभेद-श्रुति-व्रातजात-सन्देह-सन्ततः
भेद-दर्पणमादाय निश्चिन्वन्तु विपश्चितः। —भेद दर्पण, हस्त०।

आक्षेप निरर्थक है, क्योंकि जो निमित्त कारण है वह उपादान कारण नहीं हो सकता यह निश्चित करना कठिन है। क्योंकि कुम्हार का चाक, यद्यपि अपने से निमित्त कारण है तो भी वह अपने आकार और रूप इत्यादि का उपादान कारण है। इसलिए ये दोनों एक ही पदार्थ में साथ नहीं रह सकते, ऐसा विचारने का कोई आधार नहीं है। आगे यह विवाद किया जा सकता है कि एक ही वस्तु, दूसरी को उत्पन्न करने में उपादान और निमित्त कारण नहीं हो सकती। उत्तर यह दिया जा सकता है कि दंड की आन्तरिक रचना, अपने आकार का उपादान कारण है और साथ ही साथ दूसरी वस्तुओं के सम्बन्ध में विनाश का निमित्त कारण है। अथवा ऐसा विवाद किया जाय कि काल वस्तुओं की उत्पत्ति एवं विनाश दोनों का कारण है (काल-घट-संयोगादिक प्रति कालस्य निमित्तत्वात् उपादानत्वाच्च)। इस पर व्यक्त उत्तर यह होगा कि एक ही वस्तु का उपादान या निमित्त कारण रूपी व्यवहार विशिष्ट परिस्थिति एवं प्रसग से मर्यादित होता है। पृथक् विशिष्ट परिस्थिति का सम्बन्ध कारण के स्वरूप में परिवर्तन कर देता है और इसलिए एक ही वस्तु उपादान एवं निमित्त कारण दोनों ही है यह कहना अयथार्थ होगा। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म के कारणत्व के विचार मे, यह आक्षेप अधिक कठिनाई उत्पन्न कर देता है क्योंकि हमारे मतानुसार, ब्रह्म स्वस्वरूप से निमित्त कारण और स्वभाव (वेष) से वह अचित् और चिद्रूप माना जा सकता है। उसे उपादान कारण भी माना जा सकता है।[1] कभी-कभी यह आक्षेप किया जाता है कि यदि ब्रह्म जैसाकि श्रुति मे कहा गया है अपरिणामी है तो ब्रह्म का, निमित्त और उपादान कारण होने से, परिणाम से किस प्रकार सम्बन्ध सोचा जा सकता है और परिणाम देह के सम्बन्ध से ही प्राप्त है। इसके अतिरिक्त, भगवान् का शरीर से सम्बन्ध न तो सादृश्य है और न मनः कल्पना-सृष्टि है। शरीर का सामान्य अर्थ यह होता है वह कोई चेतन वस्तु द्वारा नियन्त्रित है।[2] इसका उत्तर यह है कि ब्राह्मण स्वय अपरिणामी रह सकता है और अपने द्विविध शरीर-द्रव्यो में परिणामो का कारण हो सकता है। आक्षेप यह है कि जड़ जगत् प्राणियो के शरीर से इतना भिन्न है कि उसे शरीर कहना अनुचित होगा। उत्तर यह दिया जाता है कि प्राणियो के शरीरो मे बहुत प्रकार की

---

[1] एव हि ब्रह्मण्यपि नोपादानत्व निमित्तयो विरोधः, तस्य चिदचिद विशिष्ठ वेषेण उपादानत्वात् स्वरूपेण निमित्वाच्च। तत्तदवच्छेदक भेद प्रयुक्त तद्भेदस्य तस्य तत्रापि निष्प्र त्यूहत्वात्।

—सिद्धान्त चिन्तामणि, हस्त०।

[2] यस्य चेतनस्य यद् द्रव्यम् सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्य तत्तस्य शरीरम्।

—वही।

यह विषय श्री शैल निवास द्वारा सार दर्पण में विस्तार से कहा गया है।

भिन्नताएँ हैं जैसेकि मनुष्य का शरीर और अणु कीट का शरीर। इस परिस्थिति में हमें शरीर की एक सामान्य परिभाषा स्वीकार करनी पड़ती है जो व्यक्तिगत भेद को छोड़कर सभी शरीरों के लिए प्रयुक्त हो सकती है। उपरोक्त दी हुई परिभाषा सभी प्राणियों के शरीर के तथा ब्रह्म के शरीर रूप से जगत् के सप्रत्यय के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है। यह 'अन्तर्यामी ब्राह्मण' के श्रुतिपाठ से भी समर्थन पाता है जहाँ जगत् को ब्रह्म का शरीर कहा है। यदि श्रुति-समर्थित देह की परिभाषा, हमारे जगत् के साधारण से ज्ञान से भिन्न दीखती हो जिससे हमें, जगत् शरीर है ऐसा प्रकट नहीं होता तो ऐसी अवस्था में श्रुति प्रमाण मान्य समझना चाहिए, क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान मिथ्या कहकर समझाया जा सकता है किन्तु वैज्ञानिक परिभाषा एवं श्रुति-प्रमाण की अवज्ञा नहीं की जा सकती। हमारा सामान्य प्रत्यक्ष सर्वदा प्रमाण नहीं होता। हम चन्द्र को छोटी थाली के परिमाण में देखते हैं जबकि श्रुति-प्रमाण उसे बहुत बड़ा बताती है। जब दो प्रमाणों में विरोध होता है तब अनन्यथा सिद्धत्व के आधार पर एक या दूसरे पक्ष में निर्णय करना पड़ता है। जो प्रमाण अनन्यथा सिद्ध है उसे स्वीकारना पड़ता है और जो ऐसा नहीं होता उसे पहले प्रमाण के अधीन होना पड़ता है। कभी-कभी श्रुति का, इसलिए इस प्रकार बोधार्थ करना पड़ता है कि वे प्रत्यक्ष को बाधित न करें, जबकि अन्य प्रसंगों में प्रत्यक्ष प्रमाण को, श्रुति के बल पर त्याग देना पड़ता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि पिछले प्रमाण का साक्षित्व बलवत्तर होगा, क्योंकि अनेक गलतियां हो सकती हैं जिन प्रसंगों में उक्त प्रमाणों में कोई भी असंदिग्धता नहीं हो सकती। पुन, केवल प्रमाणों को इकट्ठा करने में कोई शक्ति नहीं है क्योंकि एक अंधा दूसरे को निदर्शन करे वहाँ प्रमाणों की बहुलता असंदिग्धता नहीं लाती।[1] प्रमाणों के विरोध होने पर संशय का निवारण और असंदिग्धता की प्राप्ति अनन्यथा सिद्धत्व सिद्धान्त के आधार पर प्राप्त की जाती है। जो अनन्यथा सिद्ध है उसे अन्यथा सिद्ध से बलवत् मानना चाहिए।[2] हमारा ज्ञान अपनी ही उपाधियों से मर्यादित है और इसलिए वह यह विवेक नहीं कर सकता कि जगत् वास्तव में पर ब्रह्म की देह है, और इसलिए वह श्रुति प्रमाण का बाध नहीं कर सकते जो जगत् को भगवान का शरीर कहते हैं। शुद्ध अद्वैत का प्रतिपादन करती श्रुतियाँ केवल ब्रह्म के द्वैत का निरसन करने के लिए ही कही गई है किन्तु उनका जगत् ब्रह्म का शरीर है इस प्रकार बोधार्थ किया जा सकता है। द्वैतवाद के अस्वीकार का यही

---

[1] न च परत्वादुत्तरेण पूर्वबाधः इति युक्तम्, धारावाहिक-भ्रम-स्थले व्यभिचारात् अत एव न भूयस्त्वमपि निर्णायक शतान्धन्यायेन अप्रयोजकत्वाच्च।

—सिद्धान्त चिन्तामणि, हस्त०।

[2] अनन्यथासिद्धत्वमेव विरोध्यप्रामाण्य-व्यवस्थापकतावच्छेदकमिष्यते।

—वही।

अर्थ है कि ब्रह्म जैसा अन्य कोई नहीं है। इस प्रकार चित् अचित् रूप ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है और इच्छा और विचार के रूप में ब्रह्म, जगत् का निमित्त कारण है। ब्रह्म में यह द्विविध कारणत्व उपरोक्त कही ब्रह्म की दो अवस्थाओं को लक्ष्य करता है जो ब्रह्म से एक साथ सत्ता रखती हैं।[1]

वेदान्त ग्रन्थों में पंचमी विभक्ति द्वारा एक कथन है जिसके अनुसार जगत् उपादान कारण रूप से ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। पंचमी विभक्ति सर्वदा कारणत्व को लक्ष्य न कर उपादान को ही करती है।[2] किन्तु यह भी निर्देश किया जाता है कि कार्य कारण से उत्पन्न है और यह आक्षेप किया जा सकता है कि जगत् ब्रह्म के अन्दर और बाहर न होने से, वेदान्त-ग्रन्थ में पचमी का प्रयोग न्याय-संगत नहीं हो सकता। इसका उत्तर यह है कि उपादान कारण का विचार या पचमी के प्रयोग से यह आवश्यक नही है कि कार्य उत्पन्न होना चाहिए और कारण से देश-काल-दृष्टि से भिन्न होना चाहिए। इसका यद्यपि यह अर्थ माना जाता है तो भी यह सोचा जा सकता है कि ब्रह्म में चित् और अचित् के रूप मे सूक्ष्म अश व्यक्त है और इन्ही में से जगत् व्यक्त रूप से उत्पन्न हुआ है। ऐसे परिणाम का अर्थ यह नहीं होता कि कार्य कारण से बाहर व्यक्त होना चाहिए क्योकि जब समस्त कारण द्वय का परिणाम हो जाता है तो कार्य कारण से, देश दृष्टि से बाह्य नही हो सकता।[3] यह सच है कि सभी उपादान कारणो का रूपान्तर होता है। किन्तु विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त मे इस बारे में कोई कठिनाई नही है क्योकि विशिष्टाद्वैत में यह माना गया है कि ब्रह्म का रूपान्तर होता है और ब्रह्म अचिद् एव चिद् रूप शरीर के सम्बन्ध में ही नियमित होता है। भगवान् अपने सकल्प से ही निमित्त कारण है और सकल्प भी एक प्रकार का ज्ञान है।

---

[1] सर्व शरीर-भूताविभक्त-नाम-रूपावस्थापन्न-चिदचिद्-विशिष्ट-वेषेण ब्रह्मणः उपादानत्वं तदुपयुक्त-सकल्पादिविशिष्ट स्वरूपेण निमित्तत्वं च निष्प्रत्यूह मिति निमित्तत्वोपादानत्वयोरिहा पच्य वच्छेदकभेद-प्रयुक्त-भेदस्य दुरपह्नवत्वात्तयोरेकाश्रय-वृत्तित्वस्य प्रागुपपादित्वात् न ब्रह्मणो अभिन्न-निमित्तोपादानत्वे कश्चिद् विरोधः।

—सिद्धान्त चिन्तामणि, हस्त०।

[2] यथा-यतो इमानि भूतानि जायन्ते।

[3] उपादानस्य स्थलेऽपि न सर्वत्र लोकेऽपि विश्लेषः कृत्स्न-परिणामे तदसम्भवात् किन्त्वेकदेश-परिणाम एवेति तदभिप्रायक प्रत्याख्यानं वाच्यम्। तच्चेहापि सम्भवति विशिष्टैक-देश-परिणामांगीकारत्। अतो न तद् विरोधः, किंच सूक्ष्म-चिदचिद्-विशिष्टमुपादानत्वम् इति वक्ष्यते तस्माच्च स्थूलावस्थस्य विश्लेषो युज्यते विश्लेषो हि न सर्वात्मना कारण-देश-परित्यागः।

—वही, हस्त।

श्री शैल निवास 'भेद दर्पण' में विशिष्टाद्वैत मत के सभी मुख्य वादों का उपनिषद् तथा अन्य श्रुति-ग्रन्थों द्वारा अनुमोदन करते हैं। उपरोक्त कहे गए अन्य ग्रन्थों में वे उन्हीं विषयों पर विवाद करते हैं जो विरोध निरोध में किए गए हैं, किन्तु उनके विवाद का ढग यहां कुछ भिन्न है। जिस विषय को एक ग्रन्थ मे संक्षिप्त रूप से कहा है उसे दूसरे में विस्तार से कहा गया है, जैसेकि कारणत्व की समस्या 'सिद्धान्त चिंतामणि' का मुख्य विषय है यद्यपि वह 'विरोध निरोध' में अंश मात्र ही कहा गया उनका 'नय द्युमणि सग्रह,' गद्य पद्य में, उनके 'नयद्युमणि' नामक बृहत् गद्य का संक्षिप्तीकरण है जिसका वे 'नयद्युमणि सग्रह' मे बहुधा उल्लेख करते हैं। श्री शैल निवास ने 'नयद्युमणि दीपिका' नामक एक और ग्रन्थ लिखा है जो 'नयद्युमणि संग्रह' से बड़ा है। सम्भवतः वह 'नयद्युमणि' से छोटा है जिसे वे, बड़ा ग्रन्थ है ऐसा उल्लेख करते हैं।[1] 'नयद्युमणि दीपिका' तथा 'नयद्युमणि संग्रह' में दार्शनिक दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण विषय नहीं है वे सामान्यतः सुदर्शन सूरि कृत 'श्रुत प्रकाशिका' में दिए गए विषयों को ही स्पष्ट करते हैं। उन्होने 'ओंकार वादार्थ,' 'आनन्दतारतम्य खण्डन,' 'अरुणाधिकरण-सारणी-विवरणी' और 'जिज्ञासा दर्पण' भी लिखे। वे संभवतः १५वीं शताब्दी मे विद्यमान थे।

श्रीनिवास ने पहले 'सारदर्पण' लिखा और फिर 'सिद्धान्त चिन्तामणि' और 'विरोध निरोध' लिखे। वास्तव मे उनका 'विरोध निरोध' यदि वह अन्तिम ग्रन्थ न हो तो अन्तिम ग्रन्थों मे से एक है। पहले अध्याय मे वे उसी विषय का प्रतिपादन करते हैं जिसका 'सिद्धान्त चिन्तामणि' मे है, और वे ब्रह्म, जगत् का उपादान और निमित्त कारण है इसे समझाने का प्रयास करते हैं। दूसरे अध्याय मे, वे इस मत का विरोध करते हैं जिसके मतानुसार ज्ञान से सम्बन्धित जीव या ज्ञान स्वरूप जीव, भगवान् के जगत् के रूप में अभिव्यक्ति के साधन हैं। आक्षेपकार यह कहता है कि विचार गतिशील है जो संकोच या विस्तार करता रहता है और इसलिए वह आत्मा का स्वरूप नही हो सकता जो नित्य है। जैन दर्शन मे आत्मा जिस शरीर को वह धारण करता है उसके अनुसार घटता-बढता है ऐसा माना गया है, यहां उचित रूप से आपत्ति की जा सकती है कि आत्मा के ऐसे मत के अनुसार आत्मा अनित्य ही मानना पडेगा। किन्तु विशिष्टाद्वैत मत में केवल विचार को घटता-बढ़ता माना गया है। विचार का घटना-बढ़ना यही अर्थ रखता है कि वह कम या ज्यादा वस्तुओं को ग्रहण करता है और यह विचार इस विचार से भिन्न है जिसके अनुसार एक वस्तु अंगों के योग या ह्रास से छोटी-बडी होती है। विचार का सकोच या विस्तार कर्मानुसार है और इसलिए उसे अनित्य नही माना जा सकता। ज्ञान अपने स्वरूप से ही अवयव-रहित

[1] दुर्भाग्यवश यह 'नयद्युमणि' लेखक को हस्तगत न हो सका।

और सर्वव्यापी है, उसका संकोच पाप-कर्मों द्वारा है जो बहुधा माया या अविद्या रही है।[1] विशिष्टाद्वैतवादी ज्ञान को, न्याय-मतानुसार उपाधि के सम्बन्ध से उत्पन्न होना नहीं मानते, किन्तु वे उसे नित्य होते भी आगन्तुक धर्मवत् मानते हैं। पृथ्वी अपने स्वरूप से नित्य है और नित्य रहते हुए भी उसका घड़े इत्यादि के रूप से रूपान्तर होता है। इस प्रकार आत्मा की नित्यता का विचार, ज्ञान की नित्यता के विचार से भिन्न है, क्योंकि ज्ञान का सर्वव्यापी होते हुए भी अवरोध के कारण जो विषय से सम्बन्ध होने में बाधा डालते हैं, रूपान्तर होता रहता है।[2] सर्वव्यापी सम्बन्ध ज्ञान का आवश्यक लक्षण है, किन्तु उपरोक्त लक्षण अवरोध के कारण बाधित होता है जिसके फलस्वरूप संबंध में भी रुकावट उत्पन्न होती है। इसी ज्ञान की रुकावट और बढ़ोतरी की क्रिया को ज्ञान का विस्तार अथवा संकोच माना जाता है। मूलतः ज्ञान का लक्षण अनादि आत्मा है, किन्तु व्यवहार में ज्ञान स्मृति, दृष्टि और विचार आदि परिवर्तनशील लक्षणों से जाना जा सकता है। अतः ज्ञान के भावपक्ष और व्यवहार पक्ष का भेद समझना आवश्यक है। जैन मत का इस प्रश्न पर यह आक्षेप है कि विचार के विस्तार अथवा सकोच के लिए अज्ञान की विशेष स्थिति की मान्यता अनावश्यक है क्योंकि आत्मा कर्म के प्रभाव के फलस्वरूप परिवर्तनशील प्रतीत होता है। इसके प्रत्युत्तर मे यह कहा जा सकता है कि वेदादि शास्त्रो मे आत्मा को अपरिवर्तनशील माना है, अतः अज्ञान की अतिरिक्त स्थिति के आधार पर ही परिवर्तन की व्याख्या की जा सकती है। इस प्रकार ज्ञान को शुद्ध भाव अथवा आत्म तत्व ही कहा जायगा और ज्ञान को आत्मा का धर्म अथवा लक्षण या प्रकार कहना असगत है। क्योंकि ज्ञान सर्वव्यापी है और अवरोध के फलस्वरूप इसका परिवर्तन होता है। अतः आत्मा अनादि है किन्तु जब ज्ञान के सम्बन्ध के प्रकाश में इसका विस्तार अथवा सकोच होना जाना जाता है तब यह प्रतिभासित ज्ञान अशाश्वत प्रतीत होता है।[3] ज्ञान स्वय मे कोई खण्डन नही है, अतः ज्ञान अखण्ड है और शाश्वत है। अतः अनित्य केवल सम्बन्ध के फलस्वरूप सापेक्ष स्थिति है, और यह आत्मा का कोई धर्म अथवा लक्षण नही है।

---

[1] ज्ञानस्य स्वाभाविक प्रसरणसौपाधिकस्तु सकोचः, उपाधिस्तु प्राचीन कर्म एव।
—विरोध निरोध, पृ० ३९, ४० हस्त।

[2] न हि यादृशम् आत्मनो नित्यत्वं तादृग् ज्ञानस्यापि नित्यत्वम् अभ्युपगच्छामः कारण व्यापार वैयर्थ्य प्रसगात्। किन्तु तार्किकद्यभिमतम् ज्ञानस्य आगुन्तक धर्मत्वम् निराकर्तु दृशेरिव स्वरूपतो नित्यत्वमागन्तुकावस्थाश्रयत्वं च; तेन रूपेण नित्यत्वं तु घटात्वाद्यवस्थाविशिष्टवेशेण मृदादेरिव इष्टमेव।
—विरोध निरोध, पृ० ४४।

[3] नित्यानित्य-विभाग-स्वरूप-द्वारकत्व-स्वभाव द्वारकत्वाभ्यां व्यवस्थित इति कश्चिद् दोषः। —विरोध निरोध (हस्त०)।

कतिपय उपनिषदों की मान्यता के अनुसार आत्मा को अनादि माना गया है, किन्तु कतिपय उपनिषद् आत्मा को उत्पन्न-जात घोषित करते हैं। इस कठिनाई का क्या हल निकाला जाय ? इस प्रश्न पर श्रीनिवास का मत है कि आत्मा अनादि और शाश्वत है, और आत्मा का निर्माण नही किया जा सकता। आत्मा स्वभाव से ही ज्ञानमय है और ज्ञान आत्मा की शक्ति है। किन्तु ज्ञान सर्वव्यापी सम्बन्ध की दृष्टि से बाद का परिणाम है और इस दृष्टि से आत्मा को भी निर्मित मान लिया गया है। अनादि और नित्य को भी इस विशेष परिस्थिति में निर्मित माना जा सकता है।[1] तात्पर्य यह है कि भगवान् के रचना-व्यापार के पहले आत्मा अव्यक्त रूप से चेतन है, उसका सच्चा चेतनागत व्यापार, भगवान् के रचना-व्यापार के परिणामस्वरूप उसका उत्तरकालीन विकास ही है।

पुनः उपनिषद् कहते हैं कि ब्रह्म को जानने से सब कुछ जाना जाता है। शंकराचार्य के अनुसार समस्त जगत् ब्रह्म की एेंद्रजालिक रचना है, केवल ब्रह्म ही सत्य है। इस परिस्थिति में सद्रूप ब्रह्म के ज्ञान से सभी भ्रम रूपी रचना का ज्ञान हो जाना यह असम्भव है क्योंकि सत्ता और भास सर्वथा दो भिन्न वस्तुएँ हैं और इसलिए एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान नही हो सकता। विशिष्टाद्वैत मत मे यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म जो सूक्ष्म चिदचिद् शरीर रूपी कारण-ज्ञान से संयुक्त है अतः कार्यरूपी स्थूल चिद्चिद शरीर भी ब्रह्म के ज्ञान से जाना जा सकता है।[2]

यह नही समझना चाहिए कि कर्म करने से नित्य आत्मा का रूपान्तर होता है क्योंकि जीव, ज्ञान-क्रम की दृष्टि से परिणाम पाता हुआ भी, अपने मे नित्य रह सकता है। विशिष्टाद्वैत मत में इच्छा और संकल्प ज्ञान के प्रकार ही माने गए है और इसलिए, कर्म करने मे होने वाले चित्त के परिणामों का केवल ज्ञान से ही सम्बन्ध है।[3] यह पहले ही बताया जा चुका है कि सम्भवतः ज्ञान, सार रूप से नित्य है और क्रम-रूप से परिणामी है। इस प्रकार की क्रिया और कर्म, जीव के ही धर्म हैं।

---

[1] स्वासाधारण-धर्मभूत-ज्ञान-विशिष्ट वेषेण उत्पत्ति वदन्ति सिध्यस्यापि हि वस्तुनः धर्मांतर विशिष्ट वेषेण साध्यताबीह्यादौ दृष्टा।

—उपरोक्त।

[2] सूक्ष्म चिदचिच्छरीरके ब्रह्मणि ज्ञाते स्थूल चिदचिच्छरीरकस्य तस्य ज्ञानमत्राभिमतम्।

—विरोध निरोध, हस्त०।

[3] इह प्रयत्नादेर्बुद्धि-विशेष-रूपतया कार्यानुकूल-कृतिमत्वस्यापि कर्तृत्वस्य ज्ञान-विशेष-रूपतया तस्य स्वाभाविकतया तदात्मना जीवस्य ज्ञानस्य नित्यत्वेऽपि तत्परिणाम-विशेषस्यानित्यत्वाच्च।

—वही।

'विरोध निरोध' २७ अध्यायों में लिखा गया है किन्तु बहुत से अध्यायों में प्रतिपक्षी द्वारा प्रस्तुत धार्मिक अन्धविश्वासों के कारण किए आक्षेपों का खण्डन किया गया है जिसका विशेष दार्शनिक महत्त्व नहीं है। इसलिए उन्हें इस पुस्तक में प्रस्तुत नहीं किया गया है।

रंगाचार्य[1]

शंकर के अनुयायी ऊमा महेश्वर ने 'विरोध वरूथिनी' नामक पुस्तक लिखी जिसमें रामानुज भाष्य एवं सम्प्रदाय के अन्य समान ग्रन्थों में, एक सो विसंवादों को बताने का विचार किया था जैसेकि 'शतदूषणी' इत्यादि में, किन्तु रोग के कारण उनकी वाचा जाती रही और केवल वे २७ विसवादों की ही आलोचना कर सके।[2] इस पुस्तक के खण्डन में रंगाचार्य ने 'कु दृष्टि ध्वान्त मार्तण्ड' लिखा। ऐसा भी दीखता है कि अण्णयार्य के पौत्र और श्रीनिवास तातार्य के पुत्र, श्रीनिवास दीक्षित ने भी 'विरोध विरूथिनी' के खण्डन मे 'विरोध विरूथिनी-प्रमाथिनी' नामक पुस्तक लिखी। 'कुदृष्टि ध्वान्त मार्तण्ड' का पहला अध्याय भी 'विरोध विरूथिनी प्रमाथिनी' कहलाता है।

ऊमा महेश्वर कहते हैं कि रामानुज मतानुसार चिद्-अचिद्-रूप नानात्वयुक्त यह जगत् अविभक्त एव सूक्ष्म रूप से मूल कारण ब्रह्म में स्थित है। नानात्व-युक्त व्यक्त जगत् और सुख-दुःख अनुभव करते हुए जीवो के रूप के वास्तविक परिणाम में, यहाँ अवस्था-परिणाम होता है और ब्रह्म, क्योकि इस स्थूल परिणाम रूप जगत् को अपने में विशिष्ट गुण रूप मे धारण करता है इसलिए वह इससे सम्बन्धित रहता है। इसलिए इसे ब्रह्म का ही परिणाम मानना चाहिए। किन्तु, पुनः रामानुज अनेक श्रुति वाक्यो का उल्लेख करते हैं जिसमें ब्रह्म को अपरिणामी कहा गया है।

---

[1] श्रीरामानुज योगि-पाद-कमल-स्थानाभिषेक गतो जीयात्सोऽयम्,
"अनन्त-पुरुष-गुरु-सिंहासनाधीश्वरः
श्रीरग सूरिः श्री शैले तस्य सिंहासने स्थितः
कु दृष्टि ध्वान्त मार्तण्ड प्रकाशयति सम्प्रति"

इस प्रकार ये अनन्तार्य के शिष्य थे जो मध्य १९वीं शताब्दी में थे। 'सन्मार्गदीप' के अन्त में वे कहते हैं कि राममिश्र द्वारा इसी विषय पर रचित ग्रन्थ के खण्डन में यह ग्रन्थ रचा गया था। राममिश्र १९वी शताब्दी के अन्त में थे और उन्होंने 'स्नेह पूर्ति' लिखा था।

[2] ऊमा महेश्वर ने और भी ग्रन्थ लिखे ऐसा कहा जाता है, जैसाकि 'तत्त्व चंद्रिका,' 'अद्वैत कामधेनु' 'तप्त मुद्रा विद्रावण,' प्रसंग रत्नाकर, और रामायण टीका।

इसका उत्तर यह है कि चिदचिद् जिस प्रकार परिणाम पाते हैं वह सर्व-नियंतृ ब्रह्म जिस प्रकार उनसे परिणाम उत्पन्न करता है, इससे भिन्न है इसलिए ब्रह्म का कारणत्व, चिदचिद् के परिणाम से प्रभावित नहीं होता। ब्रह्म के कारणत्व को इस प्रकार से अप्रभावित रहने को ही ब्रह्म का अपरिणामित्व कहा गया है। शंकर के मत में, व्यक्त जगत् माया का परिणाम होने के कारण किसी भी प्रकार ब्रह्म जगत् का उपादान नहीं माना जा सकता। शंकर का ब्रह्म शुद्ध चिद्रूप होने के कारण, उसमें निमित्त-कारणता निवेश नहीं की जा सकती। यदि ब्रह्म में किसी प्रकार का परिणाम, किसी भी प्रकार से नहीं सोचा जा सकता और वह नितान्त अपरिणामी रहता है तो वह कारण कभी भी नहीं माना जा सकता। कारणत्व का अर्थ परिणाम उत्पन्न करने की शक्ति या परिणत होने की शक्ति से है। यदि ये दोनों ही ब्रह्म में अशक्य हैं तो ब्रह्म को अविरोध रूप से कारण नहीं माना जा सकता। रामानुज-मतानुसार तो, ब्रह्म नितान्त अपरिणामी नहीं है, क्योंकि परिणाम उत्पन्न करने वाला स्वयं ही परिणाम के अनुरूप बदलता है (ब्रह्म-समसत्ताक-विकारांगी-कारात्)। परिणाम समसत्ताक होने से उसे अपरिणामी भी माना जा सकता, यद्यपि ब्रह्म जगत् का अन्तिम आधार है, तथा जगत् की वस्तुओं के अन्तर्वर्ती कारण होते हैं जिनमें वे रहते माने जा सकते हैं, फिर भी जब ब्रह्म सत्ता का अन्तिम और चरम आधार है इसलिए सभी पदार्थ उसी के द्वारा धारण किए गए हैं।

कारण की अनन्यथा सिद्ध, नियत पूर्ववर्ती रूप से व्याख्या की जा सकती है। (अनन्यथासिद्ध-नियत-पूर्व वर्तिता) ब्रह्म निस्सदेह ही सभी पदार्थों का अन्तिम पूर्ववर्ती तत्व है और उसका अनन्यथा सिद्धत्व श्रुति द्वारा प्रमाणित है। वह चिदचिद् में विकार उत्पन्न करता है और इसलिए उसे निमित्त कारण मानना चाहिए, इससे वह उपादान कारण नहीं कहा जा सकता। ऐसा नहीं है, क्योंकि वही एक अन्तिम पूर्ववर्ती वस्तु है। ब्रह्म प्रथमतः चित् और अचित् को, सूक्ष्म रूप में अपने में अविभक्त रूप से धारण करता है और उत्तरकाल में वह अपने सकल्प द्वारा ऐसे परिणाम अपने में उत्पन्न करता है कि चित् और अचित् स्थूल रूप से परिणत होते हैं। वह अपना मूल एकरस स्वभाव त्याग देता है और अपने चित्-अचित् रूप सच्चे अंशों के सम्बन्ध में कम से कम, परिणत अवस्था ग्रहण करता है जो सूक्ष्मावस्था में उससे अविभक्त थे। ब्रह्म के स्वरूप का यह परिवर्तन परिणाम कहा जाता है। ब्रह्म में जबकि इस प्रकार परिणाम होता पाया जाता है इसलिए उसे न्याय-संगति से जगत् का उपादान कारण कहा जा सकता है। सागर और तरंग का दृष्टान्त इस समझ के साथ सगतिपूर्ण लगता है। जिस प्रकार मृत्तिका घड़े इत्यादि के रूप में परिवर्तित होती है तब भी इन परिवर्तनों में मृत्तिका ही रहती है, इसी प्रकार ब्रह्म भी व्यक्त जगत् के रूप में

परिणत होता हुआ भी सर्वदा एक माना जा सकता है।[1] जिस प्रकार घडा और बर्तन मिथ्या नहीं हैं उसी प्रकार जगत् भी मिथ्या नही है। किन्तु जगत् का सच्चा अर्थ उसे ब्रह्म से एक मानना पड़ेगा। घडे का ऊपरी और नीचे का भाग घडे के अग रूप में न देखने पर भिन्न दीखता है और उस परिस्थिति में उन्हे पृथक् रूप से दो मानना मिथ्या होगा, क्योंकि वे अपना अर्थ तभी सफल करते हैं जबकि उन्हें सम्पूर्ण घडे के अग माना जाय। जब उपनिषद् नानात्व को मिथ्या बताते है तब श्रुति का अर्थ यह है कि नानात्व अपना सम्पूर्ण अर्थ तभी फलीभूत कर पाते हैं जबकि उन्हें ईश्वर, ब्रह्म के एकत्व अंग के रूप मे समझा जाय।

शंकर-मतवादी अन्यथाख्याति में विश्वास नही करते। उनके अनुसार भ्रम का अर्थ अनिर्वचनीय मिथ्या वस्तु उत्पन्न करना है। एक व्यक्ति को जब वह देखने में गलत करता है तब विशेष काल मे ऐसी वस्तु दीखती है। भ्रम की वस्तु प्रत्यक्ष अनुभव के समय विद्यमान नहीं थी यह सिद्ध नही किया जा सकता। ऐसी अवस्था मे, उस वस्तु की अन्य काल मे अनुपस्थिति, उसके मिथ्यापन को सिद्ध नही कर सकती, क्योंकि एक वस्तु एक काल मे उपस्थित हो और दूसरे मे नही हो इससे यह मिथ्या है, यह सिद्ध नही होता। मिथ्यापन को इस प्रकार, द्रष्टा के दृष्टिकाल के आपेक्षिक सम्बन्ध से व्याख्यायित करना चाहिए। जब एक द्रष्टा को सच्चे पदार्थ का ज्ञान होता है और वह यह भी जानता है कि एक वस्तु दूसरी होकर दीखती है, तब वह अनुभव के मिथ्यापन का जानता है। किन्तु दृष्टिकाल मे उसे एक ही प्रकार का ज्ञान होता है और उसे बाध (असगति) का ज्ञान नही है तब उसका उस समय का अनुभव मिथ्या नही कहा जा सकता। किन्तु जबकि स्वप्न के अनुभव उसी काल मे विरोध करते नही जाने जाते, रजत-शुक्ति का भ्रम भी भ्रम-काल मे मिथ्या नही जाना जाता, और जबकि जगत् का अनुभव जाग्रदावस्था मे बाधित नही होता इसलिए वह अपनी अवस्था के सम्बन्ध से मिथ्या नही माना जा सकता। स्वप्नावस्था के अनुभव का मिथ्यापन केवल दूसरी अवस्था एव काल से अपेक्षित है। शकर-मत-वादियो के ऐसे मतानुसार सभी ज्ञान आपेक्षिक हो जाते है और किसी भी अवस्था के

---

[1] बहु स्यां प्रजायेयेत्यादिश्रुति सृष्टेः प्राक् नाम-रूप-विभागाभावेन एकत्वावस्थापन्नस्य सूक्ष्म-चिदचिद्-विशिष्ट ब्रह्मणः पश्चान्नामरुप-विभागेन एकत्वास्था-प्रहाण-पूर्वक स्थूल-चिदचिद् वैशिष्ट्य लक्षण बहुत्वापत्तिर्हि प्रस्फुट प्रतिपाद्यते, सैव हि ब्रह्मणः परिणामो नाम, प्रागवस्थाप्रहाणेनावस्थान्तर-प्राप्ते रेव परिणाम-शब्दार्थं स्यात्··· यथा सर्वं मृद्द्रव्य-विकृति-भूत घटादि कार्यजात कारणभूत मृद्द्रव्याभिन्नमेव न तु द्रव्यान्तरं तथा ब्रह्मापि जगतः अभिन्नमेव।

—कुदृष्टि ध्वान्त मार्तण्ड, पृ० ६६।

अनुभव की प्रमाणता निश्चित नहीं हो पाती। बौद्ध और उनके शास्त्रों के अनुसार, ब्रह्म का विचार मिथ्या है, और इस प्रकार यदि हम उनके अनुभव को मान्य करें तो, ब्रह्म का विचार आपेक्षिक रूप से सत्य है। ऐसे मत को ग्रहण करने से हम ऐसी अनिश्चित अवस्था पर आ जाते हैं जिसमें से निकलना ही नहीं हो सकता।[1]



[1] रगाचार्य ने कम से कम एक और पुस्तक लिखी जो 'सन्मार्ग दीपिका' थी। यह कर्मकाण्ड प्रधान होने से इस पुस्तक में वर्णन के लिए अयोग्य है।

अध्याय इक्कीसवाँ

निम्बार्क-सम्प्रदाय की दर्शन-प्रणाली

निम्बार्क-सम्प्रदाय की गुरु-शिष्य-परम्परा

निम्बार्क, निम्बादित्य या नियमानन्द एक तेलुगु ब्राह्मण थे जो सम्भवतः बेलारी जिले मे निम्ब या निम्बपुर शहर में रहते थे। हरिव्यास देव की 'दश श्लोकी' पर टीका मे ऐसा कहा है कि उनके पिता का नाम जगन्नाथ था और माता का नाम सरस्वती। किन्तु उनके जीवन-काल का निश्चित करना कठिन है। सर र०गं भाण्डारकर अपने 'वैष्णविस्म, शैविस्म एन्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स्' नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि वे रामानुज के थोडे ही समय बाद हुए। वे इस प्रकार तर्क करते हैं, निम्बार्क से उत्तरोत्तर रूप से गुरु-परम्परा में, हरिव्यास देव ३२वे गुरु गिने जाते हैं और भाण्डारकर ने जो हस्तलिखित ग्रन्थ पाया उसमे यह सूची है। यह ग्रन्थ सम्वत् १८०६ या ई० स० १७५० मे दामोदर गोस्वामी के जीवन-काल मे लिखा गया था। दामोदर गोस्वामी के जीवनकाल के १५ वर्ष गिनने पर हम सन् १७६५ पर आते है। मध्व से ३३वा उत्तराधिकारी सन् १८७६ मे मरा और मध्व सन् १२७६ में मरे। इस प्रकार मध्व की ३३ गुरु-परम्परा का कार्यकाल ६०० वर्ष का है। इस कसोटी से सन् १७६५ मे ६०० वर्ष निकालने पर हम निम्बार्क के काल को ११६५ मान सकते है। इसलिए, इसको निम्बार्क के मृत्यु का समय मानना चाहिए और इसका अर्थ यह होता है कि वे रामानुज के कुछ समय बाद मरे और वे उनके कनिष्ठ समकालीन हो सकते है। भाण्डारकर, इस प्रकार, सरसरी तौर पर, प्रत्येक गुरु के धर्म के शासन-काल को १८ वर्ष का मानते है। किन्तु प० किशोरदास कहते है कि प० अनतराम देवाचार्य द्वारा लिखी हुई जीवनी मे, निम्बार्क से १२वा गुरु सम्वत् १११२ या सन् १०५६ मे हुआ माना है और प्रत्येक गुरु के १८ साल के शासनकाल का परीक्षण लगाते हुए हम सन् ८६८ में निम्बार्क के काल पर आते हैं, इसके अनुसार वे रामानुज के बहुत समय पहले रहे होंगे। किन्तु निम्बार्क और श्रीनिवास की रचनाओं के आन्तरिक परीक्षण से यह प्रमाणित नही होता। पुनः केटलॉग ऑव सस्कृत मैनुस्क्रिप्ट इन दी प्राइवेट लाइब्रेरीज ऑव दी नॉर्थ वेस्टर्न प्रोविन्सेज, पार्ट I बनारस १८७४ (या एन० डब्ल्यू० पी० केटलॉग हस्त स ०२७४) में, 'मध्व मुख मर्दन,' जो मदनमोहन पुस्तकालय बनारस मे सुरक्षित है, निम्बार्क

द्वारा लिखा है ऐसा कहा जाता है। यह हस्तलिखित ग्रन्थ हमें प्राप्त नहीं हो सका। किन्तु यदि केटलोग के लेखकों के वर्णन को माना जाय तो निम्बार्क को मध्व के पश्चात् रखना पड़ेगा। इस उत्तरकाल के समर्थन में एक ही तर्क मिलता है कि मध्व जो १४वीं शताब्दी में हुए, उन्होंने 'सर्वदर्शन संग्रह' में तत्कालीन सभी महत्वपूर्ण प्रणालियों का उल्लेख किया, किन्तु निम्बार्क का नहीं किया है। यदि निम्बार्क १४वीं शताब्दी के पहले हुए होते तो सर्वदर्शन संग्रह में उनका कम से कम कुछ तो उल्लेख होता या किसी और लेखक ने ही उनका उल्लेख किया होता। रा० राजेन्द्रलाल मित्रा की मान्यता है कि निम्बार्क ने, श्री ब्रह्मा और सनक सप्रदायों का उल्लेख किया है अतः वे रामानुज, मध्व और वल्लभ के उत्तर काल में हुए हैं जबकि स्पष्ट और निश्चित प्रमाण यह सिद्ध करने को प्राप्त नहीं है कि निम्बार्क वल्लभ के बाद हुए, फिर भी, उनकी गुरु-परम्परा की वृहत् सूची के आधार पर उनका समय अधिक पूर्वकाल में रखना उचित न होगा। पुनः, 'मध्व मुख मर्दन' यदि सचमुच उन्ही का ही लिखा माना जाय, जैसाकि एन. डब्ल्यू केटलॉग बताया है तो इस मान्यता के आधार पर उनका जीवन काल हम चौदहवीं शताब्दी के उत्तर चतुर्थांश या पंद्रहवीं के आरम्भ में रखने में प्रवृत्त होते हैं। इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए कि निम्बार्क से लेकर अब तक ४३ गुरु हुए, जिसका यह अर्थ होता है कि प्रत्येक गुरु का अधिष्ठित काल १० या १२ वर्ष का है, जो असम्भव नहीं है। निम्बार्क दर्शन की आन्तरिक परीक्षा से यह पता चलता है कि वे रामानुज सम्प्रदाय के अधिक ऋणी रहे हैं. निम्बार्क के भाष्य की शैली भी अधिकतर स्थानों पर विषय के आमुख की शैली में रामानुज भाष्य पर ढाली गई है। निम्बार्क रामानुज के बाद जीवित रहे, दूसरा यह एक अतिरिक्त कारण है।

निम्न ग्रन्थ उन्होने लिखे हैं ऐसा माना गया है :

(१) वेदान्त पारिजात सौरभ (२) दश श्लोकी (३) कृष्ण स्तव राज (४) गुरु परम्परा (५) मध्व मुख मर्दन (६) वेदान्त तत्व बोध (७) वेदान्त सिद्धान्त प्रदीप (८) स्वधर्माध्व बोध (९) श्रीकृष्ण स्तव। किन्तु पहले तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त दूसरे सब हस्तलिखित दशा में हैं और उनमें से अधिक मिलते भी नहीं।[1]

---

[1] वेदान्त तत्व बोध अवध केटेलोग १८७७,४२ और ८,२८ में सूचित है जिसका प० देवीप्रसाद ने संकलन किया है।

'वेदान्त सिद्धान्त प्रदीप' और 'स्वधर्माध्व बोध' आर० एल० मित्रा के नोटिसेज ऑव संस्कृत मेनुस्क्रिप्ट सं० २८२६ और १२१६ में मिलते हैं और गुरु-परम्परा केटलॉग ऑव मेनुस्क्रिप्ट इन दी प्राइवेट लाइब्रेरी ऑव एन. डब्ल्यू. पी. भाग १–१० इलाहाबाद १८७७-८६ में मिलता है।

इनमें से प्रस्तुत लेखक केवल 'स्वधर्माध्व बोध' को ही प्राप्त कर सका, जो बंगाल एशियाटिक सोसायटी में रखा हुआ है। यह कहना कठिन है कि यह ग्रन्थ निम्बार्क द्वारा ही लिखा गया है, कुछ भी हो, इसमें निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायियों ने अधिकांश रूप से हेर फेर किया है। क्योकि इसमें कई पद्य जहां तहां डाल दिए हैं जिसमें निम्बार्क को अवतार माना है और उनकी स्तुति की गई है। उन्हें उत्तम पुरुष से भी संबोधित किया गया है और उनके मत को 'निम्बार्क मत' कहा गया है जिसे निम्बार्क ने स्वय न लिखा होगा। पुस्तक मे केवल भेदवादी का उल्लेख है जो मध्व-सप्रदाय को ही सकेत करने वाला होना चाहिए। यह विचित्र प्रकार का ग्रन्थ है जिसमे भिन्न विषय, सम्बन्धित एवं असम्बधित हैं और शैली भी अव्यवस्थित है। इस ग्रन्थ मे अनेक धर्मों तथा 'सन्यासी-सम्प्रदायो' का भी उल्लेख है।

'हरिगुरुस्तव माला' मे प्राप्त गुरु-परम्परा की सूची जो रा० गो० भाण्डारकर के रिपोर्ट ऑव दी सर्च ऑर सस्कृत मेनुस्क्रिप्ट १८८२–८३ मे सूचित है, उसके अनुसार, हस, जो राधा और कृष्ण की सम्मिलित रूप है, निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रथम गुरु माने गए हैं। उनके शिष्य कुमार थे जो चतुर्व्यूह रूप थे। कुमार के शिष्य नारद, जो त्रेतायुग मे प्रेम भक्ति के आचार्य थे। निम्बार्क नारद के शिष्य थे और वे नारायण की सुदर्शन शक्ति के अवतार थे। ऐसा माना जाता है कि उन्होने द्वापर में कृष्ण भक्ति का प्रचार किया था। उनके शिष्य श्रीनिवास थे, जो नारायण के शख के अवतार माने जाते हैं। श्रीनिवास के शिष्य विश्वाचार्य थे, जिनके शिष्य पुरुषोत्तम थे, जिनके स्वरूपाचार्य नामक शिष्य थे। इन सबो को भक्त कहा गया है। स्वरूपाचार्य के शिष्य माधवाचार्य थे, जिनके शिष्य बलभद्राचार्य थे, और उनके शिष्य पद्माचार्य थे, जो बड़े वितडावादी कहे जाते थे। उन्होने भारत के भिन्न प्रान्तो मे जाकर लोगो को शास्त्रार्थ में हराया था। पद्माचार्य के शिष्य श्यामाचार्य थे, और उनके शिष्य गोपालाचार्य थे, जो वेद और वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान थे। कृपाचार्य उनके शिष्य थे, जिन्होने देवाचार्य को शिक्षा दी जो बड़े वितंडावादी माने गए थे। देवाचार्य के शिष्य सुन्दर भट्ट थे और उनके शिष्य पद्मनाभाचार्य थे। इनके शिष्य उपेन्द्र भट्ट थे शिष्यो की परम्परा इस प्रकार है: रामचंद्र भट्ट, कृष्ण भट्ट, पद्माकर भट्ट, श्रावण भट्ट, भूरि भट्ट, मध्व भट्ट, श्याम भट्ट, गोपाल भट्ट बलभद्र भट्ट, गोपीनाथ भट्ट (ये शास्त्रार्थ मे बड़े निपुण थे) केशव गगल भट्ट, केशव काश्मीरी, श्री भट्ट, और हरिव्यास देव। हरिव्यास देव तक की परम्परा सभी प्राप्त गुरु-सूचियाँ परस्पर मिलती हैं किन्तु इनके बाद, ऐसा लगता है कि संप्रदाय में दो विभाग हो गए और गुरु-परम्परा की दो सूचियाँ प्राप्त होती हैं। भाण्डारकर ने हरिव्यासदेव को निम्बार्क के पश्चात् ३२वाँ गुरु माना है। हरिव्यास-देव और उनकी परम्परा के उत्तराधिकारी दामोदर गोस्वामी का जीवनकाल

डा. भाण्डारकर ने १७५०-१७५५ निश्चित माना है। कुछ सूचियों के अनुसार, हरिव्यासदेव के पश्चात्, परशुरामदेव, हरिवशदेव, नारायणदेव, वृन्दावनदेव, गोविन्ददेव हुए। इनकी सूची के अनुसार, स्वयभूरामदेव, हरिव्यासदेव के बाद हैं और उनके बाद कर्म हरदेव, मधुरादेव, श्यामदेव, सेवादेव, नरहरिदेव, दयारामदेव, पुराणदेव, मनीषी देव, राधाकृष्ण शरण देव, हरिदेव और व्रजभूषणशरण देव हैं जो १९२४ में जीवित थे और सन्तदास बाबाजी जो हरिव्यासदेव से तेरहवें गुरु थे, १९३५ में मरे। सूचियों के परीक्षण से यह प्रमाणित रूप से सिद्ध होता है कि प्रत्येक गुरु का शासन काल लगभग १४ वर्ष का रहा। यदि हरिव्यासदेव १७५० में मरे, और सन्तदास बाबाजी जो उनसे तेरहवें गुरु थे, उनकी मृत्यु १९३५ मे हुई, तो १३ गुरुओं का काल १८५ वर्ष का हुआ। इस प्रकार प्रत्येक गुरु की धर्माध्यक्षता का काल लगभग १४ वर्ष का होता है। हरिव्यासदेव से पीछे की ओर गणना करते, प्रत्येक गुरु का १४ वर्ष का काल मानते, हम निम्बार्क के काल को १४वीं शताब्दी के मध्य का मान सकते है।

जैसाकि हम कह चुके हैं निम्बार्क की ब्रह्मसूत्र पर टीका 'वेदान्त पारिजात सौरभ' कही गई है। 'वेदान्त कौस्तुभ' नामक ग्रन्थ पर टीका उनके ही शिष्य श्री निवास ने लिखी थी। मुकुन्द के शिष्य, केशव काश्मीरी भट्ट ने 'वेदान्त कौस्तुभ' पर 'वेदान्त कौस्तुभ प्रभा' नामक टीका लिखी। उन्होंने भगवत् गीता पर 'तत्व प्रकाशिका' नामक टीका और भागवत पुराण के दशम स्कद पर 'तत्व प्रकाशिका-वेद-स्तुति-टीका' नामक टीका, तथा तैत्तरीय उपनिषद् पर 'तैत्तरीय प्रकाशिका' नाम की टीका लिखी थी ऐसा कहा जाता है। उन्होंने एक और पुस्तक 'क्रम दीपिका' नामक लिखी थी, जिस पर गोविन्द भट्टाचार्य ने टीका लिखी थी।[1] 'क्रम दीपिका' अष्टाध्यायी ग्रन्थ है जिसमे निम्बार्क-संप्रदाय के धार्मिक कर्मकाण्ड का मूलतः वर्णन है। इस ग्रन्थ में अनेक प्रकार के मत्र तथा उन पर ध्यान का अधिकाश वर्णन है। श्रीनिवास ने एक और भी ग्रन्थ लिखा जो 'लघु स्तव राज स्तोत्र' है, जिसमे वे अपने गुरु निम्बार्क की प्रशसा करते हैं। पुरुषोत्तम प्रसाद ने इस पर टीका लिखी है जिसका नाम 'गुरु भक्ति मन्दाकिनी' है। 'वेदान्त सिद्धान्त प्रदीप,' जो निम्बार्क द्वारा रचा गया है ऐसा कहा जाता है, इस ग्रन्थ के उपसंहार का अध्ययन करने से तथा रा० ला० मित्रा द्वारा नोटिसेज ऑव सस्कृत मेनुस्क्रिप्ट (एन० एस० न० २८२६) मे दिए गए सार से यह पता चलता है यह कूट ग्रन्थ है। ऐसा लगता है कि यह शांकर वेदान्त के अद्वैतवाद के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करता है; निम्बार्क की 'दश श्लोकी,' जो सिद्धान्त रत्न कहलाती है, उसकी कम से कम तीन

---

[1] ये केशव काश्मीरी भट्ट उन केशव काश्मीरी भट्ट से भिन्न है जिन्होंने चैतन्य से शास्त्रार्थ किया था जैसाकि चैतन्य चरितामृत में वर्णन है।

टीकाएँ हैं, 'वेदान्त रत्न मंजूषा,' पुरुषोत्तम प्रसाद कृत अज्ञात लेखक की 'लघु मजूषा' और हरिवंश मुनि की टीका। पुरुषोत्तम प्रसाद ने निम्बार्क की दश श्लोकी पर 'वेदान्त रत्न मजूषा' नामक एक टीका लिखी और जिसे हम अभी 'गुरु भक्त मंदाकिनी' कह चुके हैं। उन्होंने बीस, प्रकरण के 'श्रुत्यन्तर सुर द्रुम' नामक निम्बार्क के श्रीकृष्ण स्तव पर टीका लिखी तथा 'स्तोत्र त्रयी' भी लिखी।[1] इस टीका में लगभग वही विवेचन पाया जाता है जो 'परपक्ष गिरि विजय' में है जिसका वर्णन पृथक् खण्ड में किया गया है। यहाँ विवाद खास तौर पर शांकर वेदान्त पर ही किया गया है। पुरुषोत्तम रामानुज-मत की भी कड़ी आलोचना करते हैं जिसमें अशुद्ध चित् और अचित् को श्रेष्ठ और उत्कृष्ट ब्रह्म का अंश माना गया है और वे यह सूचित करते हैं कि वह सर्वथा असम्भव है। निम्बार्क-सम्प्रदाय के अनुसार जीव ब्रह्म से भिन्न है। उनकी ब्रह्म से अभिन्नता पर इस अर्थ में है कि ब्रह्म से पृथक् उनकी सत्ता नहीं है। पुरुषोत्तम भेदवादी मध्व की भी आलोचना करते है। तादात्म्य-प्रतिपादन करने वाले श्रुतिपाठ इतने ही सबल हैं जितने द्वैतवाद को प्रतिपादन करने वाले है और इसलिए हम तादात्म्य-प्रतिपादन करते श्रुति पाठों के बल पर यह स्वीकार करना पडता है कि जगत् ब्रह्म मे अस्तित्व रखता है और द्वैत को प्रतिपादन करने वाले श्रुति पाठो के बल पर हमे यह स्वीकार करना पडता है कि जगत् ब्रह्म से भिन्न है। भगवान् जगत् का उपादान कारण है इसका सच्चा अर्थ यह है कि यद्यपि सब कुछ ब्रह्म मे ही उत्पन्न होता है तो भी भगवान् का स्वरूप इन सब उत्पत्ति के होते हुए भी एक ही रहता है। भगवान् की शक्ति भगवान् मे ही निहित है और यद्यपि वह अपनी शक्ति की भिन्न अभिव्यक्तियों द्वारा सभी कुछ उत्पन्न करते हैं तो भी वह अपने मे अपरिणामी रहते हैं।[2]

---

[1] 'श्रुति सिद्धान्त मजरी' नामक 'श्रीकृष्ण स्तव' पर एक और टीका है जिसका लेखक अज्ञात है।

[2] यथा च भूमेस्तथाभूत-शक्तिमत्या ओषधीना जन्म मात्र तथा सर्व-कार्योत्पादनार्हं लक्षणा चिन्त्यान्नत-सर्वशक्ते रक्षर पदार्थाद्ब्रह्मणो विश्व सम्भवति इति, यदा स्वस्वाभाविकालाधिक-नातिशय-शक्तिमद्भ्योऽचेतनेभ्य स्तद् तच्छ क्तयानुसारेण स्व-स्व कार्यंभावापत्तावपि अप्रच्युत-स्वरूप प्रत्यक्ष-प्रमाण-सिद्धं, तर्हि अचिन्त्य-सर्वाचिन्त्य-विश्वाख्या-कार्योत्पादनार्हं-शक्तिमतो भगवत उक्तरीत्या जगद्-भावा-पत्तावप्य-प्रच्युतस्वरूपत्व कि अशक्यमति···शक्ति-विक्षेप-सहरणस्य परिणाम शब्द वाच्यत्वा-भिप्रायेण क्वचित् परिणामोक्तिः। स्वरूप-परिणामाभावश्च पर्वमेव निरुपितः, शक्तेः शक्तिमतो पृथक्-सिद्धत्वात्।

—श्रुत्यन्तर सुर-द्रुम, पृ० ७६३-४।

पुरुषोत्तम, देवाचार्य कृत 'सिद्धान्त जाह्नवी' का उल्लेख करते हैं इसलिए वे उनके बाद हुए होंगे। पं० किशोरदास की 'श्रुत्यन्तसुर द्रुम' की प्रस्तावना के अनुसार वे १६२३ में जन्मे थे और वे नारायण शर्मा के पुत्र थे। प्रस्तुत लेखक को यह मत मान्य नहीं है। पं० किशोरदास के अनुसार, वे धर्म देवाचार्य के शिष्य थे।[1] देवाचार्य ने ब्रह्म सूत्र पर 'सिद्धान्त जाह्नवी' नामक टीका लिखी, जिस पर सुन्दर भट्ट ने 'सिद्धान्त सेतुका' नामक टीका लिखी।

निम्बार्क के दर्शन का सामान्य विवेचन

निम्बार्क के अनुसार ब्रह्म-जिज्ञासा तभी हो सकती है जबकि किसी ने शास्त्रोक्त कर्मकाण्ड की पुस्तकों का अध्ययन किया हो जिनसे अनेक प्रकार के पुण्य-फलों की उपलब्धि होती है और यह अनुभव किया हो कि वे सब फलभोग से दूषित है और नित्य आनन्द की प्राप्ति नहीं करा सकते। ऐसा ज्ञान होने के बाद ही जब जिज्ञासु ने भिन्न शास्त्रों के अध्ययन से यह जान लिया है कि ब्रह्म-ज्ञान अपरिणामी नित्य और निरन्तर आनन्दावस्था प्राप्त कराता है, तब ही वह इसे भगवान् की कृपा द्वारा प्राप्त करने को उत्सुक होता है और वह श्रद्धा और प्रेम से गुरु के पास ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान सीखने के लिए जाता है। ब्रह्म श्रीकृष्ण हैं, जो सर्वज्ञ हैं, सर्व शक्तिमान् और परमशरण है और सर्वव्यापी सत्ता हैं। इस सत्ता को, केवल निरन्तर प्रयत्न द्वारा, मनन और भक्ति के साधन से अपने को उसके स्वरूप से ओतप्रोत रखने से ही, अनुभव किया जा सकता है। ब्रह्म सूत्र के पहले सूत्र का सार भक्त के इस कर्त्तव्य मे रहा है कि वह ब्रह्म को पाने के लिए सतत प्रयत्न करे।[2] शिष्य ब्रह्मनिष्ठ गुरु के वचन श्रवण करता है जिसे ब्रह्म के स्वरूप की साक्षात् अनुभूति होती है और जिसके शब्द ठोस अनुभूति से ओतप्रोत होते है। वह गुरु की शिक्षा के सार और अर्थ को समझने का प्रयास करता है जो गुरु के अनुभव से ओतप्रोत रहते हैं; शिष्य द्वारा इसका अर्थ समझने का प्रयास 'श्रवण' है। यह शंकर-मत मे श्रवण के सामान्य अर्थ से भिन्न है जहाँ इसे उपनिषद् के पाठों का श्रवण माना गया है। दूसरा पद मनन है, यहाँ अपने विचारों का इस प्रकार संगठन करना कहा गया है जिससे गुरु द्वारा कहे सत्य के

---

[1] पं० किशोरदास 'वेदान्त मंजूषा' की प्रस्तावना में अपना ही विरोध करते है और ऐसा लगता है कि वे जो काल-गणना देते हैं वह अधिकतर कल्पित है। पं० किशोरदास आगे कहते हैं कि देवाचार्य सन् १०५५ में हुए। इससे तो निम्बार्क का समय रामानुज के पहले हो जायगा जो असम्भव दीखता है।

[2] कर्त्तव्य का यह स्वरूप, क्योंकि ब्रह्म सूत्र के पाठ से ही प्रकट है कि ब्रह्मस्व निदिध्यासन जैसे क्रम द्वारा ही प्राप्त होता है इसलिए इसे अपूर्व विधि कहा है।

प्रति चित्त की रुचि इस प्रकार ढले कि उसमें विश्वास का विकास हो। तीसरा पद, निदिध्यासन है, जो चित्त वृत्तियों को निरन्तर ध्यान द्वारा एकत्रित करता है जिससे गुरु द्वारा प्रेरित और उनके द्वारा कहे गए सत्य पर श्रद्धा जगे और अन्त में, उनका अनुभव प्राप्त हो। अन्तिम प्रक्रिया का सफल अन्त ही ब्रह्म का अनुभव प्राप्त कराता है। वैदिक धर्म का अध्ययन और उनकी कार्य-क्षमता, ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न करता है जिससे नित्यानंद की प्राप्ति होती है। इस हेतु की प्राप्ति के लिए शिष्य उसके पास जाता है जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार हो। शिष्य में ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति इस आध्यात्मिक क्रम द्वारा सम्भव है जिसके श्रवण, मनन और निदिध्यासन तीन अंग हैं।

निम्बार्क दर्शन के अनुसार, जो एक प्रकार का भेदाभेद वाद के अर्थात् जिस मत में ब्रह्म, भेद होते हुए भी अभेद स्वरूप है, स्वयं ब्रह्म ने चित् और अचित् में परिणाम किया है। जिस प्रकार प्राण, भिन्न क्रियात्मक और ज्ञानात्मक इन्द्रिय व्यापारों द्वारा अभिव्यक्त होता है फिर भी उनसे अपनी स्वतंत्रता, अखंडता एवं भेद बनाए रखता है इसी प्रकार, ब्रह्म भी अनन्त जीव और जड में, अपने को खोए बिना अभिव्यक्त करता है। जिस प्रकार मकडी अपने में से जाला बनाने पर भी उससे स्वतन्त्र रहती है इसी प्रकार ब्रह्म भी असंख्य जीव और जड में विभक्त होता हुआ भी अपनी पूर्णता एवं शुद्धता बनाए रहता है। जीव के सभी व्यापार और उनका अस्तित्व भी ब्रह्म पर इस अर्थ में अवलम्बित है (तादायत्त-स्थिति-पूर्विका) कि ब्रह्म सभी का उपादान एवं निमित्त कारण है।[1]

शास्त्रों में द्वैतवाद और अद्वैतवाद के प्रतिपादक अनेक पाठ हैं, उन दोनों मतों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का एक मार्ग यही है कि हम इस मध्यस्थ मत को स्वीकारें कि ब्रह्म जीव और जड युक्त जगत् से एक साथ भिन्न और अभिन्न है। ब्रह्म का स्वरूप इस प्रकार माना गया है कि वह जीव और जडयुक्त जगत् से, अध्यास या मान्यता के कारण नहीं, किन्तु उसके विलक्षण चैतन्य स्वरूप के कारण जड और चेतन युक्त जगत् से एक साथ भिन्न और अभिन्न है। इसी कारण इस भेदाभेद मत को 'स्वाभाविक भेदाभेदवाद' कहा है। शुद्ध द्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म केवल निश्चयात्मक कारण ही माना जायगा और इसलिए सारे श्रुतिपाठ जो ब्रह्म को उपादान कारण कहते हैं या ब्रह्म का समस्त जीवों से तादात्म्य करते हैं, उन्हें नगण्य करना पड़ेगा। वेदान्त का अद्वैतवाद भी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि परम सत्ता के रूप में, शुद्ध भेदरहित, निर्गुण चैतन्य, प्रत्यक्ष योग्य नहीं होगा, क्योंकि वह इन्द्रियातीत है। वह न अनुमान द्वारा ग्राह्य होगा, क्योंकि वह विशिष्ट लिंग रहित है, न वह शब्द प्रमाण

---

[1] श्रीनिवास की निम्बार्क कृत ब्रह्मसूत्र पर वेदान्त परिजात सौरभ टीका।
—ब्रह्मसूत्र, पृ० १-१-१ से ३ पर।

द्वारा गम्य होगा क्योंकि वह शब्दातीत है। जिस प्रकार किसी को, जिसके दृष्टि पथ में चंद्र है, उसका चंद्र के प्रति परोक्ष रूप से, वृक्ष शाखा द्वारा ध्यान आकर्षित किया जा सकता है, इसी प्रकार ब्रह्म को भी अन्य प्रत्ययों द्वारा उद्बोधित किया जा सकता है, जो उसके निकट है या संबंधित है, यह मान्यता टिक नहीं सकती, क्योंकि उपरोक्त दृष्टान्त में चंद्र और वृक्ष की शाखा दोनों इन्द्रिय-ग्राह्य है, जबकि ब्रह्म नितान्त इन्द्रियातीत है। पुनः यदि यह सोचा जाता है कि ब्रह्म तर्क-सिद्ध है तो भी यह मान्यता मिथ्या होगी, क्योंकि जो कुछ भी तर्क-सिद्ध है, या दिखाया जा सकता है, वह मिथ्या है। आगे यदि वह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है तो ब्रह्म शशविषाणवत् तुच्छ होगा। यदि ऐसा माना जाता है कि, ब्रह्म स्वप्रकाश होने से उसे सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण आवश्यक नहीं है, तो ब्रह्म का स्वरूप वर्णन करने वाली श्रुतियाँ व्यर्थ हो जावेगी। इसके अतिरिक्त, शुद्ध निर्गुण ब्रह्म किसी भी अशुद्धता से सर्वथा असंग होने से, उसे सभी बन्धनों से नित्य मुक्त मानना पड़ेगा और इस प्रकार मुक्ति प्राप्त करने की शिक्षा देने वाले सभी श्रुतिपाठ निरर्थक हो जाएंगे। शंकर-मतवादियों का यह उत्तर कि सारी द्वैत अवस्था मिथ्या होने पर भी भासमान है और व्यावहारिक प्रयोजन साधती है, टिक नहीं सकता, क्योंकि जब श्रुति बंधन का नष्ट होना कहती है तब वह मानती है कि वह सत्य या और उसका नाश भी सत्य है। पुन. भ्रम किसी अधिष्ठान में ही शक्य होता है जबकि उसमें सामान्य एवं विशेष गुण होते हैं और भ्रम तब ही उत्पन्न होता है जबकि पदार्थ उसके विशिष्ट गुण सहित ज्ञान न होकर सामान्य रूप से ही जाना जाता है। किन्तु यदि ब्रह्म सर्वथा निर्गुण है तो उसका किसी भी भ्रम का अधिष्ठान होना भी असम्भव है। पुनः जबकि अज्ञान के किसी प्रकार के कोई आश्रय या विषय को समझाना कठिन है तो भ्रम भी स्वयं समझ के बाहर हो जाता है। ब्रह्म शुद्ध ज्ञान स्वरूप होने से अज्ञान का आश्रय या विषय नहीं माना जा सकता। जीव स्वयं अज्ञान का कार्य होने से अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, जबकि ब्रह्म शुद्ध प्रकाश-स्वरूप है और अज्ञान तिमिर रूप है तो पहला दूसरे का आश्रय नहीं माना जा सकता, जैसेकि सूर्य अंधकार का आश्रय नहीं माना जा सकता।

भ्रम की उत्पत्ति में होने वाले व्यापार अज्ञान द्वारा होते नहीं माने जा सकते क्योंकि अज्ञान अचेतन है इसलिए वह कर्ता नहीं माना जा सकता। ब्रह्म को भी कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि वह शुद्ध और निश्चल है। पुन. ब्रह्म का, नाना प्रकार की अनभीष्ट घटनाओं यथा पापी, पशु इत्यादि के रूप में मिथ्याभास होना समझाया नहीं जा सकता, क्योंकि यदि ब्रह्म सर्वदा चेतन और स्वतंत्र है तो वह अपनी ऐसी अवांछनीय दशाओं में परिणाम होना स्वीकार नहीं कर सकता, जिसका अनुभव पुनर्जन्म द्वारा अनेक पशु-योनियों में भुगतना पड़ता है। यदि ब्रह्म को इन अनुभवों का ज्ञान नहीं है तो उसे अज्ञानी मानना पड़ेगा और उसकी स्वप्रकाश्यता लुप्त हो

हो जायगी। पुनः यदि अज्ञान सत् वस्तु माना जाता है तो द्वैतवाद स्वीकारना पडता है, और यदि वह असत् माना जाता है तो वह ब्रह्म का आवरण नही कर सकता। आगे, यदि ब्रह्म स्वप्रकाश्य है तो वह छिपाया कैसे जा सकता है और उसके विषय में भ्रम भी कैसे हो सकता है ? यदि सीप अपने स्वरूप से प्रकट होती है तो उसका रजत रूप मे भ्रमपूर्ण अनुभव नही हो सकता। यदि पुनः ब्रह्म का स्वरूप अज्ञान द्वारा छिपा है तो प्रश्न यह खड़ा होता है कि अज्ञान ब्रह्म का अंश रूप से या पूर्ण रूप से आवरण करता है। पहली मान्यता अशक्य है, क्योकि तब जगत् पूर्ण रूप से अंधा हो जायगा (जगदाध्य-प्रसगात्) और पिछला विकल्प असम्भव है, क्योंकि ब्रह्म एक रस है जिसके न गुण-धर्म हैं न अवयव। अद्वैतवादी इसे निर्गुण और अखड मानते हैं। यदि यह माना जाता है कि सामान्य रूप से अज्ञान द्वारा केवल आनंदांश ही ढका जाता है और सत् अंश अनावृत रहता है तो यह अर्थ होगा कि ब्रह्म के विभाग हो सकते हैं और ब्रह्म का मिथ्यापन ऐसे अनुमनो द्वारा सिद्ध किया जा सकेगा, 'ब्रह्म मिथ्या है' क्योकि उसमे घडे की तरह अंश है (ब्रह्म मिथ्या सांशत्वात् घटादिवत्)।

उपरोक्त आक्षेप के उत्तर मे यह तर्क किया जा सकता है कि अज्ञान के विरोध मे आक्षेप माने नही जा सकते, क्योकि अज्ञान सर्वथा मिथ्या ज्ञान है। जिस प्रकार कि एक उल्लू सूर्य के ज्वलन्त प्रकाश मे भी निरा अधकार देखता है उसी प्रकार मैं अज्ञ हूँ यह अपरोक्ष अनुभव सभी को प्रकट है। निम्बार्क-सप्रदाय के अनुयायी, अनन्तराम, अपने 'वेदान्त बोध' में ऐसी मान्यता के विरोध मे और आक्षेप खडे करते है। वे कहते हैं कि मै अज्ञ हैं इस अपरोक्ष अनुभव मे 'मैं' जो अपरोक्ष-अनुभव-गम्य है वह शुद्ध ज्ञान नही है। क्योकि शुद्ध ज्ञान अज्ञ के रूप मे अनुभव नही हो सकता। यह अहकार मात्र नही हो सकता, क्योकि तब अनुभव 'अहकार अज्ञ है' इस प्रकार होता है। यदि अहकार से शुद्ध आत्मा का अर्थ है, तब ऐसी आत्मा का मुक्ति से पहले अनुभव नही हो सकता। अहकार, शुद्ध चैतन्य और अज्ञान से कोई भिन्न वस्तु नही हो सकती, क्योंकि यह वस्तु निस्सदेह ही अज्ञान का कार्य होना चाहिए जो ब्रह्म के अज्ञान के साथ सयोग के पहले विद्यमान नही हो सकती। शकर-मतवादियों का उत्तर है कि अज्ञान, केवल मिथ्या कल्पना होने से, ब्रह्म के स्वरूप को दूषित नही कर सकता, जो शाश्वत अधिष्ठान है यह भी अमान्य है, क्योकि यदि अज्ञान को मिथ्या कल्पना माना जाय, तब भी ऐसी कल्पना करने वाला कोई होना चाहिए। किन्तु ऐसी कल्पना करने वाला ब्रह्म या अज्ञान इन दोनो वस्तुओ मे से कोई भी नहीं हो सकता, क्योकि पहला शुद्ध निर्गुण है, इसलिए वह कल्पना नही कर सकता, और दूसरा जड़ और अचेतन है, इसलिए कल्पना रहित है। यह भी सोचना मिथ्या है कि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य रूप से अज्ञान का मूल विरोधी नही है, क्योंकि, ऐसा कोई ज्ञान नही है जो अज्ञान-विरोधी न हो। इसलिए, शंकर मतवादी 'मै अज्ञ हूँ' इसमें 'मैं' तत्व सिद्ध करने में सफल नही हो सकते।

इसलिए निम्बार्क के दृष्टिकोण से अन्तिम निष्कर्ष यह है कि ब्रह्म से सहयोग कर जगत् प्रपंच को उत्पन्न करने वाला कोई भी अज्ञान जैसा विश्व व्यापी सिद्धान्त अमान्य है। अज्ञान, जीव या आत्मा का गुण है जो ब्रह्म से स्वरूपतः भिन्न है, किन्तु वे उसके संपूर्ण रूप से अधीन हैं। वे उसके शाश्वत अंग है अणु रूप हैं, और शक्ति में मर्यादित हैं। कर्म की अनादि शृंखला से बंधे होने के कारण वे, स्वाभाविक रूप से ज्ञान-दृष्टि से अंध हैं।[1]

शंकर मतवादी यह प्रतिपादन करते हैं कि आत्म और अनात्म के सच्चे स्वरूप में भेद न करने की स्वाभाविक त्रुटि के कारण, मिथ्या प्रत्यक्ष, मिथ्या ज्ञान और भ्रम उत्पन्न होता है। अनन्तराम का ऐसे स्पष्टीकरण के विरोध में यह आक्षेप है कि यह त्रुटि ब्रह्म या अज्ञान पर नहीं लादी जा सकती है। जबकि अन्य सभी वस्तु भ्रम के उत्तरकाल के कार्य है, उन पर भ्रम उत्पन्न करने का दायित्व नहीं रखा जा सकता।[2]

शंकर ने अपनी टीका मे कहा था कि शुद्ध चैतन्य पूर्णतया असिद्ध नहीं है, क्योंकि उसे हम अहं अनुभव द्वारा लक्ष्य करते हैं। इस पर स्वाभाविक आक्षेप यह उठता है कि हमारे अहं अनुभव द्वारा लक्षित वस्तु शुद्ध चैतन्य नहीं हो सकती क्योंकि फिर तो शुद्ध चैतन्य अहं का धर्म हो जाता—यह मत निम्बार्क-दर्शन के अनुकूल है किन्तु शंकर-मतवादियो द्वारा पूर्णतया अस्वीकृत है। यदि इसे मिथ्या माना जाता है तो यह मानना पड़ता है कि जहाँ भ्रम होता है वहाँ अहं अनुभव होता है। इस मान्यता के अनुसार भ्रम वहीं उत्पन्न हो सकता है जहाँ अहं अनुभव होता है।[3] यहाँ अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न हो जाता है। अन्योन्याश्रय दोष का बचाव इस मान्यता पर किया जावे कि अध्यास अनादि है, यह भी निरुपयोगी है। क्योंकि भ्रम स्वरूपतः अनादि है यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि यह सुविदित है कि भ्रम, पूर्व-प्रमाणित ज्ञान-संस्कारों के व्यापार से ही शक्य है।[4] पुनः, शुद्ध चैतन्य का अज्ञान में प्रतिबिम्बित होना अशक्य है, क्योंकि प्रतिबिम्ब दो समान सत्ता वाले पदार्थों मे ही शक्य है। अन्य दृष्टि से देखने पर भ्रम को असंगत मानना पड़ता है। भ्रम विशेष भौतिक परिस्थितियो के

---

[1] परमात्म-भिन्नोऽल्प शक्तिस्तदभिन्नः सनातनस्तदंशभूतोऽनादि कर्मात्मिका विद्यावृत धर्मभूतज्ञानो जीव क्षेत्रज्ञादिशब्दाभि धेयस्तत्प्रत्ययाश्रय इति।

—वेदान्त तत्व बोध, पृ० १२।

[2] वही, पृ० १३।

[3] अध्यस्तत्वे तु अध्यासे सति भासमानत्वम्, तस्मिन् सति स इत्यन्योन्याश्रय-दोषः।

—वही, पृ० १४।

[4] अध्यासो नानादिः पूर्व-प्रमाहित संस्कार-जन्यत्वात्।

—वेदान्त तत्व बोध, पृ० १४।

कारण उत्पन्न होता है जैसेकि सन्निकर्ष, इन्द्रिय-दोष, संस्कार-व्यापार इत्यादि। ग्रहं के ग्रपरोक्ष ग्रनुभव के कथित प्रसंग में ये सब ग्रनुपस्थित होते हैं।

शंकर-मतवादी माया को ग्रनिर्वचनीय कहते हैं। ग्रनिर्वचनीय का ग्रर्थ यह माना है कि जो प्रत्यक्ष में दीखे किन्तु ग्रंततोगत्वा बाधित हो जाता हो। शंकर-मतवादी मिथ्यात्व या ग्रभाव की जो बाधित हो सकता है — ऐसी व्याख्या करते हैं। माया की घटना ग्रनुभव में भासमान होती है ग्रौर इसलिए उन्हे ग्रस्तित्ववान् माना है। वह बाधित हो सकती है इसलिए उसे ग्रसत् माना है। माया में यह सत्-ग्रसत् का जो एकत्व है वही उसकी ग्रनिर्वचनीयता है। इसका ग्रनन्तराम यह उत्तर देते हैं कि बाध होना ग्रभाव का ग्रर्थ नही रखता। एक विशेष पदार्थ के रूप में जैसेकि घडा दंड के प्रहार से नष्ट किया जा सकता है इस प्रकार एक ज्ञान दूसरे ज्ञान को नष्ट कर सकता है। दंड के प्रहार से घडे का नष्ट होना इस विचार का समावेश नही करता कि घडा ग्रसत् था। इसलिए, पूर्व ज्ञान का उत्तर ज्ञान से बाध पहले का मिथ्यात्व या ग्रनस्तित्व समाविष्ट नही करता। सभी ज्ञान ग्रपने में सत्य हैं, जो कि उनमे से कुछ दूसरे को नष्ट कर सकते हैं। निम्बार्क मतवादी इसे ही सत्ख्याति-वाद कहते है। उनके ग्रनुसार सत्ख्यातिवाद यह ग्रर्थ रखता है कि सभी ज्ञान (ख्याति) किसी सत् पदार्थ से उत्पन्न होते है जिन्हें उनका कारण मानना चाहिए (सद्हेतुका ख्याति, सत् ख्याति)। ऐसे मत के ग्रनुसार, इसलिए, मिथ्या ज्ञान का मूल कारण, कोई ग्रस्तित्ववान् पदार्थ होना चाहिए। यह भी सोचना मिथ्या है कि मिथ्या या ग्रस्तित्वविहीन वस्तु प्रभाव उत्पन्न कर सकती है, ठीक उसी प्रकार जैसे भ्रम रूप काला नाग भय नही करता किन्तु सच्चे सर्प की स्मृति ऐसा करती है, इसलिए, यह सोचना गलत है कि मिथ्या जगत्-प्रपंच हमारे बंध का कारण हो सकता है।

जबकि भ्रम शक्य नही है, तो यह सोचना व्यर्थ है कि हमारे सभी प्रत्यक्ष, ग्रनुमान ग्रौर ग्रन्य प्रकार के ज्ञान ग्रहंकार से संयुक्त हैं तथा केवल भ्रम रूप से उत्पन्न होते है। सच्चा ज्ञान ग्रात्मा का धर्म माना जाना चाहिए, ग्रौर ज्ञान की उत्पत्ति के वृत्ति के माध्यम की ग्रावश्यकता नहीं है। ग्रज्ञान, जो ज्ञान के उदय को रोकता है वह हमारे कर्म है जो ग्रनादि काल से संचित हुए हैं। इन्द्रियो के व्यापार से हमारी ग्रात्मा हमसे बाहर विस्तृत होती है ग्रौर इन्द्रिय-गोचर पदार्थों के ज्ञान से भर जाती है। इसी कारण, जब इन्द्रियाँ प्रवृत्त नही होतीं तब गोचर पदार्थों का ज्ञान नही होता, जैसाकि गाढ निद्रा में होता है। ग्रात्मा, इस प्रकार, सच्चा ज्ञाता है ग्रौर सच्चा कर्त्ता है ग्रौर उसके ज्ञाता एवं कर्त्ता के ग्रनुभवो को किसी भी कारण भ्रम-व्यापार के कार्य नही मानना चाहिए।[1]

---

[1] वेदान्त तत्त्व बोध, पृ० २०।

आत्मा शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है पर उसे सच्चा ज्ञाता मानना चाहिए। ज्ञान ज्ञाता होकर व्यवहार नहीं कर सकता, जिस प्रकार कि पानी पानी से मिलकर विविक्त नहीं रह सकता, निम्बार्क-मतवादी, इस आक्षेप को अप्रामाण्य ठहराते हैं। निम्बार्क-मत की इस मान्यता का समर्थन करने के लिए, पुरुषोत्तम अपनी 'वेदान्त रत्न मञ्जूषा' में सूर्य का दृष्टान्त देते हैं जो प्रकाश एव प्रकाश का स्रोत दोनों ही है। जब एक पानी की बूंद दूसरी बूंद में मिलाई जाती है, यद्यपि यह जानने मे नहीं आने पर भी सख्या एव गुण की दृष्टि से दोनो बूँदो की विशेषता रहती है। भेद का अग्रहण इसे सिद्ध नहीं करता कि दोनो बूंदे एक रस हो गई हैं। दूसरी ओर, जबकि दूसरी बूंद के अंश पहले से भिन्न हैं तो उनकी पृथक् सत्ता माननी पड़ेगी चाहे वे दोनों मिल गयी हो। ज्ञातृभाव आत्मा का सहज धर्म मानना चाहिए, शकर-मतवादियो द्वारा इसकी व्यवस्था जो बताई गई है कि ज्ञात धर्म, शुद्ध चैतन्य का वृत्ति में प्रतिबिम्बित होने से है यह असफल है। पानी मे पड़ा सूर्य का प्रतिबिम्ब चमकता गोला नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त, प्रतिबिम्ब दो दृश्य वस्तुओं के बीच नहीं हो सकता, न शुद्ध चैतन्य और न अन्तःकरण-वृत्ति ही दृश्य वस्तु मानी जा सकती है, जिसमें प्रतिबिम्ब की मान्यता न्यायसगत दिखाई जा सके।

अह का अनुभव आत्मा को ही अपरोक्ष रूप से लक्ष्य करता है इस विषय में किसी प्रकार का भ्रम नही है। अह अनुभव इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का निरन्तर प्रकटीकरण है। गाढ निद्रा के बाद हम कहते हैं कि 'मै ऐसा अच्छा सोया कि अपने को भी भूल गया।' किन्तु इसका अर्थ यह नही लगाना चाहिए कि अह अनुभव अनुपस्थित है या वहाँ आत्मा का प्रकाश नही है। 'मैंने अपने को नहीं जाना' यह अनुभव देह के अनुभव को तथा चित्त व्यापार को लक्ष्य करता है, किन्तु यह नहीं सूचित करता कि स्ववेद्य चैतन्य ने अपने को प्रकाशित करना बद कर दिया था। गाढ निद्रा मे अपनी अनुभूति का निषेध विशिष्ट सम्बन्धो के निषेध को भी लक्ष्य करता है (जैसेकि शरीर इत्यादि) जिससे साधारणतः अह जुड़ा रहता है। निषेध या अभाव के ऐसे दृष्टान्त भी दिए जा सकते हैं, 'मैं इस कमरे में इतनी देर नही था' 'मैं उस समय जीवित न था' इत्यादि, यहाँ अभाव अह से सम्बन्धित वस्तु से है न कि अह से। आत्मा को अह अनुभव में अभिव्यक्त ही नही मानना चाहिए किन्तु उसे जो ज्ञान होता है उससे भी भिन्न मानना चाहिए। केवल गाढ निद्रा मे ही आत्मा का अनुभव नहीं रहता, किन्तु मुक्तावस्था मे भी निरन्तर रहता है, भगवान् भी अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता में अपनी अहंकारातीत अवस्था मे स्वचैतन्य रहते हैं। वे दयालु है, परम गुरु है और हमारे ज्ञान का अधिष्ठाता देव है। जीव की तरह भगवान् भी कर्त्ता है, जगत् सृष्टा है। यदि ब्रह्म स्वभाव से कर्त्ता न होता तो माया का संयोग होते हुए भी वह जगत् कर्त्ता नहीं हो सकता था। ब्रह्म से विपरीत, जीवो की प्रवृत्तियों को व्यक्त करने के

लिए कर्मेन्द्रियों पर आश्रय रखना पड़ता है। आत्मा को भी सुख-दुख का अनुभव होता है। जीवों का कर्तृत्व और सत्ता तो अन्त में भगवान् की इच्छा के अधीन है, तो भी, क्योंकि वह किसी को सुख और किसी को दुःख देता है इसलिए भगवान् पक्षपाती है या निर्दय है ऐसा मानने का कोई भी कारण नहीं है, क्योंकि वह परमेश्वर है, जो भिन्न लोगों को भिन्न प्रकार से निर्देश देता है और उन्हें उनके कर्मानुसार सुख-दुःख देता है। तात्पर्य यह है कि भगवान् यद्यपि, लोगों को सुख-दुःख देते हैं और उन्हें पाप-पुण्यानुसार कर्म कराते हैं, तो भी वे अन्त में कर्म के बंधन में नहीं हैं और वे अपनी कृपा द्वारा उन्हें कभी भी बन्धन से मुक्त करा सकते हैं।[1] कर्म सिद्धान्त यान्त्रिक सिद्धान्त है और भगवान् अधिष्ठाता रूप से प्रत्येक प्रसंग में निर्णय देते हैं। वे इस प्रकार कर्म सिद्धान्त के विधायक हैं किन्तु उससे बंधे नहीं हैं। जीव भगवान् के ही स्वरूप के अंश हैं, और इसलिए अपने, स्वरूप, सत्ता एवं प्रवृत्ति के लिए उसी पर आश्रित हैं (तदायत्त-स्वरूप स्थिति-पूर्विकाः)। भगवान् अन्तिम सत्य होने से, जीव और जड जगत्, भगवान के अंश होने के कारण उसी के स्वरूप से सम्मिलित होने के कारण, अपना स्वरूप और सत्ता पाते हैं। इसलिए वे अपनी सत्ता और प्रवृत्ति के लिए उसी पर आश्रित हैं।

जीव असंख्य है और अणु रूप हैं। किन्तु अणु होते हुए भी, वे शरीर के सभी भागों की संवेदनाओं को, अपने में स्थित सर्वव्यापी ज्ञान के गुण से जानते है। यद्यपि जीव अणु एवं अखण्ड हैं, वे भगवान् के सर्वव्यापी स्वरूप से पूर्णतः व्याप्त हैं। अणु रूप जीव, अनादि कर्म की मेखला से वेष्टित हैं जो उनके शरीर का कारण है, और फिर भी वे मुक्त हो जाते हैं, जब गुरु द्वारा शास्त्र वचन सुनकर उनके संशय छूट जाते हैं और वे जब भगवान् के सच्चे स्वरूप का गहरा ध्यान करते हैं जिससे वे भगवान् में लय हो जाते हैं। भगवान् अपनी दया और कृपा दिखाने में पूर्णतः स्वतन्त्र है। किन्तु होता ऐसा है कि वे उन्हीं पर दिखाते हैं जो भक्ति और पुण्य कर्म द्वारा उसके योग्य हैं। भगवान्, अपने सर्वातिशायी रूप में, अपने जगत्, जीव और ईश्वर इन तीनों रूपों से भी परे हैं। अपने शुद्ध एवं सर्वातिशायी रूप में वह किसी भी परिणाम से सर्वथा दूषित नहीं है और वह शुद्ध सत्ता, आनन्द और चैतन्य के अभेद है। ईश्वर के रूप में वह अनेक जीवों द्वारा जो उसके ही अंश हैं अपने अनन्त आनन्द का अनुभव करता है। जीवों के अनुभव, इसलिए उसके अंश रूप से उसी में समाविष्ट हैं क्योंकि जीवों के अनुभव उसके ईक्षण के ही कारण हैं। मनुष्य के अनुभवों की सत्ता तथा उनका क्रम भगवान् के द्वारा नियमित हैं तथा उसी के अन्तर्गत है। जीव इस प्रकार,

---

[1] न वयं ब्रह्म नियन्तृत्वस्य कर्म-सापेक्षत्वं ब्रूमः, किन्तु पुण्यादि कर्म कारयितृत्वे तत्फल-दातृत्वे च।

—वेदान्त रत्न मंजूषा, पृ० १४।

एक दृष्टि से उससे भिन्न हैं, और दूसरी दृष्टि से उसके अंश मात्र हैं। भास्कर के दर्शन में एकत्व पर बल था, क्योंकि भेद उपाधि के कारण माना गया है। किन्तु यद्यपि निम्बार्क की प्रणाली को एक प्रकार का भेदाभेदवाद या द्वैताद्वैतवाद माना जा सकता है, किन्तु यहाँ बल केवल एकत्व पर ही नहीं है किन्तु भिन्नता या भेद पर भी है। जैसेकि अंश, पूर्ण से भिन्न नहीं हो सकता, जीव भी ईश्वर से कभी भिन्न नहीं हो सकते। किन्तु, बन्धन की अवस्था में जीव ईश्वर से इस एकता को भूल सकते है और अपने को कर्म और अनुभव मे स्वतन्त्र समझने लगते हैं। जब प्रेम से त्याग उत्पन्न होता है तब जीव जो स्वय ब्रह्म से पूर्णतया नियन्त्रित और नियमित है तथा वह उसका अंश है ऐसा अनुभव करता है, उसे सभी कर्मों से विरक्ति उत्पन्न होती है और वह उनसे प्रभावित नहीं होता। इसलिए अन्तिम आदर्श या ध्येय, भगवान् से हमारा सम्बन्ध क्या है यह अनुभव करना सभी कर्मों, इच्छा और हेतुओं का त्याग करना है, और हम उसके अंग है, ऐसा अनुभव करना है। ऐसा व्यक्ति पुनः कभी बन्धन के पंजे मे नहीं पड़ता और ईश्वर के भक्तिपूर्वक ध्यान के नित्य सुख में रहता है। मुक्तावस्था मे भक्त अपने को भगवान् से एकरूप अनुभव करता है और वह उसकी शक्ति के अंश रूप में वास करता है (तत्तादात्म्यानुभवपूर्वक-विश्वरूपे भगवति तच्छक्त्यात्मनावस्थानम्)।[1] इस प्रकार, मुक्तावस्था में भी, भगवान् और मुक्त जीवो मे भेद रहता है, यद्यपि वे इस अवस्था मे आनन्द से परिपूर्ण रहते है। भगवान् के सच्चे स्वरूप का अनुभव होने पर एवं हमारा उसके साथ सम्बन्ध होने पर तीनो प्रकार के कर्म (संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध) नष्ट हो जाते हैं।[2] इस प्रणाली मे अविद्या का अर्थ अपने स्वरूप का, एवं भगवान् के साथ सम्बन्ध का अज्ञान माना गया है जो कर्म तथा देह, इन्द्रियों और सूक्ष्म भूतो के साथ सम्बन्ध का कारण है।[3] प्रारब्ध कर्म या जो कर्म फलीभूत हो रहे हैं, वे आवश्यकतानुसार, इस जन्म या दूसरे जन्म में बने रह सकते हैं क्योंकि जहाँ तक वे युक्त नहीं होते वहाँ तक विदेह-मुक्ति नहीं होती।[4] सन्त की अवस्था भगवान् के स्वरूप में भक्तियुक्त निरन्तर तथा ध्रुव स्मृति में रही है (ध्यान परिपाकेन ध्रुव-स्मृति पर भक्त्याख्य-ज्ञानाधिगमे) ऐसा सन्त, सभी किए हुए, संचित एवं उत्तरकाल में होने वाले अच्छे और बुरे कर्मों के दूषित प्रभाव से

---

[1] परपक्षगिरि वज्र, पृ० ५६१।

[2] वही, पृ० ५६८।

[3] वही।

[4] विदूषो विद्यामाहात्म्यात् संचित् क्रियमाणयोरलेश विनाशौ, प्रारब्धस्य तु कर्मणो भोगेन विनाशः, तत्र प्रारब्धस्य एतच्छरीरेण इतर शरीरे वा भुक्त्वा विनाशान्मोक्ष। इति संक्षेपः।

—वही, पृ० ५८३।

मुक्त हो जाता है। (तत्र उत्तर-भाविन: क्रियमाणस्य पापस्य अश्लेष: तत्प्राग्भूतस्य संचितस्य तस्य नाश:। 'वेदान्त कौस्तुभ प्रभा' ४-१-१३)। वर्ण एवं आश्रम धर्म, ज्ञान के उदय में लाभप्रद हैं इसलिए, उन्हें ज्ञान आने पर भी करते रहना चाहिए, क्योंकि इस दीप की ज्योति हमेशा जलती रखना चाहिए (तस्मात् विद्योदयाय स्वाश्रम-कर्माग्निहोत्रादि-कृतं ग्रहस्थेन, तपो जपादीनि कर्माणि ऊर्ध्व-रेतोभिरनुष्ठेयानि इति सिद्धम्) कर्मों का संचय जो मुक्त होने लगा है उसे मुक्त होकर रहना चाहिए ऐसे कर्मों के फल, सन्त को एक या अनेक जन्म में भोगने पड़ते हैं। ब्रह्म-प्राप्ति ईश्वर की ध्रुव स्मृति में और उसमें अंश रूप से वास करने मे है, जो ईश्वर में निरन्तर भक्ति-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के बराबर है। यह स्थिति भगवान् की सत्ता रूप से एक रस होने से और उसमें मिल जाने से स्वतन्त्र या पृथक् है जो स्थिति प्रारब्ध कर्म के अंत योनि-शरीर में सम्पूर्ण भोग से या आने वाले जन्म में मुक्त होकर, नाश होने पर, प्राप्ति होती है। सन्त, प्रारब्ध क्षय होने पर, सूक्ष्म शरीर में स्थित सुषुम्ना नाडी से, अपना स्थूल शरीर छोड़ता है और प्राकृत मण्डल का अतिक्रमण कर सीमान्त देश पर विराज नदी पर पहुँचता है जो भौतिक जगत् और विष्णु लोक के बीच है।[1] यहाँ वह अपना सूक्ष्म शरीर परमेश्वर में छोड देता है और भगवान् के सर्वातिशायी स्वरूप में प्रवेश करता है (वेदान्त कौस्तुभ प्रभा ४-२-१५)। मुक्त जीव इस प्रकार भगवान् में उसकी निदिष्ट शक्ति के रूप में रहते हैं, जिन्हें वह अपने हेतु फिर भी उपयोग कर सकते हैं। ऐसे मुक्त पुरुष सांसारिक जीवन जीने के लिए कभी नहीं भेजे जाते। यद्यपि मुक्त पुरुष भगवान् से एक हो जाते है फिर भी उनका जगत् के व्यवहार पर कोई अधिकार नहीं होता जो सर्वथा भगवान् द्वारा ही नियंत्रित होता है।[2]

यद्यपि हम ईश्वर के सकल्प से स्वप्न अनुभव करते हैं और यद्यपि वह नियन्ता बना रहता है और वह हमारे अनुभवो की सभी अवस्थाओ में वास करता है, तो भी वह हमारे सासारिक जीवन के अनुभवो से दूषित नही होता। (वेदान्त कौस्तुभ और उसकी टीका प्रभा ३-२-११)। हमारे अनुभव के विषय स्वयं सुख-दु:खात्मक नही होते किन्तु ईश्वर उन्हे, हमारे पाप और पुण्य के फल स्वरूप ऐसा बना देते हैं। ये विषय अपने में उदासीन पदार्थ हैं न सुखात्मक हैं, न दु:खात्मक (वेदान्त कौस्तुभ

---

[1] पर लोक गमने देहादुत्सर्पण-समये एव विदुष: पुण्य पापे निरवशेष क्षीयते···विद्या हिस्व-सामर्थ्यादेव स्वफल-भूत-ब्रह्म-प्राप्ति-प्रतिपादनाय एनं देवयानेन पथा गमयितुं सूक्ष्म शरीरं स्थापयति।

—वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, ३-३-२७।

[2] मुक्तस्य तु पर ब्रह्म-साधर्म्येऽपि निखिल-चेतना-चेतनपतित्वतन्नियंतृत्व-तद्विधारकत्व-सर्वगतत्वाद्यसम्भवात् जगद्-व्यापार-वर्जम् ऐश्वर्यम्। वही, ४-४-२०।

प्रभा ३-२-१२) । ईश्वर और जगत् का सम्बन्ध सर्प और उसकी कुण्डली जैसा है। सर्प की कुण्डलावस्था उससे भिन्न है और न अभिन्न है । इस प्रकार ईश्वर और जीव का सम्बन्ध दीप और प्रभा जैसा भी है (प्रभा तद्वतोरिव) या सूर्य और उसके प्रकाश जैसा है। ईश्वर अपने में अपरिणामी रहता है और केवल अपनी शक्ति से ही चित् अचित् शक्ति के रूप में परिणत होता है।[1] जिस प्रकार जीव ब्रह्म से पृथक् सत्ता नहीं रख सकते उसी प्रकार स्थूल जगत् भी उससे भिन्न सत्ता नहीं रख सकता। जगत् इसी रूप से ईश्वर का अंश है और उसे इसी अर्थ में उससे एक माना है। क्योंकि जगत् का धर्म ईश्वर के स्वरूप से भिन्न है इसलिए वह ईश्वर से भिन्न माना गया है।[2]

वेदोक्त वर्णाश्रम धर्म विविदिषा उत्पन्न करने के लिए करना चाहिए, किन्तु एक बार सच्चा ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर फिर उक्त धर्म-पालन आवश्यक नहीं है। (वही ३-४-६)। ज्ञानी पुरुष अपने किए कर्मों से प्रभावित नहीं होता। किन्तु यद्यपि धर्म-पालन करना विद्या प्राप्त करने में सहायक है, किन्तु अनिवार्य नहीं है, और ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो वर्णाश्रम धर्म पालन किए बिना भी विद्या प्राप्त करते हैं।

माधव मुकुन्द का अद्वैतवादियों के साथ विवाद

(क) अद्वैत वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त एवं चरम साध्य अमान्य है

माधव मुकुन्द, जो बंगाल में अरुणघटी नामक गाँव के निवासी माने जाते हैं, उन्होंने 'पर पक्ष गिरि वज्र' या 'हार्द संचय' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें उन्होंने शंकर और उनके अनुयायियों द्वारा वेदान्त के अद्वैतवादी निरूपण की निरर्थकता बताने का अनेक प्रकार से प्रयत्न किया है।

वे कहते हैं कि शंकर-मतवादी जीव ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादन करने में रत हैं और यही उनके सभी विवादों का मुख्य विषय रहा है। यह (ऐक्य) तादात्म्य भ्रम-पूर्ण या विपरीत हो सकता है। प्रथम विकल्प के अनुसार, द्वैतवाद या अनेकत्ववाद सत्य होगा, और दूसरे विकल्प के अनुसार, अर्थात् तादात्म्य सत्य है तो, तादात्म्य में

---

[1] अनन्त-गुण-शक्तिमतो ब्रह्मणः परिणामि स्वभावाचिच्छक्तेः स्थूलावस्थायां सत्यां तदनन्तरात्मत्वेन तत्रावस्थानेऽपि परिणामस्य शक्तिगतत्वात् स्वरूपे परिणामाभावात् कुण्डल दृष्टान्तो न दोषावहः अपृथक् सिद्धत्वेन अभेदेऽपि भेद-ज्ञापनार्थः ।

—वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, ३-२-२६ ।

[2] जीववत् पृथक्-स्थित्यनर्ह-विशेषणत्वेन अचिद्वस्तुनो ब्रह्मांशत्वं विशिष्ट-वस्त्वेक-देशत्वेन अभेद-व्यवहारो मुख्यः विशेषण-विशेष्ययोः स्वरूप-स्वभाव-अभेदेन च भेद-व्यवहारो मुख्यः ।

—वही, ३-२-३० ।

पूर्व-कल्पित द्वैत भी सत्य होगा।[1] शंकर-मतवादी तादात्म्य के एक ही पहलू में रुचि नहीं रखते किन्तु ब्रह्म जीव के ऐक्य सिद्ध करने में भी रुचि रखते हैं। तादात्म्य की सिद्धि आवश्यक रूप से द्वैत के अभाव की सत्ता अनुमित करती है। यदि ऐसा अभाव मिथ्या है तो तादात्म्य भी मिथ्या होगा, क्योंकि तादात्म्य की सत्ता अभाव की सत्ता पर अवलम्बित है। यदि द्वैत का अभाव सत् है तो द्वैत भी किसी अर्थ में सत् होगा और तादात्म्य केवल कुछ विशेष पहलू में ही अभाव की सत्ता अनुमित कर सकता है।

शंकर-मतवादी द्वारा, द्वैत या भेद को पदार्थ के रूप में स्वीकृति के विरुद्ध, ये आक्षेप हैं, पहला, भेद एक सम्बन्ध होने से दो पदार्थों का सन्निवेश करता है और इसलिए अपने अधिष्ठान से एक रूप नहीं हो सकता जिसमें कि वह रहता है। (भेदस्य नाधिकरण-स्वरूपत्वम्)। दूसरा यदि भेद अधिकरण से भिन्न स्वरूप है तो हमें दूसरी कोटि का भेद लाना पड़ेगा और वह दूसरे को लाएगा, इस प्रकार अनवस्था-स्थिति उत्पन्न होगी। पहले आक्षेप का उत्तर यह है कि भेद का इस या उस अधिकरण की दृष्टि से सम्बन्ध नहीं है, किन्तु अधिकरण के प्रत्यय-मात्र की दृष्टि से है (भूतलत्वादिना निरपेक्षत्वेऽपि अधिकरणात्मकत्वेन सापेक्षत्वे क्षतेरभावात्)।[2] भेद का भेद लाने की अनवस्था-स्थिति का आक्षेप, अप्रमाण है, क्योंकि सभी भेद अपने अधिकरण में एकरूप है। इसलिए भेद की परम्परा में प्रत्येक में भेद का स्वरूप निर्दिष्ट हो जाता है और अनवस्था-स्थिति का अन्त हो जाता है। 'भूतल पर घड़ा है' इस उदाहरण में, घट के भेद का स्वरूप घटत्व है, जबकि भेद के भेद में, दूसरी कोटि के भेद में, विशिष्ट प्रकार का निर्दिष्ट भिन्नत्व है। इसके अतिरिक्त, जबकि भेद पदार्थ के विशिष्ट प्रकार को प्रकट करता है, उसमें ये कठिनाईयाँ उत्पन्न नहीं हो सकती। भेद जब देखा जाता है तब हम, भेद को, वह जिन दो वस्तुओं के बीच रहता है उनसे उसे एक भिन्न पदार्थ के रूप में नहीं देखते।[3] हम जीव ब्रह्म के ऐक्य में भी अन्योन्याश्रय का दोष देख सकते है क्योंकि यह जीव के ब्रह्म से तादात्म्य पर आश्रित है।

इस विषय का और परीक्षण किया जाय तो पता चलता है कि भेद उत्पन्न होते हैं इसी कारण इस पर कोई भी आक्षेप नहीं लग सकता, क्योंकि वे केवल होते हैं

---

[1] द्वितिय ऐक्य-प्रतियोगिक-भेदस्य पारमार्थिकत्व-प्रसगात्।
—पर पक्ष गिरि वज्र, पृ० १२।

[2] परपक्षगिरिवज्र, पृ० १४।

[3] नाप्यन्योन्याश्रयः भेद-प्रत्यक्षे प्रतियोगितावच्छेदक-स्तंभत्वादि-प्रकार-ज्ञानस्यैव हेतुत्वात् न तावद् भेद-प्रत्यक्षे भेदाश्रयाद् भिन्नत्वेन प्रतियोगि-ज्ञानं हेतुः।
—परपक्षगिरिवज्र, पृ० १४, १५।

उत्पन्न नहीं किए जाते या वे जाने जा सकते हैं इस कारण भी उस पर आक्षेप नहीं लग सकते, क्योंकि यदि वे कभी नही दीखते तो शकर के अनुयायी तथाकथित भ्रम या भेद के दूषित प्रत्यक्ष को दूर करने के लिए इतने आतुर न होते, या यह सिद्ध करने में अपनी शक्ति न व्यय करते कि ब्रह्म सभी भौतिक इत्यादि मिथ्या पदार्थ से भिन्न है : और सन्त भी नित्य और अनित्य का भेद नही कर सकेगे। पुनः, यह माना है कि ऐसा भी ज्ञान है जो भेद के विचार को बाधित करता है। किन्तु यदि इस ज्ञान में भेद स्वय का समावेश होता है तो वह बाध नही कर सकता। जो भी कुछ किसी अर्थ को लक्षित करता है वह अर्थ को उससे प्रतिबधित करके ही ऐसा करता है और ऐसे सभी प्रतिबधो मे भेद का समावेश होता ही है। ज्ञान जो भेद के मिथ्यात्व को सिद्ध करता है (अर्थात्, वह भेद नही है, या यहाँ भेद नही है इत्यादि) वह भी भेद की सत्ता सिद्ध करता है। इसके अतिरिक्त यहाँ प्रश्न खडा किया जा सकता है कि जो विचार भेद को बाधित करता है वह स्वयं भिन्नत्व से भिन्न है ऐसा ज्ञात होता है या नहीं। पहले प्रसग में विचार की प्रमाणता भेद को दूषित नहीं करती, और दूसरे प्रसग में, अर्थात् यदि वह भिन्नत्व से भिन्न है ऐसा ज्ञात नही होता—वह उससे अभिन्न हो जाता है और उसे बाधित नही कर सकता।

यदि ऐसा विवाद किया जाता है कि उपरोक्त प्रक्रिया में भेद को पदार्थ के रूप मे केवल परोक्ष रूप से ही प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है और भेद के प्रत्यय के स्पष्टीकरण में कुछ साक्षात् नही कहा गया है तो उत्तर यह है कि जिन्होने एकत्व के प्रत्यय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है वे अधिक सफल नही हुए हैं। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि यदि आत्यतिक रूप मे एकत्व या तादात्म्य को अन्त मे नहीं स्वीकारा जाता तो वह शून्यवाद को लायगा, तो उतने ही बलपूर्वक यह भी आग्रह-पूर्वक किया जा सकता है कि भेद, पदार्थ का प्रकार होने से, भेद का निषेध, पदार्थ का निषेध होगा और यह भी शून्यवाद को लाएगा। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि भेद, भिन्न होने वाले पदार्थ का प्रकार मात्र ही है, तो भी जिन धर्मों के कारण भेद ज्ञात होता है (मेज कुर्सी से भिन्न है, यहाँ मेज का भिन्नत्व उसका प्रकार ही है, यद्यपि वह कुर्सी के भिन्नत्व के कारण ही समझ मे आता है) जिनमे भेद प्रकार के रूप मे रहता है उन पदार्थों का घटक नही है। शकर-अनुयायी द्वैत के खडन में इस तरह मानते हैं कि मानोकि ऐसा खडन ही अद्वैत का प्रतिपादन है। एकत्व का विचार इस प्रकार, एक तरफ यद्यपि ऐसे खण्डन पर आश्रित है, फिर भी दूसरी तरफ, उससे अभिन्न है क्योंकि ऐसे सभी खण्डन काल्पनिक माने गए हैं। इसी प्रकार यह आग्रह किया जा सकता है कि भेद की सिद्धि दूसरे पदार्थों के साथ सम्बन्ध को समावेश करती है, किन्तु तो भी वह जिस पदार्थ का प्रकार है उससे स्वरूपतः अभिन्न है, दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध समझने के हेतु से ही आवश्यक है।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जबकि भेद, पदार्थ का प्रकार मात्र ही है इसलिए पदार्थ के ज्ञान का अर्थ आवश्यक रूप से, उसमें विद्यमान सभी भिन्नताओं का ज्ञान है। एक पदार्थ विशेष प्रकार से जाना जा सकता है तो भी वह भेद रूप से अज्ञात भी रह सकता है, ठीक जिस प्रकार अद्वैतवादी यह मानते हैं कि शुद्ध चैतन्य सर्वदा प्रकाशित रहता है किन्तु तो भी वह सभी वस्तुओं के एकत्व के रूप में अज्ञात रहता है। दो पदार्थों के बीच के भेद को समझाने के लिए, अनवस्था दोष लाने जैसी तार्किक प्राथमिकता आवश्यक नहीं है। किन्तु दोनों एक ही चेतना के विषय होते हैं और एक का ज्ञान दूसरे से भिन्नत्व के रूप में प्रतीत होता है। इसी प्रकार की पृथकता, अद्वैतवादियों को भी जीव और ब्रह्म की एकता के ज्ञान को समझाने के लिए बतानी चाहिए, नहीं तो, उनके लिए भी अनवस्था के दोष का अभियोग खड़ा हो सकता था। क्योंकि जब कोई कहता है, 'ये दो भिन्न हैं' उनका द्वैत और भेद उनके भेद के ज्ञान पर आश्रित है, जो विद्यमान रहता हुआ, उनमें तादात्म्य स्थापित करने से रोकता है। यदि ऐसा माना जाता है कि द्वैत काल्पनिक है, और एकत्व सत्य है तो ये दो भिन्न कोटि की सत्ता वाले होने के कारण एक का व्याघात दूसरे की स्वीकृति की ओर अनिवार्यतः नहीं ले जाता। यह याचना करना कि तादात्म्य-ज्ञान में दो सापेक्ष पदार्थों का सम्बन्ध आवश्यक नहीं है यह व्यर्थ है, क्योंकि तादात्म्य दो वस्तुओं का निषेध करने पर ही ज्ञात होता है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से, शंकर-मतवादियों का मुख्य सिद्धान्त की सभी वस्तु ब्रह्म से अभिन्न है, असिद्ध होता है।

निम्बार्क के अनुसार मुक्ति का ध्येय ईश्वर के भाव को आपन्न करना है (तद्-भावापत्ति)। यही जीवन का अन्तिम उद्देश्य और प्रयोजन है। शंकर के अनुसार, मुक्ति जीव की ब्रह्म से अन्तिम एकता या तादात्म्य में है। ब्रह्म वास्तव में जीव से एक है और हमारे व्यावहारिक जीवन में दीखने वाला भेद अज्ञान या मिथ्या अनुभव से है, जो हम पर द्वैत का मिथ्या विचार आरोपित करता है। माधव मुकुन्द आग्रह करते हैं कि ऐसे मत के अनुसार, जबकि जीव और ब्रह्म एक ही हैं, तो फिर उनके लिए प्राप्त करने को कुछ नहीं रहता। इस प्रकार यहाँ सचमुच उद्देश्य प्राप्ति के प्रयत्न का कोई प्रयोजन नहीं है। माधव मुकुन्द, शंकर के मत की निष्फलता दिखाने के लिए कहते हैं कि यदि चरम चैतन्य एक माना जाता है तो वह अनेक जीवों के अनुभव से चित्रित रहेगा। वह भिन्न उपाधियों के कारण भिन्न दिखाई देता है ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि हम अपने अनुभव में यह पाते है कि यद्यपि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हमें भिन्न अनुभव होते हैं तो भी वे एक ही व्यक्ति के अनुभव हैं ऐसा स्पष्ट अनुभव भी होता है। उपाधियों की भिन्नता होने के कारण वे भिन्न जीवों के अनुभव की इकाईयाँ होने चाहिए यह निष्कर्ष नहीं निकलता जैसाकि शंकर मतवादी मानते हैं।

शुद्ध निर्विशेष चैतन्य को अनेक अन्तःकरण से तादात्म्य किया जा सकता है यह भी नहीं माना जा सकता। पुनः शंकर-मतवादी यह मानते हैं कि गाढ़ निद्रा में (अन्तःकरण) चित्त का लय होता है। यदि ऐसा होता है और यदि शुद्ध निर्विशेष चैतन्य अन्तःकरण के अध्यास से अपने को व्यक्त कर सकता है, तो स्मृति के रूप में चैतन्य की निरन्तरता स्पष्ट नहीं की जा सकती। यह तर्क नहीं किया जा सकता कि ऐसी निरन्तरता, गाढ निद्रा में अन्तःकरण के संस्कार युक्त रहने से बनी रहती है (संस्कारात्मनावस्थितस्य), क्योंकि संस्कारावस्थित अन्तःकरण मे स्मृति नहीं रह सकती, क्योंकि ऐसे प्रसग में गाढ निद्रा मे भी स्मृति का होना सिद्ध होगा।

आगे, यदि अनुभव अज्ञानावस्था में होते हैं, तो मुक्ति जिसका शुद्ध चैतन्य से ही सम्बन्ध है वह, जो बन्धन मे था उस वस्तु से किसी अन्य को लक्ष्य करेगी। दूसरी ओर अनुभव शुद्ध चैतन्य के हैं, तो मुक्ति, एक साथ भिन्न अनुभव के अनुसार, नानाविध विरोधी अनुभवों से सम्बन्धित नहीं हो जायगी।

शंकर मतवादी आग्रह कर सकते हैं कि उपाधियाँ जो अनुभव उत्पन्न करती हैं, शुद्ध चैतन्य से सम्बन्धित होती हैं, और इसलिए, परोक्ष रूप से, अनुभव कर्ता और मुक्ति पाने वाले के बीच निरन्तरता है। इस पर उत्तर यह है कि शोक का अनुभव, उपाधियों का पर्याप्त वर्णन है। जब ऐसा है, तो जहाँ शोक का अनुभव नहीं है वहाँ उपाधियाँ, जिनका पर्याप्त वर्णन है, वे भी नहीं हैं। इस प्रकार, जो बन्धन का दुःख पाता है और वह जो मुक्ति पाता है उनमें अलगाव बना रहता है।

पुनः, जबकि यह माना गया है कि उपाधि शुद्ध चैतन्य के अन्तर्गत है, तो यह भली प्रकार पूछा जा सकता है कि मुक्ति में एक उपाधि का लय होता है या अनेक का। पहले प्रसग मे मुक्ति हमेशा रहेगी, क्योंकि कोई न कोई उपाधि प्रत्येक क्षण लय होती ही रहती है और दूसरे प्रसंग मे मुक्ति होगी ही नहीं, क्योंकि असख्य जीवों के अनुभवों को निश्चित करने वाली सभी उपाधियाँ कभी भी लय नहीं हो सकती।

यह भी पूछा जा सकता है कि उपाधि शुद्ध चैतन्य से अंश रूप से या पूर्ण रूप से सम्बन्धित है। पहले विकल्प में, अनवस्था-दोष होगा, और दूसरे में, शुद्ध चैतन्य का अनेक इकाई मे विभाजन हो जाना अस्वीकार्य होगा।

इसके अतिरिक्त, यह पूछा जा सकता है कि उपाधियाँ शुद्ध चैतन्य से निरपेक्ष या सापेक्ष रूप से सम्बन्धित हैं। पहले विकल्प में अनवस्था दोष आयगा और दूसरे से, मुक्ति असम्भव हो जायगी। बिम्बवाद भी इस परिस्थिति का स्पष्टीकरण नहीं कर सकता, क्योंकि प्रतिबिम्ब तभी स्वीकार हो सकता है जबकि प्रतिबिम्बित प्रतिमा, पदार्थ की ही कोटि की हो। अविद्या ब्रह्म से दूसरी कोटि की सत्ता की वस्तु है,

इसलिए अविद्या में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब न्याययुक्त नहीं है। पुनः, बिम्ब के प्रसंग में जो प्रतिबिम्बित होता है और जिसमें बिम्ब पड़ता है, दोनों भिन्न स्थान पर होने चाहिए, जबकि अविद्या और ब्रह्म के प्रसग में, ब्रह्म, अविद्या का अधिष्ठान है। उपाधि ब्रह्म के एक भाग में नहीं रह सकती और न वह उसके पूर्ण भाग में ही रह सकती है, क्योंकि ऐसी अवस्था में प्रतिबिम्ब असम्भव हो जायगा।

निम्बार्क की प्रणाली में, द्वैतवाद एव अद्वैतवादी श्रुति-पाठों को पूर्ण स्थान है, द्वैतवादी पाठ जीव और ब्रह्म के भेद को सिद्ध करते हैं और अद्वैतवादी पाठ अन्तिम उद्देश्य की ओर सूचन करते हैं जिसमें जीव ब्रह्म का अश है और एक है ऐसा अनुभव करते हैं, किन्तु शकर की प्रणाली में, जहा द्वैतवाद स्वीकार नहीं किया गया है, गुरु-शिष्य उपदेश को स्थान नहीं है क्योंकि ये सब अज्ञान के अध्यास है।

(ख) शंकर के मायावाद के विभिन्न पहलुओं का खण्डन

शकर के मायावाद मे यह मान्यता निहित है कि भ्रम के अधिष्ठान का अपूर्ण या खण्ड ज्ञान होना है। भ्रम मे अज्ञात भाग पर विशिष्ट भागो का अध्यास होता है। वृक्ष का ठूंठअश रूप से एक लम्बी वस्तु सा दिखाई देता है किन्तु ठूंठ के रूप में उसका अन्य भाग इन्द्रिय का विषय नहीं होता है इसी भाग के सम्बन्ध में ही भ्रम का आरोपण अर्थात् मनुष्य का आरोपण सभव होता है जिसके कारण लम्बा भाग मनुष्य के रूप मे दीखता है। किन्तु ब्रह्म अखड है और उसमें विभागो की कल्पना ही नही की जा सकती। इसलिए ब्रह्म का पूर्ण रूप से ही ज्ञान होना चाहिए वहाँ भ्रम का कोई स्थान नहीं रहता। पुन भ्रामक आभास का अर्थ है कि भ्रम का अध्यास किसी पदार्थ पर किया जाना चाहिए। किन्तु, अविद्या जो अनादि होने से वह स्वयं भ्रम है ऐसा नही माना जा सकता। अनादित्व के दृष्टान्त का सहारा लेकर ब्रह्म को भी आभास माना जा सकता है। ब्रह्म अधिष्ठान होने के कारण मिथ्या नही हो सकता, यह उत्तर निरर्थक है, क्योंकि यद्यपि अधिष्ठान भ्रम का मूल है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि अधिष्ठान सत्य होना चाहिए। अधिष्ठान की स्वतन्त्र सत्ता है क्योंकि वही अज्ञान से सम्बन्धित है जो भ्रम का आधार बन सकता है, ऐसा आक्षेप व्यर्थ है, क्योंकि परम्परागत क्रम में जहाँ प्रत्येक अवस्था अविद्या से सम्बन्धित है वहाँ अधिष्ठान भी असत् हो सकता है। ऐसे मत के अनुसार, शुद्ध ब्रह्म अधिष्ठान नही बन सकता किन्तु भ्रम-युक्त ब्रह्म अज्ञान से सम्बन्धित रहता है। इसके अतिरिक्त, यदि अविद्या और उसके प्रकार सर्वथा असत् है, तो उन पर आरोपण नहीं हो सकता। जो सचमुच अस्तित्व रखता है उसका कहीं अध्यारोपण हो सकता है, किन्तु जो है ही नहीं उसका अध्यारोपण किस प्रकार हो सकता है। शश-विषाण जैसी तुच्छ वस्तु कभी भी अध्यास का आधार नहीं बन सकती, क्योंकि जो नितान्त असत् है, वह दीख भी नहीं सकता।

पुनः, भ्रम संस्कार-व्यापार के कारण होता माना गया है, किन्तु अनादि विश्व-प्रपंच में संस्कार भी अनादि और अधिष्ठान के साथ अस्तित्व रखने वाले माने जाएँगे, इसलिए वे सत् होंगे। संस्कार भ्रम से पूर्व अस्तित्व रखने वाले होने चाहिए और इसलिए वे मिथ्या नहीं हो सकते और यदि ये मिथ्या नहीं है तो वे सत् है। पुनः संस्कार ब्रह्म मे नही रह सकते, क्योंकि फिर वह निर्गुण और शुद्ध नहीं रह सकता, वे जीव में भी नहीं रह सकते क्योंकि वे भ्रम से ही उत्पन्न होते हैं, जो (भ्रम) फिर संस्कार-व्यापार से उत्पन्न होते हैं। आगे, सादृश्य का भ्रम में महान् योग है किन्तु ब्रह्म जो अधिष्ठान है और शुद्ध एवं निर्गुण है वह किसी के सदृश नहीं है। ब्रह्म के ऊपर किसी कल्पित समानता का आरोपण करना भी असम्भव है, क्योंकि ऐसे कल्पित अध्यास के पूर्व काल में भ्रम का होना आवश्यक है। पुनः, सभी भ्रम का आरम्भ होता है, जबकि जो पदार्थ मिथ्या नहीं हैं, जैसेकि जीव, वे अनादि काल से पाए जाते हैं। अहंकार भ्रम का अधिष्ठान बनता है यह भी मानना गलत है क्योंकि वह स्वयं भ्रम का कार्य है।

इसके अतिरिक्त यह मान्यता, जगदाभास विश्व भ्रम है जो शुद्ध चैतन्य से आध्यासिक सम्बन्ध से युक्त है, यह अप्रमाण है। किन्तु शंकर-मतवादी यह स्वीकारते है कि बाह्य जगत् और ज्ञाता के बीच सम्बन्ध चित्तवृत्ति द्वारा होता है। इसके अतिरिक्त, यदि शुद्ध चैतन्य प्रभा है तो वह इसी कारण मिथ्या ज्ञान का आधार नहीं बन सकता। यदि शुद्ध चैतन्य मिथ्या ज्ञान है, तो स्पष्ट ही मिथ्या ज्ञान का आधार नहीं हो सकता। कुछ ज्ञात सम्बन्ध, जैसेकि संयोग और समवाय, ज्ञेय और ज्ञान के बीच नहीं पाए जाते केवल इसी तथ्य से यह सिद्ध नहीं होता कि उनका सम्बन्ध मिथ्या होना चाहिए, क्योंकि उनके बीच अन्य प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं। ज्ञान और ज्ञेय का एक विशिष्ट प्रकार का सम्बन्ध माना जा सकता है। यह भी सोचना गलत है कि सभी सम्बन्ध मिथ्या है वे मिथ्या विश्व के घटक हैं विश्व मिथ्या इसलिए माना जाता है क्योंकि सम्बन्ध मिथ्या है और इस प्रकार अनवस्था-दोष उत्पन्न होगा। पुनः, यदि सम्बन्ध दो वस्तुओं को जोड़ने वाला माना जाता है तो संबध को सम्बन्धित पदार्थ से जोड़ने के लिए दूसरे सम्बन्ध की आवश्यकता होगी और अनवस्था दोष उत्पन्न होगा, यह आक्षेप व्यर्थ है। यही आक्षेप मिथ्या सम्बन्ध के बारे में भी दिया जा सकता है। यदि ऐसा माना जाता है कि क्योंकि सभी सम्बन्ध मिथ्या हैं इसलिए उपरोक्त खण्डन उपयुक्त नहीं है, तो यह बताया जा सकता है कि यदि सम्बन्ध का क्रम उलटा कर दिया जाय तो घट माया कार्य होने के बजाय माया घट का कार्य होगा। इस प्रकार, शंकर-मतवादियों को ही नहीं किन्तु बौद्धों को भी सम्बन्ध का नियमित क्रम मानना पड़ता है। निम्बार्क-मत मे, सभी सम्बन्धों को सत् माना है, क्योंकि वे भगवान् की शक्ति की अभिव्यक्ति के भिन्न प्रकार है। सम्बन्ध को अस्वीकार भी किया जाय तो भी ब्रह्म के स्वरूप का यथातथ्य वर्णन नहीं किया जा सकता।

(ग) शंकर-मतवादियों के अज्ञान मत का खण्डन

अज्ञान को अनादि भाव रूप पदार्थ माना है जो ज्ञान द्वारा निवृत्त होता है (अनादि-भावत्वे सति ज्ञान-निवर्त्यत्वम्)। यह परिभाषा व्यर्थ है क्योंकि यह प्रत्यक्ष होने से पहले साधारण पदार्थ को आवृत करने वाले अज्ञान के लिए उपयुक्त नहीं होती। अज्ञान, वस्तु के अभाव के लिए भी उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि वह भाव रूप है। जिन सन्तों ने ब्रह्म-प्राप्ति की है उनमें वह ब्रह्म प्राप्ति होने पर भी वर्तता है इसलिए अज्ञान, ज्ञान द्वारा नष्ट होता है यह मिथ्या सिद्ध होता है। स्फटिक में प्रतिबिम्ब के कारण लाल रंग का देखना, यह जानते हुए भी कि स्फटिक सफेद है और लाल रंग प्रतिबिम्ब के कारण है, बना रहता है। यहाँ भी अज्ञान ज्ञान से निवृत्त नहीं होता। यह भी सोचना गलत है कि अज्ञान, जो दोष-जनित है, उसे अनादि माना जाय। इसके अतिरिक्त, यह बताया जा सकता है कि अभाव को छोड़कर सभी पदार्थ जो अनादि हैं, वे भी आत्मा की तरह अनादि हैं और यह एक विचित्र मान्यता है कि अज्ञान एक ऐसी वस्तु है जो अनादि होने पर भी नाशवान् है। पुनः, अज्ञान को सत् और असत् दोनों से विलक्षण मानकर भी इसे भाव पदार्थ कहा गया है। यह कल्पना करना भी कठिन है कि जबकि निषेधात्मक पदार्थ अज्ञान के कार्य माने जाते हैं तब स्वयं अज्ञान को भाव पदार्थ माना जाय। इसके अतिरिक्त, मिथ्या या भ्रम जो ज्ञानाभाव-जनित है, उसे निषेधात्मक पदार्थ मानना पड़ेगा, किन्तु भ्रम होने से उसे अज्ञान का कार्य मानना पड़ेगा।

'मैं अज्ञ हूं' इस तथाकथित अनुभव में अज्ञान की सत्ता का कोई प्रमाण नहीं है। वह शुद्ध ब्रह्म नहीं हो सकता, क्योंकि तब वह अशुद्ध कहा जायगा। वह भाव रूप ज्ञान भी नहीं हो सकता, क्योंकि यही तो सिद्ध करने का विषय है। आगे यदि अज्ञान का प्रतिपादन करने के लिए हमें ज्ञान का सहारा लेना पड़ता है और यदि ज्ञान का प्रतिपादन करने के लिए अज्ञान का सहारा लेना पड़ता है तो यहाँ दुश्चक्र उपस्थित हो जाता है। वह अहं अर्थ भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं अज्ञान का कार्य है, इसलिए वह अज्ञान के अनुभव का अधिष्ठान नहीं बन सकता। अहं का अज्ञ रूप में अनुभव नहीं हो सकता, क्योंकि वहस्वयं अज्ञान का कार्य है। अहं को अज्ञान के समानार्थ कभी नहीं माना जाता, और इस प्रकार अज्ञान का भाव रूप से गुण या द्रव्य के रूप में अनुभव किया जाता है इसे सिद्ध करने का कोई साधन नहीं है। अज्ञान इस प्रकार ज्ञानाभाव से अन्य और कुछ नहीं है और शंकर-मतवादियों को इसे मानना चाहिए क्योंकि उन्हें 'मैं जो तुम कहते हो उसे नहीं समझता' इस अनुभव की प्रमाणता स्वीकार करनी पड़ती है, जो शंकर-मतवादियों द्वारा अन्य प्रसंग पर स्वीकारा गया है और जो ज्ञानाभाव से अन्य कुछ नहीं है। उपरोक्त उदाहरण, ज्ञानाभाव के ऐसे दृष्टान्तों से किसी भी प्रकार से भिन्न है, इसका कोई प्रमाण नहीं है। पुनः यदि

अज्ञान पदार्थ को आवृत करता माना जाता है, तो परोक्षवृत्ति के प्रसग में (शकर-मतानुसार वृत्ति अज्ञान आवरण को नही हटाती) हमे यह अनुभव होना चाहिए कि हम ही परोक्षवृत्ति के विषय से अज्ञ है क्योकि तब अज्ञान का आवरण बना रहता है।[1] इसके अतिरिक्त, माने हुए अज्ञान के सभी अनुभव, ज्ञानाभाव के ज्ञान के रूप में समझाए जा सकते है। उपरोक्त प्रकार से मुकुन्द माधव, अज्ञान के वादो की और मत के भिन्न पहलुओ की आलोचना करते है। किन्तु विवाद की पद्धति का जो इन तार्किक खण्डनो में उपयोग किया गया है उसका वेंकटनाथ एव व्यास तीर्थ ने उपयोग किया है उससे तत्वत. भिन्न न होने के कारण, हम मुकुन्द माधव के प्रतिपादन को विस्तार से देना आवश्यक नही समझते।

माधव मुकुन्द के अनुसार प्रमाण

निम्बार्क के अनुयायी आठ मे से केवल तीन प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द) ही मानते है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव अर्थात् छोटे का बड़े में समावेश होना, जैसे दस का सौ मे और इतिहास (ऐतिह्य) आठ प्रमाण है। प्रत्यक्ष दो प्रकार का है बाह्य और आभ्यन्तर। पाच ज्ञान इन्द्रियो के अनुसार बाह्य पांच प्रकार है। मानस प्रत्यक्ष आभ्यन्तर प्रत्यक्ष भी कहलाता है जो दो प्रकार का है, लौकिक और अलौकिक। सुख-दुःख का प्रत्यक्ष सामान्य लौकिक प्रत्यक्ष का उदाहरण है, जबकि आत्मा का स्वरूप, ईश्वर और उनके गुण पर आभ्यन्तर प्रत्यक्ष के उदाहरण है। पर आभ्यतर प्रत्यक्ष पुन दो प्रकार का है, एक जो वस्तु के ध्यान करने से प्रकाशित होता है, और दूसरा जो श्रुति वाक्यो पर ध्यान करने से होता है। श्रुति कहती है कि परम सत्य मन से अनुभव नही होता या इसका अर्थ या तो यह होता है कि परम सत्य मन से अनुभव नही होता इसका अर्थ या तो यह होता है कि परम सत्य अपनी समग्रता मे मन द्वारा प्रत्यक्ष नही है या गुरु द्वारा सिखाए बिना या योग्य सस्कार उत्पन्न हुए बिना, परम सत्ता का ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान, जीव का अनादि, नित्य सर्वव्यापी धर्म है। किन्तु हमारी बद्धावस्था में यह ढके हुए दीप की रश्मि की तरह सकुचित रूप मे है। जिस प्रकार घडे में छिपे हुए दीप की रश्मि छेद पार करके कमरे मे जा सकती है और कमरे के दरवाजे से बाहर जाकर किसी पदार्थ को प्रकाशित कर सकती है, उसी प्रकार ज्ञान भी प्रत्येक जीव मे चित्त वृत्ति द्वारा इन्द्रियो तक पहुँचकर, फिर उनकी वृत्ति द्वारा विषय तक पहुँचता है और उन्हें प्रकाशित करके ज्ञान और विषय दोनों को प्रकाशित करता है।

---

[1] परोक्षवृत्तेर्विषयावरका ज्ञान-निवर्तकत्वेन परोक्षतो ज्ञातेऽपि न जानामि त्वनुभवा-पाताच्च। —परपक्षगिरिवज्र, पृ० ७६।

अज्ञान, जो विषय के ज्ञान से नष्ट होता है वह सकुचित अवस्था का आंशिक अन्त है जो ज्ञान को प्रकाशित करता है। ज्ञान का अर्थ इस कथन में यह है कि ज्ञान विशिष्ट आकार लेकर उसे प्रकाशित करता है। विषय जैसे हैं वैसे ही रहते हैं किन्तु वे ज्ञान के संयोग से प्रकट होते हैं और उसके बिना अप्रकट रहते हैं। आभ्यान्तर प्रत्यक्ष के प्रसग मे इन्द्रियों के व्यापार की आवश्यकता नहीं रहती, इसलिए सुख और दुःख का मन को साक्षात् अनुभव होता है। आत्मचेतना और आत्म अनुभव में, आत्मा स्वय स्वप्रकाश्य होने से, आत्मा की दिशा मे जाने वाली वृत्तियाँ, सकुचित अवस्था को हटाती है और आत्मा के स्वरूप को प्रकट करती हैं। इस प्रकार ईश्वर का अनुभव उनकी कृपा से और चित्त की ध्यानावस्था द्वारा अवरोधो को हटाने से हो सकता है।[1]

अनुमान मे, पक्ष मे हेतु के, ज्ञान को, जिसकी साध्य से व्याप्ति है, जो दूसरे शब्दो मे परामर्श कहलाता है, (वह्नि व्याप्य-धूमवानयम् एव रूपः) अनुमान कहा है और इससे ज्ञान होता है (पर्वत में आग लगी है)। अनुमान दो प्रकार के हैं, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान दूसरे मे तीन ही अवयवो की (प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण)की आवश्यकता मानी है। तीन प्रकार के अनुमान केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी और अन्वय व्यतिरेकी माने जाते है। इन तीन प्रकार के अनुमानों से उत्पन्न व्याप्ति के अतिरिक्त, श्रुति को भी व्याप्ति का प्रकार माना है। इस प्रकार का श्रुति वाक्य है कि आत्मा, अविनाशी और अपने धर्म से कभी रहित नहीं होता (अविनाशी वारे आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा), इसे व्याप्ति माना है, जिससे ब्रह्म जैसे आत्मा का अविनाशीपन अनुमित किया जा सकता है।[2] निम्बार्क के अनुमान के विषय के अन्य कोई महत्व-पूर्ण अग नही है।

सादृश्यत का ज्ञान उपमान के पृथक् अनुमान से होता है ऐसा माना है। सादृश्यत का ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा या श्रुति द्वारा हो सकता है। एक पुरुष चद्र और मुख मे सादृश्यत देखे या वह श्रुति से आत्मा का ईश्वर के स्वरूप से सादृश्य और इस सादृश्यत से वह इसे समझ सकता है। इसे अनुमान के दृष्टान्तो मे समावेश किया जा सकता है। (उपमानस्य दृष्टान्त-मात्रेक विग्रहत्वेनानुमानावयवे उदाहरणे अन्तर्भावः। परपक्षगिरिवज्र, पृ० २५४)।

जिससे किसी के अभाव का ज्ञान होता है उसे अनुपलब्धि प्रमाण माना है। यह चार प्रकार की है, प्रागभाव, अन्योन्याभाव, ध्वसाभाव, और अत्यताभाव (कालत्रयेऽपि नास्तीति प्रतीति-विषयः अत्यता भावः)। किन्तु अभाव या अनुपलब्धि को एक पृथक् प्रमाण के रूप मे मानना आवश्यक नही है, क्योंकि निम्बार्क-मत के

---

[1] परपक्षगिरिवज्र, पृ० २०३-२०६।

[2] परपक्षगिरिवज्र, पृ० २१०।

अनुसार, अभाव या अनुपलब्धि को एक पृथक् प्रमाण नहीं माना गया है। अभाव का ज्ञान, पदार्थ के प्रतियोगी को, जिससे उसका संयोग नहीं है, प्रत्यक्ष अनुभव करने के सिवाय और कुछ नही है। घडे का प्रागभाव मृत्पिण्ड मात्र है, घड़े के विनाश का अभाव घडे के टुकडे हैं। अन्योन्याभाव वह पदार्थ है जो दूसरे से भिन्न अनुभव किया जाता है, और अत्यंताभाव अभाव का प्रतियोगी मात्र है। इस प्रकार अभाव प्रमाण को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। अर्थापत्ति को अनुमान का ही एक प्रकार कहा जा सकता है। सम्भव को आगमन का ही एक प्रमार माना जा सकता है।

निम्बार्क-सम्प्रदाय में, शकर मत के अनुसार ही स्वतः प्रामाण्यवाद माना गया है। दोष के न रहने पर प्रमा उत्पन्न करने वाली सामग्री विषय का जैसा है वैसा ज्ञान कराती है, इसे निम्बार्क-मत में स्वतस्त्व कहा है अर्थात् उपरोक्त स्वतः प्रामाण्यवाद की परिभाषा है। (दोषाभावस्वे यावत्स्वाश्रय-भूत-प्रमाग्राहक-सामग्रीमात्र-ग्राह्यत्वम्)।[1] जिस प्रकार नेत्र रगीन पदार्थ देखते समय उस पदार्थ के रूप और आकार को भी देखते हैं, इसलिए वे पदार्थ के ज्ञान के साथ उसकी प्रमाणता भी ग्रहण करते हैं।

भगवान् के स्वरूप का वर्णन तो, केवल श्रुति द्वारा ही हो सकता है क्योंकि श्रुतियो की शक्ति सीधे ईश्वर से ही उत्पन्न होती है। जीवों की शक्ति निस्सदेह ईश्वर से ही प्राप्त है, किन्तु वे ईश्वर का बोध नहीं करा सकतीं, क्योकि वे जीव के अपूर्ण मन से दूषित होती हैं। मीमासक यह सोचने मे गलती करते हैं कि वेद के सभी पाठो का अर्थ धार्मिक कर्मकाड है, क्योंकि सभी कर्मों का अन्तिम निष्कर्ष ब्रह्म-जिज्ञासा में पूर्ण होता है और इसके द्वारा मुक्ति की योग्यता उत्पन्न होती है। इस प्रकार इस दृष्टि से सभी कर्मों के पालन का उद्देश्य मुक्ति-प्राप्ति है।[2] जिसने ब्रह्म-प्राप्ति कर ली है, उसके लिए धर्म-पालन आवश्यक नही रहता, क्योकि सभी कर्मों का यही अन्तिम फल है और बुद्धिमान् पुरुष को कर्म करके और अन्य कुछ भी प्राप्त करना शेष नही रहता। जिस प्रकार भिन्न प्रकार के बीज बोए जाने भी पर यदि पानी न बरसे तो वे भिन्न प्रकार के वृक्ष उत्पन्न नही करेंगे, उसी प्रकार, कर्म अपने आप फल नही दे सकते। ईश्वर की कृपा से ही कर्म अपना निर्दिष्ट फल देते हैं। इसलिए नैमित्तिक कर्म चित्त-शुद्धि में सहायक हैं, उन्हे स्वतन्त्र रूप मे अन्तिम ध्येय नही माना जा सकता, जो जिज्ञासा उत्पन्न करने तथा ईश्वर से अन्तिम एकता प्राप्त करने का रहा है।

---

[1] परपक्षगिरिवज्र, पृ० २५३।

[2] वही, पृ० २७६-२८०।

रामानुज और भास्कर के मतों की आलोचना

रामानुज और उनके अनुयायियों का यह मानना है कि जीव और जड़ जगत् भगवान के गुण हैं। विशेषण का काम एक पदार्थ का उसके जैसे दूसरे पदार्थ से भेद करना है। इस प्रकार, जब कोई कहता है 'राम, दशरथ का पुत्र है' तब 'दशरथ पुत्र का बलराम और परशुराम से भेद स्पष्ट हो जाता है। किन्तु जीव और जड-जगत् को ब्रह्म का विशेषण कहने से कोई हेतु सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वे ब्रह्म को अपने जैसे अन्य पुरुषो से भेद नही करते, क्योंकि रामानुज मतवादी भी जीव, जड जगत् और दोनो के अन्तर्यामी ईश्वर के अतिरिक्त अन्य पदार्थ नही स्वीकारते। जब भेद करने के लिए कुछ नही है तब जीव और जड़ का प्रत्यय असाधारण धर्म के रूप में भी व्यर्थ हो जाता है। विशेषण का दूसरा कार्य, पदार्थ को ठीक तरह समझने में सहायता करना है। जीव और जड का ब्रह्म के गुण के रूप में ज्ञान, हमे ब्रह्म को और अच्छी तरह समझने में सहायक नही हैं।

पुनः, यदि ब्रह्म, जीव और जड से सम्बन्धित है, तो वह उनके दोषो से भी सम्बन्धित होना चाहिए। यह तर्क किया जा सकता है कि ब्रह्म जिसमें जीव और जड रहते है वह स्वय विशेषित है या नही। पहले विकल्प के अनुसार, रामानुज मतवादियो को शकर के अनुयायियो की तरह निर्गुण सत्ता को स्वीकारना पडता है और ब्रह्म में एक अश ऐसा भी मानना पडता है जिसका निर्गुण सत्ता के रूप मे अस्तित्व है। यदि ब्रह्म, अश रूप से सगुण और अश रूप से निर्गुण है तो वह अपने कुछ अशो मे ही सर्वज्ञ होगा। यदि शुद्ध असग ब्रह्म सर्वज्ञ माना जाता है तो एक ब्रह्म सर्वज्ञता और अन्य गुणो से सम्बन्धित होगा और दूसरा ब्रह्म जीव और जड से सम्बन्धित होगा और इस प्रकार अद्वैतवाद खण्डित हो जायगा। शुद्ध ब्रह्म जीव और जड के बाहर होने से, वे दोनो नियन्ता के बिना रहेगे और ब्रह्म से स्वतन्त्र होगे। इसके अतिरिक्त, इस मत के अनुसार ब्रह्म कुछ अश मे उत्तम एव शुद्ध गुणो से युक्त होगा और दूसरे अशो में भौतिक जगत् एव अपूर्ण जीवो के दूषित गुणों से युक्त होगा। दूसरे विकल्प के अनुसार, अर्थात्, जड और जीव विशिष्ट ब्रह्म ही परम सत्ता है तो यहाँ एक नहीं किन्तु दो भिन्न भिन्न तत्त्वो का समावेश होता है और ब्रह्म पहले की तरह दो विरुद्ध, शुद्ध और अशुद्ध गुणो से युक्त होगा। पुनः यदि ब्रह्म को संग्रथित इकाई माना जाता है और यदि जड और जीव, जो आपस में परिच्छिन्न और भिन्न है वे यद्यपि ब्रह्म से भिन्न होते हुए भी उसके अंग माने जाते हैं तो इस परिस्थिति में यह कैसे सोचा जा सकता है कि ये अग ब्रह्म से, अभिन्न होने पर भी भिन्न हो सकते हैं।[1]

---

[1] परपक्ष गिरि वज्र, पृ० ३४२।

निम्बार्क के मत में श्रीकृष्ण ही ईश्वर या परम ब्रह्म हैं वे जीव और जड़ जगत् को धारण करते हैं जो उसके अंग हैं और पूर्ण रूप से उससे नियंत्रित हैं। इसलिए उनकी परतंत्र सत्ता है। परतंत्र सत्ता दो प्रकार की होती है, जीव, जोकि जन्म-मरण में आते दीखते हैं अपनी प्रकृति में नित्य हैं और अनित्य, जड द्रव्य जिससे शरीर निर्माण होता है उसके अधिष्ठान हैं। श्रुति जिस द्वैत का वर्णन करती हैं वह यह द्वैत संबंध, परम द्रव्य ब्रह्म, जो केवल पूर्ण स्वतंत्र है तथा जीव और जड जिनकी परतंत्र सत्ता है, इनके बीच का है। श्रुति, जो द्वैत को अस्वीकार करती है, परम द्रव्य को लक्ष्य करती है जो स्वतंत्र है और सभी सत्ता का सामान्य आधार भी है। श्रुति ब्रह्म को 'नेति नेति' कहकर वर्णन करती है, वह यह सूचित करती है कि ब्रह्म किस प्रकार सभी वस्तुओं से भिन्न है, या दूसरे शब्दों में यों कहती है कि किस प्रकार ब्रह्म जड और जीव से भिन्न है जो भौतिक उपाधियों से मर्यादित है।[1] ब्रह्म इस प्रकार परम सत्ता है सभी उत्तम और श्रेष्ठ गुणों का आधार है और अन्य सभी परतंत्र वस्तुओं से भिन्न है। अद्वैतवादी ग्रन्थ उपरोक्त तथ्य को लक्ष्य करते हैं कि जड जगत् और असंख्य जीव तो परतंत्र हैं वे ब्रह्म से पृथक् सत्ता नहीं रख सकते और इसी अर्थ में वे इससे एक हैं। उनकी सत्ता ब्रह्मात्मभाव में है और उससे पूरी तरह से व्याप्त हैं (तद्व्याप्यत्व) और उसी से आधारित हैं और उसी में उनका वास है तथा उससे पूर्णतया नियन्त्रित हैं।[2] जिस प्रकार सभी पदार्थ घड़े, पत्थर इत्यादि में द्रव्य होने के कारण द्रव्यत्व रूप से व्याप्त हैं उसी प्रकार जीव और जड़, ईश्वर से व्याप्त होने के कारण ईश्वर कहे जा सकते हैं। किन्तु जिस प्रकार इनमें से वास्तव में, कोई भी द्रव्य नहीं माना जा सकता, इसी प्रकार जीव और जड को ईश्वर से अभिन्न नहीं कहा जा सकता।[3]

---

[1] वस्तुतस्तु नेति नेतीति नञ्भ्यां प्रकृत स्थूल सूक्ष्मत्वादि धर्मवत्-जड-वस्तु-तदवच्छिन्न जीववस्तु विलक्षणं ब्रह्मेति प्रतिपाद्यते।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० ३४७।

[2] तयोश्च ब्रह्मात्मकत्व-तन्नियमत्व-तद्-व्याप्यत्व-तदभिन्नसत्व तदाधेयत्वा-दियोगेन तदपृथक्सिद्धित्वात् अभेदोऽपि स्वाभाविकः।

—वही, पृ० ३५५।

[3] यथा घटो द्रव्य, पृथ्वी द्रव्यमित्यादौ द्रव्यत्वावच्छिन्नेन सह घटत्वा-वच्छिन्न-पृथिवीत्वा वच्छिन्नयोः सामानाधिकरण्य मुख्यमेव विशेषस्य सामान्याभिन्नत्व-नियमात् एवं प्रकृतेऽपि सार्वज्ञाद्यनन्ताचिन्त्या-परिमितविशेषा वच्छिन्नेनापरिच्छिन्न-शक्ति-विभूतिकेन तत्पदार्थेन पर ब्रह्मणा स्वात्मक चेतन चेतनत्वावच्छिन्न्योस्त दात्मरुपयोस्त्वमादि पदार्थयोः सामानाधिकरण्य मुख्यमेव।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० ३५५-५६।

भास्कर के अनुयायी भी जीव को मिथ्या मानने में गलती करते हैं क्योंकि वे शुद्ध ब्रह्म पर मिथ्या उपाधि के आरोपण से मिथ्या दीखते हैं। तथाकथित उपाधियों का ब्रह्म पर आरोपण नहीं समझा जा सकता है। इसका अर्थ भी यह हो सकता है कि अणु रूप जीव ब्रह्म पर उपाधि के आरोपण के कारण है, जिसके कारण पूर्ण ब्रह्म भी स्वयं जीव रूप से दीखता है या जिससे ब्रह्म विभाजित हो जाता है और इसी विभाजन के कारण अनेक जीव रूप दीखता है, या ब्रह्म इन उपाधियों से विशिष्ट हो जाता है या उपाधियाँ स्वयं जीव रूप दीखती हैं। ब्रह्म एकरस और अखंड होने के कारण विभाजित नहीं हो सकता। यदि वह विभाजित भी हो जाय तो जीव इस विभाजन से उत्पन्न होने के कारण कालगत होंगे और इसलिए नित्य न होंगे, और यह मानना पड़ेगा कि इस मत के अनुसार जितने जीव हैं उतने भागों में ब्रह्म को विभाजित होना पड़ेगा। यदि यह माना जाता है कि उपाधियुक्त ब्रह्म के अंश ही जीव दीखते हैं तो ब्रह्म उन उपाधियों से दोषयुक्त हो जायगा और वह अंश बनकर जीव को उत्पन्न करेगा। इसके अतिरिक्त, उपाधियों के स्वरूप में परिवर्तन होते रहने के कारण, जीवों का स्वरूप भी परिवर्तित होता रहेगा, और इस प्रकार वे सहज ही बन्धन और मुक्ति पाते रहेंगे।[1] यदि उपाधि के परिवर्तन से ब्रह्म में भी परिवर्तन होता है तो ब्रह्म अखंड और सर्वव्यापी न रहेगा। यदि ऐसा माना जाता है कि ब्रह्म पूर्णतया उपाधि-ग्रस्त हो जाता है, तो एक ओर, शुद्ध परब्रह्म न रहेगा, और दूसरी ओर, सभी शरीर में एक ही आत्मा रहेगी। पुनः, यदि जीव ब्रह्म से सर्वथा भिन्न माने जाते हैं, तो फिर वे ब्रह्म के उपाधिग्रस्त होने के कारण उत्पन्न होते हैं यह कथन त्याग देना पड़ेगा। यदि ऐसा माना जाता है कि उपाधियाँ स्वयं जीव या आत्मा हैं, तो यह चार्वाक जैसा भौतिकवाद हो जाता है। पुनः यह नहीं माना जा सकता कि उपाधियाँ केवल ब्रह्म के नैसर्गिक गुणों को आवृत करती हैं, जैसाकि सर्वज्ञता, इत्यादि, परन्तु ये स्वाभाविक गुण होने के कारण हटाई नहीं जा सकतीं। एक दूसरा प्रश्न खड़ा हो सकता है कि ये स्वाभाविक गुण ब्रह्म से भिन्न हैं या नहीं, या भेद में अभेद रूप हैं। वे ब्रह्म से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकते, क्योंकि यह मानने से द्वैत आ पड़ता है। वे ब्रह्म से अभिन्न भी नहीं हो सकते, क्योंकि तब वे ब्रह्म के गुण नहीं माने जा सकेंगे। यदि वे अपना ही स्वरूप हैं तो आवृत नहीं किए जा सकते, क्योंकि ऐसे प्रसंग में ब्रह्म की सर्वज्ञता का अन्त हो जायगा। यदि ऐसा माना जाता है कि वे भेद में अभेद रूप हैं तो यह निम्बार्क-मत को मानना होगा।

---

[1] किञ्च उपाधौ गच्छति सति उपाधिना स्वावच्छिन्न-ब्रह्म-प्रदेशाकर्षणा-योगात् अनुक्षणमुपाधि-संयुक्त-प्रदेशभेदात् क्षणे क्षणे बन्ध मोक्षौ स्याताम्।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० ३५७।

पुनः, यदि ऐसा माना जाता है कि सर्वज्ञता इत्यादि स्वाभाविक गुण भी उपाधि के कारण हैं, तो यह पूछा जा सकता है कि ये उपाधियाँ ब्रह्म से भिन्न हैं या अभिन्न। दूसरे (पिछले) विकल्प के अनुसार, उनमें ब्रह्म में नानात्व उत्पन्न करने की शक्ति न होगी। पहले विकल्प के अनुसार, यह पूछा जा सकता है कि वे अपने से कार्यान्वित होते हैं या किसी अन्य कारक या ब्रह्म से कार्यान्वित होते हैं। पहले मत के अनुसार यह स्वगतिवाद की आलोचना का ग्रास होगा, दूसरा हमें अनवस्था-दोष की ओर ले जायगा, और तीसरा आत्माश्रय की स्थिति को पहुँचायगा। इसके अतिरिक्त, इस मत में, ब्रह्म नित्य होने से, उसकी गति भी नित्य होगी, और उपाधियों के कार्य का अन्त कभी भी न आयगा इस प्रकार मुक्ति अशक्य हो जायगी। उपाधियों को मिथ्या असत् या तुच्छ नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब यह निम्बार्क मत के मानने के बराबर हो जायगा।[1]

यह आगे पूछा जा सकता है कि उपाधियाँ किसी कारणवशात् आरोपित होती हैं या अकारण ही। पहले विकल्प में, अनवस्था-दोष आता है और दूसरे में, मुक्त पुरुष भी फिर बद्ध हो सकता है। पुनः, यह पूछा जा सकता है कि सर्वज्ञता इत्यादि गुण जो ब्रह्म में हैं वे ब्रह्म को पूर्ण रूप से व्याप्त करते है या उसके कुछ अंश को। पहले मतानुसार, यदि गुण ब्रह्म को पूर्णतया व्याप्त करते हैं तो मुक्ति असम्भव है और चेतना का सारा क्षेत्र अज्ञान आवृत होने के कारण पूर्ण अंधकार का प्रसंग उपस्थित होगा (जगदांध्य-प्रसंग)। दूसरे मतानुसार, सर्वज्ञता केवल ब्रह्म का एक ही गुण या एकांशिक होने से ब्रह्म के पूर्णत्व का अन्त होता है।

भास्कर के मत का अनुसरण करते हुए यह पूछा जा सकता है कि मुक्त जीवों की पृथक् सत्ता है या नहीं। यदि पहला विकल्प माना जाता है और यदि उपाधियों का नाश होने पर भी जीव अपनी पृथक् सत्ता रखते है तो फिर भेद उपाधि द्वारा जनित है यह मत त्याग देना पड़ेगा (औपाधिक-भेद-वादो दत्त-जलांजलिः स्यात्)। यदि जीवों की पृथक्ता मुक्तावस्था में बनाई नहीं रखी जा सकती, जो उनके स्वरूप का नाश होता है, और यह शंकरानुयायियों के मायावाद मानने के बराबर होगा, जो यह मानते हैं कि ईश्वर और जीव के मुख्य गुण नाशवान् हैं।

यह मानना गलत है कि जीव ब्रह्म के अंश मात्र हैं, क्योंकि इस प्रसंग में, अंश से बना होने के कारण ब्रह्म स्वयं नाशवान् होगा। जब श्रुति जगत् और जीव को ब्रह्म का अंश कहती है तो उसके कहने का बल ब्रह्म अनन्त है और जगत् उसकी तुलना में कहीं छोटा है इस बात पर है। यह भी कल्पना करना कठिन है कि अन्तःकरण ब्रह्म के स्वरूप को मर्यादित करने में किस प्रकार कार्य कर सकता है। ब्रह्म किस प्रकार

---

[1] परपक्षगिरिवज्र, पृ० ३५८।

इन उपाधियों को अपना स्वरूप दूषित करने देता है। ब्रह्म ने इन जीवों को उत्पन्न करने के लिए इन उपाधियों को नहीं बनाया है, क्योंकि जीव, उपाधियों के पहले अस्तित्व में नहीं थे। इस प्रकार ब्रह्म भेदाभेदवाद का सिद्धान्त जो उपाधियों के कारण माना गया है (औपाधिक भेदाभेदवाद) सर्वथा गलत है।

निम्बार्क के मतानुसार, इसलिए, ब्रह्म और जीव के बीच भेद और अभेद स्वाभाविक है और जैसा भास्कर सोचते हैं वैसा औपाधिक नहीं है। सर्प काकुण्डला-कार उसके लम्बे आकार से भिन्न है जो उसका स्वरूप है, कुण्डल का सर्प से कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। कुण्डलाकार का सर्प के स्वाभाविक स्वरूप में वास है ही। किन्तु वहाँ यह अपृथक् है अदृश्य है, और सर्प ही है जिससे वह आश्रित और संपूर्णतः व्याप्त है। इस प्रकार जीव और जगत्, एक दृष्टि से ब्रह्म से पूर्णतया अभिन्न हैं, क्योंकि वह उनका आधार है और उसमें पूर्णतया व्याप्त है, और उस पर आश्रित है, फिर भी दूसरी दृष्टि से, ब्रह्म से, दृश्य रूप और व्यापार रूप से भिन्न है।[1] दूसरा दृष्टान्त जिसके सहारे निम्बार्कमतानुयायी अपनी बात स्पष्ट करना चाहते हैं वह है सूर्य और उसकी किरणों का दृष्टान्त। किरणें एक ओर सूर्य से अभिन्न है, फिर भी वे भिन्न रूप से प्रत्यक्ष का विषय होती है।

इस मत का रामानुज से यह भेद है कि जबकि रामानुज जीव और जड को, ब्रह्म को विशिष्ट करते हुए मानते हैं और इस अर्थ में वे उससे अभिन्न हैं, निम्बार्क मतवादी जड और जीव द्वारा, ब्रह्म के स्वरूप के नित्य विकार के प्रसंग को अस्वीकार करते हैं।

जगत् की सत्ता

शंकर-मतवादी मानते है कि यदि जगत् जो कार्य रूप होने से सत् होगा तो उसका ब्रह्म-ज्ञान होने पर निरास न किया जा सकेगा, यदि वह तुच्छ है तो वह प्रत्यक्ष नही दीखेगा। किन्तु जगत् हमे प्रत्यक्ष दीखता है और उसका बोध भी होता है इसलिए वह अनिर्वचनीय है, यह कहने का अर्थ यही होता है कि वह मिथ्या है।[2]

---

[1] यथा कुण्डलावस्थापन्नस्य अहेः कुण्डल व्यक्तापन्नत्वात् प्रत्यक्ष-प्रमाण-गोचर तद् भेदस्य स्वाभाविकत्वात् लम्बायमानावस्थायां तु सर्पायतावच्छिन्न-स्वरुपेण कुण्डलस्य तत्र सत्वेऽपि अव्यक्त-नामरुपतापत्या प्रत्यक्षागोचरत्व सर्वात्मकत्व-तदाधेयत्व-तद् व्याप्यत्वादिना तदपृथक्सिद्धत्वादभेदयस्यापि स्वाभाविकत्वम्।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० ३६१।

[2] असत्त्वेन्न प्रतीयते सत्त्वेन्न बाध्यते, प्रतीयते बाध्यते च अतः सदसद्-विलक्षणं हि अनिर्वचनीयमेव अभ्युपगन्तव्यम्। —परपक्षगिरिवज्र, ३८४।

परन्तु इस ग्रनिर्वचनीयता का ग्रर्थ क्या है ? इसका ग्रर्थ यह नहीं है कि वह खरगोश के सींग जैसे निर्मूल पदार्थ की तरह पूर्णतया ग्रसत् है। इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि जो पूर्णतया ग्रसत् होगा, वह ग्रात्मा होगा। किन्तु सभी पदार्थ या तो है या नही है। (सत् या ग्रसत्) क्योंकि सत् ग्रौर ग्रसत् से भिन्न कोई वस्तु नही होती। वह ऐसी भी नही हो सकती जिसकी कोई परिभाषा ही नही की जा सके, क्योंकि इसे ग्रभी ही ग्रनिर्वचनीय कहकर परिभाषा दी गई है (नापि निर्वचनानर्हत्वम् ग्रनेनैव निरुच्यमानतया ग्रसंभवात्)। इसे ग्रभाव का प्रतियोगी भी नही कहा जा सकता, क्योंकि तुच्छ वस्तु भी ऐसी नहीं है, ग्रौर ब्रह्म भी जो सत् है ग्रौर निर्गुण है वह भी किसी सत्ता का प्रतियोगी नही है। यदि ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म, मिथ्या भास का प्रतियोगी है तो वह तथाकथित ग्रनिर्वचनीय के विषय में सच कहा जा सकता है। ब्रह्म किसी भी सत्ता का प्रतियोगी नही है जो उसकी कोटि का हो। वह सत् ग्रौर ग्रसत् दोनो का प्रतियोगी नही है, ऐसी व्याख्या भी ब्रह्म की नही की जा सकती क्योकि तुच्छ वस्तु का कोई प्रतियोगी नही होता, क्योंकि तुच्छ वस्तु ग्रपने स्वय के ग्रभाव का प्रतियोगी नही होती। इसके ग्रतिरिक्त, ब्रह्म ग्रौर तुच्छ वस्तु निर्गुण है, तो वे दोनो ही सत् ग्रौर ग्रसत् वस्तु के प्रतियोगी माने जा सकते हैं, ग्रौर इस प्रकार वे ग्रनिर्वचनीय माने जा सकते हैं।

यह भी नही कहा जा सकता कि ग्रनिर्वचनीयता एक ऐसी वस्तु है जिसका वह पर्याप्त रूप से ऐसी है, या ऐसी नही है, इस प्रकार वर्णन नही किया जा सकता। इस प्रकार ब्रह्म में ग्रौर ग्रनिर्वचनीयता मे कोई भेद न रहेगा। यदि ऐसा कहा जाता है कि ग्रनिर्वचनीय वह है जिसकी सत्ता के विषय में कोई प्रमाण दिया नही जा सकता, तो वही ब्रह्म के विषय में भी कहा जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म प्रत्यय-रहित शुद्ध सत्त्व होने से, उसे किसी भी प्रमाण से सिद्ध नही किया जा सकता।

पुनः, जब ऐसा कहा जाता है कि ग्रनिर्वचनीय सत् ग्रौर ग्रसत् दोनो ही नही है तो सत् ग्रौर ग्रसत् शब्द के ग्रर्थ समझ के परे हो जाते है। क्योंकि सत् शब्द का ग्रर्थ सामान्य सत्ता नही हो सकता, ऐसा प्रत्यय न ब्रह्म ग्रौर न जगदाभास मे रहता है। सत् की ग्रर्थक्रियाकारित्व की परिभाषा भी नही दी जा सकती ग्रौर न उसे बाधरहित कहा जा सकता है, न ग्रभाव ही कहा जा सकता है जिसकी बाध सम्भव है, क्योंकि जगदाभास जिसका बोध होता है वह ग्रभाव रूप नही माना गया है, वह ग्रसत् ग्रौर सत् दोनों रूप नहीं है। सत् ग्रौर ग्रसत् की, जो सिद्ध नहीं किया जा सकता, ऐसी भी परिभाषा नहीं कर सकते, क्योकि ब्रह्म एक ऐसी वस्तु है जो न सिद्ध ही है ग्रौर न ग्रसिद्ध ही की जा सकती है। इसके ग्रतिरिक्त, जगत्-प्रपच को ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह सत् ग्रौर ग्रसत् से भिन्न है, क्योकि उसकी व्यावहारिक सत्ता मानी गई है। पुनः यह भी ग्राग्रह किया जा सकता कि यदि किसी वस्तु का ठीक

तरह से सत् या असत् रूप से वर्णन नहीं कर सकते तो वह पदार्थ सर्वथा अवास्तव होना चाहिए, यदि कोई वस्तु सत् और असत् रूप से ठीक तरह वर्णित नहीं हो सकती, तो वह अवास्तव है यह अर्थ नहीं निकलता। अविद्या का अन्तिम प्रलय असत् या सत् है ऐसा हम वर्णन नहीं कर सकते, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसा प्रलय स्वयं अवास्तविक और अनिर्वचनीय है (नानिर्वाच्यश्च तत्क्षयः)।

पुनः, 'जगत् का ज्ञान से लय होना' इस सीधे वाक्य से जगत् का मिथ्यात्व आवश्यक रूप से अनुमित नहीं होता। यह मानना गलत है कि ज्ञान मिथ्या अज्ञान का नाश करता है, क्योंकि ज्ञान, अपने जैसे विषय वाले, अभाव का नाश करता है, एक पदार्थ का ज्ञान, जैसेकि घड़े का ज्ञान, किसी दूसरी वस्तु के ज्ञान से निरास किया जा सकता है, संस्कार प्रत्यभिज्ञा से हटाए जा सकते हैं, मोह, सांसारिक वस्तुओं में दोष दर्शन से हटाया जा सकता है और उसी प्रकार पाप पुण्य कर्म से। प्रस्तुत प्रसंग में भी, यह भली प्रकार मानना चाहिए कि केवल ब्रह्म के ज्ञान से नहीं किन्तु उसके स्वरूप के ध्यान से जगत् की वस्तुओं के विषय में मिथ्या विचार हटते हैं। इस प्रकार बन्धन भी सत्य है, और वह ब्रह्म के स्वरूप के ध्यान से नहीं हट सकता, यदि श्रुति ऐसा कहती है, तो इस विषय में कोई आक्षेप भी नहीं किया जा सकता। जो काटा जा सकता है या हटाया जा सकता है वह आवश्यक रूप से मिथ्या होना चाहिए, यह किसी भी न्याय-युक्त मान्यता से अनुमित नहीं होता। पुनः यह अनुभव से सुविदित है कि जो नष्ट किया जाता है और जो नष्ट करता है उनकी एक ही कोटि की सत्ता होती है, यदि ब्रह्म-ज्ञान जगत् के प्रति दृष्टिकोण को मिटा सकता है तो वह दृष्टिकोण भी सत्य होना चाहिए। जैसे ज्ञान और ज्ञेय एक ही कोटि की वस्तुएँ हैं उसी प्रकार दोष का अधिष्ठान भी है, ब्रह्म और अज्ञान एक ही कोटि की वस्तु हैं और इसलिए दोनों सत्य हैं।

आगे, यदि जिसे अज्ञान कहा जाता है वह मिथ्या ज्ञान ही केवल है, तो जब वह आत्म-ज्ञान से हट जाता है तो उसे जीवन मुक्ति या सिद्धावस्था में बने रहने का कोई कारण नहीं है। इसलिए, एक वस्तु ज्ञान से मिट सकती है, केवल इसी कारण, वह मिथ्या है, यह केवल उसका ज्ञान से विरोध प्रकट करता है। इसलिए संसार भी सत्य है और बन्धन भी। बन्धन किसी प्रकार के ज्ञान से नहीं हटता किन्तु ईश्वर-कृपा से हटता है।[1] सच्चे ज्ञान का कार्य भगवान् को कृपा करने के लिए जगाना है जिससे बन्धन की ग्रन्थि कट जाय।

पुनः, सभी श्रुति की इस बात पर एक वाक्यता है कि इस दृश्य जगत् का ईश्वर द्वारा धारण एवं रक्षण किया जाता है। यदि यह जगत् केवल मिथ्या-प्रपंच ही होता

---

[1] वस्तुतस्तु भगवत्प्रसादादेव बंध-निवृत्तिर्न प्रकारान्तरेण।
—परपक्षगिरिवज्र, पृ० २८८।

तो यह कहने का कोई अर्थ ही न होता कि भगवान् ने इसे धारण किया है। क्योंकि जगत् मिथ्या है यह जानकर वह उसे रक्षण और पालन करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता। यदि भगवान् स्वयं अज्ञान के प्रभाव में है, ऐसा माना जाता है तो वह ईश्वर ही नहीं कहा जा सकता।

पुरातन विवाद प्रणाली स्वीकार करते हुए माधव मुकुन्द कहते हैं कि जगत् को जिस प्रकार मिथ्या कहा गया है उसे कभी भी सिद्ध या प्रमाणित नहीं किया जा सकता। जगत् मिथ्या है इसे सिद्ध करने का एक प्रमाण यह दिया जाता है कि वह ज्ञेय है या दृश्य है। किन्तु यदि वेदान्तग्रन्थ, ब्रह्म के स्वरूप के विषय में लिखते हैं तो उन पाठो के अर्थ ज्ञान से, ब्रह्म का स्वरूप बुद्धिगम्य हो जायगा और इसलिए मिथ्या होगा। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि ब्रह्म सोपाधिक रूप से ही बुद्धिगम्य होता है और वह उपाधियुक्त ब्रह्म मिथ्या माना जाता है तो उत्तर यह है कि जब ब्रह्म अपने शुद्ध स्वरूप से प्रकट नहीं हो सकता तो उसकी शुद्धता सिद्ध नहीं की जा सकती। यदि ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप बुद्धि के विषय के रूप में, श्रुति के वर्णन के अनुसार प्रकट नहीं हो सकता, तो वह स्वप्रकाश्य नहीं है, यदि वह बुद्धि की वृत्ति से व्यक्त होता है तो वृत्ति से व्यक्त होने के कारण मिथ्या है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि क्योंकि जो कुछ भी अशुद्ध है वह पर-प्रकाश्य है इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जो कुछ भी अज्ञात है वह स्वप्रकाश्य है क्योंकि शुद्ध सत्ता जो नितान्त असंग है वह व्यतिरेक व्याप्ति से लक्षित नहीं की जा सकती या जानी नहीं जा सकती। इस प्रकार अशुद्ध ही स्वयं एक केवल भाव पदार्थ के रूप में जाना जाता है, शुद्ध से विरोधी तत्व के रूप मे नहीं जाना जाता, क्योंकि ऐसा ज्ञान, शुद्धता के ज्ञान को अनुमित करेगा। यदि इसलिए, स्वप्रकाश्यता के विधेय को शुद्धता-विरोधी के रूप मे अशुद्धता में अस्वीकार नहीं किया जाता, तो स्वप्रकाश्यता भी शुद्धता में स्वीकृत नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त, यदि शुद्ध ब्रह्म बुद्धि द्वारा कभी भी ज्ञात नहीं हो सकता तो मुक्ति कभी शक्य न होगी, या मुक्ति केवल उपाधियुक्त ब्रह्म से होगी।

इसके अतिरिक्त, यदि सभी पदार्थ ब्रह्म पर अध्यास के कारण हैं तो उनके ज्ञान के साथ ब्रह्म का भी ज्ञान होना चाहिए। श्रुति भी ऐसा कहती है, 'ब्रह्म मन द्वारा देखा जाना चाहिए और कुशाग्र बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जाना चाहिए,' ब्रह्म मन द्वारा और कुशाग्र बुद्धि द्वारा ग्रहण करना चाहिए।' (मन सेवोनु द्रष्टव्यम्···दृश्यते त्वग्रया बुद्धया)। और भी श्रुतिपाठ हैं, जो ब्रह्म को ध्यान का विषय बताते हैं (तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानम्)।

पुनः मिथ्या को निश्चित करने वाली अनुभव क्षमता या बुद्धिगम्यता को चैतन्य से सम्बन्धित होने के अर्थ में परिभाषित किया जाता है, जबकि शुद्ध चैतन्य का भ्रम द्वारा सम्बन्धित होना माना गया है तो ब्रह्म भी प्रत्यक्ष हो सकता है इस प्रकार की

आपत्ति उठाई जा सकती है। इस सम्बन्ध में, यह समझना कठिन है कि, ब्रह्म जिसका अज्ञान से कोई विरोध नहीं है, उसका वृत्ति से या चेतनावस्था से संयोग होने पर, अज्ञान से किस प्रकार विरोध हो सकता है। इस प्रकार मानने के बजाय, यह अच्छी तरह माना जा सकता है कि पदार्थ का अपने ही अज्ञान से विरोध हो जाता है जबकि वह वृत्ति से सम्बन्धित हो जाता है जब वह उसी अन्तर्वस्तु को अपना विषय बनाए रहती है। ऐसी मान्यता के अनुसार दृश्यता चित्तवृत्ति युक्त चैतन्य से नही होती, क्योंकि उपाधि का सम्बन्ध विषय से होता है न कि चैतन्य से। इस प्रकार यह अच्छी तरह माना जा सकता है कि एक पदार्थ अपनी ही चित्त-वृत्ति द्वारा उपाधि-युक्त होकर दृश्य बनता है। चित्त-वृत्ति का शुद्ध चैतन्य पर बिम्ब पड़ना चाहिए, यह मान्यता अनावश्यक है, क्योंकि यह भली प्रकार माना जा सकता है कि अज्ञान वृत्ति द्वारा ही नष्ट होता है। एक विषय या पदार्थ, वृत्ति द्वारा ही ज्ञात होता है और किसी भी वस्तु का भान होने के लिए यह आवश्यक नही है कि वृत्ति, प्रत्यय या प्रतिकृति को चैतन्य मे प्रतिबिम्बित होना चाहिए। पुनः यदि ब्रह्म अपना ही ज्ञेय विषय नही बन सकता, तो उसे स्वप्रकाश्य भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि स्व-प्रकाश्यता का अर्थ यही है कि वह अपने को स्वतन्त्र रूप से प्रकट करे और उससे यह अर्थ निकलता है कि ब्रह्म स्वय अपना विषय है। यदि जो अपना विषय नही हो सकता उसे ही स्वप्रकाश्य कहा जा सकता है तो भौतिक पदार्थ भी स्वप्रकाश्य कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, निर्विशेष ब्रह्म मे अपने स्वरूप से अतिरिक्त परोक्षता या स्वप्रकाश्यता नही हो सकती (निर्विशेष ब्रह्मणि स्वरूप-भिन्नापरोक्षस्य अभावेन)।

अद्वैतवाद मे आत्मा को शुद्ध ज्ञान स्वरूप माना गया है, जिसमे ज्ञातृ-ज्ञेय-भाव नही है। किन्तु जो यह दोनो ही नहीं है उसे ज्ञान कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि ज्ञान को विषय को प्रकाशित करने वाला माना है। यदि जो विषय को प्रकट नहीं करता उसे ज्ञान कहा जा सकता है, तो घडा भी ज्ञान कहलाया जा सकता है। पुनः, एक प्रश्न स्वाभाविक तौर से खडा होता है कि यदि ज्ञान आत्मा से अभिन्न है तो वह प्रभा होगा, या अप्रभा, यदि प्रभा है तो अज्ञान इसके द्वारा प्रकाश पाता है, वह भी प्रभा कहलाएगा, और यदि वह अप्रभा है तो वह किसी दोष के कारण होगा, और आत्मा मे कोई ऐसा दोष नही है। यदि वह न तो सच्चा या झूठा ज्ञान है तो ज्ञान होगा ही नही। पुनः, यदि जगत्-प्रपच भ्रम है, तो वह ब्रह्म पर अध्यस्त होगा। यदि ब्रह्म अध्यास का अधिष्ठान है, तो वह सामान्य तौर से जानने में आने वाला कोई एक पदार्थ होगा किन्तु उसका विस्तार से ज्ञान नही होगा। किन्तु ब्रह्म कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका हमें सामान्य या विशेष रूप से ज्ञान हो। ब्रह्म, इसलिए अध्यास का अधिष्ठान नहीं माना जा सकता। इस सम्बन्ध में आगे यह ध्यान में रखना चाहिए कि यदि जगत् असत् था तो उसका अनुभव नही हो सकता था, तुच्छ

वस्तु किसी के अनुभव में नहीं आती। भ्रम-जनित सर्प भी सच्चा भय पैदा कर सकता है यह तर्क अप्रमाण है, क्योंकि भ्रम-जनित सर्प भय उत्पन्न नहीं करता किन्तु सर्प का सच्चा ज्ञान उसे उत्पन्न करता है। एक बच्चा सच्चे सर्प को पकड़ने से नहीं डरता क्योंकि उसे सर्प के विषय में कोई ज्ञान नहीं होता और न उसके हानिकारक गुणों का ज्ञान होता है। स्वप्न को भी भगवान् द्वारा उत्पन्न की गई सच्ची कृतियाँ मानना चाहिए, उसे मिथ्या आरोपण नहीं मानना चाहिए। स्वप्न, स्वप्न-द्रष्टा को ही दीखते हैं और किसी को नहीं, इसलिए वे मिथ्या हैं यह तर्क अप्रमाण है, क्योंकि एक व्यक्ति के भाव और विचार उससे निकटवर्ती को मालूम नहीं हो सकते।[1]

जगत्, इस प्रकार ब्रह्म पर मिथ्या आरोपण नहीं है किन्तु ब्रह्म की विभिन्न शक्तियों का परिणाम है। इस मत का सांख्य से यह भेद है कि सांख्य कुछ प्राकृत तत्वों के सम्पूर्ण परिणाम को मानता है जबकि निम्बार्क ब्रह्म की विभिन्न शक्तियों के परिणाम को मानते हैं। ब्रह्म स्वयं नित्य अपरिणामी एवं अविकारी रहता है केवल उसकी शक्तियाँ ही परिणाम पाती हैं और दृश्य जगत् उत्पन्न करती हैं।[2]

जगत्, ब्रह्म के माया में प्रतिबिम्बित होने से उत्पन्न होता है या इससे उपाधि-ग्रस्त होने से उत्पन्न होता है, यह स्पष्टीकरण अप्रमाण है, क्योंकि माया दूसरी ही कोटि का पदार्थ है, ब्रह्म का उसमें प्रतिबिम्बित होना या उपाधिग्रस्त होना नहीं हो सकता। एक चोर को स्वप्न की डोरी से नहीं बांधा जा सकता।

वनमाली मिश्र

भारद्वाज वंश के वनमाली मिश्र, वृन्दावन से दो मील दूरी पर, त्रियग के निवासी थे उन्होंने अपने 'वेदान्त सिद्धान्त संग्रह' में जो 'श्रुति सिद्धान्त संग्रह' भी कहलाता है, निम्बार्क-मत के महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं। ग्रन्थ कारिकाओं और उनकी टीकाओं की शैली में लिखा गया है। इस ग्रन्थ का आधार निम्बार्क की ब्रह्म सूत्र टीका तथा उनकी अन्य टीकाएँ हैं।

वे दुःख का कारण, आत्मा से बाह्य पदार्थों के प्रति मोह को मानते हैं, सुख इसका विरोधी है।[3] स्वार्थ दृष्टि से किए गए कर्म, वेदनिषिद्ध कर्मों का करना तथा वेद-विहित कर्मों का न करना पाप उत्पन्न करता है। इसके विपरीत कर्म तथा वे जो भगवान् को प्रिय हैं, पुण्य उत्पन्न करते हैं। पाप और पुण्य का मूल, भगवान् की

---

[1] परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४२६।

[2] वही, पृ० ४२६।

[3] श्रुति सिद्धान्त संग्रह, १, ६, १०, ११।

शक्ति ही है जो भगवान् के गुणो को आवृत कर कार्य करती हैं। अविद्या सत् और भाव रूप है और प्रत्येक जीव में भिन्न है। यह मिथ्या या भ्रम को उत्पन्न करती है जिससे वस्तु अयथार्थ दीखती है और यही मिथ्या-ज्ञान पुनर्जन्म का कारण है।[1] प्रत्येक जीव में अविद्या भिन्न है। इसी अविद्या के कारण व्यक्ति अपनी सम्पत्ति से ममत्व करके मोहित होता है और इसी के कारण उसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अनुभव होता है। वास्तव में सभी के सारे कर्म भगवान् के कारण है और जब कोई यह अनुभव कर लेता है तब उसका मोह टूट जाता है और वह फलाशा त्याग देता है। अविद्या, चित्त और सुख-दुःख के अनुभव उत्पन्न करती है, यही मिथ्या मोह उत्पन्न करती है जिससे वह इन अनुभवो को अपना मान लेता है और ज्ञान और आनन्दमूलक अपने स्वरूप को अनुभव करना छोड देता है। केवल विदेह ही इस अवस्था का भोग करते हैं, जीवन मुक्त और सन्त इसे अश रूप मे ही भोगते है। अज्ञान-जनित मोह के कारण ही, मनुष्य ईश्वरेच्छा पर अग्रसर होने के लिए जागृत होता है। किन्तु अज्ञान सचमुच अज्ञान है इसलिए दुःख का अनुभव भी सच्चा है। हमारा पुनर्जन्म वेद-विरुद्ध कर्म करने से या अपनी इच्छाएँ पूर्ण करने के कारण होता है।[2] भगवान् द्वारा ही हमारे सारे कर्म होते हैं और कर्त्ता किसी भी प्रकार स्वतन्त्र नही है, ऐसा अनुभव करने से आत्मा शुद्ध होती है। जब मनुष्य यह अनुभव करता है कि दूसरे पदार्थ से मिथ्या सम्बन्ध जोडने से और अपने को सचमुच स्वतन्त्र मानने से वह दुःख का भागी होता है, तब वह अपने कर्मों और सुख-दुःख से विरक्त हो जाता है और सभी पदार्थों को दुःख-रूप समझने लगता है। यही विरक्ति भगवान् को प्रिय है। वेद मे भक्ति प्राप्त करने के लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूप साधन कहे गए हैं।[3] निदिध्यासन, श्रवण और मनन करने पर ही होता है, क्योंकि निदिध्यासन साक्षात् अनुभव है जो श्रवण और मनन के बिना शक्य नही है। उपरोक्त प्रक्रिया से ही चित्त शुद्ध होता है, जो

---

[1] प्रति जीव विभिन्ना स्यात् सत्या च भावरूपिणी।
अतस्मिंस्तद्धियो हेतु निदान जीव संसृतो।

—श्रुति सिद्धान्त संग्रह, १–१५।

[2] अतः काम्यं निषिद्धम् च दुःखबीज त्यजेत् बुधः। श्रुति सिद्धान्त सग्रह पृ० ६३। वनमाली मिश्र के अनुसार मनुष्य अपने कर्मानुसार मृत्युपर्यन्त स्वर्ग या नरक में जाता है और अपने फल का भोग प्राप्त करने पर या दुःख उठाकर वह वृक्ष रूप से जन्मता है उसके बाद तिर्यक् योनि मे, फिर यवन या म्लेच्छ योनि में, फिर निम्न जाति में और अन्त में ब्राह्मण कुल में जन्म लेता है।

[3] अन्यार्थ विषयः पुरो ब्रह्माकारधियां सदा।
निदिध्यासन शब्दार्थो जायते सुधियां हि सः।

—वही, २–१३।

भगवान् को प्रिय है और जिस प्रकार संगीत के अभ्यास से ही राग और स्वर अपरोक्ष होते हैं उसी प्रकार भगवान् अपरोक्ष होते हैं। यह अपरोक्ष अनुभव अपने आपका ही है। क्योंकि इस अवस्था में चित्त-व्यापार नहीं रहता। वृत्यात्मक अनुभव का अन्त होना भगवान् के अपरोक्ष अनुभव के बराबर है। यह अवस्था अविद्या या मनोनाश की अवस्था है।[1] इस प्रकार मनुष्य परम मुक्ति की अवस्था मे भगवान् का आनन्द स्वरूप मे अनुभव करता है, लेकिन तब भी वह भगवान् के सभी गुणो का अनुभव नही कर सकता, क्योकि भगवान् भी अपने सारे गुणो को नही जानते। ऐसी मुक्ति भगवत्कृपा से ही प्राप्य है। ऐसी मुक्तावस्था मे मनुष्य, एक मछली जिस प्रकार उदधि में तैरती है, ऐसे वह भगवान् में वास करता है। भगवान् अपनी कृपा की सहजता से ससार-रचना करते हैं, अपनी कृपा को बढावा देने के लिए ऐसा नही करते, उसी प्रकार मुक्त भी भगवान् में अपने स्वरूप का सहजता से स्मरण करते हैं अपना आनन्द बढाने के लिए नही करते।[2] भगवान् हमारे अन्तर मे ही विराजमान हैं और उसे हम साक्षात् करते हैं तब ही हम मुक्ति पाते हैं। कुछ लोग इस लोक मे मुक्ति पाते है और कुछ परलोक में, जहाँ से वे, अपने कर्मानुसार गमन करते है। किन्तु सभी प्रकार की मुक्ति, अज्ञान के नाश से, मनुष्य की स्वस्थिति में वास है।[3] जीवन-मुक्त या सन्त पुरुष वे हैं जिनकी अविद्या का नाश हो गया है, किन्तु अभी उन्हे अपने

---

[1] ब्रह्म-गोचरस्य वेदान्त-वासित-मनसि उत्पन्नस्य आपरोक्ष्यस्य यः प्रागभाव तस्य अभावो ध्वसो ज्ञान-तद्-ध्वसान्यनररूपो ज्ञान-ब्रह्मणः सम्बन्धः ससार-दशायां नास्ति। —वही, २–१६।

[2] आनदोद्रकतो विष्णोर्यथा सृष्टयादि-चेष्टनम्।
तथा मुक्तचिता क्रीडा न त्वानद विवृद्धये। —वही, २–३७।

[3] स्वरूपेण स्थिति मुक्तिं रज्ञान ध्वंस पूर्वकम्। (वही, २–५८ यह मुक्ति चार प्रकार की हो सकती है, सारूप्य, अर्थात् कृष्ण बाह्य रूप जैसी, सालोक्य अर्थात् विष्णु-लोक में वास, सायुज्य, या भगवान् मे लय होना, सामीप्य या भगवान् के किसी रूप से सम्बन्धित होकर उनके पास रहना। भगवान मे लय होना उनसे एक होना नही समझना चाहिए। यह अर्थ पशुओ का वन में भ्रमण करने जैसा है। मुक्त जीव भगवान् से भिन्न हैं, किन्तु वे भगवान् में वास करते हैं (एवं मुक्त वा हरे र्भिन्न रमन्ते तत्र मोदतः वही २.६१) वे भगवान् में से बाहर भी आ सकते हैं, और हम भी सुनते हैं कि वे उत्तरोत्तर अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सकर्षण और वासुदेव के शरीर मे प्रवेश करते हैं। इन मुक्त जीवो का संसार-रचना और सहार से कोई वास्ता नहीं होता। वे, यह परिणाम होते रहते भी वैसे ही बने रहते है। वे महाभारत के नारायणीय भाग में वर्णित श्वेतद्वीपवासी जैसे हैं। तो भी वे भगवान् के नियत्रण में हैं और इस नियत्रण का किसी प्रकार का दुःख नही उठाते।

प्रारब्ध का फल भोगना बाकी है। भगवत्प्राप्ति, संचित और क्रियमाण को नष्ट कर सकती है किन्तु प्रारब्ध को नष्ट नहीं कर सकती।

यह समझना गलत है कि हर कोई आनन्द का अनुभव कर सकता है, इच्छित अवस्था केवल वही है जिसमे व्यक्ति अनिरोध आनन्द अनुभव कर सके।[१] गाढ निद्रा की अवस्था में आनन्द का थोड़ा अनुभव हो सकता है, किन्तु पूर्ण आनन्द नहीं अनुभव किया जा सकता जैसाकि मायावादी मानते है। मायावादी और बौद्ध में कोई भी भेद नहीं है केवल कहने के ढग मे ही भेद है।[२]

आत्मा को अणु माना है, किन्तु उसकी सत्ता अह-प्रत्यय से सिद्ध होती है, (अह प्रत्ययवेद्य), जो समस्त अनुभव भोगता है। भगवान् पर आश्रित होते हुए भी वह सचमुच कर्ता है जो अविद्या से प्रभावित होकर ऐसा करता है। आत्मा की सत्ता भी जीवन की सभी अवस्थाओ की निरन्तरता से सिद्ध होती है। स्वार्थ कर्म के प्रति सभी जीवों की ममता यह सिद्ध करती है कि प्रत्येक आत्मा को अपने में अनुभव करता है और यह आत्मा प्रत्येक मे भिन्न है। जीव और ईश्वर में भेद यह है कि जीव की शक्ति और ज्ञान सीमित है और वह परतन्त्र है और ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् और स्वतन्त्र है, वह जीवो मे अविद्या-शक्ति द्वारा स्वतन्त्रता का मिथ्या विचार पैदा करता है। जीव इस प्रकार ईश्वर से भिन्न है, किन्तु वे मुक्तावस्था में ईश्वर मे रहते हैं और उनके सभी कर्म ईश्वर की अविद्या शक्ति से नियन्त्रित है, इसलिए उन्हे ईश्वर से एक भी माना जा सकता है। जीव का चित ईश्वर की अविद्या का कार्य है, जीव का जगत् अनुभव भी, ईश्वर की क्रिया के कारण है। आत्म स्वरूप होने से, जीव को ईश्वर के स्वरूप का शुद्ध आनन्द के रूप में अनुभव होता है। जीव की स्वरूपावस्था ही उनकी मुक्तावस्था है। जीव अपने स्वरूप से सत् चित् आनन्द रूप है और अणु होने पर भी, अन्तर्वृत्ति द्वारा अपने सारे शरीर का अनुभव कर सकते हैं जिस प्रकार कि दीप अपने प्रकाश से सारे कमरे को प्रकाशित करता है। दुःख का अनुभव भी अन्तःकरण का शरीर के भिन्न भागों मे प्रसारण और अविद्या से शक्य है, जिस अविद्या के कारण जीव अपने पर अन्य वस्तुओं का अध्यास करता है। जीव का दूसरे पदार्थों से सम्बन्ध प्रत्येक के अन्तःकरण से शक्य है इसलिए प्रत्येक जीव के अनुभव का क्षेत्र भी उसके अन्त.करण के व्यापार तक ही सीमित है। प्रत्येक जीव में पृथक् अन्तःकरण है।

---

[१] पुरुषार्थं सुखित्वं हि नत्वानन्द-स्वरूपता। —वही, २.६६।

[२] मेयतो न विशेषोऽस्ति मायि सौगतयोर्मते।
भंगीमात्र-भिदा तु स्यात् एकस्मिन्नपि दर्शने। —वही, २—१३६।

उपनिषद् ईश्वर को सर्व कहती हैं, (सब खल्विदं ब्रह्म) और यह इसलिए सभी में व्याप्त है और सबों का नियता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव उस पर आश्रित हैं और आधारित हैं (तदाधारत्व), किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि वे उससे अभिन्न हैं। ईश्वर स्वय अपने आप सभी वस्तुओं को रच सकता है, किन्तु केवल अपनी लीला के लिए क्रीड़ा के लिए, वह प्रकृति की और जीवों के कर्मों से उत्पन्न नियति की, सहायता लेता है। यद्यपि ईश्वर मनुष्यों को अपनी इच्छानुसार कर्म करने देता है किन्तु उसका नियन्त्रण अनादि अदृष्ट के अनुसार होता है। यहां पर जो कर्मवाद प्रतिपादित किया गया है वह पतंजलि के कर्मवाद से भिन्न है। पतंजलि और उनके टीकाकारों के अनुसार मनुष्य अपने सुख-दुःख रूप कर्मों के फलों का भोग अपनी स्वतन्त्रता से भोगता है किन्तु यहां मनुष्य के कर्म ईश्वर द्वारा, उनके पिछले शुभाशुभ कर्मानुसार, नियन्त्रित है जो अनादि है। इस प्रकार हमारे साधारण जीवन में हमारे सुख-दुःख ही नहीं, किन्तु अच्छे और बुरे कर्म करने की शक्ति भी हमारे पिछले कर्म द्वारा ईश्वर के नियंत्रण से निश्चित है।

बाइसवाँ अध्याय

विज्ञान भिक्षु का दर्शन

विज्ञान भिक्षु के दर्शन का विहगावलोकन

अन्तिम ध्येय दुःख का अन्त नहीं है किन्तु दुःख के अनुभव का अन्त है, क्योंकि मुक्तावस्था में दुःख के अनुभव का अन्त होता है, दुःख की मुक्ति नहीं होती क्योंकि वह ससार में बना रहता है और दूसरे दुःखी हुआ करते हैं। केवल मुक्त लोग ही दुःख का अनुभव नही करते। मुक्ति की चरम अवस्था आनंदावस्था नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ चित्त और इन्द्रियाँ नही रहतीं इसलिए आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता। आत्मा आनन्द स्वरूप नही हो सकता और साथ ही उसका भोक्ता भी नही बन सकता। जब यह कहा जाता है कि आत्मा आनन्द स्वरूप है वहाँ आनन्द शब्द का अर्थ पारिभाषिक रूप से दुःख का अभाव है।

भिक्षु सत्ता के स्तरो को मानते हैं। वे मानते हैं कि एक दूसरी से अधिक स्थायी और सत्य है। जबकि परमात्मा एक ही है और वह न परिणाम-ग्रस्त है, और न उसका प्रलय होता है। वह प्रकृति तथा उसके विकार और पुरुष से अधिक सत्य है। यह मत पुराणो मे भी प्रतिपादित है कि जगत् का अन्तिम स्वरूप ज्ञानरूप है जो परमात्मा का रूप है। इसी वास्तविक रूप मे जगत् अन्तिम माना गया है प्रकृति और पुरुष की तरह नहीं, जो परिणामी हैं। प्रकृति, ईश्वर की अव्यक्त शक्ति के रूप से, जहाँ तक सत्ता रखती है, असत् मानी गयी है, किन्तु जहाँ तक वह विकार परिणाम से व्यक्त होती है उसे सत् माना है। मुक्ति, पच तन्मात्रा और ग्यारह इन्द्रियो से युक्त सूक्ष्म शरीर के विच्छेद से प्राप्त होती है। इस विच्छेद के परिणामस्वरूप, शुद्ध चैतन्य रूप, आत्मा ब्रह्म में, सागर में नदियों की तरह लय हो जाती है। यह अवस्था अभिन्नता की नहीं है किन्तु भेद में अभेद अवस्था है। सांख्य के अनुसार, सुख दुःख रूपी कर्म-विपाक जहाँ तक मुक्त नहीं होते, वहाँ तक मुक्ति नही मिलती अर्थात् अविद्या के नाश होने पर भी, प्रारब्ध मुक्त होने तक मुक्ति रुक जाती है। योगी, अवश्य ही, असंप्रज्ञात समाधि में डूब सकता है जिससे प्रारब्ध अनुभव दूर किया जा सकता है। असंप्रज्ञात समाधि से वह स्वेच्छा से मुक्तावस्था में जा सकता है। केवल उपनिषद् के पाठों का अर्थ समझने से मुक्तावस्था प्राप्त नहीं होती किन्तु विचार द्वारा ज्ञान प्राप्त करने पर तथा योग की उत्तरोत्तर समाधि अवस्था के अभ्यास से प्राप्त होती है।

जगत्, चैतन्य स्वरूप ब्रह्म से, साक्षात् प्रकट नहीं होता, और न काल, प्रकृति और पुरुष, ब्रह्म में से परिणाम द्वारा प्रकट होते हैं। यदि जगत्, ब्रह्म से साक्षात् ही प्रकट हुआ होता तो पाप और बुराइयाँ ब्रह्म से उत्पन्न हुई मानी जातीं। ईश्वर के अनादि सकल्प द्वारा सत्व के सयोग से, ब्रह्म, पूर्व सर्ग के आरम्भ में, ईश्वर रूप से कार्य करता है और सचमुच पुरुष और प्रकृति को उत्पन्न करता है जो ब्रह्म में अव्यक्त हैं और दोनो का संयोग कराता है। जिस क्षण ब्रह्म, पुरुष और प्रकृति को उत्पन्न करता है उसे काल माना जा सकता है। इस अर्थ मे काल को, बहुधा ब्रह्म का गत्यात्मक कारक माना जाता है। यद्यपि पुरुष अपने आप में सर्वथा सक्रिय है, किन्तु उनमें प्रकृति के सयोग के कारण आदोलन का भास होता है, जो सर्वदा गतिशील है। काल, ब्रह्म का गत्यात्मक कारक होने से, स्वाभाविक तौर से प्रकृति की गति से सम्बन्धित है, क्योंकि पुरुष और प्रकृति, स्वय दोनों, अपने आप में सक्रिय हैं और ब्रह्म की गत्यात्मक शक्ति से क्रियमाण होते हैं। वास्तविक सत्ता के सभी रूपो में काल मर्यादित और निश्चित है, और इस कारण अनित्य और कुछ अंश मे काल्पनिक है। गत्यात्मक क्रिया के समस्त व्यापारो में निहित नित्य शक्ति के रूप में काल नित्य कहा जा सकता है। जो काल, प्रकृति पुरुष का सयोग स्थापित करता है तथा महत् को भी उत्पन्न करता है, वह अनित्य है और इसलिए प्रलय के समय, यह सयोग न रहने के कारण, नही रहता। कारण यह है कि प्रकृति और पुरुष का सयोग कराने वाला काल निश्चित काल है, वहाँ एक ओर ब्रह्म के सकल्प द्वारा मर्यादित है और दूसरी ओर विकारो से भी मर्यादित है, जिन्हे वह उत्पन्न करता है। यह निश्चयात्मक काल ही भूत, भविष्य और वर्तमान के रूप मे निर्दिष्ट किया जा सकता है। किन्तु वर्तमान, भूत और भविष्य में परिणाम सन्निविष्ट है और यह क्रिया या गति की अपेक्षा करता है, यह क्रिया या गति जो काल के भूत वर्तमान और भविष्य रूप व्यक्त रूप से असंग है, नित्य है।[1]

---

[1] अथर्ववेद १९.५४। अथर्ववेद में काल को पृथ्वी और आकाश का जनयिता कहा है और सभी पदार्थ काल में ही बसते हैं। तपस् और ब्रह्म भी काल मे हैं, काल सभी का ईश्वर है। काल सभी जीवो को उत्पन्न करता है। ससार, काल द्वारा गतिशील किया गया है, उसी से उत्पन्न किया गया है और उसी ने ससार को धारण किया है। काल ब्रह्म होकर परमेष्ठिन् को धारण करता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में काल को सूर्य ने मूल कारण के रूप में धारण किया है ऐसा कहा गया है। मैत्री उपनिषद् में (४-१४) काल से सभी जीव उत्पन्न होते हैं उसी में वे बढ़ते हैं और लय होते हैं। काल निर्गुण रूप है (कालात् स्रवन्ति भूतानि, कालात्, वृद्धि प्रयान्ति च। काले चास्त नियच्छन्ति कालो मूर्तिरमूर्तिमान्)।
उसी ग्रन्थ में यह भी कहा है कि ब्रह्म के दो रूप हैं, काल और अकाल।

अथर्ववेद के निम्न उद्धरण से यह ज्ञात होगा कि पुरातन काल में किस प्रकार काल एक पृथक् वस्तु या शक्ति थी, जिससे सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, उसी से पालित होती हैं और अन्त में लय होती हैं। ईश्वर, परमेष्ठिन् ब्रह्मन् या प्रजापति काल से उत्पन्न हैं। मैत्री उपनिषद् में काल को अकाल भी कहा है।[1] अकाल सनातन प्राकृत काल है जो अमाप और अथाह शक्ति है। सर्ग की उत्पत्ति के बाद जब वह सूर्य की गति के रूप में नापा जाता है तब वह माप्य होता है। निसर्ग का सारा घटना-चक्र, इस प्रकार, काल की शक्ति का प्रादुर्भाव या अभिव्यक्ति है जो बिना किसी नियंता के होता है। काल का ऐसा विचार भौदर्यधर्मी है क्योंकि परमेष्ठी और प्रजापति जैसे महान् देव भी इसी से उत्पन्न हैं।

महाभारत के अनुशासन पर्व के पहले अध्याय में, गौतमी जिसके पुत्र को सर्प ने डस लिया था शिकारी जो सर्प को मारने पर बल दे रहा था, मृत्यु या सर्प और काल के बीच एक सवाद है। इस सवाद से ऐसा प्रतीत होता है कि काल सभी घटनाओं का चालक ही नही है किन्तु सत्व रजस् और तमस् की सभी अवस्थाएँ, स्वर्ग और पृथ्वी के सभी स्थावर और जगम, सभी आंदोलन और उनका अन्त, सूर्य, चद्र, जल, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, नदियाँ, सागर और जो कुछ भी चेतन और जड़ है वे सभी काल स्वरूप हैं और काल से ही उत्पन्न होकर वे काल मे ही समाते हैं। काल इस प्रकार का मूल कारण है। काल, अवश्य ही, कर्म-सिद्धान्त के अनुसार कार्य करता है, इस प्रकार काल और कर्म का अनादि सम्बन्ध है जो सभी घटनाओ का व्यापार निश्चित करता है। कर्म भी स्वय काल से उत्पन्न है और काल भविष्य में होने वाले प्रकार को भी निश्चित करता है। यह काल की दूसरी अवस्था का वर्णन है जो काल का अतःस्थ एव सर्वातिशाही कारण के रूप मे विचार है। यहाँ काल कर्म द्वारा नियंत्रित है। काल की तीसरी अवस्था, जो पुराणो मे मिलती है और जिसे भिक्षु भी मानते हैं, वह ब्रह्म में नित्य गत्यात्मक शक्ति के रूप मे है जो भगवान् के संकल्प से क्रियाशील होती है।[2]

---

[1] जो सूर्य से पहले है वह अकाल है और अखड है तथा जो सूर्य के बाद है वह काल है और सखंड है।

[2] अहिर्बुध्न्य सहिता मे, जो पचरात्र मत का ग्रन्थ है, नियति और काल, अनिरुद्ध से उत्पन्न पर काल की शक्ति की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। इस काल से पहले सत्व गुण उत्पन्न होता है फिर उससे रजोगुण और तमोगुण उत्पन्न होते हैं।

आगे यह भी कहा है कि काल सभी का संयोग वियोग कराता है। काल, अवश्य ही अपनी शक्ति को विष्णु की सुदर्शन शक्ति से पाता है। प्रकृति का विकार परिणाम भी काल के ही कारण है।

पुरुष शब्द का श्रुति में एक वचन में प्रयोग किया गया है, किन्तु वह जाति को उद्देश्य करके कहा गया है, देखें सांख्य सूत्र १–१५४ (नाद्वैत-श्रुति-विरोधो जाति-परत्वात्)।[1] परम पुरुष या ईश्वर तथा सामान्य पुरुषों में भेद यह है कि सामान्य पुरुष कर्मानुसार सुख दुःख का अनुभव करते हैं, जबकि ईश्वर सत्वमय देह के प्रतिबिम्ब के कारण सर्वदा आनन्द का नित्य और निरन्तर अनुभव करता है। सामान्य पुरुषों में सुख-दुःख का अनुभव असाधारण धर्म के रूप से नहीं हैं, क्योंकि जीवनमुक्तावस्था में ऐसा अनुभव नहीं रहता है। ब्रह्म, अवश्य ही, दूसरो के सुख-दुःख के अनुभवों से क्लिष्ट हुए बिना अनुभव कर सकते हैं। चरम सिद्धान्त या ब्रह्म, शुद्ध चैतन्य है जो पुरुष, प्रकृति तथा उनके विकारो के अन्तर्गत है और ये स्वरूप से ब्रह्म के आविर्भाव हैं, इसलिए आपस में सम्बन्धित दीख सकते हैं। प्रकृति का व्यापार भी अन्त में शुद्ध चैतन्य की सहज गति के कारण ही है, जो मूल सत्ता है।

विवेक और अविवेक, भेद और अभेद का ज्ञान, बुद्धि का गुण है, इसी कारण पुरुष अपने को बुद्धि से परिच्छिन्न नहीं कर सकते जिनसे वे सम्बन्धित हैं। पुरुष का बुद्धि से सयोग यह बताता है कि उसमे भेद और अभेद दोनो की विशेषता है। कठिनाई यह है कि विवेक के प्रकाश पर अविवेक की शक्ति का इतना विरोध है कि विवेक व्यक्त हो नहीं पाता। योग का उद्देश्य अविवेक की शक्ति को निर्बल करना है और अन्त मे उसे निर्मूल करना है जिससे विवेक प्रकट हो जाय। अब यह पूछा जा सकता है कि अन्तराय का स्वरूप क्या है। उत्तर यह दिया जा सकता है कि वह अविवेक है जो प्रकृति के विकारो के सयोग से, राग द्वेष से उत्पन्न होता है और ज्ञान को उभरने नहीं देता। सांख्य तो यह कहता है कि विवेक के उदय का न होना, पुरुष और बुद्धि के स्वरूप मे अतिसूक्ष्मता होने के कारण है जिससे वे एक दूसरे से इतने मिलते-जुलते है कि उनमें विवेक करना कठिन हो जाता है, किन्तु सांख्य के इस मत से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि इन दो तत्वो के बीच अति सूक्ष्मता ही विवेक

सांख्य कारिका की माठर वृत्ति को काल के सिद्धान्त को जगत् कारण के रूप में लक्ष्य करती है, (कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजा.। कालः सुप्तेषु जागर्ति तस्मात् कालः तु कारणम्) और उसका यह कहकर खण्डन करती है, कि काल जैसे पृथक वस्तु नहीं है (कालो नाम न कश्चित् पदार्थोऽस्ति) केवल तीन ही पदार्थ हैं, व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष और काल इनके अन्तर्गत है (व्यक्त मव्यक्त पुरुष इति त्रयः एव पदार्थः तत्र कालो अंतर्भूतः)।

[1] अहिर्बुध्न्य संहिता में तो पुरुष को पुरुषों के समूह के अर्थ में लिया गया है, जैसेकि मधुमक्खी का पुंज है जो संघ रूप से व्यवहार करता है और पृथक रूप से भी।

—अहिर्बुध्न्य संहिता, ६.३३।

में अतराय रूप है। क्योंकि यदि ऐसा होता तो इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए योगाभ्यास उपयोगी नहीं होगा। मूल कारण यह है कि हमारा स्थूल पदार्थों के प्रति राग-द्वेषात्मक संबंध ही इन दोनो सूक्ष्म तत्वों के विषय में विवेक उत्पन्न करने में बाधक है। स्थूल पदार्थों से हमारा मोह, इनसे दीर्घ काल के इन्द्रिय-सम्बन्ध से है। दार्शनिक को, इसलिए, स्थूल पदार्थों से विरक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। संसार-रचना का मूल हेतु, पुरुष को भोग की सामग्री प्रदान करना है, जिसे बुद्धि के माध्यम से, सुख-दुःख, भोग और कष्ट के बदलते अनुभव होते रहते हैं। बुद्धि के प्रलय होने पर इन अनुभवो का अन्त हो जाता है। ईश्वर वस्तुतः शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, यद्यपि उसका ज्ञान मुक्ति प्रदान करता है, तो भी, सर्वशक्तिमता, सर्वव्यापित्व तथा अन्य गुण ईश्वर को इसलिए दिए जाते हैं कि ईश्वर का महापुरुष के रूप में प्रणिधान करने से ही भक्ति शक्य है, और भक्ति तथा प्रेम द्वारा ही सच्चे ज्ञान का उदय हो सकता है। श्रुति मे ऐसा कहा गया है कि ईश्वर-प्राप्ति, तप, दान या यज्ञ से नहीं हो सकती, केवल भक्ति से ही होती है।[1] परम भक्ति प्रेमस्वरूपा है। (अत्युतमा भक्तिः प्रेमलक्षणा)।

ईश्वर सभी में अन्तर्यामी रूप से विराज-मान है और उसके लिए बिना इन्द्रियों के माध्यम के, सभी पदार्थ प्रकट हैं। ईश्वर को सर्वव्यापी कहा है क्योंकि वह सभी का कारण है और अन्तर्यामी भी है।

भक्ति, भगवान् का नाम-श्रवण करने, उनके गुणो का वर्णन करने, पूजा करने और अन्त में ध्यान करने में है जिससे सच्चा ज्ञान उत्पन्न होता है। इन सबको भगवत्-सेवा कहा है। यह सारा कार्यक्रम प्रेम से करना होता है। भिक्षु, गरुड पुराण का समर्थन देते हुए कहते हैं कि भज् शब्द का प्रयोग सेवा के अर्थ में किया गया है। वे भागवत का भी उल्लेख, यह बताने के लिए करते हैं कि भक्ति उस भाव से सबधित है जो आंखो मे अश्रु लाती है, हृदय को गद्‌गद् करती है और रोमांच उत्पन्न करती है। भक्ति द्वारा भक्त जिस प्रकार गगा सागर में अपने को लय करती है उसी प्रकार भक्त अपने को विलीन करता है और भगवान् में लय करता है।

उपरोक्त कथन से यह सिद्ध होगा कि भिक्षु प्रेमलक्षणा भक्ति को श्रेष्ठ मार्ग मानते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक मतो का भगवान् की भक्ति के प्रति अत्यन्त सीमित क्षेत्र है। क्योंकि यदि परम सत्य शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तो हम ऐसी

---

[1] अहं प्रकृष्टः भक्तितोऽन्यैः साधनेः द्रष्टु न
शक्यः भक्तिरेव केवला मद्दर्शने साधनम्।
ईश्वर गीता टीका। (हस्त० पं० महा० गोपीनाथ कविराज, प्रिंसिपल क्वीन्स कालेज वाराणसी से प्राप्त)।

सत्ता से पारस्परिक सम्बन्ध नहीं जोड़ सकते। प्राप्ति की अन्तिम अवस्था भी परम सत्ता से तादात्म्य होने में ही है, जो स्वयं पुरुष रूप नहीं है इसलिए उसके साथ कोई पारस्परिक सम्बन्ध भी शक्य नहीं है। विज्ञानामृत भाष्य ४-१-३ में भिक्षु कहते हैं कि प्रलय या मुक्ति के समय, जीव का किसी भी ज्ञान के विषय से सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिए वे अचेतन होते हैं और लकड़ी या पत्थर जैसी जड़ वस्तु के समान होने से वे सर्वाविभासक परमात्मा में इस तरह मिलते हैं जैसे सागर में नदी। पुनः, यही परमात्मा, अपने में से, उन्हें आग के स्फुल्लिंग की तरह बाहर फेंकते हैं और उन्हें विविक्त करते हैं और उन्हें कर्म करने की प्रेरणा करते हैं।[1] यह परमात्मा हमारी आत्मा का अन्तर्यामी तथा प्रेरक है। किन्तु यह स्मरण रहना चाहिए कि यह परमात्मा परम सत्य, शुद्ध चैतन्य नहीं है, किन्तु शुद्ध चैतन्य के सत्वमय देह के संयोग की अभिव्यक्ति है। इस तरह तात्विक दृष्टिकोण से परम सत्य और जीव के बीच कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं हो सकता। किन्तु फिर भी शुद्ध चैतन्य रूप ईश्वर का दार्शनिक दृष्टिकोण से पारस्परिक सम्बन्ध शक्य न होते हुए भी, भिक्षु ने, आवश्यक दार्शनिक निष्कर्ष के नाते नहीं, किन्तु ईश्वरवादी धारा के कारण इसे यहाँ प्रतिपादित किया है। यह ईश्वरवादी सम्बन्ध रहस्यात्मक रूप में भी विचारा गया है जो प्रेमोन्माद-सा है। ईश्वरीय प्रेम का ऐसा विचार, भागवत पुराण में और चैतन्य द्वारा प्रचारित वैष्णव सम्प्रदाय में पाया जाता है। यह रामानुज सिद्धान्त में प्रतिपादित भक्ति के सिद्धान्त से भिन्न है, जहाँ भक्ति अनवरत, धारावाहिक समाधि के रूप में मानी गई है। यदि हम भागवत पुराण गत भावात्मक की गणना न करे तो, भिक्षु इस प्रकार भावात्मक ईश्वरवाद के प्रवर्तकों में से सर्वप्रथम नहीं तो उनमें से एक अवश्य हैं। आधुनिक यूरोपीय दार्शनिकों के ग्रन्थों में भी ऐसे दृष्टान्त हैं, जहाँ यह कठिन परिस्थिति, ईश्वरवादी व्यक्तिगत अनुभव से अभिभूत होकर भाववाद के अनुभवों को न्याययुक्त प्रमाणित नहीं करती, और उदाहरण के तौर पर हम प्रिंगल पेटिसन के ईश्वर सम्बन्धी विचारों का उल्लेख कर सकते है। जीव के विचार में भी हम आपाततः विरोध देख सकते हैं। क्योंकि कभी जीव को शुद्ध चैतन्य रूप कहा है, और कभी उसे जड़वत् और परमात्मा के पूर्ण नियंत्रण में बताया गया है। उक्त विरोध यह समझ कर हल किया जा सकता है कि यह जड़ता केवल आपेक्षिक है

---

[1] तस्मात् प्रलय-मोक्षादौ विषय-सम्बन्धाभावात् काष्ठ-लोष्ठादिवत् जडाः सान्ता जीवा मध्यदिनादित्यवत्सदा सर्वाविभासके परमात्मनि विलीयते समुद्रे नद-नद्य इव पुनश्च स एव परमात्मा स्वेच्छयाग्नि-विस्फुलिंगवत् तानुपाधिसम्बन्धेन स्वतो विभज्यान्तर-यामी स न प्रेरयति तथा चोक्तम् चक्षुष्मतान्धा इव नीयमाना इति अतः स एव मुख्य आत्मान्तर्यान्यमृतः।

—विज्ञानामृत भाष्य, ४-१-३।

अर्थात् पुरुष स्वयं अक्रिय है, किन्तु कर्म के लिए परमात्मा से प्रेरित है। उन्हें लोष्ट और पत्थर रूप जड़ इसीलिए कहा गया है कि वे अपने आप में निष्क्रिय हैं। किन्तु इस निष्क्रियता को चैतन्य-रहितता से एक नहीं करना चाहिए। वे नित्य चैतन्य के स्फुलिंग होने के कारण, सर्वदा चैतन्य-स्वरूप हैं। उनकी क्रियाशीलता परमात्मा के कारण तो अवश्य है, जिससे वे आकर्षित हो, नित्य चैतन्य में से बाहर आते हैं और सांसारिक जीवों का नाटक रचते हैं और अन्त मे मुक्ति स्थिति में सागर में नदी की तरह, ब्रह्म में विलीन होते है। ईश्वर की यह क्रिया नित्य है, यह नित्य रचनात्मक प्रवृत्ति है जो सर्वथा अहैतुकी है (चरम-कारणस्य कृतेः नित्यत्वात्)।[1] यह श्वास प्रश्वास की तरह सहज ही, ईश्वर मे से स्वतः स्फुरित आनन्द रूप से उत्पन्न होती है, यहाँ सर्वथा किसी हेतु पूर्ति का आशय नही है। व्यास भाष्य में कहा है कि ससार-रचना जीवो के लाभ के हेतु की गई है। किन्तु भिक्षु कोई भी हेतु नहीं मानते। कभी-कभी इस अहेतुकी क्रीडा से भी तुलना की गई है। किन्तु भिक्षु कहते हैं कि यदि क्रीडा में अश मात्र भी हेतु है तो ईश्वर की क्रिया मे वह भी नहीं है। यह क्रिया, ईश्वर की रचना की इच्छा के साथ सहज ही उत्पन्न होती है, जिसके लिए किसी देह या इन्द्रियो की आवश्यकता नही रहती है। वह सारे विश्व से एक है इसलिए उसकी क्रिया का लक्ष्य अपने से बाहर कही भी नही है, जैसाकि साधारण कर्म में होता है। वह ही, जीवो के अनादि कर्म पर आश्रित होकर, उन्हे अच्छे और बुरे कर्म कराता है। कर्म भी, उसकी शक्ति का अग होने के कारण, और उसकी प्रेरणा की अभिव्यक्ति होने के कारण उसकी स्वतत्रता को मर्यादित नहीं कर सकता।[2] कृपा के सिद्धान्त, को समझाने मे, राजा, सेवको पर उनकी सेवा के अनुसार, कृपा करता है या नही करता है, यह उपमा भी सहायक नही है। जीवो के कर्मों के अनुरूप फल देने का, भगवान् की स्वतत्रता से सामंजस्य है। यदि यह तर्क किया जाता है कि, भगवान् की रचना-प्रवृत्ति नित्य है तो वह किस प्रकार कर्म पर आश्रित है? इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि कर्म सहकारी कारण हैं जो सुख-दुःख रूप ईश्वर की रचना-प्रवृत्ति को निश्चित करते हैं। पौराणिक पद्धति का अनुसरण करते हुए, भिक्षु, यह सूचित करते हैं कि ईश्वर द्वारा उत्पन्न हिरण्य गर्भ ही कर्म सिद्धान्त का विधायक है, जो ईश्वर की सहज क्रिया के रूप मे प्रकट है। इसलिए वही कर्मानुसार दुःखी मानवता के लिए जिम्मेदार है। ईश्वर केवल इस प्रक्रिया को निर्विरोध रूप से चलते रहने में सहायता करता है।[3] दूसरे अनुच्छेद में वे यह कहते हैं कि ईश्वर धर्म-अधर्म से सयुक्त जीव तथा उपाधियो को अपने ही में अपने अश के रूप में देखता है,

[1] देखो विज्ञानामृत भाष्य, २-१-३२।

[2] देखो विज्ञानामृत भाष्य, २-१-३३।

[3] वही, २-१-३३।

जीवों को इन उपाधियों से सम्बन्धित करके, वह उन्हें अपने में से बाहर लाता है। जिस प्रकार कुम्हार घड़ों को रचता है, इस प्रकार वह जीवों का निर्माता है।[1]

आत्मा अस्पृश्य और असंग है। प्रकृति और पुरुष का संयोग, इसलिए, साधारण अर्थ में साक्षात् सम्बन्ध के रूप में नहीं समझना चाहिए, किन्तु यह सम्बन्ध उपाधि द्वारा प्रतीत रूप से बिम्बित होना है जिससे शुद्ध आत्मा संसारी की तरह कार्य करना है। आत्मा को अपने गुण एवं धर्म का ज्ञान नहीं होता, वह स्वयं शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, इस शुद्ध चैतन्य का किसी समय भी अवसान नहीं होता, वह गाढ निद्रा में भी रहता है। किन्तु गाढ निद्रा में कोई ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वहाँ कोई ज्ञान का विषय नहीं होता, और इसी कारण चैतन्य आत्मा में विद्यमान होते हुए भी, उसका भान नहीं करता। अन्तःकरण में रही वासनाएँ शुद्धात्मा को दूषित नहीं कर सकतीं, क्योंकि उस समय अन्तःकरण का लय हुआ रहता है। बुद्धि की वृत्तियों के प्रतिबिम्ब से ही पदार्थों का ज्ञान शक्य है। शुद्ध चैतन्य, आत्मा से अभिन्न होने के कारण, ज्ञाता और ज्ञेय रूप द्वैत युक्त आत्म-चेतना गाढ़ निद्रा में नहीं हो सकती। शुद्ध चैतन्य वैसा ही बना रहता है और केवल चित्तवृत्तियों के परिणाम के अनुसार, विषयों का ज्ञान आता और जाता है।[2] जीव, इस प्रकार, परमात्मा के अनुचिन्तन से उत्पन्न हुआ नहीं माना जाना चाहिए, जैसाकि शंकर मतवादी मानते हैं, क्योंकि ऐसी स्थिति में जीव सर्वथा असत् होंगे, और बन्धन-मुक्ति भी असत् कहे जाएँगे।

विज्ञानामृत भाष्य के अनुसार ब्रह्म और जगत्

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय, विकार, क्षय और विनाश, ईश्वर रूप ब्रह्म से है। वह प्रकृति और पुरुष को निर्मित करने वाली शक्तियों को अपने में धारण करता है, और अपने विभिन्न रूपों में व्यक्त करता है, शुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म, अपनी सत्ता की उपाधि से संयुक्त होता है, जो समस्त सर्जन-क्रिया में सत्व गुण-युक्त, माया है, इसलिए, उस महान् सत्ता से, जो क्लेश-रहित है, कर्म तथा फल उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म सूत्र २-२ में यह कहा है कि जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है तथा उसी से धारण किया गया है इससे यह अर्थ निकलता है कि जगत् की जैसी भी अपनी सत्ता है वह परम सत्ता और अव्यक्त की सत्ता के अन्तर्गत एक नित्य तथ्य है। जगत् की उत्पत्ति,

---

[1] ईश्वरो हि स्वांशस्व-शरीरांश-तुल्यौ जीव-तदुपाधि-स्वान्तर्गतौ धर्मादि सहितौ साक्षादेव पश्यन्नपरतंत्रः स्व-लीलया संयोग विशेषं ब्रह्मादीनामपि दुर्विभाव्यं कुर्वन् कुंभकार इव घटम्। —वही, २-१-२३।

[2] विज्ञानामृत भाष्य, २-३-५।

परिणाम और विनाश उसके भासमान पहलू हैं।[1] ब्रह्म को यहाँ अधिष्ठान कारण माना है। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म जगत् का आधार है जिसमें जगत् अविभक्त और अव्यक्त रूप से स्थित है और वह जगत् को धारण भी करता है। ब्रह्म ही एक कारण है जो जगत् के उपादान कारण को धारण करता है जिससे कि वह उस रूप से परिणत हो सके।[2] ब्रह्म चरम कारण का सिद्धान्त है जिससे सभी प्रकार के कारणत्व शक्य हैं। मूल ब्रह्म में प्रकृति और पुरुष नित्य चैतन्य रूप में रहते हैं और इसलिए दोनों उससे एक होकर रहे हैं। ब्रह्म न तो परिणामी है और न प्रकृति और पुरुष से तद्रूप है। इसी कारण यद्यपि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य स्वरूप और अपरिणामी है, फिर भी वह जगत् से एक रूप और उसका उपादान कारण माना गया है। विकारी कारण और अधिष्ठान कारण को, उपादान कारण की संज्ञा दी गई है। उपादान और अधिष्ठान कारण के अन्तर्गत सिद्धान्त यह है कि कार्य उसमें लय होता हुआ, धारण किया गया है या उससे अविभेद्य है।[3] कार्य से अविभाग या एकात्मकता, सामान्य रूप से समझा जाने वाला तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है किन्तु यह एक प्रकार का निरसबंधित सम्बन्ध है, एक प्रकार की विलक्षणता है जिसे सम्बद्ध घटकों में अपघटित नहीं किया जा सकता जिससे कि यह सम्बन्ध उन घटकों में फिर से जोड़ा जाय। कहने का तात्पर्य केवल यह है कि जगत् ब्रह्म रूप अधिष्ठान से इस प्रकार अधिष्ठित है कि उसे केवल ब्रह्म का मिथ्याभास या उसे ब्रह्म का परिणाम या विकार ही नहीं माना जा सकता है. किन्तु जब ये दो प्रकार के सम्भावित कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं उपयुक्त होते, तो जगत् की ब्रह्म के बिना, जो ब्रह्म जगत् का आधार है और जो विकास-क्रम की सहायता करता है, कोई सत्ता, महत्त्व या अर्थ नहीं रहता। आधार-आधेय का सामान्य सम्बन्ध, यहाँ अनुपयुक्त ठहरता है, क्योंकि इसमें स्वतन्त्र सत्ता का द्वैत बना रहता है, वर्तमान प्रस्ताव में, तो, जहाँ ब्रह्म को अधिष्ठान कारण माना गया है वहाँ यह द्वैत भाव नहीं है और जगत् का ब्रह्म से पृथक् होना सोचा नहीं जा सकता, जो उसका अधिष्ठान है और अपने पररूप से अपरिणामी रहता है। इस प्रकार, यद्यपि, यहाँ यह मानना पड़ता है कि सम्बन्ध दो के बीच है, किन्तु इसे पर या सर्वातिशायी दृष्टि से समझना चाहिए जिसकी उपमा कहीं भी नहीं मिलती। पानी और

---

[1] अत्र चैतद् यत इत्यनुक्त्वा जन्माद्यस्य यत इति वचनादव्यक्त-रूपेण जगत् नित्यं एव इति आचार्याशयः।

—विज्ञानामृत भाष्य, १-१-२।

[2] किं पुनरधिष्ठान-कारणत्वमुच्यते तदेवाधिष्ठान-कारणं यत्राविभक्तं येनोपष्टब्धं च सदुपादाना कारणं कार्याकारेण परिणमते। —वही।

[3] कार्याविभागाधारत्वस्यैवोपादान-सामान्य-लक्षणत्वात्।

—विज्ञानामृत भाष्य, १-१-२।

दूध के मिश्रण जैसी चित्रवत् उपमा भी इसके अनुरूप नहीं ठहरती।[1] यहाँ जहाँ तक दोनों सम्मिश्र अवस्था में हैं वहाँ तक पानी दूध पर आश्रित है, और दोनों को हम एक को दूसरे के बिना सोच नहीं सकते। प्रकृति और पुरुष के धर्म भी शुद्ध चैतन्य मय ईश्वर के स्वरूप से अभिव्यक्त होते हैं, द्रव्यगुण और कर्म का कारणत्व भी ईश्वर में अंतर्निहित स्वरूप से है जो सभी पदार्थों में व्याप्त है। समवाय सम्बन्ध का अधिष्ठान में इस विलक्षण अविभाज्य सम्बन्ध से भेद यह है कि समवाय, कार्यों के आपस के अंतरंग गाढ सम्बन्ध में होता है और अविभाग सम्बन्ध केवल कार्य का कारण से विशेष प्रकार का सम्बन्ध है, और यह कार्य अंशो का, कार्यों के अविच्छेद संयोग रूपी पूर्ण से कोई सम्बन्ध लक्ष्य नहीं करता। एक जीवित प्राणी के अंगो में आपस में विद्यमान अविभाग सम्बन्ध भी इस कार्य कारण अविभाग सम्बन्ध से भिन्न है। जड़ और जीव युक्त, इस जगत् के अंग, एक दूसरे से अवियोज्य सम्बन्ध में एक हुए माने जा सकते हैं, किन्तु यह संबंध आपस में कार्यों के बीच गाढ संबंध है, और पूर्ण इनके समूह से पृथक् कुछ नहीं है। यही समवाय संबंध की विशिष्टता कही जा सकती है। किन्तु अधिष्ठान के अविभाग संबंध में, कार्य, अधिष्ठान मे इस प्रकार समाया हुआ है कि कार्य की कारण से पृथक् सत्ता ही नहीं है।[2] ब्रह्म, इस मत में, आधार या अधिष्ठान है जो पुरुष और प्रकृति के सम्पूर्ण एकत्व को आधार देता है जिससे कि वह जगत् के विभिन्न रूपो से अभिव्यक्त हो।[3] वह, इसलिए, विकार तथा जगत् परिणाम में कोई भाग नहीं लेता किन्तु वह अपने में अभिन्न रूप से रहता है, और अपने में स्वस्थित और स्वाश्रित होकर जगत् रूप होता है।

विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि वैशेषिक मत में ईश्वर को चालक या निमित्त कारण माना है, जबकि वे सोचते हैं कि ईश्वर का कारणत्व, समवायी, असमवायी या निमित्त, इनमे से कोई भी नहीं हो सकता, किन्तु वह तो चौथे ही प्रकार का है जो अधिष्ठान या आधार कारण है।[4] वे इस प्रकार के कारण का अधिष्ठान शब्द से भी वर्णन

---

[1] अविभागश्चा धारतावत् स्वरूप-सम्बन्ध-विशेषोऽत्यत-सम्मिश्रण-रूपो दुग्ध जला-द्येकता-प्रत्यय-नियामकः। —विज्ञानामृत भाष्य।

[2] तत्र समवाय-सम्बन्धेन यत्राविभाग स्तद् विकारि-कारण यत्र च कार्यस्य कारणा-विभागेन अविभागस्तदधिष्ठान-कारणम्। —वही।

[3] यदि हि परमात्मा देहवत् सर्व कारण नाधितिष्ठेत तर्हि द्रव्य-गुण-कर्मादि-साधा-रणाखिल-कार्ये इत्यं मूलकारणम् न स्यात्।

—ईश्वरगीता भाष्य, हस्त०।

[4] अस्माभिस्तु समवाय्यसमवायिभ्याम् उदासीनं निमित्त कारणेभ्यश्च विलक्षणतया चतुर्थमाधार-कारणत्वम्। —वही।

करते हैं जिस शब्द से हम शंकर वेदान्त में परिचित हैं। किन्तु इन दोनों अधिष्ठान कारण के प्रत्ययों में महान् भेद है, क्योंकि भिक्षु इसे अपरिणामी आधार मानते हैं जो अपनी अविभक्त एकता में परिणाम के सिद्धान्त की क्रिया को धारण करता है: शंकराचार्य, जबकि अधिष्ठान को परिणाम का आधार मानते हैं जो वास्तव में असत् हैं। भिक्षु के अनुसार तो अपरिणामी व्यापार असत् नहीं है किन्तु वे आधार कारण के साथ अविभक्त एकता में रहने वाले परिणाम सिद्धान्त का विकार मात्र है। जब जगत् को सत् असत् रूप कहते हैं और इसलिए वह असत् और मिथ्या है, तब शंकर मतवादी बड़ी भूल करते हैं। जगत् को सत् असत् यों कहा है कि वह परिणाम के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति है। उसे 'यह' कहा जाता है और तो भी, क्योंकि वह बदलता है इसलिए उसे 'यह' भी नहीं कहा जा सकता। बदलते व्यापार के भविष्य में होने वाले रूप भी, वर्तमान में असत् रूप हैं और वर्तमान रूप भी भविष्य में होने वाले रूपों में नहीं के समान हैं। इस प्रकार उसके कोई भी रूप असत् माने जा सकते हैं, इसलिए जो वस्तु सदा है और एक ही रूप में बनी रहती है उसकी तुलना में, यह मिथ्या है।[1] जगत् के सभी पदार्थ जहाँ तक वे भूत भविष्य में हैं, वे उनकी वर्तमान दशा से बाधित हैं और इसलिए मिथ्या माने जाते हैं, किन्तु जहाँ तक वे अपने वर्तमान से प्रत्यक्ष किए जाते हैं सत्य माने जाते हैं।[2]

जगत् तो शुद्ध चैतन्य रूप से नित्य और अविकारी है, जिसमें से वह जड़ और जीव युक्त जगत् के रूप में पृथक् किया गया है। शुद्ध चैतन्य अपने आप में अन्तिम सत्य है जो सर्वदा एकसा है और उसमें किसी प्रकार का परिणाम या विकार नहीं होता। जीव और जड़ जगत् का अन्त में ब्रह्म में ही लय होता है जो शुद्ध और परम चैतन्य है। वे इसलिए, नित्य अपरिणामी ब्रह्म की तुलना में नाम-रूप कहे गए हैं।[3] किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जीव और यह जड़ जगत्, नितान्त मिथ्या और माया या भ्रम है। यदि सब जो कुछ दीखता है वह मिथ्या है तो सभी नैतिक मूल्यों का अन्त हो जायगा और बंधन तथा मुक्ति के सभी विचार निरर्थक हो जाएँगे। यदि ब्रह्म के अतिरिक्त सभी वस्तुओं का मिथ्यात्व किसी प्रकार सिद्ध भी कर दिया जाता है,

---

[1] एक-धर्मेण सत्व दशायां परिणामि-वस्तूनामतीतानागत-धर्मेण असत्त्वात्।

—विज्ञानामृत भाष्य, १-१-२।

[2] घटादयो हि अनागताद्यवस्थासु व्यक्तावस्थाभि र्बाध्यन्ते इति। घटादयो मिथ्या-शब्देन उच्यन्ते विद्यमान धर्मेश्च तदानीं न बाध्यन्ते इति सत्या इत्यपि उच्यन्ते।

—वही।

[3] ज्ञान स्वरूपः परमात्मा स एव सत्यः जीवाश्चाशस्तदंशिन्येकीभूताः अथवावयवत्वेन परमात्मापेक्षया तेऽप्यसन्तः।

—वही।

तो यह प्रयास स्वयं सिद्ध कर देगा कि इन प्रमाणों में सच्चाई है और इसलिए यह भी कि शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त और भी वस्तु हैं जो सत्य हो सकती हैं। यदि वे प्रमाण असत्य हैं किन्तु वे अन्य वस्तु के विरोध मे शुद्ध चैतन्य की प्रमाणता सिद्ध कर सकते हैं तो ये प्रमाण जगत् की अन्य वस्तुओं की सचाई भी सिद्ध कर सकते हैं। यह माना जा सकता है कि जिसे सामान्य मनुष्य सच समझते हैं उन्हें, उन प्रमाणों द्वारा मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है जिन्हें वे प्रमाण मानते हैं, किन्तु शकर मतानुसार किसी को भी सत्य नहीं माना गया है, इसलिए जगत्-व्यापार को सत्य सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलते। किन्तु इस मत के विषय में जो उत्तर उपस्थित होता है वह यह है, यद्यपि जगत् की सचाई सिद्ध नहीं की जा सकती तो भी इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि जगत्-व्यापार असत् है, क्योंकि यदि उसकी प्रमाणता सिद्ध भी न की जा सके तो भी, उसकी सचाई या सत्ता कम से कम शकास्पद रह सकती है। इसलिए, हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे, हम उसकी सत्यता या मिथ्या के विषय में निष्कर्ष दे सकें। जगत् की सच्चाई, ब्रह्म जो शुद्ध चैतन्य है, उससे किसी दूसरी कोटि की है, जगत् की सचाई, अर्थक्रियाकारित्व दृष्टि से है। किन्तु जगत् की परिणाम अवस्था में जगत् की सचाई उसके परिणाम होने में या अर्थक्रियाकारित्व में है तो भी वह अपने आप मे परम सत्य भी है, क्योंकि जगत् की अंतिम सत्ता ब्रह्म से उद्भूत हुई है। जीव और जड युक्त जगत्, ब्रह्म मे, शुद्ध चैतन्य रूप से विद्यमान है और इसलिए उससे एक है। जब वह अपनी शुद्ध चैतन्यावस्था में जीव और जड जगत् के रूप मे व्यक्त होता है, तब हम उसकी सर्जन अवस्था कहते हैं। जब वह ब्रह्म में चैतन्य रूप से फिर लय होता है तब वह प्रलय अवस्था है।[1] जीव, जड-जगत् को भी अन्त मे शुद्ध चैतन्य रूप मानना पडता है, और इसलिए वह शुद्ध चैतन्य का अग है जिसमे वह लय हुआ सा रहता है। परिवर्तनशील दृश्य रूप जगत् भी, इस प्रकार का ज्ञान रूप है और केवल अज्ञानी ही उसे केवल विषय (अर्थ) रूप मानते हैं।[2] जब श्रुति, ब्रह्म और जगत् की अभिन्नता प्रतिपादन करती है, तब वह इस अन्तिम अवस्था को लक्ष्य करके कहती है, जिसमे जगत् ब्रह्म से एक होकर शुद्ध चैतन्य रूप से रहता है। किन्तु प्रलयावस्था में ही केवल जगत्, ब्रह्म से अविभक्तावस्था में ही नहीं रहता, किन्तु सर्जनावस्था में भी वह ब्रह्म से एक होकर रहता है, क्योंकि जड़ वस्तु मे पाई जाने वाली जो कुछ भी यांत्रिक या अन्य प्रकार की शक्तियां हैं वे ईश्वर की ही शक्तियां हैं और क्योंकि शक्ति को शक्तिमान् से अभिन्न माना जाता है

---

[1] प्रलयेहि पुं प्रकृत्यादिकं ज्ञानरूपेणैव रूप्यते न त्वर्थरूपेण अर्थतो व्यंजक-व्यापाराभावात्। —विज्ञानामृत भाष्य, १-१-४।

[2] ज्ञान स्वरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः। अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोह सम्प्लवे। —वही।

इसलिए यह माना जाता है कि परिवर्तनमय समस्त जगत् ईश्वर में ही है।[1] प्रलयावस्था में जगत् शक्तियाँ ईश्वर में चैतन्य रूप से या चित् शक्ति के रूप में रहती हैं; जो उत्तरकाल में उसके द्वारा जड़ रूप से या जड़ शक्ति के रूप में व्यक्त की जाती हैं। जगत्-शक्तियों की ईश्वर में एकता इस प्रकार की है कि यद्यपि वे किसी अंश में स्वतंत्र हैं तो भी वे ईश्वर की सत्ता से इस प्रकार घुल मिल गई हैं कि उससे पृथक् नहीं किया जा सकता। उनकी स्वतंत्रता इसमें है कि वे शक्ति रूप हैं किन्तु वे ईश्वराधीन हैं इसलिए उनको ईश्वर से पृथक् सोचा नहीं जा सकता और न उनकी सत्ता ही है। इस प्रकार वर्णित जड़ जगत् नित्य सत्य नहीं है, इस तथ्य के भान को बाध या व्याघात कहा जा सकता है (पारमार्थिक-सत्ताभाव-निश्चय एव बाध.)।[2] किन्तु इस बाध के होते हुए भी जगत् व्यावहारिक रूप से सत्य है (तादृश-बाधेऽपि च सति ज्ञान-साधनादीनां व्यावहारिक-सत्वात्)।

प्रकृति और पुरुष का कारणत्व उनकी विशिष्ट शक्तियों से मर्यादित है, जिससे विकार निश्चित होते हैं। किन्तु ईश्वर, इन सबों के पीछे, सामान्य सर्व कारण है जो इन विशिष्ट मर्यादित विकारों से ही प्रकट नहीं है किन्तु वह उनकी आन्तरिक एकतानता एव क्रम को तथा आपस के संबंध को भी नियमित करता है। इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय दृष्टि के व्यापार तक ही सीमित है और त्वगिन्द्रिय अपने व्यापार में स्पर्श सम्बन्ध तक सीमित रहती है किन्तु इन सबके व्यापार, जीव द्वारा संगठित होते हैं जो इनमे से अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार ब्रह्म, इस दृष्टि से उपादान एव निमित्त कारण माना जा सकता है।[3] सांख्य और योग के अनुसार प्रकृति पुरुष से आन्तरिक और सहज प्रयोजनवत्ता से सम्बन्धित मानी गई है किन्तु वेदान्त के अनुसार भिक्षु के मत से उनका आपस मे मिलकर कार्य करना ईश्वर के कारण से है।[4]

जीव

ईश्वर गीता की टीका मे भिक्षु कहते हैं कि जो अधिक सामान्य है उसका कम

---

[1] शक्तिमत्कार्य कारणाभेदेनैव ब्रह्माद्वैत बोधयन्ति अयं च सार्वकालो ब्रह्मणि प्रपचाभेदः। —वही।

[2] विज्ञानामृत भाष्य, १-१-४।

[3] ब्रह्मणस्तु सर्व शक्तिकत्वात् तत्तदुपाधिभिः सर्व-कारणत्वं यथा चक्षुरादीनां दर्शनादि-कारणत्वं यत्प्रत्येकमस्ति तत्सर्वं सर्वाध्यक्षस्य जीवस्य भवति, एतेन जगतो भिन्न-निमित्तोपादानत्वं व्याख्यातम्। —वही, १-१-२।

[4] सांख्य योगिभ्यां पुरुषार्थ-प्रयुक्ता प्रकृतिः स्वयमेव पुरुषेण आद्यजीवेन संयुज्यते··· अस्माभिस्तु प्रकृति-पुरुष-संयोग ईश्वरेण क्रियते। —वही।

सामान्य से क्षेत्र बड़ा होता है इसलिए वह छोटे के सम्बन्ध में ब्रह्म कहलाता है। कार्य का कारण, कार्य से बृहत् और अधिक सामान्य होता है इसलिए उसकी तुलना में वह ब्रह्म कहलाता है। इसलिए ब्रह्म के अनेक स्तर हैं। किन्तु जो इस स्तर से सर्वोपरि है वह महान् या परम सामान्य है और चरम कारण है इसलिए वह पर-ब्रह्म कहलाता है। ब्रह्म, इस प्रकार महान् और परम सत्य है। जड़ जगत् को निश्चित करने वाले तत्व ब्रह्म में ज्ञान रूप से विद्यमान है। सृष्टि-रचना का अर्थ यह है कि ये निश्चित करने वाले तत्व, जो अव्यक्त और अक्रिय होकर विद्यमान हैं वे जगत् रूप से व्यक्त और सक्रिय होते हैं। शुद्ध चैतन्य स्वरूप ईश्वर को इस अव्यक्त प्रकृति के कार्य एव परिणामो का पूर्ण एव विस्तृत ज्ञान है, जो वास्तविक जगत् रूप से परिणत होता है। प्रकृति के परिणाम का प्रारम्भ पुरुष का चैतन्य से संयोग के क्षण से होता है। श्रुति कहती है कि ईश्वर ने पुरुष और प्रकृति में प्रवेश किया, सन्तुलन को क्षुब्ध किया और एक दूसरे का सयोग साधा। पुरुष अवश्य ही, चैतन्य के स्फुलिंग रूप हैं, और उनमे किसी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न करना असम्भव है। क्षोभ इस प्रकार प्रकृति मे होता है और इस क्षोभ का प्रभाव पुरुष मे भी मान लिया जाता है। पुरुष को ईश्वर का अश रूप मानना चाहिए, और पुरुष और ब्रह्म में सचमुच तादात्म्य हो नही सकता। पुरुष और ब्रह्म में तथाकथित तादात्म्य का अर्थ यह है कि वे ईश्वर की सत्ता के विभाग हैं जिस प्रकार पूर्ण के अश उसके विभाग होते हैं। शंकर-मत-वादियों का यह कहना कि जीव और ब्रह्म एक ही हैं, और भेद केवल अज्ञान की बाह्य उपाधि के कारण या प्रतिबिम्ब के कारण है, गलत है। ब्रह्म और जीव के बीच एकता अविभाग रूप है। यदि जीव की सत्ता अस्वीकार की जाती है तो यह नैतिक और धार्मिक मूल्यों और तथा बधन और मुक्ति को भी अस्वीकार करना होगा।

इस सम्बन्ध में यह भी आग्रह किया जाता है कि जीव ब्रह्म से, आग से स्फुल्लिंग की तरह उत्पन्न है या पिता से पुत्र की तरह। जीव, शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने से ईश्वर के अनुरूप हैं। किन्तु यद्यपि वे उससे उत्पन्न हुए हैं तो भी वे अपना व्यक्तित्व बनाए रखते हैं और अपने नैतिक व्यवहार का क्षेत्र भी बनाए रखते हैं। जीव अपने स्वरूप से स्वतत्र और मुक्त हैं, वे सब सर्वव्यापी हैं, और वे अपने चैतन्य में जगत् को धारण करते हैं। इन सबो में वे ब्रह्म के समान हैं। किन्तु उपाधि से सम्बन्धित होकर, वे मर्यादित और सीमित दीखते हैं। जब जीव का सारा जीवन-काल, ब्रह्म में अश रूप से विद्यमान माना जाता है, तथा ब्रह्म में से पृथक् रूप से व्यक्त हुआ माना जाता है, और वह उपाधि के सयोग से उत्पन्न जीवन व्यतीत करता है और अन्त में उससे विभक्त होता है और ब्रह्म से अपनी एकता अनुभव करता है, तथा कुछ अंश में उससे भिन्न भी है ऐसा अनुभव करता है, तब ही सच्चा दार्शनिक ज्ञान हुआ कहा

जाता है और यही अपने स्वरूप की सच्ची अनुभूति है।[1] सांख्य से इस मत का भेद यह है कि सांख्य केवल पुरुष की पृथक्ता और विलक्षणता जानकर ही संतुष्ट रहता है किन्तु वेदान्त-दृष्टि जो यहाँ प्रतिपादित की गई है, वह इस तथ्य की अवहेलना नहीं कर सकता कि वे पृथक् होते हुए भी ब्रह्म से एक रूप हैं और वे उससे उत्पन्न हुए हैं, और यही अपनी विलक्षणतामय नियति को पूरा करके फिर उसी में लय होंगे और सांसारिक जीवन काल में भी वे एक दृष्टि से अविभक्त हैं क्योंकि वे उसकी शक्ति हैं।[2] जीव और ब्रह्म के बीच रहा हुआ भेद, उनके सासारिक जीवन-काल में बहुत ही स्पष्ट है। वह इस कारण है कि प्रत्येक जीव में प्रकृति का ज्ञान, उनकी चेतना में पृथक् रूप से रहता है और प्रत्येक जीव अपने अनुभव से सीमित है। किन्तु प्रलय के समय, जब प्रकृति-जगत् ब्रह्म में अव्यक्त शक्ति की स्थिति मे मिल जाती है, तब जीव भी उसमें मिल जाते हैं, और फिर उनके अनुभव का पृथक् क्षेत्र नहीं रहता और उनकी पृथक् सत्ता वर्णित नहीं की जा सकती।

पूर्ण और अंश जैसा सम्बन्ध जो जीव और ब्रह्म के बीच विद्यमान है, वह पिता पुत्र जैसा है। पिता पुत्र रूप से फिर जन्म लेता है। जन्म से पहले पुत्र, पिता की प्राण शक्ति में अविभक्त रूप से रहता है और जब उससे पृथक् हो जाता है तो मानों पिता की ही प्राण शक्ति या जीवन शक्ति, एक नए जीवन काल में पुनरावृत्ति करती है और अपना पृथक् कार्य-क्षेत्र बनाती है। पुनः जब ऐसा कहा है कि जीव ब्रह्म के विभाग हैं, तब ऐसा नही समझना चाहिए कि वे ईश्वर या सृष्टि रचयिता के रूप में भाग लेते हैं। ईश्वर अपने स्वरूप में एकरस नही है किन्तु उसमें पृथक्कता और विलक्षणता का तत्त्व सर्वदा विद्यमान रहता है। यदि वह एकरस होता तो उसके भागों में विशिष्ट पृथक्ता न होती और वे आकाश के विभाग की तरह एक दूसरे से सदा अविभाज्य रहते। किन्तु ईश्वर मे भेद का सिद्धान्त विद्यमान है, यह इस बात को स्पष्ट करता है कि जीव ब्रह्म से चैतन्य रूप से ही समान है किन्तु उनका, सर्व शक्ति सत्ता और सृष्टि-रचना के कार्य में कोई भी दायित्व नही है। सांख्यकार यह मानते हैं कि अपने ममत्वमुक्त अनुभव, वृत्तियाँ, इन्द्रियाँ, बुद्धि और देह अलग होने पर ही मुक्ति मिलती है, यह जानकर कि आत्मा स्वप्रकाश्य है जिसे सारे अनुभव दृश्य होते हैं और यद्यपि वे उससे सर्वथा भिन्न है तो भी वे उसमें (आत्मा) एक रूप से धारण

---

[1] भेदाभेदौ विभागाविभागरूपौ कालभेदेन अविरुद्धौ अन्योन्या भावश्च जीव-ब्रह्मणो-रात्यन्तिक एव।

—विज्ञानामृत भाष्य, १.१.२।

[2] अत इदं ब्रह्मात्म ज्ञान विविक्त जीव ज्ञानात् सांख्यो क्तादपि श्रेष्ठम्।

—वही, १. १. २।

किए हुए रहते हैं। किन्तु वेदान्त का अर्थ जो यहाँ पर ग्रहण किया गया है उसके अनुसार, शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा के ज्ञान से तथा ईश्वर से वे उत्पन्न हुए हैं, और उसी के द्वारा उनकी स्थिति बनी हुई है, और जिसमें वे अन्त में विलीन होंगे और इस ज्ञान से कि वे सब ईश्वर के चैतन्य में उसके अंश रूप से विद्यमान हैं, और यह कि आत्मा अनुभव का सच्चा भोक्ता नहीं है किन्तु वह केवल चैतन्य है जिसमें जगत् और अनुभव प्रकाशित होते हैं, ममत्व का नाश होता है। इस प्रकार यद्यपि सांख्य और वेदान्त मे जैसाकि यहाँ समझा गया है, मुक्ति मिथ्या ममत्व के दूर होने से प्राप्त होती है, हमारे मत में ममत्व का लय एक भिन्न दार्शनिक विचारानुसार होता है।[1]

चैतन्य एक गुण नहीं है, किन्तु आत्मा का स्वरूप है। जिस प्रकार प्रकाश एक द्रव्य है जो दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार चैतन्य भी एक द्रव्य है जो दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करता है। जब कोई कहता है 'मैं इसे जानता हूँ' तब ज्ञान 'मैं' के गुण रूप से प्रतीत होता है जो न तो आत्मा है और न एक रस वस्तु है। 'मैं' इन्द्रियाँ बुद्धि इत्यादि का मिश्रण है जिसमें गुण निवेश किए जा सकते हैं, आत्मा कोई मिश्र वस्तु नहीं है, किन्तु एकरस अमिश्र वस्तु चैतन्य है। 'मैं' रूप मिश्र वस्तु, चैतन्य के प्रकटीकरण द्वारा सभी वस्तुओं को व्यक्त करती है। आनन्द या सुख, अवश्य ही, स्वप्रकाश्य पदार्थ नहीं माने जा सकते, किन्तु वह दुःख जैसा स्वतंत्र पदार्थ है जो चैतन्य द्वारा प्रकाशित होता है। इसलिए न तो आत्मा और न ब्रह्म ही को आनद या सुख रूप माना जा सकता, क्योंकि ये प्रकृति के विकार हैं और इसलिए इन्हे दर्शन नहीं किन्तु दृश्य मानना चाहिए। चैतन्य को, विषयों को प्रकाशित करने के लिए बुद्धि-व्यापार के माध्यम की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ऐसा मत प्रश्न को हल किए बिना अनवस्था दोष उत्पन्न करेगा। यह भी सोचना गलत है कि चैतन्य को प्रकाशित होने के लिए कोई व्यापार करना पड़ता है क्योंकि वस्तु अपने आप पर क्रिया नहीं कर सकती (कर्तृ-कर्म-विरोधात्)। यदि उपरोक्त कारणवश आत्मा को सुख रूप नहीं माना जा सकता तो मुक्ति के समय भी उसमें वह गुण नहीं हो सकता उस समय केवल दुःख का अन्त है या यो कहिए कि सुख और दुःख दोनो का अन्त है जिसे पारिभाषिक शब्दो मे सुख कहा है (सुख दुःख-सुखात्ययः)। मुक्ति के समय बुद्धि व्यापार इत्यादि समस्त उपाधियाँ लय होती हैं और परिणामस्वरूप सुख-दुःख के सभी अनुभव लुप्त हो जाते हैं क्योंकि ये विषयगत हैं जो आत्मा के लिए उपाधिवशात् दृश्य हैं। जब उपनिषद् कहते हैं कि आत्मा सबसे अधिक प्रिय है, तो यह मानना आवश्यक नहीं है कि सुख सबसे अधिक प्रिय है, क्योंकि आत्मा स्वतः के लिए मूल्यावान् हो सकती है, यह भी सोचा जा सकता है कि यहाँ सुख का अर्थ दुःख

---

[1] विज्ञानामृत भाष्य, पृ० १६।

का अन्त है।[1] अमरत्व की इच्छा या आत्मा की अनन्त काल तक जीवन की अभिलाषा, हमारा अपने प्रति मोह को उदाहृत करता है। दूसरा मत, कि प्राप्ति का परम हेतु दुःख का अन्त करना है, यह भी आक्षेप पूर्ण नहीं है क्योंकि सुख-दुःख आत्मा के धर्म नहीं है, क्योंकि सुख-दुःख का सयोग केवल उनके भोग और क्लेश से सम्बन्ध रखता है और वह आत्मा के मोह के बन्धन के रूप में नहीं है। भोग को अनुभव शब्द द्वारा स्पष्ट रूप से समझने की कोशिश कर सकते हैं, इस शब्द का दो रूप से प्रयोग होता है एक बुद्धि और दूसरा पुरुष से सम्बन्ध रखता है। प्रकृति, सुख-दुःख और मोह-तत्वों की बनी है और बुद्धि प्रकृति का विकार है, इसलिए बुद्धि का जब सुख-दुःख से सयोग होता है तब यह संयोग उसे उन्ही तत्वों से मिलाता है जिनसे वह बनी है इसलिए उसके स्वरूप को धारण तथा बनाए रखता है। किन्तु भोग जब पुरुष से अर्थ रखता है तब अर्थ यह होता है कि सुख और दुःख जो बुद्धि धारण किए हुए है वे उस पर प्रतिबिम्बित होते हैं और इसलिए उसका साक्षात्कार होता है। यह पुरुष में प्रतिबिम्ब द्वारा सुख और दुःख का साक्षात्कार ही पुरुष का भोग या अनुभव कहलाता है। बुद्धि को कोई भोग या अनुभव, किसी सुदूर अर्थ में भी नहीं हो सकता क्योंकि वह जड है। किन्तु यह भली प्रकार तर्क किया जा सकता है कि जबकि पुरुष वास्तव में 'अह' नहीं है तो उसे वास्तविक रूप से कोई सच्चा अनुभव नहीं हो सकता, क्योंकि उसे सचमुच कोई सुख-दुःख का अनुभव नहीं हो सकता, वह इसके अन्त का अपने लिए मूल्यवान नही समझ सकता। ऐसे आक्षेप का उत्तर यह है कि अनुभव-कर्त्ता, पुरुष के लिए दुःख का अन्त परम मूल्यवान् है इस अनुभव की सच्चाई, बुद्धि को अपने विकास-मार्ग पर अग्रगामी करती है। यदि ऐसा न होता तो बुद्धि अपने हेतु की ओर आगे न प्रवृत्त होती। इसलिए सुख-दुःख पुरुष में नहीं होने पर भी उसके द्वारा अनुभव किए जा सकते है और बुद्धि को उसके द्वारा मार्गदर्शन मिल सकता है।

जब उपनिषद् 'तत्वमसि' कहते हैं, तो उनके कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा को चित्त की व्यापार-बुद्धि से एक नही करना चाहिए और न प्रकृति के किसी विकासज से एक करना चाहिए। आत्मा शुद्ध चैतन्य ब्रह्म का विभाग है। जब मनुष्य उपनिषद् से यह जान लेता है या गुरु से यह सुनता है कि वह ब्रह्म का अंश है तब वह ध्यान द्वारा इसे अनुभव करने का प्रयास करने लगता है। सांख्य का वेदान्त से मत-भेद यह है कि सांख्य जीव को चरम तत्व रूप से मानता है जबकि वेदान्त ब्रह्म को परम सत्ता मानता है और यह भी कि जीव और जड़ तथा अन्य पदार्थों की सत्ता ब्रह्म पर आश्रित है।

---

[1] आत्मत्वस्यापि प्रेम-प्रयोजकत्वात् दुःख-निवृत्ति-रूपत्वाधा बोध्यम्।

—वही।

ब्रह्मानुभव और अनुभव

कारण की उपादान कारण के साक्षात् और अव्यवहित प्रत्यक्ष के कारण उत्पत्ति है, ऐसी परिभाषा दी जा सकती है। बुद्धि को कार्य माना है, क्योंकि घड़े और अन्य पदार्थों की तरह, वह उसके उपादान तत्व के साक्षात् और अव्यवहित अनुभूति से उत्पन्न है। इससे स्वाभाविक यह अर्थ निकलता है कि बुद्धि का उपादान द्रव्य है जो किसी सत्ता द्वारा साक्षात् अनुभवगम्य है और जिसके प्रति उस सत्ता की सर्जन-शक्ति कार्य करती है, और वह सत्ता ईश्वर है। ब्रह्म सूत्र में यह कहा है कि, ब्रह्म, श्रुति-प्रमाण द्वारा जाना जा सकता है। किन्तु यह सत्य नहीं हो सकता क्योंकि उपनिषदों में कहा है कि ब्रह्म शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता और बुद्धि द्वारा अगम्य है। इसका उत्तर यह है कि उक्त पाठो में जो निषेध किया गया है वह इस तथ्य को पुष्ट करता है कि ब्रह्म पूर्ण रूप से तथा विलक्षण रूप से श्रुति से नहीं जाना जा सकता, किन्तु इन पाठो का यह अर्थ नहीं है कि ब्रह्म के स्वरूप का ऐसा सामान्य ज्ञान शक्य नही है। हमे जब श्रुति द्वारा ऐसा सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है तभी हम इस क्षेत्र में प्रवेश करते हैं जिस पर योगाभ्यास द्वारा आगे से आगे बढते हैं, और अन्त में उसका साक्षात् अपरोक्ष अनुभव करते हैं। ईश्वर विशिष्ट गुण-धर्म-रहित है इससे यही अर्थ निकलता है कि उसके गुण-धर्म अन्य वस्तुओ के गुण-धर्मों से सर्वथा भिन्न हैं और यद्यपि ऐसे गुण-धर्म सामान्य प्रत्यक्ष अनुमान इत्यादि प्रमाण द्वारा अनुभव-गम्य नहीं होते किन्तु वह योग ध्यान द्वारा साक्षात् अनुभव किए जा सकते हैं, इसमे कोई आक्षेप नही हो सकता। कुछ वेदान्ती ऐसा सोचते हैं कि ब्रह्म का साक्षात् अनुभव नही हो सकता किन्तु वह वृत्ति का विषय होता है। ऐसी वृत्ति अज्ञान को नष्ट करती है और परिणामस्वरूप ब्रह्म प्रकट हो जाता है। किन्तु भिक्षु इस पर आक्षेप करते हैं और कहते हैं कि वृत्ति या बुद्धि-व्यापार को चैतन्य या आत्मा से विषय को सम्बन्धित करने के लिए स्वीकारा गया है किन्तु एक बार यह सम्बन्ध हो जाने पर विषय का साक्षात् ज्ञान हो जाता है, इसलिए ब्रह्म को ज्ञान-क्षेत्र मे लाने के वास्ते अन्त· प्रज्ञात्मक समाकल्पन सप्रत्यक्षण इस हेतु पर्याप्त है। यह नही माना जा सकता कि जबकि ब्रह्म स्वय स्वप्रकाश स्वरूप है तो अन्तः-प्रज्ञात्मक संप्रत्यक्षण आवश्यकता नही है और यह भी आवश्यक नही कि वृत्ति को अज्ञान के विलय के लिए स्वीकारा गया था, क्योंकि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य होने से केवल अन्त:प्रज्ञात्मक सम्प्रत्यक्षण द्वारा ही जाना जा सकता है जो स्वयं ज्ञान स्वरूप है। जबकि सभी अनुभव साक्षात् और अपरोक्ष हैं तो आत्म ज्ञान भी वैसा ही होना चाहिए। ज्ञान के उदय के लिए उपाधि के रूप मे अवरोध के सिद्धान्त को मानना किंचित भी आवश्यक नहीं है जिसे फिर निरास करना पड़े। गाढ निद्रा की स्थिति मे तमस् के रूप में अवरोध के सिद्धान्त को, यह समझाने के लिए मानना पड़ता है कि वहाँ ज्ञानाभाव है जिससे सभी ज्ञान-व्यापार और व्यवहार का भी अभाव है। प्रतिपक्षी का यह मानना कि ब्रह्म

स्वप्रकाश है, उसका किसी सेभी सम्बन्ध नही हो सकता क्योंकि ब्रह्म वेत्ता और वेद्य दोनो नहीं हो सकता, तो इसका भिक्षु यह उत्तर देते हैं कि स्वप्रकाशता का अर्थ सम्बन्ध-रहितता नहीं है (असंगता), और ब्रह्म और जीव का पूर्ण तादात्म्य भी नहीं स्वीकारा जा सकता, और यदि स्वीकारा भी जाय, तो हम ब्रह्म-ज्ञान की प्रक्रिया को उसी प्रकार समझा सकते हैं जिस प्रकार हम हमारी आत्मचेतना या अनुभव को समझा सकते हैं।

भिक्षु सोचते है कि जबकि हम ब्रह्म सूत्र मे ज्ञान की उत्पत्ति और वृद्धि का वर्णन नही पाते, तो सांख्य-योग-प्रतिपादित ज्ञान का वर्णन भली प्रकार स्वीकार सकते हैं क्योंकि वेदान्त और सांख्य के विचारो मे सामान्य समानता है। सांख्य योग के अनुसार, पहले इन्द्रियो का विषय से संयोग होता है और परिणामस्वरूप उस समय, बुद्धि का दब जाता है तमोगुण और बुद्धि विशुद्ध सत्व स्वरूप से विषय का रूप ग्रहण कर लेती है। बुद्धि की यह अवस्था विषयावस्था है या संवेदना की अवस्था या स्थिति है (सा बुद्ध्यवस्था विषयाकारा बुद्धि-वृत्तिरित्युच्यते)। स्वप्न और ध्याना-वस्था में बाह्य पदार्थों के चित्र चित्त में उठते हैं और साक्षात् दीखते हैं इसलिए सत्य है। पुरुष का बाह्य पदार्थों से संयोग बुद्धि के माध्यम से होता है। जहाँ तक बुद्धि मलिन रहती है पुरुष विषयो से उसके द्वारा सम्बन्धित नही हो सकता। इसी कारण से गाढ निद्रा मे जब बुद्धि तमस् से अभिभूत होती है तो पुरुष चैतन्य अपने को प्रकट नही कर पाता या अन्य विषयों से सम्बन्ध नही जोड़ पाता। इसी कारण गाढ निद्रा मे जब बुद्धि तमस् से आच्छन्न होती है, पुरुष-चैतन्य अपनी अभिव्यक्ति नही कर पाता या विषयों के साथ संयुक्त नही हो पाता। ज्योंही बुद्धि संवेदनात्मक या प्रतिमा अवस्था मे रूपान्तरित होती है वह पुरुष मे प्रतिबिम्बित होती है, जो उस समय अपने को चैतन्यावस्था के प्रकाश की तरह प्रकट करती है। इस प्रकार ही शुद्ध अनन्त चैतन्य, विषय को परिमित रूप से व्यक्त कर पाता है। क्योंकि बुद्धि का विषय रूप से निरन्तर परिणाम होता रहता है और उन्हे अनादि काल से पुरुष पर उन्हे प्रति-बिम्बित करती रहती है इसलिए चेतन अवस्थाओं का निरन्तर प्रवाह लगा रहता है केवल कभी-कभी गाढ निद्रा का अन्तराय होता रहता है। पुरुष भी अपनी बारी से बुद्धि मे प्रतिबिम्बित होता है और इस कारण अहं का प्रत्यय खड़ा करता है। इस सम्बन्ध में भिक्षु वाचस्पति के मत की आलोचना करते हैं कि बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब ज्ञान के प्रसग को समझाने के लिए पर्याप्त है और कहते हैं कि चैतन्य का प्रतिबिम्ब चेतनावत् नही हो सकता इसलिए बुद्धि-वृत्तियो का चैतन्य रूप से दर्शन वह नहीं समझा सकते। किन्तु बुद्धि की वृत्तियाँ चैतन्य में प्रतिबिम्बित होती हैं यह मान्यता चैतन्य के वास्तविक सम्बन्ध को समझाती है। यह कहा जा सकता है कि जबकि केवल प्रतिबिम्ब ही चैतन्य से सम्बन्धित है तो वस्तु यथार्थ रूप से नहीं जानी जाती। ऐसे आक्षेप का उत्तर यह है कि बुद्धि की वृत्तियाँ बाह्य वस्तु की प्रतिकृतियाँ हैं, और यदि प्रतिकृतियाँ चैतन्यवत् होती हैं, तो हमारे पास इन प्रतिकृतियों के ज्ञान

की सचाई के लिए उनका विषयों पर प्रयोग उनकी गारटी है। यह पुनः कहा जा सकता है कि जब बुद्धि-वृत्तियों का चैतन्य में प्रतिबिम्ब उससे एक होकर दीखता है और इसलिए ज्ञान का प्रसंग उत्पन्न करता है तो हमें यहाँ इस प्रसंग में चैतन्य का वृत्तियों के साथ भ्रमपूर्ण एकता का अनुभव होता है, हमारा ज्ञान भ्रमयुक्त होता है। इस आक्षेप का उत्तर यह है कि यदि ज्ञान में भ्रम का अंश विद्यमान है तो वह उन विषयों की सच्चाई को जिन्हें ज्ञान लक्ष्य करता है, स्पर्श नहीं करता। प्रमा, इस प्रकार, पुरुष में बुद्धि के इस प्रतिबिम्ब में है। प्रमाण-फल शुद्ध चैतन्य को मिलता है या पुरुष को जो ज्ञाता है, यद्यपि वह सभी वस्तुओं से सर्वथा असंग है। वैशेषिक, ज्ञान के अनुभव को उत्पत्ति और नाश के रूप में समझते हैं और इसलिए ज्ञान, कार्य के अन्योन्य-सम्बन्ध से उत्पन्न और नाश होता है, ऐसा मानते हैं। पुरुष के समक्ष वृत्तियो का प्रतिबिम्बित होने को वे आत्मा को ज्ञान के भास के रूप में समझते हैं, वेदान्त के अन्तर्गत ज्ञान-व्यापार को, जिसमे पुरुष ज्ञाता और भोक्ता दीखता है, वे, ज्ञान के अनुव्यवसाय नामक पृथक् व्यापार से समझाते हैं।

ईश्वर के इन्द्रियातीत अनुभव को भी सामान्य आनुभविक ज्ञान के आधार पर समझना होगा। श्रुति वाक्यो के ज्ञान से और योगाभ्यास से बुद्धि में 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा विकार होता है। यह सत्य विकार, पुरुष में प्रतिबिम्बित होकर पुरुष में सच्चे आत्म-ज्ञान के रूप से प्रकट होता है। सामान्य अनुभव और इस ज्ञान में भेद यह है कि यह अभिमान का नाश करता है। आत्म-ज्ञान के ऐसे मत पर यह आक्षेप कि आत्मा, ज्ञाता और ज्ञेय दोनो नही हो सकता, यह उपयुक्त नही है क्योंकि आत्मा जो ज्ञेय है वह पर रूप आत्मा से, जो ज्ञाता है, स्वरूपतः भिन्न है। अतीत (पर) आत्मा ही ज्ञाता है जबकि उसका बुद्धि में प्रतिबिम्ब उस पर प्रत्यावर्त होता है वह ज्ञेय रूप आत्मा है।[1] आत्मा का ान वाक्य है यह स्वीकृति आत्मा के स्वप्रकाशता के सिद्धान्त की विरोधी है, यह आक्षेप ठीक नही है। आत्मा की स्वप्रकाशता से केवल यह अर्थ है कि वह अपने आप प्रकाशित है, और उसे अपने को प्रकट करने के लिए किन्ही अन्य साधनो की आवश्यकता नही है।

स्वप्रकाशता और अज्ञान

चित्सुख स्वप्रकाशता की इस प्रकार व्याख्या करते हैं, जो जानी नहीं जा सकती तो भी अपरोक्ष है ऐसी अनुभव की जा सके (अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष-व्यवहार-

---

[1] आत्मापि बिम्बरूपेण ज्ञाता भवति स्वगत-स्वप्रतिबिम्ब-रूपेण च ज्ञेयः।

—विज्ञानामृत भाष्य, १. १. १।

योग्यत्वम्) । भिक्षु तर्क करते हैं कि स्वप्रकाशत्व की ऐसी परिभाषा सर्वथा अमान्य है । उपनिषद् में ऐसी व्याख्या कहीं भी नहीं की गई है, और यह स्वप्रकाशत्व की निरुक्ति से भी [समर्थित नहीं है । निरुक्ति से यही अर्थ निकलता है जो 'अपने आप से वेद्य' है । पुनः यदि एक वस्तु नहीं ज्ञात होती, तो इसी कारण से उसका हम से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, और ऐसा अर्थ श्रुति से विरोध करेगा जो यह प्रतिपादन करता है कि परम सत्य अनुभव गम्य है, बोध्य है । यह कहा जा सकता है कि यद्यपि चित्त की ब्रह्म-स्थिति साक्षात् न जानी जा सकने पर भी पुरुष में अविद्या दूर करेगी । किन्तु इस पर अनेक आक्षेप हो सकते हैं । प्रथमतः, स्वप्रकाशत्व ज्ञान का प्रमाण है, किन्तु पुरुष में अविद्या दूर करना ही केवल प्रमाण नहीं है । इस सम्बन्ध में यह भी प्रश्न करना योग्य होगा कि अविद्या का अर्थ क्या है । यदि अविद्या भ्रमपूर्ण चित्त-वृत्ति है तो वह बुद्धि की अवस्था होगी, और उसका नाश बुद्धि से सम्बन्ध रखेगा, पुरुष से नहीं । यदि अविद्या से वासना का अर्थ निकाला जाता है, जो भूल के कारण है : तब भी जबकि वासनाएँ प्रकृति के गुणों का धर्म हैं इसलिए उनका नाश प्रकृति के गुणों का नाश होगा । यदि इसे तमस् माना जाता है, जो आत्मा को ढक देता है तो यह मान्यता अस्वीकार्य रहेगी, क्योंकि यदि बुद्धि में वर्तमान तमस् हटाया नहीं जाता तो बुद्धि का विषय रूप परिणाम नहीं होगा और यदि बुद्धिगत तमस् एक बार इस प्रकार हट जाता है तो उसका पुरुष में प्रतिबिम्ब न पड़ेगा । इस प्रकार, ज्ञान माया के आवरण का नाश करता है यह मत प्रमाणित नहीं हो सकता । आवरण का सम्बन्ध केवल ज्ञान के कारण से है जैसेकि आँख, और इसलिए उसका शुद्ध चैतन्य से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता । ज्ञान का उदय शुद्ध चैतन्य पर से आवरण के हटने के कारण है यह मत इसलिए पुष्टि नहीं पाता । आत्मा में कोई आवरण हो नहीं सकता । यदि आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तो उसमे कोई भी अज्ञान का आवरण स्वभावतः नहीं हो सकता । क्योंकि ये दोनों मान्यताएँ परस्पर-विरोधी हैं । पुनः यदि यह माना जाता है कि जगत् प्रपंच चित्त में अविद्या के कार्य से है, और यदि वह माना जाता है कि सच्चा ज्ञान अविद्या को हटाता है, तो हम इस नितान्त अनधिकृत निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जगत् ज्ञान से नष्ट हो सकता है या वह कि जब आत्मा सच्चा ज्ञान प्राप्त करती है तो जगत्-प्रपंच का अन्त हो जाता है या यह कि जब जीवन्मुक्ति होती है तो उसे जगत् का अनुभव नहीं होगा । यदि ऐसा माना जाता है कि मुक्ति अन्त में भी अज्ञान का अंश होता है तो ज्ञान अज्ञान को नष्ट करता है इस वाद को त्याग देना पड़ेगा । इसके अतिरिक्त, यदि आत्मा को सभी से सर्वथा असंग माना जाता है, तो यह मानना गलत है कि वह अविद्या या अज्ञान से सम्बन्धित होगा । आवरण का सम्बन्ध वृत्तियों से ही हो सकता है, शुद्ध नित्य चैतन्य से नहीं हो सकता, क्योंकि हमारे पास ऐसे सादृश्यत का कोई दृष्टान्त नहीं है । पुनः यदि यह माना जाता है कि शुद्ध चैतन्य का अविद्या से नैसर्गिक सम्बन्ध है तो ऐसा संयोग कभी तोड़ा नहीं जा सकता ।

यदि ऐसा संयोग किसी कारणवशात् माना जाता है, तो यह भी कहा जा सकता है कि ऐसी कारणावस्था चित्त में रहेगी। कम से कम यह मान्यता प्राथमिक मान्यता से अधिक सरल रहेगी जिसके अनुसार इसका सम्बन्ध शुद्ध चैतन्य से माना गया है, क्योंकि यहाँ फिर इसके लय के लिए अन्य व्यापार मानना पडेगा। कम से कम गाढ निद्रा, मूर्छा और जरा में अविद्या का सम्बन्ध वृत्ति से मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार, यदि आवरण को, चित्त वृत्ति से ज्ञान के कारण के रूप मे संयोजित मानना पड़ता है तो आत्मा या शुद्ध चैतन्य से यह सम्बन्ध मानना सर्वथा अनावश्यक है। पातंजलि अपने योग सूत्र में, अविद्या को चित्तवृत्ति कहते हैं जो अनित्य को नित्य मानती है, अशुचि को शुचि और दुःख को सुख मानती है। इसलिए, इसे शुद्ध चैतन्य से अपृथक् रूप से सम्बन्धित एक पदार्थ नहीं मानना चाहिए। इसी प्रकार ज्ञान को अविद्या का अन्त कहना गलत है जो पुरुष का धर्म है। चित्त में अविद्या के अन्त से, पुरुष में ज्ञान का उदय होता है यह कहना योग्य होगा। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस चरम ज्ञान के उदय से, प्रकृति की सारी हेतुमत् क्रिया, जो पुरुष के लिए हो रही थी, पुरुष के प्रति प्रकृति का हेतु सिद्ध हो जाता है और ऐसा होने पर बुद्धि और पुरुष के बीच हेतु युक्त सम्बन्ध टूट जाता है और चित्त या बुद्धि को पुरुष के लिए कोई कार्य करना बाकी नहीं रहता। मिथ्या ज्ञान के नाश से, पाप पुण्य का भी अन्त हो जाता है और इस प्रकार, बुद्धि के अन्तिम नाश होने पर अंतिम मुक्ति होती है। अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये सभी अविद्या या मिथ्या ज्ञान माने जा सकते हैं जो उनका कारण है और अविद्या को तमस् भी कहा जा सकता है जो उसका कारण है। तमस् सत्व के प्रकट होने मे अवरोध करता है और इसी कारण मिथ्या ज्ञान होता है। जब तमोगुण सत्व गुण द्वारा अभिभूत होता है तो सत्व आत्मा द्वारा प्रकट हो जाता है। श्रुति में ज्ञान और अज्ञान सत्व और तमस् को निर्देश करने के लिए प्रयोग किए गए हैं। तमस् शब्द अज्ञान के लिए प्रयुक्त किया गया है और जैसाकि शंकर-मतवादी कहते हैं ऐसा अनिर्वचनीय जैसा अज्ञान कोई नहीं है, साधारण अनुभव के ज्ञान के उदय के प्रसंग मे पुरुष के हेतु, गुणों की परिणाम-शक्ति नष्ट हो जाती है। सत्व अपने को वृत्ति द्वारा प्रकट कर सके, उसके पहले, उसे तमस् को अभिभूत करना चाहिए जो सात्विक अवस्था को रोक सकता है। इस प्रकार चित्तवृत्ति उदय हो उससे पहले सत्व और तमस् को अपने सत्ता विषयक विरोध का अन्त कर लेना चाहिए।

भिक्षु के अनुसार वेदान्त और सांख्य में सम्बन्ध

भिक्षु सोचते हैं कि सांख्य और योग वेदान्त के साथ घनिष्टता से सम्बन्धित है और उपनिषद् भी ऐसा ही लक्षित करते हैं। इस कारण, जब कुछ विषय जैसेकि अनुभवात्मक ज्ञान आदि का वेदान्त में वर्णन नहीं किया गया है, तो उन्हें सांख्य और

योग से पूरा करना चाहिए। यदि उनमें कोई विरोध जैसा दीखता है तो उन्हें इस प्रकार समझाना चाहिए जिससे उनके विरोध का समाधान हो जाय। किन्तु भिक्षु का यह सुझाव केवल सांख्य और योग के प्रति ही नहीं है अपितु न्याय-वैशेषिक और पंचरात्र के प्रति भी है। उनके मतानुसार इन सब प्रणालियों का आधार वेद और उपनिषद् हैं और इसलिए इनमें एक आन्तरिक सम्बन्ध है जो बौद्धों में नहीं है। बौद्ध मतवादी ही केवल एक सच्चे विरोधी हैं। इस प्रकार वे सभी आस्तिक प्रणालियों का एक दूसरे के पूरक के रूप में समाधान करने का प्रयास करते है या इनके भेदों को इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं कि यदि इन्हें ठीक दृष्टि से देखा जाय तो समाधान हो सकता है। भिक्षु अपनी सामग्री उपनिषद् और स्मृति में से इकट्ठी करते हैं, और उनके आधार पर बोधार्थ की पद्धति खड़ी करते हैं। इसलिए, इसे ईश्वरवादी वेदान्त का, कुल मिलाकर, प्रमाणित बोधार्थ माना जा सकता है जो कि पुराण का प्रधान आशय है और जो सामान्य हिन्दू-जीवन और धर्म का प्रतिनिधित्व करता है। हिन्दू विचार-धारा का सामान्य प्रवाह जो पुराण और स्मृति में वर्णित है और जिन मूल स्रोतों से हिन्दू-जीवन ने प्रेरणा प्राप्त की है के साथ तुलना करते हुए विशुद्ध सांख्य, शंकर वेदान्त, न्याय और मध्व का द्वैतवाद, रूढ़िगत दर्शन का तात्विक आकारवाद ही माना जा सकता है। भिक्षु का दर्शन एक प्रकार का भेदाभेदवाद है जो अनेक रूप में भर्तृ-प्रपंच, भास्कर, रामानुज, निम्बार्क और अन्यों मे मिलता है। इस भेदाभेदवाद का सामान्य दृष्टिकोण यह है कि भेदाभेदवाद में जगत् की सत्ता, तथा उसकी चिद्रूपता, जीवों की पृथक्ता तथा उनकी ईश्वर के केन्द्र रूप से अभिव्यक्ति, नैतिक स्वतन्त्रता तथा उत्तरदायित्व एवं आध्यात्मिक नियतत्ववाद, व्यक्तिगत ईश्वर और उसकी असंग सत्ता, परम चैतन्य जिसमे भूत तथा प्रकृति आध्यात्मिकता में लय होते हैं, जड और जीव के उद्गम तथा आपस के व्यवहार मे व्यापक प्रयोजनवाद, ईश्वरीय संकल्प की पवित्रता, सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वज्ञता, ज्ञान और भक्ति की श्रेष्ठता, नैतिक और सामाजिक धर्म की अनिवार्यता तथा उनके त्याग की आवश्यकता आदि उभयपक्षीय सिद्धान्तो की मान्यता स्वीकार की गई है।

सामान्य क्लासिक सांख्य अनीश्वरवादी है और प्रश्न यह उठता है कि ईश्वरवाद और अवतारवाद से इसकी संगति किस प्रकार की जा सकती है। ब्रह्म सूत्र १-१-५ का बोधार्थ करते भिक्षु कहते हैं कि जबकि श्रुति कहती है कि 'उसने देखा, या इच्छा की' तो ब्रह्म अवश्य ही पुरुष होगा, क्योंकि इच्छा या प्रत्यक्षीकरण जड़ प्रकृति का धर्म नहीं है। शंकर इस सूत्र का अर्थ करते हुए कहते हैं कि इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि प्रकृति जगत् का कारण नहीं है क्योंकि प्रकृति या प्रधान का प्रत्यय अवैदिक है। भिक्षु उपनिषद् के कई उद्धरण देकर यह बताते है कि यह प्रत्यय अवैदिक नहीं है। उपनिषद् में प्रकृति को जगत् का कारण और ईश्वर की शक्ति कहा गया है। प्रकृति

को श्वेताश्वतर में माया भी कहा है, और ईश्वर को मायावी या जादूगर कहा गया है जो अपने में माया-शक्ति धारण करता है। जादूगर द्वारा अपनी शक्ति न बताने पर भी वह उसमें रहती है (मायाया व्यापार-निवृत्तिरेवावगम्यते न नाश·)।[1] सामान्य प्रकृति निरन्तर परिवर्तन और परिणाम करती रहती है और विशिष्ट सत्व जो ईश्वर से सम्बन्धित है, नित्य माना गया है।

एक प्रश्न इस सम्बन्ध में खड़ा हो सकता है, यदि ईश्वर स्वयं अपरिणामी है और सत्व शरीर जिससे वह सदा मुक्त है वह भी सर्वदा अपरिवर्तनशील है तो ईश्वर को एक विशेष समय पर जगत् उत्पन्न करने की इच्छा कैसे हो सकती है ? ईश्वर में विशेष सर्जन-क्षण में संकल्प का आरोपण करने का एक मात्र स्पष्टीकरण यही हो सकता है कि यहाँ भाषा का अस्पष्ट प्रयोग किया गया है। इसका यही अर्थ हो सकता है कि जब कारण उपाधियों की योग्य अन्योन्य स्थिति सर्जन-क्रम को व्यक्त करने के लिए किसी विशेष क्षण पर तत्पर होती है, उसे ईश्वर के संकल्प की अभिव्यक्ति कह दिया गया है। ईश्वर के संकल्प और ज्ञान का काल में आरम्भ होना सोचा नहीं जा सकता।[2] किन्तु यदि ईश्वर के संकल्प को प्रकृति की गति का कारण माना जाता है तो प्रकृति की गति पुरुष के हेतु अर्थ अन्तर्निहित प्रयोजन से होता है ऐसा सांख्य मत असमर्थनीय हो जाता है। महत् में सत्व, रजस और तमस् सांख्य द्वारा, अवश्य ही, ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर तीन जन्येश्वर के रूप में माने गए हैं। किन्तु सांख्य नित्येश्वर के रूप में किसी को भी नहीं मानता। योग के अनुसार महत् का सत्वांश जो नित्य शक्तियों से सयुक्त है वह पुरुष विशेष ईश्वर है। उसका सत्व शरीर अवश्य ही कार्य रूप है क्योंकि वह महत् के सत्वांश से बना है और उसका ज्ञान कालातीत नहीं है।

सांख्य के समर्थन में, भिक्षु यह प्रतिपादन करते हैं कि सांख्य द्वारा ईश्वर का अस्वीकार करने का यह अर्थ है कि मुक्ति के लिए ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है। मुक्ति आत्म-ज्ञान द्वारा भी प्राप्त की जा सकती है। यदि यह क्रम स्वीकारा जाता है तो ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना सर्वथा अनावश्यक हो जाता है। इस सम्बन्ध में वह सूचित करना अवश्य ही उपयुक्त होगा कि भिक्षु द्वारा ईश्वर के विषय में दिया गया यह स्पष्टीकरण ठीक नहीं है, क्योंकि सांख्य सूत्र ईश्वर के बारे में मौन ही नहीं है किन्तु वह ईश्वर के अनस्तित्व को सिद्ध करने का स्पष्ट प्रयत्न भी करता है और ऐसा कोई भी कथन नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि सांख्य, ईश्वरवाद का विरोधी नहीं था। भिक्षु अवश्य ही, पुनरावृत्ति करते हैं कि सांख्य अनीश्वरवादी नहीं था और श्वेताश्वतर उपनिषद् (६-१६) के कथन को लक्ष्य करते

---

[1] विज्ञानामृत भाष्य, १. १. ५।

[2] विज्ञानामृत भाष्य, १. १. ५।

हैं कि मुक्ति, सांख्य योग के कथनानुसार, मूल कारण के ज्ञान से प्राप्त की जा सकती है, और गीता के कथन को भी इंगित करते हैं जहाँ अनीश्वरवाद को आसुरी दृष्टि-कोण कहा है।

योग के सम्बन्ध में उल्लेख, भिक्षु कहते हैं कि यह एक विचित्र बात है कि योग में ईश्वर के अस्तित्व को माना गया तो भी वह पक्षपाती है या निर्दय हो सकता है इसे खण्डन करने का प्रयास नहीं किया गया है और ईश्वर को विश्व में योग्य स्थान देने के बदले, स्वाभाविक वाद स्वीकार किया गया है कि प्रकृति को अपने आप ही पुरुषार्थ के प्रति क्रियाशील होती है। पातंजल योग सूत्र में ईश्वर, एक ध्यान का विषय है जो अपने भक्तों तथा अन्य जीवों पर कृपा करता है। भिक्षु तो यह मानते हैं कि ईश्वर का विश्व में जब तक ब्रह्माण्ड के प्रयोजन की आपूर्ति नहीं करता तबतक पुरुष-प्रकृति का संयोग ठीक तरह से नहीं समझाया जा सकता।

ईश्वर अपने कर्म के लिए किसी ऐसे तत्व से मर्यादित नहीं है जो रजस् या तमस् जैसे चंचल तत्वों से सम्बन्धित हो किन्तु वह उस तत्व से सम्बन्धित रहता है जो सर्वदा एक है और नित्य ज्ञान, इच्छा और आनन्द से सम्बन्धित है।[1] इसका स्वाभाविक अर्थ यह है कि ईश्वर का सकल्प नित्य और अटल नियम के रूप से कार्य करता है। यह नियम अवश्य ही, ईश्वर का घटक नहीं है, किन्तु प्रकृति का घटक है। इस नित्य अटल अंश द्वारा ही, जो ईश्वर की नित्य इच्छा और ज्ञान के रूप से कार्य करती है, प्रकृति का परिणामी जगत् अंश निर्धारित होता है।

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि वह परात्पर पुरुष है और उससे श्रेष्ठ तथा परम और कोई नहीं है। भिक्षु उपरोक्त कथन का जो स्पष्टीकरण देते हैं वह ईश्वर के बारे में उपरोक्त विचार के विरुद्ध है। एक स्पष्टीकरण यह है कि कृष्ण जब अपने को उद्देश्य करके ईश्वर कहते हैं तब यह कथन सापेक्ष है, यह जन-साधारण दृष्टि से किया गया है जिसका निरुपाधिक परमेश्वर के स्वरूप से कोई सम्बन्ध नहीं है और जो साधारण अनुभव से परे है। दूसरा स्पष्टीकरण यह है कि कृष्ण अपने को ईश्वर से तादात्म्य करके ईश्वर कहते हैं। इस प्रकार, कार्य ब्रह्म और परब्रह्म में भेद है, और श्रीकृष्ण कार्य ब्रह्म होते हुए भी जन-साधारण की दृष्टि से अपना कारण ब्रह्म के रूप से वर्णन करते हैं। जब अन्य लोग, ब्रह्म से अपना तादात्म्य करते हैं तब यह तादात्म्य कार्यब्रह्म को लक्ष्य करके ही सत्य है, जो श्रीकृष्ण या नारायण है। उन्हें अपने को पर ब्रह्म कहने

---

[1] रजस्तमःसम्भिन्नतया मलिनं कार्य-सत्वं परमेश्वरस्य नोपाधिः किन्तु केवलं नित्य-ज्ञानेच्छानंदादिमत्सदैकरूपं कारण-सत्वम् एव तस्योपाधिः।

–ईश्वर गीता, हस्त०।

का अधिकार नही है। अनादि, पर ब्रह्म, देवो और सन्तों से भी अज्ञात और अज्ञेय है, नारायण ही उसे अपने सच्चे स्वरूप में जान सकते हैं। नारायण को इसलिए सब जीवो से महाज्ञानी मानना चाहिए।[1] जो लोग अपने पूर्वजन्म में सायुज्य मुक्ति द्वारा ईश्वर से एक हो गए हैं वे वासुदेव व्यूह में वास करते हैं। वासुदेव व्यूह में वासुदेव ही एक नित्य देव हैं, दूसरे उनके अंश हैं। दूसरे व्यूह, जैसेकि संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, वासुदेव विभूति की अभिव्यक्ति मात्र ही हैं और उन्हें ईश्वर का आंशिक सर्जन मानना चाहिए या ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र मानना चाहिए। विष्णु या शिव जो निम्न कोटि के देव हैं उनकी शक्ति मर्यादित हैं क्योंकि वे विश्व के कार्य के नियमों मे परिवर्तन नही कर सकते जब वे अपने को परमेश्वर कहते हैं तब वे पर निरुपाधि ब्रह्म से तादात्म्य होकर ही ऐसा कहते हैं। सत्व, रजस् और तमस् युक्त महत्तत्व, ब्रह्मा, विष्णु और शिव या संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के सूक्ष्म शरीर की रचना करते है। इन तीनो देवो का एक ही शरीर है, जो महत् तथा विश्व-परिणाम की मूल नीव है। इसीलिए ऐसा कहा गया है कि विश्व उनका शरीर है। ये तीनो देव, कार्य के लिए एक दूसरे पर आश्रित हैं जैसेकि वात पित्त और कफ। इसीलिए वे एक दूसरे से भिन्न एव एक भी कहे गए हैं।[2] ये तीनो देव महत् से एक रूप हैं जो पुनः पुरुष और प्रकृति की एकता है। इसी कारण ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर को ईश्वर की (अंशावतम्) आंशिक अभिव्यक्तियाँ मानना चाहिए, व्यक्त अवतार नहीं मानना चाहिए।[3]

ईश्वर, प्रधान और पुरुष में, अपनी ज्ञान, इच्छा और क्रिया द्वारा प्रवेश करते है और इससे गुणो को क्षुब्ध करते है और महत् उत्पन्न करते हैं। भिक्षु यह बताने का कठिन परिश्रम करते हैं कि भगवान् या परमेश्वर, नारायण या विष्णु से भिन्न है जो पिता से पुत्रवत् उसकी अभिव्यक्तियाँ है। भिक्षु का यहाँ पचरात्र मत से तथा मध्व, वल्लभ, और गौडीय वैष्णवो से मतभेद है जो नारायण, विष्णु और कृष्ण को भगवान् से एकरूप मानते है। मत्स्य, कूर्म इत्यादि अन्य ऐसे अवतारो को भिक्षु,

---

[1] अनाद्यत परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः
एकस्तद् वेद भगवान् धाता नारायणः प्रभुः। —विज्ञानामृतभाष्य, १-१-५।

[2] विज्ञानामृत भाष्य, १-१-५।

[3] इस सम्बन्ध में भिक्षु भागवत का श्लोक उद्धृत करते हैं 'एते चांश-कलाः पुंस कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् १-१-५। वे यहां कृष्ण से विष्णु अर्थ करते हैं और स्वय भगवान् को ईश्वर के अंश के अर्थ में ग्रहण करते हैं, जिस प्रकार पुत्र पिता का अंश होता है : 'अत्र कृष्णः विष्णुः स्वयं परमेश्वर स्तस्य पुत्रवत् साक्षादंशः' इत्यर्थः —वही। यह अर्थ गौडीय सप्रदाय के वैष्णवो से सर्वथा विरुद्ध ठहराता है, जो कृष्ण को परमेश्वर मानते हैं।

विष्णु के लीलावतार मानते हैं और भगवान् के आवेश अवतार को भगवान् या परमेश्वर मानते हैं।

माया और प्रधान

शंकर, वेदान्त सूत्र, १-१-४ की टीका में अव्यक्त शब्द का अर्थ करते हैं और मानते हैं कि इसका कोई पारिभाषिक अर्थ नहीं है। यह केवल व्यक्त का निषेध वाचक शब्द ही है। वे कहते हैं कि अव्यक्त शब्द 'व्यक्त' और 'न' का समास है। वे यह बताते हैं कि जब अव्यक्त शब्द का केवल व्युत्पत्तिलभ्य ही अर्थ है और वह अनभिव्यक्त तो वह पारिभाषिक अर्थ में प्रधान के लिए प्रयुक्त होता है यह नहीं मानना चाहिए। अव्यक्त शंकर के मत में सूक्ष्म कारण का अर्थ रखता है किन्तु वे यह नहीं सोचते कि जगत् का प्रधान के रूप में कोई सूक्ष्म कारण है जैसाकि सांख्य ने माना है।[1] वे मानते हैं कि जगत् की यह प्राकृतावस्था ईश्वर पर आश्रित है, और वह एक स्वतंत्र सत्ता नहीं है। ईश्वर में ऐसी सूक्ष्म शक्ति न मानी जाय तो ईश्वर स्वतंत्र सत्ता के रूप में स्वीकृत नहीं हो सकता। बिना शक्ति के ईश्वर सर्जन के प्रति क्रियाशील नहीं हो सकता। बीज-शक्ति जो अविद्या है, वही अव्यक्त है। यह माया की गाढ़ निद्रा है (माया मयी महा सुप्ति) जो ईश्वर पर आश्रित है। इसमें सभी बिना आत्म-जाग्रति के रहते हैं। इस बीज-शक्ति का बल, मुक्ति जीवों में, ज्ञान से नष्ट हो जाता है और इसी कारण उनका पुनर्जन्म नहीं होता।[2] वाचस्पति, भामती में इस पर टीका करते हुए कहते हैं कि भिन्न जीवों की भिन्न अविद्याएँ हैं। जब कभी एक जीव ज्ञान प्राप्त करता है तब उससे सम्बन्धित अविद्या नष्ट होती है यद्यपि दूसरों से सम्बन्धित अविद्या वैसी ही बनी रहती हैं। इस प्रकार, एक अविद्या नष्ट भी हो जाय तो दूसरी अविद्या बनी रह सकती है और जगत् उत्पन्न कर सकती है। सांख्य के अनुसार तो जो केवल एक ही प्रधान को मानते हैं, उसके नाश से सबका नाश होगा। वाचस्पति आगे यह भी कहते हैं कि यदि यह माना जाता है कि प्रधान तो वैसा ही बना रहता है तो भी पुरुष और प्रधान के बीच अविवेक रूप अविद्या बन्धन का कारण है, तो फिर प्रकृति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अविद्या की सत्ता और असत्ता, बंधन और मुक्ति के प्रश्न को स्पष्ट कर सकती है।

---

[1] यदि वयं स्वतंत्रां काचित् प्रागवस्थां जगतः कारणत्वेनाभ्युपगच्छेम प्रसंजयेम तदा प्रधान-कारणवादम्।

—वेदान्त सूत्र, १-४-३।

[2] मुक्तानां च पुनरनुत्पत्तिः, कुतः विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात्।

—वेदान्त सूत्र, १-४-३।

जीवों में भेद अविद्या के कारण है और अविद्या का जीवों के कारण, यह आक्षेप, अप्रमाण है क्योंकि यह क्रम अनादि है। अव्यक्त शब्द अविद्या के प्रसंग में जाति वाचक के रूप में प्रयुक्त किया गया है, जो सभी अविद्याओं को अपने में समावेश करता है। अविद्या जीव में है किन्तु तो भी ईश्वर पर उसके कारक और विषय रूप से अवलम्बित है। अविद्या ब्रह्म के आधार बिना क्रियाशील नहीं हो सकती, यद्यपि जीव का सच्चा स्वरूप ब्रह्म ही है, तो भी जहाँ तक वे अविद्या से आवृत हैं वहाँ तक वे अपना सच्चा स्वरूप नहीं जान सकते।

भिक्षु, इसके उत्तर में कहते हैं कि बिना शक्ति के केवल ईश्वर अकेला नाना रूप जगत् उत्पन्न करने में असमर्थ है, इसलिए यह मानना पड़ता है कि ईश्वर अपने से भिन्न शक्ति द्वारा ऐसा करता है और यह शक्ति प्रकृति और पुरुष है। यदि ऐसा कहा जाता है कि यह शक्ति अविद्या है, तो भी क्योंकि वह, ब्रह्म से पृथक् द्विरूप तत्व है इसलिए वह अद्वैतवाद का खण्डन कर सकता है और साथ ही साथ प्रकृति और पुरुष की मान्यता की स्वीकृति का भी खण्डन होता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्रलयावस्था में अविद्या का अस्तित्व नहीं रहता, क्योंकि उस प्रसंग में केवल ब्रह्म के ही होने से, जगत् को केवल ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा और जीव, जो ब्रह्म से अभिन्न और एक होकर विद्यमान हैं, मुक्त होते हुए भी, संसार यात्रा करेंगे। यदि ऐसा माना जाता है कि बंधन और मुक्ति कल्पना मात्र हैं, तो कोई कारण नहीं दीखता कि लोग क्यों ऐसी काल्पनिक मुक्ति के लिए इतना कष्ट उठाएँ। यदि ऐसा कहा जाता है कि प्रलय के समय अविद्या की व्यावहारिक सत्ता रहती है और यदि यह विवाद किया जाता है कि ऐसे प्रसंग में बन्धन और मुक्ति की भी व्यावहारिक सत्ता मानी जा सकती है तो अद्वैतवाद निरपवाद हो जायगा। किन्तु, यदि ऐसी अविद्या मानी जाय जिसका केवल व्यावहारिक सत्ता ही हो, तो प्रधान के लिए भी ऐसा ही कहा जा सकता है। यदि हम व्यावहारिक शब्द का अर्थ और तात्पर्य समझना चाहें, तो हम यह पाते हैं कि इस शब्द का अर्थ हेतु पूर्ति के साधन और अर्थ की शक्ति तक ही सीमित है। यदि ऐसा है, तो प्रकृति भी इसी प्रकार की सत्ता रखती मानी जा सकती है।[1] यह निस्सन्देह सत्य है कि प्रधान को नित्य माना है, किन्तु यह नित्यता निरन्तर परिणाम की नित्यता है। वेदान्ती अविद्या को अपारमार्थिक मानते हैं, अर्थात् अविद्या परम सत्य नहीं है। परम सत्य के निषेध से यह अर्थ हो सकता है कि वह साक्षात् स्वप्रकाश्य नहीं है या यह कि वह सत्ता के रूप में प्रकट नहीं हो सकता या यह कि वह सभी काल में असत् है। किन्तु ये मर्यादाएँ प्रधान के बारे में भी

---

[1] प्रधानेऽपीदं तुल्यं प्रधाने अर्थ क्रियाकारित्व-रूप-व्यावहारिक-सत्वस्यैवा स्माकमिष्ट-त्वात्। —विज्ञानामृतभाष्य, १-४-३।

सत्य हैं। प्रधान परिणामी रूप से नित्य है, किन्तु अपने सभी विकारों में वह अनित्य है, प्रकृति के सभी विकार नाशवान् हैं, जड़ होने के कारण वे स्वप्रकाश्य नहीं हो सकते। पुनः, प्रधान किसी भी रूप में, किसी भी समय सत्ता रखने वाला माना जा सकता है तो भी वह उस समय, अपने भूत और भविष्य रूप में असत् है। इस प्रकार, अव्यावहारिकत्व का अर्थ तुच्छत्व नहीं हो सकता (शश-विषाण की तरह) और क्योंकि वह परम सत्ता का अर्थ भी नहीं रख सकता, वह केवल परिणमाव (परिणामित्व) का ही अर्थ रख सकता है, और यह सत्ता प्रधान के विषय में ठीक बैठती है। इस प्रकार शंकर मतवादी, प्रधान के सिद्धान्त का खण्डन कर कुछ लाभ नहीं उठाते, क्योंकि अविद्या को उन्होंने उसी गुण-धर्मयुक्त माना है जो प्रकृति में हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शंकर के द्वारा किया गया प्रकृति का खण्डन, ईश्वर कृष्ण के अनुसार प्रकृति के मत में भी प्रयुक्त हो सकता है, किन्तु, वह पुराणान्तर्गत प्रकृति के विचार को, जिसे भिक्षु ने समझाया है उस पर प्रयुक्त नहीं होता, जिसके अनुसार प्रकृति को ब्रह्म की शक्ति माना गया है। यदि अविद्या को भी ऐसे ही माना जाता है तो वह प्रकृति के समान हो जाती है। जबकि उसे अव्यक्त रूप से भगवान् में विद्यमान मानी है तो प्रलय में भी अविद्या के बहुत से गुण धर्म जो उसे परम सत्ता से विभिक्त करते हैं, वे प्रकृति के भी हैं।

भिक्षु द्वारा प्रतिपादित किए गए मतानुसार प्रधान की पृथक् और स्वतंत्र सत्ता नहीं है किन्तु वह भगवान् की शक्ति के रूप में है।[1]

भिक्षु ब्रह्म सूत्र १-४-२३ को स्पष्ट करते हुए यह बताते हैं कि ईश्वर की प्रकृति के सिवा और कोई उपाधि नहीं है। ईश्वर के सभी गुण, जैसेकि आनन्द इत्यादि, प्रकृति से उत्पन्न हैं जैसाकि पातजल सूत्र में निर्दिष्ट है। प्रकृति को ब्रह्म-धर्म मानना चाहिए, जो साक्षात् जगत् का उपादान कारण नहीं है, किन्तु वह नित्य या अधिष्ठान कारण है और प्रकृति, मानो अपना ही भाव है या अंश है (स्वीयो भावः पदार्थं उपाधिरित्यर्थः)। उपाधि और प्रकृति में नियामक और नियाम्य का सम्बन्ध है या अधिकारी और अधिकृत का सम्बन्ध है। ईश्वर विचार और संकल्प कर सकता है यह तथ्य इसे प्रमाणित करता है कि ईश्वर को प्रकृति जैसा साधन होना चाहिए जिससे ईश्वर के लिए विचार करना शक्य हो। क्योंकि भगवान् अपने में केवल शुद्ध चैतन्य है। प्रकृति, अवश्य ही, ईश्वर की उपाधि का कार्य अपने शुचिपूर्ण नित्य सत्वांश, से करती है। काल और अदृष्ट भी प्रकृति के विभाग हैं और इसलिए उन्हें भगवान् की प्रथक् शक्तियाँ नहीं माना है।

---

[1] प्रकृतस्य तदुपपत्तये प्रधानं कारणत्व शरीरत्वा शक्ति विषयैवो च्यते नस्वातंत्र्येणे त्य बधार्यंत इत्यर्थः। —विज्ञानामृत भाष्य, १-४-४।

सांख्य और योग की भिक्षु द्वारा आलोचना

ब्रह्म सूत्र २-१-से-३ की टीका करते भिक्षु कहते हैं कि मनु प्रकृति को मूल कारण कहते हैं, और उसी प्रकार सांख्य भी और ये दोनों ही माप्त हैं।[1] किन्तु जबकि सांख्य के अनीश्वरवाद का पतंजलि और पराशर के मतों से विरोध है, फिर भी ब्रह्म सूत्र मत की व्याख्या सांख्य के अनीश्वरवादी सुझाव पर किया जाना सम्भव नहीं है। यह भी मानना पड़ता है कि सांख्य के अनीश्वरवाद का न वेदों और पुराणों में समर्थन मिलता है, और इसलिए, इसे अप्रमाण मानना चाहिए।[2]

यह अवश्य ही सोचना गलत है कि कपिल सचमुच अनीश्वरवाद का प्रतिपादन करना चाहते थे। उन्होने दूसरो के अनीश्वरवादी तर्कों का उद्धरण दिया और यह बताने की कोशिश की है कि यदि ईश्वर को न भी माना जाय तो भी मुक्ति प्रकृति-पुरुष के विवेक से प्राप्त हो सकती है। साख्य भी इस पर बल देता है कि मुक्ति केवल ज्ञान से प्राप्त हो सकती है। किन्तु इसका उन उपनिषद्-कथनो से विरोध नहीं समझना चाहिए जिनमें यह कहा है कि मुक्ति केवल भगवान् के सच्चे स्वरूप के ज्ञान से हो सकती है। क्योंकि ये इस बात को स्पष्ट करते हैं कि मुक्ति के दो मार्ग है, निम्न मार्ग ज्ञान है, जो प्रकृति-पुरुष का विवेक है और उच्च, भगवान् के सच्चे स्वरूप का ज्ञान है। योग भी मुक्ति के दो मार्ग बताता है, निम्न वह है जो सामान्य योग-प्रक्रिया वाला है, और उच्च, ईश्वर में सभी कर्मों का त्याग करना और उसकी सच्ची भक्ति करना है। यह मानना गलत है कि साख्य पारम्परिक रूप से अनीश्वरवादी है, क्योकि महाभारत (शान्ति पर्व ३१८-७३) और मत्स्य पुराण (४-२८) मे हम २६वें पदार्थ के विषय मे सुनते है जो ईश्वर है। इसलिए, ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी सांख्य मे भेद, निरूपण का भेद है, एक सच्चे सांख्य का निरूपण है और दूसरा उस सांख्य का है जो उन्हे भी मुक्ति का मार्ग बताते है जो ईश्वर को मानना नही चाहते। इस सम्बन्ध में भिक्षु साख्य के मत की सम्भावना को मानते हैं, एक जो ईश्वर को मानता था और दूसरा जो नहीं मानता था, और केवल दूसरा ही मत वे अप्रमाण समझते है।[3] वे कूर्म पुराण का भी उल्लेख करते हैं जिसमें सांख्य के अनुयायियों

---

[1] सांख्य योगं पचरात्रं वेदाः पाशुपत तथा।
परस्पराणि अंगान्येतानि हेतुभिर्न विरोधयेत्।

—विज्ञानामृत भाष्य, २-१-१।

[2] इतश्चेश्वर प्रतिषेधांशे कपिल स्मृतेः मूलानामनुपलब्धेः अप्रत्यक्षत्वात् दुर्बलत्व-मित्याह। —वही।

[3] अथवा कपिलैक देशस्य प्रामाण्यमस्तु। —विज्ञानामृत भाष्य, २-१-२।

और योगियों को अनीश्वरवादी कहा गया है। शंकर-सम्प्रदाय का मुख्य दोष यह है कि सांख्य की अप्रमाणता सिद्ध करने के बजाय, शंकर सभी अनीश्वरवादी विचारों को अवैदिक कहकर अस्वीकार करते हैं और इस प्रकार ब्रह्म सूत्र का मिथ्या अर्थ करते हैं। भिक्षु उस प्रश्न का उल्लेख करते हैं जहाँ सांख्य के २३ पदार्थों का वर्णन है केवल प्रकृति का नाम नहीं है। महत् तत्व का स्पष्टतः वर्णन नहीं किया गया है, किन्तु बुद्धि और चित्त को कहा गया है। वहाँ बुद्धि तत्व का चतुर्विध विभाजन, मनस्, बुद्धि, अहंकार, और चित्त के रूप में माना है। गर्भ उपनिषद् में आठ प्रकृति और १६ विकार वर्णित हैं। मैत्रेयोपनिषद् मे हम तीन गुणों के विषय में सुनते हैं, और उनके क्षोभ के बारे मे भी, जिससे सृष्टि-रचना होती है। हम पुरुष के बारे मे भी चैतन्य रूप है ऐसा सुनते हैं। मैत्री उपनिषद् में (५-२) ऐसा कहा है कि तमस् परम सत्ता द्वारा क्षुब्ध किया जाने पर रजस् उत्पन्न करता है और वह सत्व को उत्पन्न करता है।[1] चूलिका उपनिषद् मे, अद्वैत वेदान्त-सिद्धान्त की समानता में सांख्य के पदार्थों का वर्णन है। यह भी कहता है कि सांख्य की अनेक प्रणालियाँ हैं, कुछ २६ तत्वों को मानते हैं, दूसरे २७ को पुनः और दूसरे केवल २४ को ही मानते हैं। एक तत्ववादी और द्वैतवादी सांख्य का भी वर्णन है जो तीन या पाँच प्रकार से व्यक्त करते हैं। इस प्रकार विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि सांख्य का उपनिषद् मे समर्थन है।

योग के सम्बन्ध मे भी कहा जा सकता है कि योग का वही अंश उपनिषद् के विरोध मे कहा जा सकता है जिसमें प्रकृति की सत्ता को ईश्वर से पृथक् और स्वतन्त्र माना है। पातंजल सूत्र में यह कहा है कि ईश्वर प्रकृति की गति के अवरोधों को हटाकर ही सहायता करता है, जिस प्रकार कि एक कृषक पानी को एक खेत में से दूसरे की ओर ले जाने मे सहायता करता है। किन्तु उपनिषद् निश्चित रूप से कहते हैं कि ईश्वर प्रकृति की गति का जनक और प्रकृति का क्षोभक है। वहाँ भगवान् के सत्व शरीर को प्रकृति का कार्य माना है क्योंकि वह प्रकृति से पूर्व सृष्टिचक्र में उसकी इच्छा से जन्य है। ईश्वर का सत्व देह प्रकृति से, ईश्वर के संकल्प द्वारा जन्य है जो प्रकृति के विकास-क्रम में अवरोधों को हटाने के लिए भगवान् के संकल्प का वाहन है। स्वयं प्रकृति को पतंजलि ने ईश्वर की उपाधि नहीं माना है।[2] भिक्षु योग के इस

---

[1] तमो वा इदमेकमग्र आसीत् वै रजसस्तत् परे स्यात् तत् परेणे रित विषमत्वं प्रयात्येतद् रूप तद् रजः स्वल्वीरित विषमत्व प्रयात्येतद् वै सत्वस्य रूपं तत्सत्वमेव।
—मैत्री उपनिषद् ५-२।

[2] योगा हीश्वरस्य जगन्निमित्तत्व प्रकृतित्वे नाभ्युपगच्छन्ति ईश्वरोपाधेः सत्व-विशेषस्य पूर्व सर्गीय तत्संकल्प वशात् सर्गादौ स्वतन्त्र प्रकृतित उत्पत्त्यंगीकारात्।
—विज्ञानामृत भाष्य, २-१-२।

सिद्धान्त को भी उसी प्रकार समझाने का प्रयास करते हैं जैसाकि सांख्य के विषय में अभ्युपगमवाद को स्वीकार करके किया है। वे मानते हैं कि योग की यह धारणा है यदि प्रकृति स्वतंत्र है और स्वतः ही भगवान् के अनन्त ज्ञान और संकल्प द्वारा निश्चित न होकर भी विकासोन्मुख होती है, और यदि यह भी स्वीकारा जाय कि सदैव ईश्वर को नित्य ज्ञान और संकल्प नहीं है, और प्रकृति की प्रवृत्ति कर्मानुसार आन्तरिक प्रयोजन से है और सर्ग के प्रारम्भ में प्रकृति भगवान् की सत्वोपाधि बन जाती है, तो भी ईश्वर को आत्म-समर्पण करने से कैवल्य प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार, योग की दृष्टि से, ईश्वर की उपाधि एक कार्य है, जगत् का निमित्त या उपादान कारण नहीं है, जबकि भिक्षु द्वारा प्रतिपादित वेदान्त के अनुसार, ईश्वर की उपाधि जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण दोनों ही है, उसका कार्य नहीं है। योग मत के अनुसार ईश्वर नित्य है, किन्तु उसके ज्ञान और संकल्प नित्य नहीं हैं। ज्ञान और संकल्प, प्रकृति के सत्वांश से संयुक्त हैं जो प्रलय के समय उसमें निविष्ट रहते हैं, जो नए सर्ग के प्रारम्भ में, भगवान् के पूर्व सर्ग में किए हुए, संकल्प की शक्ति के द्वारा प्रकट होते हैं। योग मतानुसार, ईश्वर जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण नहीं है जैसाकि वेदान्त मानता है। भिक्षु द्वारा मान्य वेदान्त मतानुसार, प्रकृति द्विधा कार्य करती है, एक भाग से वह ईश्वर के नित्य ज्ञान और संकल्प का नित्य वाहक बनी रहती है और दूसरे भाग द्वारा, वह विकास-मार्ग पर आरूढ हो सत्व, रजस् और तमस् में क्षोभ उत्पन्न करती है। वह सत्व, रजस् तमस् की, प्रकृति के विकास रूप क्रमिक उत्पत्ति के पौराणिक मत को स्पष्ट करता है, जिसके अनुसार गुणों की अन्तिम अवस्था में जगत् का विकास होता है। इस प्रकार, प्रकृति, जो ईश्वर के ज्ञान और संकल्प के वाहन के रूप में उससे सम्बन्धित बनी रहती है, अपरिणामी और नित्य है।[1]

ईश्वर गीता और उसका दर्शन विज्ञान भिक्षु के प्रतिपादनानुसार

कूर्म पुराण में उत्तर विभाग के ११ अध्याय ईश्वर गीता के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस खण्ड के पहले अध्याय में सूत, व्यासजी से मुक्ति-मार्ग के सच्चे ज्ञान के बारे में पूछते हैं जिसे नारायण ने कूर्म अवतार धारण करके दिया था। व्यास का कहना है कि बदरिकाश्रम में सनत्कुमार, सनन्दन, सनक, अंगिरा भृगु, कणाद, कपिल, गर्ग, बलदेव, शुक और वशिष्ठ इत्यादि ऋषि-मुनियों के समक्ष नारायण प्रत्यक्ष हुए और फिर शिव भी आए। शिव ने ऋषियों की प्रार्थना सुनकर, अन्तिम सत्य ईश्वर और जगत् का निरूपण किया। मूल संवाद दूसरे अध्याय से प्रारम्भ होता है। विज्ञान भिक्षु ने ईश्वर गीता पर टीका लिखी है। उन्होंने सोचा कि ईश्वर गीता में भगवत्

---

[1] विज्ञानामृत भाष्य, पृ० २७१-२७२।

गीता का तात्पर्य समाया हुआ है इसलिए उन्होंने भगवत् गीता पर टीका लिखना अनावश्यक समझा। सांख्य और योग पर ग्रन्थ लिखने के अतिरिक्त उन्होंने ब्रह्म सूत्र, उपनिषद्, ईश्वर गीता और कूर्म पुराण पर टीका लिखी। ब्रह्म सूत्र पर अपनी टीका में वे १३वीं शताब्दी के चित्सुखाचार्य के ग्रन्थ का उद्धरण देते हैं। वे स्वयं सम्भवतः १४वीं शताब्दी में रहे। भिक्षु के अन्य ग्रन्थ, 'सांख्य प्रवचन भाष्य,' 'योग वार्तिक,' 'योग सूत्र,' 'सांख्य सार,' और 'उपदेश रत्नमाला' हैं। ब्रह्म सूत्र और ईश्वर गीता की व्याख्या में वे पुराण में प्रतिपादित वेदान्त मत का अनुसरण करते हैं, जिसमें सांख्य, योग और वेदान्त एक सूत्र में बधे हैं। ईश्वर गीता का दर्शन जिसका यहाँ प्रतिपादन किया गया है वह भिक्षु की टीका पर आधारित है जो प्रस्तुत लेखक को महामहा० प० गोपीनाथ कविराज, संस्कृत कालेज वाराणसी से हस्तलिखित प्रति के रूप में प्राप्त हुई।

मुनियो ने जो मुख्य प्रश्न पूछे, उन पर शिव ने निम्न संवाद दिए (१) सबका कारण क्या है? (२) पुनर्जन्म किसका होता है? (३) आत्मा क्या है? (४) मुक्ति क्या है? (५) पुनर्जन्म का क्या कारण है? (६) पुनर्जन्म का स्वरूप क्या है? (७) किसने उसे स्पष्ट रूप से समझा है? (८) परम सत्य ब्रह्म क्या है? इन सबके उत्तर क्रमवार नहीं दिए गए है, किन्तु गुरु शिव को जो महत्वपूर्ण प्रश्न लगे, उनके उत्तर उन्होंने अपने ही क्रम से दिए हैं। इसलिए सबसे पहले आठवें प्रश्न का उत्तर दिया गया। यह उत्तर परमात्मा के स्वरूप के वर्णन से प्रारम्भ होता है।

विज्ञान भिक्षु जीव का परमात्मा में सम्पूर्ण लय के सिद्धान्त को स्वीकारते हैं ऐसा मालूम होता है और उनकी दृष्टि में इस जगत् में रहते हुए भी जीव मात्र दृष्टा रहता है।

वे कूर्म पुराण १-५०-७ पृ० ४५३[1] के आठवे प्रश्न के उत्तर में बताते हैं कि आत्मा शब्द से ईश्वर का अर्थ निकलता है, यद्यपि साधारण व्यवहार में यह जीव के लिए प्रयुक्त है और जीव और ब्रह्म की एकता का सूचक करता है। यहाँ उल्लेख प्राकृतात्मा से है जीवात्मा से नहीं।[2] ईश्वर को सर्वान्तर कहा है, क्योंकि उसने सभी के हृदय में प्रवेश (अन्तः) किया है और वहाँ वह दृष्टा होकर रहता है (सर्वेषां स्व-भिन्नानामन्तः साक्षित्वेनानुगतः)।[3] साक्षी वह है जो अपने को बिना किसी प्रयत्न के व्यापार द्वारा (व्यापारं विनैव) प्रकाशित करता है (स्व प्रतिबिम्बित वस्तु भासकः)

---

[1] बिबलियोथेका इण्डिका संस्करण १८९०।

[2] देखो ईश्वर गीता भाष्य, हस्त०।

[3] एवं अन्तर्यामी-सत्व-सम्बन्धतात् बिम्भात्मोऽपि परमान्तर्यामी भवति सर्वान्तरत्वेन सर्वं साक्षित्वविभाग लक्षणाभेदात्। —वही।

वह अपूर्ण चित् से सम्बन्धित होने के कारण अन्तर्यामी कहलाता है और इसी सम्बन्ध के कारण, जीव, परमात्मा की महानता के भागी बनते हैं।

विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि यहाँ पर 'अस्माद् विजायते विश्वम् अत्रैव प्रविलीयते' यह पंक्ति 'शक्तिमदभेदत्व सिद्धान्त के कारण के रूप में दी गई है जो परमात्मा को अन्तर्यामी कहकर बड़ी चतुराई से रखी गई है और फिर सिद्धान्त के गूढ़ महत्व को या शक्ति-शक्तिमदभेदत्व के सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ विशेषण जोड़कर उपरोक्त सिद्धान्त को समझाया है। ऐसा कहा गया है कि परमात्मा से ही विलोम रूप से कार्य उत्पन्न हुए हैं और वे उसी में रहते हैं और उसी में विलीन होते हैं। वह पुरुष और प्रकृति से अभिन्न (या अपृथक्) है, क्योंकि वह पुरुष और प्रकृति से लगाकर समस्त विश्व का आधार है, अर्थात् वह पुरुष और प्रकृति से लगाकर और उन्हें समाविष्ट करके सभी कार्यों का आधार है। यदि उसने देहवत् सभी कारणों का अधिष्ठान न किया होता तो द्रव्य, गुण और कर्म इत्यादि कारण स्वत: कार्य नहीं कर सकते थे (यदि हि परमात्मा देहवत् सर्वं कारणं नाधिष्ठेत द्रव्य-गुण-कर्मादि-साधारणाखिला-क्रियार्थ-मूल-कारण न स्यादिति)।[1] यदि ऐसा कहा जाता है कि वाक्य दृश्य घटनाओं के सामान्य कारण के विषय में उल्लेख करता है तो पूर्व वाक्य में जो ब्रह्म और जगत् की एकता प्रतिपादित की गई थी, वह अस्वीकृत रहेगी।[2]

ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है, किन्तु यह जगत् ब्रह्म का परिणामी रूप है। इसलिए ब्रह्म परिणामी रूप नहीं है क्योंकि यह उस श्रुति वाक्य का विरोध करेगा जिसमे ब्रह्म को कूटस्थ कहा है। तब विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि परमात्मा सभी का परम अधिष्ठान है इसलिए उसी से सभी प्रकार के कारणों के व्यापार को सहायता मिलती है और इसी का परमात्मा की अधिष्ठान-कारणता कहा जाता है।

तब वे जीवात्मा-परमात्मा के अंश और अंशी के अभेद सिद्धान्त को जीवात्मा-परमात्मनो रंशांशयभेद' स मायी मायया बद्धः करोति विविधास्तनू:' इस पंक्ति मे प्रतिपादित करते हैं और आगे कहते हैं कि याज्ञवल्क्य स्मृति और वेदान्त-सूत्र भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। श्रीमद्भगवत् गीता में यही कहा है। फिर वे इसी विचार का विशदीकरण करते है। यहाँ शंकर का उल्लेख उनकी आलोचना के लिए मिलता है।[3] मायावाद को प्रच्छन्न बौद्धवाद कहा है और उसका समर्थन करने के लिए पद्मपुराण का उद्धरण दिया गया है।

---

[1] ईश्वर गीता भाष्य, हस्त०।

[2] वही।

[3] वही।

अधिष्ठान कारण वह है जिसमें सार वस्तु वैसी की वैसी ही बनी रहकर अग्नि में से स्फुल्लिंग की तरह, नवीन भेद उत्पन्न हों। इसे अंशांशिभाव भी कहा है, क्योंकि यद्यपि निरवयव ब्रह्म में अंश नहीं माने जा सकते, फिर भी, सामान्य अधिष्ठान में से भिन्न लक्षणों के उत्पन्न होने के कारण ही, भिन्न लक्षणों को अंश कहा गया है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि विज्ञान भिक्षु इस मत का विरोध करते हैं कि ब्रह्म में परिणाम होता है। यद्यपि ब्रह्म में परिणाम नही होते तो भी उसमें नवीन भेद उत्पन्न होते हैं। 'स मायी मायया बद्धः इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि स्वयं ब्रह्म का अविभक्त अंश है और उससे भिन्न नही है। माया अंश रूप है जो अंशिन् से भिन्न नहीं है।

यद्यपि श्रुति मे जीव और ब्रह्म के भेद और अभेद का बहुधा उल्लेख किया गया है, तो भी जीव ब्रह्म से भिन्न है इसी ज्ञान से मुक्ति मिल सकती है।[1]

आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है और किसी भी प्रकार से उसके अनुभवों से बद्ध नही है। शंकर का यह कहना कि आत्मा का स्वरूप आनन्द या सुखमय है, यह भी गलत है, क्योंकि कोई अपने से सदा आसक्त नही रह सकता, यह तथ्य कि हम प्रत्येक कर्म मे अपनी रुचि खोजते हैं इससे यह अर्थ नही होता कि आत्मा का स्वरूप आनन्द-मय है। इसके अतिरिक्त, यदि आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तो वह एक साथ आनन्द स्वरूप नही हो सकता, हमे जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब सदा आनन्द का अनुभव नहीं होता।[2]

अभिमान भी आत्मा का धर्म नही है, वह सुख-दुःख की तरह प्रकृति का गुण है जो गलती से आत्मा पर आरोपित किए जाते हैं।[3] आत्मा को, अवश्य ही सुख-दुःखों के अनुभव का भोक्ता माना है तथा वृत्ति द्वारा उनका प्रतिबिम्ब होना और वृत्ति द्वारा, सुख-दुःख के ऐसे अनुव्यवसाय इत्यादि को अनुभव का साक्षात्कार कहा है। अनुभव का ऐसा भोग, इसलिए, अनौपाधिक है। सांख्य और भगवत् गीता में इसका समर्थन भी है। अनुभव (भोग) इस प्रकार से प्रकृति का धर्म नहीं है (साक्षात्कार-रूप-धर्मस्य दृश्य-धर्मत्व-सम्भवात्)। जिन पाठों मे ऐसा कहा गया है कि अनुभव पुरुष के धर्म नहीं है, यह अनुभव सम्बन्धित वृत्तियों के परिणामों के बारे में कहा है। इसलिए, शंकर का आत्मा को अभोक्ता तथा अकर्ता कहना मिथ्या है।

विज्ञान भिक्षु, अज्ञान मे अन्यथा ज्ञान अर्थ करते हैं। प्रधान इसलिए कहा है कि वह पुरुष के लिए सभी कर्म करता है, और वह पुरुष प्रधान से संयोग के दोष से, मिथ्या ज्ञान से सम्बन्धित होता है।

---

[1] वही।

[2] वही।

[3] वही।

आत्मा अपने में कूटस्थ रहता है, और भेद, अनुभव उत्पन्न करने वाले बुद्धि तथा अन्य कर्मों के संयोग के कारण हैं। मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म से अभिन्न रहते हैं, प्रकृति, पुरुष और काल अन्त में ब्रह्म द्वारा धारण किए जाते हैं फिर भी उससे भिन्न हैं।

दो प्रकार के श्रुति पाठ हैं–एक अद्वैत का और दूसरे द्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं। सच्चे बोधार्थ को द्वैतवादी श्रुति पाठों पर बल देना चाहिए, क्योंकि यदि सभी कुछ मिथ्या है तो ऐसा मिथ्यात्व भी असिद्ध और स्वबाधित रहेगा। यदि ऐसा तर्क किया जाता है कि ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति तक श्रुति की प्रमाणता को हम स्वीकार लें और जब यह प्राप्त हो जाता है तत्पश्चात् यह मालूम हो कि वे अप्रमाण हैं तो इसका कोई महत्व नही है। ऐसे आक्षेप का यह उत्तर है कि जब कभी किसी को यह पता चलता है कि जिन साधनों द्वारा निष्कर्ष निकाला गया है वे अप्रमाण हैं तो वह स्वभावतः ही उन निष्कर्षों पर शंका करने लगता है। इस प्रकार ब्रह्म का ज्ञान भी, उसको शंकास्पद लगेगा जिसे यह पता चल गया कि ज्ञान के साधन दोषयुक्त हैं।

जीव, परमात्मा में अभिन्नावस्था में रहते है, इससे यह अर्थ निकलता है कि परमात्मा उनका सार या अधिष्ठान कारण है और श्रुति-पाठ जो अद्वैत मत प्रतिपादन करते है वे परमात्मा के स्वरूप को अधिष्ठान कारण के रूप मे सूचित करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं होता कि जीव ब्रह्म से एक ही है।

सुख-दुःख आत्मा के धर्म नही है, वे अन्तःकरण के धर्म है, वे आत्मा के अन्तः-करण से सम्बन्धित होने के कारण ही, आत्मा पर आरोपित किए जाते हैं। मुक्ता-वस्था में आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप, बिना सुख दुःख के सम्बन्ध से रहता है। अन्तिम ध्येय दुःख के भोग की निवृत्ति है। (दुःख-भोग-निवृत्ति) दुःख की निवृत्ति नहीं है (न दुःख-निवृत्तिः) क्योंकि जब कोई दुःख के भोग से निवृत्त हो जाता है, दुःख वर्तमान भी रहे और उसे दूर करने का उद्देश्य दूसरे का होगा। शकर का यह कहना कि मुक्ति आनन्दावस्था है, गलत है। क्योकि उस अवस्था में कोई मनो-व्यापार नही होता जिससे सुख का अनुभव हो सके। यदि आत्मा को आनन्दस्वरूप माना जाय तब भी आत्मा कर्ता एवं आनन्द के भोग का विषय होगा, जो असम्भव है। पारि-भाषिक शब्दावली में ही मुक्तावस्था में आनन्द का आरोपण किया गया है, आनन्द का अर्थ सुख-दुःख का अभाव है।

भिक्षु सत्ता के स्तर मानते है। वे ऐसा मानते हैं कि जब एक वस्तु दूसरी से अधिकस्थिर है तो वह दूसरी से अधिक सत्य है। जबकि परमात्मा सर्वदा एक-सा रहता है और उसमें कोई परिणाम, विकार या प्रलय नही होते इसलिए, वह प्रकृति, पुरुष और उनके विकारों से अधिक सत्य है। यह विचार पुराण के मतों में भी प्रदर्शित

किया गया है कि जगत् को अन्ततोगत्वा ज्ञान रूप से सत्य माना है या अन्तिम सत्य है और जो परमात्मा का स्वरूप है। इसी सदर्भ में जगत् पुरुष-प्रकृति रूप से नहीं है जो परिवर्तनशील है।

प्रकृति या माया का बहुधा ऐसा वर्णन किया गया है कि उसे सत् और असत् दोनों नहीं कहा जा सकता है। शकर मतवादी इससे यह समझते हैं कि माया मिथ्या है। किन्तु विज्ञान भिक्षु के अनुसार, दूसरा अर्थ यह है कि मूल कारण को अंशतः सत् और असत् इस दृष्टि से माना जा सकता है कि वह अव्यक्त अवस्था में असत् है और परिणाम की गति में सत् है (किंचित् सद्रूपा किंचिदसद्रूपा च भवति)।

साधना के विषय में कहते हैं कि आगम, अनुमान और ध्यान द्वारा हमें आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह आत्म-ज्ञान असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त कराता है, जिससे सभी वासनाएँ निर्मूल हो जाती हैं, यह अज्ञान की निवृत्ति से ही नहीं, किन्तु कर्म के क्षय से भी प्राप्त होती है। वे यह मानते हैं कि शंकर का श्रुति के श्रवण पर आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए बल देना भी उचित नहीं।

मुक्तावस्था में आत्मा लिंग शरीर से छूट जाने पर ब्रह्म से एक हो जाता है, जैसे नदी समुद्र से एक हो जाती है। यह तादात्म्य नहीं है किन्तु अविभागावस्था है (लिंग-शरीरात्मक-षोडश काल-शून्येन एकताम विभाग-लक्षणाभेदमत्यन्तं व्रजेत्)। यहां, मुक्तावस्था में जीव और ब्रह्म के बीच भेदाभेद, नदी और सागर के दृष्टान्त से बताया गया है।

भिक्षु का कहना है कि सांख्य और योग में मुक्ति के विषय में भेद है। सांख्य के अनुयायी केवल प्रारब्ध कर्म का अन्त करके मुक्ति पा सकते हैं। अविद्या के नष्ट हो जाने पर मुक्ति पाने के लिए प्रारब्ध कर्मों के क्षय तक की राह देखनी पडती है। योग के अनुयायी जो असम्प्रज्ञान समाधि में जाते हैं, उन्हे प्रारब्ध के फल नहीं भोगने पड़ते, क्योंकि असम्प्रज्ञान समाधि में होने के कारण उन्हें प्रारब्ध कर्म छू नही सकते। इसलिए तुरन्त ही अपनी स्वेच्छा से मुक्तावस्था मे प्रवेश कर सकते हैं। भिक्षु के अनुसार, ईश्वर गुणातीत है तो भी शुद्ध सत्वमय शरीर के द्वारा यह रचना-कार्य और जगत्-व्यापार का नियंत्रण करते रहते हैं। उसका कर्तृत्व शुद्ध सत्वमय शरीर रूपी निदर्शन क्रिया द्वारा प्रकट होता है, तो भी वह राग-द्वेष इत्यादि से रहित होता है।

कूर्म पुराण के तीसरे अध्याय में कहा है कि प्रधान, पुरुष और काल अव्यक्त से उत्पन्न होते हैं और उनसे समस्त विश्व प्रकट हुआ। भिक्षु कहते हैं कि जगत् ब्रह्म से सीधे प्रकट नहीं होता किन्तु प्रधान, पुरुष और काल से होता है। ब्रह्म से सीधे अभिव्यक्ति नहीं है, क्योंकि इससे यह अर्थ होगा कि ब्रह्म अपरिणामी है। साक्षात् प्रकटीकरण का यह अर्थ होगा कि पाप और नरक भी ब्रह्म से प्रकट हुए। ब्रह्म से प्रकृति, पुरुष

और काल का प्रकट होना, ब्रह्म को इन तीनों का अधिष्ठान कारण मानकर समझाया है (अभिव्यक्ति कारण या आधार कारण)। किन्तु प्रकृति पुरुष और काल का यह परिणाम दूध में से दही परिवर्तन की तरह नहीं है। प्रलयावस्था में प्रकृति और पुरुष किसी कार्य को उत्पन्न नहीं करते इसलिए असत् समान माने जा सकते हैं। परमात्मा के संकल्प से, पुरुष और प्रकृति को आकर्षित करके आपस में संयुक्त किया जाता है प्रकृति के परिणाम के लिए प्रेरणा-बिन्दु को आरम्भ किया जाता है। इस प्रेरणा-बिन्दु को काल कहा है। इस रूप में ये तीनों कार्य उत्पन्न करते माने जा सकते हैं और इसलिए सत् माने जा सकते हैं। इसी दृष्टि से प्रकृति, पुरुष और काल परमात्मा द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं।[1]

अव्यक्त को परमात्मा इसलिए कहा गया है कि वह मनुष्य के ज्ञान से परे है। यह इसलिए ऐसा कहा गया है कि वह अद्वैतावस्था में है जहाँ शक्ति और शक्तिमत् का भेद नहीं है और जहाँ सब कुछ अविभक्तावस्था में है। प्रकृति के रूप में अव्यक्त परिणाम का आधार है या परिणाम मात्र है; और पुरुष ज्ञाता है।

परमात्मा सभी जीवों का आत्मा है। इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि केवल परमात्मा ही हैं और सारे पदार्थ उसके स्वरूप पर मिथ्या आरोपण मात्र हैं। परमात्मा या परमेश्वर, काल, पुरुष और प्रधान से भिन्न और एक भी है। प्रकृति और पुरुष की सत्ता, परमेश्वर की सत्ता की अपेक्षा चरम कम है क्योंकि पुरुष और प्रकृति की सत्ता, ईश्वर की सत्ता से तुलना में आपेक्षिक है (विकारापेक्षया स्थिरत्वेन अपेक्षकम् एतयोस्तत्वम् पृ० ४४)। काल को पुरुष और प्रकृति के संयोग का निमित्त कारण माना है। काल कर्मों का श्रेष्ठ निमित्त कारण है, क्योंकि कर्म भी काल द्वारा उत्पन्न होते हैं (कर्मादीनामपि काल-जन्यत्वात्) यद्यपि काल अनादि है फिर भी यह स्वीकारना पड़ता है कि काल का प्रत्येक कार्य के साथ विशिष्ट सम्बन्ध रहता है। इसी कारण से प्रलय के समय, काल, महत् इत्यादि कोई विकार उत्पन्न नहीं करता। महत्तत्वं स्वयं चैतन्य और मूल तत्वों का समाहार है।

पुरुष जब एक वचन में प्रयोग किया जाता है, तो इस प्रयोग का यह अर्थ नहीं

---

[1] न तु साक्षादेव ब्रह्मणः · अत्र कालादि-त्रयस्य ब्रह्म-कार्यत्वमभिव्यक्ति-रूपमेव विवक्षितम् · प्रकृति-पुरुषयोश्च महादादि-कार्योन्मुखतां च परमेश्वर कृतादन्योन्य संयोगादेव भवति एवं कालस्य प्रकृति-पुरुष-संयोगाख्य-कार्योन्मुखत्वं परमेश्वरेच्छयैव भवति।

—ईश्वर गीता भाष्य, हस्त०।

समझना चाहिए कि इससे अन्य पुरुषों का निषेध किया गया है। पुरुष भी दो प्रकार के हैं, अपर और पर, दोनों निर्गुण हैं और शुद्ध चैतन्य रूप हैं। किन्तु पर और अपर पुरुष में यह भेद है कि पर पुरुष का सुख-दुःख से कोई सम्बन्ध नहीं होता, जबकि अपर पुरुष कभी-कभी सुख-दुःख से सम्बन्धित हो जाता है जो उसे उस समय वे अपने हैं ऐसा अनुभव होता है (अन्ये गुणाभिमानात्सगुणाइव भवंति परमात्मा तु गुणाभिमान-शून्यः पृ० ४६)। यह ध्यान में रखना चाहिए कि सुख-दुःख का अनुभव होना पुरुष का अनिवार्य लक्षण नहीं है, क्योंकि जीवन्मुक्तावस्था में पुरुष अपने सुख-दुःख के अनुभव से एकत्व नहीं करते हैं, तो भी पुरुष ही रहते हैं। परमात्मा, जो परम पुरुष कहलाता है, कर्म-विपाक से होने वाले अनुभवों से सम्बन्ध नहीं रखता, जो देशकाल अवस्था से युक्त होते हैं। किन्तु परमेश्वर अपनी विशिष्ट उपाधि से सम्बन्धित हो, नित्य आनन्द का भोग करता रहता है (स्वोपाधिस्थ-नित्यानद-भोक्तृत्वं तु परमात्मनोऽपि अस्ति)। जब श्रुति परम पुरुष में सुख दुःख के अनुभवों के भोग का अस्वीकार करती है तब अत:स्थित तात्पर्य यह है कि यद्यपि परम पुरुष सभी पुरुषों का आधार है, तो भी वह इन अनुभवों से निस्संग रहता है (एकस्मिन्नेव बुद्धावस्थानेन जीव-भोगतः प्रसक्तस्य परमात्म-भोगस्यैव प्रतिषेधः)। इस प्रकार परम पुरुष में अन्य पुरुष के कुछ सामान्य अनुभव विद्यमान रहते हैं। ये शुद्ध नित्य आनन्द के अनुभव स्वयं पुरुष में आनन्द के साक्षात् और अनन्तर प्रतिबिम्ब के कारण है, जिससे यह आनन्द साक्षात् और त्वरित ही अनुभव होता है। पुरुष के इस अनुभव से पुरुष परिणाम को पाता है ऐसा नहीं माना जा सकता। उसे सामान्य पुरुषों की मानसिक अवस्थाओं तथा सुख-दुःख के अनुभवों का भान, उनसे प्रभावित हुए बिना, अवश्य ही, रहता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि हम बाह्य विषयों का ज्ञान करते हैं। अनुभव का यह भोग, परमेश्वर के मन के कारण, प्रतिबिम्ब-व्यापार द्वारा होता है।

जब हम देखते हैं कि पुरुष, महत् और अहंकार और सभी विकार, परमात्मा के स्वरूप में अविभक्त रूप से रहते हैं तब हमें ऐसे मत का अद्वैतवाद समझ में आ जाता है। परम पुरुष सभी पुरुषों में और बुद्धि तथा अहंकार में तथा पीछे होने वाले सभी विकारों में, ज्ञाता रूप से अंतर्हित है। इसी कारण से, इस तत्त्व के व्यापार से हमारे सभी ज्ञानात्मक व्यापार शक्य होते हैं, क्योंकि यही तत्त्व का व्यापार ज्ञान उत्पन्न करने की क्रिया के रूप में कार्य करता है। सुख-दुःख के अनुभवों के विषय में भी, यद्यपि ये अन्तःकरण से बाहर रह नहीं सकते, और प्रकाशित होने के लिए दूसरे साधन की आवश्यकता न भी रखें, तो भी इनके विषय में भी मनस् और बुद्धि अन्तःकरण के रूप से कार्य करते हैं। इसलिए यद्यपि सुख और दुःख अज्ञान रूप से अस्तित्व रखते हुए नहीं माने जा सकते हैं, तो भी इनके अनुभव भी मनस में प्रतिबिम्ब होने के कारण होते हैं ऐसा माना जाता है।

जब महत् पुरुष से संयुक्त होता है और पुरुष तथा मूल आधार कारण के बीच भेद मालूम नहीं पड़ता, तभी सर्गारम्भ होता है। परमात्मा की महान् चेतना विषयी और अविषयी सिद्धान्तों को एक साथ धारण करती है। विषयी प्रकृति और अविषयी केन्द्र, पुरुष दोनों अवि भक्तावस्था में बँधे हुए रहते है। यही जीव शोक और बन्धन के सभी अनुभवों को उत्पन्न करता है। यह पूछा जा सकता है कि पुरुष और बुद्धि किस प्रकार इस अवस्था में अभेद रूप से रहते हैं और एक दूसरे से विविक्त क्यों नहीं रहते। उत्तर यह है कि अभेद और भेद, बुद्धि के सम्भावित तत्व हैं और योग का कार्य ऐसे आपस के अभेद के अनुभव में बाधाओं को नष्ट करता है (योगादिना तु प्रतिबन्धमात्रमपाक्रियते)।

परमात्मा का प्रेम दो स्तर से चलता है। पहला, ईश्वर हमारी उच्चतम आवश्यकताएँ संतुष्ट करता है इस विचार से और दूसरा भक्त और भगवान् दोनों एक हैं इस विचार से। ये उच्चतम आवश्यकताएँ पहले, मूल्य के विचार में प्रकट होती हैं, जिसका अनुभव संतोष और सुख रूप लगता है, दूसरे हम मुक्ति का मूल्य समझने लगते हैं, तीसरे हम परमात्मा की महिमा का अनुभव कर संतोष पाते हैं और इस मूल्य को समझने लगते हैं। (प्रेम च अनुराग-विशेषः परमात्मनि इष्ट-साधनता-ज्ञानादात्मव-ज्ञानाच्च भवति। इष्ट मपि द्विविध भोगापवर्गो तन्महिमा-दर्शनोत्थ-सुखम् च इति तदेवं माहात्म्य-प्रतिपादनस्य फल प्रेम-लक्षणा भक्ति.)।

प्रकृति से तादात्म्य प्राप्त माया को द्रव्य पदार्थ मानना चाहिए। प्रकृति मे, सत्व और तमस् दो तत्व हैं। सत्व से ज्ञान या सच्चा ज्ञान उत्पन्न होता है, तमस् से मिथ्या ज्ञान या मोह उत्पन्न होता है। मिथ्या ज्ञान उत्पन्न करने वाला प्रकृति का पहलू माया कहलाता है। माया को त्रिगुणात्मिका प्रकृति कहा है या तीन गुणयुक्त प्रकृति कहा है। किन्तु यद्यपि माया को प्रकृति से एक रूप माना है तो भी यह अध्यास, प्रकृति का तमो रूप अखड प्रकृति से पृथक् नही किया जा सकता, इसका कारण है। जब श्रुति में ऐसा कहा है कि परमात्मा योगियों की माया का नाश करता है, इससे यह अर्थ नही होता कि सारी त्रिगुणात्मिका प्रकृति का नाश होता है किन्तु योगी से सम्बन्धित तमो व्यापार का अन्त या नाश होता है। माया का इस प्रकार भी वर्णन किया है, वह जिस पर आधारित है अर्थात् परमात्मा, उसमें भ्रम उत्पन्न नहीं कर सकती, किन्तु दूसरों में भ्रम या मिथ्या ज्ञान उत्पन्न कर सकती है (स्वाश्रय-व्यामोहकत्वे सति पर व्यामोहकत्वम्)।

आगे और यह कहा है कि परमात्मा ने त्रिगुण युक्त माया शक्ति से जगत् उत्पन्न किया है। माया का यहाँ ऐसा अर्थ होता है कि पुरुष और प्रकृति में मिथ्या आरोपण से जगत् की उत्पत्ति के परिणाम-व्यापार तथा जगत् का अनुभव शक्य है।

परमात्मा के सम्बन्ध में माया, प्रकृति के लिए व्यवहृत है, जबकि जीव के सम्बन्ध में उसे मोह उत्पन्न करने वाली अविद्या कहा है।

सच्चा ज्ञान केवल ब्रह्म से अभिन्नता प्राप्त करने में नहीं है, किन्तु ब्रह्म के सपूर्ण ज्ञान में है। इसका तात्पर्य ब्रह्म का ज्ञान प्रधान, पुरुष और काल तथा समस्त ब्रह्माण्ड का किस प्रकार विकास होता है, उसके द्वारा धारण किया जाता है और अन्त में उसमें विलीन होता है इत्यादि से है, तथा जीव का ब्रह्म से व्यक्तिगत सम्बन्ध कैसा है, वह किस प्रकार उन्हें नियमित करता है और अन्त में मुक्ति ज्ञान से होती है। काल को, पुन उपाधि कहा है जिसके द्वारा परमात्मा प्रकृति और पुरुष को जगत्-रचना क्रम की ओर प्रवृत्त करता है।

एक कठिन समस्या यह है कि परमात्मा, जो शुद्ध चैतन्य स्वरूप है और इसलिए इच्छा और सकल्प-रहित है, वह किस प्रकार प्रकृति और पुरुष के महान् सयोग का कारण है। भिक्षु इसका यह उत्तर देते हैं कि परमात्मा के स्वरूप में ही ऐसी शक्ति है कि जिससे वह, अपने में अन्तर्हित प्रकृति और पुरुष को सयुक्त करने की क्रिया तथा विकास क्रम को बनाए रखता है। यद्यपि पुरुष और प्रकृति को जगत् का कारण माना जा सकता है, तो भी क्योंकि सयोग, काल में होता है इसलिए काल को ही प्रधान रूप में गति का कारक मानना चाहिए, यह सयोग परमात्मा में निहित उपाधि वशात् शक्य है। (मम स्वीया भाव पदार्थ स्वभाव उपाधि तत्सन्य प्रेरणात् भगवान् अप्रतिहतो महायोगस्य प्रकृति-पुरुषादि सयोगस्य ईश्वरस्तत्र समर्थ ··· प्रकृति प्रतिक्षण परिणामानम् एव कालोपाधित्वात्)। चूंकि भगवान्, पुरुष और प्रकृति को अपनी प्रेरक उपाधि से गतिशील करता है इसलिए जड-चैतन्य-युक्त सारा जगत् इस दृष्टि से उसका शरीर कहलाते है वे भगवान् की क्रिया के निष्क्रिय विषय है। ईश्वर, प्रकृति और पुरुष रूप से अपनी ही शक्तियों में नृत्य करता रहता है। यह तर्क किया जा सकता है कि पुरुष नितान्त निष्क्रिय होने से वह किस प्रकार गति उत्पन्न कर सकता है और किस प्रकार प्रकृति से सयोग स्थापित कर सकता है, इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि वे विशिष्ट क्रिया में प्रवृत्त कर दिए जाते हैं या प्रवृत्ति से सयुक्त कर दिए जाते हैं। कभी-कभी यह भी सूचित किया जाता है प्रकृति पुरुष की उपाधि है और प्रकृति की पुरुष के सयोग में प्रवृत्ति, पुरुष की ही प्रकृत्ति है, ऐसा समझा जाता है।

ईश्वर गीता के सातवें अध्याय में ब्रह्म को व्यापक कहा गया है। इस प्रकार कोई भी कारण अपने कार्य के सम्बन्ध से ब्रह्म माना जा सकता है। इसलिए ब्रह्म के अनेक स्तर, छोटे सामान्य से लेकर बड़े सामान्य के रूप में हो सकते हैं। ब्रह्म की इस प्रकार परिभाषा की गई है, 'यद्यस्य कारण तत्तस्य ब्रह्म तदपेक्षया व्यापकत्वात्'

ब्रह्म में सभी सामान्य समाए हुए हैं इसलिए वह ब्रह्म माया कहा गया है। परमात्मा सर्वदा पुरुषों से सम्बन्धित है। किन्तु तो भी पुरुष के साथ उसका गतिशील प्रेरणा-व्यापार प्रकृति से इस प्रकार है कि विषयमय जगत् उसके सम्मुख ज्ञान के रूप में प्रकट हो जाता है।

जीव, परमात्मा का विभाग है और उनमें सम्बन्ध पिता-पुत्र जैसा है। जीव जब अपने सारे कर्म परमात्मा को निष्ठा से समर्पित कर देता है तब पाप-पुण्य का प्रभाव नष्ट हो जाता है और वे बन्धन डालने में निष्फल हो जाते हैं। क्योंकि सभी जीव परमात्मा के अंश हैं इसलिए उनमें विभिन्नता होते हुए भी महान् सदृशता है। परमात्मा जीवों में इस प्रकार समाया हुआ है जैसे पूर्ण में अंश समाया हुआ है।

विज्ञान भिक्षु अधिष्ठान कारण को मूल कारण कहते हैं जो अपने में एकसा ही रहता है फिर भी उसमें से नवीन पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यह उनका अंश और पूर्ण का सिद्धान्त है। इस प्रकार अंश पूर्ण से उत्पन्न होते हैं किन्तु पूर्ण में कोई परिणाम नहीं होता। प्रलयकाल में अंश का लय हो जाता है, किन्तु ब्रह्म जैसा वह सर्जन-काल में था वैसा ही बना रहता है। इस प्रकार, पुनः जब जीव (अंश) पर प्रभाव पड़ता है तब सुख दुःख का अनुभव होने लगता है। किन्तु अंश का प्रभावित होना पूर्ण को नहीं लगता। पूर्ण, विकारों में होने वाले दुःखों से प्रभावित नहीं होता, आगे और यह कहा है कि अधिष्ठान कारण के व्यापार से विकार, जैसेकि द्रव्य, गुण और कर्म प्रकट हो सकते है और विशिष्ट रूप से कार्य कर सकते हैं। अन्तर्निहित पूर्ण में, जो अधिष्ठान कारण है कोई विभाग नहीं है, तो भी इसी सामान्य अधिष्ठान से विकार उत्पन्न होते हैं जब धर्म युक्त तत्व प्रकट होते हैं और क्योंकि वे इसमें से उत्पन्न दीखते हैं इसलिए वे विशिष्ट पारिभाषिक शब्द में अन्तर्निहित अधिष्ठान कारण के विभाग कहलाते हैं।

यह इस प्रकार स्पष्ट दीखेगा कि ब्रह्म अपने अधिष्ठान कारण में कूटस्थ रहता है, किन्तु ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म माया से सम्बन्धित है और उससे एक है (स मायी मायया बद्धः)। तात्पर्य यह है कि माया परमात्मा का अविभाज्य अंग है और उससे भिन्न नहीं है। माया एक अंग है जो पूर्ण में एक रूप है।

यद्यपि श्रुति में जीव का ब्रह्म से भेद और तादात्म्य बहुधा वर्णित किया गया है, तो भी ब्रह्म से जीव का भेद अनुभव होते ही परममुक्ति प्राप्त होती है।[1]

---

[1] यद्यपि भेदाभेदावुभावेन श्रुतिस्मृत्योरुक्तौ तथापि यथोक्त-भेद-ज्ञान-रूप-विवेकादेव सर्वाभिमान-निवृत्त्या साक्षात् मोक्षः।

—ईश्वर गीता।

बृहदारण्यक उपनिषद् २-४-५ मे कहा है कि आत्मा की कामना के लिए सभी वस्तुओं की कामनाएँ हैं। शंकर इससे यह अनुमान लगाते है कि हमारी प्रियता मूलतः आत्मा से है और जब सभी मोह सुख का मोह है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा आनन्द या सुख-स्वरूप है। दूसरे पदार्थ की इच्छा केवल तभी होती है जब हम उन्हे भूल से अपना स्वरूप या अग मान लेते हैं। भिक्षु इस प्रतिज्ञा को अस्वीकार करते हैं। वे कहते है कि प्रथमतः यह गलत है कि हमे सर्वदा अपने से मोह है, और इसलिए, यह सत्य नही है कि जब हम अन्य पदार्थ की कामना करते हैं तो हम अपनी आत्मा की कामना करते हैं। इसलिए, यह गलत है कि आत्मा आनन्द-स्वरूप है। यदि आत्मा शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है तो वह आनन्द-स्वरूप नही हो सकता। यदि आनन्द और चैतन्य दोनों एक ही हैं, तो सभी ज्ञान आनन्द रूप होगा, किन्तु हमारा अनुभव, जितना सुख से सम्बन्धित है उतना ही दुःख से भी है। सुख-दुःख और अभिमान, ये सब प्रकृति के धर्म हैं या उसके विकार बुद्धि के धर्म हैं और ये वृत्ति द्वारा आत्मा पर स्थानान्तरित होते हैं, जो सचमुच सुख-दुःख का भोक्ता है। इसलिए अनुभव प्रकृति का धर्म नही है किन्तु आत्मा का है।[1] विषय से इन्द्रिय-सन्निकर्ष के और प्रकाश के व्यापार द्वारा चित्त-व्यापार उत्पन्न होता है। इन्हे वृत्तियाँ कहा जाता है जो बुद्धि का धर्म है और इसलिए प्रकृति का, किन्तु इसके अनुरूप पुरुष द्वारा वृत्ति साक्षात्कार होता है और यह साक्षात्कार ही पुरुष का खरा अनुभव है। भोग शब्द द्वयर्थी है, सदिग्धार्थ है। कभी यह वृत्ति को लक्ष्य करता है और कभी वृत्ति-साक्षात्कार को। पहले अर्थ मे भोग पुरुष मे अस्वीकृत है।

अज्ञान, इस प्रणाली में मिथ्या ज्ञान का अर्थ रखता है। जब पुरुष बुद्धि की वृत्ति का साक्षात्कार करता है और उसे अपने पर आरोपित करता है तब मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होता है जो बन्धन का कारण होता है। साक्षात्कार स्वय सत्य है किन्तु आत्मा से साक्षात्कार के गुण का सम्बन्ध मिथ्या है। जब आत्मा वृत्ति से भिन्न अपना स्वरूप जानता है और अपने को ब्रह्म का एक अविभक्त अग जानता है तब मुक्ति होती है। ब्रह्म मे आत्मा की अविभक्तता का सरल अर्थ यही है कि ब्रह्म आधार कारण है और इसलिए यह आधार कारण मूल मे शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। सारा जगत् शुद्ध चैतन्य रूप से ही ब्रह्म में स्थिर है जिसके प्रकृति और पुरुष जिसमें एक सच्चे विकार से परिणाम प्राप्त करने के कारण और दूसरा प्रकृति के व्यापार का अपने पर अध्यारोप द्वारा, कार्य माने जा सकते हैं। जगत् अन्त में शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, किन्तु जड़ तथा उसके परिणाम और अनुभव भी केवल जड़ है और उसमें

---

[1] साक्षात्कार-रूप-धर्मस्य द्रव्य-धर्मत्व-सम्भवात्।

—ईश्वर गीता पर भिक्षु की टीका, हस्त०।

से बुदबुद की तरह निकलते कालमय रूप हैं। किन्तु जबकि ये कार्य के रूप में ब्रह्म के सच्चे प्रकार हैं, इसलिए अद्वैतवाद पर अधिक बल देना गलत रहेगा। सत्ता में अधिष्ठान कारण तथा उद्भूत रूप दोनों ही समाए हुए हैं। शंकर ने यह प्रतिपादन किया है कि अद्वैत न पहुँचने तक ही द्वैत सत्य है। किन्तु भिक्षु इस पर आक्षेप करते कहते हैं कि जबकि अद्वैत सत्य पर पहुँचने के लिए क्रम की मान्यता स्वीकार करनी पड़ती है, इसलिए द्वैतवाद का सर्वथा खण्डन अद्वैत का भी खण्डन होगा।

तेइसवाँ अध्याय

कुछ चुने हुए पुराणों के दार्शनिक विचार

जिन पाठकों ने विज्ञान भिक्षु द्वारा व्याख्यात कूर्म पुराणान्तर्गत ईश्वर गीता तथा ब्रह्म सूत्र की टीका पढ़ी है उन्हें मालूम हुआ होगा कि, उनके अनुसार वेदान्त का सम्बन्ध सांख्य और योग से है और इसके समर्थन में उन्होंने बहुत से पुराणों का उल्लेख किया है, जो शंकर से पहले वर्तमान थे। विज्ञान भिक्षु, इसलिए, पुराण के बहुत से उद्धरण देते हैं और रामानुज, मध्व, वल्लभ, जीव गोस्वामी और बलदेव के ग्रन्थों में, हम उनके द्वारा मान्य वेदान्त दर्शन के समर्थन में पुराण के बहुत से उद्धरण देखते हैं।

यह बहुत ही सम्भव है कि ब्रह्म सूत्र और उपनिषद् के विषय में दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण प्रणाली का मत पुराण की परम्पराओं में सुरक्षित है। उपनिषद् और ब्रह्म सूत्र की शंकर द्वारा की गई व्याख्या पुराण में पाए जाने वाले अर्थ वस्तुवादी अर्थ बोधन से बहुत दूर हट गया है। सम्भवतः, इसीलिए, शंकर पुराण का उल्लेख नहीं करते, किन्तु जबकि शंकर द्वारा अर्थ बोधन का प्रकार पूर्व गामी पुराणों में नहीं मिलता, और अन्य कारणवशात् कुछ उपनिषद् के प्रति अद्वैतवाद को अन्य कारणों से हल्का कर दिया है, तो यह माना जा सकता है कि पुराण और भगवद् गीता में पाया जाने वाला वेदान्त-मत, कम-से-कम सामान्य रूप से, ब्रह्म सूत्र और उपनिषद् दर्शन का अति प्राचीन दृष्टिकोण है।

इसलिए यह वाञ्छनीय है कि रामानुज और विज्ञान भिक्षु के दर्शन के निरूपण को, कुछ मुख्य पुराणों के दर्शन के संक्षिप्त वर्णन से पूरा करना चाहिए। सभी पुराणों में सर्ग और प्रतिसर्ग का वर्णन आवश्यक है और इन्हीं खण्डों में दार्शनिक विचार भी पाए जाते हैं।[1] इस प्रस्तुत खण्ड में कुछ चुने हुए पुराण के सर्ग प्रति सर्ग में विद्यमान दार्शनिक विचारों को खोजने का प्रयत्न किया जायगा जिससे पाठक पुराण के दर्शन की भास्कर, रामानुज, विज्ञान भिक्षु और निम्बार्क के दर्शन से तुलना कर सकें।

विष्णु पुराण के अनुसार ब्रह्म की पहली अभिव्यक्ति पुरुष मानी गयी है, फिर

[1] सर्गश्च प्रति सर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानु चरितं चैव पुराणं पंच लक्षणं। —कूर्म पुराण, १-१२।

दूसरे व्यक्ताव्यक्त तथा काल का स्थान हैं, प्रधान, पुरुष, व्यक्त और काल का मूल कारण विष्णु की परम अवस्था को माना गया है। यहाँ हम विष्णु ब्रह्म को पाते हैं।[1]

विष्णु पुराण १-२-११ में यह कहा है कि परम सत्य शुद्ध सत्ता है, जो केवल नित्य सत्ता की स्थिति ही कही जा सकती है। यह सर्वत्र है, और वह सब कुछ है (यह सर्वेश्वरवाद है) और इसलिए इसे वासुदेव कहा गया है।[2] वह निर्मल है क्योंकि उसमें कोई बाह्य वस्तु नहीं है जिसे फेंक दिया जा सके।[3] वह चार रूप में स्थित है, व्यक्त, अव्यक्त, पुरुष और काल। अपनी लीला से ये चार रूप उत्पन्न हुए हैं।[4] प्रकृति को सदसदात्मिका[5] और त्रिगुणात्मिका कहा गया है।[6] प्रारम्भ में ये चार तत्व होते हैं, ब्रह्म, प्रधान, पुरुष और काल,[7] ये सब त्रिकालिक विष्णु से भिन्न हैं। काल का कार्य सर्जन काल में पुरुष और प्रकृति को एक साथ रखना है और प्रलय में अलग रखना है। इन्द्रियगम्य वस्तुओं का काल ही कारण है। इस प्रकार काल की सत्तामूलक संयोग और वियोग की क्रियाओं का उल्लेख है।[8] (काल इस अर्थ में सत्तामूलक है क्योंकि वह ज्ञानात्मक पहलू के साधन के रूप में कार्य नहीं करता किन्तु, सद्रूप या सत्ता के रूप से कार्य करता है)। सभी व्यक्त पदार्थ अन्तिम प्रलय के अन्त में प्रकृति में विलीन होते है इसलिए प्रकृति को प्रति सचार कहा है।[9] काल अनादि है इसलिए प्रलय के समय भी रहता है, वह प्रकृति और पुरुष को संयुक्त किए रहता है और सर्गारम्भ के समय दोनों को विभक्त करता है। उस समय

---

१ ब्रह्म को सृष्टा भी माना है, हरि, पाता (रक्षक) और महेश्वर संहर्ता के रूप में माने हैं।

आपोनारा इति प्रोक्ता, आपो वै नरसूनवः।
अयन तस्य ताः पूर्वम् तेन नारायणः स्मृतः। —मनु० १-१०।

२ सर्वत्रासौ समस्त च वसत्यत्रेति वै यतः।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते। —विष्णु पुराण, १-२-१२।

३ हेयाभावाच्च निर्मलम्। —वही, १-२-१३।

४ व्यक्तं विष्णुस्तथा व्यक्त पुरुष. काल एव च।
क्रीडतो बालकस्येव चेष्टां तस्य निशामय। —वही, १-२-१८।

५ वही, १-२-१९।

६ विष्णु पुराण, १-२-२१।

७ वही, १-२-२३।

८ विष्णोः स्वरूपात्परतो हि तेऽन्ये रूपे प्रधान पुरुषश्च विप्र।
तस्यैव तेऽन्येन धृते वियुक्ते रूपादि यत्तद् द्विज-काल-संज्ञम्। —वही, १-२-२४।

९ वही, १-२-२५।

परमात्मा अपने संकल्प से प्रकृति और पुरुष में प्रवेश करता है और सर्जन प्रारम्भ करने वाला क्षोभ उत्पन्न करता है।[1] जब परमात्मा प्रकृति और पुरुष मे प्रवेश करता है तब उसका सान्निध्य मात्र ही सर्जन करने वाले क्षोभ के लिए पर्याप्त है, ठीक उसी प्रकार जैसेकि एक सुगन्धित पदार्थ अपने सान्निध्य मात्र से मन का परिणाम किए बिना सुगन्ध उत्पन्न करता है।[2] परमात्मा क्षोभ और क्षोभ्य दोनों है और इसी कारण, विरोध और विकास द्वारा सर्ग होता है। यहाँ पर पुनः हम सर्वेश्वरवाद पाते हैं, सभी उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं और प्रत्येक में वही समाया हुआ है। अणु से जीवात्मा का अर्थ है।[3] विष्णु या ईश्वर विकार रूप से विद्यमान है अर्थात् वह व्यक्त रूप से है और पुरुष और ब्रह्म रूप से भी।[4] यह स्पष्ट ही सर्वेश्वरवाद है।

टीकाकार कहते हैं कि 'क्षेत्रज्ञाधिष्ठानात्' में क्षेत्रज्ञ शब्द से पुरुष का तात्पर्य है। किन्तु प्रत्यक्षतः सदर्भ और न सांख्य मत इसका समर्थन करता है। पाठ का अनुसधान स्पष्ट ही ईश्वर को लक्ष्य करता है, और प्रकृति मे प्रवेश द्वारा तथा उसके सान्निध्य द्वारा उसका अधिष्ठातृत्व पहले ही वर्णन किया जा चुका है।[5] प्रधान से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है तब वह प्रधान द्वारा आवृत होता है और इस प्रकार आवृत होकर वह सात्विक, राजस और तामस महत् के रूप मे विभक्त होता है। प्रधान महत् को ठीक उसी तरह ढकता है जैसे त्वचा बीज को।[6] इस प्रकार आवृत हुए महान् से, वैकारिक, तैजस् और भूतादि या तमस् अहंकार, विविध रूप से उत्पन्न होते हैं। इस भूतादि अहंकार, से, जो महत् द्वारा आवृत है (जैसे महत् प्रधान द्वारा) शब्द तन्मात्र सहज स्वविकार द्वारा उत्पन्न होते है और उसी प्रक्रिया द्वारा शब्द तन्मात्र से आकाश भूत तत्व उत्पन्न होता है। पुनः भूतादि शब्द तन्मात्र आकाश को आवृत कर लेता है। आकाश इस प्रकार उपाधि-ग्रस्त हो स्पर्श तन्मात्र को उत्पन्न करता है जो त्वरित ही स्थूल वायु उत्पन्न करता है। भूतादि पुनः आकाश, शब्द तन्मात्र स्पर्श तन्मात्र और विभक्त वायु को आवृत करता है जो पुनः रूप तन्मात्र को उत्पन्न करता है और त्वरित

---

[1] वही, १-२-२९।

[2] वही, १-२-३०।

[3] विष्णु पुराण, १-२-३१।

[4] वही, १-२-३२।

[5] गुण साम्यात् ततस्तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने।
गुण-व्यंजन-सम्भूतिः सर्ग-काले द्विजोत्तम।

—वही, १-२-३३।

[6] प्रधान तत्त्वेन समं त्वचा बीजमिवावृतम्।

—विष्णु पुराण, १-२-३४।

ही ज्योति उत्पन्न करता है।[1] स्पर्श तन्मात्र और वायु, रूप तन्मात्र को आवृत करता है। इस प्रकार उपाधि-ग्रस्त होकर विभक्त स्थूल-ज्योति रस तन्मात्र को उत्पन्न करता है, जिसमें से पुन स्थूल अप उत्पन्न होता है। उसी प्रकार रस तन्मात्र और रूप तन्मात्र आवृत होकर विभक्त स्थूल अप गन्ध तन्मात्र को उत्पन्न करता है जिसमे पुनः स्थूल पृथ्वी उत्पन्न होती है। तन्मात्र गुणो की अप्रकट उपाधियाँ हैं इसलिए इनमे गुण प्रकट नही है। इसलिए इन्हे, रूढ़ि प्रणाली से अविशेष कहा है। ये शान्त घोर और मूढ त्रिगुण धर्म नहीं प्रकट करते हैं। इस कारण भी इन्हे अविशेष कहा है।[2]

तेजस अहकार से पच ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती है। वैकारिक अहकार से मनस् उत्पन्न होता है।[3] य तत्व सुसगति तथा एकता से कार्य करते है और तन्मात्र अहकार और महत् के साथ, परमात्मा के परम नियमण में विश्व की एकता बनाते है। जब विश्व वृद्धि पाता है तब वे अण्डाकार रूप में हो जाते है जो क्रमशः पानी के बुदबुद की तरह अन्दर से विस्फोट करते है, और यह विष्णु रूप ब्रह्म का भौतिक शरीर कहलाता है। विश्व बाह्य परिधि पर, आप, अग्नि, वायु, आकाश और भूतादि से आवृत रहता है और इसके बाद महत् और अव्यक्त द्वारा, जो पृथ्वी से दस गुने बडे है। इस प्रकार सात आवरण होते है। विश्व नारियल के फल के समान है जिसके ऊपर अनेक आवरण है। योग्य समय पर, पुनः तमस् के आधिक्य मे, परमात्मा विश्व को रुद्र रूप मे भक्षण करता है और फिर ब्रह्मा रूप से सर्जन करता है। अन्ततोगत्वा, अवश्य हो, परमात्मा क्योंकि विश्व को अपने मे धारण करता है इसलिए वह सर्जक और सर्जन दोनों ही है, रक्षक और सहारक भी है।

यद्यपि ब्रह्म निर्गुण है, अज्ञेय और निर्मल है तो भी वह अपनी शक्ति द्वारा, जिन्हे हम जान नही सकते, सर्जक बन सकता है। वास्तव मे शक्ति या बल तथा द्रव्य का सम्बन्ध विचारातीत है। हम यह कभी नही समझा सकते कि अग्नि क्यो तथा कैसे गर्म है?[4] पृथ्वी हरि की प्रार्थना करती हुई उसका इस प्रकार वर्णन

---

[1] टीकाकार यहाँ कहता है कि जब आकाश स्पर्श तन्मात्र को उत्पन्न करता कहा गया है तो कहने का अर्थ यह नही है कि आकाश ऐसा करता है किन्तु भूतादि आकाश रूप से व्यक्त होकर करता है, अर्थात् भूतादि के आधिक्य से आकाश स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न कर सकता है। "आकाशः आकाशमयो भूतादिः स्पर्श-तन्मात्र ससर्ज।"

[2] श्लोक की टीका देखो, विष्णु पुराण १-२-४४।

[3] टीकाकार कहते हैं कि यहाँ मनस् से चतुर्विध कार्य सहित अन्तःकरण का अर्थ है, ये मनस्, बुद्धि, चित्त और अहकार हैं।

[4] विष्णु पुराण, १-१, १-२।

करती है इस जगत् में जो भी कुछ दृश्य है तेरी ही अभिव्यक्ति है सामान्य मनुष्य इसे भौतिक जगत् मानने में भूल करता है सारा जगत् ज्ञानरूप है, उसे विषय मानना भूल की भूल है। जो ज्ञानी हैं वे इसे चिद्रूप मानते हैं और परमात्मा का रूप मानते हैं जो शुद्ध ज्ञान रूप है। जगत् को भौतिक मानना और ज्ञान की अभिव्यक्ति न मानना ही भूल है।[1]

विष्णु पुराण १-४, ५०-५२ में ऐसा कहा है कि परमात्मा ही एक निमित्त कारण है और उपादान कारण जगत् के पदार्थ की शक्तियाँ है जो उत्पन्न की जाने वाली हैं। इन शक्तियों के जगत् के रूप में प्रकट होने के लिए केवल निमित्त कारण की आवश्यकता रहती है। परमात्मा केवल निमित्त मात्र ही है, जगत् का उपादान कारण जगत् के पदार्थों की शक्ति में विद्यमान है, जो परमात्मा के सान्निध्य से प्रभावित है। टीकाकार सूचित करता है कि परमात्मा सान्निध्य मात्र से निमित्त है (सान्निध्य मात्रेणैव)[2]

विष्णु पुराण १-४ मे हम सृष्टि का दूसरा वर्णन पाते है। ऐसा कहा गया है कि भगवान् ने सृष्टि रचना का विचार किया, और एक जड रूप सृष्टि तमस् मोह, महा मोह, तामिस्र और अन्ध तामिस्न के रूप मे प्रकट हुई। ये पांच प्रकार की अविद्या भगवान् से उत्पन्न हुई। इनसे पाँच प्रकार के वृक्ष हुए जो वृक्ष, गुल्म, लता, विरुत और तृण हैं (यहाँ पर्वत और गिरि को और जोडना चाहिए) जिनमें अन्त: और बाह्य चेतना नही होती, इन्हे सवृतात्मन कहा जा सकता है। इससे सतुष्ट न होकर, उसने पशु और पक्षियो को उत्पन्न किया जो तिर्यक् कहलाए। पशु इत्यादि तिर्यक् कहलाते है क्योंकि उनका ससार ऊपर न होकर सभी दिशाओ में होता है। तमस् से पूर्ण हैं इसलिए अवेदिनः कहलाते है। टीकाकार यहाँ आलेखित करते हैं कि अवेदिन् का अर्थ यह है कि पशुओ को भूख प्यास का ही ज्ञान होता है, किन्तु

---

[1] यदेतद्दृश्यते मूर्तम्, एतद् ज्ञानात्मनस्तव ।
भ्रांति-ज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिनः । —विष्णु पुराण, १-४-३६ ।
ज्ञान स्वरूपमखिलं जगदेतद बुद्धय. ।
अर्थ स्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोह-संप्लवे ।। —वही, १-४-४० ।

[2] निमित्तमात्रमेवासीत् सृज्यानां सर्ग-कर्मणि ।
प्रधान कारणी भूता यतो वै सृज्य शक्तयः ।। —वही, १-४-५१ ।
निमित्त मात्र मुक्त्वैकम् नान्यत् किंचिदवेक्ष्यते ।
नीयते नमताम् श्रेष्ठ स्वशक्तया वस्तु वस्तुताम् ।। —वही, १-४-५२ ।
सिसृक्षुः शक्ति युक्तोसौ सृज्य-शक्ति-प्रचोदितः । —वही, १-५-६५ ।

इस पाठ में ईश्वर के संकल्प और सृजन शक्ति को सृष्ट पदार्थों की शक्ति से सहायता मिलती है, ऐसा सूचन है।

संश्लेषणात्मक ज्ञान नहीं होता, अर्थात् वे भूत, भविष्य और वर्तमान का अनुभव एकीकृत रूप से नहीं कर सकते और उन्हें अपने इस जन्म या अन्य जन्म के भाग्य का ज्ञान नहीं होता तथा वे नैतिक और धार्मिक संज्ञा-रहित होते हैं। उन्हें स्वच्छता और खान-पान का विवेक नहीं है, वे अज्ञान को ज्ञान मानकर संतुष्ट हैं, अर्थात् वे किसी विशिष्ट प्रकार का ज्ञान पाने की चेष्टा नहीं करते। वे २८ प्रकार के बाध से सयुक्त हैं।[1] वे अन्तर से सुख-दुःख को जानते हैं किन्तु वे एक दूसरे से संवाद नहीं कर सकते।[2] तब पशु की रचना से असंतुष्ट होकर, भगवान् ने देवताओं को बनाया जो सर्वदा सुखी रहते हैं और अपने विचार और अन्तर्वेदना तथा बाह्य विषय को जान सकते हैं और परस्पर वार्तालाप भी कर सकते हैं। इस रचना से भी असंतुष्ट होकर उसने मनुष्यों को बनाया जिसे 'अर्वाक् स्रोत' कहते हैं, जो देव रचना के ऊर्ध्व स्रोतस् से भिन्न हैं। मनुष्य में तमस् और रजस् की प्रचुरता है और इसलिए उनमें दुःख भी बहुत है। इस प्रकार नव प्रकार की रचना है। पहले तीन, जो अबुद्धिपूर्वक कहलाते हैं वे महत्, तन्मात्र और भूतस्-शारीरिक इन्द्रियाँ रूपी भौतिक रचनाएँ हैं। चौथा सर्जन, जो मुख्य वर्ग कहलाता है वृक्षों का है, पाँचवां तिर्यक् वर्ग है, छठा ऊर्ध्व स्रोतस्, सातवां अर्वाक् स्रोतस् या मनुष्य है। आठवी रचना कोई नई प्रकार की दीखती है। सम्भवतः इससे पेड़-पौधे, पशु, देव और मनुष्य की निर्दिष्ट नियति का अर्थ है। पेड़ पौधों की नियति अज्ञान है। पशुओं को केवल शारीरिक बल है, देवताओं को

---

[1] सांख्य कारिका ४६ में २८ बाधाओं का वर्णन है। यहाँ बाधाएँ सांख्य के २८ बाधाओं को आलक्षित करती है। इससे यह स्पष्ट है कि विष्णु पुराण के काल में सांख्य की बाधाएँ सुपरिचित थीं। इससे यह भी पता चलता है कि विष्णु-पुराण सांख्य के विचार से निकटता से सम्बन्धित था, जिससे बाध का केवल नाम ही, सांख्य के बाध को लक्ष्य करने को पर्याप्त था। विष्णु पुराण सम्भवतः तीसरी शताब्दी का ग्रन्थ है, और ईश्वर कृष्ण की कारिका भी लगभग उसी काल में लिखी गई थी। मार्कंडेय पुराण में (वैंकटे० प्रेस, अ० ४४-५-२०) हम अष्टाविंशद् विधात्मिका शब्द पाते हैं। के० एम० बेनरजी की १ संस्करण वाले मार्कंडेय पुराण में भी अ० ४७-५-१० में यही शब्द पाया जाता है। बाधात्मका शब्द न तो मार्कंडेय और न पद्म पुराण (१३-६५) में मिलता है। मान्यता इसलिए, यह है कि मार्कंडेय में २८ प्रकार, सांख्य के प्रभाव से, तीसरी शताब्दी में, २८ बाधाओं में परिवर्तित हो गई। मार्कंडेय पुराण ई० पू० दूसरी शताब्दी में लिखा गया माना जाता है। यह पता चलाना कठिन है कि ये २८ प्रकार के पशु कौन हैं, जो मार्कंडेय पुराण में कहे गए हैं। किन्तु इन्हें सांख्य के २८ बाधाओं से एक करना ठीक नहीं है।

[2] अन्तः प्रकाशास्ते सर्वं आवृतास्तु परस्परम्। –विष्णु पुराण, १-५-१०।

निर्मल सतोष है, और मनुष्य में हेतुपूर्ति है। यह अनुग्रह-सर्ग कहलाता है।[1] तत्पश्चात् नवां सर्ग आता है जो कौमार सर्ग कहलाता है। वह सम्भवतः ईश्वर के मानस पुत्र सनत्कुमार इत्यादि के सर्जन से सम्बन्ध रखता है।

प्रलय चार प्रकार के कहे गए हैं ये नैमित्तिक या ब्राह्म, प्राकृतिक, आत्यन्तिक और नित्य हैं। नैमित्तिक प्रलय ब्रह्मा की निद्रा है, प्राकृतिक प्रलय में विश्व प्रकृति में विलीन होता है, आत्यन्तिक परमात्मा के ज्ञान से होता है अर्थात् जब योगी अपने को परमात्मा में लय करता है और चौथा जो नित्य प्रलय है निरन्तर विनाश है। वह प्रतिदिन होता रहता है।

वायुपुराण में आत्यंतिक सिद्धान्त का उल्लेख है, जो परमात्मा की प्रथम कार्यकारी प्रवृत्ति से है। इसे 'कारण अप्रमेयम्' कहा है, और यह अनेक नाम से विख्यात है जैसे ब्रह्म, प्रधान, प्रकृति, प्रसूति (प्रकृति प्रसूति) आत्मन्, गुह, योनी, चक्षुष, क्षेत्र, अमृत, अक्षर, शुक्र, तपस्, सत्वम् और अतिप्रकाश। ये दूसरे पुरुष को घेरे हुए है। यह दूसरा पुरुष सम्भवतः लोक पितामह है। रजस के आधिक्य एवं काल के संयोग से क्षेत्रज्ञ से सम्बन्धित आठ प्रकार के विकार के स्तर उत्पन्न होते हैं।[2] इस सम्बन्ध मे वायु पुराण भी प्राकृतिक, नैमित्तिक, और आत्यन्तिक प्रलय का उल्लेख करता है।[3] वह यह भी कहता है कि पदार्थों का विकास शास्त्र-निर्देश तथा बुद्धि

---

[1] वायु पुराण ६-६८ में इसे निम्न प्रकार से वर्णन किया है।

स्थावरेषु विपर्यासितिर्यग योनिषु शक्तिता।
सिद्धात्मनो मनुष्यास्तुत्रिषु देवेषु कृत्स्नशः।

यहाँ छठा सर्ग भूत-सर्ग है।

भूतादिका नाम् सत्वाना षष्ठ. सर्गः स उच्यते। —वही, ६-५८-५९।
ते परिग्रहिणः सर्वे सविभागरताः पुनः खादनाश्चाप्य शीलाश्च ज्ञेया भूतादिका च ते॥ —वही, ६-३०।

मार्कंडेय पुराण में अनुग्रह-सर्ग पाँचवां सर्ग है।

कूर्म पुराण में (७-११) भूत पाचवां सर्ग है, कूर्म पुराण के अनुसार पहला सर्ग महत्सर्ग, दूसरा, भूत-सर्ग, तीसरा वैकारिकेन्द्रिय सर्ग, चौथा, मुख्य सर्ग, पाँचवां तिर्यक् सर्ग है। इस प्रकार यहाँ विरोध है क्योंकि उसी अध्याय में ११वें श्लोक में पाँचवां भूत-सर्ग कहा है। इससे यह अनुमान होता है कि कम से कम सातवें अध्याय को लिखने में दो व्यक्तियो का योग है।

[2] वायु पुराण, २-११, अहिर्बुधन्य सहिता में विस्तृत पचरात्र सिद्धान्त से इसकी तुलना करो।

[3] वायु पुराण, ३-२१।

द्वारा जाना गया है[1] और प्रकृति समस्त संवेद्य गुणो से रहित है। वह त्रिगुणात्मिका है। प्रकृति काल रहित और अज्ञेय है। मूलावस्था में–गुणों की साम्यावस्था में, उसमें सभी कुछ तमस् से व्याप्त था। सर्ग के समय, क्षेत्रज्ञ से संयुक्त होने से, उसमें से महत् उत्पन्न होता है। यह महत् सत्व की प्रधानता से है और शुद्ध सत्ता को व्यक्त करता है। महत् के अनेक नाम हैं जैसेकि मनस्, महत्, मति, ब्रह्मा, पुर, बुद्धि, ख्याति, ईश्वर, चिति, प्रज्ञा, स्मृति, संवित् और विपुर।[2] महत्प्रज्ञा, सर्जन की इच्छा से प्रेरित होकर, रचना शुरू करती है, और धर्म, अधर्म तथा अन्य तत्वों को उत्पन्न करती है।[3] क्योंकि सभी प्राणियो के स्थूल प्रयत्न महत् में सूक्ष्मावस्था में रहते हैं इसलिए इसे मनस् कहा गया है। यह पहला पदार्थ है, जिसका विस्तार अनन्त है और इसीलिए उसे महान् कहा गया है। यह अपने सभी सीमित और परिमित तत्वों को धारण किए हुए है, और क्योंकि इसमें से सभी भेद उत्पन्न होते हैं और अनुभव से सम्बन्धित बुद्धि युक्त पुरुष के रूप से दीखते हैं, इसलिए इसे मति कहा है। इसे ब्रह्मा कहा है क्योंकि इससे सभी की वृद्धि होती है। आगे, सभी पदार्थ इसी में से अपना द्रव्य लेते हैं इसलिए इसे पुर कहा है। क्योंकि पुरुष सभी वस्तुओं को हितकर या एषणीय समझता है और इसी द्रव्य के द्वारा सभी कुछ जाना जा सकता है, इसलिए इसे बुद्धि कहा है। सभी अनुभव और अनुभवों का संगठन तथा सभी दुःख और सुख, जो ज्ञान से होते हैं वे इसी से उत्पन्न है, इसलिए इसे ख्याति कहा है। वह सभी को साक्षात् देखता है इसलिए ईश्वर है। सभी प्रत्यक्ष इसी से उत्पन्न है इसलिए इसे प्रज्ञा कहा है। सभी ज्ञानावस्थाएँ और सभी प्रकार के कर्म, तथा उनके फल कर्मानुरूप निश्चित होने के लिए इसी में संगृहीत होते हैं इसलिए यह चिति है। क्योंकि वह भूतकाल को स्मरण रखता है इसलिए इसे स्मृति कहा है। सभी ज्ञान का आगार होने से उसे महात्मन् कहा है। यह सभी ज्ञानों का ज्ञान है वह सर्वव्यापी है और सभी पदार्थ इसी मे समाए हुए हैं इसलिए यह सम्वित् है। यह ज्ञान रूप होने के कारण ज्ञान है। यह सभी संघर्षात्मक अभीष्ट वस्तुओं के अभाव का कारण है इसलिए इसे विपुर कहा है। यह जगत् के सभी प्राणियों का पति है इसलिए ईश्वर है। वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनो रूपों मे ज्ञाता है और एक है। यह सूक्ष्म शरीर में रहता है (पुर्याम् शेते) इसलिए उसे पुरुष कहा है। यह स्वयभू भी कहलाता है क्योंकि इसका कोई कारण नही है और यह सर्ग का आदि है। वह महान् सर्जन की इच्छा से प्रेरित होकर, दो प्रकार की क्रिया द्वारा जगत् में अभिव्यक्त होता है, ये क्रियाएँ संकल्प और

---

[1] इच्छास्त्र युक्तया स्वमति प्रयत्नात्।
नमस्तमाविष्कृत-धी-वृतिभ्यः।　　　　　　　　　　–वही, ३-२४।

[2] वह पांच प्रमाण का उल्लेख करता है।　　　　　　　–वही, ४-१६।

[3] वायुपुराण, ४-२५।

अध्यवसाय हैं। यह त्रिगुणात्मक है। रजस् के आधिक्य से, महत् से अहंकार उत्पन्न हुआ। तमस् के आधिक्य से भूतादि भी उत्पन्न होते हैं जिनमें से तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। इसमें शून्य रूप आकाश उत्पन्न होता है जिसका शब्द से सम्बन्ध है। भूतादि के परिणाम से शब्द तन्मात्र उत्पन्न हुए हैं। जब भूतादि शब्द तन्मात्र को आवृत कर लेते हैं, तब स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न होता है। जब आकाश शब्द तन्मात्र और स्पर्श तन्मात्र को आवृत करता है, तब वायु उत्पन्न होती है। इसी प्रकार अन्य भूत और उनके गुण उत्पन्न होते हैं। तन्मात्राओं को अविशेष भी कहा है। वैकारिक या सात्विक अहंकार से पंच ज्ञानेन्द्रियां पंच कर्मेन्द्रियां और मनस् उत्पन्न होते हैं।[1]

ये गुण परस्पर सहकार से कार्य करते हैं और पानी की बुद बुद की तरह ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं। इस ब्रह्माण्ड से क्षेत्रज्ञ, ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ (चतुर्मुखी देव) उत्पन्न होता है। परमात्मा प्रत्येक प्रलय के समय अपना शरीर छोड़ता है और नवीन सर्ग के समय नवीन शरीर धारण करता है।[2] ब्रह्माण्ड अप, तेज उष्णता, वायु, आकाश, भूतादि, महत् और अव्यक्त से आवृत रहता है। आठ प्रकार की प्रकृति कही गई है और सम्भवतः ब्रह्माण्ड आठवा आवरण है।[3]

आठवे अध्याय में ऐसा कहा है कि रजस्, सत्व और तमस् में प्रवृत्यात्मक तत्व के रूप मे विद्यमान है, जैसे तिल मे तेल रहता है। आगे यह भी कहा है कि महेश्वर, प्रधान और पुरुष मे प्रवेश करता है और रजस् भी प्रवृत्ति से प्रकृति की साम्यावस्था में क्षोभ पहुँचता है।[4] गुण क्षोभ से तीन देव उत्पन्न होते हैं, रजस् से ब्रह्मा, तमस् से अग्नि और सत्य से विष्णु। अग्नि का काल से भी एकत्व किया गया है।

वायु पुराण में माहेश्वर योग का वर्णन भी है।[5] यह पांच धर्म का बना है, जैसेकि प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा और स्मरण। प्राणायाम तीन प्रकार

---

[1] यह अन्य वर्णनों से भिन्न है। यहाँ रजस् अहकार का कोई कार्य नहीं है जिससे कर्मेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं।

[2] वायु पुराण, ४-६८।

[3] यह पाठ क्लिष्ट है क्योंकि यह समझना कठिन है कि ये आठ प्रकृत्तियाँ कौन-सी है। —वही, ४, ७७-७८।

[4] यह पहले कहा है कि भौतिक जगत् तामस् अहकार से उत्पन्न होता है, और सात्विक अहकार से ज्ञान-कर्मेन्द्रिय पचक। राजसिक अहकार से कुछ उत्पत्ति नहीं मानी है, वह केवल साम्यावस्था के क्षोभ का क्षण ही माना है। —और वायुपुराण, ५-६ देखो।

[5] वायुपुराण, अ० ११-१५।

के हैं, मन्द, मध्यम और उत्तम। मन्द १२ मात्रा का, मध्यम चौबीस मात्रा का और उत्तम ३६ मात्रा का होता है। जब वायु को अभ्यास-क्रम से नियमित किया जाता है तब सभी पाप जल जाते हैं और सभी शारीरिक दोष दूर हो जाते हैं। ध्यान द्वारा भगवान् के गुणों का ध्यान करना चाहिए। प्राणायाम से चार प्रकार के लाभ होते हैं, शान्ति, प्रशान्ति, दीप्ति और प्रसाद। शान्ति का अर्थ माता-पिता से पाए दोष तथा दूसरों के सयोग से जनित पाप का हट जाना है। प्रशान्ति व्यक्तिगत पापों का नाश जैसेकि तृष्णा, अभिमान इत्यादि। दीप्ति का अर्थ उस रहस्यात्मक दृष्टि से है जिससे त्रिकाल अतीत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञान होता है और ऋषियों से सयोग होता है जिससे बुद्ध जैसा बन सकते हैं। प्रसाद संतोष है, और इन्द्रिय, इन्द्रियों के विषय, मनस् और पच वायु का शमन है।

आसन से प्रारम्भ कर प्राणायाम की प्रक्रिया तक का भी वर्णन किया है। प्रत्याहार अपनी इच्छाओं का नियमन है। धर्म मन को नासिका के अग्रभाग अथवा भौंहों के मध्य बिन्दु केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करना है। प्रत्याहार द्वारा बाह्य वस्तुओं का प्रभाव हटाया जाता है। ध्यान से हम अपने को सूर्य या चन्द्र जैसा देखते हैं, अर्थात् इससे हमें अप्रतिहत प्रकाश प्राप्त होता है। अनेक प्रकार की सिद्धि जो योगी को प्राप्त होती है। उन्हें उप सर्ग कहा गया है और इन सिद्धियों से दूर रहने का आग्रह किया गया है। ध्यान के विषय पृथ्वी, मनस् और बुद्धि से उत्पन्न तत्व हैं। योगी को इन प्रत्येक तत्वों को बारी-बारी से लेना चाहिए और छोड़ देना चाहिए, जिससे वह किसी से भी मोहित न हो जाय। जब वह इन सातों में से सग नहीं करता है और वह सर्वज्ञ, सतोष, अनादि ज्ञान, स्वातन्त्र्य, अनवरुद्ध एव अनन्त शक्ति युक्त महेश्वर का ध्यान करता है। इसलिए योग का अन्तिम हेतु[1] महेश्वर जैसी ब्रह्म प्राप्ति है जिसे अपवर्ग भी कहते हैं।[2]

मार्कंडेय पुराण में योग को ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति कहा है, जो एक ओर मुक्ति और ब्रह्म से तादात्म्य है और दूसरी ओर प्रकृति के गुणों से वियोग है।[3] सभी दुःख मोह से उत्पन्न होते हैं। मोह-निवृत्ति से ममत्व का भी नाश होता है जो सुख प्राप्ति कराता है। मुक्ति प्राप्त कराने वाला ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है और अन्य सब

---

[1] वायुपुराण के योग में वृत्ति-निरोध या कैवल्य का उल्लेख नहीं है।

[2] वायु और मार्कंडेय पुराण में अरिष्ट पर एक अध्याय है जैसाकि जयाख्य संहिता में पाया जाता है, जहाँ मृत्यु चिह्न का वर्णन है जिससे योगी मृत्यु समय जानता है, यद्यपि यह वर्णन अन्य दो ग्रन्थों में दिए वर्णनों से सर्वथा भिन्न है।

[3] ज्ञान पूर्वो वियोगो योऽज्ञानेन सह योगिनः।
सामुक्ति र्ब्रह्मणा चैक्यम् अनैक्यम् प्रकृते र्गुणैः॥ —मा० पु० ३९-१।

कुछ अज्ञान है। धर्म-पालन तथा अन्य कर्तव्य-पालन द्वारा, पाप और पुण्य के फल का अनुभव लेने से, अपूर्व के फल के संग्रह से, और दूसरों के पूर्ण हो जाने से, कर्म का बन्धन होता है। कर्म से मुक्ति, इसलिए, इससे विरोधी प्रक्रिया से ही हो सकती है। प्राणायाम से पाप नष्ट होते हैं।[1] अन्तिम स्थिति में योगी ब्रह्म से एक हो जाता है, जैसे पानी में पानी डालने से एक हो जाता है।[2] यहाँ पर योग के चित्तवृत्ति-निरोध का उल्लेख नहीं किया गया है।

वासुदेव को यहाँ परम ब्रह्म कहा है, जिसने अपनी रचना की इच्छा से, काल की शक्ति द्वारा सभी कुछ रचा है। इसी शक्ति द्वारा, पर ब्रह्म ने अपने में से पुरुष और प्रधान को अलग किया और उनका संयोग किया। इस सर्जन-क्रम में सबसे प्रथम तत्त्व महत् निकला, जिसमें से अहंकार, इसमें से पुनः सत्व, रजस् और तमस् उत्पन्न हुए। तमस् से पंच तन्मात्र और पंचभूत, और रजस् से दस इन्द्रियाँ और बुद्धि निकले। सत्व में से इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता और मनस् उत्पन्न हुए।[3] और आगे यह कहा है कि वासुदेव, पुरुष और प्रकृति और सभी विकार में है, जो इनमें व्याप्त भी है और पृथक् भी है, अर्थात् वह व्यापक एवं अतीत भी है। वह इनमें व्याप्त भी है तब भी उनके दोष और मर्यादाएँ उसे कुछ भी प्रभावित नहीं करती। सच्चा ज्ञान वह है जो वासुदेव से उत्पन्न सभी रूपों को, प्रकृति, पुरुष इत्यादि को समझता है और वासुदेव को भी उसके शुद्ध और पररूप से जानता है।[4]

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि पद्म पुराण में ब्रह्म-भक्ति का उल्लेख है जो कायिक या वाचिक, या मानसिक या लौकिक या वैदिकी और आध्यात्मिकी है। आध्यात्मिकी भक्ति फिर दो प्रकार की कही है, सांख्य-भक्ति और योग-भक्ति।[5] चौबीस तत्वों का ज्ञान, और इनका परम तत्व पुरुष से भेद, तथा प्रकृति और जीव का ज्ञान सांख्य-भक्ति है।[6] ब्रह्म पर ध्यान और प्राणायाम का अभ्यास योग-भक्ति है।[7] भक्ति यहाँ विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त की गई है।

नारदीय पुराण में नारायण को परम सत्य माना है, अर्थात्, धार्मिक दृष्टि से, यदि इसे देखा जाय तो, वह अपने में से सर्जक ब्रह्मा को रक्षक और पालक विष्णु को

---

[1] प्राणायाम तथा योग की अन्य प्रक्रिया वायुपुराण मे वर्णित जैसी ही है।

[2] मार्कंडेय पुराण, ४०,४१।

[3] स्कंद पुराण, २-९-२४ श्लोक १-१०।

[4] वही, श्लोक ६५-७४।

[5] पद्म पुराण, १-१५ श्लोक १६४-१७७।

[6] वही, श्लोक १७७-१८६।

[7] वही, श्लोक १८७-१९०।

संहारक रुद्र को रचता है।[1] परम सत्य महाविष्णु कहा गया है।[2] वह अपनी विशिष्ट शक्ति द्वारा सृष्टि रचता है। यह शक्ति दोनों प्रकार की सत् और असत् है दोनों विद्या और अविद्या हैं।[3] जब जगत् महाविष्णु से पृथक् देखा जाता है यह दृष्टि अपने में स्थित अविद्यागत है, जबकि दूसरी ओर, ज्ञाता और ज्ञेय के भेद का ज्ञान नष्ट हो जाता है, और केवल एकता का ज्ञान ही रहता है, यह विद्या के कारण है (यह विद्या ही है)[4] और जिस प्रकार हरि जगत् मे व्याप्त और ओत-प्रोत हैं वैसे ही उनकी शक्ति भी ओत-प्रोत है।[5] जिस प्रकार उष्णता का धर्म, अपने आधार अग्नि मे व्याप्त रहता है वैसे ही हरि की शक्ति उससे अलग नहीं रह सकती।[6] शक्ति व्यक्ताव्यक्त रूप से सारे जगत् में व्याप्त है, प्रकृति, पुरुष और काल उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं।[7] क्योंकि यह शक्ति महाविष्णु से भिन्न नहीं है, ऐसा कहा है कि प्रथम सर्ग के समय महाविष्णु, सर्जन-इच्छा रखते हुए, पुरुष, प्रकृति और काल का रूप धारण करते है। पुरुष के सान्निध्य से क्षुब्ध होकर प्रकृति से महत् प्रकट होता है और महत् से बुद्धि और बुद्धि से अहकार उत्पन्न होता है।[8]

अन्तिम सत्ता को वासुदेव भी कहा है, जो परम ध्येय और परम ज्ञान है।[9]

जगत् मे उत्पन्न हुए सभी जीवों को तीन प्रकार के दुःख भोगने पडते है परमात्मा

---

[1] नारदीय पुराण १-३-४।

[2] वही, श्लोक ६।

[3] वही, श्लोक ७।

[4] वही, १-३ श्लोक ७-६।

[5] वही, श्लोक १२।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि सर्जन हरि, अपनी अविद्या, उपाधि रूप शक्ति से करता है। यह वर्णन वेदान्त जैसा है। इस पंक्ति पर ध्यान देना आवश्यक है।

अविद्योपाधि-योगेन तथदेमखिल जगत्। वही, ३-१२ इस पंक्ति को उपरोक्त के साथ पढ़ना चाहिए। विष्णु शक्ति समुद्भूतमेतत्सर्वं चराचरम्। यस्माद् भिन्न-मिद सर्वं यच्चेग यंच तेंगति। उपाधिभिर्यथाकाशो भिन्नत्वेन प्रतीयते।

—वही, १०-११।

[6] वही, श्लोक १३।

[7] वही, श्लोक १७।

[8] वही, २८,११।

[9] वही, ८०।

की प्राप्ति इन दुःखों से छुटकारा पाने का एक उपाय है।[1] परमात्म-प्राप्ति के दो उपाय हैं ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग। ज्ञान शास्त्र के अध्ययन द्वारा विवेक से आता है।[2]

योग का भी वर्णन दूसरे अध्याय में दिया है। इसे ब्रह्म-लय कहा है। मनस् ही बंध और मोक्ष का कारण है। बन्धन विषयों से अनुरक्ति है, मुक्ति उनसे असंगतता है। जब आत्मा मन को चुम्बक की तरह अन्दर खींच कर उसकी प्रवृत्ति को नीचे की ओर निर्देश करता है और अन्त में ब्रह्म से जोड़ देता है, वही योग है।[3]

विष्णु की तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं, परा जो चरम है, अपरा, (जो व्यक्तिगत प्रयत्न से एक है) और तीसरी जो विद्या या कर्म कहलाती हैं।[4] सभी शक्तियाँ विष्णु की हैं, और उनकी ही शक्ति से सभी जीव कर्म में प्रवृत्त होते हैं।[5]

भक्ति को दूसरे अध्याय में श्रद्धा के अर्थ में प्रयुक्त किया है, और इसे जीवन के सभी कर्मों के लिए आवश्यक समझा गया है।[6]

---

[1] अन्तर्यामी प्रत्यय के लिए अ० १ का २६वाँ श्लोक देखिए और अ० ३३ का ४८वाँ श्लोक।

[2] नारदीय पुराण श्लोक ४, ५।

उत्पत्ति प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिं।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवान् इति॥
ज्ञान-शक्ति-बलैश्वर्य-वीर्य-तेजास्यशेषतः।
भगवच्छब्द वाच्योऽय बिना हेयैर्गुणादिभिः॥
सर्वं हि तत्र भूतानि वसति परमात्मनि।
भूतेषु वस ते सान्तर्वासुदेव स्ततः स्मृतः॥
भूतेषु वसते सान्तर्वसं त्यत्र वतानि यत्।
धाताविधाता जगता वासुदेव स्तत स्मृतः॥

—वही, १-४६, श्लोक २१-२४।

वासुदेव के गुण निम्न चार श्लोकों में वर्णन किए हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् का अर्थ वासुदेव है (वही, श्लोक १६)।

[3] आत्मा प्रयत्न-सापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते। —ना० पु० ४७-७।
प्राणायाम यम और नियम का वर्णन ५-८ से ५-२० तक में दिया है।

[4] वही, ना० पु० १-४७, श्लोक ३६-३८।

[5] वही, ४७-४६।

[6] वही, १-४।

कूर्म पुराण के अनुसार, परमात्मा पहले अव्यक्त, अनन्त, अज्ञेय और अस्तित्व निर्देशक के रूप से रहता है। किन्तु वह, अव्यक्त, नित्य और विश्व का कारण भी कहा गया है, जो सत् और असत् दोनों है और इसे प्रकृति से एक कहा है। इस रूप में वह परब्रह्म माना गया है, जो तीनों गुणों की साम्यावस्था है। इस अवस्था में पुरुष मानो उसमें समाया रहता है, और इसे प्रकृति-प्रलय की अवस्था भी कहते हैं। परब्रह्म की इस अव्यक्तावस्था से, वह ईश्वर के रूप में व्यक्त होने लगता है और वह अपने अन्तरंग संयोग से पुरुष और प्रकृति में प्रवेश करता है। ईश्वर की इस स्थिति की, स्त्री पुरुषों में रही काम-वासना से तुलना की जा सकती है, जो उनमें हमेशा रहती हुई केवल सर्जन-प्रवृत्ति के रूप में ही अभिव्यक्त होती है। इसी कारण ईश्वर तटस्थ-क्षोभ्य और गतिशील-क्षोभक दोनों ही माना गया है। इसी कारण यह कहा जाता है कि ईश्वर, स्वकुंचन और विस्तार द्वारा प्रकृति का-सा व्यवहार करता है। पुरुष और प्रकृति की क्षुब्धावस्था से महत् का बीज उत्पन्न होता है। पुरुष और प्रधान स्वरूप (*प्रधानपुरुषात्मकम्*) है। इससे महत् की उत्पत्ति होती है जो आत्मन्, मति, ब्रह्मा, प्रबुद्धि, ख्याति, ईश्वर, प्रज्ञा, धृति, स्मृति और संवित् भी कहलाता है। इस महत् से त्रिविध अहंकार उत्पन्न होते हैं, ये वैकारिक, तैजस और भूतादि (तामस अहंकार) हैं। इस अहंकार को अभिमान, कर्ता, मन्ता, और आत्मन् भी कहा है क्योंकि हमारे सभी प्रयत्न यहीं से उत्पन्न होते हैं।

ऐसा कहा है कि विश्व मनस् जैसा एक मनस् है जो अव्यक्त से अचिरात् ही उत्पन्न होता है और इसे पहला विकार माना है जो तामस अहंकार से उत्पन्न कार्यों की अधिनियंत्रणा करता है।[1] इस मनस को, तैजस और वैकारिक अहंकार से उत्पन्न इन्द्रिय रूप मनस् से भिन्न समझना चाहिए।

तन्मात्र और भूत के विकास के प्रकार के दो मत एक के बाद एक यहां दिए हैं, जिससे यह पता चलता है कि कूर्म पुराण का पुनः संस्करण हुआ होगा, और इसका मत जो पहले से विसंगत है उसे आगे जाकर शामिल कर दिया गया है। ये दो मत इस प्रकार हैं:—

(१) भूतादि ने अपने विकास में शब्द तन्मात्र को उत्पन्न किया, इससे आकाश हुआ जिसका शब्द गुण है। आकाश ने अपना विकास करते हुए स्पर्श तन्मात्र को उत्पन्न किया, स्पर्श तन्मात्र से वायु उत्पन्न हुई, जिसका स्पर्श गुण है। वायु अपनी वृद्धि मे, रूप तन्मात्र को जन्म देती है, जिससे ज्योति (ताप-तेज) हुआ, जिसका गुण रूप है। इस ज्योति से अपना विकास करते हुए, रस तन्मात्र उत्पन्न हुआ, जिसने

---

[1] मनस्त्वव्यक्तजं प्रोक्तं विकारः प्रथमः स्मृतः।
येनासौ जायते कर्ता भूतादींश्चानुपश्यति ॥   कू० पु० ४-२१।

अप उत्पन्न किया, जिसका गुण रस है। अप विकास करते हुए गन्ध तन्मात्र उत्पन्न करता है, जिससे संकीर्ण द्रव्य उत्पन्न होता है जिसका गुण गन्ध है।

(२) शब्द तन्मात्र रूप से आकाश ने स्पर्श तन्मात्र को आवृत किया, और इससे वायु उत्पन्न हुई, इसलिए इसमें दो गुण, शब्द और स्पर्श हैं। यह दोनों गुण, शब्द और स्पर्श, रूप तन्मात्र में प्रविष्ट हुए, जिससे अग्नि उत्पन्न हुई जिसमें तीन गुण हैं, शब्द, स्पर्श और रूप। ये गुण, शब्द, स्पर्श और रूप, रस तन्मात्र में प्रविष्ट हुए, जिससे अप उत्पन्न हुआ जिसमें चार गुण हैं, शब्द, स्पर्श, रूप और रस। ये चार गुण, गन्ध तन्मात्र में प्रविष्ट हुए और उन्होंने स्थूल पृथ्वी को उत्पन्न किया जिसमें पाँच गुण हैं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।

महत्, अहंकार और पंच तन्मात्र अपने आप व्यवस्थित जगत् उत्पन्न करने में अशक्य हैं, जो पुरुष के अधिनियंत्रण में (पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च) और अव्यक्त की सहायता से (अव्यक्तानुग्रहेण) होता है। इस प्रकार उत्पन्न जगत् के सात आवरण हैं। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय, भगवान् की स्व-लीला है जो भक्तों के हित के लिए होती है।[1]

---

[1] भगवान् नारायण कहा गया है, क्योंकि वह मनुष्यों का अन्तिम आधार है।
नराणामयनं यस्मात् तेन नारायणः स्मृतः। कूर्म पुराण, ४-६२।

परिशिष्ट

लोकायत, नास्तिक और चार्वाक

लोकायत, चार्वाक या बार्हस्पत्य के नाम से प्रसिद्ध भौतिक दर्शन सम्भवतः बहुत प्राचीन विचारधारा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में अनेक नास्तिकवादी मतों का उल्लेख है, जिसमें हम इस सिद्धान्त को पाते हैं, जिसमें, भूत को अन्तिम (मूल) सिद्धान्त माना है। लोकायत नाम अति प्राचीन है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में यह पाया जाता है, जहाँ इसे सांख्य और योग के साथ अन्वीक्षिकी कहा है।[1] राइस् डेविड्स् ने अनेक पाली भाषा के अनेक लेखांश संगृहीत किए हैं जिनमें 'लोकायत' शब्द आता है, और इन्ही लेखांशों का हमने निम्न विवाद में उपयोग किया है।[2] बुद्ध घोष लोकायतों को वितण्डावाद-सत्थम् कहते हैं।[3] वितण्डा का अर्थ छलपूर्ण विवाद है और न्याय सूत्र १-२-३ में इस प्रकार परिभाषा दी है : वह जल्प मे प्रतिपक्षी की प्रतिज्ञा की आलोचना अपना प्रतिपक्ष स्थापित किए बिना की जाती है (स प्रतिपक्ष-स्थापना-हीना वितण्डा) और इसलिए इसे वाद से भिन्न समझना चाहिए, जो प्रतिज्ञा सिद्ध करने के हेतु न्यायपूर्ण आर्थिक विवाद है। वितण्डा मे कोई प्रतिज्ञा सिद्ध करने को नही होती किन्तु वह एक प्रकार का जल्प है जो प्रतिपक्षी, को जान बूझकर उसके शब्दो और तर्कों का (छल) गलत अर्थ लगाकर, गलत तथा सभ्रमात्मक उपमा (जाति) का उपयोग करके, हराना चाहता है और व्यामोह का वातावरण खड़ा करके उसे मूक कर देना चाहता है या उसे स्वबाध और निग्रह स्थान पर ला देना चाहता है। किन्तु वितण्डा इस प्रकार वाद नहीं हो सकता, क्योंकि वाद तार्किक विवाद, सत्य के प्रतिपादन के लिए होता है और इस प्रकार वितण्डावाद विरोधपूर्ण शब्द है।

---

[1] कौटिल्य अर्थशास्त्र १-१।

[2] बुद्ध के संवाद ग्र० १, पृ० १६६, हाल ही, दो इटली के विद्वानो ने, डा० पिस्का-गल्ली और डॉ० टुच्ची ने नास्तिक, चार्वाक लोकायत और Linee di una storia del materialismo Indiano नामक दो ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें उन्होंने नास्तिक, चार्वाक और लोकायत शब्द के अर्थ को और इनके सिद्धान्त को भी ढूँढने का प्रयास किया है। बहुत से पाली भाषा के लेखांश जिनको इन्होंने समझाने की कोशिश की है वे राइस डेविड्स् ने संग्रह किए हैं वे ही हैं।

[3] अभिधान दीपिका ५-११२, बुद्ध घोषों के वाक्यों की पुनरावृत्ति करता है 'वितण्डा सत्थं विञ्ञेयं यं तं लोकायतम्।'

जयन्त, अवश्य ही, इंगित करते हैं कि बौद्ध वाद और वितण्डा में भेद नहीं करते और दोनों के लिए एक ही शब्द वाद का प्रयोग करते हैं।[1] इससे यह समझ में आता है कि यद्यपि लोकायत वितण्डा है, तो भी बौद्ध ग्रन्थों में उसे क्यों वाद कहा है? बुद्धघोष ने उसी टीका में वितण्डा के कुछ उदाहरण, लोकाख्यायिका शब्द (शाब्दिक अर्थ प्रचलित वार्ता है किन्तु पी० टी० एस० पाली डिक्शनरी के अनुसार जनसाधारण का दर्शन है) को समझाने के लिए देते हैं—कौवे सफेद हैं क्योंकि उनकी हड्डियाँ सफेद हैं। बलाका लाल है क्योंकि उनका खून लाल है।[2] ऐसी वितण्डाओं को वितण्डा-सल्लाप-कथा जहाँ सल्लाप और कथा दोनों का मिलकर संवाद अर्थ होता है। सल्लाप शब्द सम् और लप से बना है। न्याय सूत्र २-१८ की परिभाषा के अनुसार ये उदाहरण वितण्डा के नहीं, किन्तु जाति के हैं, अर्थात् ग़लत सादृश्य से अनुमान, जिसमें योग्य व्याप्ति नहीं है। ये वितण्डा नहीं हैं जैसाकि ऊपर कहा है। राइस डेविडस् अग्गवंश की सद्दनीति (प्रारम्भिक बारहवीं शती) से दूसरे पाठ उद्धृत करते हैं जो उनके अनुवाद के अनुसार इस प्रकार है 'लोक का अर्थ है–सामान्य जगत (बाल लोक)।' लोकायत का अर्थ है–'आयतति उस्साहन्ति वायमन्ति वादस्सादेनाति' अर्थात् वे वाद केवल उससे मिलने वाले आनन्द के द्वारा प्रयत्न करते हैं परिश्रम करते है। या शायद यह अर्थ भी हो सकता है 'जगत् उसके लिए कोई यत्न नहीं करता है, (यतति) अर्थात् वह उस पर निर्भर नहीं है, उससे चलती नहीं है (नयतति न ईहति वा)। क्योंकि सत्ता, उस पुस्तक के कारण (तहि गंध निस्साय)।[3] अपना चित्त नहीं देती (चित्त न उपादेन्ति)। लोकायत नास्तिकों का ग्रन्थ है (तित्थिया सत्थंय लोके वितण्डा सत्यम् उच्चति) जिसमें ऐसे निम्न निरर्थक विवाद हैं, 'सभी कुछ अपवित्र है, सभी कुछ अपवित्र नहीं है, कौवा सफेद है, बलाका काली है, और इस या उस कारण से। पुस्तक, जो वितण्डा सत्था के नाम से जगत् में विख्यात है, जिसके विषय में, अद्वितीय नेता बोधिसत्व और पण्डित विधुर ने कहा है, 'लोकायत का अनुसरण न करो, इससे पुण्य नहीं होगा।[4] इस प्रकार उपरोक्त उदाहरण और पाली ग्रन्थ के

---

[1] इत्युदाहृतमिदं कथात्रय यत् परस्पर विविक्त लक्षणम्।
स्थूलमध्यनवलोक्य कथ्यते वाद एक इति शाक्य शिष्यकैः।

—न्यायमंजरी, पृ० ५९६।

[2] सुमंगल विलासिनी, १-९०-९१।

[3] यह अनुवाद ठीक नहीं है। पाली पाठ किसी पुस्तक से सम्बन्ध नहीं बताता, पिछले वाक्य में शब्द वादस्सादन था जिसका अनुवाद 'वाद में आनन्द लेने को' जबकि शाब्दिक अनुवाद यह होगा, 'लड़ाई के स्वाद के कारण' और यहाँ इसका अर्थ 'गन्ध को पीछा करते' लोग पुण्य कर्म की ओर नहीं झुकते यह होता है।

[4] बुद्ध के संवाद देखो १-१६८ (अनुवाद ठीक नहीं है)। 'सब कुछ अपवित्र है, सब

अन्य लेखांशो से यह निश्चित है कि लोकायत का अर्थ छलयुक्त विवाद है, जल्प है, वितण्डा है और हेत्वाभास है, जिसका प्रयोग ब्राह्मण करते थे। यह कोई उपयोगी निष्कर्ष प्राप्त नही कराते, इतना ही नहीं, सच्चे ज्ञान की वृद्धि भी नहीं करते किन्तु इन्हें स्वर्ग और मोक्ष से दूर करते हैं। सामान्य जन ऐसे वितण्डा मे रुचि रखते हैं और ऐसे विषय पर एक ऐसा शास्त्र भी था (शास्त्र या सत्य) जिससे बौद्ध घृणा करते थे और उसे वितण्डा सत्य कहते थे।[1] दीघनिकाय (३-१-३) में लोकायत को अन्य शास्त्रो के साथ एक शास्त्र कहा गया है, वैसा ही अंगुत्तर १-१६३ में है और दिव्यावदान में इसे एक विशिष्ट प्रकार का शास्त्र माना है जिसका अपना भाष्य और प्रवचन है।[2]

लोकायत शब्द के अर्थ के विषय में बहुत ही अनिश्चितता है, यह दो शब्दो से बना है लोक आयवत या अयत, आयत शब्द आ+यम्+क्त से सिद्ध माना जा सकता है या आ+यत् (प्रयत्न करना) अ से सिद्ध माना जा सकता है—द्वितीय विभक्ति के अर्थ में या क्रियापद के अर्थ में, और अयन शब्द निषेधात्मक अ तथा यत् (प्रयत्न करना) से उत्पन्न माना जा सकता है। उपरोक्त उल्लिखित अग्गवंश के पाठ में,

---

कुछ अपवित्र नहीं है' यह वाक्य पाली ग्रन्थ में नहीं मिलता। अन्तिम वाक्य, जो विधुर पण्डित जातक (फाउस बोल ६ पृ० २८६) में उद्धृत किया है और प्रति-प्राचीन जातक है, उसमें यह वाक्य इस प्रकार है, 'न सेवे लोकायतिकं न एतम् पञ्ञाय वद्धनम्' अज्ञात टीकाकार लोकायितक को इस प्रकार वर्णन करता है, लोकयातिकंति अनत्थ-निस्सितम् सग्गा-मग्गानां अदायक अनिय्यांकम् वितंडा-सल्लापं लोकायतिक-वाद न सेवेय्य 'लोकायत अनिष्ट की ओर ले जाता है, न स्वर्ग की ओर न मोक्ष की ओर ले जाता है, और वह जल्प है जिससे सच्चा ज्ञान नहीं बढ़ता।

[1] राइस् डेविड्स् ऐसा मालूम होता है, विरुद्धवादी विरुद्ध के शब्द को वितण्डा समझते हैं, ग़लत लिखा प्रतीत होता है (बुद्ध के संवाद १-१६७) यह शब्द अत्थसालिनी में ३, ६०, ६२ और २४१ पृ० पर आता है। विरुद्ध शब्द वितण्डा नहीं है किन्तु विदग्धा है जो वितण्डा से बिल्कुल भिन्न है।

[2] लोकायत भाष्य-प्रवचनं। दिव्यावदान पृ० ६३० तथा और भी स्थान पर यह लिखा है, छन्दसि वा व्याकरणे वा लोकायते वा प्रमाण-मीमांसायाम् वा न चैषामूहापोहः प्रज्ञायते। —वही, पृ० ६३३।

यह सत्य है कि लोकायत शब्द का मान्य तर्क शास्त्र के अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया है, किन्तु कभी-कभी व्युत्पत्ति अर्थ में किया गया (अर्थात्, जो जन सामान्य है 'लोकेषु आयतो लोकायतः' जैसाकि दिव्यावदान पृ० ६१६ में है, वहाँ हम यह पाते हैं, 'लोकायत-यज्ञ-मंत्रेषु निष्णातः।'

पहले इसे य+यतन्नि (कठिन यत्न करना) से उत्पन्न माना है और इसके 'उत्साहन्ति' 'आयमति', पर्यायवाची शब्द दिए हैं, और दूसरा य+यतन्नि से उत्पन्न माना है अर्थात्, जिससे लोक यत्न करना छोड़ देते हैं (तेन लोको न यतति न ईहति वा लोकायतम्)। किन्तु प्रो० टुच्ची बुद्ध घोष की सारत्थ प्रकासिनी से एक अंश उद्धृत करते हैं जहाँ आयत शब्द आयतन (आधार) के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है और इस अर्थ के अनुसार 'मूर्ख और अपवित्र जगत् का आधार होता है। लोकायत का दूसरा अर्थ लोकेषु आयत होगा, अर्थात्, जो सामान्य जनता में प्रचलित है और कौवेल ने अपने सर्व दर्शन सग्रह के अनुवाद में इस अर्थ को स्वीकारा है और वह इसकी व्युत्पत्ति य+यमृक (विस्तृत) होगी।'[1] अमर कोष में केवल शब्द ही दिया गया है और वहाँ यह भी कहा है कि इस शब्द का प्रयोग नपुंसक लिंग में होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि दो लोकायत शब्द हैं। एक विशेषण है जिसका अर्थ, जगत् मे या जन साधारण मे प्रचलित' और दूसरा पारिभाषिक है जिसका अर्थ, 'वितण्डा, जल्प इत्यादि का शास्त्र' (वितण्डावाद सत्थम्)। किन्तु ऐसा कोई प्रमाण नही है कि इस शब्द का प्रयोग जगत्-विद्या के रूप मे किया गया हो, जैसाकि राइस डेविड्स् और फाल्के ने सूचित किया है और इसका प्रयोग दण्डनीति के अर्थ में किया गया हो जैसाकि अन्य विद्वानों का कहना है। शुक नीति में शास्त्रों और कलाओं का लम्बा वर्णन दिया गया है जो उस समय पढे जाते थे और इसमें इस नास्तिक शास्त्र को ऐसा शास्त्र बताते हैं जो तर्क में बडा बलवान् है और जो मानता है कि सभी पदार्थ अपने स्वभाव से उत्पन्न हुए हैं और वेद और ईश्वर कोई नहीं है।[2] मनु ७-४३ पर टीका करते मेधातिथि भी चार्वाक की तर्क-विद्या का उल्लेख करते हैं, और पुराने सभी उद्धरण, जिन पर हमने विवेचना की है, यह बताते हैं कि लोकायत नाम का शास्त्र था जो न्याय और हेत्वाभास का शास्त्र था। सौभाग्यवश, हमारे पास और भी निश्चयात्मक प्रमाण हैं जो सिद्ध करते हैं कि लोकायत शास्त्र टीका सहित, सुपूर्व कात्यायन के समय में था, अर्थात् लगभग ईसा से ३०० वर्ष पूर्व था। ७-३-४५ 'वर्णक-तान्तवे उप संख्यानम्' के सम्बन्ध में यह वार्तिक नियम है कि वर्णक शब्द स्त्रीलिंग में 'वर्णका'

---

[1] Linee di una storia del materialismo Indiano पृ० १७, सारत्थ प्रकासिनी (बकोक) २-८६।

[2] राइस डेविड्स् लोकायत ब्राह्मणों की विद्या है ऐसा कहते हैं, सम्भवतः यह जगत् विद्या, सुभाषित, पहेलियाँ पद्य या वाद है जो रूढिगत पाई हैं और जिसका विषय, विश्वोत्पत्ति, तत्व, तारे, मौसम, थोड़ी बहुत खगोल, प्रारम्भिक भौतिक शास्त्र, शरीर व्यवच्छेद विद्या, रत्नमणि का गुणों का ज्ञान और पशु-पक्षी और वृक्षों का ज्ञान है। (बुद्ध के संवाद १-१७१) फाके इसे Logische bewisoinde nature taring से अनुवाद किया है। —दीघ० १६।

हो जाता है जिसका अर्थ कम्बल या लपेटने का कपड़ा (प्रावरण) होता है और पतंजलि लगभग (१५० ई० पू०) वार्तिक सूत्र का बोधार्थ करते कहते हैं कि वर्णक शब्द के रूप को कपास या ऊनी आवरण के अर्थ में संकुचित करने का हेतु यह है कि दूसरे अर्थ में, स्त्रीलिंग का रूप वर्णिका या वर्तिका होगा (जिसका अर्थ टीका होगा) जैसेकि लोकायत पर भागुरी टीका है–वर्णिका, भागुरि लोकायतस्य, वर्तिका भागुरी लोकायतस्य।[1] इस प्रकार यह निश्चित दीखता है कि लोकायत नाम की एक पुस्तक थी जिस पर कम से कम एक टीका ई० पू० १५० वर्ष पूर्व या ३०० वर्ष ईसा पूर्व थी, जो सम्भवतः वार्तिक सूत्र के रचयिता कात्यायन का काल है। सम्भवतः वाद और हेत्वाभास का यह एक प्राचीन ग्रन्थ था, क्योंकि इससे पूर्व कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं मिलता जिसमें लोकायत का सम्बन्ध जड़वाद से हो, जैसाकि पिछले साहित्य में पाया जाता है, जहाँ चार्वाक और लोकायत को एक ही कहा गया है।[2] कमल शील, जयन्त, प्रभाचंद्र गुण रत्न इत्यादि की टीकाओं में ७वीं से १४वीं शताब्दी तक में कई सूत्रों का उद्धरण दिया गया है और कुछ का कहना है कि ये चार्वाक के हैं, और अन्य का यह कहना है कि ये लोकायत के हैं और गुण रत्न (१४वी शताब्दी) इन्हें बृहस्पति का बताते हैं।[3] कमलशील इन सूत्रों पर दो टीकाओं का उल्लेख करते हैं। जो कुछ भिन्न दृष्टिकोण से लिखी गई हैं और जो न्याय मंजरी में दिए धूर्त चार्वाक और सुशिक्षित चार्वाक विभागों से मिलती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। कम से कम लोकायत पर एक टीका जो सम्भवतः पतंजलि और कात्यायन से पूर्व थी, और सातवीं शताब्दी तक में लोकायत की कम से कम दो टीकाएँ दो भिन्न विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करती लिखी गई थीं। इसके उपरान्त, बृहस्पति रचित एक पद्यमय ग्रन्थ भी था, जिसके उद्धरण चार्वाक विचार-धारा के निरूपण के लिए, सर्वदर्शन संग्रह में, उपयोग में लाए गए हैं। यह कहना, अवश्य ही कठिन है कि कब यह प्राचीन वितण्डा शास्त्र, भौतिकवाद तथा प्रतिक्रियात्मक नीति से सम्बन्धित हो गया, और बौद्ध, जैन और हिन्दू धर्मों द्वारा घृणित समझा जाने लगा। पहले बौद्ध ही इससे घृणा करते थे, जबकि हिन्दू इसे अन्य शास्त्रों के अंग के रूप में अध्ययन करते थे।[4]

---

[1] पाणिनि पर पतंजल महाभाष्य ७, ३-४५ और उस पर कैयट की टीका।

[2] तन्नामानि चार्वाक लोकायतेत्यादिनी। षड् दर्शन समुच्चय पर गुणरत्न की टीका। पृ० ३००, गुण रत्न के अनुसार लोकायत वह है जो साधारण अविवेकी जन की तरह आचरण करते हैं–लोकानिर्विचाराः सामान्या-लोकास्तद्वदाचरन्ति स्म इति लोकायता लोकायतिका इत्यपि।

[3] वही, पृ० ३०७, तत्त्व संग्रह, पृ० ५२०।

[4] अनुगतार, १-१६३।

यह तो सुविख्यात है कि वाद विवाद की कला का अभ्यास भारत में अतिप्राचीन रहा है। सर्वप्रथम, इसे हम चरक संहिता (ईसवी पहली शताब्दी) में व्यवस्थित रूप से पाते हैं जो इससे पहले ग्रन्थ (अग्नि वेश संहिता) का पुनर्संस्करण ही है, इससे यह सूचित होता है कि इस प्रकार का वाद, इससे पूर्व यदि न रहा हो, तो पहली या दूसरी शताब्दी मे अवश्य रहा होगा। न्याय सूत्र में इस वितण्डावाद का विवेचन सुविख्यात है। आयुर्वेद तथा न्याय में लोग, अपने को प्रतिपक्षियों के आक्रमण से बचाने के लिए, इस विवाद की प्रणाली के अभ्यास किया करते थे। कथावत्थु भी में इस वितण्डा कला का व्यावहारिक उपयोग पाया जाता है। यहाँ हम उसे हेतुवाद के नाम से जानते हैं, और महाभारत में इसका पर्याप्त उल्लेख मिलता है।[1] महाभारत के अश्वमेध पर्व में हम पाते हैं कि हेतुवादिन् एक दूसरे को तार्किक वाद में हराने की कोशिश करते थे।[2] सम्भवत:, छांदोग्योपनिषद् मे (७-१-२, ७-२-१, २-७१) वाको-वाक्य शब्द का अर्थ इसी कला से है। इस प्रकार, यह लगभग निश्चित मालूम होता है कि इस वाद का उपयोग अतिप्राचीन है। इस सम्बन्ध में एक बात और सूचित होती है, ऐसा हो सकता है कि शास्त्र-सगत हिन्दू दर्शन का यह सिद्धान्त कि परम सत्य केवल श्रुति प्रमाण से सिद्ध हो सकता है–और जबकि तर्क या अनुमान द्वारा अन्तिम निष्कर्ष नही निकल सकता, क्योकि जो एक तार्किक द्वारा सिद्ध किया गया है, वह दूसरे के द्वारा असिद्ध किया जा सकता है–यह वितण्डावादियो के निषेधात्मक प्रभाव से है, जो दूसरो के द्वारा असिद्ध किए सत्य को सिद्ध करने में फलीभूत होते थे, और इनके सत्य को इनसे अधिक निष्णात तार्किक असिद्ध कर सकते थे।[3] ऐसे भी लोग थे जो आत्मा की अमरता के तथा दूसरे लोक की सत्ता पितर् या देवयान् के रूप में, वेद यज्ञ के फल देने की योग्यता का खण्डन करने की कोशिश करते थे और ये हेतुक जो वेदो का उपहास करते थे वे नास्तिक कहलाते थे। इस प्रकार मनु कहते हैं कि जो ब्राह्मण हेतु शास्त्र पर अधिक विश्वास करके वेद और स्मृति को नगण्य मानते हैं वे केवल नास्तिक हैं वे योग्य ब्राह्मण द्वारा बहिष्कार के योग्य हैं।[4] भागवत पुराण

---

[1] महाभारत, ३–१३०३४, १३–७२६५–१६८३ इत्यादि।

[2] वही, १४–८५, २७।

[3] ब्रह्मसूत्र 'तर्क प्रतिष्ठानाद प्यन्यथानुमानमिति चेदेवमपि अविमोक्ष-प्रसंगः' २-१-११ से तुलना करो। शकर यह भी कहते हैं, 'यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्र निबंधनाः तर्काः अप्रतिष्ठिताः भवन्ति उत्प्रेक्षाया. निरकुशत्वाण् कैरपि उत्प्रेक्षिताः सन्तः ललोऽन्यैराभास्यन्ते इतिन प्रतिष्टितत्व तर्काणा शक्यमाश्रयितुम्।

वाचस्पति मिश्र शकर की टीका पर टीका करते हुए वाक्य प्रदीप उद्धृत करते है, 'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्त तरैरन्यै रन्यथै वो पपाद्यते।

[4] यो वमन्येतते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिंदकः। —मनुः २-११।

में पुनः कहा है किसी को न तो वैदिक धर्म का अनुसरण करना चाहिए, न पाषण्डियों का (पाषण्डी से बौद्ध और जैनों का अर्थ होता है), न हेतुकों का और किसी को वितण्डा द्वारा किसी का भी पक्ष नहीं लेना चाहिए।[1] पुनः, मनु ४-२० में ऐसा कहते हैं कि किसी को पाषंडियों से वर्ण प्रथा को अतिक्रमण करने वालों से (विकर्मस्थान्) तथा वैडालव्रतिक, कपटी और हेतुकों से बात तक नहीं करनी चाहिए।[2] ये हेतुक सभी प्रकार के विवादों में उत्तर जाते थे और वेद के सिद्धान्त का खण्डन करते थे। ये नैयायिक नहीं हो सकते थे, या मीमांसक भी नहीं हो सकते जिन्हें भी कभी-कभी हेतुक या तर्की कहा जाता था, क्योंकि वे वेद-सिद्धान्त के अनुसार तर्क करते थे।[3] इस प्रकार हम अपने विवेचन की दूसरी अवस्था पर आते हैं जिसमें हेतुक वितण्डा का उपयोग करते थे, न केवल अपने ही वाद-विवाद में, किन्तु वेद के सिद्धान्त के खडन ऐसा करते थे, सम्भवतः बौद्ध सिद्धान्त के लिए भी, इसी कारण वे वेदवादी एव बौद्ध द्वारा निंदास्पद थे, और इस प्रकार, वितण्डा और वेद और बौद्ध सिद्धान्तों की आलोचना ब्राह्मणों में बढ़ी और उसका अभ्यास होने लगा। मनु २-११ में इसे प्रमाणित करते हैं जहाँ ब्राह्मण हेतुशास्त्र सीखते हैं ऐसा कहा है और यह अगुत्तर १-१६२ से तथा अन्य बौद्ध ग्रन्थों से पुष्ट होता है।

किन्तु ये नास्तिक कौन थे और क्या वे तथा हेतुक एक थे? यह शब्द पाणिनि के नियमानुसार ४-४६० (अस्ति नास्तिदिष्ट मति.) अनियमित रूप से बना है। पतजलि, अपनी टीका में आस्तिक शब्द को इस प्रकार समझाते हैं आस्तिक वह है जो सोचता है कि 'वह सत्ता रखता है' और नास्तिक वह है जो यह सोचता है कि 'वह सत्ता नही रखता।' जयादित्य, अपनी काशिका टीका मे, उपरोक्त सूत्र पर आस्तिक को इस प्रकार समझाते हैं, जो परलोक के अस्तित्व मे विश्वास रखता है, नास्तिक वह है जो इसे नही मानता और दिष्टिक वह है जो केवल न्याय-युक्त सिद्धि को ही मानता है।[4] किन्तु हमें स्वय मनु के शब्दो मे नास्तिक की परिभाषा जो वेद निन्दक

---

[1] वेदवादरतो न स्यान्न न पाषण्डिना हेतुकः।
शुष्क वाद विवादे न कंचित् पक्ष समाश्रयेत्॥ —भागवत, ११-१८, ३०।

[2] मेधातिथि यहाँ हेतुकों को नास्तिक कहते हैं, या वे जो परलोक में या यज्ञ में विश्वास नही रखते। इस प्रकार वे कहते हैं कि हेतुका नास्तिक नास्ति परलोको, नास्ति दत्तम्, नास्ति हुतमित्येवं स्थित प्रज्ञाः।

[3] मनु, १२-१११।

[4] परलोकः अस्तिति यस्य मतिरस्ति स आस्तिक, तद्विपरीतो नास्तिकः, प्रमाणानुपातिनी यस्य मतिः स दिष्टिकः। काशिका, पाणिनि ४-४-६० पर। जयादित्य का काल ७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में था।

है[1] ऐसी मिलती है। इस प्रकार नास्तिक शब्द का पहले अर्थ यह है, जो परलोक नहीं मानता, और दूसरा, जो वेद निन्दक है। ये दोनो मत, अवश्य ही, एक दूसरे से सम्बन्धित हैं क्योंकि वेद को न मानना, और जीव का पुनर्जन्म न मानना बराबर है तथा यह के सामर्थ्य में यह नास्तिक मत कि इस जन्म के बाद कोई जीवन नही है, और मृत्यु के साथ चेतना नष्ट होती है, उपनिषद् काल में अच्छी तरह से स्थापित हो गया था, और उपनिषद् इसी मत को खंडन करना चाहते थे। इस प्रकार, कठोपनिषद् में, नचिकेता कहते हैं कि लोगों में इस विषय पर गम्भीर संदेह है कि मृत्यु के बाद जीवन है या नही और वे यम मृत्यु के देवता से इस विषय पर निश्चयात्मक अन्तिम उत्तर चाहते थे।[2] आगे यम कहते हैं कि जो तृष्णा में अंधे हो गए हैं और परलोक में नही मानते हैं वे इस प्रकार मृत्यु के पाश में निरन्तर पड़ते रहते हैं।[3] पुनः बृहदारण्यक उपनिषद् (२-४-१२, ४-५-१३) में एक मत का उल्लेख याज्ञवल्क्य द्वारा दिया गया है कि चेतना भूत से उत्पन्न होती है और उसी के साथ नष्ट होती है और मृत्यु के बाद चेतना नही रहती है। जयन्त अपनी न्याय मंजरी में कहते हैं कि उपरोक्त पाठो मे वर्णित मत पर लोकायत प्रणाली का आधार था जो केवल प्रतिपक्षी का ही मत था।[4] जयन्त आगे उसी पाठ में कहते हैं कि लोकायतो का कोई कर्त्तव्य उपदेश नही है, वह तो केवल एक वितण्डावाद है (वैतण्डिक-कथैं वासौ) और यह आगम नही है।[5]

बौद्ध ग्रन्थो मे भी नास्तिको का उल्लेख मिलता है। पी० टी० एस० शब्द-कोष नास्थिक शब्द का अर्थ, वह जो 'नत्थी' (नास्ति) आदर्श वाक्य का अनुशीलन करते हैं। यहाँ कुछ नास्तिकवादियो का वर्णन करना वांछनीय होगा, जिनका उल्लेख

---

[1] मनु २-११ मेधातिथि 'नास्तिकाक्रातम्' (मनु ८-२२) को समझाते हुए नास्तिक और लोकायत को एक कहते हैं जो परलोक नही मानते। वे कहते हैं यथा नास्तिकैः परलोकापवादिभिः लोकायतिकाद्यैराक्रांतम्। किन्तु मनु ४-१६३ की दृष्टि मे नास्तिक वह है जो वेद को मिथ्या मानता है वेद प्रमाणकानामर्थानां मिथ्यात्वाध्यवसायस्य नास्तिक्य शब्देन प्रति पादनम्।

[2] येयम्प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके ना यमस्ती चैके। एतद् विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहम् वराणाम् एष वरस्तृतीयः। —कठ० १-२०।

[3] विज्ञानघन एव एतेभ्यः भूतेभ्या समुत्थाय तान्येव नुविनश्यति, न प्रेत्य सज्ञा स्तिइत्य रे ब्रवीमि। —बृ० २-४-१२।

[4] तदेवं पूर्वपक्ष-वचन-मूलत्वात् लोकायत-शास्त्रमपि न कर्त्तव्यम्।
—न्याय मंजरी, पृ० २७१, वी० एस सीरीज, १८९५।

[5] नहि लोक्यते किंचित् कर्त्तव्य मुपदिश्यते वैतण्डिक कथैवासौ न पुनः कश्चिदागमः।
—वही, पृ० २७०।

बौद्ध ग्रन्थो में है और जो किसी न किसी अर्थ में शून्यवादी या सदेहवादी कहे जा सकते हैं। पहले हम दीघनिकाय २-१६-१७ में दिए गए पूरण कस्सप को देखें। बुद्ध घोष, दीघ निकाय १-१-२ की टीका 'सुमंगला विलासिनी' में कहते हैं कि जिस कुटम्ब में ६६ नोकर थे उसमें कस्सप सौवां था, उसने इस प्रकार सौवीं सख्या पूरी की (पूरण), इसलिए उसका नाम मालिक ने पूरण (पूरा करने वाला) रखा, और कस्सप उसका गोत्र था। वह अपने कुटुम्ब से भाग आया था, राह में चोरों ने उसके कपडे छीन लिए, वह किसी प्रकार घास-पात लगाकर गाव के अन्दर घुसा। किन्तु गाव वालो ने उसे नग्न देखकर उसे महान् साधु समझा और उसे बडा सम्मान दिया। उस समय से वह साधु बन गया और पाँच सौ लोग साधु होकर उसका अनुसरण करने लगे। राजा अजातशत्रु एक बार पूरण कस्सप के पास आए और उससे पूछा कि इस ससार में ऐसा कौनसा प्रत्यक्ष फल है जो साधु बनकर मिल सकता है, पूरण कस्सप ने इस प्रकार उत्तर दिया, 'हे राजा जो कर्म करता है या औरो से काम कराता है, वह जो अंग लड करता है या औरो से ऐसा करवाता है, वह जो दड देता है या दूसरो से दड दिलवाता है, वह जो पीडा या शोक पहुँचाता है या, जा धुजता है या दूसरो को धुजाता है, वह जो जीव का हनन करता है, वह न दी हुई वस्तु को लेता है, जो घर में चोरी के लिए घुसता है, जो डाका डालता है, रास्ते मे डाका डालता है, व्यभिचार करता है, झूठ बोलता है, ऐसे कर्म करने वाले को पाप नही लगता। यदि उसके जैसी तीखी धार वाले चक्र से, वह सभी जीवों का ढेर कर देता है, मास का एक ढेर लगा देता है, तो भी उसे पाप नही लगता, पाप की वृद्धि, भी न होगी। यदि वह गगा के दक्षिण तट पर भिक्षा दे और भिक्षा देने का आदेश दे, यज्ञ करे या दूसरो से यज्ञ करवाए, तब उससे कोई पुण्य न होगा, न पुण्य में वृद्धि होगी। इस प्रकार प्रभु, पूरण कस्सप ने, साधु जीवन से मिलने वाले सुचिर लाभो के विषय मे पूछने पर, अपने अकिरियम् सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।[1] यह मत कर्म के सिद्धान्त का खडन करता है और मानता है कि पाप और पुण्य जैसी कोई वस्तु नही है, इस प्रकार कोई भी कर्म किसी फल की प्राप्ति नही करा सकते।[2] इसे ही अक्रिया का सिद्धान्त कहते हैं और एक दृष्टि से वह उस प्रश्न का उत्तर है कि साधु बनने से प्रत्यक्ष क्या फल मिलता है। जब पाप और पुण्य दोनो ही नही है तो कोई भी कर्म धर्म अधर्म उत्पन्न नहीं कर सकता—यह एक प्रकार का नास्तिकवाद है। किन्तु इस अक्रिया के सिद्धान्त[3] को शीलाक द्वारा, सूत्र कृतांग सूत्र १-१-१३ की अपनी टीका में

---

[1] बुद्ध के संवाद, १, ६६-७०।

[2] बुद्ध घोषो इस पर टीका करते कहते हैं 'सव्वथापि पाप-पुञ्ञानाम् किरियामेव परिक्खिपति।' —सुमंगल विलासिनी, १-१६०।

[3] इसे डॉ० बरुआ पुराण कस्सप का मत मानते हैं जो स्पष्ट ही एक बडी भूल है। बुद्ध से पूर्व हिन्दू दर्शन। कलकत्ता १६२१, पृ० २७६।

बताए ऐसे सांख्य के अकारक सिद्धान्त से संकीर्ण नहीं करना चाहिए। वह अकारक सिद्धान्त सांख्य मत है जिसके अनुसार आत्मा अच्छे बुरे किसी प्रकार के कर्म में भागी नहीं होता।[1]

अब हम दूसरे शून्यवादी आचार्य को देखें, जो अजित केश कम्बली है। उसके सिद्धान्त दीघ २-२२-२४ में संक्षेप से वर्णन किए गए हैं, अजित कहते हैं, भिक्षा या दान या यज्ञ जैसी कोई वस्तु नहीं है न कोई फल ही है और न अच्छे बुरे कर्मों का परिणाम है। इह लोक और परलोक जैसी कोई वस्तु नही है (नत्थी अयं लोको न परलोको)। न बाप है न माता और उनके बिना जन्म जैसी भी वस्तु नही है। जगत् में ब्राह्मण या साधु कोई नहीं है, जो अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचे हैं, जो पूर्ण आचरण करते हैं और जो अपने अनुभव से इह लोक और परलोक दोनों को समझ कर और प्राप्त करके, अपना ज्ञान दूसरों को बताते हैं। मनुष्य चार तत्वों का बना है, जब वह मर जाता है तो उसमें रहा पृथ्वी तत्व पृथ्वी में वापस जाकर उसी में समा जाता है, द्रव तत्व, पानी में, ताप अग्नि मे, प्राण वायु में, और उसकी सञाएँ आकाश में चली जाती हैं। चार उठाने वाले और पांचवी अर्थी, शरीर को ले जाती हैं, जब तक वे श्मशान पहुंचाते हैं तब तक उसके गुण गाते हैं, किन्तु वहाँ उसकी हड्डियाँ काली की जाती है, और उसकी भेंट राख से हो जाती है। मूर्खों का मत ही फल या भेंट की बात करता है। यह सब थोथा झूठ है, केवल व्यर्थ की बातचीत है, जब लोग कहते है कि इसमे लाभ है। मूर्ख और बुद्धिमान दोनो, देह के गिरने पर, काट दिए जाते हैं, नष्ट कर दिए जाते हैं और मृत्यु के बाद वे नही रहते है।[2] 'वह अजित केश कम्बली इसलिए कहलाता था कि वह मनुष्य के बाल के कपड़े पहनता था जो गर्मी में गरम रहते थे और सर्दी में ठंडे रहते थे और जो इस प्रकार दुःख का स्रोत था।[3] यह स्पष्ट ही है कि अजित केश कम्बली का मत चार्वाक मत के समान है, जो हमें उद्धरणों तथा दूसरो द्वारा दिए गए उनके वर्णन से ज्ञात है। इस प्रकार, अजित परलोक नही मानते थे, पाप-पुण्य नही मानते थे और कर्म से फल-प्राप्ति को भी अस्वीकार करते थे। वह, अवश्य ही, इस मत को मानते थे कि देह चार तत्वो का बना है, और देह से पृथक् आत्मा नही है और देह के विनाश के साथ इस जीवन की समाप्ति होती है, और वैदिक यज्ञो से कोई लाभ नही होता।

अब हम मक्खलि गोशाल या मखलि पुत्त गोशाल या मक्खलि गोशाल के

---

[1] बाले च पण्डिते कायस्सभेदा उच्छिज्जन्ति विनस्संति, न होन्ति पर मरणा।'
—दीघ २ २३ बुद्ध के सवाद, ७३-७४।

[2] सुमंगल विलासिनी, १-१४४।

[3] वही, १-१४४।

सिद्धान्त की ओर अपना ध्यान दें, जो महावीर और बुद्ध के समकालीन थे। बुद्ध घोष कहते हैं कि वे गोशाला में उत्पन्न हुए थे। वे जब बड़े हुए तब वे नौकरी करने लगे, तेल लाने के लिए कीचड में जाते हुए देख उन्हें उनके मालिक ने पैर न फिसले (माखलि) इसलिए सावधान किया, किन्तु सावधानी रखने पर भी वे फिसल गए और अपने मालिक के यहाँ से भाग गए। मालिक ने क्रोध से उनका पीछा किया, और उनकी धोती का पल्ला खेंच लिया जो उनके हाथ में रह गया और मक्खलि नग्न ही भाग गए। इस प्रकार वे नग्न हुए वे पूरण कस्सप की तरह साधु बन गए।[1] भगवती सूत्र १५-१ के अनुसार, तो वे मक्खलि के पुत्र थे, जो एक मख थे (याचक जो घर-घर तस्वीरें दिखाकर निर्वाह करते हैं) और उनकी माता का नाम भद्दा था। वे गोशाल मे जन्मे थे। उन्होंने स्वतः ही जवानी में भीख का व्यवसाय स्वीकारा। तेरहवे साल मे उनकी महावीर से भेंट हुई, दो साल के बाद वे उनके शिष्य बन गए और छः साल तक उनके साथ रहकर तपश्चर्या करते रहे। इसके बाद सम्बन्ध विच्छेद हो गया और मक्खलि गोशाल ने दो साल तक तपस्या करके जिन स्थिति प्राप्त की, जबकि महावीर को इनके दो साल बाद जिन स्थिति प्राप्त हुई। इसके बाद वे १६ साल तक जैन बने रहे और उसके बाद महावीर उनसे सावत्थी मे मिले जहाँ दोनो मे झगडा हुआ और वे महावीर के श्राप से ज्वर से मर गए। हर्नले, उवास ग साओ के मूल और अनुवाद के सस्करण, पृ० ११०-१११ में बताते हैं कि महावीर का ४५०-४५१ ई० पू० निर्वाण हुआ जब उनकी आयु ५६ वर्ष की थी। मक्खलि, आजीवक सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। आजीवको का वर्णन, गया के पास बर्बर पहाड़ी पर गुफा (जो उनको दी गई थी) मे २३६ ई० पू० अशोक के सातवें स्तम्भ लेख में है और नागार्जुनी पर्वत पर शिला मे कटी गुफा में भी वर्णन पाया जाता है जो अशोक के उत्तराधिकारी दशरथ के काल का है। इनका उल्लेख बराहमिहिर के बृहज्जातक (१५-१) में भी है जो छठी शताब्दी ईसा के काल का है। शीलांक (९वीं शताब्दी) भी सूत्र कृतांग सूत्र (१-१-३।१२ और १-३-३, ११) में उल्लेख करते हैं जिसमे त्रैरासिको के साथ आजीवको का भी वर्णन करते हैं कि वे मक्खलि गोशाल के अनुयायी थे।[2] हलायुध भी आजीवको को सामान्य जैन मानते हैं, किन्तु

---

[1] सुमगल विलासिनी, १-१४३-१४४।

[2] त्रैरासिक सोचते हैं कि आत्मा सत्कर्म द्वारा कर्म से शुद्ध और पवित्र हो जाता है। और मुक्ति पाता है, किन्तु अपने सिद्धान्त की सफलता देखकर आत्मा खुश हो जाता है और अवगणना देखकर क्रुद्ध हो जाता है, और पुनर्जन्म पाकर सत्कर्म द्वारा कर्म से बुद्धि और स्वतंत्रता पाता है और वह फिर सुख और दुःख से उसी प्रकार जन्मता है। उनकी धर्म पुस्तक २१ सूत्र की है। शीलांक, १-३-३, ११ पर टीका करते हुए वे दिगम्बरों का आजीवकों का साथ-साथ वर्णन करते हैं किन्तु वे उन्हें

निर्ग्रंथ को दिगम्बर से भिन्न नहीं करते या दिगम्बरा को आजीवकों से एक करते हैं जैसाकि हर्नले ने आजीवकों पर अपने लेख में किया है। हर्नले उसी लेख में यह बताते हैं कि १३वीं शताब्दी के त्रिरिचिपुरम् के पास पोयमें मे पेरुमाल के मन्दिर की दीवारों के लेख में, चोल राजा राजराज ने सन् १२१८, १२१६, १२४३ और १२५६ में आजीवकों पर जो कर नियुक्त किए थे उनका वर्णन है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मक्खलि की आजीवक प्रणाली का ई० पू० पांचवी शताब्दी में प्रचार हुआ और वह उत्तर भारत मे ही नही फैला किन्तु दक्षिण भारत मे भी फैला और उसमे से और प्रणालियो ने भी विकास पाया जैसेकि त्रैराशिक। पाणिनि के व्याकरण में एक नियम (४-१-१५४) है, 'मस्कर मस्करिणौ वेणु परिव्राजकयोः,' जिसका तात्पर्य यह है कि मस्कर का अर्थ बास है और मस्करिन् का अर्थ परिव्राजक है। पाणिनि, तो उसकी टीका में कहते हैं कि मस्करिन् वे थे जो कर्म न करने की सलाह देते थे और यह मानते थे कि शान्ति अधिक श्रेय है, (मास्कृत कर्माणि शान्तिर्वह श्रेयसी इत्याह अतो मस्करी परिव्राजकः)। इसलिए इस शब्द से आवश्यक रूप से एक दण्डिन् अर्थ नही होता या वे जो एक बांस का दण्ड धारण करते हैं। मक्खलि का मस्करिन् से तादात्म्य करना सदेह-युक्त है।[1] यह भी शका-युक्त है कि आजीवकों

हर्नले की तरह एक करते हैं जैसाकि हर्नले ने Encyclopaedia of Religion and Ethics में आजीवक पर लेख में कहा है। शीलांक ठीक-ठीक वाक्य ये हैं, 'आजीवका दीना परतीर्थकाना दिगंबराणा च असदाचरणरूपनेया।'

[1] Encyclopaedia of Religion and Ethics मे आजीवक पर अपने लेख में हर्नले यह कहते हैं, 'गोशाल,मक्खलि पुत्त या मखलि (मस्करिन्) अर्थात् बास के दण्ड वाला पुरुष कहलाता है इस तथ्य से यह स्पष्ट है कि मूल में वह एक दण्डिन् वर्ग (एक दण्डिन्) का संन्यासी था, और यद्यपि वह महावीर का अनुयायी हो गया था और उनकी प्रणाली स्वीकारी थी तो भी वह अपने सिद्धान्त भी रखता था और उसमे अपने विशिष्ट चिह्नों को भी रखा। 'बास का दंड' यह सब शंकास्पद है, क्योंकि प्रथम तो मंख और मस्करिन् को एक नहीं किया जा सकता, दूसरा, मख का अर्थ भिखारी है जो अपने हाथ में तस्वीर रखता है। मंखस्चित्र-फलक-व्यग्र करो भिक्षुको विशेषः (भगवती सूत्र, पृ० ६६२ पर अभयदेव सूरी की टीका निर्णय-साजर)। और उनका नाम मखलि था जिस पर से गोशाल मक्खलि पुत्र कहलाते थे। याकोबी (जैन सूत्र २-२-६७ की फुट नोट) और हर्नले (आजीवक Encyclopaedia of Religion and Ethics पृ० २६६) दोनों यहाँ ग़लत हैं, क्योंकि जिसका उल्लेख है वह शीलांक की सूत्र कृताग सूत्र ३-३-११ (आजीविकादीनां परतीर्थिकानाम् दिगम्बराणां च) पर टीका है जिसके वे 'च' को 'और' अर्थ में

और दिगम्बरों को एक ही मानना चाहिए, जैसाकि हर्नले मानते हैं, क्योंकि न वराह और न मोहोत्पल आजीवकों और जैनों को एक मानते हैं और शीलांक इन दोनों को एक न समझ कर, भिन्न मानते हैं। हलायुध भी दिगम्बरों को और आजीवकों[1] को एक नहीं मानते। इसलिए, यह अत्यन्त संदेह-युक्त है कि आजीवकों को दिगम्बरों से एक माना जाय या यह सम्भवतः इसी कारण हो सकता है कि आगे जाकर दोनों दिगम्बर और आजीवक, नग्न रहते थे, इसलिए ये दोनों सकीर्णता से एक माने गए हैं।[2]

गोशाल का मुख्य सिद्धान्त उवासगदसाओ, १,६७,११५,२,३,१३२, संयुक्त निकाय ३-२१० अंगुत्तर निकाय १-२८६ और दीघ निकाय २-२० में न्यूनाधिक रूप से एक-सा ही है। अन्तिम कहे गए ग्रन्थ में गोशाल अजातशत्रु से ऐसा कहते बताए गए हैं, 'जीवों के लिए दुःख का कोई कारण नहीं है, वे बिना कारण ही पीड़ा पाते हैं, जीवों की विशुद्धि का कोई कारण नहीं है : वे सब बिना कारण ही शुद्ध हो जाते हैं, दूसरों के या अपने कर्मों मे कोई शक्ति नहीं है (न अत्थि अत्त कारे न 'अत्थि परकारे) या अपने स्वतन्त्र प्रयत्न में (परिक्कारे) न कोई शक्ति, न बल है, न मानवी शक्ति है या पराक्रम है।[3] सभी प्राणी सब्बे सत्ता), सभी पशु, एक या अधिक इन्द्रिय युक्त हों, (सब्बे पाणा), सभी अण्डज या भ्रूणज, (सब्बे भूता) सभी पौधे, बिना बल और क्रिया शक्ति के है। वे अपने रूप में अन्तःस्थित, भाग्य के कारण, और स्वभाव से, विभिन्न जीव के रूप में अभिव्यक्त होते हैं (नियति-सगति-भवपरिणति), और अपने षड्विध जीवन स्थिति के अनुसार सुख-दुःख पाते है।' पुनः, सूत्र-कृतांग सूत्र, २-६-७ में गोशाल यह कहते बताए गए है कि साधु को स्त्रीगमन से कोई पाप नहीं होता।[4]

अनुवाद करते है, 'या' अर्थ से नहीं, इससे आजीवक दिगम्बर से विविक्त हो जाते हैं।

[1] नग्ना तो दिग्वासाः क्षपणः श्रमणश्च जीवको जैनाः, आजीवो मलधारी निर्ग्रन्थः कथ्यते सद्भिः। —२-१९०।

[2] दिव्यावदान पृ० ४१७, में एक प्रसंग का उल्लेख है जहाँ बुद्ध की मूर्ति एक निर्ग्रन्थ ने निन्दित की थी और फलवशात् ८००० आजीवक, पुण्ड्रवर्धन में मारे गए। डॉ० बरुवा भी अपनी पुस्तक आजीवक में इस प्रसंग का उल्लेख करते हैं।

[3] जैसा बुद्ध घोष कहते हैं ये सब पुरिषकार को निर्दिष्ट करते हैं (सर्वेव पुरिषकार-विवेचनमेव)। —सुमगल विलासिनी, २-२०।

[4] सूत्र कृतांग सूत्र (३-४-९) में एक दूसरा पाठ है (एवमेगे उ पसत्था पण्णवन्ति अनारिया, इत्थिवासम् गया वाला जिनसासन पराम्मुहा) जहाँ यह कहा है कि कुछ कुमार्गियों तथा लोग जो जैन हैं जैन सिद्धान्त से विमुख होकर स्त्री के गुलाम हो गए हैं। हर्नले कहते हैं कि (आजीवक पृ० २६१) यह पाठ गोशाल के अनुयायियों

गोशाल के इस सिद्धान्त के प्रति हमारी रुचि यहीं तक है कि वे अन्य नास्तिक उपदेशों के समान हैं। किन्तु अन्य नास्तिकों से विपरीत, गोशाल पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते थे, किन्तु, उन्होंने सजीवन का एक नया सिद्धान्त भी प्रतिपादन किया।[1] दूसरे सिद्धान्त जो दार्शनिक, नैतिक या पुनर्जन्म की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं वे दीघ निकाय २-२० और भगवती सूत्र १५ में दिए गए हैं, और वे हर्नले ने आजीवक के लेख में तथा उवासगडसाओ के अनुवाद में विस्तार से दिए हैं। जो महत्त्वपूर्ण विषयों पर हमें यहाँ ध्यान देना चाहिए वह यह है कि आजीवक संप्रदाय जो एक विशिष्ट सम्प्रदाय था वह कर्म या संकल्प की शक्ति को नहीं मानता था, और स्त्री-संग को साधुओं के लिए निषिद्ध नहीं मानता था। सूत्र कृतांग सूत्र, १,३,४,६-१४ में अन्य विधर्मियों का

को लक्ष्य करके कहा गया है। किन्तु यदि हम शीलांक की टीका पर विश्वास करें तो उसका कोई प्रमाण नहीं है। शीलांक 'एगे' या 'एके' को 'बौद्ध विशेषा नील पटादयः नाथ-वादिक-मण्डल-प्रविष्टा वा शैव-विशेषाः' और 'पसत्थ को सदनुष्ठानात् पार्श्वे तिष्ठन्ति इति पार्श्वस्थाः स्वयूथ्या वा पार्श्वस्था वसन्न-कुशलादयः स्त्री परिषह पराजिताः।' ऐसा अर्थ करते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार यह नील वसन पहनने वाले बौद्धों को, नाथवादी, शैव, और कुछ कुचरित्र जैनों को या सामान्य कुत्सित जनों को लक्ष्य करता है।

[1] गोशाल मानते थे कि एक व्यक्ति की आत्मा दूसरे मृत शरीर को सजीव कर सकती है। इस प्रकार जब महावीर ने उन्हें आह्वान किया और जो शिष्यों को उनसे कोई सम्पर्क रखने का निषेध करते थे, तब गोशाल ने यह कहा बताया कि मक्खलि पुत्त गोशाल जो महावीर का शिष्य था वह तो कभी का मर चुका है और उसने देवलोक में जन्म लिया है, जबकि वह उदायी कुण्डी यायणीय, वास्तव में है, जो संजीवन द्वारा, अपने सातवें और अन्तिम देह परिवर्तन में, गोशाल के देह में आया है। गोशाल के अनुसार जीव को ८४ हजार महाकल्प समाप्त करने चाहिए जिसके अन्तर्गत, उसे सात बार देव लोक में और सात बार मनुष्य योनि में, सात बार सजीवन होकर, सारे कर्म पूरे करना चाहिए। भगवती सूत्र १५-६७३ निर्णय सागर देखो। हर्नले का उवासगडसाओ के अनुवाद के दो परिशिष्ट तथा आजीवक निबन्ध जो Encyclopedia of Religion and Ethics के पृ० २६२ पर देखो। एक महाकल्प ३००,००० सर का और एक सर, सात गंगा की रेती को (प्रत्येक गंगा ५०० योजन या २२५० मील लम्बी २१।४ मील चौड़ी और ५० धनु या १०० गज गहरी) एक रेती को हटाने के लिए १०० वर्ष लगे इस हिसाब से खतम होने में लगे उतना समय। देखिए वही तथा रोकहिल की बुद्ध की जीवनी का पहला परिशिष्ट।

भी उल्लेख है, जहाँ ऐसा कहा है कि वे भी ऐसे ही आचरण करते थे ।[1] ऐसा कहा है, 'कुछ अयोग्य विधर्मी, स्त्री के गुलाम, जब लोग जो जैन नियम से विरुद्ध हैं ऐसा कहते हैं, जैसेकि फोड़े या स्फोट को दबाने से थोड़े समय के लिए आराम मिलता है, ठीक उसी प्रकार रूपवती स्त्री का भोग है। इसमें पाप क्या हो सकता है ? जैसे एक भेड़ निर्मल पानी पीता है, उसी प्रकार रूपवती स्त्री का भोग है। इसमें क्या पाप है ? ऐसे कुछ अयोग्य विधर्मी, जो झूठे सिद्धान्त मानते हैं और वे जैसे भेड़ अपने बच्चे के लिए लालसा करती है ऐसे ही वे सुख की लालसा करते हैं। भविष्य का विचार नहीं करते हैं किन्तु केवल वर्तमान-सुख को ही भोगते हैं वे पीछे मृत्यु या युवावस्था के बाद पछताते हैं।[2]

पुनः कुछ विधर्मियों (जिन्हें शीलांक लोकायत से एक करते हैं) का वर्णन सूत्र-कृताग सूत्र २-१,६-१० में मिलता है जो इस प्रकार उपदेश करते थे : पैर के तले से ऊपर बाल के सिरे तक और सभी तिर्यक् दिशा में, आत्मा चमड़ी तक है, जहाँ तक शरीर है वहाँ तक आत्मा है और शरीर से पृथक् आत्मा नहीं है, इसलिए आत्मा देह से एक रूप है, जब देह मर जाती है आत्मा नहीं रहती। जब शरीर जला दिया जाता है तब आत्मा नहीं दीखती और जो कुछ भी दीखता है वह सफेद हड्डियाँ हैं। जब कोई म्यान से तलवार निकालता है, हम कह सकते हैं कि पहला दूसरे में रहता है, किन्तु कोई इसी प्रकार आत्मा के बारे में नहीं कह सकता कि वह शरीर में रहता है, वास्तव में आत्मा को शरीर से विविक्त करने का कोई भी रास्ता नहीं है जिससे कोई यह कह सके कि आत्मा शरीर में रहता है। तृण में से गूदा निकाला जा सकता है और मांस में से अस्थि, दही में से मक्खन, तिल में से तेल, इत्यादि, किन्तु शरीर और आत्मा में इस प्रकार का संबंध ढूंढ निकालना असम्भव है। आत्मा जैसी कोई पृथक् वस्तु नहीं है जो सुख और दु:ख भोगती है और मृत्यु के पश्चात् परलोक में गमन करती है, क्योंकि शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाय किन्तु आत्मा नहीं देखी जा सकती जैसेकि घड़े के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाए किन्तु घड़े में आत्मा नहीं दीखती, जबकि तलवार म्यान से भिन्न दीखती है जिसमें वह रखी जा सकती है। लोकायत इस प्रकार सोचते हैं कि जीव को मारने में कोई दोष नहीं है क्योंकि हथियार से जीव को मारना, जमीन को मारने के बराबर है। ये लोकायत, इसलिए अच्छे-बुरे कर्म में विवेक नहीं कर सकते क्योंकि वे ऐसा सिद्धान्त नहीं जानते जिसके आधार पर वे ऐसा कर सकें, इस प्रकार उनके अनुसार नीति जैसी कोई वस्तु नहीं है। सामान्य नास्तिक और प्रगल्भ नास्तिक में थोड़ा-बहुत भेद किया गया है जो कहते हैं कि यदि आत्मा शरीर से भिन्न

---

[1] शीलांक के अनुसार वे एक बौद्ध सम्प्रदायी जो नीला वस्त्र पहनते थे, तथा शैव, नाथ तथा कुछ अद्गम जैन भी थे।

[2] सूत्र-कृतांग-सूत्र। याकोबी द्वारा अनूदित देखो। जैन सूत्र २-२७०।

होती जो उसका कोई निश्चित रूप, स्वाद या जैसा कुछ होता, किन्तु ऐसी कोई पृथक् वस्तु मिलती नहीं है, इसलिए आत्मा पृथक् है यह नहीं माना जा सकता। सूत्र-कृतांग-सूत्र २. १. ६ (पृ० २७७) में प्रगल्भ नास्तिकों के विषय में कहा है कि वे संसार को अपना सिद्धान्त स्वीकार करने के लिए कहते हैं, किन्तु शीलांक कहते हैं कि लोकायत प्रणाली में दीक्षा जैसा कुछ नहीं है और इसलिए उनमें साधु जैसा कोई नहीं हो सकता, अन्य सम्प्रदाय के साधु, जैसेकि बौद्ध, वे कभी-कभी साधु अवस्था में लोकायत को पढ़ते हैं और लोकायत मत में परिवर्तित हो जाते हैं और दूसरों को उपदेश देने लगते हैं।[1]

सूत्र-कृतांग-सूत्र में लोकायत नास्तिक मत के प्रतिपादन के पश्चात् सांख्य मत का प्रतिपादन किया गया है। शीलांक इस सम्बन्ध में यह कहते हैं कि सांख्य और लोकायत में कुछ भी फर्क नहीं है, क्योंकि सांख्य यद्यपि आत्मा को मानते है किन्तु वह नितान्त निष्क्रिय है और सारा कार्य प्रकृति द्वारा होता है जो अव्यक्त रूप से स्थूल तत्व ही है। शरीर और तथाकथित मन, इसलिए स्थूल तत्वों के संघात से अन्यथा और कुछ नहीं है, और उनका पुरुष को पृथक् तत्व मानना केवल नाममात्र ही है। जबकि ऐसा आत्मा कुछ भी नहीं कर सकता और निरुपयोगी है (अकिंचित्कर) लोकायत उसे अस्वीकार करते हैं। शीलांक आगे कहते हैं कि लोकायत की तरह सांख्यकार भी जीव की हिंसा को बुरा नहीं मानते, क्योंकि अन्त में सभी जीव भौतिक पदार्थ है, और तथाकथित आत्मा किसी भी कार्य भाग लेने में असमर्थ है।[2] इसलिए न तो नास्तिक और न सांख्यवादी अच्छे और बुरे, स्वर्ग और नरक के बीच भेद सोच सकते हैं और इसलिए वे सभी प्रकार के भोगो मे रत रहते है। लोकायत नास्तिक के विषय में, सूत्र-कृतांग-सूत्र में यह कहा है, इस प्रकार कुछ निर्लज्ज लोग साधु बनकर अपना ही धर्म प्रचलित करते है, और दूसरे उसे मानने लगते हैं, और अनुसरण करने लगते है, (यह कहते हुए), 'तुम सच कहते हो, ओ ब्राह्मण (या) ओ श्रमण, हम तुम्हें भोजन, पेय व्यंजन और मिष्टान्न, चोगा, भिक्षापात्र, झाडू के साथ भेट करेंगे।' कुछ लोगो को उन्हें सम्मान देने पर फुसलाया जाता है, कुछ लोगो ने उनके धर्म

---

[1] यद्यपि लोकायतिकानां नास्ति दीक्षादिकं तथापि अपरेण शाक्यादिना प्रव्रज्या-विधानेन प्रव्रज्या पश्चात् लोकायतिकमधीयानस्य तथाविध-परिणतेः तदेवाभिरुचितम्। शीलांक की सूत्र-कृतांग-सूत्र पर टीका, पृ० २८० (निर्ण० सा०)।

शीलांक २८०-२८१ पृष्ठ पर बताते हैं कि भागवत और अन्य परिव्राजक, सन्यास के समय अनेक प्रकार के नियम की बाधा लेते हैं किन्तु ज्यों ही वे लोकायत-मत में परिणत होते हैं त्योंही वे स्वेच्छाचार करने लगते हैं। तब वे नीला वस्त्र (नील पट) पहनने लग ते हैं।

[2] वही, पृ० २८१, २८३।

परिग्रहों से सम्मान दिलवाया। संघ में प्रवेश होने के पहले, उन्होंने श्रमण, घरबार रहित, गरीब साधु बनने का निश्चय कर लिया था, जिनके पास पुत्र और पशु न होंगे, और वे भिक्षान्न ही खाएँगे, और पाप न करेंगे। संघ में आने के बाद वे पाप करते हुए नहीं रुकते, वे स्वयं पाप करते हैं, और दूसरे पाप करने वालों का साथ देते हैं। तब वे भोग, विलास और विषय-सुख में रत हो जाते हैं वे लोभी, बद्ध, कामी, लालची और प्रीति और घृणा के दास हैं।[1]

हम केवल सूत्रकृतांग-सूत्र में ही नहीं किन्तु बृहदारण्यक, कठ में भी लोकायत का उपरोक्त वर्णित उल्लेख पाते हैं और छांदोग्य उपनिषद् ७-७-८ में जहां दानवों का प्रतिनिधि विरोचन जो प्रजापति के पास आत्म-ज्ञान के उपदेश के लिए आया था, वह 'देह ही आत्मा है' इस मत से संतुष्ट होकर चला गया। प्रजापति ने इन्द्र और विरोचन दोनों को पानी के कटोरे के पास खड़े रहने को कहा और उन्होंने अपना प्रतिबिम्ब देखा, प्रजापति ने उनसे कहा कि वह अच्छे वसन और आभरणयुक्त शरीर है, यही आत्मा है। विरोचन और इन्द्र दोनों सतुष्ट हो गए, किन्तु इन्द्र आगे जाकर असतुष्ट हुए और दूसरे उपदेश के लिए लौटे जबकि विरोचन वापस नहीं आया। छांदोग्य उपनिषद् में यह एक पुरानी वार्ता के रूप में कही गई है और कहा है कि इसी कारण से, जो इस समय केवल ससार के सुखों को ही मानते हैं और जिन्हे विश्वास नही है (कर्म की शक्ति में, या आत्मा की अमरता में) और जो यज्ञ नही करते, वे असुर कहलाते हैं, और इसलिए वे मृत शरीर को अच्छे कपड़ों से, अच्छे आभूषणों से भूषित करते हैं और खाना देते हैं, यह सोचकर कि इससे वे सम्भवत. परलोक जीत लेंगे।

छांदोग्य उपनिषद् का यह पाठ विशेष प्रकार से महत्त्वपूर्ण है। इससे यह पता चलता है कि आर्यों से भिन्न एक दूसरी जाति थी जिसे असुर कहते थे, जो मृत शरीर को अच्छे वस्त्र और आभूषणों से मंडित करती थी और खाना देता था जिससे कि वे पुनर्जन्म के समय इन वस्त्राभूषणों से परलोक में उन्नति कर सकें और ये ही लोग थे जो देह को आत्मा मानते थे। पीछे आने वाले लोकायत या चार्वाक भी देह को मानते थे। किन्तु इनमे यह भेद था कि छांदोग्य में कहे देहात्मवादी परलोक को मानते थे जहाँ से मृत्यु के बाद शरीर जाता है और मृत शरीर को दिए वस्त्राभूषण द्वारा वह उन्नति करता है। इस रीति को असुर-रीति कहा है। इसलिए यह सम्भावित है कि लोकायत सिद्धान्त का आरम्भ पूर्वगामी सुमेर संस्कृति में हुआ जहाँ यह मान्यता थी और मृत शरीर को वस्त्राभूषण से मंडित किया जाता था। यह मान्यता, आगे जाकर इतनी बदल गई कि ऐसा तर्क किया जाने लगा कि जब आत्मा और देह दोनों एक है और जबकि शरीर मृत्यु के बाद जला दिया जाता है तो मृत्यु के

---

[1] देखो जैन सूत्र, याकोबी, २.३४१-३४२।

बाद पुनर्जन्म नहीं हो सकता और इसलिए मृत्यु के बाद परलोक भी नहीं हो सकता। हमें ऐसे लोगों के होने का प्रमाण मिलता है जो मृत्यु के बाद चेतना की सत्ता नहीं मानते थे और मृत्यु के साथ सब कुछ खत्म होता है, ऐसा मानते थे, और छांदोग्य में हम देखते हैं कि विरोचन यह मानता था कि देह ही आत्मा है और यह रीति आसुरों में प्रचलित थी, ऐसा खोज से पता चला है।

गीता १७,७-१८ में आसुरों के सिद्धान्तों का ऐसा वर्णन है, 'असुर भले-बुरे का विवेक नहीं कर सकते, वे पवित्र, सत्यवादी नहीं हैं और योग्य आचरण नहीं करते, वे ऐसा नहीं सोचते कि संसार सचाई और सत्ता पर आधारित है, वे ईश्वर को नहीं मानते और सभी प्राणी काम-वासना से और केवल मैथुन से उत्पन्न हुए हैं ऐसा मानते हैं। ऐसा मानने वाले मूर्ख लोग संसार की बहुत हानि करते हैं। हिंसक कर्मों को करते हैं, और अपने आपका विनाश करते हैं (क्योंकि वे परलोक में न विश्वास ही करते हैं, न उसकी प्राप्ति के साधनों में)।'[1] अतोषणीय इच्छाओं, अहंकार, दर्प और अभिमान से भरे, वे अज्ञान से खोटा मार्ग ग्रहण करते हैं और अशुचि जीवन जीते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि जीवन का मृत्यु में अन्त होता है और इस संसार और उसके सुखों के परे कुछ भी नहीं और इसलिए संसार-सुख में रचेपचे रहते हैं। असंख्य इच्छा, क्रोध और राग में बंध, वे कुसाधन से संसार सुख की सामग्री को इकट्ठा करने में लगे रहते हैं, वे सर्वदा अपनी सम्पत्ति का ही ख्याल करते रहते हैं वे जो प्रतिदिन कमाते हैं और जिसका वे संग्रह करते रहते हैं, इससे वे वर्तमान में अपनी इच्छा तृप्त करते हैं या भविष्य में तृप्त करने की सोचते रहते हैं या वे अपने दुश्मनों को मारने की या जिन्हें उन्होंने मार डाला है उनके विषय में सोचते रहते हैं, इस प्रकार, वे अपने बल, सफलता, सुख, शक्ति इत्यादि के विषय में ही सोचते रहते हैं।

लोकायत जैसा एक सिद्धान्त, रामायण में (२-१०८) जाबालि ने प्रचलित किया था जहाँ वह कहता है कि यह कितना दयनीय है कि कुछ लोग संसार की अच्छी वस्तुओं के बजाय परलोक के पुण्य से अधिक रुचि रखते हैं, मृत पुरुषों के संताप के लिए श्राद्ध-यज्ञ करना भोजन का दुरुपयोग है, क्योंकि वे मृत होने से खा नहीं सकते। यदि लोगों द्वारा यहाँ खाया हुआ भोजन दूसरे शरीरों के लिए उपयोगी हो सकता है, तो जो लोग दूर देश में भ्रमण करते हैं, उनके लिए भोजन का प्रबन्ध करने के बजाय उनके लिए श्राद्ध करना अधिक अच्छा होगा। यद्यपि बुद्धिमानों ने दान, यज्ञ, दीक्षा और वैराग्य के पुण्यों की प्रशंसा में ग्रन्थ लिखे हैं, वास्तव में आँखों से जो दीखता है उससे अधिक और कुछ भी नहीं है।

---

[1] श्रीधर कहते हैं कि यह लोकायतों को लक्ष्य करता है।

—गीता, १६-६।

विष्णु पुराण में (१-६,२६-३१) वर्णन है कि कुछ लोगों को यज्ञ से लाभ होता है ऐसा नही मानते हैं और वेद और यज्ञ की निन्दा करते हैं, और महाभारत में (१२,१८६) ऐसा भारद्वाज ने आग्रह किया है कि जीवन-व्यापार भौतिक और शरीर विज्ञान द्वारा समझाया जा सकता है और आत्मा की मान्यता स्वीकारना अनावश्यक है। महाभारत में हेतुकों का भी उल्लेख है जो परलोक को नहीं मानते थे, उनकी मान्यता प्राचीन और दृढ़ थी (दृढ़ पूर्व) जो अपना मत परिवर्तन नहीं कर सकते थे, वे बहुश्रुत थे और अन्य शास्त्रो का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था, वे भेंट देते थे, यज्ञ करते थे, मिथ्या से घृणा करते थे, और सभा में बडे वक्ता थे और लोगों में अपना मत प्रवर्तित करते थे। यह पाठ विचित्र तथ्य उपस्थित करता है कि वैदिको में भी ऐसे लोग थे जो यज्ञ करते थे, भेंट देते थे और प्राचीन ग्रन्थों और वेद में निपुण थे, जो मिथ्या से घृणा करते थे, बडे तार्किक और वक्ता थे, और तो भी इस ससार और जो कुछ उसमें है उससे किसी अन्य में विश्वास नही करते थे (नैतदस्ति इति वादिनः)। बौद्ध ग्रन्थों से हमे मालूम है कि ब्राह्मण लोकायत सिद्धान्त में प्रवीण थे, हम यह भी जानते हैं कि उपनिषद् की मडली में, ऐसे भी लोग थे जो परलोक को नही मानते थे, उनका उल्लेख है और उनकी निंदा की गई है और छांदोग्य में उन लोगों का उल्लेख है जो मृतक को आभूषण से मंडित करने का रिवाज पालते थे और जिसके कारण देह को ही आत्मा मानते थे। रामायण में हमें पता है कि जाबालि उस सिद्धान्त का उपदेश करते थे जिसके अनुसार परलोक नही है और मृतात्मा के संतोष के लिए दान यज्ञ अनावश्यक है। गीता में भी ऐसे मतावलम्बियो का वर्णन है जो यज्ञ नाम मात्र ही से करते थे क्योंकि वे कर्मकाण्ड में श्रद्धा नही रखते थे।[१] किन्तु महाभारत में कुछ लोगों का वर्णन है जो बहुश्रुत थे, प्राचीन ग्रन्थो में निपुण थे, तो भी परलोक और आत्मा की अमरता नही मानते थे। इससे यह प्रतीत होता है कि यह शास्त्रविरुद्ध मत (परलोक में अश्रद्धा) वेदानुयायियो की कुछ मडली मे क्रम से प्रचलित हो गया था और उनमें से कुछ अयोग्य पुरुष थे जो सिद्धान्तो का उपयोग विषय-भोग के सन्तोष के लिए करते थे और निम्न स्तर का जीवन व्यतीत करते थे, कुछ ऐसे भी थे जो वेद की परिपाटी का पालन करते थे और तो भी आत्मा की अमरता में तथा इस लोक से परे परलोक में विश्वास नही करते थे। इस प्रकार, एक और वैदिक मडली में, उस प्राचीन समय मे, बहुत से नैतिक और विद्वान् पुरुष थे जो नास्तिकवाद मानते थे, जबकि कुछ अनैतिक और कुत्सित लोग थे जो दोषयुक्त जीवन व्यतीत करते थे और ऐसे नास्तिक मत को प्रकाश या प्रच्छन्न रूप में मानते थे।[२]

---

[१] यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधि-पूर्वकम्। —गीता, १६,७१।

मैत्रायण उपनिषद् ८-८,९ में लिखा है कि बहुत से निरर्थक तर्क, उदाहरण, मिथ्या उपमान, भ्रमपूर्ण प्रमाण द्वारा, वैदिक आचरण का विरोध करने की इच्छा रखते

हम इस प्रकार जानते हैं कि लोकायत मत अतिप्राचीन, सम्भवतः वेद जितना प्राचीन या उससे भी प्राचीन था और आर्यों से पहले सुमेर के लोगों में प्रचलित था। हम आगे यह भी जानते हैं कि लोकायत पर भागुरी की टीका २०० या ३०० वर्ष ई० पू० सुविख्यात थी, किन्तु लोकायत शास्त्र के रचयिता के बारे में कुछ कहना अति कठिन है। यह बृहस्पति या चार्वाक की रचना थी।[1] किन्तु यह कहना कठिन है कि यह बृहस्पति कौन है। एक राज नीति पर बृहस्पति सूत्र डा० एफ० डब्लू० थोमस द्वारा सम्पादित और अनूदित किया गया है जो लाहोर से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में लोकायत का वर्णन, २,५,८,१२,१६,२६ तथा ३,१५ में हुआ है। यहाँ उन्हें चोर कहकर निन्दित किया है जो धर्म को एक लाभ मानते हैं और जो नरक में जाने योग्य है। इसलिए यह बिलकुल निश्चित है कि बृहस्पति जो राजनीति के इस शास्त्र के रचयिता थे, वे लोकायत विद्या के रचयिता नहीं थे। न बृहस्पति उसके विधियुक्त रचयिता हो सकते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे, एक बृहस्पति का, राजनीति के रचयिता के रूप मे उल्लेख है किन्तु यह एफ० डब्लू थोमस द्वारा प्रकाशित बार्हस्पत्य सूत्र से भिन्न होगा।[2] कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे उल्लिखित बृहस्पति खेती, वाणिज्य, व्यापार (वार्ता), विधि और दड-नीति को ही केवल शास्त्र मे स्वीकार करते हैं, उसी अध्याय के दूसरे पाठ मे (विद्यासमुद्देश में) दड-नीति को उशनस् द्वारा शिक्षा का विषय कहा है। प्रबोध चन्द्रोदय मे कृष्ण मिश्र, चार्वाक विधि और दड नीति को ही विद्या मानते हैं ऐसा बताया है और वार्ता-विज्ञान (अर्थात् खेती, वाणिज्य-व्यापार, पशु-पालन इत्यादि) इसमे समाविष्ट होते हैं ऐसा कहा है। इस ज्ञान के अनुसार चार्वाक दण्डनीति और वार्ता को शास्त्र समझते थे और इस प्रकार इनके मत बृहस्पति

हैं, वे आत्मा को नही मानते और चोर की तरह वे स्वर्ग कभी न जाएँगे और जिनके साथ कोई सम्पर्क न रखना चाहिए। हम यह भूल जाते हैं कि इन लोगो के सिद्धान्त मे कुछ भी नवीनता नही है किन्तु यह एक भिन्न प्रकार की वेद विद्या है (वेद विद्यान्तरम् तु तत्)। बृहस्पति शुक्र बने और उन्होंने असुरो को यह सिद्धान्त सिखाया जिससे वे वैदिक धर्म के प्रति घृणा करने लगे और अच्छा बनना बुरा समझने लगे और बुरे को अच्छा समझने लगे।

[1] मैत्रायण बृहस्पति और शुक्र को रचयिता बताते हैं, कृष्ण मिश्र के प्रबोध चन्द्रोदय में कहा है कि वे पहले बृहस्पति ने रचे और चार्वाक को दिए गए जिन्होंने अपने शिष्यों द्वारा लोगो में प्रचलित किए।

श्री डी० शास्त्री का चार्वाक षष्ठी भी देखो, पृ० ११-१३। जहाँ वे अनेक आप्त प्रमाण देते है जो इसे बृहस्पति की रचना बताते हैं।

[2] अर्थ शास्त्र कौटिल्य, पृ० ६,२६,६३,१७७,२६२ मैसूर, १६२४।

और उशनस् से मिलते थे और विशेष कर पिछले से। परन्तु इससे हम यह नहीं मान सकते कि कौटिल्य द्वारा उल्लिखित बृहस्पति या उशनस् मूल लोकायत के रचयिता हो सकते हैं। लोकायत सूत्र के रचयिता, इस प्रकार एक काल्पनिक व्यक्ति दीखते हैं। लोकायत सूत्र के मूल प्रवर्तक के विषय में हमारे पास कोई ज्ञान नहीं है। यह सम्भव है कि मूल लोकायत ग्रन्थ सूत्र रूप से लिखा गया हो और जिसकी कम से कम दो टीकाएँ थीं, जिसकी पहली टीका कम से कम २०० या १०० वर्ष ई० पू० पुरानी थी। इस प्रणाली के मुख्य सिद्धान्तों का कम से कम एक पद्यात्मक सस्करण था जिसके कुछ पाठ माधव के 'सर्वदर्शन संग्रह' तथा अन्य स्थान पर उद्धृत है।

यह कहना कठिन है कि चार्वाक किसी जीवित पुरुष का नाम था या नहीं। महाभारत १२-३८ और ३९ मे, ही सर्वप्रथम इस नाम का उल्लेख मिलता है जहाँ चार्वाक को त्रिदंडी साधु ब्राह्मण के वेश मे राक्षस कहा गया है, किन्तु उनके सिद्धान्तो के विषय मे कुछ भी उल्लेख नही है। बहुत से प्राचीन ग्रन्थो मे लोकायत सिद्धान्त का या तो लोकायत मत या बृहस्पति के मत के नाम से वर्णन किया गया है। इस प्रकार पद्म पुराण के सृष्टि खंड १२, ३१८-३४० मे कुछ लोकायत सिद्धान्तों को बृहस्पति का उपदेश कहा गया है। आठवी शताब्दी के कमलशील चार्वाकों को लोकायत सिद्धान्त का अनुयायी बताते हैं, प्रबोध चंद्रोदय, चार्वाक को एक महान् आचार्य बताते हैं जिन्होंने वाचस्पति द्वारा लिखित लोकायत शास्त्र को अपने शिष्यो तथा शिष्यो के शिष्यो द्वारा प्रचलित किया। माधव, अपने 'सर्वदर्शन संग्रह' में उन्हें बृहस्पति के अनुयायी मुख्य नास्तिक बताते हैं (बृहस्पति मतानुसारिणी नास्तिक-शिरोमणिना)। गुण रत्न, 'षड् दर्शन समुच्चय' में चार्वाक नास्तिक सम्प्रदाय का है ऐसा कहते हैं। ये केवल खाते ही है किन्तु पाप-पुण्य नही मानते और प्रत्यक्ष के सिवाय और किसी प्रमाण को नही मानते। वे शराब पीते थे और मांस खाते थे और विषय-भोग मे रत रहते थे। प्रतिवर्ष वे एक दिवस इकट्ठे होते थे और अबाध-स्त्री संग करते थे। वे साधारण लोगो जैसा व्यवहार करते थे और इसी कारण वे लोकायत कहलाते थे और वे बार्हस्पत्य भी कहलाते थे क्योकि वे बृहस्पति द्वारा प्रवर्तित किए मतों को मानते थे। इस प्रकार यह कहना कठिन है कि चार्वाक किसी सच्चे मनुष्य का नाम है या लोकायत मत मे मानने वालो का केवल लाक्षणिक नाम है।

हरिभद्र और माधव, दोनो ने लोकायत या चार्वाक दर्शन को एक दर्शन-प्रणाली माना है। उनका तर्क नवीन था, वे अन्य भारतीय दर्शन के सुमान्य सिद्धान्तों की कड़ी आलोचना करते थे, उनका दर्शन भौतिकवादी था, और नैतिकता, नैतिक उत्तरदायित्व और सभी प्रकार के धर्मों को अस्वीकार करते थे।

इसलिए, हम पहले चार्वाक न्याय को सर्वप्रथम देखें। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते थे। पांच इन्द्रियों द्वारा जो अनुभव होता है उससे अन्य और कुछ

नहीं है। किसी भी प्रकार का अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमान, हेतु और साध्य के व्याप्ति-ज्ञान द्वारा शक्य है और इस हेतु का सम्बन्ध पक्ष में होना चाहिए। (व्याप्ति पक्ष धर्मताशालि हि लिंग गमकम्)। यह व्याप्ति अन्यथा सिद्ध ही न होनी चाहिए किन्तु उसके अन्यथा सिद्धि में शंका नहीं होनी चाहिए। इस व्याप्ति का ज्ञान हुए बिना अनुमान शक्य नहीं है। परन्तु वह जाना कैसे जाय? प्रत्यक्ष द्वारा नहीं, क्योंकि व्याप्ति दृश्य वस्तु नहीं है जिससे इन्द्रिय सन्निकर्ष हो सके। इसके अतिरिक्त, एक वस्तु की दूसरी से व्याप्ति का अर्थ यह है कि वे भूत, भविष्य और वर्तमान में आपस में सम्बन्धित होंगी (सर्वोपसहारयत्री व्याप्तिः) और भविष्य का सहचार इन्द्रियों का क्षेत्र नहीं हो सकता और भूतकाल भी नहीं। यदि ऐसा कहा जाता है कि व्याप्ति साध्य (अग्नि) और हेतु (धुआँ) के सामान्य गोचर में है तो यह आवश्यक नहीं है कि हेतु-साध्य की व्याप्ति इन्द्रियों द्वारा सभी काल में साक्षात् अनुभूत होनी चाहिए। किन्तु यदि व्याप्ति धुएँ और अग्नि के जाति गुणों में है तो एक अग्नि को धुएँ के सभी प्रसगों के साथ क्यों सम्बन्धित होना चाहिए? यदि व्याप्ति इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं है तो वह मनस् द्वारा भी नहीं हो सकती, क्योंकि मन का सम्बन्ध बाह्य पदार्थ से इन्द्रियों द्वारा ही हो सकता है। व्याप्ति अनुमान द्वारा नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वह अनुमान का आधार है। इस प्रकार, व्याप्ति के जानने का कोई मार्ग नहीं है और अनुमान अशक्य है। पुनः, व्याप्ति अनुमान की सिद्धि के लिए निरूपाधिक होनी चाहिए, किन्तु अनुमान के समय, भूत और भविष्य में उपाधियों की अनुपस्थिति का अनुभव नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त उपाधियों को इस प्रकार व्याख्यायित किया है कि वह जो साध्य के साथ अचूक व्याप्ति सम्बन्ध में है, किन्तु हेतु के साथ ऐसे ही व्याप्ति-सम्बन्ध नहीं है (साधना व्यापकत्वे सति साध्यसम-व्याप्ति)।[1]

पुनः, ऐसा कहा है कि अनुमान तभी शक्य है जब हेतु (धुआँ) पक्ष (पर्वत) से सम्बन्धित देखा गया है, किन्तु वास्तव में, पर्वत का धुएँ से कोई सम्बन्ध नहीं है और वह न उसका धर्म हो सकता है, क्योंकि वह अग्नि का गुण है। धुएँ और पर्वत के बीच कोई सर्वव्यापी स्वीकृति नहीं है जिससे कि हम यह कह सकें कि जहाँ-जहाँ पर्वत है वहाँ-वहाँ धूम है। न ऐसा भी कहा जा सकता है कि जहाँ धुआँ है वहाँ अग्नि और पर्वत दोनों ही हैं। जब कभी धुआँ पहले देखा जाता है तब वह पर्वत से सम्बन्धित अग्नि के गुण के रूप से नहीं देखा जाता, इसलिए यह कहना पर्याप्त नहीं है कि हेतु (धुआ) पक्ष का धर्म है (पर्वत) किन्तु हेतु, साध्य से सम्बन्धित पक्ष के एक विभाग के गुण के रूप में जानना चाहिए।

---

[1] सर्वदर्शन सग्रह, १।

सिद्धान्त को पूर्णतया माना जाय और लोग जिन्हें वे विशेष समय पर नही देख पाते हैं उन्हें अस्वीकार करने लगें तो हमारा व्यावहारिक जीवन स्खलित हो जायगा विचलित हो जाएगा।[1] धूर्त चार्वाक तो अपने सूत्र ग्रन्थ मे अनुमान को ही अस्वीकार नही करते किन्तु न्याय सूत्र १-१-१ में दिए न्याय पदार्थ की आलोचना भी करते है और इस मत का प्रतिपादन करने का प्रयास करते है कि पदार्थों की इस प्रकार गणना अशक्य है।[2] यह निस्सदेह सत्य है कि चार्वाक प्रत्यक्ष को एक प्रमाण मानते थे किन्तु प्रत्यक्ष में भी भ्रम उत्पन्न होता है इसलिए अन्त में सभी प्रमाणों को अनिश्चित माना है।

चार्वाको को एक ओर उन लोगो से वाद करना पडता था जो नित्य आत्मा को मानते थे जैसेकि जैन, नैयायिक, साख्य, योग और मीमासा, और दूसरी ओर विज्ञानवादी बौद्धो से जो चेतना की स्थायी परम्परा मे विश्वास रखते थे, क्योकि चार्वाक मृत्यु के पश्चात् की सभी प्रकार की अवस्थाएँ अस्वीकार करते थे। इस प्रकार वे कहते हैं कि जबकि कोई स्थायी तत्व नही है जो मृत्यु के पश्चात् रहता है, इसलिए परलोक नही है। शरीर, बुद्धि और इन्द्रिय-व्यापार अनवरत बदलते रहते है इसलिए मृत्यु के बाद उसकी वैसी स्थिति हो नही सकती और इसलिए पृथक् आत्मा को स्वीकारा नही जा सकता। कुछ चार्वाको के अनुसार, चेतना चार तत्वो से उत्पन्न होती है (उत्पद्यते) और दूसरो के अनुसार वह सुरा या दही की तरह उनमें से प्रकट होती है (अभिव्यज्यते)। वायु अप, अग्नि और पृथ्वी के अणुओ की रचना और पुनः रचना के कारण ही, चेतना या तो उत्पन्न होती है या प्रकट होती है और शरीर और इन्द्रियाँ बनती हैं या उत्पन्न होती है। अणु की रचना के अतिरिक्त और कुछ नही है और आगे और कोई पृथक् पदार्थ भी नहीं है।[3]

सुशिक्षित चार्वाक मत वाले यह मानते है कि जहाँ तक शरीर रहता है वहाँ तक एक तत्व सभी अनुभवो का भोक्ता और द्रष्टा के रूप से रहता है। किन्तु मृत्यु के बाद ऐसा कोई तत्व नही रहता। यदि कोई स्थायी आत्मा जैसी वस्तु है जो मृत्यु के बाद एक शरीर से दूसरे शरीर मे गमन करती है तो उसे पूर्व-जन्म की घटनाओ की

---

[1] न्याय कुसुमाजली, उदयन, ३-५-६।

[2] चार्वाक धूर्तस्तु अथातस्तत्व व्याख्यास्याम इति प्रतिज्ञाय प्रमाण-प्रमेय सख्या-लक्षण-नियमाशक्य-करणीयत्व मेव तत्वं व्याख्यातवान् प्रमाणसंख्या नियमाशक्य करणीयत्व सिद्धये च प्रमिति-भेदान् प्रत्यक्षादि प्रमाणानुपजन्या निदर्शनानुपादर्शयत्।

—न्याय मंजरी, पृ० ६४।

[3] तत्समुदाये विषयेंद्रिय-संज्ञा। चार्वाक सूत्र, कमलशील की पजिका में उल्लिखित, पृ० ५२०।

स्मृति रहेगी जैसेकि एक व्यक्ति को अपने बचपन की युवावस्था में स्मृति रहती है।[1] बौद्ध के इस मत के विरुद्ध तर्क करते हुए कि किसी भी जन्म की चेतना-परम्परा मृत्यु से पूर्व-जन्म की अन्तिम विज्ञान के कारण नहीं हो सकती या किसी जन्म की चेतना अवस्था, भविष्य के जन्म की चेतनावस्था का कारण नहीं हो सकती, चार्वाक यह कहते हैं कि भिन्न शरीर की चेतना और भिन्न परम्परा भिन्न शरीर की भिन्न चेतना परम्परा का कारण नहीं हो सकती। भिन्न परम्परा के ज्ञान की तरह, पूर्व शरीर की अन्तिम चेतनावस्था से कोई ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता।[2] पुनः, मृता की चरम चेतनावस्था, जबकि, पृथक् जन्म में अन्य चेतनावस्था को उत्पन्न नहीं कर सकती तो यह विचारना गलत है कि मरते हुए पुरुष की चरम चेतनावस्था नए जन्म में कोई नए चेतना-सन्तान को उत्पन्न कर सकेगी। इसी कारण, चार्वाक गुरु कम्बलाश्वतर कहते हैं कि चेतना शरीर से प्राण, अपान और अन्य जीव क्रिया-शक्ति के व्यापार द्वारा उत्पन्न होती है। यह भी सोचना गलत है कि गर्भावस्था की पूर्वावस्थाओं में किसी प्रकार की अव्यक्त चेतना रहती है, क्योंकि चेतना का अर्थ विषय का ज्ञान है और गर्भावस्था में चेतना नहीं हो सकती जबकि इन्द्रियों का विकास नही हुआ होता है, इसी प्रकार मूर्च्छा में भी चेतना नहीं होती और यह सोचना गलत है कि इन स्थितियों में भी चेतना अव्यक्त शक्ति के रूप में रहती है, क्योंकि शक्ति अपने अधिष्ठान को पूर्व कल्पित करती है, और शरीर से अतिरिक्त चेतना का कोई आधार नही है और इसलिए, जब शरीर नष्ट होता है तब उसी के साथ समस्त चेतना का भी अन्त हो जाता है। यह भी स्वीकारा नहीं जा सकता कि मृत्यु के समय, चेतना किसी मध्यस्थ शरीर में स्थानान्तरित होती है, क्योंकि ऐसी कोई देह देखी नही जाती और इसलिए इसको स्वीकार नही किया जा सकता। दो भिन्न शरीर में एक ही चेतना-सन्तान नहीं रह सकता, इस प्रकार हाथी की चेतना अवस्था अश्व के शरीर की नहीं हो सकती।

चार्वाकों के इस आक्षेप का बौद्ध यों उत्तर देते हैं। यदि चार्वाक जन्मान्तर अवस्था को त्याग कर, जन्म और पुनर्जन्म करने वाले स्थायी तत्व की सत्ता का खंडन करना चाहते हैं तो बौद्धों को इस पर कोई आक्षेप नहीं है, क्योंकि वे भी ऐसे नित्य स्थायी आत्मा को नहीं मानते। बौद्ध मत यह है कि विज्ञान-परम्परा अनादि और अनन्त है जो ७०,८० या सौ की अवधि को लेकर वर्तमान, भूत और भविष्य जीवन कहलाता है। चार्वाकों का इस परम्परा को अनादि और अनन्त न मानना गलत है,

---

[1] न्याय मंजरी, पृ० ४६७।

[2] यदि ज्ञानं न तद् विवक्षितातीत-देह-वर्तिचरं ज्ञान-जन्यम्, ज्ञानत्वात् यथान्य-सन्तान-वर्ति ज्ञानम्।

—कमलशील की पंजिका, पृ० ५२१।

(अस्पष्टत्वात्), (२) अनुमान को अपना विषय निश्चित करने के लिए अन्य पदार्थों पर निर्भर रहना पड़ता है (स्वार्थ-निश्चये परापेक्षत्वात्), (३) अनुमान प्रत्यक्ष की अपेक्षा है (प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्), (४) अनुमित ज्ञान का विषय से साक्षात् नहीं होता, (अर्थादनुपजायमानत्वात्) (५) अनुमान वस्तुतः नहीं है (अवस्तु-विषयत्वात्), (६) यह बहुधा बाधित होता है (बाध्यमानत्वात्), (७) ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो यह सिद्ध करता हो कि जहा हेतु है वहा साध्य है (साध्य-साधनयोः प्रतिबन्ध-साधक-प्रमाणाभावाद्वा) ।[1]

जैन सिद्धान्त के अनुसार ये सारे कारण अनुमान को अप्रमाण मानने के लिए पर्याप्त नही है । क्योंकि पहले आक्षेप के उत्तर में, यह बताया जा सकता है कि स्पष्टता अनुमान की परिभाषा कभी भी नही मानी गई है, और इसलिए इसकी अनुपस्थिति से अनुमान अप्रमाण नही हो सकता, द्वि चन्द्र-दर्शन रूपी भ्रम प्रत्यक्ष स्पष्ट होता है किन्तु इस कारण उसे प्रमाण नहीं माना जाता । पुनः अनुमान सर्वदा प्रत्यक्ष पर आश्रित नही है और यदि ऐसा भी है तो वह अपने उपयोग के लिए सामग्री काम मे लाता है और इससे अधिक कुछ नही करता । प्रत्यक्ष भी विशिष्ट सामग्री से उत्पन्न होता है, किन्तु इस कारण वह प्रमाण नही माना जाता । अनुमान भी अर्थ से उत्पन्न होता है और प्रत्यक्ष जितना ही स्पष्ट है क्योंकि वह प्रत्यक्ष की तरह सामान्य और विशेष को सन्निवेश करता है । पुनः, गलत अनुमान अवश्य ही बाधित होते है किन्तु यह प्रमाणित अनुमान का अभियोग नही हो सकता । हेतु और साध्य का नियत सम्बन्ध तर्क द्वारा भी स्थापित किया जा सकता है ।[2]

इस सम्बन्ध मे जयन्त बताते है कि हेतु और साध्य के बीच अन्वय के सिद्धान्त को स्वीकारना पडेगा । क्योंकि अनुमान केवल प्रतिभा के कारण नही हो सकता । यदि नियत अनन्यथा सिद्धता का ज्ञान, अनुमान के लिए अनिवार्य नही माना जाता है, और यदि वह केवल प्रतिभा से ही है, तो नारिकेल द्वीप के लोग जो आग जलना नही जानते, वे अग्नि से धुएँ का अनुमान निकाल सकते हैं । कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि हेतु और साध्य का नियत सम्बन्ध मानव प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाता है । वे ऐसा मानते हैं कि हेतु और साध्य का सहचार तथा दूसरे के अभाव के समय पहले की अनुपस्थिति के देखने में, मन धूम और अग्नि के बीच नियत सम्बन्ध समझ लेता है । यह आवश्यक नही है कि ऐसे सामान्यीकरण के लिए हमे धूम और अग्नि के सहचार के सभी प्रसगो को जहाँ-कहीं भी रहते हो, देखना चाहिए, क्योंकि धूम और अग्नि के बीच मन जो अन्वय अनुभव करता है वह वास्तव मे धूमत्व और वह्नित्व के बीच

---

[1] वादिदेव सूरि कृत स्याद्वाद रत्नाकर, पृ० १३१,१३२ (निर्णय सा० १६१४) ।

[2] वादिदेव सूरि कृत स्याद्वादरत्नाकर ।

होता है (ज्वलनत्वादि-सामान्य-पुरःसरतया व्याप्ति-ग्रहणात्)। इस मत के विरुद्ध आक्षेप यह हो सकता है कि जाति को नहीं माना जाय, जैसाकि चार्वाक, बौद्ध और अन्य करते हैं और भी पुनः आ यह कहते हैं कि जाति मान ली जाय, तो भी अग्नि के अभाव से धुएँ के अभाव के सम्बन्ध के सभी प्रसगों का सामान्य प्रत्यय हो, यह असभव है और ऐसी अवस्था मे, अन्वय और व्यतिरेक के सभी प्रसग जहाँ तक ग्रहण नहीं किए आएँ वहाँ तक सामान्यीकरण असम्भव है। वे, इसलिए, मानते है कि कोई योगज प्रत्यक्ष (योगि प्रत्यक्ष कल्प) जैसे ज्ञान द्वारा ही प्रतिबंध ग्रहण होता है। दूसरे ऐसा मानते हैं कि अन्वय के अनेक प्रसग के साथ व्यतिरेक का एक भी अनुभव नही होना व्याप्ति का विचार उत्पन्न करता है। किन्तु न्याय, व्याप्ति के लिए अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त दोनो पर बल देता है तथा उनकी आवश्यकता को मानता है।[1] चार्वाक तो यहाँ पर कहते है कि हेतु और साध्य के बीच नियत और अनन्यथा सिद्ध को निश्चित करने के लिए, दृष्ट उपाधियो के अभाव को प्रत्यक्ष देखना चाहिए, किन्तु अन्वय के विस्तृत अनुभव होने पर भी, अदृष्ट उपाधियो की सत्ता की सम्भावना को निष्कासित नही किया जा सकता, और इस प्रकार, हमेशा भय बना रहेगा कि हेतु और साध्य की व्याप्ति सोपाधिक है या नही, और इस प्रकार सभी अनुमान निश्चित नही, परन्तु सम्भावित ही हैं, और केवल प्रत्यक्ष समर्थन द्वारा ही अनुमान प्रमाणित माना जाता है।[2] न्याय का इस पर यह उत्तर है कि अनुमान अप्रमाण है यह कहना स्वय अनुमान है जो अप्रमाण मानसिक व्यापार के साथ जुडा हुआ अनुमान जैसा व्यापार है। किन्तु इससे चार्वाक का यह मत पूर्णतया खंडित नही होता कि सामान्यीकरण सम्भावित ही है और इसलिए (जैसा पुरन्दर कहते हैं) वे अन्य अनुभव के समर्थन से कुछ प्रामाण्य पाते हैं, और जिस क्षेत्र मे वे प्रत्यक्ष द्वारा समर्थित नही होते वहा इनका कोई बल नही होता।

जबकि चार्वाक अनुमान को सम्भावना से अधिक प्रमाणता नही देते इसलिए, अन्य प्रकार के प्रमाण भी, जैसेकि आप्त वाक्य या शास्त्र प्रवचन, उपमान या अर्थापत्ति भी प्रमाण नही माने गए है। उदयन के कथनानुसार, चार्वाक जिन्हे हम नहीं देख सकते उनकी सत्ता का अस्वीकार करते थे और उदयन यह बताते है कि यदि इस

---

[1] न्याय मजरी, पृ० १२२।

[2] अथानुमान न प्रमाण योग्योपाधीना योग्यानुपलब्धाभाव निश्चयेऽप्ययोगोपाधि-शकया व्यभिचार-सशयात् अतः सहचरितयोरपि व्यभिचारोपलब्धेश्च लोके धूमादि-दर्शनान्तरं वह्न्यादि-व्यवहारश्च सम्भावना मात्रात् सम्वादेन च प्रमाण्याभिमानाद्। तत्त्व चिन्तामणि अनुमित। ऐसे समान मत के लिए 'रसल' की (Thysticisuc and Losic मे कारण के विचार पर देखो।

सिद्ध अनुमान निम्न दो परिस्थितियों में शक्य है, (१) हेतु और साध्य में नियत अनन्यथा सिद्ध व्याप्ति इस प्रकार हो कि जब भी हेतु हो साध्य सभी काल और स्थान में किसी भी प्रभावित करने वाली उपाधि के बिना हो। (२) साध्य के साथ हेतु की ऐसी व्याप्ति पक्ष में वर्तती है ऐसा ज्ञान होना चाहिए, जिसमें साध्य की स्वीकृति की गई है। चार्वाक का यह विवाद है कि ये सारी उपाधियाँ पूर्ण करना शक्य नहीं है इसलिए सिद्ध अनुमान असम्भव है। पहले, व्याप्ति हेतु और साध्य के सम्बन्ध के भूयो दर्शन (अनेक उदाहरणों के) आधार पर सिद्ध की जाती है। किन्तु परिस्थितियाँ, देश और काल के भेद के अनुसार, पदार्थ की शक्ति और सामर्थ्य में भी भेद होता है और इस प्रकार जबकि पदार्थ के गुण धर्म सदा एक से नहीं रहते इसलिए दो पदार्थों का सभी परिस्थितियों, देश और काल में एक दूसरे से मिले होना असम्भव है।[१] पुनः, प्रसगों के असक्य अनुभव से भविष्य में सम्भावित सहमति के न मिलने का विलोप नहीं होता। धुए और अग्नि के सभी प्रसग प्रत्यक्ष नहीं देखे जा सकते, और सहमति के पतन के अवसर निर्मूल नहीं किए जा सकते, और यदि सम्भावित होता तो अनुमान की आवश्यकता ही नहीं रहती।[२] चार्वाक सामान्य को नहीं मानते और इसलिए वे यह नहीं स्वीकारते कि व्याप्ति धूम और अग्नि में नहीं है किन्तु धूमत्व और अग्नित्व में है।[३] पुनः, यह भी विश्वास होना कठिन है कि हेतु और साध्य की व्याप्ति से दूषित करने वाली उपाधियाँ है ही नहीं, क्योंकि वे अभी न देखने में आवें तो भी वे अदृश्य रह सकती हैं।[४] व्यतिरेक के बिना (अर्थात् जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम नहीं है) व्याप्ति की निश्चितता नहीं है। व्यतिरेक के सारे प्रसग को देख डालना असम्भव है। इस प्रकार जबकि व्यतिरेक और अन्वय के बिना व्याप्ति निश्चित नहीं की

---

[१] देशकाल-दशा-भेद-विचित्रात्मसु वस्तुसु।
अविनाभाव नियमो न शक्यो वस्तुमाह च।

—न्याय मजरी, पृ० ११९।

[२] न प्रत्यक्षीकृता यावद् धूमाग्नि-व्यक्तयोऽखिलाः।
तावत्स्यादपि धूमोऽसौ योऽनग्ने रिति शक्यते॥
ये तु प्रत्यक्षतो विश्व पश्यति हि भवादृशाः।
किं दिव्य चक्षुषा मेषामनुमान-प्रयोजनम्॥

—वही।

[३] सामान्य द्वारकोऽप्यस्ति नाविनाभाव निश्चयः।
वास्तव हि न सामान्य नाम किंचन विद्यते॥

—वही।

[४] खण्डनखण्ड खाद्य से तुलना करो।

—पृ० ६९३।

व्याघातो यदि शकास्ति न चेच्छंका ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशंका तर्कः शंकावधिः कुतः॥

जा सकती और जबकि यह असम्भव है कि हम व्यतिरेक और अन्वय से व्याप्ति का विश्वास कर सकें तो व्याप्ति स्वयं निश्चित नहीं हो सकती।[1]

पुरन्दर, चार्वाक के अनुयायी (सम्भवतः सातवीं शताब्दी), तो सांसारिक वस्तुओं को निश्चित करने में अनुमान की उपयोगिता मानते हैं जहां प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त है, किन्तु अनुमान परात्पर सत्ता के सिद्धान्त की सिद्धि या परलोक या कर्म के सिद्धान्त के लिए अनुपयुक्त है क्योंकि ये सामान्य प्रत्यक्षानुभव से प्राप्त नहीं है।[2] सामान्य जीवन के व्यावहारिक अनुभव मे तथा परात्पर सत्य को निश्चय करने में अनुमान की प्रमाणता मे इस भेद को दृढ़ता से धारण करने का मुख्य कारण यह है, कि निग-मात्मक सामान्यीकरण व्यतिरेक और अन्वय के प्रसंगो के भूयोदर्शन के आधार पर किया होता है और अतीत लोक के विषय में अन्वय का उदाहरण नही मिलता है, क्योंकि यदि ऐसे लोक हैं भी तो उनका इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस प्रकार, इन्द्रियातीत तथाकथित लोक में हेतु और साध्य की व्याप्ति का प्रसग नहीं पाया जाता, तो निगमनात्मक सामान्यीकरण या व्याप्ति का नियम इस लोक के लिए अनुपयुक्त होगा।[3] इसके उत्तर मे वादिदेव कहते हैं कि ऐसा अभियोग मीमांसाको के लिए ठीक होगा जो सामान्यीकरण के लिए अन्वय-व्यतिरेक विधि पर आधार रखते है, किन्तु यह जैन मत के लिए उपयुक्त नही है जो अन्यथानुपपत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करते है (अन्यथानुपपत्तावेव तत्स्वरूपत्वेन स्वीकारात्)।

अनुमान की प्रमाणता के विरोध मे और भी निम्न आक्षेप है, (१) अनुमान द्वारा जो सस्कार होते है वे धुधले होते हैं और प्रत्यक्ष जैसे जीवित नहीं होते

---

[1] नियमश्चानुमानाग गृहीतः प्रतिपद्यते ।
ग्रहण चास्य नान्यत्र नास्तिता-निश्चयम् विना ॥
दर्शनादर्शनाभ्यां हि नियमग्रहणं यदि,
तदप्यसदनग्नौ हि धूमस्येऽदृष्टमदर्शनम्,
अनग्निश्च कियान्सर्वं जगज्ज्वलन-वर्जितम्,
तत्र धूमस्य नास्तित्वं नैव पश्यत्ययोगिनः । —न्याय मजरी, पृ० १२० ।

[2] इसका उल्लेख कमलशील की पंजिका, पृ० ४३१ मे है। पुरन्दरस्त्वाह लोक प्रसिद्धम् अनुमान चार्वाक रपीष्यते, एव, यत् कैश्चित् लौकिक मार्गमतिक्रम्य अनुमानमुच्यते तन्निषिध्यते। वादिदेव सूरि प्रमाणनय तत्त्व लोकालकार पर स्याद्वादरत्नाकर नामक अपनी टीका मे पुरन्दर के सूत्र को उद्धृत करते हैं २-१३१। प्रमाणस्य गौणत्वाद् अनुमानादर्थ-निश्चय-दुर्लभात्।

[3] अव्यवभिचारावगमो हि लौकिक हेतूनामनुमेयावगमे निमित्त स नास्ति तत्र सिद्धेषु इति न तेभ्य. परोक्षार्थावगमो न्याय्योऽत इदं, उक्त मनुमानादर्थ-निश्चयो दुर्लभः।

क्योंकि यदि ऐसा स्वीकारा जाता है तो जन्म के समय की अवस्था को प्रथम मानना पड़ता है और इससे यह अर्थ होगा कि वह अकारण है और इससे नित्य हो जायगी, क्योंकि वह बिना कारण है तो फिर उसका अन्त भी क्यों हो। वह किसी नित्य चेतना या ईश्वर द्वारा भी उत्पन्न नही की गई होगी, क्योंकि हम ऐसे नित्य तत्व को नहीं मानते . उसे स्वतः ही नित्य नही माना जा सकता, वह पृथ्वी, जल इत्यादि के नित्य अणु द्वारा भी उत्पन्न हुई नही हो सकती, क्योंकि यह बताया जा सकता है कि कोई भी नित्य तत्व किसी को उत्पन्न नही कर सकता। इस प्रकार, अन्तिम विकल्प यह है कि वह चेतना की पूर्व स्थिति से उत्पन्न हुई होगी। यदि अणु को क्षणिक भी माना जाय, तो भी यह सिद्ध करना कठिन होगा कि चेतना उनसे उत्पन्न हुई है। जो नियम कारणत्व को निश्चित करता है वह, प्रथमतः, यह है कि कारण वह है जो वर्तमान मे रहता हुआ, देखने योग्य था, किन्तु दीखने के पहले नही देखा गया था।[1] दूसरा, जब दो घटनाएँ ऐसी हैं कि यद्यपि सभी अन्य परिस्थितिया उनमे वैसी ही बनी रहती है, तो भी एक नए तत्व के आने से एक में जो नई घटना उत्पन्न हो जाती है जो दूसरे मे उत्पन्न नही होती तब वह तत्व ही उस घटना का कारण है।[2] दो उदाहरण, जो इसी बात में भिन्न हो कि एक मे कार्य हो और दूसरे मे न हो, यदि वे एक दूसरे से, अन्य सभी बातो में मिलते है सिवाय इसके कि जिसमे कार्य है उनमे एक नवीन घटना उपस्थित हो गयी है जो दूसरे मे विद्यमान नहीं है तो केवल ऐसे ही उदाहरण मे, वही तत्व उस कार्य का कारण माना जा सकता है। नही तो, यदि कारण वह है जिसके अभाव में कार्य का भी अभाव रहता है, तो यहाँ एक विकल्प की सम्भावना रहती है जिसमे किसी अन्य तत्व की उपस्थिति जो अनुपस्थित भी था यह सम्भावना रहती है, और ऐसा भी हो सकता है कि इस तत्व की अनुपस्थिति के कारण ही कार्य भी अनुपस्थित था। इस प्रकार, दो उदाहरण, जिनमें कार्य रहता है और जिनमे वह नही रहता, वे ऐसे होने चाहिएँ कि, वे सभी प्रकार के समान हो, सिवाय इसके कि जहाँ कार्य रहता है वहाँ एक तत्व उपस्थित है और दूसरे मे उसका अभाव है। देह और मनस् मे इस प्रकार की कारणता का सम्बन्ध, अन्वय-व्यतिरेक-विधि की कठोरता से नहीं स्थापित किया जा सकता। अपने मन और शरीर के बीच सम्बन्ध निश्चित करने के लिए अन्वय-विधि का प्रयोग करना अशक्य है क्योंकि शरीर का उसकी पूर्व गर्भावस्था मे मन की उत्पत्ति के पहले निरीक्षण करना असम्भव है, क्योंकि

---

[1] ये ये षामुपलम्भे सति उपलब्धि-लक्षण प्राप्त पूर्व मनुपलब्ध सदुपलभ्यते इत्येवभा-श्रयणीयम्। —कमलशील पंजिका, पृ० ५२५।

[2] सत्सु तदन्येषु समर्थेषु तद् हेतुषु यस्यैकस्याभावे न भवति इत्येवमाश्रयणीय मन्यथा हि केवल तदभावे न भवतित्युपदर्शने सन्दिग्धमत्र तस्य सामर्थ्यं स्यादन्यस्यापि तत्समर्थस्याभावात्। —कमलशील पंजिका, पृ० ५२६।

बिना मन के निरीक्षण हो नहीं सकता। दूसरों के शरीर में भी मन का प्रत्यक्ष निरीक्षण नहीं किया जा सकता इसलिए यह कहना अशक्य है कि शरीर मन से पहले है। व्यतिरेक-विधि का भी उपयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि कोई भी वह निरीक्षण नहीं कर सकता कि देह के अन्त होने पर मन का भी अन्त होता है या नहीं, और जबकि दूसरों के मनों का प्रत्यक्ष देखा नहीं जा सकता इसलिए ऐसा निषेधात्मक निरीक्षण दूसरों के बारे में नहीं किया जा सकता और इसलिए यह कहना भी अशक्य है कि दूसरों के शरीर के अन्त के साथ उनके मन का भी अन्त होता है या नहीं। मृत्यु के समय शरीर की अचलता (अक्रियाशीलता) से यह अनुमान निकाला नहीं जा सकता कि मन के अन्त से ऐसा हुआ है, क्योंकि वह रह भी सकता है और शरीर में व्यापार न करता रहे। इसके अतिरिक्त, एक विशिष्ट शरीर उससे चालित नहीं होता इसका कारण यह है कि उस शरीर से सम्बन्धित इच्छाएँ तथा मिथ्या विचार जो पहले व्यापार करते थे, अब अनुपस्थित है।

पुनः, और भी कारण है जिनसे शरीर मन का कारण नहीं है यह माना जा सकता है, क्योंकि यदि सम्पूर्ण शरीर ही मन का कारण होता तो शरीर के थोड़े से भी दोषों (विकृति) ने मन के गुणों का परिवर्तन किया होता, या हाथी जैसे बड़े शरीर से सम्बन्धित मन आदमी के मनों से बड़े होते। यदि एक के बदलने पर दूसरे में परिवर्तन न हो, तो वे दोनों कार्य-कारण से सम्बन्धित नहीं हो सकते। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि शरीर अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों सहित मन का कारण है, क्योंकि इस प्रसग में एक भी इन्द्रिय की क्षति से मनस् का धर्म और स्वरूप भी बदल जायगा। किन्तु हम जानते है कि ऐसा नहीं होता, और जब अर्धांग वायु से सभी कर्मेन्द्रियाँ व्यापार हीन हो जाती है, मन, बिना शक्ति के ह्रास के उसी प्रकार कार्य करता रह सकता है।[1] पुनः यद्यपि शरीर वैसा ही रहे, तो भी प्रकृति व स्वभाव और स्वर पर्याप्त रूप मे बदल सकते है, या आकस्मिक सवेग मन को सहज ही आन्दोलित कर दे, यद्यपि शरीर वैसा ही बना रहे। ऐसे उदाहरण भी यदि मिल जाय जिससे यह सिद्ध हो जाय कि शरीर की स्थिति मन की स्थिति को प्रभावित करती है तो भी कोई भी कारण नहीं दिया जा सकता कि मन या आत्मा का नाश शरीर के नाश से क्यो हो। यदि शरीर और मन की सह-स्थिति के नियम से वे एक दूसरे से कार्य-कारण रूप से सम्बन्धित है ऐसा कहा जाय, तो जबकि मन शरीर के साथ उतना ही सह-स्थिति मे है जैसा शरीर मन से है, तो मन भी शरीर का कारण हो सकता है। सह स्थिति

---

[1] प्रसुप्तिकादि-रोगादिना कार्येन्द्रियादीनामुपघातेऽपि मनोधिर-विकृतैका विकला स्वससामनुभवति।

—कमलशील पंजिका, पृ० ५२७।

कारणता को सिद्ध नहीं करती, क्योंकि सह-स्थिति किसी एक तीसरे कारणवशात् भी हो सकती है। गरम किया ताँबा गल जाता है, इसी प्रकार, गर्मी से, एक ओर गर्मी के तत्व शरीर को उत्पन्न कर सकते हैं और दूसरी ओर मन या चेतना को। इसलिए, मन और शरीर की सह स्थिति आवश्यक रूप से यह अर्थ नहीं रखती कि पहला दूसरे का उपादान कारण है।

ऐसा कहा है कि उत्तर काल की मानसिक स्थिति पूर्वकाल की मानसिक स्थिति से उत्पन्न होती है, तो भी चेतना की प्रथम अभिव्यक्ति का आरम्भ है और वह शरीर से उत्पन्न होती है और इस प्रकार बौद्ध मत कि विज्ञान-परम्परा अनादि है यह मिथ्या है। किन्तु यदि मानसिक स्थिति प्रथमतः शरीर द्वारा उत्पन्न होती है तो वे उत्तर काल के प्रसगो मे किसी प्रकार चक्षु या अन्य इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती। यदि यह आग्रह किया जाता है कि शरीर ही ज्ञान के प्रथम उदय का कारण है, किन्तु उत्तरावस्था का नही है, तो उत्तरकाल की मानसिक स्थितियाँ शरीर पर आधार रखे बिना अपने को उत्पन्न करने में समर्थ होनी चाहिए। यदि ऐसा माना जाता है कि एक मानसिक स्थिति दूसरी मानसिक स्थिति की परम्परा को, शरीर की सहायता मे ही उत्पन्न कर सकती है, तो प्रत्येक ऐसी असख्य परम्परा को उत्पन्न करेगी, किन्तु ऐसी असख्य परम्पराएँ कभी भी अनुभव नही की गई हैं। यह भी नही कहा जा सकता कि शरीर चेतना को अपनी पहली अवस्था पर ही जन्म देता है और अन्य स्तर पर शरीर सहायक कारण ही रहता है, क्योंकि जो पहले उत्पत्ति कारण रहता है वह फिर सहायक कारण नही हो सकता। इस प्रकार, भौतिक तत्वो को भी अस्थायी माना जाय, तो वे भी कारण नही माने जा सकते। यदि मानसिक अवस्थाओं का आरम्भ माना जाता है, तो यह पूछा जा सकता है कि मानसिक अवस्था का अर्थ इन्द्रिय-ज्ञान से है या विचार-प्रत्ययो से है। यह इन्द्रिय-ज्ञान नही हो सकता, क्योंकि निद्रा, मूर्च्छा और अध्यान की स्थिति मे, इन्द्रिय-ज्ञान नही होता, यद्यपि इन्द्रियाँ रहती हैं, इसलिए यह मानना पड़ता है कि ज्ञान की पूर्व स्थिति के रूप में ध्यान का होना आवश्यक है, और इन्द्रियाँ तथा इन्द्रिय-व्यापार को ज्ञान का पूर्ण कारण नहीं माना जा सकता। मन को भी पूर्ण कारण नही माना जा सकता, क्योंकि जहाँ तक इन्द्रिय-गम्य तत्व या इन्द्रिय-विषय इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष नही होते वहाँ तक, मन उन पर कार्य नही कर सकता। यदि मन अपने द्वारा ही विषय जान सकता है जो फिर कोई अधा या बहरा न होता। तर्क करने के लिए यह मान लिया जाय कि मन ज्ञान उत्पन्न करता है, तो यह पूछा जा सकता है यह ज्ञान सविकल्प है या निर्विकल्प, किन्तु निर्विकल्प ज्ञान नाम और विषय (सकेत) के सहचार बिना अशक्य है। यह निर्विकल्प भी नही हो सकता, क्योंकि निर्विकल्प वस्तु या विषय को स्वलक्षण रूप से प्रकट करता है जो केवल मन द्वारा, इन्द्रियो की सहायता के बिना ग्रहण नहीं हो सकता। यदि यह माना जाता है कि इन्द्रिय-तत्व भी मन द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं,

तो यह प्रति आदर्शवाद अपनाना होगा और चार्वाक मत को त्याग देना होगा। इस प्रकार चेतना अवस्था को अनादि और अनुत्पन्न मानना पड़ेगा। उनका [illegible] धर्म पूर्व जन्मो के अनुभवो से निश्चित होता है, और इन अनुभवो की स्मृति के रूप [illegible] ही नवजात शिशु में स्तान-पान की तथा भय की प्रवृत्ति दीखती है।' इसलिए यह स्वीकारना पड़ता है कि चेतनावस्था न तो शरीर और न मन द्वारा ही उत्पन्न की जाती है, किन्तु वह अनादि है और पूर्व अवस्था द्वारा जनित है और वह फिर पूर्व अवस्था द्वारा इत्यादि। माता पिता की चेतना बच्चो की चेतना का कारण नहीं मानी जा सकती, क्योंकि बच्चो की चेतना समान प्रकृति की नही होती और ऐसे भी बहुत से जीव हैं जो माता-पिता से नही जन्मते। इसलिए, यह स्वीकारना पड़ता है कि इस जन्म की चेतनावस्था इससे पूर्वजन्म की चेतनावस्था से उत्पन्न हुई होगी। इस प्रकार, भूतकाल की सत्ता सिद्ध होती है और जबकि इस जन्म की चेतनावस्था पूर्वजन्म की चेतनावस्था से निश्चित होती है, तो इस जन्म की चेतना अन्य अवस्थाओं को भी निश्चित करेगी और यह भविष्य के जीवन को सिद्ध करती है, [illegible] के [illegible] क्रोध इत्यादि से सम्बन्धित हैं। क्योंकि एक चेतनावस्था दूसरी को [illegible] सकती है जबकि वह राग द्वेषादि से सयुक्त होती है और नवजात की पूर्वजन्म की चेतनावस्था से मिलती है जो इस जन्म के अनुभव को निश्चित करती है। [illegible] भूतकाल के अनुभव वर्तमान मे स्थानान्तरित होते हैं तो भी गर्भावस्था के [illegible] कड़े सक्षोभ के कारण, वे अनुभव बाल्यकाल मे एकाएक नही दिखाई देते, [illegible] के साथ धीरे-धीरे प्रकट होते हैं। पहले अनुभव किया हुआ [illegible] नहीं [illegible] है, इस प्रकार, स्वप्न और सन्निपात मे यद्यपि भूतकाल के अनुभव [illegible] वर्तमान में रहते है, तो भी वे विकृत रूप से पुन रचे जाते है और [illegible] नही [illegible] इसलिए भूतकाल के अनुभव बालक द्वारा [illegible] नही [illegible] कोई विलक्षण व्यक्ति होते हैं जो अपने पूर्व जन्म को [illegible] सकते हैं। [illegible] गलत है कि मन शरीर से आधारित है और उसमें समाविष्ट है, क्योंकि मन [illegible] है। पुन:, यदि मन का शरीर में समावेश होता और [illegible] होता [illegible] शरीर बना है, तो मानसिक अवस्था, चक्षु इन्द्रिय [illegible] उसी प्रकार [illegible] जैसे शरीर होता है। [illegible] किन्तु शरीर एवं मन दूसरो के द्वारा [illegible] सकता है [illegible] इसलिए [illegible] [illegible] गुण [illegible] हैं, इसलिए भिन्न हैं। [illegible] को एकीकृत [illegible] शरीर की [illegible] का संस्कार [illegible] करती है। [illegible]

[illegible]

[illegible]

व्यक्तिगत चेतनाएँ क्षणक्षण नष्ट होती हैं, तो भी भूत, भविष्य और वर्तमान काल के जीवन मे, सन्तान निरन्तरता से बनी रहती है। जब सन्तान भिन्न हैं जैसेकि गाय और घोड़े में, या दो भिन्न व्यक्तियों में एक सन्तान की अवस्था दूसरे की अवस्था को प्रभावित नहीं कर सकती। सन्तान में, एक-एक चेतना स्थिति दूसरी को निश्चित करती स्वीकारी गई है, और वह दूसरी को, और इस प्रकार आगे। इस प्रकार यह मानना पड़ता है कि चेतना, अचेतनवस्था में भी है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो, उस समय चेतना का स्खलन होता और इसका अर्थ यह होता कि सन्तान-क्रम टूट गया है। चेतना की अवस्थाएँ इन्द्रियों से तथा इन्द्रिय के विषयों से स्वतन्त्र है, क्योंकि वे पूर्वावस्था से निरूपित होती हैं, स्वप्न मे, जब इन्द्रिय-व्यापार नही होता और जब इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष नही होता, तब भी चेतना अवस्था उत्पन्न होती रहती है, और भूत या भविष्य के ज्ञान के प्रसग मे या शश-विषाण जैसे तुच्छ वस्तु के ज्ञान में चेतनावस्था की स्वतत्रता स्पष्ट सिद्ध होती है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि चेतना न तो शरीर-जनित है न वह किसी भी प्रकार उससे निरूपित या मर्यादित है और वह केवल भूतकाल की अवस्थाओं से निरूपित होती है और वे स्वय भविष्य की अवस्थाओं को निश्चित करती है। इस प्रकार भूत और भविष्य जीवन का अस्तित्व सिद्ध होता है।

चार्वाको के विरुद्ध जैन और नैयायिकों के तर्क, विज्ञानवादी बौद्धों के तर्क से कुछ भिन्न प्रकार के हैं, जिन्हे हम अभी ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, क्योंकि पहले स्थायी आत्मा को मानते हैं और दूसरे नही मानते। इस प्रकार विद्यानन्दी, अपने 'तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक' मे कहते हैं कि आत्मा भौतिक तत्त्वों का कार्य क्यों नही माना जा सकता इसका मुख्य कारण यह है कि चेतना सर्वव्यापी है, निरन्तर है, निर्विवाद सत्य है जो देश काल से अमर्यादित है। 'यह नीला है' या 'मैं गोरा हूँ' ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान बाह्य पदार्थ या इन्द्रियों पर आधारित है इसलिए इन्हे स्ववेदना के विशिष्ट उदाहरण नही माना जा सकता। किन्तु 'मै सुखी हूँ' ऐसे अनुभव जो साक्षात् अह के स्वानुभव को लक्ष्य करते हैं, इद्रियादि बाह्य साधनो के व्यापार पर निर्भर नही हैं। यदि यह स्ववेदना स्वतःसिद्ध न होती, तो कोई भी सिद्धान्त, - चार्वाक मत भी नहीं, जो सभी प्रमाणित मान्यताओं का खण्डन करना चाहता है—प्रतिपादन नही किया जा सकता, क्योंकि सभी प्रतिपादन इस स्ववेदना के कारण ही होते है। यदि किसी चेतना को प्रमाणित होने के लिए दूसरी चेतना की आवश्यकता रहती है, तो वह अनवस्था स्थिति उत्पन्न करेगी और पहली चेतना को अचेतन मानना पडेगा। इस प्रकार, जबकि आत्मा स्वसवेदन मे प्रकट होता है और जबकि शरीर, अन्य भौतिक पदार्थों की तरह, इद्रिय-व्यापार द्वारा प्रत्यक्ष होता है, तो पहला दूसरे से सर्वथा भिन्न है और पिछला उत्पन्न नहीं किया जा सकता, और क्योंकि वह नित्य है इसलिए पिछले को प्रकट भी नही किया जा सकता। पुनः जबकि चेतना इद्रियों के बिना भी रहती

है, और जबकि यह शरीर और इंद्रियों के होते हुए भी न रहे (जैसेकि मृत शरीर में), तो चेतना शरीर पर आधारित है ऐसा नहीं माना जा सकता। इस प्रकार आत्मा शरीर से स्वसंवेदना द्वारा, साक्षात् भिन्न प्रतीत होता है। विद्यानंदी के अन्य तर्क विज्ञानवादी बौद्धों की ओर किए गए हैं जो नित्य आत्मा में नहीं मानते किन्तु चेतना की अनादि सन्तान को मानते हैं, इस विवाद का यहाँ पर ही अन्त करना योग्य होगा।[1]

न्याय मजरी में जयन्त यह तर्क करते हैं कि शरीर, बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक में निरन्तर बदलता रहता है और इसलिए एक शरीर का अनुभव नवीन शरीर को नही हो सकता जो वृद्धि या ह्रास से बना है, और इसलिए ग्रह की एकता और प्रत्यभिज्ञा जो ज्ञान के आवश्यक अंग हैं, शरीर के धर्म नही हो सकते।[2] यह निस्सदेह ही सत्य है कि अच्छा भोजन और औषध जो शरीर के लिए सहायक हैं, वे बुद्धि को सुचारु रूप से कार्य करने मे भी सहायक हैं। यह भी सत्य है कि दही, पौधे और भीगा हुआ स्थान तुरन्त ही कीट को जन्म देने लगते हैं। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि भौतिक पदार्थ चेतना को जन्म देता है। आत्मा सर्वव्यापी है और जब भौतिक तत्वों का योग्य परिणाम होता है तब वे उनके द्वारा अपने कर्मानुसार प्रकट होते है। पुन., चेतना इन्द्रियो का धर्म नहीं माना जा सकता, क्योकि भिन्न इन्द्रिय-ज्ञान को छोडकर, ग्रह वेदना भी है जो भिन्न इन्द्रियो के ज्ञान का सन्निधान कराती है। इस प्रकार, मुझे अनुभव होता है कि जो कुछ भी मैं आँखो से देखता हूँ, उसे हाथ से स्पर्श करता हूँ, जो स्पष्ट बनाता है कि इन्द्रिय ज्ञान को छोडकर, एक व्यक्तिगत अनुभविता है या ग्रह है जो इन सवेदनाओ का सन्निधान करता है और ऐसे तत्व के बिना भिन्न सवेदनाओ की एकता लाई नहीं जा सकती। सुशिक्षित चार्वाक, तो अवश्य ही, यह मानते है कि जहाँ तक शरीर है वहाँ तक एक प्रमातृ-तत्व रहता है, किन्तु यह प्रमातृ-तत्व पुनर्जन्म नही करता, किन्तु शरीर के विनाश के साथ वह भी नष्ट हो जाता है, आत्मा इस प्रकार अमर नही है, और शरीर के नाश के पश्चात् परलोक नही है।[3] इसका जयन्त यह उत्तर देते है कि आत्मा की स्थिति को इस शरीर की जीवितावस्था तक स्वीकारा जाता है, तो जबकि यह आत्मा शरीर से भिन्न है और जबकि वह अखड और स्वरूप से अभौतिक है, तो उसे कोई भी नष्ट नही कर सकता। जिस प्रकार शरीर जलता या पशु या पक्षियो द्वारा टुकडे-टुकडे किया जाता देखा है ऐसा आत्मा का होता हुआ कभी किसी ने नही देखा है। इस प्रकार, जब इसे नष्ट होता हुआ नही देखा गया है, और जबकि इसे नष्ट करने वाले कारण का

---

[1] तत्वार्थ श्लोक वार्तिक, पृ० २६-५२।

[2] न्याय मजरी, पृ० ४३६-४४१।

[3] न्याय मजरी, पृ० ४६७-४६८।

अनुमान करना अशक्य है तो इसे अमर मानना पड़ता है। जबकि आत्मा नित्य है, और क्योंकि उसका शरीर से भूत और वर्तमान में सम्बन्ध है, तो यह सिद्ध करना कठिन नहीं है कि उसका शरीर से भविष्य में भी सम्बन्ध होगा। इस प्रकार, आत्मा न तो शरीर के एक अंग में या पूरे सारे शरीर मे वास करता है, किन्तु वह सर्वव्यापी है और उस शरीर के अधिपति की तरह व्यवहार करता है जिससे वह कर्म-बन्धन से युक्त है। जयन्त परलोक को पुनर्जन्म या आत्मा का मृत्यु के पश्चात् अन्य शरीरो से सम्बन्ध कहते है। पुनर्जन्म के बारे मे वे ये प्रमाण देते हैं, पहला, बालक की स्तन-पान की मूल प्रवृत्ति या उसका अकारण हर्ष या शोक का अनुभव करना जो उसके पूर्व-जन्म के अनुभवों की स्मृति के कारण माना जा सकता है, तथा, दूसरा, शक्ति, बुद्धि, प्रकृति, चरित्र और आदतो में असमानता से, एक ही प्रकार के प्रयत्न से फल पाने में असमानता से है। यह सब अन्य जन्म मे किए कर्मके प्रभाव की मान्यता से ही समझाया जा सकता है।[1]

शंकर, ब्रह्म सूत्र ३-३-५३,५४ की टीका मे लोकायत के अनात्मवाद का खण्डन करने का प्रयास करते है। लोकायतिको के तर्क के मुख्य विषय जो यहाँ वर्णित हैं, वे ये हैं : जबकि चेतना तभी तक है जब तक शरीर है, और शरीर के न होते नही रहती, इसलिए यह चेतना शरीर का कार्य होना चाहिए। जीवन-क्रिया, चेतना, स्मृति और अन्य बुद्धि-व्यापार भी शरीर के धर्म है, क्योंकि वे शरीर मे ही अनुभव किए जाते हैं, और शरीर से बाहर नही किए जाते।[2] इस पर शंकर यह उत्तर देते हैं कि प्राण चेष्टा, स्मृति इत्यादि शरीर के रहते भी नहीं रहते, (मृत्यु-समय), इसलिए, वे शरीर के कार्य नही हो सकते। शरीर के गुण, रूप, आकार इत्यादि प्रत्येक द्वारा दृश्य है किन्तु कुछ ऐसे हैं जा स्मृति, चेतना इत्यादि को नहीं देख सकते। पुनः, यद्यपि ये सब शरीर के रहते ही देखे जाते हैं, तो भी कोई ऐसा प्रमाण नही है जिससे यह कहा जा सकता है वे शरीर के अन्त पर नहीं रहते। आगे, यदि चेतना शरीर का कार्य है, वह शरीर को (ग्रहण) पकड नही सकती, अग्नि अपने को जला नहीं सकती, और नाचने वाला अपने कन्धो पर नहीं चढ सकता। चेतना सदा एक है, और अपरिणामी है और इसलिए उसे अमर आत्मा मानना चाहिए। यद्यपि साधारणतः, आत्मा शरीर से सम्बन्धित होकर ही प्रकट होता है, यह इसी बात को

---

[1] न्याय मजरी, पृ० ४७०-४७३।

[2] यद्धि यस्मिन्सति भवत्यसति च न भवति तत्तद्-धर्मत्वेन अध्यवसीयते यथाग्निधर्मा वौष्ण्य-प्रकाशौ, प्राण-चेष्टा-चैतन्य-स्मृत्यादयश्चात्म-धर्मत्वेनाभिमता आत्म-वादिनां तेऽप्य न्तरेव देहोपलभ्यमाना बहि श्चानुलभ्यमाना असिद्धे देह-व्यतिरिक्ते धर्मिणि देह धर्मा एव भवितुमर्हन्ति, तस्माद व्यतिरेको देहादात्मान इति।

—शंकर भाष्य, ब्र० सू० ३-३-५३।

बताता है कि शरीर उसका साधन है, किन्तु यह सिद्ध नहीं करता कि वह शरीर का कार्य है, जैसाकि चार्वाक कहते हैं, चार्वाकों ने रूढ़िग्रस्त हिन्दुओं की समस्त, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक मान्यताओं की आलोचना की। इस प्रकार, श्री हर्ष, 'नैषध चरित' में उनके मत का प्रतिनिधित्व करते ऐसा कहते हैं, 'शास्त्र का यह मत कि यज्ञ करने से अनोखे फल प्राप्त हो सकते हैं, अनुभव द्वारा साक्षात् बाधित होता है, और वे पत्थर तैरते हैं ऐसी पुराण गाथा जैसे ही असत्य हैं। जो बुद्धिहीन हैं और कार्य शक्तिहीन हैं, वे ही वैदिक यज्ञ द्वारा अपना निर्वाह करते हैं या त्रिदण्ड धारण करते हैं या कपाल पर राख मलते हैं। वर्ण की पवित्रता का कोई नैश्चित्य नहीं है, क्योंकि पुरुष और स्त्रियों की अनियन्त्रित काम-वासना को देखते यह कहना असम्भ है कि कोई भी गोत्र किसी भी कुल मे इतिहास में शुद्ध रखा गया है, चाहे फिर मातृपक्ष या पितृ-पक्ष हो। मनुष्य अपने को पवित्र और शुद्ध रखने मे विशेषतया तत्पर नहीं है और स्त्रियों को हरम से रखने का ईर्ष्या के सिवाय और कोई कारण नहीं हैं, यह सोचना अन्यायपूर्ण है कि अनियन्त्रित स्त्री-भोग से पाप होता है, या पाप से दुःख होता है और पुण्य से परलोक मे सुख मिलता है, क्योंकि जब हम बहुधा देखते हैं कि पापी लोग उन्नति करते है और पुण्यशाली पीडा पाते है तो परलोक में न जाने क्या होगा ?' वेद और स्मृति निरन्तर एक दूसरे के विरोध में आते हैं और टीकाकारों की चालाकी से ही उनमे सगति की जाती है, यदि ऐसा ही है, तो फिर कोई ऐसे मत मे क्यों न आस्था रखे जिसमे स्वेच्छाचार मान्य हो ? ऐसा माना है कि मह शरीर से सम्बन्धित है, किन्तु जब यह देह जल जाता है तो पाप-पुण्य का क्या बाकी बचता है और अन्य अह-अन्य शरीर द्वारा अनुभव करने के लिए कुछ बाकी भी बचा है, बचता भी है तो वह मुझे पीडा नहीं कर सकता। यह मानना हस्यास्पद है कि कोई मृत्यु के बाद कुछ भी स्मरण रखे या यह कि मृत्यु के बाद कर्म-फल मिलेगे, या यह कि ब्राह्मणों को मृत्यु के बाद भोजन कराने से तथा कथित मृतात्मा को किसी प्रकार का सतोष होगा। फूलों से प्रतिमा-पूजा या पत्थर की पूजा या धार्मिक रीति के तौर पर गगा-स्नान नितान्त हास्यास्पद है। मृतात्मा के लिए श्राद्ध करना निरुपयोगी है, क्योंकि यदि भोजन की भेंट मृतात्मा को सतुष्ट कर सकती है तो यात्रियो की भूख भी, उनके घर वालो द्वारा घर मे हा भोजन की भेंट देने से, सतुष्ट हो सकती है। वास्तव मे, शरीर की मृत्यु और नाश के साथ सभी कुछ अन्त हो जाता है, क्योंकि शरीर के राख हो जाने पर कुछ भी बाकी नहीं बचता। जबकि आत्मा नहीं है, पुनर्जन्म नहीं है, ईश्वर और परलोक नहीं है, और जबकि शास्त्र, लोगों को धोखा देने मे रत पुरोहितों के उपदेश मात्र हैं, और पुराण केवल मिथ्या कपोल-कल्पित वर्णन और कल्पित वार्ताएँ हैं, तो हमारे जीवन का एक आदर्श आचरण केवल विषय-सुख-भोग ही है। पाप और पुण्य का कोई अर्थ नहीं है, वे केवल शब्द ही शब्द है जिससे डरकर लोग पुरोहितो का स्वार्थ साधने वाले आचरण करने पर बाध्य होते हैं। दर्शन के क्षेत्र में चार्वाक

भौतिकवादी हैं और पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के द्रव्य अणु और उनके संयोग से परे और किसी को नहीं मानते, तर्क-शास्त्र के क्षेत्र मे, प्रत्यक्ष के सिवाय किसी प्रमाण को नही मानते, वे कर्म, कर्मफल पुनर्जन्म और आत्मा का निषेध करते हैं। एक ही वस्तु जिसमें वे रुचि रखते हैं वह क्षणिक इन्द्रिय-सुख है, इन्द्रिय-सुखो का अबाध भोग है। वे वर्तमान सुख को भविष्य के सुख के लिए त्यागने मे विश्वास नहीं करते थे, वे सर्वांगीण सुख की वृद्धि और सम्पूर्ण जीवन के स्वास्थ का उद्देश्य नही रखते थे, जैसाकि हम चरक की प्रणाली में पाते हैं, उनके लिए आज का कपोत कल के मयूर से अधिक मूल्यवान् है, आज पास में ताँबे का सिक्का होना भविष्य के अनिश्चित मोहर से अधिक अच्छा है।[1] इस प्रकार इसी क्षण के इन्द्रिय सुख को ही वे चाहते थे, और वर्तमान सुख का त्याग करने वालो की दूरदर्शिता, संयम या अन्य सावधानी के व्यवहार को अबुद्धिमानी और मूर्खता कहते थे। ऐसा नही लगता कि उनके सिद्धान्त मे निराशावाद था। उनकी नैतिकता, उनके दार्शनिक और तर्क-सिद्धान्त से अनुमित होती थी कि इन्द्रिय के विषय और इन्द्रिय-सुख ही केवल है और अतीन्द्रिय या परात्पर जैसी कोई सत्ता नही है, और इस प्रकार सुखो मे किसी प्रकार गुण-दृष्टि से स्तर-भेद नही है और कोई कारण नहीं है कि हम क्यों अपनी इन्द्रिय-सुख की सामान्य प्रवृत्ति पर किसी प्रकार का निरोध रखें।

---

[1] वरमद्य कपोतः श्वो मयूरात्
वरम् संशयिकात् निष्कादसंशयिकः
कार्षापण इति लोकायतिकाः।   —काम सूत्र, १. २. २९,३०।